प्रकाशक चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
मुद्रक विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

Phone - 3076

THE

VIDYABHAWAN RASHTRABHASHA GRANTHAMALA

67

Hindi Translation of J. Muir's

ORIGINAL SANSKRIT TEXTS

BY

RAM KUMAR RAI

Vol. I

THE

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI-1

1965

न विशेषोऽस्ति वर्णाना सर्वम् ब्राह्ममिदं जगत् ।
ब्रह्मणा पूर्व-सृष्टं हि कर्मभिर्वर्णता गतम् ॥

(महाभारत)

'वर्णों का कोई भेद नही है ब्रह्मा द्वारा रचा गया यह ससार, जो पहले पूर्णत ब्राह्म था, मनुष्यो के कर्मों के फलस्वरूप वर्णों मे विभक्त हो गया है।'

भूमिका

इस भाग में मेरा प्रमुख ध्येय प्राचीनतम भारतीय ग्रन्थो के साथ साथ अन्य अपेक्षतया आधुनिक रचनाओं मे आने वाले उन प्रमुख अंशों का सग्रह, अनुवाद, तथा व्याख्या करना है, जो मानव जाति की सृष्टि और वर्णों की उत्पत्ति का वर्णन करते हैं, अथवा जो उस विधि पर प्रकाश डालते है जिस विधि से वर्णव्यवस्था का उदय हुआ होगा।

तथापि, जब भी मेरे सम्मुख ऐसी बात आयी है तो भारतीयो की जगदुत्पत्ति या पुराकथा सम्बन्धी कल्पनाओ की व्याख्या करने वाले ऐसे अनुच्छेदो को स्वीकार करने मे मैंने सकोच का अनुभव नहीं किया है जो सामान्यत' रोचक हैं यद्यपि पुस्तक के मुख्य विषय से उनका कोई सीधा सबन्ध नहीं है।

प्रथम सस्करण निकलने के बाद से मेरे पास विषय-सामग्रियो की इतनी वृद्धि हो गयी कि यह ग्रन्थ अपने मौलिक आकार के दूने से भी अधिक स्थूल हो गया है। द्वितीय और तृतीय अध्याय प्रायः पूर्णरूपेण नवीन हैं।[१] चौथे अध्याय के चौदहवें और पन्द्रहवें खण्ड भी पूर्णतः ऐसे ही हैं।

प्रस्तावना (पृ० १—८) मे उन स्रोतो पर एक विहङ्गम दृष्टि डाली गयी है, जिनसे हमे वर्ण्य-विषय पर सूचनाएँ प्राप्त होती हैं, और वे हैं : वैदिक सूक्त, ब्राह्मण, महाकाव्य, तथा पुराण जिनमें इन रचनाओ का कालक्रम एवं सामान्य विशिष्टताओं का वर्णन किया गया है।

प्रथम अध्याय (पृ० ६—१८१) के अन्तर्गत मनुष्य की सृष्टि एवं वर्णों की उत्पत्ति के वे वर्णन आते है, जो वैदिक सूक्तों मे, ब्राह्मणों एव उनके परिशिष्टों में, रामायण, महाभारत और पुराणों में उपलब्ध होते हैं। पहले खण्ड (पृ० ९—१८) में पुरुष सूक्त नाम के प्रसिद्ध सूक्त का अनुवाद है, जो चारो वर्णों की पृथक् उत्पत्ति बताने वाला प्राचीनतम

---

[१] इस अध्याय का विषय तो पूर्णत नवीन नही है, किन्तु उन लेखो से उद्धृत है जो मैंने प्रथम सस्करण निकलने के बाद जर्नल आफ द रायल एशियाटिक सोसाइटी के लिये लिखे थे।

प्राप्य विवरण है, तथा इस प्रश्न पर विचार किया गया है कि इस सूक्त मे वर्णित सृष्टि मे इसके रचयिता को यहाँ शाब्दिक अर्थ अभिप्रेत है या लाक्षणिक। दूसरे, तीसरे, तथा चौथे खण्डों (पृ० ९–४१) मे कालक्रम की दृष्टि से ऋग्वेद के सूक्तों के तत्काल बाद आने वाली रचनाओं के अनेक अनुच्छेद उद्धृत किये गये हैं, जो पुरुषसूक्त मे दिये गये सृष्टि-रचना के वर्णन से अल्पाधिक विपुल भेद रखते हैं और इस कारण यह निष्कर्ष उचित ठहरता है कि वैदिक युग मे वर्णों की उत्पत्ति के विषय मे कोई एकरूप कठोर तथा प्रामाणिक सिद्धान्त नहीं था। पाँचवे खण्ड (पृ० ४१—५०) मे मनु की स्मृति के उन विभिन्न अंशों को उद्धृत किया गया है जो इस विषय पर प्रकाश डालते है और यह प्रदर्शित किया गया है कि उनमे परस्पर कोई सामञ्जस्य नहीं है। छठा खण्ड (पृ० ५०-५८) युगों, मन्वन्तरों, तथा कल्पों की कल्पना का पुराणों की व्याख्या के अनुसार वर्णन करता है तथा यह प्रदर्शित करता है कि ऋग्वेद के सूक्तों में इन युगों के कोई चिह्न नहीं मिलते और ब्राह्मणों मे भी केवल इने-गिने उल्लेख हैं (तु० की० पृ० २४४ और आगे)। सातवें और आठवें खण्डों (पृ० ५८—१२१) में वर्णों की उत्पत्ति तथा मनुष्य जाति की आदिम दशा के विवरणों के साथ विभिन्न सृष्टियों का वर्णन है, जो विष्णु, वायु, तथा मार्कण्डेय पुराणों में दिये गये है, तथा साथ ही ब्राह्मणों के उन अनुच्छेदों के उल्लेख (दे० पृ० ६१ आदि, ७९ आदि) दिये गये है जो विविध पौराणिक वर्णनो के कतिपय बीज प्रस्तुत करते प्रतीत होते है; इसमे पुराणों के सूक्ष्मविस्तारों की परस्पर तुलना भी की गयी है, जो यह सिद्ध करती है कि कुछ दृष्टियों में उनमे परस्पर सामञ्जस्य नहीं बैठाया जा सकता (दे० पृ० ७५ और आगे, ११७ और आगे)। नवें खण्ड (पृ० १२२—१३०) मे ब्रह्मा की अपनी पुत्री के प्रति कामवासना का वर्णन किया गया है जो, ऐतरेय ब्राह्मण तथा मत्स्य पुराण मे आया है। दसवे खण्ड (पृ० १३०—१३८) में इस भाग के विषय से सम्बद्ध ऐसे वर्णन दिये गये है जिन्हे मैंने रामायण मे पाया है। इन अंशों मे एक में चारों वर्णों के मनुष्यों को मनु नाम की एक स्त्री से उत्पन्न बताया गया है जो दक्ष की पुत्री तथा कश्यप की पत्नी थी। ग्यारहवें खण्ड मे महाभारत तथा उसके परिशिष्ट हरिवंश के उन अंशों का संग्रह है, जिनमे वर्तमान वर्णों के विभेदों की अनेक और असंगत व्याख्याएँ दी गयी है : एक व्याख्या यदि चारों वर्णों को मनु वैवस्वत का वंशज बताती है (पृ० १४३), तो दूसरी व्याख्याएँ वर्णों के भेद का कारण प्रत्येक वर्ण की एक मौलिक

तथा पृथक् सृष्टि होना मानती है, जिसके एक समान रूप में होने का वर्णन सदैव नहीं मिलता (पृ० १४४ और आगे तथा १७४)। अन्य व्याख्याएँ अधिक तर्कसंगत रूप से वर्णभेद को स्वभाव तथा कर्म की विभिन्नता के कारण उत्पन्न मानती है। इस खण्ड तथा इसके पहले वाले खण्ड में भी पूर्व-युगों में पायी जाने वाली पूर्णता और उसके अनुवर्ती युगो में होने वाले क्रमिक पतन के भी वर्णन आ जाते है। बारहवें खण्ड (पृ० १७६—१७९) मे भागवत पुराण से उद्धरण दिये गये है, जो अधिकाशतः अन्य ग्रन्थो से लिये गये उद्धरणो से मिलते जुलते है। तथापि, एक अश मनुष्य जाति को अर्यमा ओर मातृका की सन्तान बताता है; और दूसरा स्पष्ट रूप से यह घोषित करता है कि मूलतः केवल एक ही वर्ण था। तेरहवाँ काण्ड (पृ० १७९ तथा आगे) पूरे अध्याय के परिणामों का सक्षेप प्रस्तुत करता है और इस निष्कर्ष की पुष्टि करता है कि हिन्दुओ के पवित्र ग्रन्थों मे वर्ण की उत्पत्ति का कोई एकरूप या अविरुद्ध सिद्धान्त नहीं है; अपितु, इसके विपरीत, ये ग्रन्थ इस सामाजिक व्यवस्था का कारण स्पष्ट करने के लिए विविध प्रकार की काल्पनिक, रहस्यवादी तथा हेतुवादी व्याख्याएँ प्रस्तुत करते है।

द्वितीय अध्याय (पृ० १८२—२७०) मनु से भारतीय जनजाति की उत्पत्ति की परम्परा का विवेचन करता है। प्रथम खण्ड (पृ० १८३—२०६) में ऋग्वेद के कुछ ऐसे स्थल दिये गये है जो मनु को उस मनुष्य जाति का जन्मदाता बताते है, जिस जाति से इन सूक्तों के रचयिता सम्बद्ध थे तथा उन्हे धार्मिक कर्मो का प्रथम सस्थापक कहते है। इसमें उन अभिधानों पर भी विचार किया गया है जिनका प्रयोग सूक्तो मे सामान्य मनुष्य जाति को सूचित करने के लिये अथवा कतिपय जातिगत विभागों का अर्थ देने के लिये किया गया है। दूसरे खण्ड (पृ० २०६—२२३) में मनु के सम्बन्ध में ब्राह्मणो एव प्राचीनता में ऋग्वेद के सूक्तों के उपरान्त आने वाले ग्रन्थो से अनेक आख्यान एव वर्णन उद्धृत किये गये हैं। इन आख्यानों में सर्वाधिक रोचक एव महत्त्वपूर्ण शतपथ ब्राह्मण में दिया गया जलाप्लावन का आख्यान है, जिसकी बाद में उसी कथा के महाभारत, तथा मत्स्य, भागवत, एव अग्नि पुराणों में पाये जाने वाले उन पाठों से तुलना की गई है जिन्हे तीसरे खण्ड (पृ० २२३—२४९) में उद्धृत किया गया है। जलाप्लावन का आख्यान भारत में मूलतः रचा गया था या सेमिटिक स्रोत से लिया गया, इस प्रश्न पर एम० बरनफ

इस संहिता के अशो की रचना हुई थी, जो ऋग्वेद के अधिकाश भाग की रचना के बाद के हैं, उस समय ब्राह्मणों के पाखण्ड का पर्याप्त विकास हो चुका था। चौथा खण्ड (पृ० ३२९—३३४) वर्णों की उत्पत्ति के विषय में प्रोफेसर आर० रॉथ तथा डॉ० एम० हॉग के मतों का विवरण प्रस्तुत करता है।

चतुर्थ अध्याय (पृ० ३३५—५३३) में रामायण, महाभारत तथा पुराणों से उस संघर्ष से सम्बद्ध उदाहरण दिये गये हैं जो ब्राह्मणों और क्षत्रियो के बीच भारतीय इतिहास के आरम्भिक युगो मे उस समय हुआ प्रतीत होता है जब ब्राह्मण का एक नितान्त पुरोहित वर्ग के रूप में आना तो प्रारम्भ हो चुका था किन्तु उनके अधिकार दीर्घ विधान के द्वारा यथार्थतः निर्धारित नहीं हुए थे, और जब शासक वर्ग के सदस्य अभी उनके आत्मगौरव को स्वीकृति देने में तत्पर भी नहीं थे। मुझे यहाँ प्रथम पाँच खण्डों (पृ० ३३५—३५७) के वर्ण्य विषयों का विस्तार के साथ वर्णन करने की आवश्यकता नहीं, जिनमें वे अनेक कथाएँ दी गयी हैं जो उन अनेक राजकुमारो के नाश का वर्णन करती है, जिन्होने ब्राह्मणो का अपमान और उनके अधिकारों का विरोध किया। छठे एव उसके बाद तेरहवें खण्ड तक के खण्डों (पृ० ३५७—४७८) में प्रथम तो, दो प्रसिद्ध प्रतिद्वन्द्वियों, वशिष्ठ तथा विश्वामित्र, के सम्बन्ध मे ऐसे उल्लेख दिये गये है, जो ऋग्वेद के सूक्तो में पाये जाते हैं और इन दोनो को वैदिक ऋषियो के रूप मे वर्णित करते हैं; दूसरे उनके विषय मे इस प्रकार के विवरण दिये गये हैं, जो ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलते हैं एवं यह प्रदर्शित करते हैं कि विश्वामित्र तथा वसिष्ठ दोनो ने ही ऋत्विज के कार्य का सम्पादन किया था; और तीसरे, रामायण तथा महाभारत से इस प्रकार की आख्यान माला दी गई है जो इनके बारम्बार होने वाले प्रधानताप्राप्ति के सघर्षों का वर्णन करती है और चमत्कारपूर्ण तत्त्वों से युक्त कल्पनाओ के द्वारा उस विधि की व्याख्या भी जिस विधि से विश्वामित्र एक ब्राह्मण हो गये थे। साथ ही इस तथ्य का कारण ढूँढने का प्रयत्न भी करती हैं जो परम्परा द्वारा इतने स्पष्ट रूप से प्रमाणित था (दे० पृ० ४०६ और आगे) परन्तु जो परवर्ती युग में इतना आधारहीन प्रतीत होने लगा था (दे० पृ० ३०२ और आगे, ४१० और आगे) कि उस प्रसिद्ध व्यक्ति ने जन्म से स्पष्टतः एक क्षत्रिय होते हुए भी पौरोहित्य

कर्मो का सम्पादन किया था।[१] चौदहवे खण्ड (पृ० ४७८—४८३) मे एक राजन्य राजा, जनक, के विषय मे शतपथ ब्राह्मण की एक कथा है, जो अपनी निःस्पृह चित्तवृत्ति तथा धार्मिक ज्ञान के लिये प्रसिद्ध थे और जिन्होंने कतिपय प्रमुख ब्राह्मणो को अध्यात्म विद्या की शिक्षा दी तथा उनके वर्ण की सदस्यता प्राप्त कर ली थी। पन्द्रहवे खण्ड (पृ० ४८३-४८९) मे

---

[१] यत इस ग्रन्थ के कार्य मे वसिष्ठ एव विश्वामित्र से सबद्ध वैदिक मन्त्रो के अर्थ के विषय मे सिग्नोर एंगेलो डि गुबेरनेटिस के विचारो के विषय मे कुछ नही कहा है, अत मै यहाँ कह सकता हूँ कि इटलीवासी यह युवक सस्कृतविद् अपने निबन्ध "फोण्ती वेदिशे डेल' एपोपिआ" (देखिए रिविस्ता ओरिएन्तले, भाग १ पृ० ४०९ और आगे, ४७८ और आगे) मे प्रोफेसर रॉथ के इस विचार के साथ भिड गया है कि ये मन्त्र दो ऐतिहासिक पुरुषो और उन वास्तविक घटनाओ का निर्देश करते है, जिनमे उन्होने भाग लिया था, तथा आपत्ति करता है कि रॉथ ने "इस सम्भावना पर ध्यान नही दिया कि स्वर्ग की एक कथा मानवी आधार पर आश्रित रही होगी" (पृ० ४०९)। सिग्नोर डि गुबेरनेटिस ने आगे कहा है कि ऋग्वेद के तृतीय मण्डल के ३३ वे एव ५३ वे सूक्तो का "उच्चारण परवर्ती समय मे किसी ऐसे युद्ध के समय किया गया होगा जो वास्तव मे घटित हुआ था, किन्तु जिस तथ्य का ये वर्णन करते है वह बहुत अधिक प्राचीन तथा बहुत दूर की कथा मे लुप्त प्रतीत होता है" (पृ० ४१०)। उनका विचार है कि विश्वामित्र सूर्य के नामो मे एक नाम है और यत इस नाम को धारण करने वाला व्यक्ति तथा इन्द्र दोनो ही कुशिक के पुत्र है, अत वे भाई ठहरेंगे (पृ० ४१०, इस पुस्तक के पृ० ३४७ आदि पर इन्द्र के लिए प्रयुक्त कौशिक विशेषण का विवेचन देखिए)। सिग्नोर डि गुबेरनेटिस (पृ० ४१३) के अनुसार सुदास सूर्य के अश्व अथवा स्वय सूर्य का वाचक है, जबकि वसिष्ठ वसुओ मे सबसे महान् तथा सौर अग्नि का वाचक है और विश्वामित्र के समान सूर्य का अर्थ रखता है (पृ० ४८३)। सिग्नोर डि गुबेरनेटिस का यह भी मत है (पृ० ४१४, ४७८, ४७९ तथा ४८३) कि तीसरे मण्डल के ३३ वे और ५३ वे दोनो सूक्तो तथा सातवे मण्डल का १८ वॉ सूक्त अपेक्षतया अर्वाचीन है। प्रथम दो सूक्तो के रचयिताओ ने कुशिक और विश्वामित्र नाम छलपूर्वक धारण कर लिये है, जबकि अन्तिम (सातवे मण्डल के १८ वे सूक्त) की रचना एक ऐसे पुरोहितो के वश ने की जो वसिष्ठ को अपना सस्थापक मानता था। मै केवल इतना कहूँगा कि सिग्नोर डि गुबेरनेटिस का सिद्धान्त मुझे असम्भव प्रतीत होता है। किन्तु मेरे विशिष्ट अभिप्राय के लिए तत्काल अधिक महत्वपूर्ण विषय यही है कि प्राचीन भारतीय

उसी ब्राह्मण तथा दो उपनिषदों से उन क्षत्रियों के विषय मे दो और उदाहरण दिये गये हैं जो ब्राह्मणो के लिये भी अज्ञात तत्त्वो के ज्ञाता थे और जिन्होने सामान्य विधान के विपरीत, ब्राह्मणों के शिक्षक का भी पद प्राप्त कर लिया था। सोलहवें खण्ड (पृ० ४८९—४९३) मे राजा विश्वन्तर के सम्बन्ध में ऐतरेय ब्राह्मण से एक उद्धरण दिया गया है, जिसने पहले श्यापर्ण ब्राह्मणो को अपने यज्ञ में ऋत्विज का कर्म करने से वर्जित किया किन्तु अन्त मे उनमें से एक के श्रेष्ठ ज्ञान से प्रभावित हुआ और उसकी सेवाओ को स्वीकार किया। सत्रहवें खण्ड (पृ० ४९३-४९५) मे मतङ्ग की कथा कही गई है, जो एक निम्न वर्ण के पुरुष द्वारा ब्राह्मणी से उत्पन्न व्यभिचारजनित पुत्र था और जो अपनी कठोर एवं दीर्घकालीन तपस्याओं के विपरीत भी स्वय को (विश्वामित्र के समान) ब्राह्मण के पद पर प्रतिष्ठित करने में असमर्थ रहा। अठारहवे खण्ड (पृ० ४९६—५३३) में मुख्यतः महाभारत से भृगुवश के युद्धप्रिय ब्राह्मण परशुराम द्वारा क्षत्रियो के अनेकशः संहार तथा योद्धा जाति के अन्तिम उद्धार की अनेक कथाएँ दी गई हैं तथा ब्राह्मणो की अति-मानवीय शक्ति के अनेक अतिशयोक्तिपूर्ण दृष्टान्तों को भी उद्धृत किया गया है जिन्हें वायु ने अर्जुन को सुनाया था। अर्जुन ने प्रारम्भ मे पुरोहितों की प्रधानता अस्वीकार कर दी थी, किन्तु अन्त में उन्हें वायु देव द्वारा प्रस्तुत किये गए नितान्त आश्चर्यजनक प्रमाणो के सम्मुख नतमस्तक होने को बाध्य होना पडा था।

पञ्चम अध्याय (पृ० ५३४—५४२) में मैने हिन्दुस्तान की सीमा के भीतर या निकट निवास करने वाली, किन्तु भारतीय वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत न गिनी जाने वाली जातियो की उत्पत्ति के विषय मे मनु तथा महाभारत एवं पुराणो के रचयिताओ के मतों का कुछ विवरण दिया है।

षष्ठ तथा अन्तिम अध्याय (पृ० ५४३—५५८) में भारतवर्ष के बाहर के पृथ्वी के भागों के पौराणिक वर्णन है जिनमें, प्रथम जम्बूद्वीप या केन्द्रीय द्वीप के अन्य आठ वर्ष या विभाग आते है; दूसरे, वे वृत्ताकार

परम्परा वसिष्ठ और विश्वामित्र दोनो को वास्तविक व्यक्तियो के रूप मे उपस्थित करती है, और इनमे एक या तो सीधे दैवी या पुरोहित वश से उत्पन्न है और दूसरा राजवंश का है। तथापि, वे आख्यानात्मक सृष्टियो तथा इन नामो वाले वशो के काल्पनिक उपनामो के अतिरिक्त और कुछ नही रहे होंगे।

समुद्र तथा द्वीप आते है जिनसे जम्बूद्वीप परिवेष्टित हैं; और तीसरे संसार-चक्र के सुदूरवर्ती भाग आते है।

परिशिष्ट (पृ० ५५९—५७०) मे कुछ अतिरिक्त टिप्पणियाँ दी गई हे।

× ×

इसके पहले के संस्करण के समान ही मैं इस भाग के मूल एवं टिप्पणियों में उन विभिन्न संस्कृत विद्वानो की रचनाओ से प्राप्त सहायता को स्वीकार करने में सावधान रहा हूँ, जिन्होने उन्हीं विषयों का विवेचन किया है। फिर भी, यहाँ उन विविध प्रकाशनो का नामोल्लेख कर देना श्रेयस्कर होगा जिनके प्रति मैं सामग्रियों के लिए ऋणी हूँ। १८५८ मे मैंने इस प्रकार लिखा था : 'यह वात तत्काल देखी जा सकती है कि मेरे ऊपर सवसे वडा ऋण प्रोफेसर एच० एच० विलसन का है, जिनका मुख्यतः अन्य पुराणो से लिये गये प्रचुर एवं वहुमूल्य टिप्पणियों सहित विष्णुपुराण का अनुवाद इस प्रकार के प्रयत्न की सफल सिद्धि के लिए प्रायः अपरिहार्य था।' इस दूसरे संस्करण मे भी विलसन की महत्वपूर्ण कृति का सहारा लेने का अवसर निरन्तर आया है, जो अव इसके सम्पादक डॉ० फिट्ज-एडवर्ड हाल की अतिरिक्त टिप्पणियों से परिवर्द्धित एवं समृद्ध रूप में आ गया है। मैंने उनके इसी सस्करण के, जहाँ तक यह सम्प्रति प्रकाशित हो चुका है, निर्देश दिये है। साथ ही साथ में उस सहायता को भी स्वीकार करता हूँ जो मैंने एम० लागलोइस कृत फ्रेंच अनुवाद से तथा एम० वरनफ कृत भागवतपुराण के प्रथम नौ स्कन्धों के फ्रेंच अनुवाद से प्राप्त की है जिसने मूल ग्रन्थो के वर्ण्य-विषय में प्रवेश करने का द्वार खोल दिया। पहले भी और प्रस्तुत संस्करण तैयार करने में भी मुझे वहुत मात्रा में सामग्री श्री कोलव्रुक के 'मिस्सेलेनिअस एसेज' से, प्रोफेसर सी० लासेन के 'इण्डियन ऐण्टिक्विटीज' से; प्रोफेसर रुडाल्फ रॉथ के साहित्य एव वेदो के इतिहास विषय पर प्रवन्धों, जर्नल आफ द जर्मन ओरियन्टल सोसाइटी में तथा वेवर के इण्डिशे स्टूडियन आदि में दिये गये लेखों से; उपर्युक्त जर्नल मे प्रोफेसर वेवर के लेखों, तथा उनकी 'हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर' से; प्रोफेसर मैक्समूलर की 'हिस्ट्री आफ ऐन्शेन्ट संस्कृत लिटरेचर', चिप्स फ्राम ए जर्मन वर्कशाप, तथा व्राह्मणो के अन्त्येष्टि सस्कार पर लेख आदि से; प्रोफेसर वेनफे के 'ग्लासरी आफ द सामवेद' तथा वैदिक सूक्तो के अनुवादों से; डॉ० हाग के ऐतरेय व्राह्मण के मूल

एवं अनुवाद से मिली है: जब कि बहुत मूल्यवान सहायता मुझे प्रोफेसर आफ्रेख्ट के साथ जो लिखित पत्रव्यवहार का सौभाग्य मिला है उससे तथा उनके बोडेलियन संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स के कैटलॉग से मिली है। मै प्रोफेसर मूलर के उन दो ग्रन्थों की ओर संकेत करने के लिए कृतज्ञ हूँ जो परिशिष्ट मे पाये जायेगे; तथा कुमारिल भट्ट के मीमासा-वार्तिक के दो अशो की प्रतिलिपि करने के लिये जो उसी स्थान पर दिये गये है, एवं उनके मेरे द्वारा किये गये अनुवाद में कुछ सुधार करने के लिए मैं प्रोफेसर गोल्डस्टूकर का आभारी हूँ।

मैने पहले कहा है कि साथ ही साथ मेरे अनुसन्धान कार्यों ने "मुझे बहुत से ऐसे पाठो को सगृहीत करने के लिये योग्य बना दिया था, जिन्हें मैने अन्यत्र कहीं उद्धृत नहीं पाया है" और यही कथन उस नवीन सामग्री के एक विपुल भाग के लिए भी लागू होता है जो वर्तमान सस्करण में सकलित की गई है।



विषय सूची

मूल संस्कृत उद्धरण

प्रथम भाग

प्रस्तावना

विषय-स्रोत का प्रारम्भिक पर्यवेक्षण

प्रस्तुत ग्रन्थ में मेरा उद्देश्य उन परम्पराओं, आख्यानों और पुराकथा-शास्त्रीय वृत्तान्तों का वर्णन करना है, जो मानव जाति तथा उन वर्गों या वर्णों के सम्बन्ध से, जिनसे हिन्दू अत्यन्त प्राचीन काल से ही विभक्त थे, विभिन्न प्रकार की प्राचीन रचनाओं से उपलब्ध हैं। इस बात का निर्धारण करने के लिये कि इन विषयों पर हिन्दुओं में प्रचलित विभिन्न मत प्राचीनतम काल से स्थिर और नियत रूप से चले आ रहे हैं, अथवा समय-समय पर इनमें अन्तर होता गया है और यदि हुआ है तो किस प्रकार का परिवर्तन हुआ, यह आवश्यक है कि हम सर्वप्रथम उन विविध रचनाओं का काल-विषयक क्रम निर्धारित कर ले जिनसे हमें एतद्विषयक सामग्री प्राप्त होती है। वर्गीकरण का यह कार्य, जहाँ तक इसकी विस्तृत रूपरेखा का सम्बन्ध है, सरलता से पूर्ण किया जा सकता है। यद्यपि हम इन विभिन्न ग्रन्थों की तिथियों का स्वल्पनिश्चय के साथ भी निर्धारण करने के लिये पर्याप्त प्रमाण नहीं ढूंढ सकते, तथापि उस क्रम को निश्चित करने मे पूर्णत. समर्थ है जिसके अन्तर्गत अन्वेषण के आधारभूत ग्रन्थों में से नितान्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना हुई थी। इन अनेक प्रकार की साहित्यिक रचनाओं की तुलना करने पर यह देखा जा सकता है कि अन्य सभ्य राष्ट्रों के समान हिन्दू भी सामाजिक, नैतिक, धार्मिक, तथा बौद्धिक विकास की विविध अवस्थाओं से होते हुये ही विकसित हुये हैं। इनके प्राचीनतम लेखों में प्रदर्शित धारणायें तथा विश्वास वैसे ही नहीं हैं जैसे उनकी बाद की परवर्ती रचनाओं में मिलते है।

जिन प्रमुख ग्रन्थों से हमें अपने विषय के विवेचन के लिये सामग्री ग्रहण करनी है उनके अन्तर्गत वेद जिनमें ब्राह्मण तथा उपनिषद् भी सम्मिलित है, सूत्र, मनुस्मृति, और इतिहास तथा पुराण आते हैं। इन विभिन्न प्रकार की रचनाओं में वेद को सभी श्रेष्ठ विद्वानों ने निश्चित रूप से प्राचीनतम माना है।

जैसा कि भारतीय साहित्य के प्रत्येक विद्यार्थी को ज्ञात है, वेद चार है: ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद। वेद संज्ञक प्रत्येक संग्रह में दो भाग हैं जिन्हें मन्त्र तथा ब्राह्मण[1] कहते हैं। मन्त्र या तो छन्द-बद्ध सूक्त होते हैं

---

[1] ऋग्वेद (भाग १ पृ० ४) के भाष्य मे सायण का यह कथन है. 'मन्त्र-ब्राह्मणात्मकम् तावद् अदुष्टम् लक्षणम्। अत एव आपस्तम्बो यज्ञ-परिभाषायाम्

या गद्यात्मक प्रार्थनायें। ऋग्वेद तथा सामवेद में केवल प्रथम प्रकार के ही मन्त्र हैं। ब्राह्मणों में मन्त्रों के प्रयोग-विषयक तथा यज्ञ की विविध क्रियाओं के अनुष्ठान से सम्बद्ध विधियाँ हैं, तथा इनके अन्तर्गत आरण्यक संज्ञक कतिपय रचनायें और उपनिषद् अथवा वेदान्त-संज्ञक अन्य रचनायें (जिन्हें प्रत्येक वेद का अन्तिम अंश होने के कारण ही वेदान्त कहते हैं) भी आ जाती हैं जो कुछ क्रियाओं के गूढ़ार्थ का प्रतिपादन करते हुये देवता के स्वरूप और अन्तिम मोक्ष प्राप्ति के ज्ञान के साधनों का विवेचन करती हैं।

प्रत्येक वेद के मन्त्र या सूक्त भाग को संहिता' कहते हैं। इस प्रकार ऋग्वेद संहिता का अर्थ है ऋग्वेद से सम्बद्ध सूक्तों का संग्रह। सूक्तों की चार संहिताओं में ऋग्वेद, जिसमें सूक्तों की संख्या १०१७ से कम नहीं है, ऐतिहासिक दृष्टि से निश्चय ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। महत्त्व की दृष्टि से दूसरे स्थान पर अथर्ववेद के उन सूक्तों की गणना करनी चाहिये जो इस संग्रह की व्यक्तिगत विशेषता हैं और जिनका एक दूसरा भाग ऋग्वेद से प्रायः शब्दशः ग्रहण कर लिया गया है।[3]

वेद-वर्णित विषयों के इस विवरण से यह स्पष्ट है कि मन्त्रों को ही उनका सर्वाधिक प्राचीन अंश मानना चाहिये, क्योंकि ब्राह्मण, जो सूक्तों के प्रयोग का विधान करते हैं, अनिवार्यतः मन्त्रों के पूर्व-विद्यमान होने की परिकल्पना करते हैं। इस विषय पर तैत्तिरीय या कृष्ण यजुर्वेद संहिता के भाष्यकार का कथन इस प्रकार है (कलकत्ता संस्करण का पृ० ९):

एवाह 'मन्त्र-ब्राह्मणयोर् वेद नामधेयम्'। "(वेद की) मन्त्र तथा ब्राह्मण के रूप में परिमाण दोषरहित है। इसीलिये आपस्तम्ब ने यज्ञपरिभाषा में कहा है कि 'मन्त्र तथा ब्राह्मण का नाम वेद है।'

[2] यह परिभाषा तैत्तिरीय या कृष्ण यजुर्वेद के अतिरिक्त, जिसमे मन्त्र तथा ब्राह्मण मिले हुए है, अन्य सभी सहिताओ पर लागू होती है। किन्तु इस सहिता का भी इससे संबद्ध एक पृथक् ब्राह्मण है। देखिए, मूलर का ऐ० सं० लि० पृ० ३५०, तथा वेबेर का इण्डिशे लिटेराटुर्गेशिश्ट, पृ० ८३। वाजसनेयि तथा अथर्वसहिता का सामान्य स्वरूप इस तथ्य से प्रभावित नहीं है कि इसमे वाजसनेयि का अन्तिम काण्ड एक उपनिषद् है और अथर्वसहिता के पन्द्रहवें काण्ड मे ब्राह्मणो के स्वरूप जैसी बात पायी जाती है।

[3] वेदो पर अधिक जानकारी के लिये प्रोफेसर मैक्स मूलर के ऐन्श्येन्ट सस्कृत लिटरेचर तथा प्रस्तुत ग्रन्थ के भाग २, ३, और ४ का निर्देश किया जा सकता है।

यद्यपि मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदस् तथापि ब्राह्मणस्य मंत्र व्याख्यान-रूपत्वाद् मन्त्रा एवादौ समाम्नाताः। "यद्यपि वेद, मन्त्र तथा ब्राह्मण दोनों से मिलकर बना है, तथापि ब्राह्मण के मन्त्रों के व्याख्यानरूप होने के कारण मन्त्रों की ही पहले रचना हुई मानना चाहिये।"[४]

इस प्रकार, सूक्तों की ब्राह्मणों से पूर्वस्थिति ब्राह्मणों में उपलब्ध सूक्तों के निर्बाध उद्धरणों से भी पुष्ट होती है।[५] भारतीय साहित्य के किसी भी अन्य अंश की अपेक्षा सूक्तों के प्राचीन होने का प्रमाण स्वयं सूक्तों की भाषा के स्वरूप मे भी उपलब्ध होता है। उनकी रचना संस्कृत की एक प्राचीन विभापा मे हुई है जिसमे अनेक ऐसे शब्द हैं जिनका अर्थ निरुक्त[६] के रचयिता यास्क के समय तक में निश्चित रूप से ज्ञात नहीं रह गया था। उसमें अनेक ऐसे व्याकरणीय रूप भी हैं जो महान वैयाकरण पाणिनि के काल में प्रयोगबाह्य हो गये थे क्योंकि वे उनका उल्लेख करते समय उन्हें सूक्तों (छन्दस्) में ही प्रयुक्त होने वाला बताते हैं।[७] मन्त्रों की अत्यधिक प्राचीनता के पक्ष में एक तृतीय तर्क इस तथ्य पर आधारित है कि इन्द्र और वरुण प्रभृत् जिन देवताओं को मंत्रों में सर्वप्रमुख आराध्य पात्रों के रूप में प्रस्तुत किया गया है उनका इतिहास तथा पुराणों मे केवल गौण स्थान ही रह गया है, जब कि अन्य, जैसे विष्णु तथा रुद्र, जो यद्यपि किसी भी प्रकार सूक्तों के सर्वप्रमुख देवता नहीं हैं, को न केवल सर्वोपरि स्थान पर ही प्रतिष्ठित कर दिया गया है वरन् पौराणिक देव-मण्डल में इन्होंने एक भिन्न स्वरूप ही धारण कर लिया है।[८]

---

[४] इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग मे निरुक्त से उद्धृत अश और सायण से दिये गए एक अश का अवलोकन कीजिये और मुण्डक उपनिषद् के इस अश से तुलना कीजिये (१ २, १): "तद् एतत् सत्यम् मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्य् अपश्यस् तानि त्रेता याम् बहुधा सन्ततानि।" "यह सत्य है कि जिन कर्मो का ऋपियो ने सूक्तो मे दर्शन किया (अर्थात् प्रकाशन के द्वारा ज्ञान प्राप्त किया) वे कर्म त्रेता (युग) मे अनेक रूप मे किये जाते थे।"

[५] देखिए प्रस्तुत ग्रन्थ का भाग २ तथा जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी भाग २, नयी सिरीज पृ० ३१६, आदि मे प्रकाशित "इटरप्रिटेशन आफ दि वेद" शीर्पक लेख।

[६] इस ग्रन्थ का भाग २ आदि, तथा जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी भाग २, नयी सिरीज पृ० ३२३ आदि मे "इण्टरप्रिटेशन आफ दि वेद" विषय पर मेरा लेख देखिये।

[७] देखिए इस ग्रथ का भाग २।

[८] देखिए इस ग्रंथ का भाग २, तथा भाग ४।

इन समस्त आधारों पर निश्चित रूप से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ऋग्वेद के मन्त्र या सूक्त ही भारतीय साहित्य के निःसन्देह सर्वाधिक प्राचीन अवशेष हैं। इसके सूक्त स्वयं विभिन्न समयों के हैं, कुछ अधिक प्राचीन और कुछ अपेक्षाकृत अर्वाचीन। यह केवल कारक के रूप से ही नहीं प्रकट होता—क्योंकि यह नहीं स्वीकार किया जा सकता कि ऋग्वेद सदृश्य इतने विस्तृत राष्ट्रीय संग्रह के सम्पूर्ण विषय एक या दो पीढ़ियों तक के ही मनुष्यों द्वारा रचे गये हो सकते हैं—अपितु प्राचीन ऋषियों, कवियों, तथा अधिक प्राचीन सूक्तों के विषय में स्वयं इन मंत्रों में निहित उल्लेखों से भी सिद्ध होता है।[१] अतएव यह नितान्त सम्भव है कि इन काव्यों में अधिक प्राचीन तथा अधिक अर्वाचीन मन्त्रों की रचनाओं के बीच अनेक शताब्दियों के समय का व्यवधान रहा होगा। किन्तु, यदि ऐसी बात हुई हो तो यह भी माना जा सकता है कि इस व्यवधान में उन लोगों के, जिनके बीच इन सूक्तों की रचना हुई थी, धार्मिक विचारों और क्रियाओं तथा सामाजिक और पौरोहित्य-सम्बन्धी संस्थाओं में पर्याप्त परिवर्तन हुये होंगे तथा विभिन्न सूक्तों की पारस्परिक तुलना करने पर इन परिवर्तनों के कुछ चिह्न देखे भी जा सकते हैं।

मन्त्रों की रचना के काल का निश्चित रूप से निर्धारण करने के पर्याप्त आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं। प्रोफेसर मूलर ने इन्हें दो वर्गों में विभक्त किया है: मन्त्र या अधिक परवर्ती सूक्त जिनका रचना-काल आप १००० से ८०० वर्ष ई० पू० के बीच मानते हैं, तथा अपेक्षाकृत प्राचीन सूक्त जिन्हें आप छन्दस् का नाम देते हैं और जिनके विषय में आपकी धारणा है कि उनकी रचना १,२०० तथा १,००० वर्ष ई० पू० के बीच हुई होगी। अन्य विद्वानों का यह मत है कि वे इससे भी अधिक प्राचीन हो सकते हैं (द्रष्टव्य • मूलर • ऐ० स० लि०, पृ० ५७२; और इसी लेखक के ऋग्वेद के संस्करण के चतुर्थ भाग की भूमिका, पृ० ४-१३)। प्रोफेसर हॉग का भी यही मत है जो अपने ऐतरेय ब्राह्मण की भूमिका के पृष्ठ ४७ पर इस प्रकार लिखते हैं • "अतएव ब्राह्मणों के अधिकांश भाग की रचना का समय १४००-१२०० ई० पू० मानने में हमें कोई संकोच नहीं है, संहिता के लिये हमें ५००-६०० वर्षों के समय की आवश्यकता पड़ती है और इसके तथा ब्राह्मण-काल के अन्त के बीच प्रायः दो सौ वर्षों का व्यवधान भी मानना होगा। इस प्रकार अधिकांश संहिताओं की रचना के समय को १४००-२००० ई० पू० के बीच निश्चित किया जा सकता है, जब कि प्राचीनतम सूक्त तथा याज्ञिक-मन्त्र इससे भी कुछ शताब्दी और

---

[१] इस ग्रन्थ का द्वितीय और तृतीय भाग भी देखें।

प्राचीन हो सकते हैं। इस प्रकार हम वैदिक साहित्य के प्रारम्भ के समय को २०००-२४०० ई० पू० निश्चित करेंगे।"

सर्वाधिक अर्वाचीन मन्त्रों के बाद, समय की दृष्टि से, द्वितीय स्थान पर ब्राह्मण आते हैं। इनमें (१) ऐतरेय और शांखायन, ऋग्वेद से; (२) ताण्ड्य, पञ्चविंश, और छान्दोग्य, सामवेद से, (३) तैत्तिरीय, तैत्तिरीय या कृष्ण यजुर्वेद से; (४) शतपथ, वाजसनेयि संहिता या शुक्लयजुर्वेद से; तथा (५) गोपथ, अथर्ववेद से सम्बद्ध है।[10] गद्य में लिखित ये रचनायें, जैसा कि मैंने पहले कहा है, उस विधि का विधान करती है जिससे मन्त्रों का प्रयोग तथा यज्ञ की विविध क्रियाओं का अनुष्ठान होना चाहिए। ये कुछ क्रियाओं के रहस्यमय अर्थ का प्रतिपादन और कर्मकाण्ड की कुछ विधियों की उत्पत्ति एवं फलोत्पादकता का प्रदर्शन करने के लिए अनेक प्रकार के आख्यानों को भी उपस्थित करते है। समय के क्रम में ब्राह्मण मन्त्रों के बाद आते हैं। यह बात उनकी सरल, अप्रचलित, तथा पुनरुक्तिपूर्ण शैली से, और साथ ही साथ, उनकी भाषा के स्वरूप से सिद्ध है जो यद्यपि सूक्तों की भाषा की अपेक्षा, लौकिक या पाणिनीय संस्कृत के अधिक निकट है, तथापि जिसके शब्दभण्डार एवं व्याकरणीय रूप को कतिपय उन आर्ष रूपों के आधार पर जो इतिहास और पुराणों को अज्ञात है, पृथक् किया जा सकता है।[11] ब्राह्मणों के सर्वाधिक अर्वाचीन अंश आरण्यक एव उपनिषद् है, जिनके स्वरूप एवं विषयों का सूक्ष्म संकेत दिया जा चुका है। हमारे विवेचन के आधारभूत अवशिष्ट ग्रन्थ 'स्मृति' शीर्षक के अन्तर्गत आते है, जिनका मन्त्रों, ब्राह्मणों, आरण्यकों एवं उपनिषदों के लिये प्रयुक्त श्रुति नाम के साथ विभेद किया गया है।

स्मृति के अन्तर्गत (१) वेदाङ्ग, जैसे यास्क का निरुक्त, (२) सूत्र, श्रौत तथा गृह्य अर्थात् याज्ञिक एवं घरेलू; (३) मनु की विधिसंहिता, (४) इतिहास और पुराण आते है। इतिहास वर्ग से सबद्ध ग्रन्थ यह है : (१) रामायण (जिसे वाल्मीकि की रचना कहा जाता है) और जिसमें राम के चरित्रों का कम से कम अधिकांशतः वर्णन है, (२) महाभारत, जो कौरवों एव पाण्डवों के युद्धों और चरित्रों का वर्णन करता है, तथा विविध प्रकार की

---

[10] इन ब्राह्मणो पर अधिक विस्तृत जानकारी के लिये पाठक प्रोफेसर मैक्स मूलर का ऐ० स० लि० पृ० ३४५ आदि, प्रोफेसर वेवेर का इण्डिशे लिटेराटुर-गेशिश्ट तथा इण्डिशे स्टूडियन, तथा डा० हॉग का ऐतरेय ब्राह्मण देखे।

[11] उदाहरणार्थ शतपथ ब्राह्मण ११ ५, १, १५ तथा तैत्तिरीय संहिता २. २, १०, २ तथा २ ६, ७, १ देखे।

कथाओं और अनेक पुराकथाशास्त्रीय इतिवृत्तों के साथ-साथ ऐसे धार्मिक, दार्शनिक, एवं राजनीतिक विवादों का भी समावेश करता है जो काव्य के ढाँचे में गूथ या प्रक्षिप्त कर दिये गये हैं। इस ग्रन्थ को व्यास की रचना बताया जाता है, किन्तु इसका बृहत आकार, इसका प्रायः सर्वविषयवर्ती स्वरूप, तथा विभिन्न भागों में पाई जाने वाली सिद्धान्त-विषयक असमानता निश्चित रूप से इस निष्कर्ष पर पहुँचाती हैं कि यह केवल एक लेखक की रचना नहीं है, वरन् ऐसे लेखकों की शृङ्खला द्वारा इसमें व्यापक परिवृद्धि हुई है जिन्होंने अपने विविध मतों का राष्ट्रीय परम्पराओं के इस महान् एवं श्रद्धास्पद भण्डार में समावेश करके उन्हें प्रचलित एवं प्रामाणिक रूप देने का प्रयास किया है।[१२]

सामान्यतः पुराणों की संख्या अट्ठारह बतायी जाती है, जिनके साथ उपपुराण नामक समान स्वभाव की कुछ अल्पतर महत्त्ववाली रचनायें भी हैं। इन ग्रन्थों के विवरण एवं विषयसंक्षेप के लिए मैं स्वर्गीय प्रोफेसर एच० एच० विलसन के विष्णुपुराण के अनुवाद का निर्देश करूँगा।[१३]

इस ग्रन्थ में प्रतिपाद्य विविध विषयों का विवेचन करने में मैं सर्वप्रथम ऋग्वेद के सूक्तों के वर्ण्य-विषय पर प्रकाश डालने वाले किसी वर्णन को उद्धृत करूँगा; तदुपरान्त ब्राह्मणों एवं उनकी परिशिष्टों से, और अन्ततः स्मृति के अन्तर्गत आने वाले विभिन्न वर्गों की रचनाओं में मिलने वाले अंशों का उद्धरण दूँगा। इस विधि से हमें यह ज्ञात हो जायगा कि प्रत्येक विषय पर प्राचीनतम भारतीय लेखकों के क्या विचार और अभिमत थे और उनके उत्तराधिकारियों द्वारा उनमें क्या-क्या परिवर्तन किये गये।



[१२] रामायण तथा महाभारत पर प्रोफेसर मॉनियर विलियम्स का "इण्डियन एपिक पोइट्री" ग्रन्थ देखिए, जिसमे प्रत्येक काव्य की प्रमुख कथाओ का सुन्दर विश्लेषण है।

[१३] उसी लेखक द्वारा रचित तथा कलकत्ता से प्रकाशित "ग्लीनिंग्स आफ साइंस" में विष्णु, वायु, अग्नि, तथा ब्रह्मवैवर्त पुराणो का सक्षेप देखिये; तथा ब्रह्म और पद्म पुराणो का सक्षेप जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी स० ९ (१८३८) तथा स० १० (१०३९) मे देखिये।

अध्याय १

मानव सृष्टि तथा चतुर्वर्णों की उत्पत्ति का पुराकथाशास्त्रीय वर्णन

इस अध्याय में उद्धृत किये जाने वाले विभिन्न अंशों से यह स्पष्ट हो जायगा कि बहुत प्रारम्भिक काल से भारतीय लेखकों ने मानव जाति की उत्पत्ति तथा उन वर्गों या वर्णों से, जिनमें उनका समाज विभक्त था, सम्बद्ध विचारों के अनेक विभेदों का प्रतिपादन किया है। इन व्याख्याओं में सर्वाधिक सुलभ वह वर्णन है जो ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों को स्रष्टा के सिर, वक्ष या बाहु, जंघों तथा पैरों से पृथक्-पृथक् उत्पन्न बताता है। इस आख्यानात्मक वर्णन का ऋग्वेद के सूक्तों में केवल एक पुरुषसूक्त के अतिरिक्त और कोई चिह्न नहीं मिलता।

यद्यपि आगे वर्णित कारणों के आधार पर मैं यह सम्भव मानता हूँ कि यह सूक्त ऋग्वेद के सर्वाधिक अर्वाचीन भाग से संबद्ध है, तथापि सूक्तसंग्रह के अधिक प्राचीन भागों का इनके रचयिताओं का अपनी जाति के प्राचीनतम इतिहास के विषय में तथा उन सम्बन्धों के आधारों के विषय में जो वे अपने समकालीन समाज के विभिन्न वर्गों में विद्यमान पाते थे, क्या विचार थे, इसका निर्धारण करने की दृष्टि से अनुसन्धान करने के पूर्व इस सूक्त का, मानव जाति एवं वर्णों की उत्पत्ति का स्पष्टतः विवेचन करने वाले ब्राह्मणों, इतिहासों, एवं पुराणों के अंशों के साथ उद्धरण देना अधिक सुविधाजनक होगा।

खण्ड १—ऋग्वेद संहिता के दशम मण्डल का ९० वाँ सूक्त (पुरुषसूक्त)

इस प्रसिद्ध सूक्त में, जहाँ तक हमें विदित है, हिन्दू जाति के चार वर्णों की उत्पत्ति का उल्लेख करनेवाला सर्वाधिक प्राचीन अंश उपलब्ध होता है। इस अंश के स्वरूप का आकलन करने के लिए हमें इस पर इसके सन्दर्भ के साथ विचार करना चाहिए। अतएव मैं इस सम्पूर्ण सूक्त को उद्धृत करता हूँ[१४] :—

---

[१४] पुरुषसूक्त, शुक्लयजुर्वेद की वाजसनेयि संहिता (३१ १–१६) तथा अथर्ववेद (१९ ६, १ आदि) में भी मिलता है। देखें कोलब्रुक का मिस्सेलेनिअस एसेज १ १६७ आदि, तथा पृ० ३०९ की टिप्पणी (अथवा मेसर्स विलि-

"१. पुरुष के सहस्र शीश,[१५] सहस्र नेत्र, तथा सहस्र पाद है। प्रत्येक ओर से पृथ्वी को आच्छादित[१६] करते हुए वह दस अंगुल के परिमाण में अधिक रहा। २१. पुरुष ही यह सम्पूर्ण (विश्व) है, जो कुछ उत्पन्न हो चुका है और जो कुछ होने वाला है वह सब पुरुष ही है।[१७] वह सम्पूर्ण अमृतत्व का स्वामी है, क्योंकि (अथवा, जब) वह अन्न से वृद्धि प्राप्त करता है।[१८] ३. यही है उसकी महत्ता, और पुरुष इससे बढकर है। सभी वस्तुये उसकी एक चतुर्थांश है, और जो कुछ भी द्युलोक में अमृत वस्तु है वह उसकी तीन चतुर्थांश है।[१९] ४. त्रिपाद् से पुरुष ने ऊपर आरोहण किया, पुनः यहाँ उसके पाद की सृष्टि हुई। तब उसने अन्नग्रहण करने वाली और अन्न न ग्रहण करने वाली सभी वस्तुओं को व्याप्त कर लिया। उससे विराज की उत्पत्ति हुई और विराज से पुरुष उत्पन्न हुआ।[२०] उत्पन्न होकर वह पृथ्वी के और पीछे दोनों ओर दूर तक

---

[१५] अथर्ववेद (१९ ६–१) मे 'सहस्र-बाहु' अर्थात् सहस्रो बाहुओ वाला, पाठ है। कदाचित् प्रतिलिपि लेखक ने, मन्त्र का शब्दश अर्थ लेकर तथा यह सोचकर कि मानव रूप वाले प्राणी के यदि एक सहस्र नेत्र हो और एक सहस्र पैर हो तो उनके केवल पाँच सौ ही सिर होने चाहिए, एक सहस्र नही, जैसा कि ऋग्वेद मे कहा गया है, यह परिवर्तन कर दिया है।

[१६] ऋग्वेद के 'वृत्वा' के लिए वाजसनेयि सहिता ३१ १ मे 'स्पृत्वा' पाठ है जिसका अर्थ प्राय समान ही है।

[१७] शब्द 'अत्यतिष्ठत्' है। शतपथ ब्राह्मण १३ ६, १, १ तथा ४ ५, ४, १ २ के 'अतिष्ठावानः' से तुलना कीजिये। प्रोफेसर वेबर ने 'अत्यतिष्ठत्' का अर्थ 'घेरता है' (Occupies) किया है (इण्डिशे स्टूडियन ९ ५)।

[१८] इसका अर्थ अस्पष्ट है। 'यद् अन्नेनातिरोहति' के स्थान पर अथर्ववेद मे 'यद् अन्येनाभवत् सह' पाठ है ('वह जो' अथवा 'यत वह') दूसरे के साथ था।

[१९] तुलना कीजिये अथर्ववेद १० ८, ७. "अर्धेन विश्वम् भुवनम् जजान यद् अस्य अर्धम् क्व तद् बभूव।" "आधे से उसने सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि की, उसके (दूसरे) आधे भाग का क्या हुआ?" देखिए, वही ५ १३

[२०] इस वाक्य पर ऋग्वेद १० ७२, ५ द्वारा प्रकाश पडता है, जहाँ यह कहा गया है 'अदितेर् दक्षो अजायत दक्षाद् उ अदिति परि।' "अदिति दक्ष से उत्पन्न हुई और दक्ष अदिति से"—इस पर यास्क (निरुक्त ११ २३) का यह कथन है "तत् कथम् उपपद्येत। समान-जन्मानौ स्याताम् इति। अपि वा देव-धर्मेण इतरेतर-जन्मानौ स्याताम् इतरेततर-प्रकृती।" "यह कैसे सभव हो सकता

व्याप्त हो गया। ६. जब देवताओं ने पुरुष का बलि बनाकर यज्ञ किया तो वसन्त ऋतु घृत थी, ग्रीष्म इंधन, तथा शरद् इसका (सहवर्ती) हवि था। ७. इस प्रारम्भ में उत्पन्न हुए पुरुष पशु का उन्होंने याज्ञिक बर्हि पर वध किया जिससे देवताओं, साध्यों और ऋषियों ने यज्ञ किया।[२१] ८. उस सर्वहुत यज्ञ से दधि और घृत प्रसूत हुए। उससे वायव्य,[२२] (जीव) तथा ग्राम्य एवं आरण्य पशुओं की रचना हुई। ९. उस सर्वहुत यज्ञ से ऋच् और साम मन्त्र, छन्द और यजुष् उत्पन्न हुए। १०. इनसे घोड़े और दो दन्तपंक्तियों वाले सभी पशु उत्पन्न हुए। उससे गौएँ उत्पन्न हुईं, अज तथा मेष उत्पन्न हुए। ११. जब देवताओं ने पुरुष के टुकड़े किये तो उन्होंने उसे कितने भागों में विभक्त किया? उसका मुख क्या था? भुजायें (क्या थीं)? कौन सी (दो वस्तुएँ) उसकी जाँघें बताई जाती हैं और उसके पैर क्या थे? १२. ब्राह्मण उसका मुख था,[२३] राजन्य उसकी भुजायें हुये; वैश्य नामक व्यक्ति उसकी जाँघें हुये

है? उनकी एक ही उत्पत्ति हो सकती है, या उनके देवता होने के कारण वे एक दूसरे मे उत्पन्न हुए होंगे और उनमे एक दूसरे के गुण रहे होंगे।" तुलना कीजिये अथर्ववेद १३ ४, २९ आदि जहाँ इन्द्र के विषय मे कहा गया है कि उनकी उत्पत्ति अनेक देवताओ या भूतो ने की और वे स्वय इन्द्र से उत्पन्न हुए। विराज के सम्बन्ध मे प्रस्तुत मन्त्र पर मेरे लेख "प्रोग्रेस आफ दि वेदिक रिलिजन" आदि मे दी गयी टिप्पणियाँ देखे, जो १८६५ के जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी, पृ० ३५४, मे प्रकाशित है।

[२१] साध्यो के विषय मे प्रोफेसर वेबर के कथन इण्ड० स्टू० ९ ६ आदि तथा जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी १८६६, पृ० ३९५, टिप्पणी देखे।

[२२] तथापि, वाजसनेयि संहिता १४. ३० देखे, जिसे आगे उद्धृत किया जायगा।

[२३] तुलना कीजिए कौषीतकि ब्राह्मण उपनिषद् २ ९: "अथ पौर्णमास्याम् पुरस्ताच् चन्द्रमसम् दृश्यमानम् उपतिष्ठेत एतया एव आवृता सोमो राजासि विचक्षणो पञ्च मुखोऽसि प्रजापति। ब्राह्मणस्ते एकम् मुखम्। तेन मुखेन राज्ञोऽत्सि। तेन मुखेन माम् अन्नादम् कुरु। राजा ते एकम् मुखम्। तेन मुखेन विशोऽत्सि। तेन मुखेन माम् अन्नादम् कुरु। श्येनस् ते एकम् मुखम्, इत्यादि"। इसका अनुवाद श्री कोवेल ने इस प्रकार किया है: "पूर्णमासी के दूसरे दिन चन्द्रमा के दिखाई पड़ने पर वह इस प्रकार कहता हुआ स्तुति करे 'तुम सोम हो, तेजस्वी, बुद्धिमान् पाँच मुख वाले तथा सभी जीवो के स्वामी हो। ब्राह्मण तुम्हारा एक मुख है, उस मुख से तुम राजाओ का भक्षण करते हो, उस मुख से मुझे अन्न

और शूद्र उसके पैरों से निकले। १३. चन्द्रमा उसके मन से उत्पन्न हुआ, सूर्य उसकी आँखों से, इन्द्र और अग्नि उसके मुख से, और वायु उसके प्राणों से उत्पन्न हुआ।[२५] १४. उसकी नाभि से अन्तरिक्ष, सिर से आकाश, पैरों से पृथ्वी, श्रोत्र से चार दिशायें उत्पन्न हुईं, इस विधि से (देवताओं ने) संसार की रचना की। १५. जब देवताओं ने यज्ञ करते समय, पुरुष को बलिपशु के रूप में बाँधा, तो उसके लिये अग्नि के चारों ओर सात अरणियाँ रक्खी गईं और इन्धन के इक्कीस टुकड़े किये गये। १६. यज्ञ से देवताओं ने यज्ञ किया। ये सबसे प्रथम कर्म थे। इन महान् शक्तियों ने उस आकाश का अन्वेषण किया जहाँ पुरातन साध्य और देवता निवास करते हैं।"[२६]

ऊपर (पृ० ९) मैंने इस मत का प्रदर्शन किया है कि यह सूक्त ऋग्वेद का प्राचीनतम भाग नहीं है। इस मत का विरोध डॉ० हॉग ने किया है, जो अपने "दि ओरिजिन आफ ब्राह्मणिज्म" अर्थात् ब्राह्मणधर्म के उद्भव (१८६३ में पूना से प्रकाशित) सम्बन्धी निबन्ध के पृ० ५ पर इस प्रकार लिखते हैं: "वेदों के अध्ययन में लगे हुए कुछ थोड़े से विद्वान् एकमत से इस सूक्त को वैदिक काव्य की अत्यन्त परवर्ती रचना मानते हैं, किन्तु इसे सिद्ध

ग्रहण करने वाला बनाओ। राजा तुम्हारा एक मुख है उस मुख से तुम सामान्य मनुष्यो का भक्षण करते हो, उस मुख से तुम मुझे अन्न ग्रहण करने वाला बनाओ। श्येन तुम्हारा चौथा मुख है, इत्यादि।" चौथा मुख अग्नि है और पाँचवाँ मुख स्वय चन्द्रमा मे है। मैं 'सोमो राजाऽसि' का अनुवाद 'तुम राजा सोम हो' करूँगा। ब्राह्मण ग्रन्थो मे सोम के लिये 'राजा' विशेषण प्राय' आया है। महाभारत ३. १२, ९६२ भी देखिए, जहाँ विष्णु को इसी रहस्यमय ढंग से यह कहते हुए उपस्थित किया गया है "ब्रह्म वक्त्रम् भुजौ क्षत्रम् ऊरु मे सस्थिताः विश। पादौ शूद्रा' भवन्तीमे विक्रमेण क्रमेण च।" "ब्राह्मण मेरा मुख है, क्षत्र मेरी भुजाये है, विश मेरे ऊरु है और शूद्र अपने विक्रम तथा क्षिप्र गति के साथ मेरे पैर हैं।"

[२४] 'ऊरु' के स्थान पर अथर्ववेद १९ ६, ६ मे 'मध्यम्' पाठ है।

[२५] वाज० स० ३१ १२ मे मन्त्र के अन्तिम अर्द्धर्च का भिन्न तथा एकवचन मे पाठ है 'श्रोत्राद् वायुश् च प्राणश् च मुखाद् अग्निर् अजायत।' "उसके श्रोत्र से वायु तथा प्राण उत्पन्न हुआ तथा उसके मुख से अग्नि उत्पन्न हुआ।"

[२६] यह मन्त्र ऋग्वेद १ १६४ ५ मे भी आता है और निरुक्त १२ १४ मे उद्धृत है, देखिए १७६६ का जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी, पृ० ३९५. टिप्पणी, जिसका उल्लेख किया जा चुका है।

करने के लिए पर्याप्त प्रमाण नहीं हैं। इसके विपरीत यह प्रदर्शित करने के लिये कि यह भी बहुत प्राचीन है तर्क उपस्थित किये जा सकते हैं। इस सूक्त का रहस्यात्मक स्वरूप इसकी परवर्ती रचना का कोई प्रमाण नहीं। इस प्रकार के प्रतीकवादी सूक्त ऋग्वेद संहिता नाम से विख्यात मन्त्रों के संकलन के प्रत्येक मण्डल में उपलब्ध है। ऋषि गण, जो इन सूक्तों के रचयिता थे, इस प्रकार के चिन्तन में आनन्द लेते थे। प्रायः इनकी कल्पना ऐसी याज्ञिक क्रियाओं द्वारा उत्पन्न होती थी जिनका सम्पादन ये नित्य किया करते थे। यजुर्वेद में (जहाँ इसका उल्लेख पुरुषयज्ञ के मन्त्रों के सन्दर्भ में किया गया है) जो स्थान इस सूक्त को दिया गया है, उससे प्रतीत होता है कि इस सूक्त का व्यवहार पुरुषमेध यज्ञों में किया जाता था। वैदिक युग के सबसे आरम्भिक काल में पुरुषबलि ब्राह्मणों में नितान्त प्रचलित थी यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध की जा सकती है। किन्तु उनके नायकों से अधिक मधुर एवं सान्त्व ब्राह्मणों ने मानवीय भावनाओं के प्रतिकूल होने के कारण पुरुषबलि की प्रथा का शीघ्र ही परित्याग कर दिया। फिर भी यज्ञ का स्वरूप दीर्घकाल तक प्रचलित प्रतीत होता है, क्योंकि इस अवसर पर किया जाने वाला विधान यजुर्वेद में यथार्थतः पाया जाता है; किन्तु वे केवल विभिन्न वर्णों एवं वर्गों के पुरुषों को यज्ञीय यूपों से बाँधते थे और उन्हें बाद में छोड़ कर उनके स्थान पर पशुओं का वध करते थे।"

यदि यह सन्तोषप्रद रूप में प्रदर्शित किया जा सकता कि जिस रूप में यह सूक्त इस समय उपलब्ध है, ठीक उसी रूप में मनुष्य बलि की असभ्य प्रथा के समय भी था, जिसे डा० हॉग किसी समय भारत में प्रचलित बताते हैं, तो इसमें सन्देह नहीं कि ऐसी स्थिति में हमें इसकी प्राचीनता का एक बहुत सबल प्रमाण मिल जायगा। किन्तु यदि एक परवर्ती काल में केवल याज्ञिक क्रिया के अंग के रूप में ही इसे स्वीकार किया गया था, जबकि मनुष्यों का वध औपचारिक एवं नाम मात्र का होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह गया था और वास्तविक बलिपशुओं के रूप में पशुओं का ही प्रयोग होता था, तो इसकी दीर्घकालीन प्राचीनता का प्रमाण नितान्त क्षीण सिद्ध होगा।

अब यदि हम पुरुष सूक्त की ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के दो सूक्तों (१६२ और १६३) से तुलना करें, तो मेरे विचार से यह स्पष्ट हो जायगा कि प्रथम का प्रयोग पुरुष-बलि के अवसर पर उस ढंग से अभिप्रेत नहीं है, जिस ढंग से अन्तिम दो सूक्तों का प्रयोग अश्व के वध के समय किया गया है। निःसन्देह इन सूक्तों से द्वितीय सूक्त में मन्त्र ३ जैसे कुछ रहस्यपूर्ण अंश हैं,

जिनमें अश्व का यम, आदित्य, और त्रित से तादात्म्य दिखाया गया है; तथा तैत्तिरीय यजुर्वेद के अन्तिम काण्ड में अश्व के शरीर के विविध अवयवों का काल के विभागों एवं जगत् के अंशों के रूप में वर्णन किया गया है : "प्रातःकाल उसका सिर है, सूर्य उसका नेत्र, वायु उसका प्राण, और चन्द्रमा उसका श्रोत्र" इत्यादि (कोलब्रुक्स एसेज १।६२)।[३७] किन्तु जो व्यक्ति इस यज्ञ के अवसर पर पुरोहित का काम करते थे वे, जैसा कि इन सूक्तों में उल्लिखित है, प्राचीन भारतीय कर्मकाण्ड के साधारण पुरोहित—होतृ, अध्वर्यु, आग्नयज् , इत्यादि ही होते थे (१ १६२,५), तथा इस पशु के वास्तविक वध के विस्तृत वर्णन दिये गये हैं (१. १६२, ११)। पुरुष सूक्त में पुरुष के यथार्थतः वध के ठीक इसी प्रकार के संकेत नहीं मिलते। इसके अनुसार यज्ञ देवताओं के लिए नहीं अपितु देवताओं द्वारा किया जाता है (मन्त्र ६; ७, १५, १६), मानव ऋत्विजों का कोई उल्लेख नहीं है; वलिपशु के विभाजन को (मंत्र ११) वध के समान ही (मंत्र ७) केवल देवताओं का कार्य मानना चाहिए। और सूक्त में वर्णित पुरुष को साधारण मनुष्य नहीं माना जा सकता था, क्योंकि उसका जगत् के साथ तादात्म्य दिखाया गया है (मन्त्र २) और स्वयं उसे या उसके वध को सृष्टि (मन्त्र ८. १०. १३. १४) तथा वेदों के (मन्त्र ९) सृजन का साधन बताया गया है।

ऋग्वेद के सूक्तों के बडे भाग के साथ तुलना करने पर निश्चय ही पुरुष-सूक्त में भाषा तथा विचार दोनों से ही आधुनिकता के प्रत्येक लक्षण मिलते हैं। मैं यह पहले ही कह चुका हूँ कि इस संहिता में जो सूक्त मिलते हैं वे नितान्त भिन्न समयों के हैं। मेरा विश्वास है कि इस पर दो मत नहीं हैं।[३८] जैसा कि हम देख चुके है, स्वयं सूक्तों के रचयिता नवीन एवं प्राचीन सूक्तों की बात कहते हैं। इस प्रकार की सहस्रों की संख्या में रचनायें अल्प समय के भीतर कथमपि रची नहीं गई होंगी, और यह मानने के लिए भी कोई तर्क नहीं है कि प्राचीन हिन्दुओं की साहित्यिक साधना सूक्तों के संकलन के ठीक पहले आने वाले युग तक ही सीमित थी। किन्तु यदि हम समय की भिन्नता को किसी प्रकार की मान्यता देते हैं तो उन के अतिरिक्त, जो एक ही साथ भाषा एवं शैली में नितान्त प्राचीन तथा अपनी कल्पनाओं में प्राकृत और सरल हैं, किन सूक्तों को अधिक तर्कसंगत रूप में प्राचीनतम ठहराया जा सकता है?

---

[३७] बृहदारण्यक उपनिषद् के प्रारम्भ से तुलना कीजिए।

[३८] देखिए सूक्तो की रचना के काल के विषय मे डा० हॉग का निजी विचार (ऊपर उद्धृत)।

और दूसरी ओर उन रचनाओं को छोड़ कर जो चिन्तनपूर्ण विचारों के विकास का प्रदर्शन करती हैं तथा भाषा की दृष्टि से आधुनिक संस्कृत के निकट पहुँचती हैं, हम किन रचनाओं को अधिक औचित्य के साथ सर्वाधिक अर्वाचीन कह सकते हैं ? उपरोक्त स्थितियों में दूसरी स्थिति पुरुषसूक्त, तथा १०. ७१ और ७२, १०. ८१ और ८२, १०. १२१, तथा १०. १२९ सूक्तों के साथ दिखाई पड़ती है।

इस विषय पर श्री कोलब्रुक ने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं (कोल० मिस० पृ० १–३०९ टिप्पणी). "यह उल्लेखनीय सूक्त (पुरुषसूक्त) भाषा, छन्द, तथा शैली की दृष्टि से उन सभी शेष प्रार्थनाओं से भिन्न है जिनके साथ यह सम्बद्ध है। इसका स्वरूप निश्चित रूप से आधुनिक है और इसकी रचना उस समय हुई होगी जब संस्कृत भाषा परिष्कृत हो चुकी थी और उसके व्याकरण एवं लयात्मकता को अन्तिम रूप मिल चुका था। इसमें से जो अन्तरंग प्रमाण मिलता है वह इस महत्वपूर्ण तथ्य को उद्घाटित करता है कि वेद का वर्तमान क्रमयोजना के अनुसार संकलन उस समय के बाद हुआ होगा जब संस्कृत भाषा उस अपरिष्कृत एवं अनियमित विभाषा से जिसमें वेद के सूक्तों एवं प्रार्थनाओं के वृहत् भाग की रचना हुई थी, ऐसी अलंकृत एवं प्राञ्जल भाषा में विकसित हो चुकी थी जिसमें पवित्र एवं लौकिक पुराकथाशास्त्रीय काव्यों (पुराण और काव्य) की रचना हुई है।"

प्रोफेसर मैक्स मूलर भी इसी प्रकार विचार व्यक्त करते हैं (ऐं० सं० लि० पृ० ५७० आदि) : "उदाहरण के लिए इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि दसवें मण्डल का ९० वाँ सूक्त "स्वरूप एवं भाषा दोनों ही दृष्टियों से आधुनिक है। इसमें याज्ञिक क्रियाओं के उल्लेख भरे पड़े हैं, यह दर्शन के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करता है; वसन्त, ग्रीष्म तथा शरद् के क्रम में तीन ऋतुओं का वर्णन करता है; और इसमें ऋग्वेद का वह एकमात्र मन्त्र आता है, जिसमें चार वर्णों को गिनाया गया है। इस रचना के आधुनिक समय के लिये भाषा का प्रमाण भी समान रूप से सबल है। उदाहरणार्थ, ग्रीष्म, जो उष्ण ऋतु का नाम है, ऋग्वेद के किसी भी दूसरे सूक्त में नहीं आता, और वसन्त शब्द भी वैदिक कवियों की प्राचीन शब्दावली के अन्तर्गत नहीं है। इसके अतिरिक्त केवल एक बार ऋग्वेद में (१०. १६१, ४) यह शब्द एक मन्त्र में आता है, जहाँ शरद्, हेमन्त, तथा वसन्त के क्रम में तीन ऋतुओं का उल्लेख किया गया है।"

प्रोफेसर वेबर (इण्डिशे स्टूडियन ९–३) इस मत से सहमत हैं। उनका कथन है· "ऋग्वेद के सूक्त सूक्त-रूपों की पृष्ठभूमि में देखे जाने पर पुरुषसूक्त

इस संकलन के सबसे बाद के अंशों के अन्तर्गत आता है, और यह बात इसके वर्ण्यविषय से स्पष्टतया परिलक्षित होती है। यह तथ्य कि सामसंहिता ने इससे कोई मन्त्र ग्रहण नहीं किया है, महत्वहीन नहीं है (अपने एकेडेमिकल प्रिलेक्सन्श, पृ० ६३, में मैंने जो कुछ कहा है, उससे तुलना कीजिए)। नि:सन्देह, नैगेय शाखा ने अपने प्रथम आर्चिक के सातवें प्रपाठक में इसके प्रथम पाँच मन्त्रों को उद्धृत किया है (यद्यपि यह बिलकुल निश्चित नहीं है)।"

आगे के अध्याय में हम देखेंगे कि 'ब्राह्मण' शब्द ऋग्वेद संहिता में बहुत कम प्रयुक्त हुआ है, जबकि 'ब्रह्मन्', अर्थात् ऋत्विज का द्योतक शब्द, जिससे 'ब्राह्मण' शब्द व्युत्पन्न है, निरन्तर मिलता है। इस स्थिति से यह उचित निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जिन सूक्तों में यह व्युत्पन्न शब्द आता है वे बाद के ही हैं। यही बात 'विश्' शब्द की तुलना में 'वैश्य' के विषय में भी कही जा सकती है।[30]

पुरुषसूक्त के स्वरूप के विषय में मि० कोलब्रुक का मत उनके "मिस्सेलेनिअस एसेज" (भाग १, पृ० १६१, टिप्पणी; या विलियम्स एण्ड नोर्गेट के १८५८ के संस्करण के पृ० १०५) में इस प्रकार है: "भाष्य में वेद के इस विलक्षण अंश की जैसी व्याख्या की गयी है उसका उद्धरण देना मैं आवश्यक समझता हूँ, क्योंकि यह वस्तुतः अर्थ पर प्रकाश नहीं डालता, फिर भी इसके रूपक में अधिकांश स्पष्टता है।

"आन दि ओरिजिन आफ् ब्राह्मणिज्म" पर अपने निबन्ध के पृ० ४, में डा० हॉग ने मंत्र ११ तथा १२ के विषय में इस प्रकार कहा है: "अब, इस अंश के अनुसार, जो हमारे पास ब्राह्मण संस्कृति तथा सामान्यतः वर्णव्यवस्था के उद्भव के विषय में प्राचीनतम एवं सर्वाधिक प्रामाणिक अंश है, ब्राह्मण इस आद्य पुरुष के मुख से नहीं उत्पन्न हुये अपितु पुरुष का मुख ही ब्राह्मण वर्ण हो गया, अर्थात् ब्राह्मण वर्ण में परिवर्तित हो गया। इसमें सन्देह नहीं कि इस

---

[29] इस विषय पर वेबर की पृ० ३ पर दी गई टिप्पणी देखिए।

[30] प्रोफेसर आफरेख्त ने मुझे बताया है कि 'वैश्य' शब्द पुरुषसूक्त के अतिरिक्त ऋग्वेद के किसी भी दूसरे सूक्त मे नही आता, अथर्ववेद ५ १७, ९ मे केवल एक बार और वाजसनेयि सहिता मे पुरुषसूक्त के अतिरिक्त और कही बिल्कुल नही आया है। पुरुषसूक्त के अपेक्षाकृत परवर्ती काल का होने के प्रमाण मे इसी विद्वान् का कथन है कि यही एकमात्र ऐसा सूक्त है, जो चार विभिन्न प्रकार की वैदिक रचनाओ, ऋच्, सामन्, छन्दस्, तथा यजुष् का उल्लेख करता है।

खण्ड २—तैत्तिरीय संहिता, ७. १, १, ४ आदि से उद्धरण

प्रजापतिर् अकामयत "प्रजायेय" इति । स मुखतस् त्रिवृतं निरमिमीत । तम् अग्निर् देवताऽन्वसृज्यत गायत्री छन्द्रो रथन्तरम् साम ब्राह्मणो मनुष्याणाम् अजः पशूनाम् । तस्मात् ते मुख्याः मुखतो ह्य् असृज्यन्त । उरसो बाहुभ्याम् पञ्चदशम् निरमिमीत । तम् इन्द्रो देवताऽन्वसृज्यत त्रिष्टुप् छन्दो बृहत् साम राजन्यो मनुष्याणाम् अविः पशूनाम् । तस्मात् ते वीर्यावन्तो वीर्याद् ह्य् असृज्यन्त । मध्यतः सप्तदशं निरमिमीत । तम् विश्वेदेवाः देवताः अन्वसृज्यन्त जगती छन्दो वैरूपम् साम वैश्यो मनुष्याणाम् गावः पशूनाम् । तस्मात् ते आद्या अन्नधानाद् ह्य् असृज्यन्त । तस्माद् भूयांसोऽन्येभ्यः । भूयिष्ठाः हि देवताः अन्वसृज्यन्त । पत्तः एकविंशम् निरमिमीत । तम् अनुष्टुप् छन्दोऽन्वसृज्यत वैराजम् साम शूद्रो मनुष्याणाम् अश्वः पशूनाम् । तस्मात् तौ भूत सङ्क्रामिणाव् अश्वश् च शूद्रश् च । तस्मात् शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तो न हि देवताः अन्वसृज्यन्त । तस्मात् पादाव् उपजीवतः । पत्तो ह्य् असृज्येताम् ।

"प्रजापति ने इच्छा की, 'मैं सन्तान की सृष्टि करूँ'। उसने अपने मुख से त्रिवृत् (स्तोम) की रचना की । इसके उपरान्त अग्नि देवता, गायत्री छन्द, रथन्तर (नामक) सामन्, मनुष्यों में ब्राह्मण तथा पशुओं में अज उत्पन्न हुए; अतएव ये प्रधान (मुख्या) हैं, क्योंकि इनकी सृष्टि मुख से (मुखतः) हुई थी । (अपने) वक्ष, या भुजाओं से, उसने पञ्चदश (स्तोम) की रचना की । इसके अनन्तर इन्द्र देवता, त्रिष्टुभ् छन्द, बृहत् (नामक) सामन्, मनुष्यों में राजन्य, पशुओं में अवि उत्पन्न हुए; अतएव ये वीर्यवान् होते हैं क्योंकि इनकी उत्पत्ति वीर्य से हुई । (अपने) मध्य भाग से उसने सप्तदश (स्तोम) की रचना की । तदुपरान्त विश्वेदेव (नामक) देवताओं, जगती छन्द, वैरूप नामक सामन्, मनुष्यों में वैश्य और पशुओं में गौओं की सृष्टि हुई; अतएव ये भोजन के योग्य होते है, क्योंकि इनकी रचना अन्न के स्थान से हुई थी । इसीलिये अन्य की अपेक्षा ये संख्या में अधिक होते हैं, क्योंकि इनके (सप्तदश के) उपरान्त अनेक देवताओं की सृष्टि हुई थी । अपने पैरों से उसने एकविंश (स्तोम) की रचना की । इसके उपरान्त अनुष्टुभ् छन्द, वैराज नामक सामन्; मनुष्यों में शूद्र, और पशुओं में अश्व उत्पन्न हुए, अतएव अश्व और शूद्र दोनों (अन्य) प्राणियों के वाहक है । इसीलिये शूद्र यज्ञ का अधिकारी नही होता क्योंकि इसके (एकविंश के) उपरान्त किसी देवता की उत्पत्ति नहीं हुई । इसी कारण ये दोनों ही अपने पैरों द्वारा वृत्ति निर्वाह करते है, क्योंकि इनकी सृष्टि पैर से हुई थी ।"

खण्ड ३—शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मण, वाजसनेयि संहिता और अथर्ववेद से उद्धरण

अधोलिखित अनुच्छेद दूसरे वर्ग, अर्थात उन वर्णनों के वर्ग से सम्बद्ध है जो वर्णों की स्पष्ट उत्पत्ति तो स्वीकार करते हैं किन्तु उनकी सृष्टि का वर्णन पुरुष सूक्त से भिन्न रूप में करते हैं।

श० ब्रा० २.१, ४, ११ एवं आगे :—"भूर्" इति वै प्रजापतिर् इमाम् अजनयत "भुवः" इत्य् अन्तरिक्षम् "स्वर्" इति दिवम्। एतावद् वै इदम् सर्वं यावद् इमे लोकाः। सर्वेण एव आधीयते। "भूर्" इति वै प्रजापतिर् ब्रह्म अजनयत "भुवः" इति क्षत्रम् "स्वर्" इति विशम्। एतावद् वै इदम् सर्वं यावद् ब्रह्म क्षत्रं वित्। सर्वेण एव आधीयते। "भूर्" इति वै प्रजापतिर् आत्मानम् अजनयत "भुवः" इति प्रजां "स्वर्" इति पशून्। एतावद् वै इदम् सर्वं यावद् आत्मा प्रजाः पशवः। सर्वेण एव आधीयते।

"'भूः' (उच्चारण करते हुए) प्रजापति ने इस पृथ्वी को उत्पन्न किया। 'भुवः' (का उच्चारण करके) उसने अन्तरिक्ष को जन्म दिया, तथा 'स्वः' (का उच्चारण करके) उसने आकाश की सृष्टि की। यह विश्व इन लोकों के समान विस्तार वाला है। 'भूः' कह कर प्रजापति ने ब्राह्मण को उत्पन्न किया, 'भुवः' (कह कर) क्षत्र को उत्पन्न किया, और 'स्वः' (कह कर) उसने 'विश्' को उत्पन्न किया। सम्पूर्ण विश्व इतना ही है जितने में ब्राह्मण, क्षत्रिय और विश् हैं। सबके साथ अग्नि का आधान किया जाता है। 'भूः' (कह कर) प्रजापति ने स्वयं को उत्पन्न किया, 'भुवः' (कह कर) उसने प्रजाओं को उत्पन्न किया, 'स्वः' (कह कर) उसने पशुओं को उत्पन्न किया। विश्व इतना ही बड़ा है जितने में आत्मा, प्रजा और पशु हैं। सब के साथ (अग्नि का) आधान होता है।"

तैत्ति० ब्रा० ३.१२, ६, २—सर्वं हेदम् ब्रह्मणा हैव सृष्टम्। ऋग्भ्यो जातम् वैश्यम् वर्णम् आहुः। यजुर्वेदम् क्षत्रियस्याहुर् योनिम्। सामवेदो ब्राह्मणानाम् प्रसूतिः। पूर्वे पूर्वेभ्यो वच एतद् ऊचुः।

"यह सम्पूर्ण (विश्व) ब्रह्म द्वारा रचित है। ऐसा कहते हैं कि वैश्य वर्ण की उत्पति ऋक् मन्त्रों से हुई। लोग कहते हैं कि ऋग्वेद ही क्षत्रिय की उत्पत्ति का योनि है। सामवेद ही वह स्रोत है जिससे ब्रह्मण उत्पन्न हुआ। प्राचीन पुरुषों ने प्राचीन पुरुषों से ऐसा वचन कहा है।"

वेदों से वर्णों की उत्पत्ति के अपने विवरण को पूर्ण रूप देने के लिए लेखक को इतना और कहना था कि शूद्रों की उत्पत्ति अथर्वाङ्गिरस (अथर्ववेद) से हुई है; किन्तु कदाचित् उसने सोचा कि इस प्रकार की उत्पत्ति निर्धारित करने का अर्थ होगा उन्हें अत्यधिक गौरव प्रदान करना।

वाजसनेयि संहिता १४. २८ आदि (=तैत्तिरीय संहिता ४.३, १०, १) :—

एकया अस्तुवत प्रजाः अधीयन्त प्रजापतिर् अधिपतिर् आसीत्।

तिस्रिभिर् अस्तुवत ब्रह्म असृज्यत ब्रह्मणस्पतिर् अधिपतिर् आसीत्।

पञ्चभिर् अस्तुवत भूतान्य् असृज्यन्त भूतनाम्पतिर् अधिपतिर् आसीत्।

सप्तभिर् अस्तुवत सप्त ऋषयोऽसृज्यन्त धाता अधिपतिर् आसीत्।

नवभिर् अस्तुवत पितरोऽसृज्यन्त अदितिर् अधिपत्न्य् आसीत्।

एकादशभिर् अस्तुवत ऋतवोऽसृज्यन्त आर्तवाः अधिपतयः आसन्।

त्रयोदशभिर् अस्तुवत मासा असृज्यन्त सम्वत्सरोऽधिपतिर् आसीत्।

पञ्चदशभिर् अस्तुवत क्षत्रम् असृज्यत इन्द्रोऽधिपतिर् आसीत्।

सप्तदशभिर् अस्तुवत पशवोऽसृज्यन्त बृहस्पतिर् अधिपतिर् आसीत्।

नवदशभिर् अस्तुवत् शूद्रार्याव् असृज्येताम् अहोरात्रे अधिपत्नी आस्ताम्।

एकविंशत्या अस्तुवत एकशफाः पशवोऽसृज्यन्त वरुणोऽधिपतिर् आसीत्।

त्रयोविंशत्या अस्तुवत क्षुद्राः पशवोऽसृज्यन्त पूषा अधिपतिर् आसीत्।

पञ्चविंशत्या अस्तुवत अरण्याः पशवोऽसृज्यन्त वायुर् अधिपतिर् आसीत्।

सप्तविंशत्या अस्तुवत द्यावा-पृथिवी व्यैताम्। वसवो रुद्रा अदित्याः अनुव्यायन्। ते एव अधिपतयः आसन्। नवविंशत्या अस्तुवत वनस्पतयोऽसृज्यन्त सोमोधिपतिर् आसीत्। एकत्रिंशता अस्तुवत प्रजा असृज्यन्त पवाश् च अयवाश् च अधिपतयः आसन्। त्रयस्त्रिंशता अस्तुवत् भूतान्य् अशाम्यन् प्रजापतिः परमेष्ठी अधिपतिर् आसीत्।

"उसने एक से स्तुति की, प्राणियों की उत्पत्ति हुई, प्रजापति अधिपति था। उसने तीन से स्तुति की, ब्रह्मन् (ब्राह्मण) की रचना हुई; ब्रह्मणस्पति

अधिपति था। उसने पाँच से स्तुति की, विद्यमान, वस्तुओं की सृष्टि हुई, भूतानाम्पति अधिपति बना। उसने सात से स्तुति की, सात ऋषियों की सृष्टि हुई, धातृ अधिपति था। उसने नौ से स्तुति की, पितरों की उत्पत्ति हुई, अदिति अधिपत्नी थी। उसने ग्यारह से स्तुति की, ऋतुओं की उत्पत्ति हुई, आर्तव अधिपति थे। उसने तेरह से स्तुति की, मासों की रचना हुई; संवत्सर अधिपति था। उसने पन्द्रह से स्तुति की, क्षत्र (क्षत्रिय) उत्पन्न हुआ; इन्द्र अधिपति था। उसने सत्रह से स्तुति की, पशुओं की सृष्टि हुई; बृहस्पति अधिपति था। उसने उन्नीस से स्तुति की, शूद्र एवं अर्य (वैश्य) उत्पन्न हुए; दिन और रात्रि अधिपत्नियाँ थीं। उसने इक्कीस से स्तुति की, अविभक्त खुरों वाले पशुओं की सृष्टि हुई; वरुण अधिपति था। उसने तेईस से स्तुति की, क्षुद्र पशु उत्पन्न हुए, पूषा अधिपति था। उसने पच्चीस से स्तुति की, अरण्य पशु उत्पन्न हुए; वायु अधिपति था (तु० की० ऋग्वेद १०. ९, ८)। उसने सत्ताइस से स्तुति की, द्युलोक और पृथ्वी पृथक् हो गये, वसु, रुद्र, तथा आदित्य उनके बाद पृथक् हुए; वे अधिपति थे। उसने उनतीस से स्तुति की, वृक्ष उत्पन्न हुए; सोम अधिपति था। उसने इकतीस से स्तुति की, प्रजाओं की उत्पत्ति हुई; मास के पूर्व और उत्तर पक्ष[31] अधिपति थे। उसने तैंतीस से स्तुति की, समस्त भूत जगत् शान्त हुआ, प्रजापति परमेष्ठी अधिपति था।" इस अंश की व्याख्या शतपथ ब्राह्मण ८. ४, ३, १ आदि में की गई है।

अधोलिखित परिच्छेद की प्रकृति कुछ रहस्यात्मक है। किन्तु यह विभिन्न वर्णों के बीच के स्वभावगत अन्तर को उनसे सम्बद्ध देवताओं के बीच के अन्तर के अनुरूप ही निर्दिष्ट करता प्रतीत होता है :—

---

[31] तैत्तिरीय संहिता मे 'यावा' तथा अयावाः पाठ (वाजसनेयि संहिता के 'यवाः' और 'अयवा' के स्थान पर) मिलता है; और दूसरे अनुच्छेद ५ ३, ४, ५ (जैसा मुझे प्रोफेसर आफरेख्त से विदित हुआ है) इन शब्दो की व्याख्या क्रमश: मासो एव अर्धमासो के अर्थ मे करता है ('मासा वै यावा अर्धमासा. अयावाः'), जब कि वाजसनेयि संहिता का भाष्यकार इनसे मास के प्रथम और द्वितीय पक्ष का अर्थ ग्रहण करते हैं जो शतपथ ब्राह्मण ८ ४ ३, १८ तथा ४८ ४, २, ११ के अनुसार है (पूर्वपक्षा वै यवा' अपरपक्ष अयवा'। ते हि इद सर्व युवते चायुवते च)। प्रोफेसर आफरेख्त यह भी निर्देश करते हैं कि 'याव' की व्याख्या कात्यायन श्रौतसूत्र ४ ११ ८ मे 'यवमयम् अपूपम्', जौ से बने अपूप, के अर्थ मे की गई है।

श० ब्रा० १४. ४, २, २३ (=बृहदारण्यक उपनिषद्, १. ४, ११ आदि): ब्रह्म वै इदम् अग्रे आसीद् एकम् एव। तद् एकं सन् न व्यभवत्। तत् श्रेयो रूपम् अत्य् अ सृजत क्षत्रं यान्य् एतानि देवत्रा क्षत्राणि इन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युर् ईशानह् इति। तस्मात् क्षत्रात् परम् नास्ति। तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियाद् अधस्ताद् उपास्ते राजसूये क्षत्रे एव तद् यशो दधाति। सा एषा क्षत्रस्य योनिर् यद् ब्रह्म। तस्माद् यद्यपि राजा परमताम् गच्छति ब्रह्म एव अन्ततः उपनिश्रयति स्वाम् योनिम्। यः उ ह एनं हिनस्ति स्वाम् स योनिम् ऋच्छति। स पापीयान् भवति यथा श्रेयांसम् हिंसित्वा। २४. स न एव व्यभवत्। स विशम् असृजत यान्य् एतानि देव-जातानि गणशः आख्यायन्ते वसवो रुद्राः आदित्याः विश्वेदेवाः मरुतः इति। २५. स न एव व्यभवत्। स शौद्रम् वर्णम् असृजत पूषणम्। इयं वै पूषा इयं हि इदम् सर्व पुष्यति यद् इदं किञ्च। २६. स न एव व्यभवत्। तत् श्रेयो रूपम् अत्य् असृजत धर्मम्। तद् एतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद् धर्मः। तस्माद् धर्मात् परं नास्ति। अथो अबलीयान् बलीयांसम् आसंशते धर्मेण यथा राज्ञा एवम्। यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्। तस्मात् सत्यं वदन्तम् आहुर् "धर्मम् वदति" इति। धर्मं वा वदन्तम् "सत्यम् वदति" इति। एतद् ह्य् एव एतद् उभयम् भवति। २७. तद् एतद् ब्रह्म क्षत्रं विट् शूद्रः। तद् अग्निना एव देवेषु ब्रह्माभवद् ब्राह्मणो मनुष्येषु क्षत्रियेण क्षत्रियो वैश्येन वैश्यः शूद्रेण शूद्रः। तस्माद् अग्नाव् एव देवेषु लोकम् इच्छन्ते ब्राह्मणे मनुष्येषु। एताभ्यां हि रूपभ्यां ब्रह्म अभवत्।

२३. ब्रह्म (यहाँ, भाष्यकार के अनुसार, अग्नि के रूप में स्थित एवं ब्राह्मण वर्ण का प्रतिनिधिभूत[32]) ही प्रारम्भ में यह सम्पूर्ण विश्व था। एक होने से इसकी वृद्धि नहीं हुई। इसने श्रमपूर्वक एक श्रेष्ठ रूप की रचना की, जो क्षत्र था, अर्थात् देवताओं में शक्तिरूप वाले (क्षत्राणि), इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु, ईशान। अतएव क्षत्र से बढ़कर कुछ भी नहीं है और इसीलिये राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण क्षत्रिय से निम्नतर आसन पर बैठता है; वह उस गौरव को क्षत्र (राजा की शक्ति) को प्रदान करता है।[33] यह ब्रह्म ही

[32] अत्र यद् आत्म शब्देनोक्त स्रष्ट ब्रह्म तद् अग्नि सृष्ट्वा अग्रे अग्नि रूपापन्नम् ब्राह्मण-जात्यभिमानवद् अस्मिन् वाक्ये ब्रह्म-शब्देनाभिधीयते।

[33] अन्तिम कुछ शब्दों का अनुवाद प्रोफेसर आफरेख्त ने सुझाया है। भाष्यकार इसका अर्थ यह लगाते हैं कि ब्राह्मण राजा को अपनी (ब्रह्मन्

तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. २. ३–६—कामम् एव दारु-पात्रेण दुह्यात्। शूद्रः एव न दुह्यात्। असतो वै एष सम्भूतो यत् शूद्रः। अहविर् एव तद् इत्य् आहुर् यत् शूद्रो दोग्धि इति। अग्निहोत्रं एव न दुह्यात् शूद्रः। तद् हि न उत्पुनन्ति। यदा खलु वै पवित्रम् अत्येति अथ तद् हविर् इति।

"उसने अपनी इच्छा से लकड़ी के बने हुए पात्र में दूध का दोहन किया। किन्तु शूद्र पुरुष ने दोहन नहीं किया। क्योंकि इस शूद्र की उत्पत्ति असत् से हुई है। ऐसा कहते हैं कि जिस दूध का एक शूद्र दोहन करता है वह हवि के योग्य नहीं होता। शूद्र अग्निहोत्र का दोहन न करे, क्योंकि वह उसको पवित्र नहीं करता। जब वह पवित्र से होकर निकलता है तभी हवि बनता है।"

अथर्ववेद ४. ६, १ : ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दसास्यः। स सोमम् प्रथमः पपौ स चकाराऽरसं विषम्। "सर्वप्रथम ब्राह्मण दस सिरों और दस मुखों के साथ उत्पन्न हुआ। उसने पहले सोम का पान किया और विष को प्रभावहीन बना दिया।"

यतः यह वर्णन (जो कदाचित् एक अधिक लम्बे वर्णन का अंश है) यहाँ समाप्त हो जाता है, अतः हम लेखक के अन्य वर्णों की उत्पत्ति सम्बन्धी विचारों के विषय में अनभिज्ञ रह जाते हैं। यह जानना हमारे लिये बहुत रोचक होता कि अन्य वर्णों के लिए वह कितने सिरों और मुखों का वर्णन करता। भारतीय काव्य के विद्यार्थी यह जानते है कि रामायण में राक्षस रावण को ब्राह्मण तथा दस सिरों वाला बताया गया है।

राजन्यवर्ण की एक पृथक् उत्पत्ति बताने वाला अधोलिखित अंश भी यहाँ उद्धृत किया जा सकता है :

तैत्तिरीय संहिता २. ४, १३, १ : देवा वै राजन्याज् जायमानाद् अबिभयुः। तम् अन्तर् एव सन्तं दाम्नाऽपौम्भन्। स वै एषोऽपोब्धो जायते यद् राजन्यो। यद् वै एषोऽनपोब्धो जायेत वृत्रान् घंश् चरेद्। यं कामयेत राजन्यम् "अनपोब्धो जायेत वृत्रान् घंश् चरेद्" इति तस्मै एतम् ऐन्द्रा-बार्हस्पत्यं चरुं निर्वपेत्। ऐन्द्रो वै राजन्यो ब्रह्म बृहस्पतिः। ब्रह्मणा एव एनं दाम्नोऽपोम्भनाद् मुञ्चति। हिरण्मयं दाम दक्षिणा साक्षाद् एव एनं दाम्नोऽपोम्भनाद् मुञ्चति।

"जब राजन्य गर्भ में था तो देवता उससे आतंकित हुए। उन्होंने उसके गर्भ में स्थित होने पर भी उसे बन्धनों से बाँधा। अतएव यह राजन्य बन्धनयुक्त उत्पन्न होता है। यदि वह बिना बन्धन के उत्पन्न होता तो निरन्तर अपने शत्रुओं का नाश करता रहता। जो कोई राजन्य को बिना बन्धन के उत्पन्न

और उसे अपने शत्रुओं के निरन्तर संहार में लीन देखना चाहता है वह उसके लिए ऐन्द्र-बार्हस्पत्य चरु का निर्वपन करे। एक राजन्य का स्वरूप इन्द्र का रूप होता है, और एक ब्राह्मण बृहस्पति का रूप होता है। ब्राह्मण के द्वारा ही कोई व्यक्ति राजन्य को बन्धनमुक्त करता है। सोने की शृंखला, जो एक दक्षिणा होती है, उन बन्धनों से मुक्त करती है जिनसे वह आबद्ध होता है।"

अथर्ववेद १५ ८, १ के अधोलिखित अंश में राजन्यों की उत्पत्ति का एक नवीन वर्णन दिया गया है :

सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत।

"वह (ब्रात्य) रजस् से परिपूर्ण हो गया, उससे राजन्य उत्पन्न हुआ।"

और निम्नलिखित (अथर्ववेद १५. ९, १ आदि) में ब्राह्मण के लिये भी इसी उत्पत्ति का वर्णन किया गया है :

तद् यस्य एव विद्वान् ब्रात्यो राज्ञोऽतिथिर् गृहान् आगच्छेत् श्रेयांसम् एनम् आत्मनो मानयेत्। तथा क्षत्राय नावृश्चते तथा राष्ट्राय नावृश्चते। अतो वै ब्रह्म च क्षत्र च उदतिष्ठताम्। ते अब्रूताम् 'कम् प्रविशाव" इति।

"जब राजा के घर में इसे जानने वाला ब्रात्य अतिथि रूप में आता है तब वह उसका अपने से श्रेष्ठ रूप में सम्मान करे। ऐसा करते हुए वह अपने राजपद या अपने राष्ट्र को कोई हानि नहीं पहुँचाता। उससे ब्रह्मन् (ब्राह्मण) और क्षत्र (क्षत्रिय) उत्पन्न हुए। उन्होंने कहा 'हम किसमें प्रवेश करें' इत्यादि।"

खण्ड ४—तैत्तिरीय ब्राह्मण, संहिता, एवं आरण्यक, तथा शतपथ ब्राह्मण से अन्य उद्धरण

अधोलिखित अंश ऊपर बताए गये तीसरे वर्ग के अन्तर्गत आते हैं क्योंकि ये सृष्टि का जो वर्णन करते हैं उनमें मनुष्य की रचना का उल्लेख तो करते हैं, परन्तु वर्णों की किसी पृथक् उत्पत्ति के विषय में मौन हैं।

तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ३, ८, १—प्रजापतिर् अकामयत "प्रजायेय" इति। स तपोऽतप्यत। सोऽन्तर्वान् अभवत्। स हरितः श्यावोऽभवत्। तस्मात् स्त्री अन्तर्वत्नी हरिणी सती श्यावा भवति। स विजायमानो गर्भेण अताम्यत्। स तान्तः कृष्ण-श्यावोऽभवत्। तस्मात् तान्तः कृष्णः श्यावो भवति। तस्य असुर् एव अजीवत्। २. तेन असुना असुरान्

असृजत । तद् असुराणाम् असुरत्वं । य एवम् असुराणाम् असुरत्वं वेद असुमान् एव भवति । न एनम् असुर् जहाति । सोऽसुरान् सृष्ट्वा पिता इव अमन्यत । तद् अनु पितॄन् असृजत । तत् पितॄणाम् पितृत्वम् । य एवम् पितॄणाम् पितृत्वम् वेद पिता इव एव स्वानाम् भवति ३. यन्त्य् अस्य पितरो हवम् । स पितॄन् सृष्ट्वाऽमनस्यत् । तद् अनु मनुष्यान् असृजत । तद् मनुष्याणाम् मनुष्यत्वम् । यः एवम् मनुष्याणाम् मनुष्यत्वं वेद मनस्वी एव भवति न एनम् मनुर् जहाति । तस्मै मनुष्यान् ससृजानय दिवा देवत्रा अभवत् । तद् अनु देवान् असृजत । तद् देवानां देवत्वम् । य एवम् देवानां देवत्वं वेद दिवा ह एव अस्य देवत्रा भवति । तानि वै एतानि चत्वारि अम्भांसि देवाः मनुष्याः पितरोऽसुराः । तेषु सर्वेषु अम्भो नभः इव भवति ।

"प्रजापति ने इच्छा की 'मैं सन्तान उत्पन्न करूँ'। उसने तप किया। उसने गर्भ धारण किया। वह 'हरि', पीत, और श्याम[३४] वर्ण का हो गया। अतएव गर्भिणी स्त्री पीत वर्ण की होकर श्याम वर्ण हो जाती है। गर्भ धारण कर वह परिश्रान्त हो गया। श्रान्त होकर वह कृष्ण-श्याम वर्ण का हो गया। अतएव श्रान्त, थका हुआ व्यक्ति कृष्ण-श्याम वर्ण का हो जाता है। उसकी प्राणवायु सजीव हुई। २. उस प्राण वायु (असु) से उसने असुरों की सृष्टि की। यही असुरों का असुरत्व है। जो व्यक्ति असुरों के इस असुर स्वरूप को जानता है वह असुमान् हो जाता है, प्राणवायु उसे कभी नहीं छोड़ती है। असुरों को उत्पन्न करके उसने स्वयं को पिता रूप में माना। उसके बाद उसने पितरों को उत्पन्न किया। यही पितरों का पितृत्व है। जो इस प्रकार पितरों के पितृत्व का ज्ञान रखता है वह स्वय अपने पिता जैसा हो जाता है : ३. पितृगण उसकी हवि का आश्रय लेते है। पितरों की सृष्टि करके उसने चिन्तन किया। उसके अनन्तर उसने मनुष्यों की सृष्टि की। यही मनुष्यों का मनुष्यत्व है। जो मनुष्यों के मनुष्यत्व का ज्ञान रखता है वह मनस्वी हो जाता है, मन[३५] कभी उसका परित्याग नहीं करता। जब वह मनुष्यों की सृष्टि कर रहा था तो उसके सम्मुख द्युलोक में दिव प्रकट हुआ। उसके बाद उसने देवताओं की सृष्टि की। यही देवताओं का देवत्व है। जो देवताओं के देवत्व को जानता है, उसके सम्मुख द्युलोक में दिव प्रकट होता

---

[३४] "नील-श्वेत-मिश्र-वर्ण" : 'मिश्रित नीले और श्वेत रग का'—भाष्यकार

[३५] मनुः = मनन-शक्ति', सोचने की शक्ति,—भाष्यकार

है। ये चार धारायें[३९] हैं : देवता, मनुष्य, पितृ तथा असुर। इन सबमें जल, वायु के समान विद्यमान रहता है।"

शतपथ ब्राह्मण ७. ५. २. ६—प्रजापतिर् वै इदम् अग्रे आसीद् एकः एव। सोऽकाम्यत "अन्नम सृजेय प्रजायेय" इति। स प्राणेभ्यः एव अधि पशून् निरसिमीत मनसः पुरुषम् चक्षुषोऽश्वम् प्राणाद् गाम् श्रोत्राद्‌विम् वाचोऽजम्। तद् यद् एनान् प्राणेभ्योऽधि निरमिमीत। तस्माद् आहुः "प्राणाः पशवः" इति। मनो वै प्राणानाम् प्रथमम्। तद् यद् मनसः पुरुपम् निरमिमीत तस्माद् आहुः "पुरुपः प्रथमः प्रशूनां वीर्य्यवत्तमः" इति। मनो वै सर्वे प्राणाः। मनसि हि सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिताः। तद् यद् मनसः पुरुषम् निरमिमीत तस्माद् आहुः "पुरुपः सर्वे पशवः" इति। पुरुपस्य ह्य् एते सर्वे भवन्ति।

"पहले एकमात्र प्रजापति ही यह (विश्व) था। उसने इच्छा की मैं अन्न की सृष्टि करूँ और सन्तान उत्पन्न करूँ'। अपने प्राणों से उसने पशुओं की रचना की; अपने मन से एक पुरुष की, अपने नेत्र से एक अश्व को, अपने प्राण से गो की, अपने श्रोत से एक भेंड की, और अपनी वाणी से अज की सृष्टि की। यत. उसने अपने प्राणों से पशुओं की रचना की, अतः मनुष्यों का कथन है, 'प्राण पशु है'। मन ही प्राणों में प्रथम होता है। यतः उसने अपने मन से एक मनुष्य की रचना की इसलिये लोग कहते हैं "मनुष्य पशुओं में प्रथम और सर्वाधिक बलशाली होता है।' मन ही समस्त प्राण है, क्योंकि सभी प्राण मन में ही प्रतिष्ठित होते हैं।

---

[३९] भाष्यकार, इसकी व्याख्या इस प्रकार करता है, जो अधिक सन्तोषप्रद नही है देवताओ आदि के ये चारो निवासस्थान जल के समान हैं अर्थात् जलाशयो, नदियो की भाँति सुख के साधन और स्नान और जलपान आदि के योग्य है। विष्णुपुराण (डॉ० हाल का सस्करण भाग १ पृ० ७९) मे इन शब्दो की आवृत्ति की गयी है, और अपनी टिप्पणी मे प्रोफेसर विल्सन ने यह कहा है कि अम्भासि "भी एक विचित्र और समवत' रहस्यमय सज्ञा है।" इसकी व्याख्या वायु पुराण मे की गई है, जैसा कि हम आगे देखेंगे। ब्राह्मण से उद्धृत अश के अन्तिम शब्द अस्पष्ट है। इसी ग्रन्थ के दूसरे अनुच्छेद मे (३ ८, १८, १ २) मे अम्भन्, नभन्, तथा महस् शब्दो का अर्थ क्रमश' 'पृथ्वी', 'वायु' तथा 'आकाश' है (अय वै लोकोऽम्भासि अन्तरिक्ष वै नभासि असौ वै लोको महासि)।

यतः उसने अपने मन से पुरुष की रचना की, अतः लोग कहते हैं 'पुरुष ही सब पशु है', क्योंकि ये सभी पुरुष के अधिकार में रहते हैं।"

शतपथ ब्राह्मण १४. ४, २, १ (=बृहदारण्यक उपनिषद् पृ० १२५)—आत्मा एव इदम् अग्रे आसीत् पुरुष-विधः। सोऽनुवीक्ष्य न अन्यद् आत्मनोऽपश्यत्। "सोऽहम् अस्मि" इत्य् अग्रे व्याहरत्। ततोऽहं-नामा अभवत्। तस्माद् अप्य् एतर्ह्य आमन्त्रितो "ऽहम् अयम्" इत्येव अग्रे उक्त्वा अथ अन्यद् नाम प्रब्रूते यद् अस्य भवति। २. स यत् पूर्वोऽस्मात् सर्वस्मात् सर्वान् पाप्मनः औषत् तस्मात् पुरुषः। ओषति ह वै स तं योऽस्मात् पूर्वम् बुभूषति यः एवं वेद। ३. सोऽबिभेत्। तस्माद् एकाकी बिभेति। स ह अयम् ईक्षाञ्चक्रे यद् "मद् अन्यद् नास्ति कस्माद् नु बिभेमि" इति। ततः एव अस्य भयं वीयाय। कस्माद् ह्य् अभेष्यत्। द्वितीयाद् वै भयम् भवति। ४. स वै नैव रेमे। तस्माद् एकाकी न रमते। स द्वितीयम् ऐच्छत्। स ह एतावान् आस यथा स्त्री-पुमांसौ सम्परिष्वक्तौ। ५. स इमम् एव आत्मानम् द्वेधाऽपातयत्। ततः पतिः पत्नी च अभवताम्। तस्माद् इदम् "अर्धबृगलम् इव स्वः" इति ह स्म आह याज्ञवल्क्यः। तस्माद् आकाशः स्त्रिया पूर्यते एव। ताम् समभवत्। ततो मनुष्याः अजायन्त। ६. सा उ ह इयम् ईक्षाञ्चक्रे "कथं नु मा आत्मनः एव जनयित्वा सम्भवति हन्त तिरोऽसानि" इति। ७. सा गौर् अभवत् वृषभः इतरस् तां सम् एव अभवत्। ततो गावः अजायन्त। ८. वडवा इतरा अभवद् अश्ववृषः इतरः गर्दभी इतरा गर्दभः इतरस् ताम् सम् एव अभवत्। ततः एकशफम् अजायत। ९. अजा इतरा अभवद् वस्तः इतरः अविर् इतरा मेषः इतरः। ताम् सम् एव अभवत् ततोऽजावयोऽजायन्त। एवम् एव यद् इदं किञ्च मिथुनम् आ पिपीलिकाभ्यस् तत् सर्वम् असृजत।[37]

"यह जगत् पहले केवल आत्मा ही था, जो पुरुष रूप में स्थित था। अपने निकट दृष्टिपात करके उसने अपने (या आत्मा के) अतिरिक्त और कुछ नहीं देखा। उसने पहले कहा—'यह मैं हूँ' तब वह 'मैं' नाम वाला बन गया। अतएव अब भी जब किसी मनुष्य को बुलाया जाता है तो वह पहले कहता है—'यह मैं हूँ' और तब उसके बाद अपना दूसरा नाम बताता है। २. यतः उसने इन सभी वस्तुओं के पहले (पूर्वः) समस्त पापों को जला डाला

[37] इसका अनुवाद श्री० कोलब्रुक अपने एसेज़, भाग १ ६४ मे, तथा डॉ० रूअर वि० इ० मे कर चुके हैं।

(औसत) अत: उसे 'पुरुष' कहते हैं। जिस व्यक्ति को इसका ज्ञान है वह उस व्यक्ति को जला डालता है जो उसके पहले आना चाहता है। ३. वह भयभीत था। अतएव जब कोई मनुष्य अकेले रहता है तो भयभीत होता है। इस (प्राणी) ने सोचा 'मेरे अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है, मैं किससे डर रहा हूँ ?' तब उसका भय दूर हो गया, क्योंकि उसे भय किससे हो सकता था ? दूसरे व्यक्ति से ही तो लोग भयभीत होते हैं। ४. उसे आनन्द नहीं मिलता था, अतएव जब कोई व्यक्ति अकेले होता है तो आनन्द नहीं पाता। उसने एक दूसरे व्यक्ति की इच्छा की। वह परस्पर आलिङ्गन में बद्ध एक पुरुष और एक स्त्री था। उसने अपने शरीर के दो पृथक् भाग कर दिये। उससे एक पति और एक पत्नी निकले।[३८] अतएव याज्ञवल्क्य ने कहा है[३९] 'मनुष्य स्वयं मटर के आधे भाग के समान होता है। इसलिए इस अभाव की पूर्ति स्त्री ने की।[४०] उसने उसके साथ मैथुन किया। उनसे मनुष्य उत्पन्न

---

[३८] भाष्यकार के अनुसार मनु तथा शतरूपा।

[३९] तु० की० तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ ३, ३, ५ 'अथो अर्द्धो वै एष आत्मनो यत् पत्नी।' "पत्नी मनुष्य का आधा अंग होती है"। तथा वही ३ ३, ३, १ 'अयज्ञो वै एष योऽपत्नीक.। न प्रजा. प्रजायेरन्।' 'पत्नीरहित व्यक्ति यज्ञ का अधिकारी नही होता, उसके सन्तान नही होती।" इन अनुच्छेदो मे हमे यह निष्कर्ष नही निकाल लेना चाहिए कि ब्राह्मणो के लेखको ने स्त्रियो का जो मूल्याङ्कन किया था वह अत्यन्त उच्चकोटि का था, कारण दूसरे ऐसे अंश भी विद्यमान है, जिनमे उनका निन्दा के साथ उल्लेख किया गया है, जैसे यह अंश : "तैत्ति० स० ६ ५, ८, २ स सोमो नातिष्ठत स्त्रीभ्यो गृह्यमाण.। तम् घृत वज्र कृत्वाऽघ्नन् तम् निरिन्द्रियम् भूतम् अगृह्णन्। तस्मात् स्त्रियो निरिन्द्रिया अदायादीर् अपि पापात् पुस उपस्तितरम् वदन्ति।" "स्त्रियो के लिये गिराये जाने पर सोम स्थित नही रहा। उस घृत को वज्र बनाकर उन्होंने इसे मारा। जब यह शक्तिहीन हो गया तो उन्होने इसे गिराया। अतएव दुर्बल एव निरीन्द्रिय होकर स्त्री एक पापी पुरुष की अपेक्षा भी अधिक नम्रता से बोलती है।" (तैत्ति० स० के भाष्य मे दिये गये उद्धरण, भाग २ पृ० ९९६ से तुलना कीजिए)। तैत्ति सं० ६ ५, १०, ३ "तस्मात् स्त्रिय जाताम् परास्यन्ति उत् पुमासम् हरन्ति।" "अतएव बालिका उत्पन्न होने पर लोग उसका परित्याग करते है और बालक को ही रखते है।" (तु० की० निरुक्त० ३ ४)

[४०] तु० की० तैत्ति० ब्रा० ३ ३, १०, ४ "प्रजया हि मनुष्य. पूर्ण.", "सन्तान से ही मनुष्य पूर्ण होता है।"

हुये। ६. उस स्त्री ने विचार किया 'मुझे उत्पन्न करके वह पुरुष मेरे साथ मैथुन करने के लिए कैसे प्रवृत्त होता है? तो मैं छिप जाऊँ।' ७. वह एक गाय बन गयी और दूसरा साँड हो गया, उसने उसके साथ मैथुन किया। उनसे गायें उत्पन्न हुईं। ८. वह एक अश्वी बन गयी, दूसरा अश्व हुआ, एक गर्दभी हो गयी और दूसरा गर्दभ। उसने उसके साथ मैथुन किया। उससे अविभक्त खुरों वाले पशुओं का वर्ग उत्पन्न हुआ। एक अजा हुई दूसरा अज, एक मादा भेड हुई दूसरा नर भेड। उसने उसके साथ मैथुन किया। उससे बकरे और भेंड उत्पन्न हुए। इस प्रकार चीटियों तक सभी जीवों के जोड़े की सृष्टि हुई।"

दूसरा अनुच्छेद मनुष्यों को विवस्वत या सूर्य का वंशज बताता है, किन्तु किसी वर्ण के भेद का निर्देश नहीं करता :

तैत्तिरीय संहिता ६. ५, ६, १ और बाद : अदितिः पुत्रकामा साध्येभ्यो देवेभ्यो ब्रह्मौदनम् अपचत्। तस्यै उच्छेषणम् अददुः। तत् पश्चात् सा रेतोऽधत्त। तस्यै चत्वारः अदित्याः अजायन्त। सा द्वितीयम् अपचत्। साऽमन्यत "उच्छेषणाद् मे इमेऽज्ञत। यद् अग्रे प्राशिष्यामि इतो मे वसीयांसो जनिष्यन्ते" इति। साऽग्रे प्राश्नात् सा रेतोऽधत्त तस्यै व्यृद्धम् आण्डम् अजायत। सा आदित्येभ्यः एव तृतीयम् अपचत् "भोगाय मे इदम् श्रान्तम् अस्त्व्" इति। तेऽब्रुवन् "वरं वृणामहै योऽतो जायातै अस्माकं स एकोऽसत्। योऽस्य प्रजायाम् ऋध्यातै अस्माकम् भोगाय भवाद्" इति। ततो विवस्वान् आदित्योऽजायत। तस्य वै इयम् प्रजा यद् मनुष्याः तास्व् एकः एव ऋद्धो यो यजते स देवानाम् भोगाय भवति।

"अदिति ने पुत्र की इच्छा से साध्य देवताओं के लिए ब्रह्मौदन चरु पकाया। देवताओं ने उसे उसका उच्छिष्ट दिया। उसका उसने भक्षण किया। उसने गर्भ धारण किया। उसके चार आदित्य उत्पन्न हुए। उसने एक दूसरा (चरु) पकाया। उसने चिन्तन किया, 'चरु के उच्छिष्ट से मुझे ये पुत्र उत्पन्न हुए हैं। यदि मैं इस चरु का पहले ही भक्षण कर लूँ तो मेरे अधिक तेजस्वी पुत्र उत्पन्न होंगे। उसने इसका पहले ही भक्षण किया; उसने गर्भ धारण किया, उससे एक अपूर्ण अण्ड की उत्पत्ति हुई। उसने एक तीसरा (चरु) आदित्यों के लिए (इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए) पकाया 'यह मेरी तपस्या मुझे आनन्द प्रदान करे।' आदित्यों ने कहा, 'हमें वर लेने दो, कोई भी जो इससे उत्पन्न होगा वह केवल हमारा होगा; उसकी जो कोई सन्तान समृद्धिशाली होगी वह हमारे आनन्द का स्रोत होगी।' इसके परिणामस्वरूप आदित्य

विवस्वत् उत्पन्न हुआ। उसकी सन्तान मनुष्य है।[41] उनमें भी जो व्यक्ति यज्ञ करता है वही सुखी होता है और देवताओं के सुख का साधन बनता है।"[42]

इसके बाद आनेवाले अनुच्छेद मनुष्यों की (जिन्हें "प्रजाः" सन्तान या जीव, नाम से अन्य प्राणियों के साथ अभिहित समझा जा सकता है) उत्पत्ति का पृथक् उल्लेख नहीं किया गया है। और इस कारण ये इस बात का कम स्पष्ट प्रमाण उपस्थित करते हैं कि उनके रचयिताओं ने मानव जाति का चार प्रकार का विभाजन नहीं माना था।

इन उद्धरणों में प्रथम अपनी शैली तथा इस कारण विशेष रूप से रोचक है कि (तैत्ति० ब्रा० २.३.४८.१ आदि के साथ, जो पृ० २२ पर उद्धृत है) इसमें सृष्टि सम्बन्धी उस पौराणिक वर्णन के अङ्कुर विद्यमान हैं जिसका विवेचन आगे के एक अधिकरण में किया जायगा।

तैत्तिरीय ब्राह्मण २.२,६,१ आदि : इदं वै अग्रे नैव किञ्चन असीत्। न द्यौर् आसीत् न पृथिवी न अन्तरिक्षम्। तद् असद् एव सद् मनोऽकुरुत "स्याम्" इति तद् अतप्यत। तस्मात् तपनाद् धूमोऽजायत। तद् भूयोऽतप्यत तस्मात् तपनाद् अग्निर् अजायत। तद् भूयोऽतप्यत। २. तस्मात् तपनाज् ज्योतिर् अजायत। तद् भूयोऽतप्यत। तस्मात्

[41] तैत्ति० ब्रा० १ ८, ८, १ 'आदित्याः वै प्रजा' की 'प्राणी अदिति से उत्पन्न हुए हैं' से तुलना कीजिए।

[42] यह कथा, नामों के अधिक विस्तार के साथ और कुछ भिन्न रूप में तैत्तिरीय ब्राह्मण १ १, ९, १० आदि में भी कही गयी है 'अदिति पुत्रकामा साध्येभ्यो देवेभ्यो ब्रह्मौदनम् अपचत्। तस्यै उच्छेषणम् अददु। तत् प्राश्नात्। सा रेतोऽधत्त। तस्यै धाता च अर्यमा च अजायेताम्। सा द्वितीयम् अपचत् तस्यै उच्छेषणम् अददु। तत् प्राश्नात्। सा रेतोऽधत्त। तस्यै मित्रश् च वरुणश् च अजायेताम्। सा तृतीयम् अपचत्। तस्यै उच्छेषणम् अददु। तत् प्राश्नात्। सा रेतोऽधत्त। तस्यै अंशश् च भगश् च अजायेताम्। सा चतुर्थम् अपचत्। तस्यै उच्छेषणम् अददु। तत् प्राश्नात्। सा रेतोऽधत्त तस्यै इन्द्रश् च विवस्वांश् च अजायेताम्।' "पुत्रों की इच्छा से अदिति ने साध्य देवताओं के लिये ब्रह्मौदन पकाया। उन्होंने उसे इसका उच्छिष्टांश दिया। उसने इसका भक्षण किया। उसने गर्भ धारण किया। उससे धातृ और अर्यमन् उत्पन्न हुए।" यही कार्य वह दूसरी बार करती है और मित्र तथा वरुण को उत्पन्न करती है, तीसरी बार करती है, और तब अंश और भग को, और चौथी बार इन्द्र और विवस्वत् को उत्पन्न करती है।

तपनाद् अर्थिर् अजायत। तद् भूयोऽतप्यत । तस्मात् तपनाद् मरीचयोऽजायन्त । तद् भूयोऽतप्यत । तस्मात् तपनाद् उदाराः अजायन्त । तद् भूयोऽतप्यत। तद् अभ्रम् इव समहन्यत। तद् वस्तिम् अभिनत् । ३. स समुद्रोऽभवत् । तस्मात् समुद्रस्य न पिबन्ति । प्रजननम् इव हि मन्यन्ते । तस्मात् पशोर् जायमानाद् आपः पुरस्ताद् यन्ति । तद् दशहोता अन्वसृज्यत। प्रजापतिर् वै दशहोता। यः एवं तपसो वीर्य्यम् विद्वास् तप्यते भवत्य् एव। तद् वै इदम् आपः सलिलम् आसीत् । सोऽरोदीत् प्रजापतिः । ४. "स कस्मै अज्ञि यद्य् अस्याप्रतिष्ठायाः" इति । यद् अप्स्व् अवापद्यत सा पृथिव्य् अभवत् । यद् व्यमृष्ट तद् अन्तरिक्षम् अभवत् यद् ऊर्ध्वम् उदमृष्ट सा द्यौर् अभवत्। यद् अरोदीत् तद् अन्योः रोदस्त्वम् । ५. यः एव वेद न अस्य गृहे रुदन्ति। एतद् वै एषां लोकाना जन्म। य एवम् एषां लोकानां जन्म वेद न एषु लोकेषो आर्त्तिम् आर्छति । स इमाम् प्रतिष्ठाम् अविन्दत । स इमाम् प्रतिष्ठां वित्त्वा अकामयत "प्रजायेय" इति । स तपोऽतप्यत । सोऽन्तर्वान् अभवत् । स जघनाद् असुरान् असृजत । ६ तेभ्यो मृण्मये पात्रेऽन्नम् अदुहत् । या अस्य सा तनूर् आसीत् ताम् अपाहत । सा तमिस्राऽभवत् । सोऽकामयत "प्रजायेय" इति । स तपोऽतप्यत । सोऽन्तर्वान् अभवत् । स प्रजननाद् एव प्रजाः असृजत। तस्माद् इमाः भूयिष्ठाः । प्रजननाद् ह्य एनाः असृजत । ७. ताभ्यो दारुमये पात्रे पयोऽदुहत् । या अस्य सा तनूर् आसीत् ताम् अपाहत। स ज्योत्स्नाऽभवत् । सोऽकामयत "प्रजायेय" इति । स तपोऽतप्यत सोऽन्तर्वान् अभवत् । स उपपक्षाभ्याम् एव ऋतून् असृजत । तेभ्यो रजते पात्रे घृतम् अदुहत् । या अस्य सा तनूर् आसीत् ८. ताम् अपाहत। सोऽहो-रात्रयोः सन्धिर् अभवत्। सोऽकामयत "प्रजायेय" इति । स तपोऽतप्यत । सोऽन्तर्वान् अभवत् । स मुखाद् देवान् असृजत । तेभ्यो हरिते पात्रे सोमम् अदुहत् । या अस्य सा तनूर् आसीत् ताम् अपाहत । तद् अहर् अभवत् । ९. एते वै प्रजापतेर् दोहाः। य एव वेद दुहे एव प्रजाः । "दिवा वै नोऽभूद्" इति तद् देवानाम् देवत्वम् । य एवं देवानां देवत्वं वेद देववान् एव भवति । एतद् वै अहो-रात्राणाम् जन्म । य एवम् अहो-रात्राणाम् जन्म वेद न अहोरात्रेषु आर्त्तिम् आर्छति । १०. असतोऽधि मनोऽसृज्यत । मनः प्रजापतिम् असृजत । प्रजापतिः प्रजाः असृजत । तद् वै इदम् मनस्य् एव परमम् प्रतिष्ठितं यदिदं किञ्च । तद् एतत् श्वोवस्यस नाम ब्रह्म । व्युछन्ती व्युछन्ती अस्मै वस्यसी वस्यसी व्युछति प्रजायते प्रजया पशुभिः प्र परमेष्ठिनो मात्राम् आप्नोति य एवं वेद ।

२ ओ० मू० प्र०

"आदि में यह (विश्व) कुछ भी नहीं था। न तो आकाश था, न पृथ्वी थी, न वायु। असत होकर उसने निश्चय किया 'मैं होऊं'। उसने तप किया[४३], उस तप से धूम उत्पन्न हुआ। यह भी तप्त हुआ। उस ताप से अग्नि उत्पन्न हुआ। फिर यह भी तप्त हुआ। उस तप से ज्योति की उत्पत्ति हुई। फिर यह भी तप्त हुआ। उस ताप से ज्वाला उत्पन्न हुई। यह भी तप्त हुई। उस ताप से किरणें उत्पन्न हुईं। पुनः वे भी तप्त हुईं। उस ताप से 'उदारा'[४४] उत्पन्न हुए। वह पुन. तप्त हुआ और मेघों के समान ठोस हो गया। यह अपनी वस्ति से चिपक गया। वह समुद्र हो गया। इसलिये लोग समुद्र का जल नहीं पीते, क्योंकि वे उसे योनि के समान मानते हैं। इसीलिये किसी पशु के उत्पन्न होने के पूर्व जल निकलता है। इसके बाद दशहोतृ (एक प्रकार का मन्त्र) की सृष्टि हुई। प्रजापति दशहोतृ है। जो व्यक्ति तपस्या के प्रभाव को जानकर उसका आचरण करता है वही सफल होता है। तब यह तरल जल था। प्रजापति रोया (और बोला), ४. मैं किस लिये उत्पन्न हुआ यदि (मेरी उत्पत्ति) उससे हुई है जो आश्रय का स्थान नहीं।'[४५] जो कुछ जल में गिरा[४६] वह सब पृथ्वी बना। जो कुछ उसने पोंछ दिया वह अन्तरिक्ष हो गया, जो कुछ उसने ऊपर फेंक दिया वह आकाश हो गया। यत. वह रोया (अरोदीत), इस कारण इन दो 'लोकों को रोदसी' कहते हैं। ५. जो इसे जानता है उसके घर में कोई रोता नहीं है। इस प्रकार इन लोकों की रचना हुई। जो इस प्रकार इन लोकों की रचना का रहस्य जानता है वह इन लोकों में कोई कष्ट नहीं पाता। उसने इसे (पृथ्वी को) एक आधार के रूप में पाया। (इस पृथ्वी को) आधार पाकर उसने इच्छा की 'मैं सन्तान उत्पन्न करूँ।' उसने उग्र तप किया। उसने गर्भ धारण किया। उसने अपने पेट से असुरों

---

[४३] जिस शब्द का यह अनुवाद किया गया है वह है 'अतप्यत', जिसका अर्थ 'तप्त किया जाना' तथा "कठोर ध्यान करना" है। मैंने जानबूझ कर इसके लिये संदिग्धार्थक शब्द रखा जो दोनो अर्थ दे सके।

[४४] भाष्यकार ने 'उदाराः' शब्द का यही अर्थ किया है, जिसे उसने 'उल्वण-ज्वाला.' कर दिया है। प्रोफेसर रॉथ ने इस शब्द की व्याख्या 'कुहरा' अर्थ मे की है।

[४५] इस ढग के अनुवाद का सुझाव मुझे प्रोफेसर ऑफरेख्त ने दिया है। "यदि" के बाद भाष्यकार "इस असत् पृथ्वी मे मैं कोई सत् भूत उत्पन्न ही नही कर सकता", इन शब्दो को जोडता है।

[४६] भाष्यकार के अनुसार "प्रजापति के अश्रु" इत्यादि।

की उत्पत्ति की। ६. उनके लिये उसने मिट्टी के पात्र में दूध निकाला। उसने अपने शरीर को फेंक दिया। यह सब अन्धकारमय हो गया।[४७] उसने इच्छा की 'मैं सन्तान उत्पन्न करूँ'। उसने घोर तप किया। उसने गर्भ धारण किया। उसने अपनी प्रजननेन्द्रिय से जीवित प्राणियों (प्रजाः) की रचना की। अतएव वे नितान्त बहुविध होते हैं क्योंकि उन्हें उसने अपने जननेन्द्रिय से उत्पन्न किया। ८. उनके लिये उसने एक काष्ठपात्र में दूध निकाला। उसने अपना शरीर फेंक दिया और यह चन्द्रिका बन गया। उसने इच्छा की 'मैं सन्तान उत्पन्न करूँ'। उसने उग्र तप किया। उसने गर्भ धारण किया। अपने बाहुकक्ष से उसने ऋतुओं को उत्पन्न किया। उनके लिये उसने रजत के पात्र में घृत निकाला। उसने अपना शरीर छोड़ दिया। वह दिन और रात्रि का सन्धिकाल हो गया। उसने इच्छा की 'मैं सन्तान उत्पन्न करूँ।' उसने उग्र तप किया। उसने गर्भ धारण किया। उसने अपने मुख से देवताओं को उत्पन्न किया।[४८] उनके लिये उसने सोने के पात्र में सोम निकाला। उसने अपना शरीर छोड़ दिया। यह दिन हो गया। ९. ये प्रजापति के दोहन हैं। जो इसे जानता है वह सन्तान का दोहन करता है। 'दिवा हमारे निकट आई है', यह उक्ति देवताओं के देवत्व का ख्यापन करती है। जो इस प्रकार देवताओं के देवत्व को जानता है वह देवताओं को प्राप्त करता है। यह दिनों और रात्रियों की उत्पत्ति है। जो दिन और रात्रियों की उत्पत्ति का रहस्य

---

[४७] तुलना कीजिए शतपथ ब्राह्मण ११ १, ६, ८ "अथो योऽयम् अवाङ् प्राणस् तेन असुरान् असृजत। ते इमाम् एव पृथिवीम् अभिपद्य असृज्यन्त। तस्मै ससृजानाय तम इव आस। ९ सोऽवेत् "पाप्मानं वै असृक्षि यस्मै मे ससृजानाय तम इव अभूद्" इति। "तास् तत एव पाप्मनाऽविध्यत्। तत एव ते पराभवन्न् इत्यादि।" "तब उसने अपने इस अधोवर्ती प्राणवायु से असुरों की सृष्टि की। इस पृथ्वी पर पहुँचने पर ही उनकी सृष्टि हुई। उसके सृष्टिकर्म मे लीन होने पर उस पर अन्धकार फैल गया। ९ उसने समझा, 'मैंने पाप की सृष्टि कर दी, यत सृष्टि करते समय मुझ पर अन्धकार छा गया है।' 'तब उसने उन्हे पाप से वेध डाला और फलत वे पराजित हो गये।' इत्यादि। "छोड दिया" रूप मे अनूदित मूल का शब्द तैत्तिरीय सहिता १. ५, ४, १ मे पुरानी केचुल छोडने वाले सर्पों के लिये प्रयुक्त हुआ है (सर्पाः वै जीर्यन्तोऽमन्यन्त ततो वै ते जीर्णास् तनूर् अपाघ्नत)।

[४८] तुलना कीजिए इस ग्रन्थ के भाग ४ मे उद्धृत शतपथ ब्राह्मण ११ १, ६, ७।

जानता है वह दिन और रात्रि में कोई कष्ट नहीं पाता। १०. मन (या आत्मा, मनस्) असत से उत्पन्न हुआ। मन ने प्रजापति की सृष्टि की। प्रजापति ने सन्तान उत्पन्न किया। जो कुछ भी है वह सभी मन पर आधृत है। इसी से ब्रह्म को श्वोवस्यम कहते।[४१] उस व्यक्ति के लिये, जो इस प्रकार (उषस्) उदय जानता है, उसके लिये उषाएँ अधिकाधिक भाग्यमान होती हैं। वह संतानों से भरपूर और पशुओं का धनी हो जाता है, वह परमेष्ठिन का पद प्राप्त कर लेता है।"

श० ब्रा० ६.१,२,११—अथो आहुः। "प्रजापतिर् एव इमान् लोकान् सृष्ट्वा पृथिव्याम् प्रत्यतिष्टत। तस्मै इमाः ओषधयोऽन्नम् अपच्यन्त। तद् आश्नात्। स गर्भी अभवत्। स ऊर्ध्वेभ्यः एव प्राणेभ्यो देवान् असृजत। येऽवाञ्च प्राणास् तेभ्यो मर्त्या प्रजाः" इति। यतसथाऽसृजत तथाऽसृजत। प्रजापतिम् त्व् एव इदं सर्वम् असृजत यद् इदं किञ्च।

"अतएव लोग कहते हैं 'प्रजापति इन संसारों की रचना करके पृथ्वी पर आधृत हुआ। उसके लिये इन वनस्पतियों को अन्न के रूप में पकाया गया। उस (भोजन) का उसने भक्षण किया। उसने गर्भ धारण किया। अपने ऊर्ध्व प्राणवायु से उसने देवताओं को उत्पन्न किया और अधोवायु से मर्त्यों को उत्पन्न किया।' जिस विधि से उसने सृष्टि की, उस प्रकार उसने रचना की। किन्तु सभी भूतों की सृष्टि प्रजापति ने की।"

श० ब्रा० १०. १, ३, १ प्रजापतिः प्रजाः असृजत। स ऊर्ध्वेभ्यः एव प्राणेभ्यो देवान् असृजत। येऽवाञ्चः प्राणास् तेभ्यो मर्त्याः प्रजाः। अथ ऊर्ध्वम् एव मृत्युम् प्रजाभ्योऽत्तारम् असृजत।

"प्रजापति ने प्राणियों की सृष्टि की। अपने ऊपर के प्राणों से उसने देवताओं को उत्पन्न किया और नीचे के प्राणों से मर्त्य जीवों को। उसके बाद उसने इन प्राणियों के भक्षक के रूप में मृत्यु की रचना की।"

---

[४१] भाष्यकार ने इस शब्द की व्याख्या इस अर्थ में की है: "वह जो उत्तरोत्तर प्रतिदिन अत्यन्त प्रकृष्ट होता है (उत्तरोत्तर-दिने वसीयोऽतिशयेन श्रेष्ठम्)।" यहाँ उसका यह कथन है कि सर्वोच्च एवं परम ब्रह्म का नहीं वरन् मन का अभिप्राय है, जो ब्रह्म का रूप और इच्छाओं की शृङ्खला द्वारा उत्तरोत्तर प्रत्येक क्षण अधिकाधिक जगत् की रचना करनेवाला होता है (सङ्कल्प-परम्परया प्रतिक्षणम् उत्तरोत्तराधिक-जगत्-स्रष्टृत्वाद् ईदृग्-ब्रह्म-रूपत्वाद् मनः प्रशस्तम्)।

तैत्ति० आर० १. २३, १—आपो वै इदम् आसन् सलिलम् एव। स प्रजापतिर् एकः पुष्कर-पर्णे समभवत्। तस्य अन्तर् मनसि कामः समवर्त्तत "इदं सृजेयम्" इति। तस्माद् यद् पुरुषो मनसाऽभिगच्छति तद् वाचा वदति तत् कर्मणा करोति। तद् एषाऽभ्यनूक्ता "कामस् तद् अग्रे समवर्त्तताधि। मनसो रेतः प्रथमं यद् आसीत्। २. सतो बन्धुम् असति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा"। इति। उप एव तद् उपनमति यत्कामो भवति यः एवं वेद। स तपोऽतप्यत। स तपस् तप्त्वा शरीरम् अधूनुत। तस्य यद् मांसम् आसीत् ततोऽरुणाः केतवो वातरशनाः ऋषयः उदतिष्ठन्। ३. ये नखास् ते वैखानसाः। ये बालास् ते बालखिल्याः। यो रस' सोऽपाम् अन्तरतः कूर्मम् भूतम् सर्पन्तम् तम् अब्रवीत् "मम वै त्वण्माम्सा समभूत"। ४. "न" इत्य् अब्रवीत् "पूर्वम् एव अहम् इह आसम्" इति। तत् पुरुषस्य पुरुषत्वम् इति। स "सहस्र-शीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपाद्" भूत्वा उदतिष्ठत्। तम् अब्रवीत् "त्वम् वे (संभवतः मे या वै ?) पूर्वं सम्भूत् त्वम् इदम् पूर्वः कुरुष्व" इति। स इतः आदाय अपो (५) ऽञ्जलिना पुरस्ताद् उपादधात् "एवा ह्य् एव" इति। ततः आदित्यः उदतिष्ठन्। सा प्राची दिक्। अथ अरुणः केतुर् दक्षिणतः उपादधाद् "एवा ह्य् अग्ने" इति। ततो वै अग्निर् उदतिष्ठत्। सा दक्षिणा दिक्। अथ अरुणः केतुः पश्चाद् उपादधाद् "एवा हि वायो" इति। ६. ततो वायुर् उदतिष्ठत्। सा प्रतीची दिक्। अथ अरुणः केतुर् उत्तरः उपादधाद् "एवा हि इन्द्र" इति। ततो वै इन्द्रः उदतिष्ठत्। सा उदीची दिक्। अथ अरुणः केतुर् मध्ये उपादधाद् "एव हि पूषन्न्" इति। ततो वै पूषा उदतिष्ठत्। सा इयम् दिक्। ७. अथ अरुणः केतुर् उपरिष्टाद् उपादधाद् "एवा हि देवाः" इति। ततो देव-मनुष्याः पितरो गन्धर्वाप्सरसश् च उदतिष्ठन्। सा ऊर्ध्वा दिक्। याः विप्रुषो वि परापतन् ताभ्योऽसुराः रक्षांसि पिशाचाश्च उदतिष्ठन्। तस्मात् ते पराभवन् विप्रुड्भ्योऽहि समभवन्। ता एषा भ्यनूक्ता। ८. "आपो ह यद् बृहतीर् गर्भम् आयन् दक्षम् दधानाः जनयन्तीः स्वयम्भूम्। ततः इमेऽध्यसृज्यन्त सर्गाः। अद्भ्यो वै इदम् समभूत्। तस्माद् इदम् सर्वम् ब्रह्म स्वयम्भ्व्" इति। तस्माद् इदम् सर्वं शिथिलम् इव अध्रुवम् इव अभवत्। प्रजापतिर् वाव तत्। आत्मना आत्मानं विधाय तद् एव अनुप्राविशत्। तद् एषाऽभ्यनूक्ता ९. "विधाय लोकान् विधाय भूतानि विधाय सर्वाः प्रदिशो दिशश्च। प्रजापतिः प्रथमजाः ऋतस्य आत्मनाऽऽत्मानम् अभिसंविवेश" इति।

"यह केवल जल, किंवा सलिल ही था। एक कमलदल पर अकेले प्रजापति

उत्पन्न हुआ। उसके मन में इच्छा हुई 'मैं इसकी सृष्टि करूँ'। अतएव मनुष्य जो कुछ करने का निश्चय करता है वह उसे वाणी से कहता है और क्रिया द्वारा पूर्ण करता है।[५०] इसलिए यह मन्त्र कहा गया है 'पहले इसमें काम उत्पन्न हुआ जो मन का प्रथम बीज था (२) और जिसे ऋषियों ने अपनी बुद्धि से अन्वेषण करके हृदय में सत् और असत् के बन्धन के रूप में ढूँढा है।' (ऋग्वेद १०. १२९. ४)। जो व्यक्ति इसका ज्ञान रखता है वह जिस वस्तु की इच्छा करता है वह उसे मिल जाती है। उसने उग्र तपस्या की। उग्र तपस्या करके उसने अपना शरीर हिलाया। उसके मांस से अरुण, केतु और वातरशन[५१] नाम के ऋषि निकले। ३. उसके नख वैखानस हुए, उसके केश वालखिल्य। (उसके शरीर का) रस जल में तैरने वाला कूर्म हुआ।[५२] उसने उससे कहा 'तुम मेरे चर्म और मांस से उत्पन्न हुए हो।'[५३]

---

[५०] तुलना कीजिए : तैत्तिरीय संहिता ६ ३, १०, ४ (अभिगम् के अन्तर्गत रॉथ द्वारा उद्धृत). "यद् वै हृदयेन अभिगच्छति तज् जिह्वया वदति"।

[५१] पुनः तैत्तिरीय आरण्यक १ २४, ४ मे उनका उल्लेख किया गया है। देखिए बौटलिक और रॉथ का लेक्सिकन, 'केतु' के अन्तर्गत (जहाँ अरुण केतुओं को श्रेष्ठ व्यक्ति या दैत्य बताया गया है), अथर्ववेद ११ १०, २, वेबर का इण्डिशे स्टूडियन २ १७७, तथा महाभारत का यह श्लोक : "अरुणा केतवाश्च् चैव स्वाध्यायेन दिव गता।" "स्वाध्याय द्वारा अरुणों तथा केतुओं ने स्वर्ग प्राप्त किया।"

[५२] संस्कृत के विद्वान् यह देखेंगे कि यहाँ मूल बहुत कुछ अस्पष्ट है। यह या तो भ्रष्ट है या अध्याहार्य, अथवा व्याकरण की दृष्टि से अनियमित है।

[५३] यहाँ यदि संस्कृत भ्रष्ट नहीं है तो अनियमित और अशुद्ध तो अवश्य ही है। आरण्यकों की शैली के विषय में श्री० ई० बी० कावेल के कौषीतकि ब्राह्मण का आमुख पृ० ८ देखिए, जहाँ यह कहा गया है "आरण्यक संस्कृत रचना के ऐसे वर्ग मे संबद्ध प्रतीत होते हैं, जिसके इतिहास का अभी पूर्णतः अन्वेषण नहीं हुआ है। यदि हम तैत्तिरीय और कौषीतकि की शैली के आधार पर निर्णय दें तो उनकी शैली विलक्षण अपप्रयोगों से भरी पड़ी है, जो कभी-कभी तो हमें ललित विस्तर की गाथाओं का कुछ स्मरण करा देते हैं। प्रस्तुत उपनिषद् में अनेक विलक्षण रूप हैं, जिनमें से कुछ तो दोनों ही पाठों में पाये जाते हैं और कुछ केवल एक में। यथा —'निषिध्व' पृ० १०, 'प्रयन्ति' के लिए 'प्रैति', पृ० ५१, 'मवेश्यन्', पृ० ५६, 'व्येति' के लिए 'वेति', पृ० ७८, 'अद्रूढम्', पृ० ८९, इत्यादि।"

४. कूर्म ने उत्तर दिया 'नहीं, मै तो यहाँ पहले से था'। इसमें (उसके 'पूर्व' में होने के कारण ही) पुरुष का पुरुषत्व निहित है। वह सहस्र सिर, सहस्र नेत्रों और सहस्र पैरों वाला पुरुष (ऋग्वेद १०. ९०, १) होकर प्रकट हुआ। प्रजापति ने उससे कहा—'तुम मुझसे पहले उत्पन्न हुए हो, तो इसे पहले बनाओ'। उसने अपनी अञ्जलि में इससे जल लिया और, 'हे सूर्य, यह ऐसा ही हो'[५४] मन्त्र कहकर पूर्व की ओर रख दिया। उससे सूर्य उत्पन्न हुआ। वह पूर्व की दिशा थी। तब अरुण केतु ने दक्षिण की ओर (जल) रखा, और 'हे अग्नि, यह ऐसा ही हो' इस मन्त्र का उच्चारण किया। उससे अग्नि उत्पन्न हुआ। वह दक्षिण दिशा थी। तब अरुण केतु ने पश्चिम की ओर यह कहकर जल छोड़ा, 'हे वायु, यह ऐसा ही हो।' उससे वायु उत्पन्न हुआ। वह पश्चिम दिशा थी। तब अरुण केतु ने उत्तर की ओर यह मन्त्र कहकर (जल) छोड़ा 'हे इन्द्र, ऐसा ही हो।' तब इन्द्र उत्पन्न हुआ। वही उत्तर दिशा है। तब अरुण केतु ने केन्द्र में यह कहकर (जल) छोड़ा 'हे पूषन्, ऐसा ही हो।' उससे पूषन् उत्पन्न हुआ। वह यह दिशा है। ७. तब अरुण केतु ने, 'हे देवताओ, ऐसा ही हो' यह कहकर ऊपर (जल) फेंका। उससे देवता, मनुष्य, पितृगण, गन्धर्व और अप्सरस् उत्पन्न हुए। वह ऊपर की दिशा है। जो बूंदें इधर-उधर बिखरीं उससे असुर, राक्षस और पिशाच उत्पन्न हुए। इसलिये वे नष्ट हो गये क्योंकि वे बूंदों से उत्पन्न हुए थे। इसलिये यह मन्त्र कहा गया है : (८) 'जब विशाल जलों ने दक्ष से युक्त होकर, गर्भ धारण किया और स्वयम्भू को उत्पन्न किया, उनसे इन लोकों की सृष्टि हुई। यह सर्वस्व जल से उत्पन्न हुआ। अतएव यह सब ब्रह्म स्वयम्भू है।' अतएव यह सभी शिथिल था, क्योंकि अप्रतिष्ठित था। वह प्रजापति था। अपने से अपनी रचना करके उसने उसमें प्रवेश किया। इसलिये यह मन्त्र कहा गया है (९) 'संसार की रचना करके, सभी जीवित प्राणियों की तथा मध्य दिशाओं एवं दिशाओं की रचना करके, ऋत की प्रथम उत्पत्ति, प्रजापति ने स्वयं अपने में प्रवेश किया।"

ब्राह्मणों मे आनेवाले आख्यानों के परीक्षण से, जिसके कुछ उदाहरण

---

[५४] मूल मे यह मन्त्र 'एवाह्य् एव' है। भाष्यकार का कथन है कि प्रथम शब्द का अर्थ है "प्राप्त की जाने वाली अभिलषित वस्तुएँ" और दूसरे 'एव' का तात्पर्य है 'भ्रमण करने वाला (सूर्य)" पूरे मन्त्र का अर्थ होगा, 'हे सूर्य, तुम स्वय ही सभी इच्छाओ के विषय हो।" यहाँ प्रयुक्त छ. मन्त्र पहले ही एक पूर्ववर्ती खण्ड १ २०, १, के अन्त मे आ चुके है।

स्पष्टीकरण यह है कि लेखकों ने स्वयं को प्रबुद्ध नहीं माना (जैसा कि उनके अनुवर्ती लेखकों ने माना) और इस कारण वे अपने वर्णनों में अपने पूर्ववर्ती लेखकों के वर्णनों के वैषम्य का परिहार करने के लिये लेशमात्र भी प्रयत्नशील नहीं थे।

खण्ड ५—वर्णों की उत्पत्ति सम्बन्धी मनु का वर्णन

मैं पहले मनु के सृष्टिरचना विषयक वर्णन के प्रारम्भ के कुछ श्लोकों को उद्धृत करता हूँ :

१. ८ : सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर् विविधाः प्रजाः। अप एव ससर्जादौ तासु बीजम् अवासृजत्। ६. तद् अण्डम् अभवद् हैमं सहस्रांशु-सम-प्रभम्। तस्मिन् जज्ञे स्वयम् ब्रह्मा सर्व-लोक-पितामहः। १०. आपो नारा इति प्रोक्ताः आपो वै नरसूनवः। ताः यद् अस्यायनम् पूर्वम् तेन नारायणः स्मृतः। ११. यत् तत् कारणम् अव्यक्तं नित्यं सद्-असदात्मकम्। तद्-विसृष्टः स पुरुषो लोक ब्रह्मेति कीर्त्यते। १२. तस्मिन्न् अण्डे स भगवान् उषित्वा परिवते सरम्। स्वयम् एवात्मनो ध्यानात् तद् अण्डम् अकरोद् द्विधा।[५५]

"८. उस (स्वयम्भू) ने इच्छा का अनुभव[५६] और अपने शरीर से अनेक प्रजाओं की रचना का विचार कर पहले जलों की सृष्टि की और उसमें बीज छोड़ा। ९. वह बीज एक स्वर्ण का अण्ड बना, जो प्रकाश में सूर्य के समान था। उसमें वह स्वयं ब्रह्मा रूप में उत्पन्न हुआ जो सभी लोकों का पिता है। १०. जलों को 'नारा.' कहते है क्योंकि वे नर से उत्पन्न हुए हैं; और यतः वे उसकी गति के प्रथम वृत्त (अयन = मार्ग) थे इसलिये उसे नारायण[५७] कहते हैं। ११. उस अप्रत्यक्ष, नित्य, सत्, तथा असत् कारण से

---

[५५] इस अश के विचार (कुछ परिवर्तनो सहित, जो लेखक के युग मे प्रचलित सिद्धान्तो के द्योतक है) शतपथ ब्राह्मण ११ १, ६, १ आदि से (देखिए इस कृति का भाग ४) या दूसरे ब्राह्मण के किसी अन्य एतादृश वर्णन से लिये गये हैं।

[५६] देखिए, शतपथ ब्राह्मण १ ७, ४, १ प्रजापतिर् ह वै स्वा दुहितरम् अभिदध्यौ।

[५७] महाभारत मे कृष्ण कहते है "अपाम् नारा इति पुरा सज्ञा-कर्म कृतम् मया। तेन नारायणो प्य् उक्तो मम तत् त्व् अयन सदा।" "पूर्वकाल मे मैंने जलो को 'नाराः' नाम दिया था, अत मुझे भी नारायण कहा जाता है, क्योकि उसमे मेरा सदैव गति का अयन रहा है।"

उत्पन्न होकर वह पुरुष लोक में ब्रह्मा के नाम से ख्यात हुआ। १२. उस अण्ड में एक वर्ष तक निवास करके स्वयं उस प्रकाशवान पुरुष ने अपने चिन्तन द्वारा उसे दो भागों में विभक्त कर दिया।"

अनेक दूसरे आरम्भिक सृजनात्मक कर्मों के वर्णन के बाद (श्लोक १३—३०) लेखक ३१ वें और आगे के श्लोकों में यह वर्णन करता है कि किस प्रकार चार वर्णों की उत्पत्ति हुई :—

१. ३१ : लोकाना तु विवृद्धयर्थम् मुखबाहूरू-पादतः। ब्राह्मण क्षत्रियं वैश्य शूद्र च निरवर्त्तयत्। ३२. द्विधा कृत्वात्मनो देहम् अर्धेन पुरुषोऽभवत्। अर्धेन नारी तस्यां स विराजम् असृजत् प्रभुः। ३३. तपस् तप्त्वाऽसृजद् य तु स स्वयन् पुरुषो विराट्। तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विज-सत्तमाः। ३४. अहं प्रजाः सिसृक्षुस् तु तपस् तप्त्वा सुदुश्चरम्। पतीन् प्रजानाम् असृजम् महर्षीन् आदितो दश। ३५. मरीचिम् अत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यम् पुलहं क्रतुम्। प्रचेतसम् वसिष्टं च भृगुम् नारदम् एव च। ३६. एते मनूंस् तु सप्तान्यान् असृजन् भूरितेजसः। देवान् देवनिकायांश् च महर्षींश् चामितौजसः। ३७. यक्ष-रक्षः-पिशाचांश् च गन्धर्वाप्सरसोऽसुरान्। नागान् सर्पान् सुपर्णांश् च पितॄणां च पृथग्गणान्। ३८. विद्युतोऽशनि-मेघांश् च रोहितेन्द्रधनूंसि च। उल्का निर्घात्-केतूंश् च ज्योतींष्य् उच्चावचानि च। ३९. किन्नरान् वानरान् मत्स्यान् विविधांश् च विहङ्गमान्। पशून् मृगान् मनुष्यांश् च व्यालांश् चोभयतोदतः। ४०. कृमिकीट-पतङ्गांश् च यूका-मक्षिक-मत्कुणम्। सर्वं च दंश-मशकम् स्थावरं च पृथग्विधम्। ४१. एवम् एतैर् इदं सर्वम् मन्-नियोगाद् महात्मभिः। यथाकाम तपो-योगात् सृष्ट स्थावर-जङ्गमम्।

"३१. जगत् में मनुष्यों का निवास हो, इसलिये उसने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को अपने मुख, बाहुओं, ऊरुओं और पैरों से उत्पन्न किया।[५८] ३२. अपने शरीर को दो भागों में बाँटकर, भगवान् ब्रह्मा आधे से पुरुष हुए और आधे से स्त्री। और उस स्त्री से उन्होंने विराज[५९] को जन्म दिया। ३३.

---

[५८] इस पर भाष्यकार कुल्लूक का यह कथन है . "दैव्या च शक्त्या मुखादिभ्यो ब्राह्मणादि-निर्माणम् ब्राह्मणो न विशङ्कनीय श्रुति-सिद्धत्वात्।" "इसमे सन्देह नही करना चाहिए कि ब्रह्माने अपनी दैवी शक्ति द्वारा मुखादि अवयवो मे ब्राह्मण एव अन्य वर्णों को उत्पन्न किया, क्योकि यह वेद द्वारा सिद्ध है।" तदुपरान्त वे पुरुषसूक्त के १२ वें मन्त्र को उद्धृत करते हैं।

[५९] देखिए पुरुषसूक्त, मन्त्र ६।

हे श्रेष्ठ द्विजों, यह जान लो कि मैं, जिसे स्वयं उस पुरुष[६०] विराज ने उत्पन्न किया, इस सम्पूर्ण जगत् का स्रष्टा हूँ। ३४. प्रजाओं की सृष्टि करने की इच्छा करते हुए, मैंने कठोर तपस्याएँ कीं, तब पहले प्रजाओं के स्वामी दस महर्षियों को उत्पन्न किया, (३५) वे हैं—मरीचि, अत्रि, अङ्गिरस्, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेतस्, वसिष्ठ, भृगु तथा नारद।[६१] ३६. महान् शक्ति से युक्त होकर उन्होंने अन्य सात मनुओं, देवताओं, देवलोकों तथा असीम बल वाले महर्षियों को उत्पन्न[६२] किया, (३७) यक्षों, राक्षसों और पिशाचों, गन्धर्वों, अप्सरसों, असुरों, नागों, सर्पों, विशाल पक्षियों और अनेक प्रकार के पितरों को, (३८) विद्युत्, वज्र, मेघ, इन्द्र का न झुका हुआ और झुका धनुष, उल्का, आकाश के उत्पातसूचक शब्दों, धूमकेतुओं और अनेक नक्षत्रों; (३९) किन्नरों, वानरों, मत्स्यों, अनेक प्रकार के पक्षियों, पशुओं, हिरण, मनुष्यों, दो दन्त-पंक्तिवाले पशुओं; (४०) छोटे और बड़े सरीसृपों, कृमियों, कीटों, पतङ्गों, यूकों, मक्षिकों, मत्कुणों, सभी डंसने वाले मच्छरों, तथा विभिन्न प्रकार की

---

[६०] यह द्रष्टव्य है कि मनु 'पुरुष' संज्ञा का तीन प्राणियों के लिये प्रयोग करते हैं : प्रथम तो ब्रह्मा के लिए (श्लोक ११), दूसरे ब्रह्मा द्वारा अपने शरीर के आधे भाग से उत्पन्न किये गये पुरुष के लिये (श्लोक ३२), और तीसरे ब्रह्मा के शरीर के पुरुष तथा स्त्री रूपी अर्धभागो से उत्पन्न विराज के लिए (श्लोक ३३)। यह ध्यान देने योग्य है कि ब्रह्मा के अपने शरीर को विभक्त करने की कथा श० ब्रा० १४ ४, २, १ के अंश से ली गयी है, जो ऊपर उद्धृत है।

[६१] रामायण २ ११०, २ आदि मे जगत् की उत्पत्ति का एक भिन्न वर्णन किया गया है, जिसमे मनु स्वायम्भुव का कोई उल्लेख नही है। उसमे वर्णित सृष्टि का क्रम इस प्रकार है : 'पहले सभी कुछ जल था, तब देवताओ सहित ब्रह्मा स्वयम्भू उत्पन्न हुए—जब कि ब्रह्मा को आकाश से उत्पन्न कहा गया है। ब्रह्मा ने अपने पुत्रो के साथ जगत् की सृष्टि की। ब्रह्मा से मरीचि हुए, मरीचि से कश्यप, कश्यप से विवस्वत्, और विवस्वत् से मनु वैवस्वत।' इस अंश का मूल पाठ प्रस्तुत ग्रन्थ के भाग ४ मे उद्धृत किया गया है।

[६२] ये महर्षि वे ही प्रतीत होते है जिन्हे आगे उद्धृत किये जानेवाले मनु के श्लोक (१२ ५०) मे 'विश्वसृज' अर्थात् "ससार के स्रष्टा" नाम से सूचित किया गया है। ऋषियो या सात ऋषियो का "भूतो के रचयिता" (भूत्-कृत) रूप मे उल्लेख अथर्ववेद ४ १०८, ४, ६ १३३, ४ ५, ११ १, १ ३ २४, १२ १, ३९, मे भी पाया जाता है और 'भूतकृत' शब्द, ऋषियो के साथ असम्बद्ध रूप मे, उसी ग्रन्थ ३ २८, १, ४ ३५, २ तथा १९ १६, २ मे पाया जाता है।

स्थावर वस्तुओं को उत्पन्न किया। ४१. इस प्रकार मेरे नियोग से तथा तप के प्रभाव से इस समस्त स्थावर और जंगम जगत् की उन महान् भूतों ने प्रत्येक प्राणी के पूर्वजन्म के अनुसार सृष्टि की।"

मानव जातियों की उत्पत्ति के विषय में अभी उद्धृत किये गये आख्यान के विभिन्न अंशों का परस्पर मेल नहीं बैठता क्योंकि पहले श्लोक ३१ में कहा गया है कि चार वर्णों के लोग ब्रह्मा के शरीर के अवयवों से पृथक्-पृथक् (१) उस शरीर के दो भागों में विभाजन एवं अनुवर्ती सृष्टि, (२) विराज्, (३) मनु, तथा (४) महर्षियों, जिन्होंने सभी विद्यमान प्राणियों की रचना की, के पूर्व उत्पन्न हुए। फिर भी श्लोक ३९ में कहा गया है कि मनुष्य उन प्राणियों में थे जिन्हें महर्षियों ने उत्पन्न किया था, और श्लोक ४१ के अनुसार सम्पूर्ण स्थावर और जङ्गम संसार उन्ही की कृति था। यह नहीं बताया गया है कि महर्षियों द्वारा उत्पन्न किये हुए मनुष्य उन लोगों से भिन्न थे जो चार वर्णों के अन्तर्गत आते थे इसलिये हमें यह मानना होगा कि चार वर्णों के अन्तर्गत आने वाले लोगों को भी सामान्य मनुष्यों के अन्तर्गत ही रखा गया है। किन्तु यदि महर्षियों द्वारा सभी जीववान् प्राणियों की रचना होने के पूर्व ही चार वर्णों वाले मनुष्य उत्पन्न हो चुके थे तो इन वर्णों के मनुष्यों को परवर्ती सृष्टि के अंग रूप में दूसरी बार उत्पन्न करने की क्या आवश्यकता थी? यह सम्भव है कि वर्णों की पृथक् रचना का उल्लेख दूसरे विवरण के ऊपर परवर्ती कल्पना के रूप में जोड़ दिया गया हो।[६३]

उत्पन्न भूतों की उत्पत्ति, और स्वभाव आदि (श्लोक ४२—५०), ब्रह्मा के सर्वात्मा रूप में पुनः लय और उनकी निद्रा तथा विश्राम इत्यादि (श्लोक ५०—५७) के विषय में अन्य विस्तृत वर्णनों के उपरान्त मनु आगे इस प्रकार कहते हैं :

---

[६३] इसी प्रकार श्लोक २२ में यह देखा जा सकता है कि ब्रह्मा को जीवित देवताओं के सूक्ष्म वर्ग का, जिसका मूल तत्व क्रिया है, तथा साध्यों का रचयिता बनाया गया है (कर्मात्मनाम् च देवानाम् सोऽसृजत् प्राणिनाम् प्रभुः। साध्याना च गण सूक्ष्मम्), तथा श्लोक २५ में ब्रह्मा के विषय में कहा गया है कि उन्होंने "प्रजाओं की सृष्टि की इच्छा से इस सृष्टि को उत्पन्न किया" (सृष्टि ससर्ज चैवेमाम् स्रष्टुम् इच्छन् इमाः प्रजाः)। किन्तु यदि देवता और सभी प्राणी पहले से ही विद्यमान थे तो महर्षियों द्वारा उनकी उत्पत्ति का कोई इस प्रकार का अन्य वर्णन, जैसा कि श्लोक ३६ में दिया गया है, केवल निरर्थक ही नहीं अपितु विरोधी भी प्रतीत होता है।

५८. इदं शास्त्रं तु कृत्वाऽसौ माम् एव स्वयम् आदितः। विधिवद् ग्राहयामास मरीच्यादींश् त्व् अहम् मुनीम्। ५६. एतद् वोऽयम् भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्य् अशेषतः। एतद् हि मत्तोऽधिजगे सर्वम् एषोऽखिलम् मुनिः। ततस् तथा स तेनोक्तो महर्षिर् मनुना भृगुः। तान् अब्रवीद् ऋषीन् सर्वान् प्रीतात्मा "श्रूयताम्" इति। ६१. स्वायम्भुवस्यास्य मनोः पड् वश्या मनवोऽपरे। सृष्टवन्तः प्रजाः स्वाः स्वाः महात्मानो महौ-जस.। ६२. स्वारोचिषश् चौत्तमिश् तामसो रैवतस् तथा। चाक्षुषश् च महातेजा विवस्वत्-सुत एव च। ६३. स्वायम्भुवाद्याः सप्तैते मनवो भूरितेजसः। स्वे स्वेऽन्तरे सर्वम् इदम् उत्पाद्यापुश् चराचरम्।

५९. "इस शास्त्र की रचना कर स्वयं उस (ब्रह्मा) ने ही प्रारम्भ में मुझे इसे विधिवत् सिखाया और मैंने मरीचि आदि मुनियों को सिखाया। ६०. ये भृगु तुम्हें यह शास्त्र आद्योपान्त सुनायेंगे, क्योंकि इन मुनि ने सम्पूर्ण शास्त्र की शिक्षा मुझसे ग्रहण की है। ६१. तब इस प्रकार वचन सुनकर उस महर्षि (श्रेष्ठ ऋषि) भृगु ने आनन्द के साथ उन सभी ऋषियों से इस प्रकार कहा—'आप सब सुनें'। ६२. इस मनु स्वयम्भुव से अन्य मनु इसके पश्चात् आने वाले छ: वंशों में उत्पन्न हुए जो महान् और वीर्यवान् थे। उन्होंने क्रमशः अपनी-अपनी प्रजाओं की सृष्टि की,—(६३) अर्थात् स्वारोचिष, औत्तमि, तामस, रैवत, चाक्षुष, और विवस्वत् के पराक्रमी पुत्रों की। ६४. इन अत्यन्त तेजस्वी सात[६४] मनुओं ने, जिनमें स्वायम्भुव प्रथम था, अपने-अपने समय (अन्तर) में जगत् की उत्पत्ति की है और उस पर अधिकार रक्खा है।"

मनुष्यों एवं देवताओं आदि की काल-विभाजन-विषयक कतिपय प्रारम्भिक व्याख्याओं के उपरान्त (श्लोक ६४–७८) लेखक आगे हमें बताता है कि इनमें से प्रत्येक मनु का राज्य कितने दिन रहता है :

७६. यत् प्राक् द्वादश-साहस्रम् उदितं दैविकं युगम्। तद् एक-सप्तति-गुणम् मन्वन्तरम् इहोच्यते। ८०. मन्वन्तराण्य् असङ्ख्यानि सर्गः संहार एव च। क्रीडन्न् इवैतत् कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः।

"बारह सहस्र (वर्षों) का जो पूर्वोल्लिखित देवताओं का वर्ष है, उसके इकहत्तर गुने को यहाँ मन्वन्तर कहा जाता है। ८०. मन्वन्तर, सर्ग, और

---

[६४] यह देखा जायगा कि यहाँ स्वायम्भुव को सात मनुओं के अन्तर्गत रक्खा गया है, यद्यपि श्लोक ३६ (देखिए ऊपर) मे यह कहा गया है कि दस महर्षियो ने, जो स्वय स्वायम्भुव द्वारा उत्पन्न किये गये थे (श्लोक ३४ और आगे), सात अन्य मनुओ को उत्पन्न किया

प्रलय अनेक है। परमात्मा क्रीडा करने के समान पुनः पुनः यह कर्म करता है।"

इन महायुगों का एक अधिक विस्तृत वर्णन अगले खण्ड में दिया जायगा जहां मैं विष्णुपुराण का विवेचन प्रारम्भ करूँगा। इसी बीच यह उल्लेख किया जा सकता है कि वर्तमान मन्वन्तर ऊपर गिनाए गये मनुओं में सबसे अन्तिम मनु वैवस्वत का है, जिन्होंने, श्लोक ६३ के अनुसार, वर्तमान संसार की सृष्टि अवश्य की होगी। किन्तु यदि ऐसी बात हो, तो यह स्पष्ट नहीं होता कि मनु स्वायम्भुव की सृष्टि, का जिसके साथ मर्त्यों की वर्तमान जाति का लेशमात्र सम्बन्ध नहीं हो सकता, सम्बन्ध ३३ वें और आगे के श्लोकों में ऋषियों से जोडना क्यों श्रेयस्कर समझा जाता। तथापि इस पर ध्यान देना चाहिए कि श्लोक ३३ में मनु स्वायम्भुव ने स्वयं को "इस" (अर्थात् वर्तमान) संसार का मनु बताया है और इसमें सन्देह नहीं कि इस ग्रन्थ के उत्तर भाग में विहित सम्पूर्ण विधि-संहिता का अनुसरण भारतीयों की वर्तमान जाति द्वारा किया जाना ही लेखक को अभिप्रेत है (प्रथम अध्याय के श्लोक १०२ और आगे के श्लोक देखिए)। अतएव हमें यह मानना चाहिए कि परवर्ती मनुओं की सृष्टियाँ वस्तुत: प्रथम की सृष्टि के अनुरूप ही हैं; अथवा जिन वर्णनों का मैंने उद्धरण दिया है उनमें कुछ अस्पष्टता या वैषम्य है। कदाचित् दोनों ही धारणायें ठीक हो सकती हैं।

श्लोक ८१—८६ मे चार युगों (या संसार के महायुगों), कृत, त्रेता, द्वापर, तथा कलि, उनकी क्रमिक श्रेष्ठता, तथा प्रत्येक युग के विशिष्ट धर्मों का वर्णन किया गया है।[६०]

---

[६०] श्लोक ८६ मे इन प्रधान धर्मों को कृतयुग मे तप, त्रेता मे ज्ञान, द्वापर मे यज्ञ, तथा कलि मे दान कहा गया है (तप पर कृत-युगे त्रेताया ज्ञानम् उच्यते। द्वापरे यज्ञम् एवाहुर् दानम् एकम् कलौ युगे)। जैसा कि वेवर के इण्डि० स्टू० २८२ आदि, टिप्पणी मे कहा गया है, यह मुण्डक उपनिषद् १ २ १ के विचार से विल्कुल साम्य नही रखता, जिसके अनुसार "तत् एतत् सत्यम् मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्य् अपश्यस् तानि त्रेतायाम् वहुधा सन्ततानि।" "यह सत्य है. ऋषियो ने मन्त्रो मे जिन कर्मों का दर्शन किया, उन्ही का त्रेता मे अनेक रूपों मे अनुष्ठान किया जाता है।" इसी प्रकार महाभारत ३ १४९, २५मे कहा गया है कि त्रेता में यज्ञ और कर्मों का वाहुल्य था (ततोयज्ञा. प्रवर्त्तन्ते धर्माश् च विविधा क्रिया त्रेतायाम् इत्यादि)। महाभारत १२ ३४०, ८२ भी देखिए। प्रथम युग के नाम के रूप मे 'कृत' शब्द की इन दो अशो मे प्रथम अंश के पूर्व के श्लोक मे

श्लोक ८७ में भृगु पुनः चार वर्णों पर आ जाते है :—

८७. सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्य्-अर्थम् स महाद्युतिः। मुख-बाहूरु-पज्-जानाम् पृथक् कर्माण्य् अकल्पयत्।

"इस सम्पूर्ण सृष्टि की रक्षा के लिए उस महातेजस्वी (ब्रह्मा) ने उनके लिये पृथक्-पृथक् कर्मों का विधान किया जो उसके मुख, उसकी बाहुओं, उसके ऊरुओं, तथा उसके पैरों से उत्पन्न हुए थे।"

तदुपरान्त इन कर्मों का विस्तृत वर्णन किया गया है (श्लोक ८८–९२)। श्लोक ९३ में ब्राह्मण के प्राधान्य के कारण बताये गये है :

९३. उत्तमाङ्गोभवाज् ज्यैष्ठाद् ब्रह्मणश् चैव धारणात्। सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः। ९४. तां हि स्वयम्भूः स्वाद् आस्यात् तपस् तप्त्वाऽऽदितोऽसृजत्।

"यतः ब्राह्मण सर्वोत्तम अङ्ग से उत्पन्न हुआ, और वह सर्वप्रथम उत्पन्न और वेद धारण करने वाला होता है, अतः वह स्वभावतः इस सृष्टि का स्वामी है। उसे स्वयम्भू (ब्रह्मा) ने तप करने के उपरान्त सर्वप्रथम अपने मुख से उत्पन्न किया।"

किन्तु जिस प्रकार सृष्टि की वस्तुओं में और स्वयं मनुष्यों में भी श्रेणियाँ हैं, (९६) उसी प्रकार ब्राह्मणों में भी श्रेणियाँ हैं।

९७. ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृत-बुद्धयः। कृत-बुद्धिषु कर्त्तारः कर्तृषु ब्रह्म-वेदिनः।

"ब्राह्मणों में विद्वान् ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ हैं, विद्वानों मे धतिमान श्रेष्ठ हैं, धृतिमानों मे कर्म करने वाले और कर्म करने वालों में भी ब्रह्म का ज्ञान रखने वाले श्रेष्ठ हैं।"

इस ग्रन्थ के एक आगे के अंश में (१२. ४० और आगे) हम ब्रह्मा से प्रारम्भ कर उनसे नीचे के सामान्य मनुष्यों, वर्णों, और वस्तुतः सभी विद्यमान वस्तुओं को तीन गुणों (सत्त्व, रजस्, तमस्) की विभिन्न श्रेणियों मे अंशाधिकारी होने के अनुसार विभाजित किया गया है।

३९. येन यांस् तु गुणेनैषां संसारान् प्रतिपद्यते। तान् समासेन वक्ष्यामि सर्वस्यास्य यथाक्रमम्। ४०. देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः। तिर्यक्त्वं तामसा नित्यम् इत्य् एषा त्रिविधा गतिः। ..
४३. हस्तिनश् च तुरङ्गाश् च शूद्रा म्लेच्छाश् च गर्हिताः। सिंहा व्याघ्रा

इस प्रकार व्याख्या की गई है : 'कृतम् एव न कर्त्तव्यं तस्मिन् काले युगोत्तमे।' "उस सर्वोत्तम युग के समय मे (प्रत्येक कार्य) किया हुआ रहता है, कुछ भी करने को नही रह जाता।"

वराहाश् च मध्यमा तामसी गतिः। ···४६ राजानः क्षत्रियाश् चैव राज्ञश् चैव पुरोहिताः। वाद्-युद्ध-प्रधानाश् च मध्यमा राजसी गतिः।···४८. तापसा यतयो विप्रा ये च वैमानिका गणाः। नक्षत्राणि च दैत्याश् च प्रथमा सात्त्विकी गतिः। ४९. यज्वान ऋषयो देवा वेदा ज्योतींषि वत्सराः। पितरश् चैव साध्याश् च द्वितीया सात्त्विकी गतिः। ५०. ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महान् अव्यक्तम् एव च। उत्तमा सात्त्विकीम् एतां गतिम् आहुर मणीषिनः।

"३९. मैं अब यहाँ स्पष्टतः उन अवस्थाओं का क्रमानुसार वर्णन करूँगा जिनमें आत्मा इन गुणों में से प्रत्येक गुण के कारण पहुँचती है। सत्त्व गुण से युक्त आत्मावाले देवत्व प्राप्त करते हैं; रजस् गुणवाले मनुष्यत्व प्राप्त करते हैं; जब कि तमोगुण प्रधान आत्मावाले सदैव पशु ही होते हैं—ये तीन प्रकार की गतियाँ हैं। ४३. हाथी, अश्व, शूद्र और निन्दनीय म्लेच्छ, सिंह, व्याघ्र तथा वराह मध्यमा और तामसी गतियाँ हैं। ' ४६. राजा, क्षत्रिय, राजा के पुरोहित (पुरोहिताः) और वाग्युद्ध को प्रधानता देने वाले पुरुष मध्यमा राजसी गति में आते हैं।···४८. तपस्वी, यति, ब्राह्मण, विमानों पर चलनेवाले गण, नक्षत्र, तथा दैत्य सत्त्व की निम्नतम गति के अन्तर्गत आते हैं। ४९. यज्ञ करनेवाले पुरोहित, ऋषि, देवता, वेद, द्युलोकस्थित नक्षत्र, संवत्सर, वर्ष, पितर, साध्य सत्त्वगुण की द्वितीया गति हैं। ५०. ब्रह्मा, सृष्टि करनेवाले[६६], धर्म, महत्, और अव्यक्त सत्त्व गुण की उत्तमा गति है।

---

[६६] इन सृष्टि करने वालों (विश्वसृजः) का तैत्ति० ब्रा० ३ १२, ९, २, में इस प्रकार वर्णन किया गया है. "आदर्शम् अग्निम् चिन्वाना पूर्वे विश्वसृजोऽमृताः। शत वर्ष सहस्राणि दीक्षिताः सत्रम् आसत। ३ तप आसीद् गृहपतिर् ब्रह्म ब्रह्माऽभवत् स्वयम्। सत्य ह होतैषाम आसीद् यद् विश्वसृज आसत। अमृतम् एभ्यो उदगायत् सहस्रम परिवत्सरान्। भूत ह प्रस्तोतैषाम् आसीद् भविष्यत् प्रति चाहरत्। प्राणो अध्वर्युर् अभवद् इद सर्व सिषासताम्।" ७ विश्वसृजः प्रथमाः सत्रम् आसत। ; । ततो ह जज्ञे भुवनस्य गोपा हिरण्मय शकुनिर् ब्रह्म नाम। येन सूर्यस् तपति तेजसेद्ध। ८ एतेन वै विश्वसृजः इद विश्वम् असृजन्त। यद् विश्वम् असृजन्त तस्माद् विश्वसृजः। विश्वम् एनान् अनु प्रजायते।' "२ विश्व के प्राचीन एवं अमर्त्य स्रष्टा दर्श तक अग्नि का चयन कर के दीक्षित होकर १,००,००० वर्षों तक यज्ञ करते रहे। ३ जब सृष्टि रचने वाले यज्ञ में लगे थे तब तप गृहपति था, स्वयं मन्त्र (ब्रह्म) ब्रह्मा ऋत्विज था, सत्य होतृ था, अमृत एक सहस्र वर्षों तक उनका उद्गातृ रहा। भूत उनका

यह द्रष्टव्य है कि जिस विधि से तीन गुणों का विभाजन किया गया है, उसके इस वर्णन के विभिन्न अंशों में परस्पर नाममात्र का भी सामञ्जस्य नही है। यद्यपि ४० वे श्लोक से ऐसा प्रतीत होता है कि राजस गुणवाले सभी आत्मा मनुष्य होते है, तथापि श्लोक ४३, ४८, तथा ४९ में हम पाते हैं कि शूद्र तामस वर्ग के हैं और विभिन्न कोटि के ब्राह्मण दो सात्विक कोटियों में आते है। ४० वें श्लोक में दिये गये नियम के अनुसार ब्राह्मणों को देवताओं के रूप में उत्पन्न होना चाहिए था।

फिर भी, यह उल्लेखनीय है कि इस परिगणना में शूद्र भी उसी श्रेणी में रक्खे गये है जिसमें म्लेच्छ (श्लोक ४३), वैश्यों को किसी भी श्रेणी में स्थान नहीं दिया गया है; क्षत्रिय, और राजा के पुरोहित जो निःसन्देह ब्राह्मण हैं, तथा ज्ञानपूर्ण प्रश्नों[६७] पर विवाद करनेवाले अन्य व्यक्ति (जो अवश्य ही ब्राह्मण है, किन्तु जिन्हें पुरोहितों के वर्ग से सम्बद्ध नहीं कहा गया है) एक साथ 'राजस' की श्रेणी में रक्खे गये है (श्लोक ४६), जब कि भिन्न स्वभाव वाले अन्य ब्राह्मणों को दो उच्चतर श्रेणियों में रक्खा गया है। ब्राह्मणों (विप्रा) को, जिन्हें केवल निकृष्टतम श्रेणी में सत्वगुण प्रधान होने से इस नाम से अभिहित किया गया है, यज्ञ के ऋत्विजों (यज्वानः), ऋषियों, देवताओं, वेदों आदि के साथ सत्वगुण की मध्यम कोटि में होने का सम्मान दिया गया है। यह स्पष्ट नहीं है कि ४८वें श्लोक में उल्लिखित तपस्वी तथा यति उसी वर्ग में आते हैं जिसमें ब्राह्मण और जिनसे कि वे सम्बद्ध हैं, अथवा ये उससे भी निम्नतर वर्ग के मनुष्य हो सकते है। यह भी स्पष्ट नहीं है कि यज्ञ करनेवाले ऋत्विजों (यज्वानः) को, जिनका ४९ वें श्लोक में पृथक् उल्लेख किया गया गया है, ४६ वें श्लोक के राजा-पुरोहितों (राज्ञः पुरोहिताः) की अपेक्षा इतना अधिक आदर का पात्र

प्रस्तोतृ था, भविष्यत् प्रतिहर्तृ था, प्राण अध्वर्यु था, और वे सर्वस्व प्राप्त करने मे लगे थे।" इस रूपक के विषय मे और भी बहुत कुछ कह कर लेखक आगे ७ वे अनुच्छेद मे इस प्रकार कहता है: "ये प्रथम सृष्टि करनेवाले यज्ञ मे रत थे, उससे संसार की रक्षा करनेवाला उत्पन्न हुआ, वह ब्रह्म नामक हिरण्मय पक्षी था, जिस से सूर्य चमकता है और प्रकाश देता है। ८" इसके द्वारा स्रष्टाओ ने इस विश्व की रचना की। यत उन्होने विश्व की सृष्टि की, अतः उन्हे विश्वसृज कहते है। सभी वस्तुओ की सृष्टि उनके उपरान्त हुई है।" ऊपर पृ० ३६ पर "ऋषयो भूत-कृतः' का उल्लेख देखिए। तैत्ति० ब्रा० के इस उद्धरण का प्रतीक स्वरूपत पुरुषसूक्त के छठवे मन्त्र के प्रतीक के अनुरूप है।

[६७] शास्त्रार्थकलह-प्रियाश् च। भाष्यकार।

क्यों समझा गया है, जब कि राजा के पुरोहित भी यज्ञ में कार्य करते थे। सात्त्विक प्राणियों को निकृष्ट कोटि में रखकर दैत्यों को जो प्रतिष्ठित स्थान दिया गया है (श्लोक ४८) वह भी ध्यान देने योग्य है। हम आगे के अध्याय में देखेंगे कि पुराण, अनेक प्रकार से, मानव जाति के राजस वर्ग में होने का वर्णन प्रस्तुत करते हैं (ऊपर श्लोक ४० देखे) और उनके वर्ण के अनुसार उनमें तीन अन्य 'गुणों' का भी प्राधान्य मानते हैं।

खण्ड ६—विष्णुपुराण तथा अन्य ग्रन्थों के अनुसार युगों, मन्वन्तरों, और कल्पों की व्यवस्था का विवरण

मैं, सर्वप्रथम, प्रस्तुत खण्ड मे युग, मन्वन्तर, और कल्पादि लौकिक महायुगों का कुछ विवेचन प्रस्तुत करने के उपरान्त अगले खण्ड में विष्णुपुराण में जीवों की सृष्टि तथा चार वर्णों की उत्पत्ति के विषय में दिये गये वर्णन को उपस्थित करूँगा।

इन महायुगों की गणना प्रथम अंश के तीसरे अध्याय तथा छठवें अंश के प्रथम अध्याय में दी गयी है और अपने अनुवाद के पृ० ५० पर प्रोफेसर विल्सन ने इनकी स्पष्ट व्याख्या की है।

मनुष्यों का एक वर्ष देवताओं के एक दिन के बराबर होता है।[६८] १२,००० दिव्य वर्ष चार युगों के बराबर होते हैं जिनकी परिगणना इस प्रकार है:—

कृतयुग—प्रातःकाल एवं सन्ध्याकालों सहित				······४८,०००	दिव्य	वर्ष
त्रेतायुग—	,,	,,	,,	,, ·····३,६००	,,	,,
द्वापर-युग—	,,	,,	,,	,, ······२,४००	,,	,,
कलि-युग—	,,	,,	,,	,, ·······१,२००	,,	,,

सम्पूर्ण योग १२,००० दिव्यवर्ष।[६९]

---

[६८] विष्णु पु० ६ १, ४. 'अहोरात्रम् पितृणा तु मासोऽब्दस् त्रिदिवौकसाम्।' मनु १ ६६ तथा ६७ भी देखिए। तैत्ति० ब्रा० ३ ९, २२, १ का भी यह कथन है : 'एकं वै एतद् देवाना अहर् यत् संवत्सर'।' 'एक वर्ष का यह समय देवताओं का एक दिन होता है।'

[६९] १ ३, १० दिव्यैर् वर्ष सहस्रस्तु कृत-त्रेतादि-सञ्ज्ञितम्। चतुर्युग द्वादशभिस् तद् विभागं निबोध मे। ११. चत्वारि त्रीणि द्वे चैकम् कृतादिषु यथाक्रमम्। दिव्याब्दानाम् सहस्राणि युगेष्व् आहुर् पुराविद। १२ तत्–प्रमाणे

यतः देवताओं का एक दिन = मनुष्यों का एक वर्ष, अतः १२,००० दिव्य वर्ष को ३६० से गुणा करना होगा। जो एक वर्ष के दिनों की संख्या है, और इस प्रकार चार युगों के इस महायुग में मनुष्यों के दिनों की संख्या प्राप्त होगी : १२,००० दिव्य वर्ष × ३६० = ४३,२०,००० मनुष्यों का वर्ष। १२,००० दिव्य या ४३,२०,००० मानव वर्षों के इन १००० वर्षों के समय— अर्थात् ४,३२,००,००,००० मानव वर्ष = ब्रह्मा का एक दिन[७०]; ब्रह्मा की रात्रि का भी यही परिमाण है। ब्रह्मा के एक दिन में १४ मनु होते हैं[७१] और एक मन्वन्तर या मनु का युग = ब्रह्मा के एक दिन का १४ वाँ भाग। वर्तमान कल्प (= ब्रह्मा के एक दिन) में छः मनु, हो चुके है, जिनमें प्रथम स्वायम्भुव थे और वर्तमान मनु वैवस्वत हैं।[७२] प्रत्येक मन्वन्तर में सात ऋषि, कुछ देवता, एक इन्द्र, एक मनु तथा राजाओं और उनके पुत्रों की सृष्टि और विनाश होता है।[७३] चार युगों की एक सहस्र व्यवस्थाएँ, जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, इन १४ मन्वन्तरों के साथ-साथ ही चलती है। परिणामतः युगों का ७१ क्रम प्रत्येक मन्वन्तर में व्यतीत होता है और यही युग के मनु तथा देवताओं के जीवनकाल का परिमाण है।[७४] ब्रह्मा के इस दिन के अन्त मे विश्व का संहार (प्रतिसंचर.) होता है, जो ब्रह्मा की एक रात्रि तक रहता है जिसका परिमाण भी उनके दिन के बराबर ही होता है। इस काल में तीनों लोक एक

शतै. सन्ध्या पूर्वा तत्राभिधीयते। सन्ध्याशकश् च तत्-तुल्यो युगस्यानन्तरो हि स.। १३ सन्ध्या-सन्ध्याशयोर् अन्तर् यः कालो मुनि-सत्तम। युगाख्य स तु विज्ञेयः कृत-त्रेतादि-सज्ञितः।

[७०] विष्णु पु० १. ३, १४ "कृत त्रेता द्वापरश् च कलिश् चैव चतुर्युगम्। प्रोच्यते तत्-सहस्र च ब्रह्मणो दिवसम् मुने।" देखिए मनु १ ७२।

[७१] विष्णु पु० १ ३, १५ ' ब्रह्मणो दिवसे ब्रह्मन् मनवश् च चतुर्दश। भवति।

[७२] यह मनु १ ६२ आदि (ऊपर देखें) मे तथा विष्णुपुराण ३ १. ६-७ मे भी वर्णित है, जो इन नामो को उसी क्रम मे प्रस्तुत करता है स्वायम्भुवो मनु पूर्वो मनु' स्वारोचिषस् तथा। औतमिस् तामसश् चैव रैवतश् चाक्षुषस् तथा। षड् एते मनवोऽतीता साम्प्रत तु रवे सुत.। वैवस्वतोऽय यस्यैतत् सप्तम वर्त्ततेऽन्तरम्।

[७३] विष्णु पु० १ ३, १७ ' सप्तर्षय सुरा शक्रो मनुस् तत् सूनवो नृपा। एककाले हि सृज्यन्ते सह्रियन्ते च पूर्ववत्।

[७४] वही, श्लोक १८ चतुर्युगाना सङ्ख्याता साधिका ह्य् एक सप्तति.। मन्वन्तरम् मनो काल सुरादीना च सत्तम। मनु १ ७९ भी देखिए।

विशाल समुद्र में परिणत हो जाते है और तब कमल से उत्पन्न भगवान्[७५], संसार के निगरण से परिवृद्ध और जनलोक के योगियों एवं देवताओं द्वारा पूजित होकर शेषनाग पर शयन करते हैं। उस रात्रि के अन्त में वे जागते हैं और पुनः सृष्टि का निर्माण करते हैं।[७६]

ब्रह्मा के एक वर्ष में ऐसे दिनों और रात्रियों की उचित संख्या होती है और ऐसे १०० वर्षों का उनका सम्पूर्ण जीवन होता है। उनके जीवन की अवधि को 'पर' कहते हैं और उसके आधे भाग को 'परार्द्ध' या पर का अर्द्धांश। एक परार्द्ध, ब्रह्मा के जीवन का अर्द्धांश, पाद्म कल्प नाम के महाकाल के अन्त के साथ समाप्त हो चुका है। इस समय का कल्प या ब्रह्मा का दिन, जिसे वाराह (अर्थात् वराह का कल्प) कहा गया है, ब्रह्मा के जीवन के दूसरे परार्द्ध का प्रथम कल्प है।[७७] प्रत्येक कल्प या ब्रह्मा के दिन के अन्त में होनेवाले प्रलय को 'नैमित्तिक' अर्थात् आकस्मिक, प्रासंगिक, या आपातिक कहते हैं (देखिए विल्सन : विष्णुपुराण, भाग १, डा० हाल का संस्करण, पृ० ५२, सम्पादक की टिप्पणी सहित; तथा भाग २, पृ० २६९। विश्व के अन्य प्रलयों के विवरण के लिए भी मैं इसी ग्रन्थ के भाग १, पृ० ११२, तथा पृ० ६३०--६३३, मौलिक संस्करण, का निर्देश करूँगा)।

अत्यन्त विस्तृत अवधि के इन युगों, मन्वन्तरों। तथा कल्पों की बहुश्रम-सिद्ध व्यवस्था का कोई भी चिह्न ऋग्वेद के सूक्तों में नहीं मिलता। उनके रचयिता, निश्चय ही, युग शब्द से परिचित थे[७८] जो प्राय: काल, वंश या जाति

---

[७५] कमल के पत्र पर प्रजापति के जन्म का उल्लेख तैत्ति० आर० १ २३,१ मे भी आया है जो ऊपर पृ० ३७ पर उद्धृत है।

[७६] वही २० ' चतुर्दश-गुणो ह्य् एष कालो ब्राह्मम् आहु स्मृतम्। ब्राह्मो नैमित्तिको नाम तस्यान्ते प्रतिसञ्चर। २२ एकार्णवे तु त्रैलोक्ये ब्रह्मा नारायणात्मक। भोगि-शय्यागत शेते त्रैलोक्य-ग्रास-बृंहित। २३. जनस्थैर् योगिभिर् देवैश् चिन्त्यमानोऽब्ज-सम्भव। तत्-प्रमाणां हि ता रात्रीं तदन्ते सृजते पुन। देखिए विष्णु पु० १ ३, ५९-६२, विल्सन का अनुवाद, भाग १, पृ० ४१

[७७] वही, श्लोक २४ : एवम् तु ब्रह्मणो वर्षम् एवम् वर्ष-शतं च तत्। शतम् हि तस्य वर्षाणाम् परम् आयुर् महात्मनः। २५ एकम् अस्य व्यतीतम् तु परार्द्धम् ब्रह्मणोऽनघ। तस्यान्तेऽभूद् महाकल्प. पाद्मः इत्य्, अभिविश्रुतः। द्वितीयस्य परार्द्धस्य वर्त्तमानस्य वै द्विज। वाराहः इति कल्पोऽयम् प्रथम. परिकल्पित।

[७८] प्रोफेसर विल्सन की डिक्शनरी मे युग (नपुसकलिंग) के तीन अर्थ

के अर्थ में आता है। इस प्रकार १. १३९, ८; ३. २६, ३; ६. ८, ५; ६. १५, ८; ६. ३६, ५; १०. ९४, १२ में 'युगे-युगे'[79] का अर्थ है "प्रत्येक युग में"। ३. ३३, ८; १०. १०, १० में हमें 'उत्तरा युगानि', 'भावी युग', तथा १०. ७२, १ में 'उत्तरे युगे', 'आगे के युग में', ७. ७०, ४. में 'पूर्वाणि युगानि', "पहले के युगों में"[80], तथा १. १८४, ३ में 'युगा जूर्णा', "बीते हुए युग" आये हैं। १. ९२, ११; १. १०३, ४; १. ११५, २; १. १२४, २; १. १४४, ४,[81] २. २, २; ५. ५२, ४, ६. १६, २३; ७. ५, ४; ८. ४६, १२; ८. ५१, ९, ९. १२, ७,[82] १०. २७, १९; १०. १४०, ६[83] (जिन सभी

बताए गये हैं (१) एक द्वन्द्व, (२) समय की अवधि, यथा कृत, त्रेता आदि, (३) वर्ष पञ्चक, या पाँच वर्ष का समय,। पुल्लिङ्ग शब्द के रूप मे प्रयुक्त होने पर इसी विद्वान् के अनुसार इस शब्द का अर्थ (१) जुआ, (२) चार हाथ की लम्बाई, आदि, और (३) एक विशेष ओषधि है।

[79] ३ ३६, ३ के भाष्य मे सायण इसका अर्थ 'प्रतिदिनम्' अर्थात् प्रत्येक दिन करते है, ६ ८, ५, ६ १, १५ ८, ६ ३६, ५ के भाष्यो मे 'काले-काले' अर्थात् प्रत्येक समय मे अर्थ करते हैं।

[80] इस वाक्यांश को सायण पूर्व के "पतियो एव पत्नियो के जोडे", 'मिथुनानि जायापतिरूपाणि' के अर्थ मे ग्रहण करते हैं।

[81] १ ९२, ११ तथा १ १२४, २ मे उषस् (उषा) को 'प्रमिनती मनुष्या युगानि' "मनुष्यो के युगो या पीढियो का पार करती हुई" कहा गया है। प्रथम अंश पर भाष्य करते हुए सायण 'युगानि' को 'कृत-त्रेतादीनि-कृत', अर्थात् त्रेता और अन्य युग के अर्थ मे ग्रहण करते हैं, जब कि दूसरे की व्याख्या करते समय वे उसी शब्द का अर्थ 'युगोपलक्षितान् निमेषादि-कालावयवान्' अर्थात् इस शब्द के द्वारा सूचित समय का सेकेण्ड आदि मे विभाजन लगाते हैं, अथवा युग्मानि को "मनुष्यो के समूहो' का समानार्थक मानते है—यत. उषा पहले एक साथ एकत्र हुए मनुष्यो को विविध कार्यों पर भेजती है।" १ १४४, ४ की टिप्पणी मे वे दो भिन्न अर्थो का विकल्प प्रस्तुत करते हैं - 'मनो' सम्भन्धीनि युगानि जायापति-रूपाणि होत्रध्वर्यु रूपाणि वा।' "पति और पत्नी के अथवा होतृ तथा अध्वर्यु पुरोहितो के जोडे।"

[82] यह मन्त्र ९ १२, ७, सामवेद ५ २. ५५२ मे भी उपलब्ध है, जहाँ 'युगा' के स्थान पर 'युजा' का प्रयोग है।

[83] यह मन्त्र सामवेद ५ २, ११७१ तथा वाज० स० १२ १११ मे भी आता है।

स्थलों में, १. ११५, २ के अतिरिक्त, यह शब्द मनुष्या, मानुषा, मनुषः या जनानाम् के साथ संयुक्त है) आदि में युग का अर्थ मनुष्यों का "वंश" या कहीं-कहीं, मनुष्यों की "जाति" प्रतीत होता है। ५. ७३, ३ में आए हुए 'नाहुषा युगा' पदों का भी इसी प्रकार का अर्थ होना चाहिए। १ १५८, ६ में यह कहा गया है कि ऋषि दीर्घतमस् दसवें युग में जराजीर्ण हो गये, जिस पर प्रोफेसर विलसन (ऋग्वेद भाग २. १०४ टिप्पणी) का यह कथन है : "भाष्यकार युग को साधारण अर्थ में ग्रहण करता है, परन्तु यहाँ कदाचित् पाँच वर्षों का युग, वर्षपञ्चक, अभिप्रेत है, जो कोई विलक्षण बात नहीं है।" प्रोफेसर आफरेग्त इसका अनुवाद "जीवन की दशम अवस्था में" करना चाहते हैं। ऋग्वेद के प्रथम स्थल (१०. ७२, २ आदि) पर, जिसमें एक विस्तृत लौकिक युग के उल्लेख होने के कुछ संकेत मिलते हैं, "देवताओं के उस प्रथम या पूर्व युग का वर्णन है (देवानाम् पूर्व्ये युगे, देवानाम् प्रथमे युगे) जब सत् की असत् से उत्पत्ति हुई थी" (असतः सद् अजायत); किन्तु इसकी अवधि के विषय में कुछ भी नहीं कहा गया है। इसी अनिश्चित ढंग से १०, ९७. १ में कुछ ऐसी वनस्पतियों का निर्देश किया गया है, "जिनकी सृष्टि देवताओं से पहले-तीन युग पूर्व हुई थी" (याः ओषधीः पूर्वाः जाताः देवेभ्यस् त्रियुगम् पुरा)। तथापि अथर्ववेद के एक मन्त्र में युग शब्द का इस प्रकार प्रयोग किया गया है कि उससे यह धारणा उत्पन्न होती है कि एक अत्यन्त दीर्घ समय की अवधि अभिप्रेत है। इसमें यह कहा गया है : ८ २, २१ : शतं ते अयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः। "हम तुम्हें एक सौ अयुत वर्ष, दो, तीन, चार युगों का जीवन देते हैं।"[८४] जैसा कि हमारे लिये यह मानना संभव है कि यहाँ उल्लिखित युग अवधि में उत्तरोत्तर अधिक दीर्घ होते हैं, अतः दो युगों और कदाचित् एक युग की अवधि भी १०,००० वर्षों से अधिक हो सकती है।

दिव्य तथा मानव युगों की तुलना का जो सबसे प्राचीन अंश मुझे ज्ञात है वह ऊपर पृ० ४९ की टिप्पणी में उद्धृत तैत्तिरीय ब्राह्मण के एक अनुच्छेद में उपलब्ध होता है : "एक वर्ष देवताओं का एक दिन होता है।"[८५] किन्तु जहाँ

---

[८४] इस पंक्ति के सन्दर्भों के लिए १८६६ ज० ए० सो०, पृ० ४२ देखिये।

[८५] शतपथ ब्राह्मण १४ ७, १, ३३ आदि में (=बृहदारण्यक उपनिषद् पृ० ८१७ और आगे, कलकत्ता सं०) इसके समान ही विचार उपलब्ध होता है) : 'अथ ये शतम् मनुष्याणाम् आनन्दाः स एक पितृणा जितलोकानाम् आनन्दः।' "मनुष्यों के सौ आनन्द, पितरों के, जिन्होंने लोकों की विजय की है,

तक स्वयं उस अनुच्छेद का प्रश्न है, इस कल्पना का कोई आधार नहीं है कि उसमें उपलब्ध विवरण एक असंबद्ध विचार के अतिरिक्त कुछ और हैं, अथवा यह कि ब्राह्मणों के संकलन के समय, यह धारणा विकसित हो चली थी और दीर्घ अवधिवाले लौकिक युगों की व्यवस्था, चाहे वे मानवीय हों या दिव्य, अत्यधिक परिवृद्ध हो चुकी थी। तथापि ब्राह्मणों के रचयिता नितान्त दीर्घ संख्याओं से परिचित होते जा रहे थे, यह तैत्ति० ब्रा० ३. १२, ९, २ से स्पष्ट है, जिसे ऊपर पृ० ४८ पर मनु १२. ५० की टिप्पणी के अन्तर्गत उद्धृत किया जा चुका है। इस अंश में यह कहा गया है कि प्रजापति १,००,००० वर्षों तक यज्ञ करते रहे।

प्रोफेसर रॉथ का मत है (देखिये उनके लेक्सिकन में 'कृत' के अन्तर्गत उनका कथन) कि मनु (१. ६९), तथा महाभारत में वर्णित पहले की धारणा के अनुसार चार युगों—कृत, त्रेता, द्वापर, तथा कलि—में, प्रातः एवं सायंकाल के साथ, क्रमश' ४,८००, ३,६००; २,४००, तथा १,२०० साधारण मानव वर्ष होते थे, और मनु के भाष्यकार तथा पुराणों के संकलन-कर्ताओं ने ही इनके वर्षों को सर्वप्रथम दिव्य वर्षों में परिवर्तित किया। मनु के जिस श्लोक का प्रोफेसर रॉथ संकेत करते हैं (१. ६९) तथा उसके बाद आनेवाला श्लोक, निःसन्देह, कृतयुग के वर्षों के द्विव्य वर्ष होने के विषय में मौन हैं :

चत्वार्य आहुः सहस्राणि वर्षाणां तु कृत युगम्। तस्य तावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशश्च तथाविधः। ७०. इतरेषु ससन्ध्येषु ससन्धांशेषु च त्रिषु। एकापायेन वर्त्तन्ते सहस्राणि शतानि च।

"कहते हैं कि चार सहस्र वर्षों का कृतयुग होता है। उसमें इतने ही सौ वर्षों के प्रातःकाल और इतनी ही सन्ध्याएँ होती हैं। ७०. अन्य तीन युगों में प्रात' और संध्याओं के साथ सहस्र और सौ की संख्या एक-एक कम होती जाती है।"

श्लोक ७१ इस प्रकार है : यद् एतत् परिसङ्ख्यातम् आदाव् एव चतुर्युगम्। एतद् द्वादश-सहस्रं देवानां युगम् उच्यते। इसका अनुवाद, मेधातिथि की व्याख्या के अनुसार इस प्रकार किया जा सकता है : "ऊपर

एक लोक के बराबर होते हैं।" इसी प्रकार पितरो के एक सौ आनन्द कर्मदेवो (जो देवता कर्म से देवता हुए हैं उनके) एक आनन्द के तुल्य होते हैं। और इनके एक सौ आनन्द देवताओ के एक आनन्द के तुल्य होते हैं, जो देवतारूप मे उत्पन्न हुए हैं, इत्यादि।

गिनाये गये इन चार युगों के समय के बारह सहस्र युगों को देवताओं का एक युग कहते हैं।" मेधातिथि के शब्द, जैसा कुल्लूक ने उद्धृत किया है, ये हैं : चतुर्युगैर् एव द्वादश-सहस्र-सङ्ख्यैर् दिव्यम् युगम्। "एक दिव्य वर्ष चार युगों की बारह सहस्र संख्या का गुणनफल होता है।" तथापि कुल्लूक का कथन है कि उनके पूर्ववर्ती लेखक की व्याख्या भ्रामक है और उसे स्वीकार नहीं करना चाहिए (मेधातिथेर् भ्रमो नादर्त्तव्यः)। उनका अपना मत यह है कि श्लोक ६९ तथा ७१ में वर्णित युगों की व्यवस्था का रूप एक ही है, क्योंकि दोनों को दिव्य वर्षोंवाला बताया गया है। इस विचार के अनुसार हमें श्लोक ७१ का अनुवाद इस प्रकार करना होगा : "चार युगों के समय को, जिसमें बारह सहस्र वर्ष होते हैं और जिसकी गणना ऊपर की जा चुकी है, देवताओं का एक युग कहते हैं।" निश्चय ही यह अनुवाद वरेण्य प्रतीत होता है और इसकी पुष्टि श्लोक ७० के भाव से हो जाती है। तथापि श्लोक ७१ इस मत की एक परवर्ती अवस्था का प्रतिनिधि हो सकता है, क्योंकि यह महाभारत के निम्नलिखित अनुच्छेद में नहीं उपलब्ध होता, जहाँ पहले श्लोक (६९) की आवृत्ति की गई है और श्लोक ७० का विस्तार तीन श्लोकों में किया गया है, यद्यपि अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता :

महाभारत ३.१८८, २२-२३ : आदितो मनुज-व्याघ्र कृत्स्नस्य जगतः क्षये॥ चत्वार्य् आहुः सहस्राणि वर्षाणां तत् कृतं युगम्। तस्य तावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांश्च तथाविधः।

"प्रारम्भ में सम्पूर्ण विश्व का नाश हो जाने पर चार सहस्र वर्षों का समय होता है, ऐसा कहा गया है, यही कृतयुग होता है। उसका उतने ही वर्षों का प्रातःकाल होता है और उसी अवधि की सन्ध्या होती है।" और तब इसी ढंग से अन्य तीन युगों को उत्तरोत्तर एक-एक करके सहस्रों और सैकड़ों के ह्रास के साथ गिनाकर वक्ता (मार्कण्डेय ऋषि) श्लोक में आगे यह कहते हैं : एषा द्वादशसाहस्री युगाख्या परिकीर्तिता। एतत् सहस्रपर्यन्तम् अहो ब्राह्मम् उदाहृतम्। "इस बारह वर्षों के समय को युग नाम दिया गया है। इसके सहस्र-गुने समय को ब्रह्मा का एक दिन कहा जाता है।"

निश्चय ही इस अनुच्छेद में कहीं भी इन वर्षों के दिव्य होने का उल्लेख नहीं किया गया है।

सबसे प्राचीन ज्ञात अंश, जिसमें चार युगों के नाम पाये जाते हैं, ऐतरेय ब्राह्मण ७. १५ में शुनःशेप की कथा के अन्तर्गत आनेवाला यह श्लोक है :

कलिः शयानो भवति सञ्जिहानस् तु द्वापरः। उत्तिष्ठंस् त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन्। "सोते समय मनुष्य कलि होता है, हिलते समय द्वापर, उठते समय त्रेता, और चलते समय कृत[८६]।" किन्तु यह संक्षिप्त उल्लेख

---

[८६] इस मन्त्र का अनुवाद कम-से-कम छः बार हो चुका है: दो बार (इण्ड० स्टू० १ २८६ तथा ४६०,) मे, तथा एक बार स्ट्राइटेर द्वारा लैटिन मे (देखे इण्ड० स्टू० ९ ३१५), तथा तीन बार अग्रेजी मे विल्सन (ज० ए०सो० १८५१, पृ० ९९), मूलर (एश स० लिट्० पृ० ४१२), तथा हॉग (ऐत० ब्रा० २ ४६४) द्वारा। अन्तिम के अतिरिक्त ये सभी लेखक इस पर सहमत हैं कि यह मन्त्र चार युगो का निर्देश करता है, किन्तु डा० हॉग का यह कथन है: "सायण इस महत्त्वपूर्ण अनुच्छेद की कोई व्याख्या नही करते, जिनमे युगो के नाम सर्वप्रथम उल्लिखित हैं। ये चार नाम, जैसा कि अन्य स्रोतो से सुविदित है.. द्यूतक्रीडा के समय प्रयुक्त होनेवाले अक्षो के लिये प्रयुक्त हैं। इस गाथा का यह अर्थ है 'अब विजय की पूर्ण आशा है, क्योकि सबसे दुर्भाग्यपूर्ण अक्षकलि पडा हुआ है, दो और धीरे-धीरे घूम रहे हैं और आधे गिर गये हैं, किन्तु सर्वाधिक सौभाग्यपूर्ण कृत अब भी पूरी गति मे हैं।' अक्षो की जो स्थिति यहाँ दी गयी है वह द्यूतक्रीडा मे विजय के उत्तम अवसर की द्योतक है।" डा० हॉग के अनुवाद और टिप्पणी दोनो की ही आलोचना प्रोफेसर वेबर ने की है (इण्ड० स्टू० ९ ९ ३१९)। आगे के श्लोको मे से, जो मनु ९ ३०१ आदि मे आते हैं, दूसरा ऐतरेय ब्राह्मण मे आनेवाले इस मन्त्र का रूपान्तर है "कृतम् त्रेता-युगं चैव द्वापर कलिर् एव च। राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगम् उच्यते। ३०२ कलिः प्रसुप्तो भवति स जाग्रत् द्वापरम् युगम्। कर्मस्व् अभ्युद्यतस् त्रेता विचरस् तु कृत युगम्।" "३०१. कृत, त्रेता, द्वापर तथा कलि युग सभी राजा के कर्म के वृत्त है, क्योकि राजा को युग कहते हैं। ३०२ सोते समय वह कलि होता है, जाग्रतावस्था मे द्वापर, कर्माभिमुख होने पर त्रेता, और विचरण करते समय कृत होता है।" मनु के इन दो श्लोको मे प्रथम श्लोक प्राय शब्दशः महाभारत १२. ९१, ६ मे पुनरुक्त है, और यही भाव इस ग्रन्थ के इसी अध्याय मे विस्तारपूर्वक उपस्थित किया गया है। कृत, त्रेता, द्वापर, तथा कलि शब्द वाजसनेयि सहिता ३०. १८ तथा तैत्ति० ब्राह्मण ३ ४, १, १६ मे पाये जाते हैं, परन्तु दोनो ही स्थलो पर ये अक्ष को ही सूचित करते हैं, जैसा कि छान्दोग्य उप० ४. १, ४ (भाष्य भी देखे) मे कृत शब्द अक्ष के लिये आया है। युगो के विषय मे जर्मन भाषा के पाठक

ब्राह्मणों के संकलन के काल में इन युगों के लिये स्वीकृत अवधि के विषय में हमें बिल्कुल अन्धकार में छोड़ देता है।

खण्ड ७—विष्णुपुराण के अनुसार वर्ण की सृष्टि के साथ-साथ विभिन्न सृष्टियों का विवरण

मैं विष्णुपुराण के निम्नलिखित जगदुत्पत्ति के वर्णन से आरम्भ करता हूँ, जो इस ग्रन्थ के विल्सन कृत अनुवाद के भाग १ के आमुख, पृ० ९२, से उद्धृत है :

"जिन छः अंशों में यह ग्रन्थ विभक्त है, उनमें प्रथम अंश मुख्यतः आरम्भिक (सर्ग) तथा परवर्ती (प्रतिसर्ग) सृष्टि के विस्तृत विवरणों से परिपूर्ण है। इसमें प्रथम यह स्पष्ट करता है कि किस प्रकार विश्व प्रकृति या नित्य अव्यक्त पदार्थ से उत्पन्न होता है[८७], दूसरा यह बताता है कि किस प्रकार पूर्वकाल में उद्भूत आरम्भिक पदार्थों से वस्तुओं के आकार विकसित होते हैं अथवा अल्पकालीन क्षय के बाद वे किस प्रकार पुनः प्रकट होते हैं।[८८] ये दोनों प्रकार की सृष्टियाँ सामयिक होती हैं, किन्तु प्रथम सृष्टि की समाप्ति ब्रह्मा के जीवन के अन्त पर ही होती है, जब कि न केवल सभी देवताओं और अन्य सभी रूपों का विनाश हो जाता है, अपितु तत्त्व पुनः मौलिक तत्त्व में विलीन हो जाते हैं और उनके अतिरिक्त केवल एक आध्यात्मिक सत्ता शेष रहती है। दूसरी सृष्टि प्रत्येक कल्प या ब्रह्मा के दिन के अन्त में होती है और उसका प्रभाव केवल तुच्छ जीवों एवं नीचे के लोकों पर पड़ता है। विश्व के पदार्थ अविकल रूप में और ऋषि एवं देवता अक्षत बचे रहते हैं।"[८९]

अब मैं वाराह कल्प में होनेवाली सृष्टि का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करता हूँ जो इसके अंश १ अध्याय ४, श्लोक २ आदि में वर्णित है :—

वेबर के इण्डिशे स्टू० १. पृ० ३९, ८७ और आगे, २८२ और आगे, का अवलोकन कर सकते हैं।

[८७] [देखिये अंश १ अध्याय २]

[८८] [अंश १ का चौथा तथा आगे का अध्याय देखें]

[८९] देखें अंश १ अध्याय ७ का अन्त, प्रोफेसर विल्सन के अनुवाद के द्वितीय संस्करण के भाग १ का पृ० ११३ तथा मूल ४ पेजी संस्करण का पृ० ६२१ तथा ६३० देखें। जिस कथन के साथ यह अनुच्छेद समाप्त होता है, उसके सम्बन्ध में इसी ग्रन्थ के भाग १ पृ० ५० तथा भाग ३, पृ० २६९ की तुलना कीजिए।

ब्राह्मणों के संकलन के काल में इन युगों के लिये स्वीकृत अवधि के विषय में हमें बिलकुल अन्धकार में छोड़ देता है।

खण्ड ७—विष्णुपुराण के अनुसार वर्ण की सृष्टि के साथ-साथ विभिन्न सृष्टियों का विवरण

मैं विष्णुपुराण के निम्नलिखित जगदुत्पत्ति के वर्णन से आरम्भ करता हूँ, जो इस ग्रन्थ के विलसन कृत अनुवाद के भाग १ के आमुख, पृ० ९३, से उद्धृत है।

"जिन छः अंशों में यह ग्रन्थ विभक्त है, उनमें प्रथम अंश मुख्यतः आरम्भिक (सर्ग) तथा परवर्ती (प्रतिसर्ग) सृष्टि के विस्तृत विवरणों से परिपूर्ण है। इसमें प्रथम यह स्पष्ट करता है कि किस प्रकार विश्व प्रकृति या नित्य अव्यक्त पदार्थ से उत्पन्न होता है[८७]; दूसरा यह बताता है कि किस प्रकार पूर्वकाल में उद्भूत आरम्भिक पदार्थों से वस्तुओं के आकार विकसित होते हैं अथवा अल्पकालीन क्षय के बाद वे किस प्रकार पुनः प्रकट होते हैं।[८८] ये दोनों प्रकार की सृष्टियाँ सामयिक होती हैं; किन्तु प्रथम सृष्टि की समाप्ति ब्रह्मा के जीवन के अन्त पर ही होती है, जब कि न केवल सभी देवताओं और अन्य सभी रूपों का विनाश हो जाता है, अपितु तत्व पुनः मौलिक तत्व में विलीन हो जाते हैं और उनके अतिरिक्त केवल एक आध्यात्मिक सत्ता शेष रहती है। दूसरी सृष्टि प्रत्येक कल्प या ब्रह्मा के दिन के अन्त में होती है और उसका प्रभाव केवल तुच्छ जीवों एवं नीचे के लोकों पर पड़ता है। विश्व के पदार्थ अविकल रूप में और ऋषि एवं देवता अक्षत बचे रहते हैं।"[८९]

अब मैं वाराह कल्प में होनेवाली सृष्टि का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करता हूँ जो इसके अंश १ अध्याय ४, श्लोक २ आदि में वर्णित है.—

वेवर के इण्डिशे स्टू० १. पृ० ३९, ८७ और आगे, २८२ और आगे, का अवलोकन कर सकते हैं।

[८७] [देखिये अंश १ अध्याय २]

[८८] [अंश १ का चौथा तथा आगे का अध्याय देखें]

[८९] देखें अंश १ अध्याय ७ का अन्त, प्रोफेसर विलसन के अनुवाद के द्वितीय संस्करण के भाग १ का पृ० ११३ तथा मूल ४ पेजी संस्करण का पृ० ६२१ तथा ६३० देखें। जिस कथन के साथ यह अनुच्छेद समाप्त होता है, उसके सम्बन्ध में इसी ग्रन्थ के भाग १ पृ० ५० तथा भाग २, पृ० २६९ की तुलना कीजिए।

. अतीत-कल्पावसाने निशा-सुप्तोत्थितः प्रभुः। सत्त्वोद्रिक्तस् ततो ब्रह्मा शून्यं लोकम् अवैक्षत। ३. नारायणः परोऽचिन्त्यः परेषाम् अपि स प्रभुः ब्रह्मस्वरूपी भगवान् अनादिः सर्वसम्भवः। ' ६. तोयान्तः स महीं ज्ञात्वा जगत्य् एकार्णवे प्रभुः। अनुमानाद् तद्-उद्धारं कर्त्तु-कामः प्रजापतिः ७. अकरोत् स तनूम् अन्यां कल्पादिषु यथा पुरा। मत्स्यकूर्मादिकां तद्वत् वाराहं वपुर् आस्थितः। ८. वेद-यज्ञमयं रूपम् अशेष-जगतः स्थितौ। स्थितः स्थिरात्मा सर्वात्मा परमात्मा प्रजापतिः। ९. जनलोकगतिः सिद्धैर् सनकाद्यैर् अभिष्टुतः। प्रविवेश तदा तोयम् आत्माधारो धरा-धरः।...४५. एवं शंस्तूयमानस्तु परमात्मा महीधरः। उज्जहार महीं क्षिप्रं न्यस्तवांश्च महाम्भसि। ४६. तस्योपरि जलौघस्य महती नौर् इव स्थिता। विततत्वात् तु देहस्य न मही याति सम्प्लवम्। ततः क्षितिं समां कृत्वा पृथिव्यां सोऽचिनोद् गिरीन्। यथा-विभागम् भगवान् अनादिः पुरुषोत्तमः। ४७. प्राक्-सर्ग-दग्धान् अखिलान् पर्वतान् पृथिवी-तले। अमोघेन प्रभावेन ससर्जामोघ-वाञ्छितः। ४८. भुवि भागं ततः कृत्वा सप्त-द्वीपान् यथातथा। भूर्-आद्यांश् चतुरो लोकान् पूर्ववत् समकल्पयत्। ४९. ब्रह्म-रूपधरो देवस् ततोऽसौ रजसाऽऽवृतः। चकार सृष्टिम् भगवांश् चतुर्-वक्त्र-धरो हरिः। ५०. निमित्तमात्रम् एवासौ सर्ग-कर्मणाम्। प्रधान-कारणीभूता यतो वै सृज्य-शक्तयः। ५१. निमित्तमात्रम् मुक्त्वैकम् नान्यत् किञ्चिद् अपेक्ष्यते। नीयते तपतां श्रेष्ठ स्वशक्त्या वस्तु वस्तुताम्।

"२ बीते हुए (अथवा पाद्म) कल्प के अन्त में अपनी रात्रिकालीन निद्रा से उठकर, भगवान् ब्रह्मा ने सत्त्वगुण के प्राधान्य से युक्त होने पर इस ससार को शून्य देखा। ३. वह परमेश्वर नारायण (थे) जो दूसरे भूतों के लिये अचिन्त्य हैं, अनादि देवता है, सभी वस्तुओं के उत्पत्तिस्थान और ब्रह्म-स्वरूपी हैं।" [नारायण शब्द की व्युत्पत्ति (देखिए ऊपर पृ० ४१) के विषय में मनु १. १० का श्लोक इस स्थल पर उद्धृत किया गया है] इस प्रजापति ने संसार के एक समुद्र हो जाने पर—अनुमान करने की इच्छा से (७) दूसरा शरीर धारण किया। पूर्व के समान, कल्पों के प्रारम्भ में उन्होंने मत्स्य, कूर्म आदि का शरीर[१०] धारण किया है। (अतएव अब) उन्होंने वराह के शरीर में प्रवेश

---

[१०] ब्राह्मणो मे (जैसा कि मैंने पहले प्रदर्शित किया है) कल्पो जैसे युगो का कोई उल्लेख नही किया गया है। किन्तु यहाँ उन प्राचीन रचनाओ मे, जो सृष्टि रचना की विधि का विविध रूप से वर्णन करती हैं, बिखरी हुई विभिन्न

कर—(८) जो वेदों एवं यज्ञ से निर्मित वह स्वरूप था, जो सम्पूर्ण प्राणियों का स्वामी, सम्पूर्ण संसार के साथ स्थिर रहनेवाला, सर्वात्मा, परमात्मा, पृथ्वी का आधार, (९) शौनकादि मुनियों द्वारा वन्द्य है, और जो (निचले लोकों के नाश के समय) जनलोक में आया था—जल में प्रवेश किया।" [तब एक स्तुति में पृथ्वी देवी उनकी विष्णुरूप तथा परमब्रह्म के रूप में आराधना करती है : श्लोक १०-२४ । वराह तब, अपने दाँतों से पृथ्वी को उठाए नीचे से ऊपर आता है, और पुनः सनन्दन एवं अन्य ऋषि उसकी स्तुति करते हैं, जिसके प्रसङ्ग में स्वयं उसका यज्ञ से, तथा उसके विभिन्न अवयवों का यज्ञ के उपकरणों एवं उपादानों से तादात्म्य दिखाया गया है : श्लोक २५-४४] । "४५. इस प्रकार स्तुत पृथ्वी के उद्धारक परमात्मा ने उसे शीघ्र ऊपर उठाया और महान् जलराशि के ऊपर स्थापित कर दिया। इस जलराशि पर एक विशाल जलपोत के समान स्थित पृथ्वी अपने विस्तार के कारण डूब न सकी। तब पृथ्वी को समतल बनाकर उस अनादि भगवान् पुरुषोत्तम ने पर्वतों को उनके विभागों के अनुसार एकत्रित किया। ४७. उस अमोघ इच्छावाले भगवान् ने अपनी अमोघ शक्ति से पृथ्वी के तल पर उन सभी पर्वतों सृष्टि की जो पहली सृष्टि में जल गये थे। ४८. तब ठीक पहले के समान पृथ्वी का सात द्वीपों में विभाजन करके उन्होंने भूर्लोक आदि चार लोकों की पूर्ववत् सृष्टि की। ४९. तदुपरान्त रजस् गुण से व्याप्त होकर उस देव हरि ने चार मुख वाले ब्रह्मा का रूप धारण कर, सृष्टि की रचना की। ५०. किन्तु वे रची जाने वाली वस्तुओं एवं सृष्टि की क्रिया के निमित्त मात्र हैं क्योंकि रची जानेवाली वस्तुओं के गुण उनके (उपादान) कारणभूत प्रधान से प्रसूत होते हैं। ५१. केवल एक निमित्त कारण के अतिरिक्त और किसी की आवश्यकता नहीं। प्रत्येक पदार्थ (वस्तु) पदार्थता (वस्तुता) की दशा में स्वयं अपनी शक्ति के द्वारा ही लाया जाता है।"[११]

कथाओं का सम्भवत उन स्वच्छन्द एवं कलाविहीन चिन्तनों के साथ सामञ्जस्य बनाने के ध्येय से क्रमबद्ध करने का प्रयास किया गया है जो परवर्ती युग में आलोचनात्मक बुद्धि के प्रतिकूल थे।

[११] देखिए इन श्लोकों का प्रोफेसर विलसन का अनुवाद तथा दूसरे संस्करण के सम्पादक डा० हॉल द्वारा प्रस्तावित नवीन रूपान्तर, पृ० ६६ टिप्पणी। मैं यह नहीं समझता कि 'स्व-शक्त्या' पद का उचित अनुवाद, जैसा डा० हॉल ने किया है, 'उनकी शक्ति द्वारा' हो सकता है। श्लोक ५० में हस्तलिखित प्रति का पाठ 'प्रधान-करणीभूता' मुझे सन्दिग्ध प्रतीत होता है, क्योंकि इसका

विष्णुपुराण की कथा पर आगे विचार करने के पूर्व मैं तैत्तिरीय संहिता और ब्राह्मण, तथा शतपथ ब्राह्मण से कुछ अनुच्छेदों का उद्धरण देना या निर्देश करना चाहता हूँ, जो वराह, मत्स्य, कूर्म, एवं वामन अवतारों के आख्यानों के मौलिक बीज प्रस्तुत करते प्रतीत होते है।

इन अंशों में प्रथम तैत्तिरीय संहिता ७. १, ५, १ आदि से उद्धृत है: आपो वै इदम् अग्रे सलिलम् आसीत्। तस्मिन् प्रजापतिर् वायुर् भूत्वा अचरत्। स इमाम् अपश्यत्। तं वराहो भूत्वा आहरत्। ताम् विश्वकर्मा भूत्वा व्यमार्ट्। सा अप्रथत। सा पृथिव्य् अभवत्। तत् पृथिव्यै पृथिवित्वम्। तस्याम् अश्राम्यत् प्रजापतिः। स देवान् असृजत वसून् रुद्रान् आदित्यान्। ते देवाः प्रजापतिम् अब्रुवन् "प्रजायामहै" इति। सोऽब्रवीद् "यथा अहम् युष्मांस् तपसा असृक्षि एवं तपसि प्रजननम् इच्छध्वम्" इति। तेभ्योऽग्निम् आयतनम् प्रायच्छद् "एतेन आयतनेन श्राम्यत" इति। तेऽग्निना आयतनेन अश्राम्यन्। ते संवत्सरे एकां गाम् असृजन्त।

"यह विश्व पहले जल, किंवा सलिल था। इस पर प्रजापति वायु बनकर विचरण करता था।[९२] उसने यह (पृथ्वी) देखी। वराह बनकर इसे ऊपर उठाया। विश्वकर्मन् होकर उसने (उस पर से) आर्द्रता दूर की। वह विस्तृत हुई। वह पृथिवी हो गई। इस कारण पृथिवी का पृथिवी अर्थात् फैली हुई नाम है। उसमें प्रजापति ने कठोर श्रम किया। उसने देवताओं, वसुओं, रुद्रों और आदित्यों की सृष्टि की। उन देवताओं ने प्रजापति से कहा, 'हमारी प्रजायें उत्पन्न हों।' उसने उत्तर दिया 'जिस प्रकार मैंने तुम्हें कठोर तप से उत्पन्न किया है, उसी प्रकार तुम भी कठोर तप द्वारा प्रजासृष्टि का यत्न करो।' उसने उन्हें आश्रयस्थान के रूप में यह कहकर अग्नि प्रदान की कि 'इस आश्रय के साथ साथ तुम लोग तप करो।' उन्होंने (तदनुसार) अग्नि को आयतन बनाकर तप किया। एक वर्ष में उन्होंने एक गौ उत्पन्न की, इत्यादि"।[९३]

नितान्त स्वाभाविक अर्थ होगा "प्रधान कारण हुए हैं"। मेरे अनुमान से 'प्रधान-कारणो भूतः' पाठ होगा जिससे अपेक्षित अर्थ निकलता है।

[९२] यह सम्भव है कि नारायण शब्द से सयुक्त कल्पना (ऊपर मनु १, १० देखे) "जिसकी गति के क्षेत्र जल हैं" का सम्बन्ध इस अनुच्छेद से जोडा जा सकता है। देखिए जेनेसिस १ २ : 'ईश्वर की आत्मा जलो के ऊपर विचरण करती थी

[९३] तैत्तिरीय सहिता मे इस अंश का अवलोकन करने के उपरान्त मुझे यह ज्ञात हुआ कि इसका अनुवाद पहले श्री कोलब्रुक ने किया है (एसेज़ १. ७५

इति वराहः उज्जघान । सोऽस्याः पतिः प्रजापतिस् तेन एव एनम् एतन्-मिथुनेन प्रियेण धाम्ना समर्धयति कृत्स्नं करोति ।

"पहले यह पृथ्वी एक प्रादेश के बराबर थी । एमूष नाम के वराह ने इसे ऊपर उठाया । अतएव इसके स्वामी प्रजापति इस जोड़े (के उपहार) को, जो उसकी प्रिय वस्तु होता है, प्रदान कर उसे समृद्धिशाली बनाता और उसे सम्पूर्ण रूप देता है ।"

विष्णुपुराण के इसके पहले आनेवाले अनुच्छेद में उल्लिखित दूसरे अवतारों की पूर्वच्छाया शतपथ-ब्राह्मण ७. ५, १, ५ के निम्न पाठ में मिलती है:—

स यत् कूर्मो नाम । एतद् वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजाः असृजत । यद् असृजत अकरोत् तत् । यद् अकरोत् तस्मात् कूर्मः । कश्यपो वै कूर्मः । तस्माद् आहुः "सर्वाः प्रजाः काश्यपः" इति । स यः स कूर्मोऽसौ स आदित्यः ।

"इसका कूर्म नाम इस कारण है : प्रजापति ने यह रूप धारण कर प्रजाओं की सृष्टि की । उसने जो कुछ सृष्टि की उसे बनाया (अकरोत्), यतः उसने बनाया, अतः उसे कूर्म कहते हैं । कश्यप शब्द का अर्थ है कच्छप, अतएव कहा जाता है कि 'मनुष्य कश्यप के वंशज हैं ।' यह कच्छप ही आदित्य है ।"[१८]

मत्स्य अवतार की कथा का प्राचीनतम रूप, जो शतपथ ब्राह्मण १. ८, १, १ आदि में मिलता है, अगले अध्याय में उद्धृत किया जायगा ।

उन अनुच्छेदों के लिए जो वामन अवतार के अङ्कुर प्रस्तुत करते हैं, पाठक इस ग्रंथ का चौथा भाग देख सकते हैं ।

इस बात पर ध्यान दिया गया होगा कि विष्णुपुराण से उद्धृत ऊपर के अंश में नारायण शब्द विष्णु के लिये आया है और यह अन्तिम देवता है (यद्यपि ब्रह्मा के रूप में) जिसने वराह का रूप धारण किया । पहले मनु से उद्धृत श्लोकों (१. ९-१०) में नारायण विष्णु का विशेषण नहीं अपितु ब्रह्मा का विशेषण है; और रामायण ११. ११०, ३ केअधोलिखित उद्धरण में ब्रह्मा के वराह रूप धारण करने का वर्णन किया गया है :

सर्वं सलिलम् एवासीत् पृथिवी तत्र निर्मिता । ततः समभवद् ब्रह्मा

---

[१८] ऊपर पृ० ३७ पर तैत्तिरीय आरण्यक से उद्धृत अनुच्छेद मे कूर्म के उल्लेख के साथ इसकी तुलना कीजिए ।

स्वयम्भूर् दैवतैः सह।[17] स वराहस् ततो भूत्वा प्रोज्जहार वसुन्धराम् इत्यादि।

"सभी केवल जल था, और इसमें पृथ्वी की रचना हुई। तब ब्रह्मा स्वयम्भू देवताओं सहित उत्पन्न हुए। तब वराह बनकर उन्होंने पृथ्वी को उठाया" आदि।

अब मैं पुनः विष्णुपुराण के वर्णन पर आता हूँ:—

मैत्रेय उवाच। १. यथा ससर्ज्ज देवोऽसौ देवर्षि-पितृ-दानवान्। मनुष्य तिर्यग्-वृक्षादीन् भू-व्योम-सलिलौकसः। २. यद्-गुणं यत्-स्वभावं च यद्-रूपं च जगद् द्विज। सर्गादौ सृष्टवान् ब्रह्मा तद् ममाचक्ष्व विस्तरात्। पराशर उवाच। ३. मैत्रेय कथयाम्य् एष शृणुष्व सुसमाहितः। यथा ससर्ज्ज देवोऽसौ देवादीन् अखिलान् विभुः। सृष्टिं चिन्तयतस् तस्य कल्पादिषु यथा पुरा। अबुद्धि-पूर्वकः सर्गः प्रादुर्भूतस् तमोमयः। ४. तमो मोहो महामोहस् तामिस्रो ह्य् अन्ध-संज्ञितः। अविद्या पञ्च-पर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः। ५. पञ्चधाऽवस्थितः सर्गो ध्यायतोऽप्रतिबोधवान्। बहिर्-अन्तो-ऽप्रकाशश् च संवृत्तात्मा नगात्मकः। ६. मनुष्या नगा यतश् चोक्ता मुख्य-सर्गस् ततस् त्व् अयम् ७. त दृष्ट्वाऽसाधकं सर्गम् अमन्यद् अपरम् पुनः। तस्याभिध्यायतः सर्गस् तिर्यक्-स्रोता[18]ऽभ्यवर्त्तत। ८. यस्मात् तिर्यक् प्रवृत्तः स तिर्यक्-स्रोतस् ततः स्मृतः। ९. पश्वादयस् ते विख्यातास् तमः-प्रयाः ह्य् अवेदिनः। उत्पथ-ग्राहिणश् चैव तेऽज्ञाने ज्ञान-मानिनः। १०. अहंकृता अहम्माना अष्टाविंशद्-वधान्विताः। अन्तः-प्रकाशास् ते सर्वे आवृताश् च परस्परम्। ११. तम् अप्य् असाधकम् मत्वा ध्यायतोऽन्यस् ततोऽभवत्। ऊर्ध्व-स्रोतस् तृतीयस् तु सात्त्विकोर्द्ध्वम् अवर्त्तत।[19] १२. ते सुख-प्रीती-बहुला

[17] श्लेगल के संस्करण में, तथा हाल ही में बम्बई में मुद्रित संस्करण में यही पाठ है, जिनमें से दोनों ही निःसन्देह, रामायण का प्राचीनतम पाठ प्रस्तुत करते हैं। गौड पाठ ने भी, जो दूसरे से बहुत भेद रखता है, और जिसने इसे अधिक अर्वाचीन रुचि एवं विचारों के अनुकूल परिमार्जित कर दिया है, यहाँ ग्रन्थ में उद्धृत पंक्तियों में दूसरी पंक्ति में एक भिन्न पाठ जोड़ दिया है और यह ब्रह्मा का विष्णु के साथ इस प्रकार तादात्म्य प्रदर्शित करता है: तत समभवद् ब्रह्मा स्वयम्भूर् विष्णुर् अव्ययः। "तब ब्रह्मा स्वयम्भू तथा अव्यय विष्णुरूप में प्रकट हुए।

[18] 'इति सन्धिर् आर्षः',—भाष्य

[19] वायु पुराण के समानान्तर अंश का पाठ यह है: 'तस्याभिध्यायतो नित्यं

बहिर् अन्तश् च नावृताः।[100] प्रकाशा बहिर् अन्तश् च ऊर्ध्व-स्रोतो-भवाः स्मृताः। १३. तुष्ट्य्-आत्मकस् तृतीयस् तु देव-सर्गस् तु यः स्मृतः। तस्मिन् सर्गेऽभवत् प्रीतिर् निष्पन्ने ब्रह्मणस् तदा। १४. ततोऽन्यं स तदा दध्यौ साधकं सर्गम् उत्तमम्। असाधकांस् तु तान् ज्ञात्वा मुख्य-सर्गादि-सम्भवान्। १५. तथाऽभिध्यायतस् तस्य सत्याभिध्यायिनस् ततः। प्रादुर्भूतस् तदाऽव्यक्ताद् अर्वाक्-स्रोतस् तु साधकः। १६. यस्माद् अर्वाग् व्यवर्त्तन्त ततोऽर्वाक्-स्रोतसस् तु ते। ते च प्रकाश-बहुला तमोद्रिक्ता[101] रजोऽधिकाः। तस्मात् ते दुःख-बहुला भूयो भूयश् च कारिणः। प्रकाशा बहिर् अन्तश् च मनुष्या साधकास् तु ते। ..... २३. इत्य् एते तु समाख्याता नव सर्गाः प्रजापतेः। प्राकृता वैकृताश् चैव जगतो मूल-हेतव। सृजतो जगदीशस्य किम् अन्यच् छ्रोतुम् इच्छसि। मैत्रेय उवाच। २४. संक्षेपात् कथितः सर्गो देवादीनां त्वया मुने। विस्तराच् छ्रोतुम् इच्छामि त्वत्तो मुनिवरोत्तम। पराशर उवाच। कर्मभिर् भाविताः पूर्वैः कुशलाकुशलैस् तु ताः। ख्यात्या तया ह्य् अनिर्मुक्ताः संहारे ह्य् उपसंहृताः। २५. स्थावरान्ताः सुराद्याश्च प्रजा ब्रह्मंश् चतुर्विधाः। ब्रह्मणः कुर्वतः सृष्टिं जज्ञिरे मानसीस् तु ताः। २६ ततो देवासुरपितॄन् मानुषांश्च चतुष्टयम्। सिसृक्षुर् अम्भांस्य् एतानि स्वम् आत्मानम् अयूयुजत्। २७. युक्तात्मनस् तमोमात्रा उद्रिक्ताऽभूत् प्रजापतेः। सिसृक्षोर् जघनात् पूर्वम् असुराः जज्ञिरे ततः। २८. उत्ससर्ज ततस् तां तु तमोमात्रात्मिकां तनुम्। सा तु त्यक्ता तनुस् तेन मैत्रेयाभूद् विभावरी। २९. सिसृक्षुर् अन्य-देह-स्थः प्रीतिम् आप ततः सुराः। सत्त्वोद्रिक्ताः समुद्भूताः मुखतो ब्रह्मणो द्विज। ३० त्यक्ता साऽपि तनुस् तेन सत्त्वप्रायम् अभूद् दिनम्। ततो हि बलिनो रात्राव् असुरा देवता दिवा। ३१. सत्त्वमात्रात्मिकाम् एव ततोऽन्यां जगृहे तनुम्। पितृवद् मन्यमानस्य पितरस् तस्य जज्ञिरे। ३२. उत्ससर्ज पितॄन् सृष्ट्वा ततस् ताम् अपि स प्रभुः। सा चोत्सृष्टाऽभवत् सन्ध्या दिन-नक्तान्तर-स्थितिः। ३३. रजो-मात्रात्मिकाम् अन्यां जगृहे स तनुम् ततः। रजो-

---

सात्त्विक समवर्त्तत। ऊर्ध्वस्रोतस् तृतीयस् तु स चैवोर्ध्व व्यवस्थित।" विष्णु पुराण मे 'सात्त्विकोर्ध्वम्' सन्धि आर्ष होनी चाहिए।

[100] 'नावृता' के स्थान पर वायु पुराण मे 'सवृता' पाठ है।

[101] 'इति सन्धिरार्ष.'-भाष्य। किन्तु 'तम' रूप भी है। वायु पुराण मे 'तम -सत्का.' आया है।

मात्रोत्कटा जाता मनुष्या द्विज-सत्तम। ताम् अप्य् आशु स तत्याज तनुम् आद्य· प्रजापतिः। ज्योत्स्ना समभवत् साऽपि प्राक्-सन्ध्या याऽभिधीयते। ३४. ज्योत्स्नोद्गमे तु बलिनो मनुष्याः पितरस् तथा। मैत्रेय सन्ध्या-समये तस्माद् एते भवन्ति वै। ३५. ज्योत्स्ना-रात्र्य्-अहनी सन्ध्या चत्वार्य् एतानि वै विभोः। ब्रह्मणस् तु शरीराणि त्रिगुणा-पाश्रयाणि च। ३६. रजो-मात्रात्मिकाम् एव ततोऽन्यां जगृहे तनुम्। ततः क्षुद् ब्रह्मणो जाता जज्ञे कोपस् तया ततः। ३७. क्षुत्-क्षामान् अन्धकारेऽथ सोऽसृजद् भगवांस् ततः। विरूपाः श्मश्रुला जातास् तेऽभ्यधावस् ततः प्रभुम्। ३८. "मैवम् भो रक्ष्यताम् एष" यैर् उक्तं राक्षसास् तु ते। ऊचुः "खादाम" इत्य् अन्ये ये तु यक्षास् तु यक्षणात्।

"मैत्रेय ने कहा : १. मुझसे विस्तारपूर्वक यह बताइए कि सृष्टि के आरम्भ में उस भगवान् ब्रह्मा ने देवताओं, ऋषियों, पितरों, दानवों, मनुष्यों, पशुओं, वृक्षों आदि की क्रमशः पृथ्वी, अकाश तथा जल में निवास करनेवालों के रूप मे किस प्रकार रचना की; २. किन गुणों से, किस स्वभाव से, और किस आकार की उसने ससार की रचना की। पराशर ने उत्तर दिया : ३. 'हे मैत्रेय, मैं तुमसे यह बताता हूँ कि किस प्रकार उस देवता ने मनुष्य तथा अन्य प्राणियों की रचना की, जिसे ध्यानपूर्वक सुनो। जब वे सृष्टि पर विचार कर रहे थे, जैसा कि (पूर्व) कल्पों के समय उन्होंने किया था, तब तमस् गुण से युक्त चैतन्यरहित सृष्टि·प्रकट हुई। ४. तम, मोह, महामोह, तामिस्र तथा अन्ध-नामक पाँच प्रकार की अविद्याएँ उस महात्मा से प्रकट हुई। ५. जब वह ध्यान कर रहे थे तो पाँच अवस्थाओंवाली बुद्धिरहित सृष्टि[१०२] उत्पन्न हुई, जो भीतर और बाहर से संवेदनाहीन[१०३], संवृत्तात्मक तथा स्थिर थी।

---

[१०२] वायु पुराण मे इस स्थल पर यह अतिरिक्त पंक्ति जुडी मिलती है : 'सर्वतस् तमसा चैव दीप कुम्भ-वद् आवृत.' "चतुर्दिक अन्धकार से आवृत्त, जैसे दीपक घट से आवृत्त होता है।"

[१०३] 'बहिर्-अन्तोऽप्रकाशश्च' पाठ यथार्थ प्रतीत होता है, जैसा कि भाष्य-कार ने अन्तिम शब्द 'प्रकृष्ट ज्ञान-शून्य.' की व्याख्या "ज्ञानरहित" की है। किन्तु यदि यह शुद्ध पाठ हो तो अव्याकरणीय होगा, क्योकि 'अन्त' तथा 'अप्रकाश' की सन्धि से नियमतः 'अन्तर्-अप्रकाश होगा, न कि 'अन्तोऽप्रकाश'। किन्तु पुराणो मे ऐसे अनेक रूप है जो अनियमित है ('आर्ष, अर्थात्, ऋषियो द्वारा प्रयुक्त, वैदिक, या जैसा भाष्यकार ने कहा है, अपप्रयोग)। वायु पुराण की टेलर हस्तप्रति मे समानान्तर अश मे 'बहिर्-अन्त.-प्रकाशश्च' पाठ है।

६. और यतः गतिहीन भूत मुख्य सृष्टि हैं अतः इसे मुख्य सर्ग कहते हैं।[१०४] इस सृष्टि को अकर्मण्य देखकर उन्होंने पुनः दूसरी सृष्टि का ध्यान किया। जब वे इसकी इच्छा कर रहे थे तब पशुओं (तिर्यक्स्रोतस्) की सृष्टि हुई। ८. यतः (अपनी स्वाभाविक क्रिया में) यह तिर्यक् कर्म करती है, अतः इस सृष्टि को तिर्यक् स्रोतस् कहते है। ९. (इसके अन्तर्गत आने वाले प्राणी) पशु, आदि नाम से ख्यात हैं, जो तमोगुण प्रधान, अज्ञानी, अनियमित मार्गों के अनुयायी[१०५] और अज्ञान की अवस्था मे ज्ञान का अहङ्कार रखनेवाले, १०. अभिमानपूर्ण, आत्मश्लाघा करनेवाले, अट्ठाइस प्रकार के दोषों से युक्त, अन्तःप्रवृत्तिवाले तथा परस्पर आवृत्त होते हैं। ११. जब ब्रह्मा इस सृष्टि को भी असाधक समझकर पुन. ध्यान कर रहे थे तो तीसरी सृष्टि ऊर्ध्वस्रोतस् उत्पन्न हुई, जो सात्त्विक थी। १२. इस सृष्टि के प्राणी सुख और सन्तोष से युक्त, बाहर और भीतर दोनों ही ओर से अनावृत, तथा बाह्य एवं आन्तरिक संवेदनाओं से युक्त थे, इन्हें ऊर्ध्वस्रोतस् सृष्टि की सन्तान कहा जाता है। १३. तीसरी सृष्टि, जो देवताओं की थी, आनन्दपूर्ण थी। जब यह पूर्ण हुई तथा ब्रह्मा प्रसन्न हुए; १४. तब उन्होंने दूसरी सृष्टि का ध्यान किया, जो साधक और श्रेष्ठ हो क्योंकि उन्होंने मुख्य एवं अन्य सृष्टियों से उत्पन्न भूतों को असाधक माना। १५. जब अमोघ इच्छा वाले वे इस प्रकार इच्छा कर रहे थे, तब अर्वाक्स्रोतस् नाम की साधक सृष्टि प्रकट हुई[१०६]। १६. उन्हे (इस सृष्टि के अन्तर्गत आनेवाले प्राणियों को) अर्वाक्स्रोतस् कहते हैं, क्योंकि (अपनी स्वाभाविक क्रिया में) उन्होंने नीचे की ओर क्रियायें की। उनमें प्रकाश का प्राधान्य होता है, वे तमोगुण पूर्ण होते हैं और उनमें रजोगुण का आधिक्य होता है। अतएव वे अधिक कष्ट सहन करते है और बाह्य एवं आन्तरिक संवेदनाओं के साथ निरन्तर सक्रिय रहते है। ये प्राणी मनुष्य थे और ये साधक हुए[१०७]।"

---

[१०४] प्रोफेसर विलसन के अनुवाद, पृ० ७० पर डा० हाल की टिप्पणी, तथा तैत्ति० स० ७ १, १, ४ का ऊपर उद्धृत अश देखिए, जिसमे मुख्य शब्द का प्रयोग करके व्याख्या की गयी है।

[१०५] 'भक्ष्यादि-विवेकः-हीना', 'भोजन आदि मे कोई भेद न रखते हुए'— भाष्य०।

[१०६] तु० की०, महाभारत १४ ३७, १५।

[१०७] वायु पुराण यहाँ निम्न श्लोक और जोडता है: 'लक्षणैस् तारकद्यैश्च अष्टधा च व्यवस्थिता। सिद्धात्मानो मनुष्यास् ते गन्धर्व-सह-धर्मिणः। इत्य् एष तैजस. सर्गो ह्य् अर्वाक्स्रोत प्रकीर्त्तित।' "धारक (?) लक्षणो से युक्त तथा

इसके बाद आनेवाले श्लोकों १७–२२ में विभिन्न प्राणियों के नामों का, जो इस खण्ड के प्रथम भाग में और विष्णुपुराण के प्रथम अंश के दूसरे अध्याय में वर्णित हैं, सक्षेप में सिंहावलोकन किया गया है तथा दो अन्य नाम, अनुग्रह और कौमार भी उल्लिखित है किन्तु इनकी व्याख्या नहीं की गयी है।[१०८]

वक्ता पराशर तब आगे कहते है : "२२. इस प्रकार प्रजापति की प्राकृत तथा वैकृत दोनों प्रकार की, एवं जगत् की मूल हेतुभूत नौ सृष्टियों का वर्णन किया गया। विश्व की सृष्टि करनेवाले भगवान् के विषय में और क्या सुनना चाहते हो ? मैत्रेय ने उत्तर दिया : २४. हे श्रेष्ठ मुनि, आपने देवताओं तथा अन्य प्राणियों की सृष्टि का संक्षेप में वर्णन किया। मैं आपसे इसे ही विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ। पराशर पुन. कहते है : 'पूर्व जन्म के पुण्य या अपुण्य कर्मो के फलस्वरुप (नवीन) जीवन धारण कर, तथा उस लक्ष्य से अमुक्त होकर जब उन्होंने (पूर्वकाल के) संसार के नाश के समय लय प्राप्त कर लिया था, (२५) तब स्थावर प्राणियों से प्रारम्भ कर देवताओं तक चार प्रकार के प्राणी सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा से उत्पन्न हुए, और हे ब्राह्मण ! ये उनके मन से उत्पन्न हुए। तब इन धाराओं (अम्भांसि)[१०९], देवताओं, असुरों, पितरों, तथा मनुष्यों के चार वर्गों को उत्पन्न करने की इच्छा से उन्होंने ध्यान को आत्मकेन्द्रित किया। २७. इस प्रकार एकचित्त होने पर प्रजापति ने एक शरीर प्राप्त किया जो तमोगुण से निर्मित था, और जब उन्होंने सृष्टि करने की इच्छा की तो सर्वप्रथम उनके जघन से असुर उत्पन्न हुए। २८. तब उन्होंने पूर्णतः तमोगुण से निर्मित उस शरीर का परित्याग कर दिया जो उनसे परित्यक्त होकर रात्रि बन गया। २९. दूसरा शरीर धारण करने पर सृष्टि करने की इच्छा करते हुए, ब्रह्मा ने आनन्द का अनुभव किया; और तब सत्त्व गुण से युक्त देवता उनके मुख से उत्पन्न हुए। ३०. वह शरीर भी, उनसे

आठ प्रकार से व्यवस्थित। ये मनुष्य अपने तत्व मे पूर्ण और स्वभाव मे गन्धर्वों के तुल्य थे। यह तेजगुण प्रधान तथा अर्वाक्स्रोत नाम से ख्यात सृष्टि थी।"

[१०८] देखे विलसन के वि० पु० का डा० हाल का सस्करण, पृ० ३२ आदि, तथा पृ० ७४ आदि।

[१०९] यह शब्द तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ३, ८, २ के एक अनुच्छेद से, लिया गया है, जो ऊपर पृ० २७ पर उद्धृत है। शेप वर्णन मे अधिकाश विवरण उसी ब्राह्मण २ २, ९, ५ आदि के दूसरे अनुच्छेद से लिये गये है, जो ऊपर पृ० ३३ पर उद्धृत है।

परित्यक्त होकर, दिन हुआ जो प्रायः पूर्णतः सत्त्वमय होता है। अतएव असुर रात्रि में शक्तिशाली होते हैं[110] और देवता दिन में। ३१. तब उन्होंने विशुद्ध सत्त्वगुण से निर्मित दूसरा शरीर धारण किया और उससे पितरों की उत्पत्ति हुई; तब वह स्वयं को पितृवत् समझ रहे थे। [111] पितरों की रचना करने के उपरान्त भगवान् ने उस शरीर को भी त्याग दिया जो इस प्रकार परित्यक्त होकर, दिन और रात्रि के सन्धिकाल में स्थित विभावरी हुआ। ३३. उसके अनन्तर उन्होंने एक दूसरा शरीर धारण किया जो पूर्णतः रजोगुण से निर्मित था; इससे मनुष्य उत्पन्न हुए जिनमें रजोगुण अधिक होता है। आदि प्रजापति ने इस शरीर का भी शीघ्र ही त्याग कर दिया जो क्षीण ज्योति (ज्योत्स्ना) बन गया; इसे प्राक्सन्ध्या कहते हैं। अतएव इस ज्योत्स्ना के उदित होने पर मनुष्य शक्तिशाली होते हैं, जब कि पितर सन्ध्याकालीन गोधूलि के समय बल प्राप्त करते है। ३५. प्रातः की गोधूलि, रात्रि, दिन और सायंकाल की गोधूलि ये ब्रह्मा के चार शरीर और तीनों गुणों के आश्रयस्थान हैं। तदुपरान्त ब्रह्मा ने दूसरा शरीर धारण किया जो पूर्णतः रजोगुण से निर्मित था, इससे क्षुधा उत्पन्न हुई और इससे क्रोध उत्पन्न हुआ। ३७. तब परमात्मा ने अन्धकार में क्षुधा से क्षीण प्राणियों की रचना की, जो विकृत रूपवाले, लम्बी दाढ़ी वाले, तथा भगवान् के विपरीत जानेवाले थे। ३८. उनमें जिन प्राणियों ने यह कहा कि 'उसकी रक्षा मत करो' (रक्ष्यताम्) वे राक्षस कहलाये, जब कि वे जिन्होंने यह कहा कि 'इसका भक्षण करो' वे भक्षण करने से (यक्षणात्)[112] यक्ष कहलाये।

मेरे उद्देश्य के लिए यह आवश्यक नहीं है कि मैं इस खण्ड के निष्कर्ष को सविस्तार उद्धृत करूँ। इतना कहना पर्याप्त होगा कि श्लोक ३९ से ५१ ब्रह्मा के केशों से सर्पों, भूतों और गन्धर्वों की उत्पत्ति का; स्रष्टा के प्राण (वयस्) से पक्षियों (वयांसि) की, उनके पक्ष से भेड़ की, मुख से अजों की, पेट

[110] रामायण, सुन्दरकाण्ड ८२ १३ आदि (गोरेसिओ स०) मे हमे यह श्लोक मिलता है 'रक्षसा रजनी-काल. सयुगेपु प्रशस्यते। १४ तस्माद् राजन् निशा-युद्धे जयोऽस्माक न सशय।' "राक्षसो के युद्ध के लिये सुन्दर समय है। अतएव हम रात्रि मे युद्ध करके विजय प्राप्त कर सकते हैं, इसमे सशय नही।"

[111] यह विचार तैत्ति० ब्रा० २ ३, ८, २ से भी लिया गया है।

[112] देखिए, विलसन का विष्णु पु० भाग १, पृ० ८३ तथा डा० हाल की टिप्पणी।

तथा पार्श्वों से गौओं की, पैर से घोड़ों,[113] हाथियों तथा अन्य पशुओं की, शरीर के रोमों से वनस्पतियों की, तथा उनके पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, और उत्तर के मुखों से विभिन्न छन्दों एवं वेदों की सृष्टि का वर्णन करते हैं। श्लोक ५२ तथा आगे के श्लोकों में सृजनात्मक क्रियाओं का, उनकी रचना होने के आधार पर, उनकी सृष्टि के सिद्धान्त के कुछ वर्णन के साथ सिंहावलोकन किया गया है। इन श्लोकों में से मैं केवल निम्न श्लोकों को उद्धृत करता हूँ : '५९. तेषां ये यानि कर्माणि प्राक्-सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे। तान्य् एव प्रतिपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः।''' ६०. यथार्ताव् ऋतु-लिङ्गानि नाना रूपाणि पर्यये। दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु। ६१. करोत्य् एवं विधां सृष्टिम् कल्पादौ स पुनः पुनः। सिसृक्षाशक्ति-युक्तोऽसौ सृज्य-शक्ति-प्रचोदित। "यतः समय-समय पर इन प्राणियों की सृष्टि हुई थी अत. ये प्राणी उन्हीं कर्मों को करते हैं जिन्हें उन्होंने पूर्व सृष्टि में किया था।''' ६०. जिस प्रकार वर्ष की प्रत्येक ऋतु में उस ऋतु की सभी विशेषताएँ प्रकट होती हैं, और पुनः उस ऋतु के आने पर ये विशेषताएँ पहले के समान ही प्रकट होती हैं, उसी प्रकार युगों के आरम्भ में प्राणियों की सृष्टि होती हैं।[114] ६१. सृष्टि की इच्छा और क्षमता से युक्त होकर और रची जानेवाली वस्तुओं में विद्यमान शक्तियों द्वारा प्रेरित होकर, वह देवता पुनः पुनः प्रत्येक कल्प के आरम्भ में एक ही स्वरूपवाली सृष्टि की रचना करता है।"

विष्णु पुराण के उसी अंश के छठवें अध्याय में, जिसके एक अधिक बड़े अंश को मैं उद्धृत करूँगा, मानव जाति की रचना का एक अधिक विस्तृत वर्णन प्रस्तुत करना उद्दिष्ट प्रतीत होता है :—

विष्णु पुराण १.६, १. मैत्रेय उवाच। अर्वाक्स्रोतस् तु कथितो भवता यस् तु मानुषः। ब्रह्मन् विस्तरतो ब्रूहि ब्रह्मा तम् असृजद् यथा। २. यथा च वर्णान् असृजद् यद्-गुणांश् च महामुने। यच्च तेषां स्मृतं कर्म विप्रादीनां तद् उच्यताम्। पराशर उवाच। ३. सत्याभिध्यायिनस् तस्य सिसृक्षोर् ब्रह्मणो जगत्। अजायन्त द्विजश्रेष्ठ सत्त्वोद्रिक्ता मुखात् प्रजाः। ४. वक्षसो रजसोद्रिक्तास् तथाऽन्या ब्रह्मणोऽभवन्। रजसा तमसा चैव समुद्रिक्तास् तथोरुतः। ५. पद्भ्याम् अन्याः प्रजा ब्रह्मा

[113] ऊपर पृ० १९ पर तैत्ति० सं० ७. १, १, ४ आदि से उद्धृत अनुच्छेद देखिए, जिसमें अश्वों की भी यही उत्पत्ति बताई गई है।

[114] इसके अनुरूप श्लोक मनु १ ३० तथा महाभारत १२ २३२, ३१ में आते हैं।

ससर्ज द्विज-सत्तम । तमः प्रधानास् ताः सर्वाश् चातुर्वर्ण्यम् इदं ततः । ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च द्विज-सत्तम । पादोरु-वक्षः-स्थलतो मुखतश् च समुद्गताः । ६. यज्ञ-निष्पत्तये सर्वम् एतद् ब्रह्मा चकार वै । चातुर्वर्ण्यम् महाभाग यज्ञ-साधनम् उत्तमम् । ७. यज्ञैर् आप्यायिता देवा वृष्ट्य्-उत्सर्गेण वै प्रजाः । आप्याययन्ते धर्म-ज्ञ याज्ञाः कल्याण-हेतवः । ८. निष्पद्यन्ते नरैस् तैस् तु स्व-कर्माभिरथैः सदा । विरुद्धाचरणापेतैः सद्भिः सन्मार्ग-गामिभिः । ९. स्वर्गापवर्गौ मानुष्यात् प्राप्नुवन्ति नरा मुने । यच् चाभिरुचितं स्थान तद् यान्ति मनुजा द्विज । १०. प्रजास् ताः ब्रह्मणा सृष्टाश् चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थितौ । सम्यक् श्रद्धा-समाचारप्रवणा मुनि-सत्तम । ११. यथेच्छा-वास-निरताः सर्वाबाध-विवर्जिताः शुद्धान्तः-करणाः शुद्धाः सर्वानुष्ठान-निर्मलाः । १४.[११५] शुद्धे च तासाम् मनसि शुद्धेऽन्तः -संस्थिते हरौ । शुद्ध-ज्ञानम् प्रपश्यन्ति विष्णव्-आख्यम् येन तत्पदम् । १५. ततः कालात्मको योऽसौ स चांशः कथितो हरेः । स पातयत्य अघो घोरम् अल्पम् अल्पाल्प-सारवत् । १६. अधर्म-बीज-भूतं तु तमो-लोभ-समुद्भवम् । प्रजासु तासु मैत्रेय रागादिकम् असाधकम् । १७. ततः सा सहजा सिद्धिस् तासां नातीव जायते । रसोल्लासादयश् चान्याः सिद्धयोऽष्टौ भवन्ति या । १८. तासु क्षीणास्व् अशेषासु वर्धमाने च पातके । द्वन्द्वादिभव-दुःखार्त्तास् ता भवन्ति ततः प्रजाः । १९. ततो दुर्गाणि ताश् चक्रुर् धान्वम् पार्वतम् औदकम् । कृत्रिमं च तथा दुर्गम् पुरकर्वटकादि यत् । २०. गृहाणि च यथान्यायं तेषु चक्रुः पुरादिषु । शीतातपादि-बाधानाम् प्रशमाय महामते । २१. प्रतिकारम् इमां कृत्वा शीतादेस् ताः प्रजाः पुनः । वार्त्तोपायं ततश् चक्रुर् हस्त-सिद्धं च कर्म-जम् । ''२६. ग्राम्यारण्याः स्मृता ह्य् एता ओषधयश् च चतुर्दश । यज्ञ-निष्पत्तये यज्ञस् तथा'' सां हेतुर् उत्तमः । २७. एताश् च सह यज्ञेन प्रजानां कारणम् परम् । परापर-विदः प्रज्ञास् ततो यज्ञान् वितन्वते । २८. अहन्य् अहन्य् अनुष्ठानम् यज्ञानाम् मुनिसत्तम । उपकार-करम् पुंसां क्रियमाणाघ् च शान्ति-दम् । २९. तेषां तु काल-सृष्टोऽसौ पाप-बिन्दुर् महामते । चेतस्सु ववृधे चक्रुस् ते न यज्ञेषु मानसम् । ३०. वेद-वादांस् तथा देवान् यज्ञकर्मादिकं च यत् । सत् सर्व निन्दमानास् ते यज्ञ-व्यासेध-कारिणः । ३१. प्रवृत्ति-मार्ग-व्युच्छित्तिकारिणो वेद-निन्दकाः ।

---

[११५] १२ और १३ संख्यावाले कोई श्लोक नहीं हैं, हस्तलिखित प्रति मे ११ वे के उपरान्त १४ वा श्लोक आता है ।

दुरात्मानो दुराचारा बभूवुः कुटिलाशयाः। ३३. संसिद्धायां तु वार्त्तायां प्रजाः सृष्ट्वा प्रजापतिः। मर्यादाम् स्थापयामास यथा-स्थानम् यथा-गुणम्। ३४. वर्णानाम् आश्रमाना च धर्मान् धर्म-भृता वर। लोकाश् सर्व-वर्णाना सम्यग् धर्मानुपालिनाम्। ३५. प्राजापत्यम् ब्राह्मणाना स्मृतं स्थानं क्रियावताम्। स्थानम् ऐन्द्रं क्षत्रियाणा सङ्ग्रामेष्व् अनि-वर्त्तिनाम्। ३६. वैश्यानाम् मारुतम् स्थानं स्व-धर्मम् अनुवर्त्तिनाम्। गान्धर्वं शूद्र-जातीनाम् परिचर्यासु वर्त्तिनाम्।

"मैत्रेय कहते हैं : १. 'आपने मुझसे अर्वाक्स्रोतस् या मानव सृष्टि का वर्णन किया है; हे ब्रह्मन्! अब मुझे विस्तार से यह बताइए कि किस प्रकार ब्रह्मा ने इस सृष्टि की रचना की। २. मुझे बताइए कि कैसे और किन गुणों द्वारा उन्होंने वर्णों की सृष्टि की और ब्राह्मणों तथा अन्य वर्णों के परम्परया कौन से कर्म हैं।' पराशर उत्तर देते हैं. 'जब सत्य-सङ्कल्पवाले ब्रह्मा सृष्टि की रचना के लिये इच्छुक हुए, तो सत्त्वगुण-प्रधान प्राणी उनके मुख से उत्पन्न हुए, (४) दूसरे जिनमें रजोगुण का आधिक्य था, उनके वक्ष से उत्पन्न हुए; जिनमें रजोगुण और तमोगुण दोनों प्रबल थे वे उनकी जंघाओं से निकले, (५) अन्य प्रजाओं की सृष्टि उन्होंने अपने पैरों से की जिनकी, प्रमुख विशेषता तमोगुण थी। इससे चार वर्णों—ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों का आश्रम बना जो क्रमशः उनके मुख, वक्ष, जंघाओं और पैरों से उत्पन्न हुए थे। ६. ब्रह्मा ने इन[११६] चार प्रकार के वर्णों की व्यवस्था यज्ञों के अनुष्ठान के लिये की, जिसका यही उत्तम साधन है। ७. यज्ञों से पुष्ट होकर देवता जल बरसा कर मनुष्यों को पुष्ट करते हैं। समृद्धि के साधनभूत यज्ञों का (८) धर्मात्मा मनुष्य अपने कर्त्तव्यों में लगे रह कर निरन्तर अनुष्ठान करते हैं, जिससे वे दोषपूर्ण कर्मों से दूर रहते और सन्मार्ग पर अग्रसर होते हैं। ९. मानव होने के कारण मनुष्य स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त करते हुये अभिलषित लोक को जाते हैं। १०. चार वर्णों के रूप में ब्रह्मा द्वारा रचे गये मनुष्य धार्मिक निष्ठा से अभ्युदय प्राप्त करने में पूर्णतः तल्लीन थे। (११) वे अपनी इच्छानुसार अपने प्रिय स्थान पर निवास करते थे तथा पवित्र हृदय वाले, निर्मल, और क्रियाओं में निर्दोष थे। १४. उनके निर्मल मन में—उनके

[११६] ऊपर पृ० १९ पर उद्धृत तैत्ति० स० ७ १, १, ४ आदि, तथा तैत्ति० ब्रा० ३ २, ३, ९, पृ० २५ के इस कथन के साथ कि शूद्र यज्ञ का अधिकारी नही और उसके द्वारा दुहा गया दूध हवि के योग्य नही होता, इस विवरण की सगति कैसे बैठ सकती है?

अन्तस्थल में निर्मल हरि के निवास करने से—विशुद्ध ज्ञान था जिसके द्वारा उन्होंने विष्णु के स्थान, परमपद का दर्शन किया।[117] तदुपरान्त उस वस्तु ने, जिसे कालात्मक[118] हरि का अंश कहते हैं, इन प्राणियों में इच्छा आदि के रूप में घोर पाप का अभिनिवेश कर दिया जो मनुष्य की लक्ष्य प्राप्ति के लिये बाधक, अल्प परिमाणवाला, किन्तु निरन्तर शक्तिशाली होने वाला, (१६) अधर्म का बीज और तम तथा लोभ से उत्पन्न था। १७. इसके उपरान्त उनकी नैसर्गिक पूर्णता का रञ्चमात्र विकास हुआ और यतः रसोल्लास आदि नाम की समस्त आठ पूर्णताओं का ह्रास हो गया और पाप की वृद्धि हुई, अतः ये प्राणी (मनुष्य जाति) द्वन्द्वों से उत्पन्न (सुख और दुःख आदि की विपयिता से उत्पन्न) दुःखों से त्रस्त थे। १९. तब उन्होंने वृक्षों में, पर्वतों पर, या जलों में तीव्रता की तथा कृत्रिम दुर्गों, पुरों और ग्रामों आदि की रचना की। २०. और इन पुरों आदि में उन्होंने शीत, ताप, तथा अन्य कष्टों का सामना करने के लिये घरों का निर्माण किया। २१. इस प्रकार शीत आदि से रक्षा करके उन्होंने शारीरिक श्रम तथा हस्त-कौशल पर आधारित रहकर जीविका निर्वाह के साधन ढूँढ़ निकाले।"

इसके बाद आगे का २२ से २५ श्लोकों में उन अन्नों के प्रकारों का वर्णन किया गया है जिन्हें वे उगाते थे। इसके आगे श्लोक २६ में यह कहा गया है: "ये चौदह प्रकार के अन्न कहे गये हैं जो उत्तम तथा यज्ञ के योग्य होते हैं; और यज्ञ इनके अस्तित्व का एक प्रधान कारण है। २७. यज्ञ के साथ ये भी सन्तानोत्पत्ति के सर्वाधिक सफल स्रोत है। अतएव जो व्यक्ति कारण और कार्य का रहस्य समझते हैं, वे यज्ञ करते हैं। २८. उनका नित्य अनुष्ठान मनुष्यों के लिये कल्याणकारी होता है और किये गये कर्मों से मुक्ति प्रदान करता है। २९. किन्तु काल द्वारा रचित यह पाप का बिन्दु मनुष्य के मन में बढ़ता गया और उन्होंने यज्ञ की उपेक्षा कर दी। ३०. वेदों के विधानों, देवताओं तथा सभो याज्ञिक कर्मों आदि की निन्दा कर के, होम को अवरुद्ध करके (३१) और कर्म[119] के मार्ग को अवच्छिन्न करके वे दुष्ट, दुराचारी

---

[117] यह ऋग्वेद १ २२, २० की एक उक्ति की ओर सकेत करता है; देखिए इस ग्रन्थ का भाग ४,।

[118] 'काल' अर्थात् समय के सम्बन्ध मे विलसन के विष्णु पु० भाग १ पृ० १८ आदि तथा ज० ए० सो० १८६५, पृ० ३८० आदि पर उद्धृत अथर्ववेद का अश देखिए।

[119] 'प्रवृत्ति-मार्ग-व्युच्छित्ति-कारिणः।' भाष्यकार ने इसका सवन्ध मानव

और कुटिल आशयवाले हो गये। ३२. जीवन निर्वाह के साधनों की पूर्ति करके प्रजापति ने प्राणियों की रचना कर उनकी मर्यादा तथा गुणों के अनुसार उनमें भेद की व्यवस्था की (ऊपर ३ से ५ श्लोक देखिए) तथा वर्णों एवं आश्रमों के कर्त्तव्यों का विधान किया, और पूर्णतः अपना कर्त्तव्य करनेवाले वर्णों को (मृत्यु के उपरान्त प्राप्त होने वाले) लोकों की व्यवस्था कर दी। ३५. प्रजापति का लोक उन ब्राह्मणों का (भावी) निवासस्थान बनाया गया है, जो धार्मिक कर्मों में तल्लीन रहते हैं, इन्द्र का लोक उन क्षत्रियों का स्थान है जो युद्ध में पराङ्मुख नहीं होते, (३५) मरुतों का लोक उन वैश्यों का निवासस्थान होता है जो अपना कर्त्तव्य पूर्ण करते हैं, और गन्धर्वों का लोक उन शूद्र जाति के मनुष्यों का निवासस्थान होता है जो अपने सेवा-कर्म में परायण रहते हैं।" इस अध्याय के शेष श्लोकों (३५ से ३९) में अधिक महान् साधुओं को मिलनेवाले आनन्दमय लोक का संक्षेप में वर्णन किया गया है तथा उन नीचे के लोकों का भी उल्लेख है जो दुष्टों को प्राप्त होते हैं।

सातवें खण्ड के प्रारम्भ में मैत्रेय के आगे प्रश्न न करने पर भी पराशर इस प्रकार कहते हैं :—

विष्णुपुराण १.७,१. ततोऽभिध्यायतस् तस्य जज्ञिरे मानसी. प्रजाः। तच्छरीर-समुत्पन्नैः कार्यैस् तैः कारणैः सह। २. क्षेत्रज्ञाः समवर्त्तन्त गात्रेभ्यस् तस्य धीमतः। ते सर्वे समवर्त्तन्त ये मया प्राग् उदाहृताः। ३. देवाद्याः स्थावरान्ताश् च त्रैगुण्य-विषये स्थिताः। एवम् भूतानि सृष्टानि चराणि स्थावराणि च। ४ यदाऽस्य ताः प्रजाः सर्वाः न व्यवर्धन्त धीमतः। अथान्यान् मानसान् पुत्रान् सदृशान् आत्मनोऽसृजत्। ५. भृगुम् पुलस्त्यम् पुलहं क्रतुम् अङ्गिरसम् तथा। मरीचिं दक्षम् अत्रिं च वसिष्ठं चैव मानसान्। नव ब्रह्माण इत्य् एते पुराणे निश्चयं गताः। ६. सनन्दनादयो ये च पूर्वं सृष्टास् तु वेधसा। न ते लोकेष्व् असज्जन्त निरपेक्षाः प्रजासु ते। सर्वे ते चागत-ज्ञाना वीत-रागा विमत्सराः। ७. तेष्व् एवं निरपेक्षेषु लोक-सृष्टौ महात्मन। ब्रह्मणोऽभूद् महाक्रोधस् त्रैलोक्य-दहन-क्षमः। ८. तस्य क्रोधात् समुद्भूत-ज्वाला-माला-विदीपितम्।

जाति से जोड़ा है जिसकी पर्याप्त वृद्धि नहीं हुई थी, क्योंकि वह व्याख्या करता है: 'यज्ञानुष्ठाने देवैर् अवर्षणाद् अन्नाभावेन प्रजा-वृद्धेर् असिद्धेः।' "क्योंकि यज्ञ के अनुष्ठान न होने के फलस्वरूप देवताओं द्वारा जलवर्षण न करने से अन्नाभाव के कारण जनसंख्या की वृद्धि नहीं हुई।"

ब्रह्मणोऽभूत् तदा सर्वं त्रैलोक्यम् अखिलम् मुने। ६. भ्रूकुटी-कुटिलात् तस्य ललाटात् क्रोध-दीपितात्। समुत्पन्नस् तदा रुद्रो मध्याह्नार्क-सम-प्रभः। अर्ध-नारी-नर-वपुः प्रचण्डोऽतिशरीरवान्। विभजात्मानम् इत्य् उक्त्वा तम् ब्रह्माऽन्तर्दधे पुनः। १०. तथोक्तोऽसौ द्विधा स्त्रीत्वम् पुरुषत्वं तथाऽकरोत्। बिभेद पुरुषत्वं च दशधा चैकधा च सः। ११. सौम्या-सौम्यैस् तथा शान्ताशान्तैः स्त्रीत्वं च स प्रभुः। बिभेद बहुधा देवः स्वरूपैर् असितैः सितैः। १२. ततो ब्रह्माऽऽत्मसम्भूतम् पूर्वं स्वायम्भुवम् प्रभुम्। आत्मानम् एव कृतवान् प्रजापालम् मनुं द्विज। १३. शतरूपां च तां नारीं तपो-निर्धूत-कल्मषाम्। स्वायम्भुवो मनुर् देवः पत्न्यर्थं जगृहे विभुः। १४. तस्माच् च पुरुषाद् देवी शतरूपा व्यजायत। प्रियव्रतोत्तान-पादौ प्रसूत्याकूति-संज्ञितम्। कन्या-द्वयं च धर्म-ज्ञ रूपौदार्य-गुणान्वितम्। १५. ददौ प्रसूतिं दक्षायाथाकूतिं रुचये पुरा इत्यादि।

"जब वे इच्छा कर रहे थे तब उनके शरीर से उत्पन्न कार्यों और कारणों[१२०] के साथ मानस-पुत्र उत्पन्न हुए। २. उस बुद्धिमान् सत्ता के अवयवों से मूर्त आत्मायें निकलीं, और वे सब प्राणी निकले जिनका वर्णन मैं कर चुका हूँ, (३) देवताओं से प्रारम्भ कर स्थावर वस्तुओं तक सभी उत्पन्न हुए और वे तीन गुणों की अवस्था में स्थित थे। इस प्रकार स्थावर और जंगम प्राणियों की सृष्टि हुई। ४. जब उन बुद्धिमान् ब्रह्मा के इन किसी भी प्राणियों की वृद्धि नहीं हुई तो उन्होंने अपने सदृश्य ही इतर मानस पुत्रों की रचना की : (५) भृगु, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, अङ्गिरस् मरीचि, दक्ष, अत्रि, तथा वसिष्ठ, ये सब उनके मन से उत्पन्न हुए। ये ही नौ ब्रह्मा हैं जिन्हें पुराणों में बताया गया है। ७. किन्तु सनन्दन आदि, जिनकी रचना वेधस् (ब्रह्मा) ने पहले ही कर दी थी, संसार का कोई ध्यान नहीं रखते थे और सन्तान की ओर से उदासीन थे। उन सभी ने ज्ञान प्राप्त कर लिया था, वे इच्छा से मुक्त और ईर्ष्या से शून्य थे। ७. यत: वे इस प्रकार संसार की सृष्टि के प्रति उदासीन थे, अतः ब्रह्मा से तीनों लोकों को भस्म करने में समर्थ महान् क्रोध उत्पन्न हुआ। ७. तीनों लोक उनके क्रोध से निकलनेवाली ज्वाला-श्रृंखलाओं से पूर्णतः प्रकाशित हो उठे। ९. तब भृकुटि से सिकुड़े हुए और क्रोध से दग्ध उनके ललाट से मध्याह्नकालीन सूर्य के समान प्रकाशमान रुद्र उत्पन्न हुए, जिनका आधा शरीर पुरुष और आधा स्त्री, और तेजयुक्त तथा विशालाकार था।

---

[१२०] भाष्यकार ने 'कार्यैस् तैः कारणैः' शब्दो का "शरीर और इन्द्रियाँ" अर्थ किया है।

उससे यह कहकर कि 'अपना विभाजन करो', ब्रह्मा अन्तर्धान हो गये। १०. इस प्रकार आदिष्ट होने पर रुद्र ने अपने को एक पुरुष और एक स्त्री के रूप में दो भागों में बाँटा। बाद में देवताओं ने उसके पुरुष अंश को ग्यारह भागों में बाँटा। (११) जो सुन्दर और भद्दा तथा शान्त और अशान्त था, तथा उसके स्त्री स्वरूप को कृष्ण और श्वेत वर्णोंवाले अनेक अंशों में बाँटा। ब्रह्मा ने तब भगवान् स्वयम्भुव की रचना की, जो, पूर्वकाल में उन्हीं से उत्पन्न हुए और उसके अतिरिक्त और कोई नहीं थे जिसे प्राणियों का रक्षक मनु होना था। १३. भगवान् मनु स्वयम्भुव ने पत्नी-रूप में शतरूपा नामक स्त्री को ग्रहण किया जो उग्र तपस्या द्वारा दोषों से मुक्त हो गयी थी। १४. उस पुरुष से देवी शतरूपा ने प्रियव्रत और उत्तानपाद को जन्म दिया, तथा, साथ ही, प्रसूति एवं आकृति नामक दो पुत्रियों को उत्पन्न किया जो सौन्दर्य और सौहार्द्र के गुणों से भेद रखती थीं। १५. उन्होंने प्राचीनकाल में प्रसूति का विवाह दक्ष से किया और आकृति का रुचि से।"

विष्णुपुराण के प्रथम अंश के पाँचवें और छठें अध्यायों से उद्धृत मानव जाति की सृष्टि सम्बन्धी पहले आये हुए वर्णनों की तुलना से यह स्पष्ट होगा कि विभिन्न वर्णनों में उपलब्ध विस्तृत विवरणों में परस्पर सामञ्जस्य नहीं है। सर्वप्रथम, पाँचवें अध्याय (श्लोक १६) में कहा गया है कि अर्वाक्-स्रोतस् या मानव सृष्टि में तमोगुण और रजोगुण का विशेष रूप से प्राधान्य था। दूसरे वर्णन (श्लोक ३३) में यह कहा गया है कि ब्रह्मा ने रजोगुण से निर्मित एक शरीर धारण किया जिससे मनुष्य उत्पन्न हुए जिनमें यह गुण प्रबल होता है।[121] इन वर्णनों में से किसी में भी वर्णों के रूप में पूर्वग तथा सहज भेद होने का लेश मात्र भी उल्लेख नहीं है। छठें अध्याय (श्लोक ३–५) में दिये गये तीसरे विवरण में मानव जाति को चार प्रकार की सृष्टि का फल बताया और स्रष्टा के विभिन्न अवयवों से उत्पन्न चार वर्णों में से प्रत्येक को विभिन्न गुणों से विशिष्ट रूप से युक्त घोषित किया गया है, यथा : मुख से उत्पन्न होनेवालों में सत्त्व गुण का, जंघों से उत्पन्न होने वालों में रजोगुण और तमोगुण का, तथा पैरों से उत्पन्न होनेवालों में तमोगुण का प्राधान्य होता है। इस विवरण के अन्तर्गत प्राचीन काल में विभिन्न वर्णों के व्यक्तियों में पाई जानेवाली मनोवृत्ति की नैसर्गिक विभिन्नता से उत्पन्न होनेवाले किसी आचार सम्बन्धी भेद का कोई उल्लेख नहीं किया

[121] ऊपर पृ० ४८ और बाद पर खण्ड ५ के अन्त में मनु १२. ३९ आदि से उद्धृत अंश के साथ तुलना कीजिए।

गया है। इसके विपरीत उनका वर्णन (श्लोक १२ और आगे) एक ऐसी भाषा में किया गया है जिसका प्रयोग पूर्णता की ऐसी अवस्था के लिए किया जा सकता है जो सार्वभौम तथा एक समान तथा श्रद्धा से पूर्ण, निर्मल-हृदय और ईश्वरभक्त थी। इसी प्रकार पवित्रता और सत्वगुण का ह्रास, जो इसके उपरान्त घटित हुआ, उसे किसी एक वर्ण के लिए विशिष्ट रूप से नहीं दर्शाया गया है अपितु वह सब मे पाया जाता है। अतएव इस सीमा तक इस वर्णन के अनुसार विभिन्न वर्ण किसी मानसिक या नैतिक विधान के भेद द्वारा पृथक् किये गये नहीं प्रतीत होते। और जब सम्पूर्ण जाति के पतन का वर्णन किया गया है तब यह उल्लेख भी किया गया है (३१ और आगे के श्लोकों में) कि विभिन्न वर्णों के पृथक् कर्तव्य उनके स्थान तथा गुणों के अनुसार निश्चित किए गये है। प्राचीनकाल के मानव जाति के नैतिक और धार्मिक इतिहास की यह रूपरेखा यह स्पष्ट करने में असमर्थ होने के कारण दोषपूर्ण है कि किस प्रकार मूलतः नितान्त भिन्न नैतिक चरित्रवाले व्यक्ति अपनी पूर्णता के युग में समान रूप से सद्गुण-सम्पन्न हुए होंगे और किस प्रकार इन्होंने सर्वसामान्य ह्रास की क्रिया का अनुभव किया होगा।

विष्णुपुराण के पाँचवें अध्याय में आनेवाले सृष्टि सम्बन्धी दो वर्णनों के बीच भिन्नता के संबन्ध में प्रोफेसर विलसन, भाग १, पृ० ८० पर एक टिप्पणी में इस प्रकार कहते है : "इन पुनरुक्त एवं सदैव नितान्त सामञ्जस्य न रखने वाले सृष्टि के वर्णनों की व्याख्या पुराणों ने विभिन्न कल्पों या संसार की नवीन सृष्टियों के सन्दर्भ में की है और एतदर्थ इनमें कोई असंगति नहीं। इन वर्णनों के आने का एक अधिक उत्तम कारण यह है कि ये विभिन्न मौलिक ग्रन्थों से ग्रहण किये गये है।"[१२२]

---

[१२२] विभिन्न विषयो से सबद्ध प्रचलित कथाओ मे असंगतियाँ विष्णु पुराण मे प्राय देखी जाती हैं। इस प्रकार, प्रथम अंश के आठवे अध्याय मे श्लोक १२ मे मैत्रेय, जिनसे पराशर यह कह चुके है कि श्री, भृगु तथा ख्याति की पुत्री थी, प्रश्न करते हैं 'क्षीराब्धौ श्री पुरोत्पन्ना श्रूयतेऽमृत-मन्थने। भृगो. ख्यात्या समुत्पन्नेत्य् एतद् आह कथम् भवान्।' "ऐसा कहा जाता है कि श्री क्षीरसमुद्र मे अमृत-मन्थन के समय उत्पन्न हुई थी। आपने यह कैसे कहा कि वह भृगु और ख्याति से उत्पन्न हुई थी ?" उन्हे उत्तर मिलता है - '१३ नित्यैव सा जगन्माता विष्णो. श्रीर् अनपायिनी (दूसरी हस्तप्रति मे 'अनुयायिनी' है) यथा सर्वगतो विष्णुस् तथैवेय द्विजोत्तम।' "जगन्माता तथा विष्णु की पत्नी श्री नित्य और नाशरहित हैं" (दूसरे पाठ के अनुसार नित्य विष्णु का अनुगमन करने वाली हैं) "जिस

वर्णनों में पाये जाने वाले विविध विवरणों के भी जन्मदाता है जो आगे वायु तथा मार्कण्डेय पुराण से उद्धृत किये जायेंगे। ब्राह्मण, प्रजापति की सृष्टि-क्रिया के साथ उग्र श्रम का, तथा उसके अन्त में प्रायः महान् परिश्रान्ति का वर्णन करते है; और केवल यही नहीं वरन् विविध प्रकार के जीवित प्राणियों की उत्पत्ति करने, उनकी उत्पत्ति के उपरान्त उनका पालन करने तथा उनकी वृद्धि करने के अनेक प्रयत्नों को या तो नितान्त असफल होने या केवल अंशत. सफल होने का विवरण भी प्रस्तुत करते हैं। निम्नलिखित उद्धरण इन विभिन्न तथ्यों को स्पष्ट करेंगे :—

तैत्ति० ब्रा० १. १, १०, १ : प्रजापतिः प्रजाः असृजत। स रिरिचानोऽमन्यत। स तपोऽतप्यत। स आत्मन् वीर्यम् अपश्यत् तत् अवर्द्धत।

"प्रजापति ने प्राणियों की सृष्टि की। उसने स्वयं को रिक्त अनुभव किया। उसने तप किया। उसने अपने भीतर वीर्य देखा, उसकी वृद्धि हुई, इत्यादि।"

तैत्ति० ब्रा० १. २, ६, १. प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा वृत्तो[123] ऽशयत्। तं देवाः भूतानां रसं तेजः सम्भृत्य तेन एनम् अभिपज्यन् "महान् अववर्त्ति" इति।

"प्रजाओं की सृष्टि करके प्रजापति क्लान्त होकर पड गये। देवताओं ने भूतों का तत्व एवं रस एकत्र कर उससे उन्हें यह कहकर स्वस्थ किया कि 'वह महान् हो गया है' इत्यादि।"

तैत्ति० ब्रा० २. ३, ६, १. प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा व्यस्रंसत। स हृदयम् भूतोऽशयत्।

"प्रजापति, प्रजाओं की सृष्टि करके संज्ञाहीन हो गये। हृदय बनकर वे सो गये।"

श० ब्रा० ३. ६, १, १. प्रजापतिर् वै प्रजाः ससृजानो रिरिचानः इव अमन्यत। तस्मात् पराच्यः प्रजाः आसुः। न अस्य प्रजाः श्रियेऽन्नाद्याय जज्ञिरे। २. स ऐक्षत "अरिद्य् अहम् अस्मै (? यस्मै) उ कामाय असृक्षि न मे स कामः स्माधि पराच्यो मत्-प्रजाः अभूवन् न मे प्रजाः श्रियेऽन्नाद्याय अस्थिपत" इति। ३. स ऐक्षत प्रजापतिः "कथं नु पुनर् आत्मानम् आप्यायायेय उप मा प्रजाः समावर्त्तेरंस् तिष्ठेरन् मे प्रजाः श्रिये अन्नाद्याय" इति। सोऽर्छन् श्राम्यश् चचार प्रजा-कामः। स एताम् एकादशिनीम् अपश्यत्। स एकादशिन्या इष्ट्वा प्रजापतिः पुनर् आत्मानम्

[123] "श्रान्त"—भाष्यकार।

जहाँ तक इन असंगतियों की पहली व्याख्या का प्रश्न है, यह ध्यान देना चाहिए कि यह हमारे सम्मुख प्रस्तुत स्थिति के लिये उपयुक्त नहीं है क्योंकि स्वयं विष्णुपुराण का पाठ सृष्टि के विभिन्न वर्णनों के विभिन्न कल्पों से संबद्ध होने के विषय में कुछ भी नहीं कहता : और इसके विपरीत स्थिति का परामर्श करनेवाले किसी प्रमाण के अभाव में हम स्वाभाविक रूप से यही मानेंगे कि चौथे, पाँचवें, छठवें और सातवें अध्यायों में, आनेवाले अविच्छिन्न वर्णन के विविध अंश, जो परस्पर प्रश्नों और उत्तरों की शृङ्खला से जुडे हुए हैं, उस सृष्टि का निर्देश करते हैं, जो वर्तमान वाराह काल के आरम्भ में हुई थी, जैसा कि चतुर्थ अध्याय के आदि श्लोक में भी कहा गया है। प्रोफेसर विलसन की यह धारणा कि अनेक तथा असंगत वर्णन "विभिन्न मौलिक ग्रन्थों से ग्रहण किये गये हैं" इसके पक्ष में सम्भव प्रतीत होती है। मैं उस श्रोत का इंगित करने में असमर्थ हूँ, जिससे पाँचवें अध्याय के आरम्भिक भाग के श्लोक १ से २३ में आनेवाला सृष्टि का वर्णन लिया गया है। किन्तु श्लोक २६ से ३५ में दिये हुये दूसरे वर्णन में अनेक छोटी बातें तैत्तिरीय ब्राह्मण २. २, ९, ५–९ तथा २. ३, ८, २ आदि से, और शतपथ ब्राह्मण ११. १, ६, ६ आदि से ली गई हैं, जिसे मैंने ऊपर उद्धृत किया है। और यह सम्भव है कि विष्णु पुराण में इन दोनों वर्णनों में से प्रथम आख्यान में सृष्टि के विभिन्न भागों के असाधक होने के जो उल्लेख किये गये हैं, उनकी कल्पना ब्राह्मणों में आनेवाले अन्य विस्तृत वर्णनों से उत्पन्न हुई हो जिन्हें अब मैं उद्धृत करूँगा। किसी भी स्थिति में दूसरे वर्णन के कुछ अंश विष्णु पुराण के सातवें अध्याय के चौथे श्लोक में दिये गये इस वर्णन के मूल आधार हैं कि ब्रह्मा द्वारा रचित प्राणियों की वृद्धि नहीं हुई, तथा, साथ ही साथ, ये इन

प्रकार वे सर्वत्र विद्यमान हैं उसी प्रकार श्री भी सर्वत्र स्थित है।" इत्यादि। दक्ष के विषय मे पाठ मे आगे विचार किया जायगा। इस वर्णन के विषय मे भाष्यकारो ने जो मार्ग अपनाया है उस सम्बन्ध मे प्रोफेसर विलसन ने पृ० २०३ (चारपेजी सस्करण) पर एक टिप्पणी मे इस प्रकार कहा है : 'अन्य गणनाएँ भी मिलती हैं, जिनकी असगतियो को इस ग्रन्थ तथा भागवत के भाष्यकार ने विभिन्न कल्पो के निर्देश होने के कारण उत्पन्न माना है। इसकी पुष्टि के लिए भी वे उसी श्लोक को उद्धृत करते हैं : 'क्वचित् क्वचित् पुराणेषु विरोधो यदि लक्ष्यते। कल्प-भेदादिभिस् तत्र विरोधः सद्भिर् इष्यते।' "जब कभी पुराणो मे कोई विरोध दिखाई पड़ता है, तो उसे सज्जन कल्पो आदि के भेद के कारण मानते है।"

वर्णनों में पाये जाने वाले विविध विवरणों के भी जन्मदाता हैं जो आगे वायु तथा मार्कण्डेय पुराण से उद्धृत किये जायेंगे। ब्राह्मण, प्रजापति की सृष्टि-क्रिया के साथ उग्र श्रम का, तथा उसके अन्त में प्रायः महान् परिश्रान्ति का वर्णन करते है; और केवल यही नहीं वरन् विविध प्रकार के जीवित प्राणियों की उत्पत्ति करने, उनकी उत्पत्ति के उपरान्त उनका पालन करने तथा उनकी वृद्धि करने के अनेक प्रयत्नों को या तो नितान्त असफल होने या केवल अंशतः सफल होने का विवरण भी प्रस्तुत करते हैं। निम्नलिखित उद्धरण इन विभिन्न तथ्यों को स्पष्ट करेंगे :—

तैत्ति० ब्रा० १. १, १०, १ : प्रजापतिः प्रजाः असृजत। स रिरिचानोऽमन्यत। स तपोऽतप्यत। स आत्मन् वीर्यम् अपश्यत् तत् अवर्द्धत।

"प्रजापति ने प्राणियों की सृष्टि की। उसने स्वयं को रिक्त अनुभव किया। उसने तप किया। उसने अपने भीतर वीर्य देखा, उसकी वृद्धि हुई, इत्यादि।"

तैत्ति० ब्रा० १. २, ६, १. प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा वृत्तो[123] ऽशयत्। तं देवाः भूतानां रसं तेजः सम्भृत्य तेन एनम् अभिषज्यन् "महान् अववर्त्ति" इति।

"प्रजाओं की सृष्टि करके प्रजापति क्लान्त होकर पड़ गये। देवताओं ने भूतों का तत्त्व एवं रस एकत्र कर उससे उन्हें यह कहकर स्वस्थ किया कि 'वह महान् हो गया है' इत्यादि।"

तैत्ति० ब्रा० २. ३, ६, १. प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा व्यस्रंसत। स हृदयम् भूतोऽशयत्।

"प्रजापति, प्रजाओं की सृष्टि करके संज्ञाहीन हो गये। हृदय बनकर वे सो गये।"

श० ब्रा० ३. ९, १, १. प्रजापतिर् वै प्रजाः ससृजानो रिरिचानः इव अमन्यत। तस्मात् पराच्यः प्रजाः आसुः। न अस्य प्रजाः श्रियेऽन्नाद्याय जज्ञिरे। २. स ऐक्षत "अरिद्य् अहम् अस्मै (? यस्मै) उ कामाय असृक्षि न मे स कामः स्माधि पराच्यो मत्-प्रजाः अभूवन् न मे प्रजाः श्रियेऽन्नाद्याय अस्थिपत" इति। ३. स ऐक्षत प्रजापतिः "कथं नु पुनर् आत्मानम् आप्यायायेय उप मा प्रजाः समावर्त्तेरंस् तिष्ठेरन् मे प्रजाः श्रिये अन्नाद्याय" इति। सोऽर्छन् श्राम्यश् चचार प्रजा-कामः। स एताम् एकादशिनीम् अपश्यत्। स एकादशिन्या इष्ट्वा प्रजापतिः पुनर् आत्मानम्

[123] "श्रान्त"—भाष्यकार।

आप्याययत उप एनम् प्रजा' समावर्त्तन्त अतिष्ठन्त अस्य प्रजा श्रिये ऽन्नाद्याय स वसीयान् एव इष्ट्वाऽभवत् ।

"प्रजाओं की सृष्टि करते समय प्रजापति ने स्वयं को रिक्त जैसा अनुभव किया। जीवित प्राणी उससे दूर हो गये। उनकी सृष्टि ऐसी नहीं हुई थी कि वे समृद्ध हो सकें और अन्न ग्रहण कर सकें। २. उसने सोचा "मैं रिक्त हो गया हूँ : जिस उद्देश्य से मैंने इनकी सृष्टि की उसकी सिद्धि नहीं हुई, वे चले गये हैं और उन्हे समृद्धि एवं अन्न की प्राप्ति नहीं हुई है।' ३. उसने सोचा 'किस प्रकार मैं पुनः अपनी वृद्धि कर सकता हूँ और किस प्रकार मेरी प्रजायें पुनः मेरे निकट आकर समृद्धि एव अन्न प्राप्त करेंगी ?' सन्तान की इच्छा से उसने अर्चना की और धार्मिक कर्म सम्पन्न किये गये। उसने अर्चना की और धार्मिक कर्म सम्पन्न किये। उसने इस एकादशिनी (ग्यारह) का दर्शन किया। और इसके साथ यज्ञ करते हुए, उसने पुनः अपनी वृद्धि की, उसकी प्रजायें पुनः उसके समीप आ गईं और उन्होंने समृद्धि तथा अन्न प्राप्त कर लिया। यज्ञ करके अत्यन्त श्रीसम्पन्न हुआ।'

श० ब्रा० १० ४, २, २. सोऽयं संवत्सरः प्रजापतिः सर्वाणि भूतानि ससृजे यच् च प्राणि यच् च अप्राणम् उभयान् देव-मनुष्यान्। स सर्वाणि भूतानि सृष्ट्वा रिरिचान इव मेने। मृत्योर् विभियाञ्चकार। २ स ह ईक्षाञ्चक्रे "कथं न्व् अहम् इमानि सर्वाणि भूतानि पुनर् आत्मन् आवपेय पुनर् आत्मन् दधीय कथं न्व् अहम् एव एषाम् सर्वेषाम् भूतानाम् पुनर् आत्मा स्याम्" इति।

"इस संवत्सर ने, जो प्रजापति (है), प्राणवान तथा प्राणहीन और देवता एवं मनुष्य सभी भूतों की सृष्टि की। सृष्टि करके उसने स्वयं को रिक्त जैसा अनुभव किया। वह मृत्यु से भयभीत था। २. उसने चिन्तन किया 'मैं किस प्रकार इन सभी भूतों को पुनः अपने में अन्तर्हित कर सकता हूँ ? किस प्रकार मैं पुनः इन सभी भूतों का एकमेव आत्मा बन सकता हूँ ?"

श० ब्रा० १०. ४, ४, १. प्रजापतिं वै प्रजाः सृज्यमानम् पाप्मा मृत्युर् अभिपरिजघान। स तपोऽतप्यत सहस्र संवत्सरान् पाप्मानं विजिहासन्।

"जब प्रजापति भूतों की सृष्टि कर रहे थे, तब पापी मृत्यु ने उन पर प्रहार किया। उन्होंने पाप को दूर करने के लिए सहस्र वर्षों तक तप किया।"

श० ब्रा०, २. ५, १, १. प्रजपतिर् ह वै इदम् अग्रे एकः एव आस।

स ऐक्षत "कथं नु प्रजायेय" इति। सोऽश्राम्यत् स तपोऽतप्यत। सः प्रजाः असृजत। ताः अस्य प्रजाः सृष्टाः पराबभूवुः। तानि इमानि वयांसि। पुरुषो वै प्रजापतेर् नेदिष्ठम्। द्विपाद् वै अयम् पुरुषः। तस्माद् द्विपादो वयांसि। २. स ऐक्षत प्रजापतिः। "यथा न्व् एव पुरा एकोऽभूवम् एवम् उ न्व् एव अप्य् एतर्ह्य् एक एव अस्मि" इति। स द्वितीयाः ससृजे। ताः अस्य परा एव बभूवुः। तद् इदं क्षुद्रं सरीसृपं यद् अन्यत् सर्पेभ्यः। त्रितीयाः ससृजे इत्य् आहुस् ताः अस्य परा एव बभूवुः। ते इमे सर्पाः...। ३. सोऽर्चन् श्राम्यन् प्रजापतिर् ईक्षाञ्चक्रे "कथं नु मे प्रजाः सृष्टाः पराभवन्ति" इति। स ह एतद् एव ददर्श "अनशनतया वै मे प्रजाः पराभवन्ति" इति। स आत्मनः एव अग्रे स्तनयोः पय आप्याययाञ्चक्रे स प्रजाः असृजत। ताः अस्य प्रजाः सृष्टाः स्तनाव् एव अभिपद्य तास् ततः सम्बभूवुः। ताः इमाः अपराभूताः।

"१. पूर्वकाल में एकमेव प्रजापति ही यह विश्व थे। उन्होंने चिन्तन किया : 'मेरी वंशवृद्धि कैसे हो सकती है ?' उन्होंने धार्मिक कर्म किये एवं कठोर तप किया। उन्होंने प्राणियों की सृष्टि की। उनके द्वारा उत्पन्न किये जाने पर वे नष्ट हो गये। वे ये पक्षी थे। मनुष्य प्रजापति के अत्यधिक निकट स्थित प्राणी है। यह प्राणी, मनुष्य, दो पैरों वाला होता है; अतएव पक्षी भी दो पैरों वाले होते है। प्रजापति ने चिन्तन किया : 'जिस प्रकार मैं पूर्वकाल में एकाकी था उसी प्रकार अब भी मैं एकाकी हूँ'। उन्होंने प्रजाओं के एक दूसरे वर्ग की सृष्टि की। वे भी नष्ट हो गये। यह सर्पों के अतिरिक्त अन्य क्षुद्र सरीसृपों की जाति थी। ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने प्राणियों की एक तीसरी जाति की रचना की और वह भी नष्ट हो गई। वे ये सर्प थे।... ३. अर्चना एवं तप करते हुए प्रजापति ने विचार किया : 'क्यों मेरी प्रजाएँ रचे जाने के उपरान्त नष्ट हो जाती हैं ?' उसने इसका दर्शन किया : 'वे अन्न के अभाव के कारण नष्ट हो जाती है ?' अपनी उपस्थिति में ही उन्होंने स्तनों में दूध भर दिया। उन्होंने प्राणियों की सृष्टि की, जो स्तनों का आश्रय लेकर जीवित बने रहे। ये प्राणी नष्ट नहीं हुए।"

तैत्ति० ब्रा० १. ६, २, १. वैश्वदेवेन वै प्रजापतिः प्रजाः असृजत। ताः सृष्टाः न प्राजायन्त। सोऽग्निर् अकामयत "अहम् इमाः प्रजनयेयम्" इति। स प्रजापतये शुचम् अदधात्। सोऽशोचत् प्रजाम् इच्छमानः। तस्माद् यं च प्रजा भुनक्ति यं च न ताव् उभौ शोचतः प्रजाम् इच्छमानौ। तास्व् अग्निम् अप्य् असृजत्। ता अग्निर् अध्यैत् (२) सोमो रेतोऽदधात् सविता प्राजनयत्। सरस्वती वाचम् अदधात्। पूषाऽपोष-

यत्। ते वै एते त्रिः संवत्सरस्य प्रयुज्यन्ते ये देवाः पुष्टिपतयः। संवत्सरो वै प्रजापतिः। संवत्सरेण एव अस्मै प्रजाः प्राजनयत्। ताः प्रजाः जाताः मरुतोऽघ्नन् "अस्मान् अपि न प्रायुक्षत" इति। ३. स एतम् प्रजापतिर् मारुतं सप्तकपालम् अपश्यत्। तं निरवपत्। ततो वै प्रजाभ्योऽकल्पत। "स प्रजापतिर् अशोचत् "याः पूर्वाः प्रजाः असृक्षि मरुतस् ताः अवधिषुः कथम् अपराः सृजेय" इति। तस्य शुष्म आण्डम् भूतं निरवर्त्तत। तद् व्युदहरत्। तद् अपोषयत्। तत् प्राजायत।

"प्रजापति ने (विश्वेदेवों के लिए) वैश्वदेव बलि द्वारा प्रजाओं की सृष्टि की। उनकी सृष्टि होने पर उनमें वृद्धि नहीं हुई। अग्नि ने इच्छा की 'मैं इन प्राणियों को उत्पन्न करूँ'। उसने प्रजापति को शोक प्रदान किया। उसने सन्तान की इच्छा करते हुए शोक किया; अतएव जिस व्यक्ति को पुत्रादि सुख देते हैं और जिस व्यक्ति को ये सुख नहीं देते दोनों ही सन्तान की इच्छा करते हुए शोक करते हैं। उनमें उसने अग्नि की भी सृष्टि की। अग्नि ने उनकी इच्छा की (?)। सोम ने वीर्य प्रविष्ट किया। सविता ने उन्हें जन्म दिया। सरस्वती ने उनमें वाणी प्रदान की। पूषन् ने उनका पोषण किया। ये (देवता) जो पुष्टि के स्वामी हैं, वर्ष में तीन बार नियुक्त किये जाते हैं। प्रजापति संवत्सर है। संवत्सर के द्वारा ही उसने अपने लिये प्रजाओं को उत्पन्न किया। उन प्रजाओं के उत्पन्न होने पर मरुतों ने यह कह कर उनका वध कर दिया कि 'इन्होंने हमें भी नियुक्त नहीं किया है'। प्रजापति ने मरुतों के सप्तकपाल पुरोडाश को देखा। उन्हें अर्पित किया। उसके परिणाम स्वरूप वह सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ हुए। "प्रजापति ने (यह कहते हुए) विलाप किया कि 'मैंने जिन प्राणियों की पहले सृष्टि की उन्हें मरुतों ने नष्ट कर दिया है। मैं दूसरों की सृष्टि कैसे कर सकता हूँ।' उनका तेज एक अण्डे के आकार में निकल पड़ा। उन्होंने उसे उठा लिया। उसका पोषण किया। यह सन्तानोत्पादक हुआ।"

तैत्ति० ब्रा० ३. १०, ९, १. प्रजापतिर् देवान् असृजत। ते पाप्मना सन्दिताः अजायन्त। तान् व्यद्यत्।

"प्रजापति ने देवताओं की सृष्टि की। वे पाप से युक्त होकर उत्पन्न हुए। उसने उन्हें मुक्त किया।"

तैत्ति० ब्रा० २. ७, ९, १. प्रजापतिः प्रजाः असृजत। ताः अस्मात् सृष्टाः पराचीर् आयन्। स एतम् प्रजापतिर् ओदनम् अपश्यत्। सोऽन्नम् भूतोऽतिष्ठत्। ताः अन्यत्र अन्नाद्यम् अवित्वा प्रजापतिम् प्रजाः उपावर्त्तन्त।

"प्रजापति ने प्रजाओं की सृष्टि की वे उनसे दूर हो गये। उन्होंने इस ओदन का दर्शन किया। वे अन्न में परिवर्तित हो गये। अन्यत्र अन्न न पाकर वे उनके पास लौट आए।"

तैत्ति० ब्रा० १. ६, ४, १. प्रजापतिः सविता भूत्वा प्रजाः असृजत। ता एनम् अत्यमन्यन्त। त अस्माद् अपाक्रामन्। ता वरुणो भूत्वा प्रजाः वरुणेन अग्राहयत्। ताः प्रजाः वरुण-गृहीताः प्रजापतिम् पुनर् उपाधावन् नाथम् इच्छमानाः।

"सविता बनकर प्रजापति ने प्रजाओं की सृष्टि की, उन्होंने उनकी अवहेलना की और वे इससे दूर हो गये। वरुण बनकर उन्होंने वरुण द्वारा उन्हें पकडवाया। वरुण द्वारा गृहीत होने पर वे सहायता की इच्छा करते हुए प्रजापति के निकट दौडे।"

तैत्ति० ब्रा० २. २, १, १. ततो वै स (प्रजापतिः) प्रजाः असृजत। ताः अस्मत् सृष्टा अपाक्रामन्।

"तब प्रजापति ने प्राणियों की सृष्टि की। वे उससे दूर चले गये।"

कदाचित् मैंने ऐसी बहुत सी कथाओं का उद्धरण दे दिया है जिन सब की प्रकृति समान है। किन्तु मेरी इच्छा उनकी संख्या के साथ-साथ उनकी प्रवृत्ति का कुछ परिचय देने की थी।

जहाँ तक विष्णु पुराण के प्रथम अंश के सातवें अध्याय में उल्लिखित शतरूपा की कथा का सम्बन्ध है, मैं आगे आनेवाले एक खण्ड मे मत्स्य पुराण में दिये गये अधिक विस्तृत वर्णन का उद्धरण देते हुए कुछ और विवेचन करूँगा।

मनु स्वायम्भुव और शतरूपा के दो पुत्रों में से दूसरे उत्तानपाद के नाम की कल्पना ऋग्वेद १०. ७२, ३. ४ में (मेरा विश्वास है कि इसके अतिरिक्त अन्यत्र नहीं) सृष्टिरचना के एक अध्यस्थभूत कर्त्ता के नाम के रूप में प्रयुक्त उत्तानपद शब्द से उत्पन्न हुई है।[१२४] ऐतरेय ब्राह्मण ७. ३४ तथा शतपथ ब्राह्मण १०. ३, ५, १४ (जहाँ 'रौहिणायन' उनका पैतृक नाम है) में एक प्रियव्रत का उल्लेख किया गया है, किन्तु इन दोनों अनुच्छेदों में बहुत प्राचीन काल के एक व्यक्ति होने की अपेक्षा ये एक धर्माचार्य के रूप में आते हैं जो लेखक के समय से बहुत पहले नहीं हुए थे। दक्ष भी, जो सातवें अध्याय में ब्रह्मा के एक मानस पुत्र के रूप में आते हैं, ऋग्वेद २. २७, १ में एक आदित्य के रूप में वर्णित हैं तथा ऋग्वेद

[१२४] इस कृति का भाग ४, आदि देखिए।

के एक दूसरे सूक्त में उनका उल्लेख मात्र आया है। १०. ७२, ४. ५ में उन्हें अदिति देवी का पुत्र तथा पिता दोनों ही कहा गया है। शतपथ ब्रा० २. ४, ४ में प्रजापति के साथ उनका तादात्म्य प्रदर्शित किया गया है।[१२५] उनकी उत्पत्ति के विषय में पुराणों में अनेक आख्यान उपलब्ध होते हैं। हमारे सम्मुख प्रस्तुत अंश के अतिरिक्त विष्णु पु० में अन्य भी स्थल हैं जहाँ उनका वर्णन किया गया है। ४. १, ५ में यह कहा गया है कि उनकी उत्पत्ति ब्रह्मा के दाहिने अँगूठे से हुई और अदिति उसकी पुत्री थी (ब्रह्मणश्च दक्षिणाङ्गुष्ठ—जन्मा दक्षः। प्रजापतेर् दक्षस्याप्य् अदितिः) दूसरे स्थल, विष्णु पु० १. १५, ५२ में यह कहा गया है कि यद्यपि दक्ष पूर्वकाल में ब्रह्मा के पुत्र थे तथापि वे मारीषा से उत्पन्न दस प्रचेतसों के पुत्र थे (दशभ्यस् तु प्रचेतोभ्यो मारिषायां प्रजापतिः। जज्ञे दक्षो महाभागो यः पूर्वम् ब्रह्मणोऽभवत्।) दक्ष की इस दो प्रकार की उत्पत्ति के लिए पुराणों के एक संभापक मैत्रेय को स्पष्टीकरण की आवश्यकता पड़ती है और एतदर्थं वे अपने विज्ञापक से प्रश्न यह करते हैं : श्लोक ६० और आगे : अङ्गुष्ठाद् दक्षिणाद् दक्षः पूर्वं जातः श्रुतम् मया। कथम् प्राचेतसो भूयः स सम्भूतो महामुने। एष मे संशयो ब्रह्मन् सुमहान् हृदि वर्त्तते। यद् दौहित्रश् च सोमस्य पुनः श्वशुरता गतः। पराशर उवाच। उत्पत्तिश् च निरोधश् च नित्यौ भूतेषु वै मुने। ऋषयोऽत्र न मुह्यन्ति ये चान्ये दिव्यचक्षुषः ६१. युगे युगे भवन्त्य् एते दक्षाद्या मुनि-सत्तम। पुनश् चैव निरुध्यन्ते विद्वांस् तत्र न मुह्यति। ६२. कानिष्ठ्यं ज्यैष्ठ्यम् अप्य् एषाम् पूर्वं नाभूद् द्विजोत्तम्। तप एव गरीयोऽभूत् प्रभावश् चैव कारणम्।

"'मैंने सुना है कि पूर्वकाल में दक्ष ब्रह्मा के दाहिने अँगूठे से उत्पन्न हुए थे। तब प्रचेतसों के पुत्र रूप में पुन. उनका जन्म कैसे हुआ? यह महान् संशय मेरे मन में उठता है; और यह (प्रश्न भी) उठता है कि किस प्रकार वे, जो सोम की पुत्री के पुत्र थे,[१२६] बाद में उनके श्वशुर हुए।' पराशर ने उत्तर दिया .' 'जन्म और विनाश दोनों ही समस्त भूतों में चलते रहते हैं। ऋषि एवं दिव्य दृष्टि रखनेवाले इससे मोहित नहीं होते हैं। प्रत्येक युग में दक्ष आदि जन्म लेते हैं और पुन. उनका नाश होता है। पूर्वकाल में न तो

---

[१२५] देखिए इस कृति का चौथा भाग ज० ए० सो० १८६५, पृ० ७२ और आगे। जर्नल आफ द जर्मन ओरिएन्टल सोसाइटी भाग ६, ७५ मे रॉथ।

[१२६] देखिए, विल्सन का विष्णु पु० भाग २, पृ० २ के ऊपर।

कनिष्ठता थी और न ज्येष्ठता; तप ही प्रधान वस्तु था और शक्ति ही (भेद का) कारण थी।"

प्रतीकात्मक प्राणियों के जनक के रूप में या स्रष्टा के रूप में दक्ष के किये गये कार्यों के विषय में जो पाठक अधिक जानकारी प्राप्त करना चाहें वे विष्णु पु० के प्रथम अंश के सातवें और आठवें अध्यायों के अन्तर्गत (पृ० १०८ आदि तथा १५२ आदि) आने वाले वर्णनों की पन्द्रहवें अध्याय में (भाग २ पृ० १० आदि) में पाये जाने वाले वर्णनों के साथ तुलना कर सकते है।

मनु स्वायम्भुव तथा शतरूपा की दूसरी पुत्री अकूति के सन्दर्भ में मैं अपनी ओर से केवल इतना कहूँगा कि यह शब्द ऋग्वेद में पाया जाता है परन्तु तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. १२, ९, ५ में (जिसका सन्दर्भ ऊपर पृ० ४८ पर उद्धृत है) इसे मूर्त रूप प्रदान करते हुये यह कहा गया है · इरा पत्नी विश्वसृजाम् आकूतिर् अपिनड हविः। "इरा (इडा विश्व की रचना करने वालों की पत्नी थी। अकूति ने हवि का मर्दन किया।"

खण्ड ८—वायु तथा मार्कण्डेय पुराणों के अनुसार वर्णों की उत्पत्ति के वर्णन के साथ विभिन्न सृष्टियों का विवरण

अब मैं वायु तथा मार्कण्डेय पुराणों से उन वर्णनों को उद्धृत करूँगा जो वे सृष्टि के सम्बन्ध में प्रस्तुत करते है और जो उसी प्रकार के हैं जैसे विष्णु पुराण से उद्धृत उपरोक्त अंश, यद्यपि इनमें सूक्ष्म वर्णन के अनेक भेद है।

पहले मैं वायु पुराण के पाँचवे अध्याय से, जो कुछ सीमा तक विष्णु पुराण के द्वितीय अध्याय के समानान्तर है[१२७], एक अंश उद्धृत करूँगा, क्योंकि इसमें देवताओं की त्रिमूर्ति का, जो गुणों के त्रितय से सामञ्जस्य रखते हैं, सामान्यतः प्रचलित वर्णन से एक भिन्न वर्णन आता है।

वायु पुराण, ५. ११ : अहर्-मुखे प्रवृत्ते च परः प्रकृतिसम्भवः। क्षोभयामास योगेन परेण परमेश्वरः। १२. प्रधानम् पुरुषम् चैव प्रविश्याण्डम् महेश्वरः। १३. प्रधानात् क्षोभ्यमानात् तु रजो वै समवर्त्तत। रजः प्रवर्त्तकं तत्र वीजेष्व् अपि यथा जलम्। १४. गुण-वैषम्यम् आसाद्य प्रसूयन्ते ह्य् अधिष्ठिताः। गुणेभ्यः क्षोभ्यमानेभ्यस् त्रयो

१२७ देखिए, विलसन के विष्णु पु० भाग १ का पृ० २७ तथा ४१ और आगे।

देवा विजज्ञिरे। १५. आश्रिताः[१२८] परमा गुह्याः सर्वात्मानः शरीरिणः। रजो ब्रह्मा तमो ह्य् अग्निः सत्त्वम् विष्णुर् अजायत। १६. रजः-प्रकाशको ब्रह्मा स्रष्टृत्वेन व्यवस्थितः। तमः-प्रकाशकोऽग्निस् तु कालत्वेन व्यवस्थितः। १७. सत्त्व-प्रकाशको विष्णुर् औदासीन्ये व्यवस्थितः। एत एव त्रयो लोका एत एव त्रयो गुणाः। १८. एते एव त्रयो वेदा एते एव त्रयोऽग्नयः। परस्पराश्रिताः ह्य् एते परस्परम् अनुव्रताः। १९. परस्परेण वर्त्तन्ते धारयन्ति परस्परम्। अन्योन्य-मिथुना ह्य् एते ह्य् अन्योन्यम् उपजीविनः। २०. क्षणं वियोगो न ह्य् एषां न त्यजन्ति परस्परम्। ईश्वरो हि परो देवो विष्णुस् तु महतः परः २१. ब्रह्मा तु रजसोद्रिक्तः सर्गायेह प्रवर्त्तते। परश्च पुरुषो ज्ञेयः प्रकृतिश्च परा स्मृता।

"दिन के आरम्भ में परम महेश्वर ने, जो प्रकृति से उत्पन्न हुए थे, अण्ड में प्रवेश कर अत्यन्त योग के साथ प्रधान (=प्रकृति) और पुरुष में क्षोभ उत्पन्न किया। जब प्रधान में क्षोभ उत्पन्न हुआ तो रजोगुण की उत्पत्ति हुई जो एक प्रवर्तक कारण हुआ : जैसे बीज में जल प्रवर्त्तक कारण होता है। १४. जब गुणों में वैषम्य होता है तो उनके अधिष्ठाता देवता उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार क्षुब्ध हुए गुणों से तीन देवता उत्पन्न हुए (१५) जो आश्रित, परम, गुह्य, सर्वात्मा और शरीरी थे। रजो गुण का जन्म ब्रह्मा के रूप में हुआ, तमोगुण का अग्नि के[१२९] और सत्त्व का विष्णु के रूप में। १६. रजोगुण को अभिव्यक्त करने वाले ब्रह्मा स्रष्टा के रूप में, तमोगुण के प्रकाशक अग्नि काल के रूप में कार्य करते हैं, (१७). सत्वगुण के प्रकाशक विष्णु उदासीन अवस्था में स्थित रहते हैं। ये देवता तीनों लोक हैं और तीनों गुण हैं। (१८) तीन वेद हैं, तीन अग्नि हैं और वे परस्पर आश्रित हैं। १९. वे एक दूसरे के माध्यम से स्थित रहते हैं और एक दूसरे को धारण करते हैं, वे एक दूसरे के यमजअंश और अन्योन्य-उपजीवी हैं। २०. वे एक क्षण के लिये भी वियुक्त नहीं होते, वे एक दूसरे का त्याग नहीं करते। ईश्वर (महेश्वर) ही परम देव हैं और विष्णु महत् (बुद्धितत्व) से श्रेष्ठ हैं; और ब्रह्मा रजो गुण से युक्त

---

[१२८] इण्डिया आफिस की गायकवाड हस्तप्रति, स० २१०२ में 'आश्रिता' के स्थान पर, जो टेलर हस्तप्रति का पाठ है, "आस्थिता" मिलता है।

[१२९] मार्कण्डेय पु० अध्याय ४६, श्लोक १८ में वही पंक्ति है परन्तु इसमें अग्नि के स्थान पर रुद्र का प्रयोग है : "रजो ब्रह्मा तमो रुद्रो विष्णु सत्त्वं जगत्पतिः।" दोनों में प्रायः तादात्म्य है। देखिए इस कृति का भाग ४, आदि।

होकर सृष्टिरचना में लीन रहते हैं। पुरुष परम तत्व है, जैसा कि प्रकृति को भी परमतत्व कहा गया है।

वायु पुराण का छठवाँ खण्ड, जिससे अगला उद्धरण दिया जायगा, ऊपर उद्धृत विष्णु पुराण के चौथे अध्याय से मिलता है :

१. आपो ह्य् अग्रे समभवन् नष्टेऽग्नौ पृथिवी-तले। सान्तरालैकलीनेऽस्मिन् नष्टे स्थावर-जङ्गमे। २. एकार्णवे तदा तस्मिन् न प्राज्ञायत किञ्चन। तदा स भगवान् ब्रह्मा सहस्राक्षः सहस्र-पात्। ३. सहस्र-शीर्षा पुरुषो रुक्म-वर्णो ह्य् अतीन्द्रियः। ब्रह्मा नारायणाख्य, स सुष्वाप सलिले तदा। ४. सत्वोद्रेकात् प्रबुद्धस् तु शून्यम् लोकम् उदीक्ष्य सः। इमम् चोदाहरन्त्य् अत्र श्लोकम् नारायणम् प्रति। ५. आपो नारा वै तनवः[130] इत्य् अपाम् नाम शुश्रुम्। अप्सु शेते च यत् तस्मात् तेन नारायणः स्मृतः ६. तुल्य युग-सहस्रस्य नैशम् कालम् उपास्य सः। शर्वर्य्-अन्ते प्रकुरुते ब्रह्मत्वम् सर्गकारणात्। ७. ब्रह्मा तु सलिले तस्मिन् वायुर् भूत्वा तदाऽचरत्। निशायाम् इव खद्योतिः प्रावृट् काले ततस् ततः। ८ ततस् तु सलिले तस्मिन् विज्ञायान्तर्गताम् महीम्। अनुमानाद् असम्मूढो भूमेर् उदाहरम् प्रति। ९. अकरोत् स तनुं ह्य् अन्याम् कल्पादिषु यथा पुरा। ततो महात्मा मनसा दिव्यं रूपम् अचिन्तयत्। १०. सलिलेनाप्लुताम् भूमिम् दृष्ट्वा स तु समन्ततः। "किम् नु रूपम् महत् कृत्वा उद्धरेयम् अहम् महीम्।" ११. जल-क्रीडा-सुरुचिरम् वाराहं रूपम् अस्मरत् अधृष्य सर्व-भूतानां वाङ्मयम् धर्म-सञ्ज्ञितम्।

"१. जब पृथ्वी पर अग्नि नष्ट हो गया, और यह सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गम संसार समस्त अन्तर्वर्ती वस्तुओं सहित एक सघात में लीन होकर नष्ट हो गया तो सर्वप्रथम जल की उत्पत्ति हुई। उस समय सम्पूर्ण जगत् एक विशाल समुद्र था अतः किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता था। तब सहस्र नेत्रों, सहस्र पैरों (३) तथा स्वर्ण वर्ण के सहस्र शीश वाले पुरुष के रूप में नारायण नाम से ख्यात ब्रह्मा जल के ऊपर शयन कर रहे थे। ४. किन्तु सत्व गुण के प्रबल होने के कारण जगकर और संसार को शून्य देखकर—यहाँ नारायण के सम्बन्ध में एक श्लोक कहा जाता है : ५. जल नर के शरीर है। हमने सुना है कि उनको (जलों को) यही नाम दिया गया है और यतः वे उन पर शयन करते

[130] देखिए, विलसन का विष्णु पुराण पृ० ५७, अनुवादक एव सपादक की टिप्पणियो सहित। १ से ६ श्लोको की आवृत्ति वायु पु० के सातवे खण्ड के अन्त मे कुछ पाठ भेदो के साथ हुई है।

हैं, अतः उन्हें नारायण कहा जाता है। ६. इस प्रकार सहस्रों युगों की अवधि के तुल्य रात्रि का समय व्यतीत कर रात्रि के अन्त में वे सृष्टि कर्म के लिए ब्रह्मा का रूप धारण करते हैं। तब ब्रह्मा वायु के रूप में उस जल के ऊपर[131] इतस्ततः उसी भाँति विचरण करते थे, जिस भाँति वर्षाऋतु की रात्रि में खद्योत उड़ते फिरते हैं। ८. अनुमान से यह ज्ञात कर कि पृथ्वी जल के भीतर स्थित थी, किन्तु कर्तव्यविमूढ़ न होते हुए (९) उन्होंने पृथ्वी का उद्धार करने के लिए दूसरा शरीर धारण किया जैसा कि उन्होंने (बीते हुए) कल्पों के आरम्भ में किया था। तब उस महात्मा ने मन से एक दिव्य रूप की सृष्टि की। १०. अपने चारों ओर पृथ्वी को पूर्णतः जल से आच्छादित देखकर (उनके मन में प्रश्न उठा) मैं पृथ्वी को ऊपर लाने के लिए कौन सा विशाल रूप धारण करूँ?' उन्होंने जल-क्रीड़ा में दक्ष, सभी प्राणियों के लिये अजेय, वाङ्मय तथा धर्म नाम के वराह के रूप का स्मरण किया।"

इसके उपरान्त वराह के शरीर का विस्तृत वर्णन और बाद में जल के नीचे से पृथ्वी के उद्धार और इसके पूर्ववर्ती रूप एवं विभागों की पुनर्व्यवस्था आदि का वर्णन किया गया है[132]—इस वर्णन का मूलतत्व बहुत कुछ वही है, किन्तु सूक्ष्म वर्णन विष्णु पुराण के समरूप अनुच्छेद के वर्णनों से भिन्न है।

इसके उपरान्त सृष्टि का एक ऐसा वर्णन आता है, जो सभी महत्वपूर्ण विषयों[133] में ऊपर पृ० ६४ पर विष्णुपुराण के पाँचवें अध्याय के प्रारम्भ से उद्धृत वर्णन के साथ साम्य रखता है।

सृष्टि का आगे का वर्णन, जिसका उस वर्णन के साथ साम्य है, जिसे मैंने उसी पुराण के उसी अध्याय के आगे वाले अंश से अभी उद्धृत किया

---

[131] यह वर्णन, जो विष्णु पुराण के तत्समान अनुच्छेद में नहीं पाया जाता, स्पष्टतः अन्य विवरणों सहित तैत्तिरीय संहिता ७ १, ५, १, में लिया गया है, जो ऊपर पृ० ६१ पर उद्धृत है।

[132] ऊपर उद्धृत तैत्तिरीय संहिता के अनुच्छेद का अनुकरण करके लेखक ने एक श्लोक में विश्वकर्मन् के रूप में ब्रह्मा को पृथ्वी की व्याख्या करनेवाला कहा है. "ततस् तेषु विशीर्णेषु लोकोदधि-गिरिष्व् अथ। विश्वकर्मा विभजते कल्पादिषु पुनः पुनः।"

[133] मार्कण्डेय पु० ४७ १५–४७ आदि में दिये गये विस्तारों के साथ भी यही बात है।

है, वायु पुराण में उसी स्थान में नहीं उपलब्ध होता[134] अपितु नवें अध्याय के आरम्भ में रक्खा गया है और 'प्रतिसन्धिकीर्तन' तथा 'चतुराश्रम-विभाग' नाम के दो और अध्याय सातवें और आठवें अध्यायों के रूप में बीच में डाल दिये गये हैं। तथापि, दोनों रचनाओं में वर्णित विविध जगदुत्पत्ति की कथाओं के बीच तुलना सुकर बनाने की दृष्टि से मैं विष्णु पुराण में आख्यानों का जो क्रम उपलब्ध होता है उसका निर्वाह करूँगा और वायुपुराण के नवें अध्याय में दिये गये वर्णनों को आठवें अध्याय में दिये गये वर्णनों के पूर्व ही स्थान दूँगा।

वायु पुराण का ९ वाँ अध्याय, जो विष्णुपुराण में आने वाले समानान्तर अंश से विस्तृत वर्णनों से अधिक भरा हुआ है, पूर्व अध्याय में वर्णित विषय का निर्देश किये विना इस प्रकार आरम्भ होता है :—

सूत उवाच। १. ततोऽभिध्यायतस् तस्य जज्ञिरे मानसीः प्रजाः। तच्-छरीर-समुत्पन्नैः कार्यैस् तैः कारणैः सह। २. क्षेत्रज्ञाः समवर्त्तन्त गात्रेभ्यस् तस्य धीमतः। ततो देवासुर-पितॄन् मानवं च चतुष्टयम्। ३. सिसृक्षुर् अम्भांस्य एतानि स्वात्मना समयूयुजत्। युक्तात्मनस् ततस् तस्य तमोमात्रा स्वयम्भुवः। ४. तम् अभिध्यायतः सर्गम् प्रयत्नोऽभूत् प्रजापतेः। ततोऽस्य जघनात् पूर्वम् असुरा जज्ञिरे सुताः। ५. असुः प्राणः स्मृतो विप्रैस् तज्-जन्मानस् ततोऽसुराः। यया सृष्टासुरास् तन्वा तां तनुं स व्यपोहत।[135] ६. साऽपविद्धा तनुस् तेन सद्यो रात्रिर् अजायत। सा तमो-बहुला यस्मात् ततो रात्रिस् त्रियामिका। ७. आवृतास् तमसा रात्रौ प्रजास् तस्मात् स्वपन्त्य् उत। दृष्ट्वाऽसुरांस् तु देवेशस् तनुम् अन्याम् अपद्यत। ८. अव्यक्ताम् सत्त्व-बहुलां ततस् ताम् सोऽभ्ययूयुजत्। ततस् तां युञ्जतस् तस्य प्रियम् आसीत् प्रभोः किल। ९. ततो मुखे समुत्पन्ना दिव्यतस् तस्य देवताः। यतोऽस्य दीव्यतो जातास् तेन देवाः प्रकीर्तिताः। १०. धातुर् दिवीति यः प्रोक्तः क्रीडायां स विभाव्यते। तस्मात् (? यस्मात्) तन्वां तु दिव्यायां

---

[134] मार्कण्डेय पुराण विष्णु पु० के क्रम का ही निर्वाह करता है।

[135] तैत्ति० ब्रा० २. २, ९, ६ मे जिससे यह वर्णन लिया गया है (देखिए ऊपर पृ० ३३) 'अपाहत' पाठ है—जिससे यह सिद्ध नही होता कि 'वि' उपसर्ग पूर्वक क्रिया का यहाँ आवश्यक रूप मे सही पाठ है, जैसा कि टेलर तथा गायकवाड हस्तप्रतियो मे सर्वत्र 'व्यपोहत' है और केवल एक स्थान पर 'व्यपोहत्' आया है।

जज्ञिरे तेन देवताः। ११. देवान् सृष्ट्वाऽथ देवेशस् तनुम् अन्याम् अपद्यत। सत्त्व-मात्रात्मिकां देवस् ततोऽन्यां सोऽभ्यपद्यत।[१३६] १२. पितृवद् मन्यमानस् तान् पुत्रान् प्राध्यायत प्रभुः। पितरो ह्य् उपपक्षाभ्याम्[१३७] रात्र्य्-अह्नोर् अन्तराऽसृजत्। १३. तस्मात् ते पितरो देवाः पुत्रत्वं तेन तेषु तत्। यया सृष्टास् तु पितरस् तां तनुं स व्यपोहत। १४. साऽपविद्धा तनुस् तेन सद्यः सन्ध्या प्रजायत। तस्माद् अहस् तु देवानाम् रात्रिर् या साऽऽसुरी स्मृता। १५. तयोर् मध्ये तु वै पैत्री या तनुः सा गरीयसी। तस्माद् देवासुराः सर्वे ऋषयो मनवस् तथा। १६. ते युक्तास् ताम् उपासन्ते रात्र्य्-अह्नोर्[१३८] मध्यमां तनुम्। ततोऽन्यां स पुनर् ब्रह्मा तनुं वै प्रत्यपद्यत। १७. रजो-मात्रात्मिकां यां तु मनसा सोऽसृजत् प्रभुः। रजःप्रायान् ततः सोऽथ मानसान् असृजत् सुतान्। १८. मनसस् तु ततस् तस्य मानसा जज्ञिरे प्रजाः। दृष्ट्वा पुनः प्रजाश् चापि स्वां तनुं ताम् अपोहत। १९. साऽपविद्धा तनुस् तेन ज्योत्स्ना सद्यस् त्व् अजायत। तस्माद् भवन्ति संहृष्टा ज्योत्स्नायाम् उद्भवे प्रजाः। २०. इत्य् एतास् तनवस् तेन व्यपविद्धा महात्मना। सद्यो रात्र्य्-अहनी चैव सन्ध्या ज्योत्स्ना च जज्ञिरे। २१. ज्योत्स्ना-सन्ध्या तथाऽहश्च सत्त्व-मात्रात्मकं स्वयम्। तमो-मात्रात्मिका रात्रिः सा वै तस्मात् त्रियामिका। २२. तस्माद् देवा दिव्य-तन्वा[१३९] दृष्टाः सृष्टा मुखात् तु वै। यस्मात् तेषाम् दिवा जन्म बलिनस् तेन ते दिवा। २३. तन्वा यद् असुरान् रात्रौ जघनाद् असृजत् पुनः। प्राणेभ्यो रात्रि-जन्मानो ह्य् असह्या निशि तेन ते। २४. एतान्य् एवम् भविष्याणां देवानाम् असुरैः सह। पितृणाम् मानवानां च अतीतानागतेषु वै। २५. मन्वन्तरेषु सर्वेषु निमित्तानि भवन्ति हि। ज्योत्स्ना रात्र्य्-अहनी सन्ध्या चत्वार्य् अम्भांसि तानि वै। २६. भान्ति यस्मात् ततोऽम्भांसि भा-शब्दोऽयम् मनीषिभिः। व्याप्ति-दीप्त्याम् निगदितो पुमांश् चाह प्रजापतिः। २७. सोऽम्भांस्य् एतानि दृष्ट्वा तु देव-दानव-मानवान्। पितॄंश् चैवासृजत् सोऽन्यान् आत्मनो विविधान् पुनः। २८. ताम् उत्सृज्य तनुं कृत्स्नां ततोऽन्याम् असृजत् प्रभुः। मूर्त्तिं रजस्-तम-प्रायाम् पुनर् एवाभ्ययूयुजत्। २९.

---

[१३६] गायकवाड हस्तप्रति में यह पंक्ति नहीं है।

[१३७] गायकवाड हस्तप्रति में 'उपपार्श्वाभ्याम्' पाठ प्रतीत होता है।

[१३८] गायकवाड हस्तप्रति में 'ब्रह्मणो मध्यमा तनुम्' पाठ है।

[१३९] गायकवाड हस्तप्रति में 'दिवा दन्वा' है।

अन्धकारे क्षुधाविष्टस् ततोऽन्यां सृजते पुनः। तेन सृष्टाः क्षुधात्मानस् तेऽम्भांस्य् आदातुम् उद्यताः। ३०. "अम्भांस्य् एतानि रक्षाम" उक्तवन्तश्च तेषु ये। राक्षसास् ते स्मृताः लोके क्रोधात्मानो निशाचराः।

"सूत कहते हैं: १. तब जब वे ध्यान कर रहे थे तो उनके शरीर से उत्पन्न कार्यों और कारणों के साथ उनसे मानस पुत्र उत्पन्न हुए। २. उस धीमान् के शरीरों से शरीरधारी आत्मा उत्पन्न हुए। ३. तब देवता, असुर, पितर और मनुष्य, इन चार धाराओं की उत्पत्ति करने का विचार करते हुए उन्होंने अपनी आत्मा को ध्यान-लिप्त किया। जब स्वयंभू इस प्रकार ध्यान-लीन थे तब केवल एकमात्र तमोगुण से निर्मित शरीर ने उन्हें आच्छादित कर लिया'। ४. इस सृष्टि का ध्यान करते हुए प्रजापति ने प्रयत्न किया। तब उनके पुत्र के रूप में उनके जघन से असुर उत्पन्न हुए। ५ ब्राह्मणों ने असु का अर्थ प्राण कहा है, इससे इन भूतों की उत्पत्ति हुई, अतएव वे असुर कहलाये[१४०]। उन्होंने उस शरीर का त्याग कर दिया जिससे असुरों की सृष्टि हुई थी। उनसे परित्यक्त होकर वह शरीर तत्काल रात्रि बन गया। यतः इस शरीर में तम का बाहुल्य था अतः रात्रि त्रियामा होती है। ७. अतएव तम से आच्छन्न होकर सभी प्राणी रात्रि के समय शयन करते हैं। असुरों को देखकर देवताओं के स्वामी ने दूसरा शरीर धारण किया (८) जो अव्यक्त और सत्त्वगुण के बाहुल्य से युक्त था। तब उन्होंने उस शरीर को ध्यानावस्थित किया। जब उन्होंने इस प्रकार ध्यान किया तो उन्हें आनन्द का अनुभव हुआ। ९. तब इस प्रकार खेलते हुए उनके मुख में देवता उत्पन्न हुए। यतः उनकी उत्पत्ति उस समय हुई जब वे क्रीडा में लगे थे (दीव्यतः), अतः उन्हें देव कहा जाता है। १०. क्रीडा के अर्थ में 'दिव्' धातु छिपी हुई है। यतः वे क्रीडा में लीन (दिव्य)[१४१] शरीर से उत्पन्न हुए थे अतः उन्हें देवता कहा जाता है। ११. देवताओं की सृष्टि कर के देवेश ने दूसरा शरीर धारण किया जो पूर्णतः सत्त्व गुण से युक्त था। १२. स्वयं को पिता मानकर, उन्होंने इन पुत्रों का ध्यान किया: उन्होंने रात्रि और दिन के बीच के काल में अपने उपपक्षों से पितरों की सृष्टि की। १३. अतएव ये पितर लोग देवता हैं। अतएव वह पुत्रत्व

---

[१४०] यह कथन, जो विष्णुपुराण के समानान्तर अनुच्छेद मे नही उपलब्ध होता, तैत्ति० ब्रा० २ ३, ८, २ से लिया गया है, जो ऊपर उद्धृत है।

[१४१] 'दिव्य' का वास्तविक अर्थ 'स्वर्गीय' है। किन्तु इस अनुच्छेद मे शब्द श्लेष के कारण 'क्रीडारत' अर्थ लेखक को अभिप्रेत हो सकता है।

उनसे संबद्ध है। उन्होंने उस शरीर का भी परित्याग कर दिया जिससे पितरों की जन्म हुआ था। १४. उनसे परित्यक्त होकर यह तत्काल सन्ध्या हो गया। अतएव दिन देवताओं का होता है, और रात्रि असुरों की। १५. इनका अन्तर्वर्ती शरीर, जो पितरों का होता है, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है। अतएव देवता, असुर, पितर और मनुष्य (१६) ब्रह्मा के इस अन्तर्वर्ती शरीर की उपासना करते है। उन्होंने पुनः दूसरा शरीर धारण किया। किन्तु उस शरीर से, जो पूर्णतः रजोगुण से निर्मित था और जिसकी रचना उन्होंने अपने मन से की थी; उन्होंने अपने मानस पुत्रों को उत्पन्न किया[१४२] जिनमें रजोगुण का प्राधान्य था। १८. तब उनके मन से मानस पुत्रों ने जन्म लिया। अपने प्रजाओं को देख कर उन्होंने पुनः अपने उस शरीर का परित्याग कर दिया। १९ उनसे परित्यक्त होकर यह शरीर तत्काल ज्योत्स्ना बन गया। अतएव जीवित प्राणी ज्योत्स्ना के उदय के समय आनन्दित होते है। ये वे शरीर थे, जो परित्यक्त होने पर तत्काल, रात्रि और दिन, सन्ध्या तथा ज्योत्स्ना हो गये। २१. ज्योत्स्ना, सन्ध्या, और दिन, इन सबमें विशुद्ध सत्त्व की मात्रा होती है। रात्रि मे एकमात्र तमोगुण होता है और इसीलिये यह त्रियामा होती है। २२. अतएव देवता दिव्य शरीर मे देखे जाते हैं और उनकी उत्पत्ति मुख से हुई। यतः उनकी सृष्टि दिन में हुई, अतः वे दिन में शक्तिशाली होते हैं। २३. यतः उन्होंने असुरों की सृष्टि रात्रि में अपने जघन से की अतः उनके प्राण से रात्रि में उत्पन्न होने के कारण वे उस समय अजेय रहते हैं। २४, २५. इस प्रकार ज्योत्स्ना, रात्रि, दिन, तथा सन्ध्या ये चार धाराएँ देवताओं, असुरों, पितरों, एवं मनुष्यों के सभी बीते हुए एव आनेवाले मन्वन्तरों में कारण होते है। २६. यत. ये (धाराएँ) भासमान होती है, अतः इन्हें 'अम्भासि' कहा जाता है। विद्वान् लोग इस 'भा' धातु का प्रयोग व्याप्त होने तथा प्रकाशित होने के अर्थ मे करते है और पुरुष प्रजापति ने भी ऐसा ही कहा है। इन धाराओं (अम्भांसि), देवता, दानव, मनुष्य, एवं पितरों का दर्शन कर उन्होंने अपने शरीर से अन्य विविध प्राणियों की सृष्टि की। २८. उस सम्पूर्ण शरीर का त्याग करके उस प्रभु ने दूसरे शरीर की सृष्टि की जो प्रायः पूर्णतः रजस् तथा तमस् से निर्मित था और पुनः उसे ध्यान मे लगाया। २९ अन्धकार

---

[१४२] मानसान्। यहाँ हम 'मानवान्' या 'मानुषान्' होने का अनुमान कर सकते है। जो विष्णुपुराण (दे० ऊपर पृ० ६५) तथा मार्कण्डेयपुराण ५८ ११ दोनो ही से समानान्तर अनुच्छेदो के साथ सगत बैठता है।

में क्षुधार्त्त होकर उन्होंने पुनः दूसरे शरीर की रचना की। उनसे रचे गये क्षुधार्त्त प्राणी इन धाराओं (अम्भासि) को ग्रहण करने के लिए उद्यत हो गये। ३०. उनमें से जिन्होंने यह कहा कि 'हम इन धाराओं की रक्षा करें (रक्षाम)' उन्हें लोक में राक्षस नाम दिया गया, जो क्रोधात्मा एवं निशाचर होते हैं।"

इस वर्णन के बाद इसके आगे की सृष्टि का विवरण आता है जो विष्णु पुराण में उसी क्रम में दिये गये वर्णन के अनुरूप है। इस अध्याय का शेष भाग अन्य सूक्ष्म विस्तारों से पूर्ण है जिन्हें यहाँ देना आवश्यक नहीं है। अतएव मैं आगे "चतुराश्रम विभाग" अर्थात् "चार आश्रमों में विभाजन" नाम के आठवें अध्याय से कुछ उद्धरण दूँगा जो, सामान्य वर्ण्य-विषय की दृष्टि से, विष्णुपुराण अंश १ के छठवें अध्याय के साथ समानता रखता है, किन्तु उससे कहीं अधिक लम्बा और वस्तुतः नितान्त वाग्विस्तर, अस्तव्यस्त, पुनरुक्ति पूर्ण तथा सदैव सुतरां बोधगम्य भी नहीं है।

इसके ठीक पहले आने वाला (अर्थात् सातवाँ) 'प्रतिसन्धिकीर्त्तनम्' नामक अध्याय इस प्रकार समाप्त होता है: "मैं अब तुमसे वर्तमान कल्प का वर्णन करूँगा, इसे समझो।" इसके अनुसार सूत आठवें अध्याय के प्रारम्भ में उन कुछ श्लोकों की आवृत्ति करते हैं, जिन्हें छठवें अध्याय के प्रारम्भ से पहले ही उद्धृत किया जा चुका है और जो जगत् के लय होने के उपरान्त आनेवाली रात्रि में ब्रह्मा जी के शयन का वर्णन करते हैं, तथा वे संक्षेप में जलराशि के नीचे से पृथ्वी के उद्धार, उसके पुनर्निर्माण, तथा युगों की व्यवस्था का सिंहावलोकन भी करते हैं। २२वें श्लोक से वर्णन इस प्रकार चलता है:—

' कल्पस्यादौ कृतयुगे प्रथमे सोऽसृजत् प्रजाः। २३. प्राग् उक्ता या मया तुभ्यम् पूर्व-काले प्रजास् तु ताः। तस्मिन् सम्वर्त्तमाने तु कल्पे दग्धास् तदाऽग्निना। २४. अप्राप्ता यास् तपो-लोकं जन-लोकं समाश्रिताः। प्रवर्त्तति पुनः सर्गे बीजार्थं ता भवन्ति हि। २५. बीजार्थेन स्थितास् तत्र पुनः सर्गस्य कारणात्। ततस् ताः सृज्यमानास् तु सन्तानार्थम् भवन्ति हि। २६ धर्मार्थ-काम-मोक्षाणाम् इह ताः साधिकाः स्मृताः। देवाश् च पितरश्चैव ऋषयो मनवस् तथा। २७. ततस् ते तपसा युक्ताः स्थानान्य् आपूरयन्ति हि। ब्रह्मणो मानसास् ते वै सिद्धात्मानो भवन्ति हि। २८. ये सङ्गाद्वेष-युक्तेन कर्मणा ते दिवं गताः। आवर्त्तमाना इह ते सम्भवन्ति युगे युगे। २९. स्वकर्म-फल-शेषेण ख्यात्या चैव तथात्मिका (? तथा-

स्मृता। सम्भवन्ति जनाल् लोकान् कर्म-संशय-बन्धनात्। ३०. आशयः कारणं तत्र बोद्धव्यं कर्मणां तु सः। तैः कर्मभिस् तु जायन्ते जनाल् तान् शुभाशुभैः। ३१. गृह्णाति ते शरीराणि नाना-रूपाणि योनिषु। देवाद्याः स्थावरान्ताश् च उत्पद्यन्ते परस्परम् (? परम्परम्)। ३२. तेषां ये यानि कर्माणि प्राक्-सृष्टौ प्रतिपेदिरे। तान्य् एव प्रतिपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः। ३३. हिंस्राहिंस्रे मृदु-क्रूरे धर्माधर्मे ऋतानृते। तद्भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात् तत् तस्य रोचते। ३४. कल्पेष्व् आसन् व्यतीतेषु रूप-नामानि यानि च। तान्य् एवानागते काले प्रायशः प्रतिपेदिरे। ३५. तस्मात् तु नाम-रूपाणि तान्य् एव प्रतिपेदिरे। पुनः पुनस् ते कल्पेषु जायन्ते नाम-रूपतः। ३६. ततः सर्गे ह्य् अवष्टब्धे सिसृक्षोर् ब्रह्मणस् तु वै। ३७.[156] प्रजास् ता ध्यायतस् तस्य सत्याभिध्यायिनस् तदा। मिथुनानां सहस्रं तु सोऽसृजद् वै मुखात् तदा। ३८. जनास् ते ह्य् उपपद्यन्ते सत्त्वोद्रिक्ताः सुचेतसः[157]। सहस्रम् अन्यद् वक्षस्तो मिथुनानां ससर्ज ह। ३९. ते सर्वे रजसोद्रिक्ताः शुष्मिणश् चाप्य् अशुष्मिणः।[158] सृष्ट्वा सहस्रम् अन्यत् तु द्वन्द्वानाम् ऊरुतः पुनः। ४०. रजस्-तमोभ्याम् उद्रिक्ता ईहाशीलास् तु ते स्मृताः। पद्भ्याम् सहस्रम् अन्यत् तु मिथुनानां ससर्ज ह। ४१. उद्रिक्तास् तमसा सर्वे निःश्रीका ह्य् अल्प-तेजसः। संहृष्यमाणास् ते द्वन्द्वोत्पन्नास् तु प्राणिनः। ४२. अन्योन्य-हृच्छयाविष्टा मैथुनायोपचक्रमुः। तत प्रभृति कल्पेऽस्मिन् मैथुनोत्पत्तिर् उच्यते। ४३. मासि मास्य् आर्तवं यत् तु न तदाऽऽसीत् तु योषिताम्।[159] तस्मात् तदा न सुषुवुः सेवितैर् अपि मैथुनैः। ४४. आयुषोऽन्ते प्रसूयन्ते मिथुनान्य् एव ताः सकृत्। कुण्ठका, कुण्ठकाश् चैव उत्पद्यन्ते

मुमूर्षताम् ।[147] ४५. ततः प्रभृति कल्पेऽस्मिन् मिथुनानां हि सम्भवः। ध्याने तु मनसा तासाम् प्रजानाम् जायते सकृत्। ४६. शब्दादि-विषयः शुद्धः प्रत्येकम् पञ्चलक्षणः। इत्य् एवम् मानसी[148] पूर्वम् प्राक्-सृष्टिर् या प्रजापतेः। ४७. तस्यान्ववाये सम्भूता यैर् इदम् पूरितं जगत्। सरित्-सरः-समुद्रांश् च सेवन्ते पर्वतान् अपि। ४८. तदा नात्यन्त-शीतोष्णा युगे तस्मिन् चरन्ति वै। पृथ्वी रसोद्भवं नाम आधारं ह्य् आहरन्ति वै।[149] ४९. ताः प्रजाः काम-चारिण्यो मानसीम् सिद्धिम् आस्थिताः। धर्माधर्मौ न तास्व् आस्ताम् निर्विशेषाः प्रजास् तु ताः। ५०. तुल्यम् आयुः सुखं रूपं तासां तस्मिन् कृते युगे। धर्माधर्मौ न तास्व् आस्ताम् कल्पादौ तु कृते युगे। ५१. स्वेन स्वेनाधिकारेण जज्ञिरे ते कृते युगे। चत्वारि तु सहस्राणि वर्षाणां दिव्यसंख्यया। ५२. आद्यं कृत-युगम् प्राहुः सन्ध्यानां तु चतुःशतम्। ततः सहस्रशस् तास प्रजासु प्रथितास्व् अपि। ५३. [150]न तासाम् प्रतिघातोऽस्ति न द्वन्द्वं नापि च क्लमः। पर्वतोदधि-सेविन्यो ह्य् अनिकेताश्रयास् तु ताः। ५४. विशोकाः सत्त्व-बहुलाः ह्य् एकान्त-सुखिताः प्रजाः। ताः वै निष्काम-चारिण्यो नित्यम् मुदित-मानसाः। ५५. पशवः पक्षिणश् चैव न तदासन् सरीसृपा। नोद्भिज्जा नारकश्[151] चैव ते ह्य् अधर्मप्रसूतयः। ५६. न मूल-फल-पुष्पं च नार्त्तवम् ऋतवो न च। सर्व-काम-सुखः कालो नात्यर्थं ह्य् उष्ण-शीतता।[152] ५७. मनोभिलषिताः कामास् तासां सर्वत्र सर्वदा। उत्तिष्ठन्ति पृथिव्यां वै ताभिर् ध्याता रसोल्वणाः। ५८. बलवर्ण-कारी तासाम् सिद्धिः सा रोग-नाशिनी। असंस्कार्यैः शरीरैश् च प्रजास् ताः स्थिरयौवनाः। ५९. तासां विशुद्धात् सङ्कल्पाज् जायन्ते मिथुनाः

---

[147] यह श्लोकार्ध मार्कं० पु० मे नही उपलब्ध होता है।

[148] मार्कं० पु० मे 'मानसी' मन से उत्पन्न, के स्थान पर 'मानुषी' अर्थात् मानवीय है।

[149] यह श्लोक मार्कं० पु० मे नही है और इस स्थल के उपरान्त दोनो पुराणो मे समान रूप से पाये जाने वाले श्लोक एक ही स्थानो पर नही नही उपलब्ध होते।

[150] श्लोक ५३–५६ सामान्यत मार्कं० पु० के श्लोक १४–१८ के अनुरूप है।

[151] मार्कं० पु० की गणना मे 'नक्रा' भी आया है।

[152] मार्कं० पु० मे इस स्थल पर वायु पु० के ५७ तथा ५८ अ के स्थान पर कुछ और पंक्तियाँ १८ ब–२१ अ घुसा दी गई हैं।

प्रजाः। समम् जन्म च रूपं चम्रियन्ते चैव ताः समम्। ६०. तदा सत्यम् अलोभश् च क्षमा तुष्टिः सुखं दमः। निर्विशेषास् तु ताः सर्वा रूपायुः-शील-चेष्टितैः। ६१. अबुद्धि पूर्वकं वृत्तम् प्रजानां जायते स्वयम्। अप्रवृत्तिः कृत-युगे कर्मणोः शुभपापयोः। ६२ वर्णाश्रम व्यवस्थाश् च न तदाऽऽसन् न सङ्करः। अनिच्छाद्वेष-युक्तास् ते वर्त्तयन्ति परस्परम्। ६३. तुल्य-रूपायुषः सर्वा अधमोत्तम-वर्जिताः[153]। सुख-प्राया ह्य् अशोकाश् उद्पद्यन्ते कृते युगे। ६४. नित्य-प्रहृष्ट-मनसो महासत्त्वा महाबलाः। लाभालाभौ न तास्व् आस्ताम् मित्रामित्रे प्रियाप्रिये। ६५. मनसा विषयस् तासां निरीहाणाम् प्रवर्त्तते। न लिप्सन्ति हि ताऽन्योयं नानुगृह्णन्ति चैव हि। ६६. ध्यानम् परं कृत-युगे त्रेतायां ज्ञानम् उच्यते। प्रवृत्तं द्वापरे यज्ञं दानम् कलि-युगे वरम्। ६७. सत्त्वं कृतं रजस् त्रेता द्वापरं तु रजस्-तमौ। कलौ तमस् तु विज्ञेयम् युग-वृत्त-वशेन तु। ६८. कालः कृते युगे त्व् एष तस्य सङ्ख्यां निबोधत। चत्वारि तु सहस्राणि वर्षाणा तत् कृतं युगम्। ६९. सन्ध्यांशौ तस्य दिव्यानि शतान्य् अष्टौ च सङ्ख्यया। तदा तासाम् बभूवायुर् न च क्लेश-विपत्तयः[154]। ७०. ततः कृतयुगे तस्मिन् सन्ध्यांशे हि गते तु वै। पादावशिष्टो भवति युग-धर्मस् तु सर्वशः। ७१. सन्ध्यायाम् अप्य् अतीतायाम् अन्त-काले युगस्य वै। पादशश् चावशिष्टे तु सन्ध्या-धर्मे युगस्य तु। ७२. एवं कृते तु निःशेषे सिद्धिस् त्व् अन्तर्दधे तदा। तस्या च सिद्धौ भ्रष्टायाम् अभवत् ततः। ७३. सिद्धिर् अन्या युगे तस्मिस् त्रेतायाम् अन्तरे कृता। सर्गादौ या मयाऽष्टौ तु मानद्यौ वै प्रकीर्त्तिताः। ७४. अष्टौ ताः क्रम-योगेन सिद्धयो यन्ति सङ्सयम्। कल्पादौ मानसी ह्य् एका सिद्धिर् भवति सा कृते। ७५. मन्वन्तरेषु सर्वेषु चतुर्-युग-विभागशः। वर्णाश्रमाचार-कृतः कर्म-सिद्धोद्भवः (कर्म—सिद्युद्भवः ?)

---

[153] मार्क० पु० मे इस स्थल पर निम्नलिखित पंक्तियां अन्तर्निविष्ट की गई है २४ 'चत्वारि तु सहस्राणि वर्षाणा मानुषाणि तु। आयु-प्रमाणा जीवन्ति न च क्लेशाद् विपत्तय'। २५ क्वचित् क्वचित् पुन सा भूत् क्षितिर् भाग्येन सर्वश। कालेन गच्छता नाशम् उपयान्ति यथा प्रजा'। २६ तथा ता कर्मश नाशा जग्मुः सर्वत्र सिद्धय. तासु सर्वासु नष्टासु नभस प्रच्युता नराः। एक हस्तप्रति मे 'लता')। प्रायशः कल्प-वृक्षास् ते सम्भूता गृह-संस्थिता।'

[154] 'बभूयवायु' आदि के स्थान पर गायकवाड हस्तप्रति मे 'प्रयुक्तानि न च क्लेशो बभूव ह।'

स्मृतः। ७६. सन्ध्या कृतस्य पादेन सन्ध्या पादेन चांशतः। कृत-सन्ध्यांशका ह्य् एते त्रीस् त्रीन् पादान् परस्परम्। ७७. ह्रसन्ति युग-धर्मैस् ते तपः-श्रुत-बलायुषैः। ततः कृतांशे क्षीणे तु बभूव तद्-अनन्तरम्। ७८. त्रेता-युगम् अमन्यत कृतांशम् ऋषि-सत्तमाः। तस्मिन् क्षीणे कृतांशे तु तच्-छिष्टासु प्रजास्व् इह। ७९. कल्पादौ सम्प्रवृत्तायास् त्रेतायाः प्रमुखे तदा। प्रणश्यति तदा सिद्धिः काल-योगेन नान्यथा। ८०. तस्यां सिद्धौ प्रणष्टायाम् अन्या सिद्धिर् अवर्त्तत। अपाम् सौक्ष्म्ये प्रतिगते तदा मेघात्मना तु वै। ८१. मेघेभ्यः स्तनयित्नुभ्यः प्रवृत्तं वृष्टि-सर्ज्जनम्। सकृद् एव तया वृष्ट्या संयुक्ते पृथिवी-तले। ८२. प्रादुरासंस् तदा तासां वृक्षास् तु गृह-संस्थिताः।[155] सर्व-प्रत्युपभोगस् तु तासां तेभ्यः प्रजायते। ८३. वर्त्तयन्ति हि तेभ्यस् तास् त्रेता-युग-मुखे प्रजाः। ततः कालेन महता तासाम् एव विपर्ययात्। ८४. रागलोभात्मको भावस् तदा ह्य् आकस्मिकोऽभवत्। यत् तद् भवति नारीणां जीवितान्ते तद् आर्तवम्। ८५. तदा तद् वै न भवति पुनर् युग-बलेन तु। तासाम् पुनः प्रवृत्ते तु मासे मासे तद् आर्त्तवम् (—वे ?)। ८६. ततस् तेनैव योगेन वर्त्तताम् मैथुने तदा। तासां तात्-काल-भावित्वाद् मासि मास्य् उपयच्छताम्। ८७. अकाले ह्य् आर्त्तवोत्पत्तिर् गर्भोत्पत्तिर् अजायत। विपर्य्ययेन तासां तु तेन कालेन भाविना। ८८. प्रणश्यन्ति ततः सर्वे वृक्षास् ते गृहसंस्थिताः। ततस् तेषु प्रणष्टेषु विभ्रान्ता व्याकुलेन्द्रियाः। ८९. अभिध्यायन्ति तां सिद्धिं सत्याभिध्यायिनस् तदा। प्रादुर्बभूवुस् तासां तु वृक्षास् ते गृह-संस्थिताः। ९०.[156] वस्त्राणि च प्रसूयन्ते फलेष्व् आभरणानि च। तेष्व् एव जायते तासाम् गन्ध-वर्ण-रसान्वितम्। ९१. अमाक्षिकम् महावीर्यम् पुटके पुटके मधु। तेन ता वर्त्तयन्ति स्म मुखे त्रेतायुगस्य वै। ९१. हृष्ट-तुष्टास् तया सिद्ध्या प्रजा वै विगत-ज्वराः। पुनः कालान्तरेणैव पुनर् लोभावृतास् तु ताः। ९३. वृक्षांस् तान् पर्यगृह्णन्त मधु चामक्षिकम् बलात्। तासां तेनापचारेण पुनर् लोभ-कृतेन वै। ९४. प्रणष्टा मधुना सार्धम्। कल्प-वृक्षाः क्वचित् क्वचित्। तस्याम् एवाल्प-शिष्टायां सन्ध्या-काल-वशात् तथा। ९५. वर्त्तंतां तु तदा तासां द्वन्द्वान्य् अभ्युत्थितानि तु।

---

[155] मार्कं० पु० के श्लोक २७—३५ अल्पाधिक इससे और इसके उपरान्त ९८ तक के श्लोको से साम्य रखते हैं।

[156] यह और इसके आगे के श्लोक अल्पाधिक मार्कं० पु० के श्लोक ३० एव आगे के श्लोको से निकट साम्य रखते हैं।

शीतवातातपैस् तीव्रैस् ततस् ताः दुःखिता भृशम्। ६६. द्वन्द्वैस् ताः पीड्यमानास् तु चक्रुर् आवरणानि च। कृत्वा द्वन्द्व-प्रतीकारम् निकेतानि हि भेजिरे। ६७. पूर्वं निकाम-चारास् ते अनिकेताश्रया भृशम्। यथा-योग्यं यथा-प्रीति निकेतेष्व् अवसन् पुनः ६८. मरु-धन्वसु निम्नेषु पर्वतेषु दरीषु च[157]। संश्रयन्ति च दुर्गाणि धन्वानम् शाश्वतोदकम्। ६६. यथा-योग यथा-कामं समेषु विषमेषु च आरब्धास् ते निकेता वै कर्त्तुं शीतोष्ण-वारणम्। १००. ततस् ता मापयामासुः खेटानि च पराणि च। ग्रामांश् चैव यथा-भागं तथैवान्तः-पुराणि च।...१२३.[158] कृतेषु तेषु स्थानेषु पुनश् चक्रुर् गृहानि च। यथा च पूर्वम् आसन् वै वृक्षास तु गृह-संस्थिताः। १२४. तथा कर्त्तुं समारब्धाश् चिन्तयित्वा पुनः पुनः। वृद्धाश् चैव गताः शाखा नताश् चैवापरा गताः। १२५. अत ऊर्ध्वम् गताश् चान्या एनम् तिर्यग्गताः पराः। बुद्धयाऽन्विष्य तथाऽन्या या वृक्ष-शाखा यथा गताः। १२६. तथा कृतास् तु तैः शाखास् तास्माच् छालास् तु ताः स्मृताः। एवम् प्रसिद्धाः शाखाभ्यः शालाश् चैव गृहाणि च। १२७. तस्मात् ता वै स्मृताः शालाः शालात्वं चैव तासु तत्। प्रसीदति मनस् तासु मनः प्रासादयंश् च ताः। १२८. तस्माद् गृहाणि शालाश् च प्रासादाश् चैव संज्ञिताः। कृत्वा द्वन्द्वोपघातांस् तान् वार्त्तोपायम् अचिन्तयन्। १२६.[159] नष्टेषु मधुना सार्द्धं कल्प-वृक्षेषु वै तदा। विषाद-व्याकुलास् ता वै प्रजास् तृष्णा-क्षुधान्विताः। १३०. ततः प्रादुर्बभौ तासां सिद्धिस् त्रेता-युगे पुनः। वार्त्तार्थ-साधिका ह्य् अन्या वृष्टिस् तासां हि कामत। १३१. तासां वृष्टय्-उदकानीह यानि निम्नैर् गतानि तु। वृष्ट्या निम्ना (?) निरभवन् स्रोतः-खातानि निम्नगाः। १३२. एव नद्यः प्रवृत्तास् तु द्वितीये वृष्टि-सर्जने। ये पुरस्ताद् अपाम् स्तोका आपन्नाः पृथिवीतले। १३३. अपाम् भूमेश् च संयोगाद् ओषध्यस् तासु चाभवन्। पुष्प-मूल-फलिन्यस् त्व् ओषध्यस् ताः प्रजज्ञिरे। १३४. अफाल-कृष्टाश् चानुप्ता ग्राम्यारण्यश चतुर्दश। ऋतु-पुष्प-फलाश्चैव वृक्षाः गुल्माश् च जज्ञिरे। १३५. प्रादुर्भवश् च त्रेतायाम् आद्योऽयम् औषधस्य तु। तेनौषधेनवर्त्तन्ते प्रजास् त्रेतायुगे तदा। १३६. ततः पुनर् अभूत् तासां रागो लोभश् च

[157] मैंने मार्क० पु० ४९ ३५ मे इस पंक्ति को शुद्ध किया है।

[158] मार्क० पु० के श्लोक ५२–५४ वायु० पु० के श्लोक १२३–१२८ से तत्वतः साम्य रखते हैं।

[159] मार्क० पु० के श्लोक ५५–६२ वायु० पु० के श्लोक १२९–१३७ से मिलते हैं।

सर्वशः। अवश्यम्भाविनाऽर्थेन त्रेता-युग-वशेन तु। १३७. ततस् ताः पर्यगृह्णन्त नदीः क्षेत्राणि पर्वतान्। वृक्षान् गुल्मौषधीश् चैव प्रसह्य तु यथा-बलम्। १३८. सिद्धात्मानस् तु ये पूर्वम् व्याख्याताः प्राक् कृते मया। ब्रह्मणो मानसास् ते वै उत्पन्ना ये जनाद् इह। १३९. शान्ताश् च शुष्मिणश् चैव कर्मिणो दुःखिनस् तदा। ततः प्रवर्त्तमानास् ते त्रेतायां जज्ञिरे पुनः। १४०. ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्याः शूद्रा द्रोहिजनास् तथा। भाविताः पूर्व-जातीषु कर्मभिश् च शुभाशुभैः। १४१. इतस् तेभ्योऽबला ये तु सत्यशीला ह्य् अहिंसकाः। वीत-लोभा जितात्मानो निवसन्ति स्म तेषु वै। १४२. प्रतिगृह्णन्ति कुर्वन्ति तेभ्यश् चान्येऽल्प-तेजसः। एवं विप्रतिपन्नेषु प्रपन्नेषु परस्परम्। १४३. तेन दोषेण तेषां ता ओषध्यो मिषतां तदा[९०]। प्रणष्टा ह्रियमाणा वै मुष्टिभ्यां सिकता यथा। १४४.[९१] अग्रसद् भूर् युग-बलाद् ग्राम्यारण्याश् चतुर्दश। फलं गृह्णन्ति पुष्पैश् च फलैः पत्रैः पुनः पुनः। १४५.[९२] ततस् तासु प्रणष्टासु विभ्रान्तास् ताः प्रजास् तदा। स्वयम्भुवम् प्रभुं जग्मुः क्षुधाविष्टाः प्रजापतिम्। १४६. वृत्त्य् अर्थम् अभिलिप्सन्तः आदौ त्रेता-युगस्य तु ब्रह्मा स्वयम्भूर् भगवान् ज्ञात्वा तासाम् मनीषितम्। १४७. युक्तम् प्रत्यक्ष-दृष्टेन दर्शनेन विचार्य्य च। ग्रस्ताः पृथिव्या ओषध्यो ज्ञात्वा प्रत्यदुहत् पुनः। १४८. कृत्वा वत्सं सुमेरुम् तु दुदोह पृथिवीम् इमाम्। दुग्धेयं गौस् तदा तेन बीजानि पृथिवी-तले। १४९. जज्ञिरे तानि बीजानि ग्राम्यारण्यास् तु ताः पुनः। ओषध्यः फल-पाकान्ताः शण-सप्तदशास्तु ताः।...१५५. उत्पन्नाः प्रथमं ह्य् एता आदौ त्रेता-युगस्य तु। १५६. अफाल-कृष्टा ओषध्यो ग्राम्यारण्यास् तु सर्वशः। वृक्षा गुल्म-लता-वल्ल्यो वीरुधस् तृण-जातयः। १५७. मूलैः फलैश् च रोहिण्योऽगृह्णन् पुष्पैश् च याः फलम्। पृथ्वी दुग्धा तु बीजानि यानि पूर्वं स्वयम्भुवा। १५८. ऋतु-पुष्प-फलास् ता वै ओषध्यो जज्ञिरे त्व् इह।[९३] यदा प्रसृष्टा ओषध्यो न प्ररोहन्ति ताः पुनः। १५९. ततः स तासां वृत्त्य्-अर्थम् वार्त्तोपायं चकार ह। ब्रह्मा स्वम्भूर् भगवान् हस्त-सिद्धं

---

[९०] मार्क० पु० श्लोक ६३ अ

[९१] मार्क० पु० श्लोक ६८ ब

[९२] मार्क० पु० के श्लोक ६४–६७ वायु० पु० के श्लोक १४५–१४९ से मिलते हैं।

[९३] मार्क० पु० श्लोक ७३–७५ वायु० पु० के श्लोक १५८ ब–१६० अ से मिलते हैं।

तु कर्म-जम्। १६०. ततःप्रभृत्य् अथौपध्यः कृष्ट-पच्याश् तु जज्ञिरे। संसिद्धायां तु वार्त्तायां ततस् तासां स्वयम्भुवः। १६१. मर्यादाः स्थापयामास यथारब्धाः परस्परम्।[164] ये वै परिगृहीतारस् तासाम् आसन् वधात्मकाः। १६२. इतरेषां कृत-त्राणान् स्थापयामास क्षत्रियान्। उपतिष्ठन्ति ये तान् वै यावन्तो निर्भयास् तथा। १६३. सत्यम् ब्रह्म यथा भूतम् ब्रुवन्तो ब्राह्मणास् तु ते। ये चान्येऽप्य् अबलास् तेषां वैशसे कर्मं संस्थिताः। १६४. कीनाशा नाशयन्ति स्म पृथिव्याम् प्राग् अतन्द्रिताः। वैश्यान् एव तु तान् आहुः कीनाशान् वृत्ति-साधकान्। १६५. शोचन्तश् च द्रवन्तश् च परिचर्यासु ये रताः। निस्तेजसोऽल्प-वीर्याश् च शूद्रान् तान् अब्रवीत् तु सः। १६६. तेषां कर्माणि धर्मांश् च ब्रह्माऽनुव्यदधात् प्रभुः। संस्थितौ प्रकृतायां तु चातुर्वर्ण्यस्य सर्वसः। १६७. पुनः प्रजास् तु ता मोहात् तान् धर्मान् नान्वपालयन्। वर्ण-धर्मैर् अजीवन्त्यो व्यरुध्यन्त परस्परम्। १६८. ब्रह्मा तम् अर्थम् बुद्ध्वा तु याथातथ्येन वै प्रभुः। क्षत्रियाणाम् बलम् दण्डम् युद्धम् आजीवम् आदिशत्। १६९. याजनाध्ययनम् चैव तृतीयं च परिग्रहम्। ब्राह्मणानां विभुस् तेषाम् कर्माण्य् एतान्य् अथादिशत्। १७०. पाशुपाल्यं वाणिज्यं च कृषिं चैव विशां ददौ। शिल्पाजीवम् भृतिं चैव शूद्राणां व्यदधात् प्रभुः। १७१. सामान्यानि तु कर्माणि ब्रह्म-क्षत्र-विशाम् पुनः। यजनाध्ययनं दानम् सामान्यानि तु तेषु वै। १७२. कर्माजीवं ततो दत्त्वा तेभ्यश् चैव परस्परम्। लोकान्तरेषु स्थानानि तेषां सिद्ध्याय्[165] अदात् प्रभुः। १७३.[166] प्राजापत्यं ब्राह्मणानाम् स्मृतं स्थानं क्रियावताम्। स्थानं ऐन्द्रं क्षत्रियाणाम् सङ्ग्रामेष्व् अपलायिनाम्। १७४. वैश्यानाम् मारुतं स्थानं स्व-धर्मम् उपजीविनाम्। गान्धर्वं शूद्र-जातीनाम् प्रतिचारेण (परिचारेण ?) तिष्ठताम्। १७५. स्थानान्य् एतानि वर्णानां व्यस्याचारवतां स्वयम्। ततः स्थितेषु वर्णेषु स्थापयामास चाश्रमान्। १७६. गृहस्थम् ब्रह्मचारित्वं वनप्रस्थम् सभिक्षुकम्। आश्रमाश् चतुरो ह्य् एतान् पूर्वम् अस्तापयत्

---

[164] यह और इसके बाद १७१ वें श्लोक तक का अंश मार्क० पु० में नहीं मिलता।

[165] मैं 'सिद्ध्याय् अदात्' को उचित पाठ समझता हूँ। हस्तप्रतियों में 'सिद्ध्यददात्' या 'सिद्ध्याददात्' इत्यादि है।

[166] श्लोक १७४ आदि मार्कं० पु० श्लोक ७७ आदि में मिलता है, किन्तु इसके उपरान्त १९३ वें श्लोक तक का अंश नहीं मिलता।

प्रभुः। १७७. वर्ण-कर्माणि ये केचित् तेषाम् इह न कुर्वते। कृत-कर्मक्षितिः (?) प्राहुर् आश्रम् स्थान-वासिनः। १७८. ब्रह्मा तान् स्थापयामास आश्रमान् नाम नामतः। निर्देशार्थं ततस् तेषाम् ब्रह्मा धर्मान् प्रभाषत। १७९. प्रस्थानानि च तेषां वै यमांश्च नियमांश् च ह। चातुर्वर्ण्यात्-मखः पूर्वं गृहस्थस् त्व् आश्रमः स्मृतः। १८०. त्रयाणाम् आश्रमाणां च प्रतिष्ठा योनिर् एव च। यथाक्रमम् प्रवक्ष्यामि यमैश् च नियमैश् च तैः। ... १९०. वेदाः साङ्गाश् च यज्ञाश् च व्रतानि नियमाश् च ये। १९१. न सिद्ध्यन्ति प्रादुष्टस्य भावदोषे उपागते। बहिः-कर्माणि सर्वाणि प्रसिद्ध्यन्ति (न सिद्ध्यन्ति ?) कदाचन। १९२. अन्तर्-भाव-प्रदुष्टस्य कुर्वतो हि पराक्रमात्। सर्वस्वम् अपि यो दद्यात् कलुषेणान्तरात्मना। १९३. न तेन धर्म-भाक् स स्याद् भाव एव हि कारणम्। ...१९९. एवं वर्णाश्रमाणां वै प्रति-भागे कृते तदा। २००. यदाऽस्य न व्यवर्धन्त प्रजा वर्णाश्रमात्मिकाः। ततोऽन्या मानसीः सोऽथ त्रेता-मध्येऽसृजत् प्रजाः। २०१. आत्मनस् ताः शरीराच्च तुल्याश् चैवात्मना तु वै। तस्मिन् त्रेता-युगे प्राप्ते मध्यम् प्राप्ते क्रमेण तु। २०२. ततोऽन्या मानसीस् तत्र प्रजाः स्रष्टुम् प्रचक्रमे। ततः सत्त्व-रजोद्रिक्ताः प्रजाः सोऽथासृजत् प्रभुः। २०३. धर्मार्थ-काम-मोक्षाणां वार्त्तायाश् चैव साधिकाः। देवाश् च पितरश् चैव ऋषयो मनवस् तथा। २०४. युगानुरूपा धर्मेण यैर् इमा विचिताः प्रजाः। उपस्थिते तदा तस्मिन् प्रजाधर्मे (-सर्गे ?) स्वयम्भुवः। २०५. अभिदध्यौ प्रजाः सर्वा नानारूपास् तु मानसीः। पूर्वोक्ता या मया तुभ्यं जन-लोकं समाश्रिताः। २०६. कल्पेऽतीते तु ता ह्य् आसन् देवाद्यास् तु प्रजा इह। ध्यायतस् तस्य ताः सर्वा समभूत्य्-अर्थम् उपस्थिताः। २०७. मन्वन्तर-क्रमेणेह कनिष्ठे प्रथमे मताः। ख्यात्याऽनुबन्धैस् तैस् तैस् तु सर्वार्थैर् इह भाविताः। २०८. कुशलाकुशल-प्रायैः क्रमभिस् तैः सदा प्रजाः। तत्-कर्म-फल-शेषेण उपष्टब्धाः प्रजज्ञिरे। २०९. देवासुर-पितृत्वैस् तु पशु-पक्षि-सरीसृपैः। वृक्ष-नारक-कीटत्वैस् तैस् तैर् भावैर् उपस्थिताः। आधीनार्थम् प्रजानां च आत्मना वै विनिर्ममे।

२२. "कल्प के प्रारम्भ में उस प्रथम कृतयुग में उन्होंने उन प्रजाओं की सृष्टि की जिनका वर्णन मैं पहले तुमसे कर चुका हूँ। किन्तु पुरातन काल में, कल्प के अन्त में, वे प्राणी अग्नि से भस्म हो गये। २४. उनमें से जो तपलोक नहीं पहुँच सके, उन्होंने जनलोक में आश्रय लिया, और जब पुनः सृष्टि प्रारम्भ होती है तो वही इसके बीज होते हैं। २५. दूसरी सृष्टि के हेतु

वहाँ बीज रूप में स्थित होते हुए उनकी पुनः प्रजावृद्धि के प्रयोजन से उत्पत्ति होती है। २६. वर्तमान अवस्था में उन्हें (मानव जीवन के चार लक्ष्यों, अर्थात्) धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष का साधक कहा जाता है और ये होते हैं देवता, पितर, ऋषि और मनु। २७. तब तप से युक्त होकर ये सभी स्थानों को भर लेते हैं। ये ब्रह्मा के मानस पुत्र हैं जो पूर्ण स्वरूप वाले होते हैं। २८. जिन्होंने बाह्य पदार्थों के प्रति अनुराग युक्त किन्तु द्वेषहीन कर्मों से दिवलोक को प्राप्त किया, वे इस लोक में लौटते हैं और प्रत्येक युग में जन्म लेते हैं। २९. अपने कर्मों के फलस्वरूप तथा अपने लक्ष्य के कारण, ये जनलोक से (लौटकर) अपने पूर्व जन्म के कर्मों के प्रभाव से पूर्व स्वरूप में ही जन्म लेते हैं।[187] ३०. यह जान लेना चाहिए कि इसका कारण उनकी प्रवृत्ति (या भाग्य) है, जो स्वयं कर्मों का परिणाम है। इन शुभ या अशुभ कर्मों के फलस्वरूप ये जनलोक से लौटते और जन्म लेते हैं, ३१ तथा विभिन्न योनियों में अनेक शरीर धारण करते हैं। ये पुनः पुनः देवताओं से लेकर स्थावर भूतों तक सभी अवस्थाओं में जन्म ग्रहण करते हैं। ३२. जब ये प्राणी समय-समय पर जन्म लेते हैं तब उन्हीं कर्मों को प्राप्त करते हैं, जिन्हें पूर्वकाल की सृष्टियों में प्राप्त कर चुके होते हैं। ३३. नश्वरता तथा अनश्वरता, मृदुता तथा क्रूरता, धर्म तथा अधर्म, सत्य तथा असत्य— इस प्रकार के स्वभावों से प्रभावित होकर ये (अनेक अवस्थाएँ) प्राप्त करते हैं, और एतदर्थ विशिष्ट कर्म विशिष्ट प्राणियों को रुचिकर होते हैं। ३४. और अनुवर्ती युगों में प्राय: वे ही आकार और नाम प्राप्त करते हैं जो रूप तथा नाम बीते हुए कल्पों में धारण कर चुके होते हैं। ३५. अतएव ये वही नाम रूप प्राप्त करते हैं। विभिन्न कल्पों में ये उसी नाम और आकार के साथ जन्म लेते हैं। ३६. पुनः जब सृष्टि रुक गई और जब ब्रह्मा सृष्टि रचना की इच्छा कर रहे थे, ३७. तथा प्रजाओं का ध्यान करते हुए अपनी योजना में लगे हुए थे—उन्होंने अपने मुख से प्रजाओं के एक सहस्र जोड़े उत्पन्न किये, ३८. जिनमें सत्त्व गुण का प्राधान्य था और जो बुद्धि से युक्त थे।[188] तब उन्होंने पुनः एक सहस्र जोड़े अपने वक्ष से उत्पन्न किये, ३९. जिन सबमें रजोगुण का प्राधान्य था और वे तेजयुक्त तथा तेजहीन दोनों प्रकार

---

[187] 'कर्म-संशय-बन्धनात्', में इस समास में 'संशय' का अर्थ नहीं समझ पाता।

[188] सुचेतस, मार्क० पु० में 'सुतेजस.' अर्थात् तेजयुक्त पाठ है जो शूद्रों के लिये प्रयुक्त 'अल्पतेजस' के विरोध में आने से ब्राह्मणों का विशेषण ठहरता है।

के थे।[१६९] अपने अस्त्रों से पुनः एक सहस्र जोडे उत्पन्न कर, (४०) जिनमे रजोगुण तथा तमोगुण दोनों का प्राधान्य था और जिन्हें क्रियाशील कहा जाता है—उन्होंने अपने पैरों से एक सहस्र जोडों को और उत्पन्न किया, ४१. जो सभी तमोगुण से युक्त, श्रीहीन तथा अल्पतेज वाले थे। तब इन जोड़ों से (या इस प्रकार जोड़ों में उत्पन्न हुए प्राणियों से) उत्पन्न हुई प्रजाएँ, आनन्दित होती हुई ४२ परस्पर प्रेम भाव रखती हुई, मैथुन में प्रवृत्त हुईं। उस समय से वर्तमान कल्प में मैथुन की उत्पत्ति कही जाती है। किन्तु उस समय स्त्रियों के मासिक स्राव नहीं होता था और इस कारण उनके साथ संभोग किये जाने पर भी उनसे सन्तान को उत्पत्ति नहीं हुई। अपने जीवन के अन्त में वे केवल एक बार यमल सन्तान को जन्म देती थीं। जब माता-पिता मृत्यु के सन्निकट होते थे तो उनसे दुर्बल मस्तिष्क वाले पुत्र तथा पुत्रियों का ही जन्म होता था। ४५. उस समय से ही इस कल्प में जुडवा सन्तानों का जन्म प्रारम्भ हुआ, और इस प्रकार की सन्तान केवल एक बार इन प्रजाओं के मानसिक श्रम से ध्यान में उत्पन्न होती थी। ४६. (ये सन्तानें) शब्द आदि अन्य इन्द्रिय-विषयों को ग्रहण करने वाली (?), शुद्ध, तथा प्रत्येकशः पाँच लक्षणों से युक्त थीं। इस प्रकार की ही प्रजापति की आरम्भिक मानस सृष्टि थी। ४७. इस वंश से उत्पन्न हुए जिन प्राणियों से यह संसार पूर्ण हुआ उन्होंने नदियों, जलाशयों, समुद्रों तथा पर्वतों का सेवन किया। ४८. उस युग में वे अत्यन्त शीत या ताप से अप्रभावित थे और उन्होंने पृथ्वी से उत्पन्न हुए अन्नों को उचित रूप से ग्रहण किया। ४९. मानसिक पूर्णता की अवस्था में रहकर उन्होंने अपनी इच्छानुसार कर्म किये, उनमें न तो धर्म था न अधर्म; उनमें कोई विशिष्ट भेद नहीं था। ५०. कल्प के आरम्भ में उस कृतयुग में उनकी आयु, उनका सुख और रूप सभी कुछ एक समान था। उनमें न तो धर्म था और न अधर्म। ५१. कृतयुग में उनमें से प्रत्येक की उत्पत्ति स्वयं अपने ऊपर अपने अधिकार के साथ हुई थी। देवताओं की गणना के अनुसार चार सहस्र वर्ष ५२. तथा प्रत्येक प्रातः एव सन्ध्याकालीन गोधूलि के लिए चार सौ वर्ष, प्रथम अर्थात् कृतयुग में कहे जाते हैं।[१७०] तब

---

[१६९] मार्कं० पु० का 'अमर्षिणः' पाठ वायु० पु० के 'अशुष्मिणः' अर्थात् तेज-रहित की अपेक्षा अधिक सुन्दर अर्थ देता है।

[१७०] इन श्लोको मे प्रथम श्लोक जो आगे श्लोक ६३ की टिप्पणी मे मार्कं० पु० से उद्धृत किया जायगा यहा दिये गये कृतयुग के वर्णन से, जिसका संक्षेप श्लोक ६८ तथा ६९ मे पुनरावृत्त है, अधिक सगत जान पडता है।

यद्यपि इन प्राणियों की सहस्रों की संख्या में वृद्धि हुई ५३. तथापि, उनमें प्रतिघात नहीं था और न वे विषम द्वन्द्वों (सुख-दुःख, शीत-ताप आदि) के वशीभूत थे, उनमें खेद या श्रान्ति का अभाव था। वे पर्वतों एवं समुद्रों का सेवन करते थे, घरों में निवास नहीं करते थे। ५४. वे शोक नहीं करते थे, सत्व से पूर्ण एवं परमसुखी थे; वे इच्छा अनुसार कर्म करने वाले कामचारी नहीं थे[१७१] तथा नित्य प्रसन्नचित्त रहते थे। ५५. उस समय पशु, पक्षी, सरीसृप या वनस्पतियाँ इनमें से किसी का अस्तित्व नहीं था[१७२] (क्योंकि इन सबकी उत्पत्ति अधर्म से होती है),[१७३] ५६. न मूल, फल, पुष्प

---

[१७१] सम्भवत: यहाँ 'निष्काम-चारिण्यो' के स्थान पर 'निकाम–पाठ होना चाहिए, ऐसी स्थिति मे अर्थ होगा "वे इच्छानुसार भ्रमण करते थे।"

[१७२] पाठ मे 'नरकाः' आता है, जिसका अर्थ "नारकीय प्राणी" हो सकता है।

[१७३] यद्यपि यह श्लोक ८२, १३३ तथा १५५ के कथन से मिलता है, फिर भी, विष्णु पु० श्लोक ४५ के कथन के साथ संगत नही ठहरता, जहाँ यह कहा गया है . 'ओपध्यः फल मूलिन्यो रोमभ्यस् तस्य जज्ञिरे। त्रेता-युग-मुखेब्रह्मा कल्पस्यादौ द्विजोत्तम। सृष्ट्वा पश्व्-ओषधीः सम्यग् युयोज स तदाऽध्वरे।' "मूल एव फल वाली वनस्पतियाँ उनके रोमो से उत्पन्न हुई। त्रेता युग के आरम्भ मे ब्रह्मा ने—कल्प के आदि मे पशुओ एव वनस्पतियो की सृष्टि कर—उन्हे यज्ञ मे प्रयुक्त किया।" यद्यपि शब्दो का क्रम अर्थ को कुछ अश तक निश्चित बना देता है, तथापि इसका अर्थ वही प्रतीत होता है जो प्रो० विलसन ने अपने अनुवाद मे किया है (१ ८४) "ब्रह्मा ने कल्प के प्रारम्भ मे अनेक [पशुओ तथा] वनस्पतियो की सृष्टि करके उन्हे त्रेता युग के आरम्भ मे यज्ञ मे नियुक्त किया।" इस व्याख्या की पुष्टि टीकाकार भी करता है, जिसके अनुसार 'तद् एव कल्पस्यादाव् एव पशून् ओषधीश् च सृष्ट्वाऽनन्तरं त्रेता-युग-मुखे प्राप्ते सति सम्यग् ग्राम्यारण्य-व्यवस्थाया तदाऽध्वरे सानतया (सम्यक्तया ?) युयोज कृत-युगे यज्ञस्याप्रवृत्ते'।' "तब इस प्रकार कल्प के प्रारम्भ मे पशुओ एव वनस्पतियो की सृष्टि करके उन्होंने, कालान्तर मे जब त्रेता युग आरम्भ हुआ तो उन्हे उनके ग्राम्य या आरण्य होने के आधार पर यज्ञ मे नियुक्त किया—क्योकि यज्ञ कृतयुग मे नहीं होते थे।" यह इसके पूर्व के वर्णन से समता रखता है, जो वनस्पतियो एव पशुओ की पूर्व वर्णित प्राणियो से विभिन्न युगो मे उत्पन्न होने का उल्लेख नहीं करता। (देखिए विलसन १ ८२–८५)। वायुराण १० ४४–४६ का समानान्तर अनुच्छेद अस्पष्ट है।

तथा वस्तुओं में उत्पन्न होनेवाली वस्तुएँ थीं और न ऋतुएँ थी। काल के साथ ही प्रत्येक अभिलषित वस्तुएँ एवं सुख की प्राप्ति होती थी। उष्णता और शीतलता का आधिक्य नहीं था। ५७. ये लोग जिन वस्तुओं की इच्छा करते थे वे पृथ्वी से सर्वत्र एवं सदैव चिन्तन मात्र से ही उत्पन्न हो जाती थीं और उनमें उत्कृष्ट स्वाद होता था। ५८. उनकी उस पूर्णता ने बल एवं सौन्दर्य को उत्पन्न तथा रोगों का नाश किया। ऐसे शरीरों से, जिनके लिये अलङ्कारों की कोई आवश्यकता नहीं थी, वे निरन्तर यौवन का आनन्द पाते थे। ५९. केवल उनकी विशुद्ध इच्छा से जुड़वाँ सन्तानें जन्म लेती थीं। उनका रूप एक समान था। उनका एक ही साथ जन्म होता था और वे एक ही साथ मरते थे। ६०. तब सत्य, अलोभ, धैर्य, सन्तोष, सुख तथा आत्म-संयम सर्वत्र व्याप्त था। वे सभी रूप, आयु, प्रवृत्ति तथा कर्म की दृष्टि से अभिन्न थे। ६१. उनकी पूर्वेच्छा के बिना ही उनका जीवन-वृत्ति स्वतः प्रादुर्भूत हुआ। कृत युग में वे ऐसे कार्य नहीं करते थे जो शुभ या पापयुक्त हों। ६२. और तब वर्णों या आश्रमों का कोई भेद नहीं था और न वर्ण संकर ही थे। मनुष्य बिना किसी प्रेम या घृणा की भावना से एक दूसरे से व्यवहार रखते थे। ६३. कृतयुग में वे रूप तथा आयु में समान उत्पन्न हुए, उनमें अधम और उत्तम का कोई भेद नहीं था,[१७४] वे प्रचुर सुख से युक्त और शोकमुक्त थे, ६४. उनके हृदय निरन्तर प्रमुदित रहते थे, वे अत्यन्त गौरवशाली तथा महान बलशाली थे, उनमें लाभ या हानि, मित्रता या शत्रुता, प्रिय या अप्रिय जैसी वस्तुएँ नहीं थीं। ६५. मन के द्वारा (जो एक मात्र अर्थात् राग हीन था) वे निरीह प्राणी परस्पर व्यवहार रखते थे। वे एक दूसरे से न तो किसी वस्तु की इच्छा रखते थे और न परस्पर दया प्रदर्शित करते थे।[१७५] कृत युग में ध्यान श्रेष्ठ कहा, गया है और त्रेता में ज्ञान परम वस्तु होता

---

[१७४] मार्कं० पु० ४९ २४ मे यहाँ बीच मे ये पक्तियाँ जोड़ दी गई है "उनके जीवन की आयु चार सहस्र मानव वर्ष था, इतने समय तक वे जीवित रहे, उन्हे कोई कष्ट या दु ख नही था। २५ कुछ स्थलो पर पृथ्वी ने पुन प्रत्येक प्रकार की समृद्धि प्राप्त की। जिस प्रकार समय बीतने पर प्राणियो का नाश हो गया, उसी प्रकार इन सिद्धियो का भी सर्वत्र शनै. शनै लोप हो गया। २६ जब वे सभी नष्ट हो गये, तो आकाश से लताएँ गिरी जो प्राय, कल्प-वृक्षो (जो वृक्ष सभी इच्छित वस्तु प्रदान करते थे) के समान और घरो के तुल्य थीं।"

[१७५] कृतयुग मे, जो आदर्श सत्त्व का युग था, मनुष्य जाति की दशा का यह चित्रण निश्चय ही उन विचारो के अनुकूल किया गया था जो पुराणो के

है; यज्ञ का आरम्भ द्वापर में हुआ और दान ही कलियुग में श्रेष्ठ पुण्य कर्म है। ६७. कृतयुग सत्त्व होता है, त्रेता रजस्, और द्वापर रजस् तथा तमस् दोनों होता है, और कलियुग उसे जानना चाहिए जिसमें तमस् व्याप्त होता है, और ऐसा इन युगों की अनिवार्य वृत्ति के कारण होता है। ६८. कृत युग में समय का परिमाण इस प्रकार होता है, जिसे जानो। कृत में चार सहस्र वर्ष होते हैं, ६९. तथा इसकी सन्ध्याएँ आठ सौ दिव्य वर्षों की होती हैं। उस समय उनका जीवन (इतना दीर्घ) होता था[१७६] और उन्हें किसी प्रकार का कष्ट या दुःख नहीं था। ७० इसके अनन्तर कृत में जब सन्ध्यांश बीत गये, तो इस युग का वैशिष्ट्यभूत धर्म सभी दृष्टियों से (अपने मौलिक परिमाण के) चतुर्थ भाग में आ गया। ७१. जब युग के अन्त में पुनः सन्ध्यांश बीता और इस सन्ध्यांश का वैशिष्ट्यभूत धर्म चतुर्थांश में आ गया, ७२. और जब इस प्रकार कृत का पूर्णतः अन्त हो गया—तब पूर्णता या सिद्धि का लोप हो गया। इस मानस सिद्धि का नाश होने पर, ७३. त्रेता युग में दूसरी सिद्धि प्रकट हुई। जिन आठ मानस सिद्धियों के सृष्टि के समय (स्थित) होने का मैंने वर्णन किया है ७४. वे शनैः शनैः लुप्त हो गईं। कल्प के आदि में एकमेव मानस सिद्धि थी, अर्थात् वह सिद्धि जो कृत युग में थी। ७५. सभी मन्वन्तरों में उन कर्मों से उत्पन्न होने वाली सृष्टि के अस्तित्व का वर्णन किया गया है जो चार युगों के विभाजन के अनुसार वर्ण एवं आश्रम-धर्मों के पालन करने से प्रादुर्भूत होते हैं। ७६. (प्रातः) सन्ध्यांश का (सम्पूर्ण) कृत के चतुर्थांश के बराबर (ह्रास होता है)—और सायं सन्ध्यांश का दूसरे चतुर्थांश के बराबर ह्रास होता है—(इस प्रकार) कृत, प्रातः-सन्ध्यांश तथा सायं-सन्ध्यांश का युगधर्मों, तप, ज्ञान, बल तथा आयु में उत्तरोत्तर तीन पाद तक ह्रास होता है।[१७७] तब कृत की सन्ध्या का अवसान होने के उपरान्त ७८. त्रेता युग आता है, जिसे श्रेष्ठ ऋषियों ने कृत का अंश माना है—किन्तु जब कृत की सन्ध्या क्षीण हो

संकलन के उस समय प्रचलित थे जब रागहीनता पूर्णता की सर्वोच्च अवस्था मानी जाती थी।

[१७६] ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक का यहाँ यह कहने का अभिप्राय था कि जीवन का समय वही था जो श्लोक ६३ की टिप्पणी में उद्धृत मार्कं० पु० (४९, २८) के श्लोक में उल्लिखित है। किन्तु यहाँ यह उक्ति किसी न किसी कारण अपूर्ण है।

[१७७] इन अस्पष्ट पंक्तियों से मैं यही अर्थ निकाल सकता हूँ।

जाती है—७९. तब से किसी अन्य कारण से नहीं अपितु काल के प्रभाव से सिद्धि उन प्राणियों से लुप्त हो जाती है, जो कल्प के आरम्भ में आने वाले त्रेता के प्रारम्भ के समय शेष बचे रहते हैं। ८०. उस सिद्धि के क्षीण हो जाने पर दूसरी सिद्धि उत्पन्न होती है। जल का स्थानापन्न रूप मेघ के रूप में (आकाश में) आ जाता है;[१७८] ८१. गर्जन करते हुए मेघों से वर्षा होनी प्रारम्भ हो जाती है। पृथ्वी ने वर्षा का जल ग्रहण किया। ८२. इन प्राणियों के लिए गृहों के समान वृक्ष उग आए।[१७९] उनसे सभी प्रकार के सुखोपभोग के उपकरण उत्पन्न हुए। ८३. त्रेता के आरम्भ में मनुष्यों ने उनसे अपनी वृत्तिका प्राप्त की। इसके अनन्तर दीर्घ समय के उपरान्त, मनुष्यों के दुर्भाग्य के फलस्वरूप ८४. अकारण ही उनके मन में राग और लोभ उत्पन्न हुए। मासिक स्राव, जो स्त्रियों के जीवन के अन्त में होता था, ८५. उस समय नही प्रारम्भ हुआ ८६. और इसके फलस्वरूप जब पतिपत्नी मैथुन में प्रवृत हुए एवं प्रत्येक मास में एक दूसरे का सहवास किया तो समय की आवश्यकता से ८७. मासिक स्राव की, बिना समय के[१७९अ] उत्पत्ति हुई, और गर्भाधान होने लगा। तब उनके दुर्भाग्य से, तथा काल के प्रभाव से, ८८. वे सभी सभी गृहीभूत वृक्ष नष्ट हो गये। जब इनका नाश हो गया तो मनुष्य दुःखित और क्षुब्ध हुए ८९. किन्तु वे सत्यसंकल्प वाले थे, और उन्होंने उस सिद्धि को पुनः प्राप्त करने की इच्छा की (जिसे वे खो चुके थे)। तब पुनः वे गृह-तुल्य वृक्ष उनके संमुख उत्पन्न हुए; ९०. और उनके फलों में वस्त्र एवं आभूषण प्रकट हुए। इन्ही वृक्षों पर, प्रत्येक पत्ते के पुट में, बिना मक्षिकाओं की सहायता के ९१. अत्यन्त वीर्यप्रद, तथा गन्ध, वर्ण, एवं रस से युक्त मधु उत्पन्न हुआ। इस साधन के द्वारा मनुष्यों ने त्रेता के आरम्भ में वृत्तिनिर्वाह किया। ९२. वे इस सिद्धि से सुखी और सभी दुःखों से मुक्त थे। पुनः समय बीतने पर, लोभी होकर ९३. उन्होंने उन वृक्षों तथा बिना मक्षिकाओं के उत्पन्न मधु को ग्रहण कर लिया। तब उनके इस लोभगत दुर्व्यवहार से ९४. मधु सहित कल्पवृक्षों का कई स्थानों पर नाश हो गया। यतः सन्ध्यांश के प्रभावों के कारण इसका अल्प भाग ही

---

[१७८] इन शब्दो का यही अर्थ मुझे ज्ञात होता है।

[१७९] 'गृह-सस्थिताः' प्रोफेसर विलसन ने अपनी डिक्शनरी मे 'सस्थित' के अर्थों मे 'समान' या 'सदृश' भी दिया है।

[१७९अ] 'अकाले बिना समय' के स्थान पर प्रोफेसर ऑफरेख्त 'आकाले', अथवा समय से, होने का सुझाव देते हैं।

शेष रह गया,[180] ९५. अतः (सुख-दुःख आदि) द्वन्द्वों की इस अवस्था में स्थित मनुष्य में उत्पत्ति हुई, और वे तीव्र शीत, वात एवं ताप से अत्यन्त पीड़ित हुए। ९६. इस प्रकार इन द्वन्द्वों से पीड़ित होकर, उन्होंने शरण-स्थलों की रचना की और इन द्वन्द्वों को सहने के लिये उन्होंने गृहों का आश्रय लिया। ९७. पूर्वकाल में वे अपनी इच्छानुसार इतस्ततः भ्रमण करते, और अपने गृहों में कभी निवास नहीं करते थे, किन्तु अब वे निवास-भवनों में रहने लगे, और जैसा उन्हें सुविधाजनक एवं सुखप्रद प्रतीत हुआ ९८. वे मरुस्थलों, उपत्यकाओं, पर्वतों, तथा कन्दराओं में निवास करने लगे, उन्होंने दुर्गों में शरण ली, (निरन्तर जल से युक्त) मरुस्थल में शरण ली।[181] ९९. शीत तथा ताप से सुरक्षा के लिये उन्होंने समतल तथा विषम भूमि पर अवसर, तथा अपनी सुविधानुसार गृहों का निर्माण करना प्रारम्भ कर दिया। १००. तब उन्होंने खेतों, नगरों, ग्रामों तथा अन्तःपुरों का प्रत्येक के विभाजन के अनुसार माप किया।" [(इसके आगे के श्लोक १०१–१०७ लम्बाई एवं चौड़ाई के विभिन्न नापों का वर्णन करते हैं, जिसके उपरान्त श्लोक १०८–१२२ में अनेक प्रकार के दुर्गों, नगरों एवं ग्रामों का, उनके रूप एवं आकार का, तथा राजपथों का वर्णन आता है) तब श्लोक १२३ में ग्रन्थकर्ता कहता है]: "इन स्थानों का निर्माण करने के उपरान्त उन्होंने गृहों का निर्माण किया। जिस प्रकार पहले वृक्ष गृहों के समान थे[182] १२४ उसी प्रकार उन्होंने अनेक बार विचार कर उनका निर्माण प्रारम्भ किया। (कुछ) शाखाएँ फैली हुई होती है और कुछ झुकी हुई होती हैं; (१२५) कुछ ऊपर को उठी होती है, और कुछ तिरछे निकली हुई होती है। इस प्रकार चिन्तन द्वारा विचार कर कि वृक्ष से कितने विभिन्न प्रकार

---

[180] यहाँ "सिद्धि" का अभिप्राय प्रतीत होता है। यदि यही हो तो ऐसा लगेगा मानो यह पंक्ति अपने उचित स्थान से पृथक् कर दी गई हो।

[181] 'धन्वानम् साश्वतोदकम्'। कदाचित् यहाँ मार्क० पु० ४९ ३५ का पाठ "वार्क्ष्यम् पार्वतम् औदकम्" होना चाहिए, जिसका अर्थ होगा "वृक्षो से सुरक्षित, पर्वतो पर निर्मित एव जल से घिरे हुए (दुर्ग)।"

[182] 'वृक्षा' गृहसस्थिता' के इस अनुवाद के विषय मे चाहे जो कुछ भी सोचा जाय किन्तु कम से कम मार्क० पु० (४९ ५२) तो स्पष्ट कहता है. 'गृहाकारा यथा पूर्व तेषाम् आसन् महीरुहा'। तथा संस्मृत्य तत् सर्व चक्रुर् वेश्मानि ताः प्रजा.।' "यत' पूर्वकाल मे घरो के आकार वाले वृक्ष उनके अधिकार मे थे, अतः उन सबको स्मरण कर इन लोगो ने अपने गृहो का निर्माण किया।"

की शाखाएँ निकलती हैं, १२६. उन्होंने उसी प्रकार (अपने गृहों के) कक्षों (शाखा) का निर्माण किया : अतएव उन्हें शाला (शालाः) कहा जाता है।[१८३] इस प्रकार शालाओं एवं गृहों का नाम शाखाओं से पड़ा है; १२७. इस कारण कक्षों को शाला कहते हैं और यही उनका शालात्व है। यतः मन शालाओं में आनन्द पाता है, और वे मन को प्रमुदित करते हैं (प्रासादयन्) अतः मन १२८. गृहों, कक्षों एवं विशाल भवनों के क्रमशः गृह, शाला तथा प्रासाद नाम दिये गये हैं। द्वन्द्वों से रक्षा के लिये इन साधनों की व्यवस्था करके उन्होंने वृत्ति का आविष्कार किया। १२९. कल्प-वृक्षों के मधु के साथ समाप्त हो जाने पर, पिपासा एवं क्षुधा से व्याकुल होकर वे प्राणी विषाद से खिन्न हो गये। १३०. तब उनके लिये पुनः त्रेता युग में दूसरी सिद्धि प्रकट हुई—जिसने जीवनवृत्ति के उद्देश्य की पूर्ति की—अर्थात् इच्छानुसार वृष्टि होने लगी। १३१. वर्षा का जल, जो नीचे के गर्तों में गिरा था, वृष्टि के द्वारा स्रोतों, जल-धाराओं और नदियों[१८४] के रूप में फूट निकला। १३२. इस प्रकार दूसरी वृष्टि के पडने पर नदियाँ वहने लगीं। जब वर्षा की बूँदें पहले पृथ्वी पर पहुँची तब १३३. जलों एव पृथ्वी के संयोग से उनमें ओषधियाँ उत्पन्न हुईं, जिन्होंने पुष्प, मूल तथा फल उत्पन्न किये। १३४. चौदह प्रकार की ग्राम्य एवं आरण्य वनस्पतियाँ विना जोते और वोए हुये उत्पन्न हुईं; साथ ही साथ वृक्ष एवं गुल्म उत्पन्न हुए जो ऋतु के अनुसार पुष्प और फल धारण करते थे। १३. त्रेता युग में यह वनस्पतियों की पहली उत्पत्ति थी और इन्हीं पर मनुष्य उस युग में जीवन निर्वाह करते थे। १३६. तब पुनः उन सबमें एक आवश्यक क्रिया एवं त्रेता युग के प्रभावस्वरूप इच्छा एवं लोभ का उदय हुआ। १३७. तब उन्होंने शक्ति एव हिंसा के प्रयोग द्वारा नदियों, खेतों, पर्वतों, वृक्षों, गुल्मों एवं वनस्पतियों पर अधिकार कर लिया। १३८. जिस सिद्धात्मा मनुष्यों के कृत युग में होने का मैंने वर्णन किया है—वे ब्रह्मा के मानस पुत्र थे, जिन की उत्पत्ति इस लोक में उस समय हुई थी जब वे जनलोक से आये थे,— १३९. जिनमें (कुछ) शान्त थे, (कुछ) उग्र थे, (कुछ) कर्मरत थे और (कुछ) दुःखी थे—पुनः त्रेता युग में १४०. ब्राह्मणों, क्षत्रियों वैश्यों, शूद्रों

---

[१८३] यह तर्क यहाँ अधिक समीचीन नही प्रतीत होता, क्योंकि 'शाखा' और 'शाला' शब्दो मे कोई सम्बन्ध नही दिखाई पडता। किन्तु निर्वचन सम्बन्धी इस प्रकार के असफल प्रयत्न संस्कृत रचनाओ मे प्रायश' मिलते हैं।

[१८४] पाठ यहाँ सन्तोषप्रद स्थिति मे नही है। मार्क० पु० के कलकत्ता संस्करण में 'वृष्ट्यावरुद्धैर् अभवत्' आदि पाठ है।

एवं द्रोही मनुष्यों के रूप में अपने पूर्वजन्म के शुभाशुभ कर्मों के वशीभूत होकर उत्पन्न हुए। १४१. तब उनमें जो दुर्बल अथवा सत्यवादी एवं सरल थे, उन्होंने उनमें लोभ से मुक्त और आत्म-नियन्त्रित होकर निवास किया; १४२. जबकि दूसरों ने, जो उनकी अपेक्षा अल्पतेज वाले थे, ग्रहण किया एवं कर्म किया।[१८५] जब इस प्रकार पारस्परिक दुर्व्यवहार से एक दूसरे के विरोधी हो गये तो उनके संघर्षरत होने पर मुट्ठी में पकड़े गये बालू के समान वनस्पतियाँ नष्ट हो गईं। १४४. तब पृथ्वी ने युग के प्रभाव के फलस्वरूप चौदह प्रकार की ग्राम्य एवं आरण्य वनस्पतियों को निगल लिया : क्योंकि मनुष्यों ने पुनः पुनः पुष्पों एवं पत्रों सहित फलों को ग्रहण किया था। १४५. वनस्पतियों के नष्ट हो जाने पर क्षुधार्त्त मनुष्य, व्याकुल होकर प्रजापति स्वयम्भू के निकट १४६. त्रेता युग के आरम्भ में जीवनवृत्ति की याचना करते हुए पहुँचे।[१८६] उनकी

---

[१८५] इस पंक्ति का कोई सन्तोषप्रद अर्थ निकालना कठिन है।

[१८६] शतपथ ब्रा० २ ४, २, १ भी प्रजाओं के अनेक वर्गों के ब्रह्मा से अन्न के लिए प्रार्थना करने का वर्णन करता है : 'प्रजापतिं वै भूतान्य् उपासीदन्। प्रजाः वै भूतानि। 'वि नो धेहि यथा जीवाम" इति। ततो देवा यज्ञोपवीतिनो भूत्वा दक्षिणं जान्व् आच्य उपासीदन्। तान् अब्रवीद् "यज्ञो वोऽन्नम् अमृतत्वं व ऊर्ग् व सूर्यो वो ज्योतिर्" इति। २ अथ एनम् पितरः प्राचीनावीतिनः सव्य जान्व् आच्य उपासीदन्। तान् अब्रवीद् "मासि मासि वोऽशनाम् स्वधा वो मनोजवो वश् चन्द्रमा वो ज्योतिर्" इति। ३. अथ एनम् मनुष्याः प्रावृताः उपस्थ कृत्वा उपासीदन्। तान् अब्रवीत् "सायम् प्रातर् वोऽशनम् प्रजा वो मृत्युर् वोऽग्निर् वो ज्योतिर्" इति ॥ ४ अथ एनम् पशवः उपासीदन्। तेभ्यः स्वैपम् एव चकार "यदा एव यूयम् कदाच लभाध्वै यदि काले यद्य् अनाकाले अथ एव अश्नाथ" इति। तस्माद् एते यदा कदाच लभन्ते यदि काले यद्य अनाकाले अथ एव अश्नन्ति। ५ अथ ह एनम् शश्वद् अप्य् असुराः उपसेदुर् इत्य् आहुः। तेभ्यस् तमश् च माया च प्रददौ। अस्त्य् अह एव असुर-माया इति इव। प्राभूता ह त्व् एव ताः प्रजाः। ताः इमाः प्रजास् तथैव उपजीवन्ति यथैव आभ्यः प्रजापतिर् अददात्।' "सभी प्राणी प्रजापति के निकट पहुचे—(प्रजाएँ ही प्राणी हैं)—(उन्होंने कहा) हमे वह प्रदान करो जिससे हम जीवित रहे। तब यज्ञोपवीत धारण कर, तथा दाहिनी जानु को मोडते हुए देवता उसके निकट पहुचे। उनसे उसने कहा यज्ञ तुम्हारा अन्न होगा, अमृत तुम्हारा बल होगा और सूर्य तुम्हारी ज्योति होगा।' २ तब दाहिने कन्धो पर प्राचीनावीत धारण किये हुए एवं बाँई जानु को मोड़े हुए पितर उनके निकट पहुँचे। उनसे उसने कहा 'तुम लोग मास-

इच्छा जानकर, १४७. एवं ध्यान द्वारा उचित कर्म का निर्धारण करके भगवान् ब्रह्मा स्वयम्भू ने यह जानते हुए कि पृथ्वी ने वनस्पतियों को निगल लिया है, उसे दुहकर फिर उन वनस्पतियों को निकाला। १४८. सुमेरु को गोवत्स बना कर उन्होंने पृथ्वी का दोहन किया। जब इस पृथ्वी (या गौ)[१८७] का उन्होंने दोहन किया, १४९. तो पुनः पृथ्वी में वे मूल उत्पन्न हुए—वे वनस्पतियाँ उत्पन्न हुईं जिनके फलों के पकने के समय नष्ट होनेवाला शण सत्रहवाँ होता है।" [इसके उपरान्त घरेलू उपयोग एवं यज्ञों के योग्य फलों को १५०–१५५ श्लोकों में गिनाया गया है] "१५५ ये सभी ग्राम्य एवं आरण्य वनस्पतियाँ सर्वप्रथम[१८८] त्रेता युग के आरम्भ में १५६. कृषि कर्म के बिना ही उत्पन्न हुईं; वृक्ष और गुल्म उत्पन्न हुए, अनेक प्रकार की लताएँ एवं घासें उत्पन्न हुईं, फलों के रूप में मूलों को उत्पन्न करनेवाली तथा पुष्पों के बाद फल धारण करनेवाली वनस्पतियाँ उत्पन्न हुईं। जिस बीज के लिए पूर्वकाल में स्वयम्भू ने पृथ्वी का दोहन किया था १५८. वह बीज अब ऋतु के अनुसार पुष्प एवं फल धारण करनेवाली वनस्पतियाँ हुआ। जब इन वनस्पतियों की सृष्टि होने पर भी इनकी वृद्धि नहीं हुई १५९. तब ब्रह्मा स्वयम्भू ने मनुष्यों के लिए हाथ से किये जाने वाले कर्मों पर आधृत जीवन-वृत्ति की रचना की। १६०. उस समय के बाद कृषि कर्म के द्वारा वनस्पतियाँ उगाई और पकाई जाने लगीं। जीवनवृत्ति के साधनों की रचना करके

मास पर अन्न पाओगे, तुम्हारी मन की तीव्रता तुम्हारी स्वधा होगी, चन्द्रमा तुम्हारी ज्योति होगा'। ३ तब वस्त्र धारण कर एव शरीर झुकाकर मनुष्य पहुंचे। उनसे उसने कहा 'तुम लोग प्रातः एव सायकाल भोजन करोगे, तुम्हारी प्रजाएँ तुम्हारी मृत्यु होगी। अग्नि तुम्हारी ज्योति होगा'। ४ तब पशु उसके निकट पहुँचे, उन्हे उसने उनकी इच्छित वस्तु दी (और कहा) तुम जब कभी कोई वस्तु पाओगे तो चाहे वह समय मे हो या कुसमय मे तुम उसका भक्षण करोगे। अतएव जहाँ कही वे समय-कुसमय मे कोई वस्तु पाते हैं उसी का भक्षण करते हैं। ५ तब ऐसा कहा जाता है कि असुर भी पुन: पुनः उसके निकट गये, उन्हे उसने अन्धकार और माया दिया। निश्चय असुरो मे माया जैसी वस्तु होती है। किन्तु ये प्राणी पराभूत हो गये। ये प्राणी उसी विधि से जीवन निर्वाह करते हैं जैसा प्रजापति ने नियत किया था।"

[१८७] 'गौ.' से दोनो का अर्थ निकलता है।

[१८८] ऊपर श्लोक ५८ पर टिप्पणी देखिए।

स्वयम्भू ने १६१. उनके बीच उनकी प्रवृत्तियों के अनुसार विभाजन किये।[१८९] उनमें जो दूसरों की वस्तुयें ग्रहण करनेवाले एवं हिंसक प्रवृत्ति के थे १६२. उन्हें उन्होंने क्षत्रिय अर्थात् अन्य मनुष्यों के रक्षक बनाया।[१९०] इनके साथ जितने मनुष्य निर्भय, सत्यवादी एवं ज्ञान (ब्रह्म) का यथार्थ उपदेश देनेवाले थे उन्हें उन्होंने ब्राह्मण बनाया। उनमें जो पूर्वकाल में दुर्बल थे एवं वध कर्म में रत थे,[१९१] जो कृषक (कीनाश.) होने से नाश करनेवाले थे तथा पृथ्वी के कर्म में चतुर थे वे वैश्य, कीनाश, या वृत्ति देनेवाले कहलाये। १६५. और उन्होंने उन व्यक्तियों को शूद्र नाम दिया जिन्होंने शोक किया (शोचन्तः) और भागे (द्रवन्तः)[१९२], जो अधम कर्मों में रत थे, निस्तेज और दुर्बल थे। १६६. ब्रह्मा ने इन सभी मनुष्यों के कर्म एवं कर्त्तव्य निर्धारित कर दिये, किन्तु चार वर्णों की व्यवस्था पूर्ण हो जाने के उपरान्त १६७. उन मनुष्यों ने अज्ञानवश अपने अनेक कर्त्तव्यों का पालन नहीं किया। इन वर्णधर्मों के अनुकूल आचरण न करते हुए वे परस्पर संघर्ष करने लगे। १६८ ब्रह्मा ने इसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर क्षत्रियों के व्यवसाय के रूप में बल, दण्ड, और युद्ध का विधान किया। १६९. तब उन्होंने इन कर्मों अर्थात् यज्ञ कराने, शास्त्राध्यवसाय, तथा दक्षिणा को ब्राह्मणों का कर्म निर्धारित किया। १७०. पशुओं का पालन, वाणिज्य तथा कृषिकर्म का अधिकारी

---

[१८९] 'यथारम्भा' मार्क० पु० मे 'यथा-न्याय यथागुणम्' "उनकी योग्यता एव गुणो के अनुसार" पाठ है।

[१९०] 'इतरेषा कृत-त्राणान्'। महाभारत १२ ५९, १२६ क्षत्रिय शब्द की इस प्रकार व्याख्या करता है: "ब्राह्मणाना क्षत-त्राणात् ततः क्षत्रिय उच्यते।" (राजा को) क्षत्रिय इसलिए कहा जाता है कि वह ब्राह्मणो की आघातो से रक्षा करता है।

[१९१] 'वैशस कर्म'। प्रथम शब्द का अर्थ है (१) व्यवधान, बाधा तथा (२) 'वध' जैसा कि विलसन की डिक्शनरी मे दिया गया है।

[१९२] जो पाठक यास्क के निरुक्त मे दी गई व्युत्पत्तियो से या भारतीय प्रामाण्य पर प्रोफेसर विल्सन की डिक्शनरी मे दी गई व्युत्पत्तियो से परिचित है, वे यहाँ पुराण-लेखक की क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्र शब्दो की व्युत्पत्ति की व्याख्या से चकित नही होगे। इनमे अन्तिम नाम की व्युत्पत्ति बताने के लिए वह 'शुच्' अर्थात् शोक करना, तथा 'द्रु' दौडना धातुओ को मिलाता है किन्तु प्रथम धातु के अन्तिम वर्ण 'च्' का लोप कर देता है। क्षत्रिय शब्द वस्तुत. 'क्षत्र' शब्द से व्युत्पन्न बताया गया है, जिसका अर्थ है "राजा की शक्ति", तथा 'वैश्य' शब्द 'विश्' अर्थात् जनता से बना है जिसका अर्थ है "जनता का एक पुरुष"।

वैश्यों को बनाया, और शिल्पकर्म एवं सेवा शूद्रों के लिए विहित किया। १७१. ब्राह्मणों, क्षत्रियों एवं वैश्यों के सामान्य कर्म थे यज्ञ का अनुष्ठान, अध्यवसाय तथा दान। १७२. विभिन्न वर्णों के लिये तत्तत् कर्मों एवं व्यवसायों की व्यवस्था करके भगवान् ने उनकी सिद्धि के लिये दूसरे लोकों में आवास नियत कर दिये। १७३. प्रजापति का लोक कर्म करनेवाले ब्राह्मणों का स्थान बताया गया है। इन्द्र का लोक युद्ध से पराङ्मुख न होनेवाले क्षत्रियों का लोक है, १७४ मरुतों का लोक स्वधर्म करनेवाले वैश्यों का स्थान होता है; गन्धर्वों का लोक उन शूद्र जन्मवाले मनुष्यों का होता है जो सेवाकर्म मे लगे रहते है। १७५. इन सबका विभिन्न वर्णों के सदाचारी मनुष्यों के भावी स्थानों के रूप में विधान करके उन्होंने इन विहित वर्णों में आश्रमों की व्यवस्था की। १७६. पूर्वकाल में भगवान् ने गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ तथा संन्यासी के चार आश्रमों की स्थापना की। १७७. जो इस लोक में अपने वर्ण के धर्म का पालन नहीं करते उन्हें आश्रमों में निवास करने वाला, कृतकर्मक्षिति, अर्थात् कर्मों का नाश करनेवाला कहते हैं। १७८. ब्रह्मा ने इन आश्रमों की नाम के साथ स्थापना की और उन्हें स्पष्ट करने के लिये उन्होंने कर्त्तव्यों की, १७९. उनकी कार्य-पद्धति की तथा विविध क्रियाओं की विवक्षा की। सर्वप्रथम गृहस्थाश्रम है, जो सभी वर्णों का होता है, १८०. और शेष तीन आश्रमों का आधार एवं स्रोत है। मै उनके अनेक संस्कारों के साथ क्रमशः उनका वर्णन करूँगाः।" [इसके बाद के १८१–१८९ श्लोकों को, जो इन कर्त्तव्यों का विस्तृत वर्णन करते है, यहाँ उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं। अतः मैं १९० और उसके आगे के श्लोकों को, उनकी उदात्त नैतिक भावना के कारण, उद्धृत करूँगा]: "१९०. अङ्गों सहित वेद, यज्ञ, व्रत, एवं नियम उस व्यक्ति के लिए कोई अर्थ नही रखते १९१. जो दुष्टात्मा है और इनके प्रति दूषित भावना रखता है। समस्त वहिः कर्म उस व्यक्ति के लिए निष्फल होते हैं १९२. जो भीतर से दुष्ट भाव-वाला है, भले ही वह प्रयत्नपूर्वक उन कर्मों को करता हो। जो व्यक्ति दूषित भाव से अपना सर्वस्व भी अर्पण कर देता है, वह कोई फल नही प्राप्त करता, जिसका एक मात्र कारण सद्भाव ही है।" [श्लोक १९४–१९८ में पुण्यात्मा व्यक्ति के स्वर्गीय आवास का कुछ और वर्णन देने के उपरान्त लेखक आगे कहता है]: "१९९. जब—इस प्रकार वर्णों एव आश्रमों में विभाजन के उपरान्त २००. इस व्यवस्था के अनुकूल निवास करनेवाले मनुष्यों की वृद्धि नही हुई तब ब्रह्मा ने त्रेता युग के मध्य में अन्य मानस प्रजाओं को २०१. स्वयं अपने शरीर से उत्पन्न किया, जो उनके समान रूपवाली थीं। जब त्रेता युग का आगमन

हुआ और शनैः शनैः यह मध्य में पहुँचा २०२. तब भगवान् ने अन्य मानस प्रजाओं की रचना प्रारम्भ कर दी। इसके उपरान्त उन्होंने उन प्राणियों की सृष्टि की जिनमें सत्त्व एवं रजस् का प्राधान्य था २०३. और जो मनुष्य के चार पुरुषार्थों, धर्म, अर्थ, काम, एवं मोक्ष को वृत्ति के साथ प्राप्त करने में समर्थ थे। देवताओं, पितरों, ऋषियों एवं मनुओं (की रचना हुई) २०४. जिनसे इन प्रजाओं का युगानुकूल स्वभावों के अनुसार विभाजन हुआ। जब प्रजाओं के इस स्वरूप की सिद्धि हो गई तो ब्रह्मा ने २०५. सभी प्रकार की एवं सभी रूप की मानस प्रजाओं की इच्छा की। जिन प्राणियों के जनलोक में आश्रय लेने का वर्णन मैं तुम से कर चुका हूँ २०६. कल्प के अन्त में जब ब्रह्मा ने उन्हें देवताओं एवं अन्य प्राणियों के रूप में पुनः उत्पन्न करने का विचार किया तब वे सभी यहाँ उपस्थित हुए। २०७. मन्वन्तर के क्रम के अनुसार जो कनिष्ठ थे वे भाग्य के प्रभाव से तथा प्रत्येक प्रकार के सम्बन्धों एवं स्थितियों के कारण प्रथम (?) माने गये। २०८. ये प्राणी सदैव शुभाशुभ कर्मों के अधीन और उनके भोग के लिये उत्पन्न होते हैं। २०९. उन्होंने स्वयं उन प्रजाओं की रचना की जो देवता, असुर, पितर, पशु, पक्षी, सरीसृप, वृक्ष, तथा कीट के रूप में आए, जिससे कि वे (पुनः) प्रजाओं की स्थिति के अधीन रहें।"[१९३]

इस अंश में दिये गये मानव जाति की उत्पत्ति तथा आदिम दशा सम्बन्धी विलक्षण विचारों का संक्षेप इस प्रकार दिया जा सकता है: २२–३४ श्लोकों में यह कहा गया है कि जो प्राणी पूर्वकल्प के अन्त में अग्निदाह के कारण जनलोक चले गये थे, अब उस नयी सृष्टि रचना के बीज बने जो कृतयुग में वर्तमान कल्प के प्रारम्भ में हुई थी। ये ब्रह्मा के मानस पुत्र के स्वरूप से सिद्ध थे; इन्होंने संसार में जनसंख्या का विस्तार किया। सिद्धान्त यह कहा गया है कि जो प्राणी पूर्वकाल से इस पृथ्वी से ऊँचे उठकर ऊपर के लोकों में पहुँचे थे वे पुनः-पुनः इस लोक में लौट कर आते हैं और अपने पूर्वकर्मों के फलस्वरूप प्रत्येक युग में प्रत्येक सम्भव अवस्था में, पूर्व जन्मों की ही प्रवृत्ति का प्रदर्शन एवं पूर्वजन्म के ही कर्मों का आचरण करते हुए, जन्म लेते हैं। इसके उपरान्त श्लोक ३५–४०, में कहा गया है कि जब सृष्टि, जिसको किसी तरह स्पष्ट नहीं किया गया है, रुक गई, तब मनुष्यों के चार वर्ण स्रष्टा के शरीर के विभिन्न अङ्गों से उत्पन्न हुए, जिनमें प्रत्येक में पुरुषों एवं स्त्रियों के एक सहस्र

---

[१९३] मैं यह स्वीकार करता हूँ कि अन्तिम शब्दों का कोई अर्थ निकालना मेरे लिए बहुत कठिन है।

जोड़े थे जो क्रमशः विभिन्न शारीरिक एवं नैतिक गुणों से युक्त थे।[१९४] इन प्राणियों ने प्रजावृद्धि करने का प्रयत्न किया, किन्तु वे असफल रहे, जिसका कारण दिया गया है (४३)। तथापि मानसिक श्रम से (४५ तथा ५९) पर्याप्त संख्या में (५२) सन्तानों की उत्पत्ति हुई। जिस शारीरिक सुखपूर्ण एवं सार्वभौम समानता, नैतिक पूर्णता एवं नितान्त रागहीनता की दशा में मानवजाति उस समय विद्यमान थी उसका चित्रण किया गया है (४८–६१)। जिन जीविका एवं भोग के साधनों का पृथ्वी से उत्पन्न होने का वर्णन किया गया है (४८ तथा ५७) वे सामान्य कोटि के नहीं थे, क्योंकि यह कहा गया है कि (५५ आदि) न तो पशु और न पक्षी ही उस समय थे, जो अधर्म से उत्पन्न होते हैं। उस सिद्धि के युग में वर्णों या आश्रमों का कोई विभाजन नहीं था। ६२. तथापि एक क्रमिक पतन चल रहा था और कृत युग के अन्त में इस युग की वैशिष्ट्यभूत सिद्धि लुप्त हो गई (७०–७९)। दूसरे प्रकार की सिद्धि जो त्रेता युग की विशेषता थी, इसके उपरान्त प्रकट हुई (७३ तथा ८०) और विभिन्न युगों में प्रत्येक वर्ण एवं आश्रम के धर्मों के पालन करने से उत्पन्न सिद्धि विद्यमान रहती है (७५)। जिस सिद्धि के त्रेतायुग में होने का वर्णन किया गया है वह एक प्रकार की शारीरिक सिद्धि थी जिसके अन्तर्गत वृष्टि तथा गृहों के आकार वाले ऐसे वृक्षों की उत्पत्ति आती थी, जो सभी प्रकार के भोग के उपकरण प्रदान करते थे (८०–८२)। विभिन्न रूपों में राग पूर्वकालीन रागाभाव का स्थान लेने लगा (८४)। स्त्रियों की रचना, जिससे वे पूर्वकाल में गर्भधारण के अयोग्य थी, अन्ततः इतनी परिष्कृत हुई कि इस मनुष्य जाति की सफलता पूर्वक वृद्धि होने लगी, जो परिणामस्वरूप इसके उपरान्त अस्तित्व में आई।[१९५] इसके उपरान्त गृहों के आकारवाले वृक्षों की अनुवर्ती सृष्टि का वर्णन है (८८–९१)। इन वृक्षों से अब वस्त्र एवं आभूषण उत्पन्न होते थे तथा बिना मक्षिकाओं के मधु उत्पन्न होता था। इससे मानव जाति सुख एवं भोग का जीवन व्यतीत करने लगी। 'किन्तु पुनः ये वृक्ष लोभ के कारण लुप्त हो गये, जिससे इनका दुरुपयोग होने लगा (९२–९४)। सिद्धि के अभाव में नैतिक तथा शारीरिक

---

[१९४] यह वर्णन मार्क० पु० ४९ ३ आदि के वर्णन से मिलता है, किन्तु पहले दिये गये विष्णु पु० के वर्णन से अन्तर रखता है, क्योंकि पुराण न तो संख्या का कोई निर्देश करता है और न युग्मो की सृष्टि के विषय मे ही कुछ कहता है।

[१९५] यह बिलकुल स्पष्ट नही है कि श्लोक ८७ मे 'अकाले' अर्थात् असमय मे, शब्द से क्या अभिप्राय है। उस श्लोक की टिप्पणी मे ऊपर सुझाया समाधान देखिए।

कारणों से अनेक प्रकार के दुःख उत्पन्न हुए और अब मनुष्य गृहों का निर्माण करने लगे, जिसे अब तक उन्होंने अनावश्यक समझा था (९६–९९ तथा १२३), और वे ग्रामों तथा नगरों में एक साथ रहने लगे (१००)। उनके गृहों का निर्माण वृक्षों के नमूने पर हुआ था (१२३–१२८)। जिन वृक्षों ने पहले वृत्ति एवं सुख के प्रत्येक उपकरण प्रदान किये थे उनके अभाव से मनुष्यों को जो क्षुधा एवं पिपासा की व्याकुलता सहनी पड़ी थी वह नवीन सिद्धि के प्रकट हो जाने से दूर हो गयी, और वृष्टि के रूप में सम्मुख आई। इसके परिणाम-स्वरूप जलधाराएँ उत्पन्न हुईं, वह वनस्पतियाँ उत्पन्न हुईं जो पूर्वकाल के समान ही जल एवं पृथ्वी के संयोग के फलस्वरूप निकली थीं (१३०–१३५ तथा १५५.)। किन्तु पुन. इच्छा और लोभ का उदय हुआ और हिंसापूर्ण अधिकार प्राप्ति के कर्म प्रारम्भ हो गये (१३६ तथा आगे)। इस समय ब्रह्मा के विभिन्न प्रवृत्तियों वाले मानस पुत्र, जो पहले कृत युग में थे, त्रेता में पुनः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और द्रोही मनुष्यों के रूप में अपने पूर्वजन्म के कर्मों के कारण उत्पन्न हुए (१३८–१४०)। किन्तु उनके पारस्परिक संघर्ष एवं लोभ से पृथ्वी ने सभी वनपतियों को निगल लिया (१४२-१४४)। इस प्रकार उत्पन्न हुई विपत्ति से पीड़ित होकर पृथ्वी के निवासी ब्रह्मा के निकट पहुचे, जिन्होंने सुमेरु पर्वत को गोवत्स बनाकर पृथ्वी का दोहन किया और उन वनस्पतियों को पुन. प्राप्त किया जो लुप्त हो गई थीं (१४५-१४९)। तथापि, इन वनस्पतियों की तत्काल वृद्धि नहीं हुई, ब्रह्मा ने कृषिकर्म की व्यवस्था की (१५८-१६०)। इस प्रकार वृत्ति के साधनों की व्यवस्था कर उन्होंने मनुष्यों को उनके स्व-भावगत वैशिष्ट्य के अनुसार वर्गों में विभक्त किया (१६०-१६५)। किन्तु यत. ये वर्ग अपने विविध कर्मों का सम्पादन नहीं करते थे, अत. ब्रह्मा ने अत्यन्त स्पष्ट रूप से उनके कर्मों का भी विभाजन और भावी स्वर्गीय निवास-स्थानों का निर्धारण किया जो प्रत्येक वर्ग के मनुष्य अपने कर्मों के सम्पादन द्वारा प्राप्त कर सकते थे (१७१-१७४)। तब उन्होंने गृहस्थ, ब्रह्मचारी के चार वर्गों का विधान किया (१७५-१९०)। कुछ श्लोकों में नैतिक पवित्रता की प्रशंसा करने के उपरान्त पुण्यात्मा व्यक्तियों के निवासस्थानों एवं गतियों का वर्णन किया गया है (१९४-१९९)। जब हम वर्णन में ठीक ऐसे स्थल पर पहुँचते हैं जहाँ हम यह आशा करते हैं कि इसका इतना अधिक वर्णन किया जायगा जिससे वर्तमान युग तक की वस्तुओं की दशा की पर्याप्त व्याख्या हो सके, तभी सहसा हमारी गति इस सूचना द्वारा अवरुद्ध कर दी जाती है (१९९-२०२) कि वर्णो एवं आश्रमों की व्यवस्था के अनुसार व्याकुल मनुष्यों की वृद्धि नहीं हुई, तथा यहीं पर इस असफलता का निराकरण करने के लिए त्रेतायुग के

आरम्भ में हुई एवं नवीन मानस सृष्टि का भी वर्णन किया गया है। इसके उपरान्त (२०३) उन प्राणियों की दूसरी सृष्टि का वर्णन किया गया है जो सत्त्व एवं रजस् से युक्त थे। अन्ततः पूर्व-स्थित आत्माओं की एक और पुनर्सृष्टि को घटित होने का वर्णन किया गया है (२०५-२०९)। इस प्रकार यह प्रतीत होगा कि अन्ततोगत्वा उस वर्णव्यवस्था की उत्पत्ति का कोई वर्णन नहीं दिया गया है जो पुराणों के संकलन-काल में प्रचलित थी। जिन धारणाओं से इस निष्कर्ष का परिहार हो सकता है वे यह है: (१) श्लोक २०० में उल्लिखित नृवेश की वृद्धि का विच्छेद, जिससे नवीन सृष्टि का उपक्रम हुआ, सार्वभौम नहीं था और उस समय विद्यमान मनुष्य जाति का पूर्णतः नाश नहीं हुआ अपितु नवीन रचित प्राणियों द्वारा पुरातन वंश पुनर्जीवित हो गया, तथा (२) श्लोक २०३ में उल्लिखित प्राणियों का दूसरा वर्ग जिसे सत्त्व एवं रजस् से युक्त कहा गया है, मनुष्यों की वर्तमान जाति का जन्मदाता था। तथापि, इन विषयों पर यह वर्णन कोई प्रकाश नहीं डालता।

मनुष्य जाति की सृष्टि तथा समाज की विपत्ति एवं पतन का इसके पहले आने वाला विवरण कुछ स्थानों पर अस्पष्ट और अस्तव्यस्त है और इसके विभिन्न भागों में परस्पर सामञ्जस्य नहीं प्रतीत होता। प्रारम्भ में लेखक मनुष्यों के चार सहस्र युग्मों का वर्णन करता है, जिसमें प्रत्येक एक सहस्र युग्मों के वर्ग को नितान्त भिन्न नैसर्गिक स्वाभावों से युक्त बताया गया है, प्रथम वर्ग में सत्त्व गुण, द्वितीय में रजस्, तृतीय मे रजस् और तमस्, और चतुर्थ मे तमस् का प्राधान्य होता है। तथापि (विष्णुपुराण के समानान्तर अंश के समान) हमें इस वर्णन में उन स्वभावों की नैसर्गिक विभिन्नताओं के दीर्घकाल तक नैतिक व्यवहार या भौतिक दशा की विषमताओं की उत्पत्ति द्वारा अभिव्यक्त होने का चिह्न नहीं उपलब्ध होता; क्योंकि जिस सिद्धि के कृतयुग में होने का वर्णन किया गया है, उसका ऐसा उल्लेख है मानों वह सार्वभौम हो, और इस युग में न केवल समाज के विभिन्न अवयवों में कोई भेद न होने का वर्णन किया गया है, अपितु यह भी स्पष्ट रूप से कहा गया है कि उस समय कोई वर्ण या आश्रम नहीं था। कृतयुग के अन्त में होने वाले पतन का भी सामान्य रूप में वर्णन किया गया है, किन्तु किसी वर्ग विशेष के सन्दर्भ में नहीं। पहले सिद्धि की और बाद में पतन की इस पूर्ण एकरूपता की, जिसे इसके विपरीत प्रतीत होने वाली किसी वस्तु के कारण, सम्पूर्ण चार सहस्र युग्मों से उत्पन्न प्राणियों के लिये उद्दिष्ट किया गया है, संगति इस कथन के साथ किस प्रकार बैठायी जा सकती है कि इन युग्मों में प्रत्येक सहस्र युग्म विभिन्न नैसर्गिक गुणों से युक्त थे? यह कह देने से कठिनाई दूर नहीं होती कि लेखक

की यह धारणा थी कि स्वभाव की ये नैसर्गिक विभिन्नतायें विभिन्न वर्णों में सुप्त या अव्यक्त अवस्था में विद्यमान थीं और बाद में उनके वंशजों में विकसित हुईं, क्योंकि वह सामान्य शब्दों में (श्लोक ५४) यह स्पष्टतः कहता है कि मनुष्य जाति उस युग में 'सत्त्व बहुला' अर्थात् सत्त्वगुण के प्राधान्य से युक्त थी; और इसके उपरान्त आने वाले वर्णन के आरम्भिक भाग में उन विभिन्न गुणों के, जिन्हें पहले सहस्त्र युग्मों के चार वर्गों से सम्बद्ध किया गया था, पृथक्-पृथक् क्रमशः चार वर्गों के मनुष्यों में विकसित होने का कोई उल्लेख नहीं है। निःसन्देह श्लोक ७४ में ऐसा माना गया प्रतीत होता है कि वर्गों का विभाजन सृष्टि के ही समय से रहा है; क्योंकि वहाँ हम यह उक्ति पाते हैं कि "सभी मन्वन्तरों में चार युगों के विभाजन के अनुसार" (स्पष्टः कृत युग को भी सम्मिलित कर) "एक प्रकार की सिद्धि का उल्लेख किया गया है, जो वर्गों एवं आश्रमों के नियमों से उत्पन्न तथा कर्मों के सम्पादन से प्रसूत होती थी।" किन्तु इसकी संगति श्लोक ६० और ६१ के इस कथन से किस प्रकार बैठायी जा सकती है कि "कृत युग में कोई ऐसा कर्म नहीं किया जाता था जो शुभ या पापपूर्ण रहता हो" और "उस समय न तो वर्णों या आश्रमों के कोई विभेद थे और न कोई वर्णसंकर था?" त्रेता युग में पतन की दशा प्रारम्भ हो गई। किन्तु वर्गों के किसी प्रकार के विभाजन का उल्लेख श्लोक १३८ तक नहीं मिलता, जिसमें यह कहा गया है कि जो प्राणी कृत युग में ब्रह्मा के सिद्ध मानस-पुत्र थे, उन्होंने अपने पूर्व कर्मों के परिणामस्वरूप पुनः मनुष्य शरीर धारण किया और पहले के शान्त, उग्र, परिश्रमी या दलित स्वभावों के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा द्रोही मनुष्य हुए। जीविका के साधन प्राप्त होने के उपरान्त ये प्राणी अपनी प्रवृत्ति, स्वभाव, तथा व्यवसाय के भेदों के अनुसार वर्गों में विभक्त हो गये, और यतः ये पहले अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करते थे अपितु एक दूसरे के कार्यक्षेत्र में अनधिकार प्रवेश करते थे, अतः बाद में इनके कर्मों को अधिक कठोरता से निश्चित और उनके पालन का भी विधान कर दिया गया। यहाँ यह कहा गया है कि प्राणियों के अनेक वर्ग पूर्व-जीवन के अपने विभिन्न गुणों के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, तथा शूद्र रूप में उत्पन्न हुए और उन्हीं विशेषताओं के फलस्वरूप वे कालान्तर में वर्णों में विभाजित किये गये। यह वर्णन यहाँ तक तो अविरुद्ध है। वर्ण की विभिन्नता का आधार आत्मा की प्रकृति माना गया है। किन्तु पूर्वकाल के विभिन्न स्वाभावों की इस मान्यता का सामञ्जस्य हम इस विवरण के आरम्भिक भाग के वर्णन के साथ किस प्रकार बैठा सकते है, जिसमें यह कहा गया है कि कम से कम कृत युग के पूर्व भागों में सभी मनुष्य समान

रूप से पूर्ण थे और कोई इस प्रकार का कर्म नहीं होता था जो धर्मपूर्ण हो या पापपूर्ण ? यदि उस युग में ऐसी स्थिति थी तो किस प्रकार उस समय के प्राणियों में प्रकृति तथा स्वभाव की वे विभिन्नताएँ प्रकट हो सकती थीं जिन्हें उनके ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र, तथा वैश्य रूप में उत्पन्न होने का कारण माना गया है ? यह माना जा सकता है कि पुराणों में मनुष्य जाति सहस्र युग्मों के उन प्रथम चार वर्गों के अनुरूप है, जिनके वर्णों के विभाजन उत्पन्न करने का वर्णन किया गया है, किन्तु जिस प्रकार की एकरूप एवं सार्वभौम पूर्णता के मनुष्य जाति की सृष्टि तथा वर्णों की उत्पत्ति के बीच घटित होने का उल्लेख किया गया है, वह नैतिक स्वभाव इस प्रकार के भेदों की स्थिति के साथ असंगत प्रतीत होता है।

जब हम इस सम्पूर्ण वर्णन की तुलना इस खण्ड के पूर्ववर्ती भाग में सृष्टि के अन्य दो वर्णनों के साथ करते हैं तो वही कथन लागू होता है जो विष्णुपुराण के समरूप अनुच्छेद के विषय में पिछले खण्ड में पृ० ७५ आदि पर दिया गया है।

जिस अध्याय का मैंने अभी अनुवाद तथा परीक्षण किया है, उसके तत्काल बाद वह अध्याय आता है जिसके प्रारम्भ का उद्धारण इसके पहले आये हुए एक पृष्ठ पर दिया जा चुका है और जिसमें ब्रह्मा द्वारा अनेकशः धारण किये गये एवं परित्यक्त विभिन्न शरीरों से असुरों, देवताओं, पितरों आदि की सृष्टि का वर्णन है।

अब मैं उसके आगे वाले, अर्थात् दसवें अध्याय से, एक उद्धरण दूँगा जिसमें शतरूपा की कथा कही गयी है।

सूत उवाच। १ एवम्भूतेषु लोकेषु ब्रह्मणा लोककर्त्तृणा।[१२६] यदा ताः न प्रवर्त्तन्ते प्रजाः केनापि हेतुना। २. तमो-मात्रावृतो ब्रह्मा तदा-प्रभृति दुःखिताः। ततः स विदधे बुद्धिन् अर्थनिश्चय-गामिनीम्। ३. अथात्मनि समस्राक्षीत् तमो-मात्रां निजात्मिकाम्। रजः-सत्त्वम् पराजित्य वर्त्तमानं स धर्मतः। ४. तप्यते तेन दुःखेन शोकं चक्रे जगत्-पतिः। तमस् तु व्यनुदत् तस्माद् रजस् तच् च समावृणोत्। ५. तत तमः प्रतिनुत्तं वै

---

[१२६] 'कर्तृणा' रूप (जैसा कि सुविदित है विकल्प से नपुंसक लिंग मे हो सकता है किन्तु पुल्लिङ्ग मे नही) यहाँ छन्द की दृष्टि से रखा गया है। जैसा कि हम देख चुके है, इस प्रकार की अनियमितता को भाष्यकार 'आर्ष' प्रयोग कहते हैं। यह असम्भव है कि यहाँ ब्रह्मन् शब्द का प्रयोग नपुसक लिङ्ग के अर्थ मे हो।

मिथुनं संव्यजायत। अधर्मश् चरणाज् जज्ञे हिंसा शोकाद् अजायत। ६. ततस् तस्मिन् समुद्भूते मिथुने चरणात्मनि। ततश् च भगवान् आसीत् प्रीतिश्चैनम् अशिश्रियत्। ७. स्वां तनुं स ततो ब्रह्मा ताम् अपोहद् अभास्वराम्। द्विधाऽकरोत् स तं देहम् अर्धेन पुरुषोऽभवत्। ८. अर्धेन नारी सा तस्य शतरूपा व्यजायत। प्राकृताम् भूत-धात्रीम् तां कामाद् वै सृष्टवान् विभुः। ९. सा दिवम् पृथिवीं चैव महिम्ना व्याप्य धिष्ठिता। ब्रह्मणः सा तनुः पूर्वा दिवम् आवृत्य तिष्ठति। १०. या त्व् अर्धात् सृजते नारी शतरूपा व्यजायत। सा देवी नियतं तप्त्वा तपः परम-दुश्चरम्। भर्त्तारम् दीप्तयशसम् पुरुषम् प्रत्यपद्यत। ११. स वै स्वायम्भुवः पूर्वम् पुरुषो मनुर् उच्यते। तस्यैकसप्तति-युगम् मन्वन्तरम् इहोच्यते। १२. लब्ध्वा तु पुरुषः पत्नीं शतरूपाम् अयोनिजाम्। तया स रमते सार्द्धम् तस्मात् सा रतिर् उच्यते। १३. प्रथमः सम्प्रयोगः स कल्पादौ समवर्त्तत। विराजम् असृजद् ब्रह्मा सोऽभवत् पुरुषो विराट्। १४. स सम्राट् मासरूपात् तु वैराजस् तु मनुः स्मृतः। स वैराज प्रजा-सर्गः स सर्गे पुरुषो मनुः। १५. वैराजात पुरुषाद् वीराच् छतरूपा व्यजायत। प्रियव्रतोत्तानपादौ पुत्रौ पुत्रवतां वरौ।

१. जब लोकों के स्रष्टा ब्रह्मा ने उनकी इस प्रकार सृष्टि की किन्तु लोकों के ये प्राणी किसी कारणवश कर्म में प्रवृत्त नहीं हुए,[१९७] २. तब तमसावृत्त ब्रह्मा अत्यन्त दुःखित हुए और उन्होंने स्थिति का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने का संकल्प किया। ३. तब उन्होंने स्वयं अपने में अपने एक शरीर की रचना की जो उनके अन्तर्गत स्वाभावतः विद्यमान रजस् एवं सत्त्व गुणों को अभिभूत करने वाले तमोगुण मात्र से निर्मित था। ४. जगत् के स्वामी उस कष्ट से दुःखित थे, अतः उन्होंने शोक किया।[१९८] तब उन्होंने तम को दूर किया और रज को आवृत कर लिया। तम बिखर कर मिथुन हो गया।[१९९] कर्म से (?) अधर्म की उत्पत्ति हुई और शोक से हिंसा का उदय हुआ। ६ क्रियाशील (?)

[१९७] यहाँ वास्तविक पाठ 'प्रवर्द्धन्ते' हो सकता है, इस दशा मे अर्थ होगा "वृद्धि प्राप्त नहीं की।" विष्णु पुराण १ ७, ४, पृ० ७४ के समानान्तर अश की तुलना कीजिए।

[१९८] ब्रह्मा की निराशा एवं शोक के वृत्त के साथ ऊपर पृ० ७९ आदि पर ब्राह्मणो से उद्धृत अशो की तुलना की जा सकती है।

[१९९] विष्णु पुराण १ ७, ९ आदि के पृ० ७४ आदि पर उद्धृत वृत्त की तुलना कीजिए।

मिथुन की उत्पत्ति होने पर वे भगवान् हो गये और आनन्द के आस्पद बन गये। ७. इसके उपरान्त ब्रह्मा ने अपने उस शरीर का परित्याग कर दिया जो तेजहीन था, और उन्होंने अपने शरीर के दो भाग किये : आधे भाग से वे पुरुष हुए ८, और आधे भाग से स्त्री; इस प्रकार उत्पन्न हुई स्त्री शतरूपा थी। ९. कामवासना के वशीभूत होकर उसे उन्होंने प्राणियों का भौतिक आधार बनाया। ९, अपनी विशालता से उसने आकाश और पृथ्वी दोनों को आच्छादित कर लिया। ब्रह्मा का वह पूर्व शरीर आकाश को व्याप्त कर स्थित रहता है। १०. इस दैवी स्त्री शतरूपा ने, जो उनके आधे भाग से उत्पन्न हुई थी, जब ब्रह्मा अपने तप द्वारा सृष्टि कर्म में लगे थे तब श्रेष्ठ ख्याति वाले पुरुष को अपने पति के रूप में प्राप्त किया। उन्हें पूर्व पुरुष मनु स्वायम्भुव कहते हैं, और उनका काल (मन्वन्तर) इक्कीस युगों का बताया गया है। १२. इस पुरुष ने योनि से न उत्पन्न हुई शतरूपा को अपनी पत्नी के रूप में प्राप्त कर उसी के साथ रमण किया (रमते) और इस कारण उसे रति कहते हैं (जो यौन-प्रेम का मूर्त स्त्री-रूप है)। १३. कल्प के आरम्भ में हुआ यही प्रथम सहवास था। ब्रह्मा ने विराज की रचना की, वह पुरुष विराज था। १४. मास के रूप से युक्त होने के कारण वह सम्राट् (सम्राज्) है और मनु विराज का पुत्र कहा जाता है।[१००] प्रजाओं की इस सृष्टि को विराज् की सृष्टि कहते हैं। इस सृष्टि में मनु पुरुष होता है। १५. शतरूपा ने विराज के पुत्र, उस वीर पुरुष से, प्रियव्रत और उत्तानपाद नाम के दो पुत्र उत्पन्न किये जो पुत्रवानों में सर्वश्रेष्ठ है।" इसके उपरान्त आगे और वंशावली आती है जिसमें मैं प्रवेश नहीं करूँगा।

ऊपर पृ० ७४ आदि पर विष्णुपुराण १. ७, १ आदि से उद्धृत किये गये वर्णन के साथ इस वर्णन की तुलना करने पर यह देखा जायगा कि यद्यपि यह विष्णुपुराण में वर्णित रुद्र की उत्पत्ति का कोई उल्लेख नहीं करता, (जिसका तथा ब्रह्मा के मानस पुत्रों के जन्म का वर्णन वायुपुराण के अग्रगामी अध्याय श्लोक ६७-८२ मे किया गया है), तथापि यह शतरूपा के आख्यान के सम्बन्ध में अधिक पूर्ण है, और यद्यपि यह इसका वर्णन नही करता कि ब्रह्मा ने अपनी पुत्री के साथ संयोग किया तथा उसके दूसरे पति मनु स्वायम्भुव का निर्देश करता है, तथापि यह वर्णन करता है कि उसकी सृष्टि करने मे स्रष्टा कामवासना से प्रेरित हुए थे। अगले खण्ड में मैं इस कथा का और भी दृष्टान्त दूँगा।

---

[१००] ऊपर पृ० ४१ पर मनुस्मृति से दिये गये विवरण की तुलना कीजिए।

खण्ड ९—ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार ब्रह्मा और उनकी पुत्री का आख्यान तथा मत्स्यपुराण के अनुसार शतरूपा की कथा

जो कथा प्रस्तुत खण्ड का विषय है उसका कुछ विस्तृत विवेचन इस कृति के चतुर्थ भाग में किया गया है, जहाँ एक प्राचीनतम अनुच्छेद का, जिसमें यह कथा कही गयी है, शतपथ ब्राह्मण १. ७, ४, १ आदि से उद्धरण दिया गया है और उसके साथ भागवत पुराण ३. १२, २८ आदि के अपेक्षाकृत परवर्ती युग के अंश का भी उद्धरण है। यतः स्वरूपतः अप्रिय होते हुए भी यह कथा उन विचारों के अभिव्यक्त करने के कारण जो हिन्दू पुराकथाविद् अपने देवताओं के विषय में रखते थे, रुचिहीन नहीं है, अतः मैं दो अन्य ऐसे अंशों को उद्धृत करूँगा जिनमें यह कथा कही गई है।

प्रथम में जो ऐतरेय ब्राह्मण ३. ३३ से लिया गया है, निश्चय ही (अभी उल्लिखित शतपथ ब्राह्मण के अनुच्छेद तथा उसी ग्रन्थ से ऊपर पृ० २८ पर उद्धृत १४. ४, २, १ आदि अनुच्छेद के साथ) उन कल्पनाओं को उपस्थापित किया है जिनका पल्लवन इस कथा के परवर्ती रूपों में हुआ है। यह इस प्रकार है :—

प्रजापतिर् वै स्वां दुहितरम् अभ्यध्यायत्। दिवम् इत्य् अन्ये आहुर् उषसम् इत्य् अन्ये। ताम् ऋश्यो भूत्वा रोहितम् भूताम् अभ्यैत्। तम् देवा अपश्यन्। "अकृतं वै प्रजापतिः करोति" इति। ते तम् ऐच्छन् यः एनम् आरिष्यति। एतम् अन्योन्यस्मिन् न अविन्दन्। तेषाम् या एव घोरतमास् तन्वः आसंस् ताः एकधा समभरन्। ताः सम्भृताः एष देवोऽभवत्। तद् अस्य एतद् भूतवन्-नाम। भवति वै स योऽस्य एतद् एवं नाम वेद। त देवा अब्रुवन् "अयं वै प्रजापतिर् अकृतम् अकर् इमम् विध्य" इति। स "तथा" इत्य् अब्रवीत्। स वै वो वरं वृणै" इति। "वृणीष्व" इति। स एतम् एव वरम् अवृणीत पशूनाम् आधिपत्यम्। तद् अस्य एतत् पशुमन्-नाम। पशुमान् भवति योऽस्य एतद् एवं नाम वेद। तम् अभ्यायत्य अविध्यत्। स विद्ध ऊर्ध्व उदप्रपतद् इत्यादि।[२०३]

[२०३] डॉ० हाग के ऐतरेय ब्राह्मण मे इस अंश का उनके अनुवाद का भाग २, पृ० २१८ आदि देखिए। और इस अनुवाद पर वेबर की टिप्पणी इण्डिशे स्टूडियम ९, २१७ आदि, तथा 'भूतवत्' शब्द की प्रोफेसर रॉथ की व्याख्या उनके लेक्सिकन में देखें।

"प्रजापति ने अपनी ही पुत्री के साथ संभोग की इच्छा की। कुछ दिव को उसकी पुत्री कहते हैं और दूसरे उषस् को। उसके हरिणी होने पर वह हिरण बनकर उसके निकट पहुचा। देवताओं ने उसे देखा (और कहा) प्रजापति ऐसा कार्य कर रहा है जो (पहले) कभी नहीं किया गया था।[२०२] उन्होंने किसी ऐसे व्यक्ति की खोज की जो इसका उसे दण्ड देता। ऐसा व्यक्ति उन्हें अपने बीच कोई नहीं मिला। तब उन्होंने अपने घोर शरीरों को एकत्र किया। ये सब मिलकर यह (रुद्र) देवता हुए। इस कारण उनका भूत से अन्वित (भूतपति) नाम हुआ। जो व्यक्ति उसके इस नाम को जानता है वह समृद्धि[२०३] प्राप्त करता है। देवताओं ने उससे कहा 'इस प्रजापति ने ऐसा कर्म किया है जो पहले नहीं किया गया था, इसे विद्ध करो।' उसने उत्तर दिया 'ऐसा ही होगा', (और कहा) 'मुझे एक वर दो।' उन्होंने कहा—'माँग लो'। उसने यह वर अर्थात् पशुओं का स्वामित्व माँगा। इस कारण उसका पशु से अन्वित (पशुपति) नाम हुआ। जो इस प्रकार उसके इस नाम का रहस्य जानता है वह पशुओं का स्वामी हो जाता है। तब उसने प्रजापति पर आक्रमण किया और उसे विद्ध कर डाला। विद्ध होकर वह ऊपर उठने लगा।" आदि-आदि।

दूसरा अंश जो मैं उद्धृत करूँगा, वह मत्स्य पुराण अध्याय ३ श्लोक ३२ आदि से है:—एतद् तत्त्वात्मकं कृत्वा जगद् द्वेधा अजीजनत्। ३३. सावित्रीम् लोक-सिद्ध्यर्थम् हृदि कृत्वा समास्थितः। ततः सञ्जपतस् तस्य भित्त्वा देहम् अकल्मषम्। ३४. स्त्री-रूपम् अर्द्धम् अकरोद् अर्द्धम् पुरुष-रूपवत्। शतरूपा च सा ख्याता सावित्री च निगद्यते। ३५. सरस्वत्य् अथ गायत्री ब्रह्माणी च परन्तप। ततः स ब्रह्मदेवस् ताम् आत्मजाम् इत्य् अकल्पयत्। ३६. दृष्ट्वा तां व्यथितस् तावत् काम-बाणार्दितो विभुः। "अहो रूपम् अहो रूपम्" इत्य् उवाच तदाऽव्ययः। ३७. ततो वसिष्ठ-प्रमुखा "भगिनीम्" इति चुक्रुशुः। ब्रह्मा

---

[२०२] इसका अनुकरण भागवत पुराण ३ १२, ३० की पक्ति मे किया गया प्रतीत होता है जो इस कृति के भाग ४, मे उद्धृत है. "नैतत् पूर्वैः कृतं त्वद् ये न करिष्यन्ति चापरे"। "ऐसा कर्म आपके पूर्व के व्यक्तियो ने कभी नही किया था और न आपके बाद आने वाले लोग ही इस कर्म को करेंगे।

[२०३] 'भवति', ब्राह्मणो मे इस शब्द का प्रयोग प्राय समृद्धिशाली होने के अर्थ मे हुआ है जो 'पराभवति' (वह नष्ट होता है) के विपरीत अर्थ का द्योतक है। बौटलिंक और रॉथ के 'लेक्सिकन' मे यह शब्द तथा उसमे निर्दिष्ट अंश देखें।

न किञ्चिद् दृष्टो तन्-मुखालोकनाद् ऋते। ३८. 'अहो रूपम् अहो रूपम्' इति आह पुनः पुनः। ततः प्रणाम-नम्रां ताम् पुनस्-ताम् अभ्यलोकयत्। ३९. अथ प्रदक्षिणाम् चक्रे सा पितुर् वरवर्णिनी। पुत्रेभ्यो लज्जितस्यास्य तद्-रूपालोकनेच्छया। ४०. आविर्भूतं ततो वक्त्रम् दक्षिणम् पाण्डु-गण्डवत्। विस्मय-स्फुरद्-ओष्ठं च पाश्चात्यम् उद्गात् ततः। ४१. चतुर्थम् अभवत् पश्चाद् वामं काम-शरातुरम्। ततोऽन्यद् अभवत् तस्य कामातुरतया तथा। ४२. उत्पतन्त्यास् तदाऽऽकाशे आलोकित कुतूहलात्। सृष्ट्य्-अर्थं यत् कृतम् तेन तपः परमदारुणम्। ४३ तत् सर्वम् नाशम् अगमत् स्व-सुतोपगमेच्छया। तेनाशु[१०४] वक्त्रम् अभवत् पञ्चम तस्य धीमतः। ४४. आविर्भवज् जटाभिश्च तद् वक्त्रञ्चावृणोत् प्रभुः। ततस् तान् अब्रवीद् ब्रह्मा पुत्रान् आत्म-समुद्भवान्। ४५. "प्रजाः सृजध्वम् अभितः स-देवासुर-मानुषाः।" एवम् उक्ताम् ततः सर्वे ससृजुर् विविधाः प्रजाः। ४६. गतेषु तेषु सृष्ट्यर्थम् प्रणामावनताम् इमाम्। उपयेमे स विश्वात्मा शतरूपाम् अनिन्दिताम्। ४७. सम्बभूव तया सार्द्धम् अतिकामातुरो विभुः। सलज्जा चकमे देवः कमलोदर-मन्दिरे। ४८. यावद् अब्द-शतं दिव्यं यथाऽन्यः प्राकृतो जनः। ततः कालेन महता तस्याः पुत्रोऽभवद् मनुः। ४९. स्वायम्भुव इति ख्यातः स विराड् इति नः श्रुतम्। तद्-रूप-गुण-सामान्याद् अधिपूरुष उच्यते। ५०. वैराजा यत्र ते जाताः बहवः शंसितव्रताः। स्वायम्भुवा महाभागाः सप्तसप्त तथाऽपरे। ५१. स्वारोचिषाद्याः सर्वे ते ब्रह्म-तुल्य-स्वरूपिणः। औत्तमि-प्रमुखास् तद्वद् येषान्त्व सप्तमोऽधुना। (अध्याय ४) मनुर् उवाच। १. अहो कष्टतरं चैतद् अङ्गजागमनं विभो। कथं न दोषम् अगमत् कर्मणा तेन पद्मजः। २. परस्परञ्च सम्बन्धः सगोत्राणाम् अभूत कथम्। वैवाहिकस् तत्-सुतायाम् छिन्धि मे संशयं विभो। मत्स्य उवाच। ३. दिव्येयम् आदि-सृष्टिस् तु रजो-गुण-समुद्भवा। अतीन्द्रियेन्द्रिया तद्वद् अतीन्द्रिय-शरीरिका। ४. दिव्य-तेजोमयी भूप दिव्य-ज्ञान-समुद्भवा। न चान्यैर् अभितः शक्या ज्ञातु वै मांस-चक्षुषा। ५. यथा भुजङ्गाः सर्पाणाम् आकाशं सर्व-पक्षिणाम्। विदन्ति मार्गम् दिव्या एव न मानवाः। ६. कार्याकार्येण देवाश्च शुभाशुभ-फल-प्रदाः। यस्मात् तस्माद् न राजेन्द्र तद्-विचारो नृणां शुभः। ७. अन्यच्च सर्व-देवानाम् अधिष्ठाता चतुर्मुखः। गायत्री ब्रह्मणस् तद्वद् अङ्ग-भूता निगद्यते। ८. अमूर्त्त-मूर्त्तिमद् वापि मिथुनञ्च

[१०४] 'तेनाशु' के स्थान पर गायकवाड़ हस्तप्रति में 'ततोर्ध्वं' पाठ है।

प्रचक्षते। विरञ्चिर् यत्र भगवांस् तत्र देवी सरस्वती। ९. भारती यत्र यत्रैव तत्र-तत्र प्रजापतिः। यथातपेन रहिता छाया वै (? न) दृश्यते क्वचित्। १०. गायत्री ब्रह्मणः पार्श्वम् तथैव न विमुञ्चति। वेद-राशिः स्मृतो ब्रह्मा सावित्री तद् अधिष्ठिता। ११. तस्माद् न कश्चिद् दोषः स्यात् सावित्री-गमने विभोः। तथापि लज्जावनतः प्रजापतिर् अभूत् पुरा। १२. स्व-सुतोपगमाद् ब्रह्मा शशाप कुसुमायुधम्। यस्माद् ममापि भवता मनः संक्षोभितं शरैः। १३. तस्मात् त्वद्-देहम् अचिराद् रुद्रो भस्मीकरिष्यति। ततः प्रसादयामास कामदेवस् चतुर्मुखम्। १४. "न माम् अकारणं शप्तुं त्वम् इहार्हसि माम् अव। अहम् एवं-विधः सृष्टस् त्वयैव चतुरानन। १४. इन्द्रिय-क्षोभ-जनकः सर्वेषाम् एव देहि-नाम्। स्त्री-पुंसोर् अविचारेण मया सर्वत्र सर्वदा। १६. क्षोभ्यम् मनः प्रयत्नेन त्वयैवोक्तम् पुरा विभो। तस्माद् अनपराधेन त्वया शप्तस् तथा विभो। १७. कुरु प्रसादम् भगवन् स्वशरीराप्तये पुनः। ब्रह्मा उवाच। १८. वैवस्वतेऽन्तरे प्राप्ते यादवान्वय-सम्भवः। रामो नाम यदा मर्त्यो मत्-सत्त्व-बलम् आश्रितः। १९. अवतीर्यासुर-ध्वंसी द्वारकाम् अधिवत्स्यति। तद्-धातुस् तत्-समश्च[२०५] त्वं तता पुत्रत्वम् एष्यसि इत्यादि।

"इस प्रकार तत्त्वों से युक्त इस संसार की सृष्टि करके संसार की पूर्ति करने के विचार से उन्होंने दो प्रकार की सृष्टि की २२. और सावित्री को अपने हृदय में रक्खा। तब मन्त्रों का जप करते हुए उन्होंने अपने दोषरहित शरीर को विभक्त किया २४. और आधे को स्त्री का रूप दिया और आधे को पुरुष का। इस स्त्री को शतरूपा, सावित्री २५. सरस्वती, गायत्री तथा ब्रह्माणी कहते हैं। ब्रह्मा ने तब उसे अपनी पुत्री माना। २६. उसे देखकर उस अनश्वर देवता ने व्यथित तथा काम के बाणों से विद्ध होकर कहा—'अहा, कैसा सौन्दर्य है। कैसा सौन्दर्य है।' २७. तब वसिष्ठ आदि ऋषियों ने कहा—'(हमारी) बहन है।' ब्रह्मा कुछ और नहीं देख पा रहे थे; एक मात्र उसके मुख पर उनकी दृष्टि थी, २९. और वे पुनः पुनः यही उच्चारण करते थे, 'अहा कैसा रूप है! कैसा है!' जब वह श्रद्धा से नत हुई तब उन्होंने पुनः उस पर दृष्टिपात किया। २९. उस सुन्दर स्त्री ने तब अपने पिता की परिक्रमा की।

[२०५] गायकवाड हस्तप्रति का पाठ ऐसा ही प्रतीत होता है। टेलर हस्तप्रति का मूल पाठ मिटा दिया गया है और उसके स्थान पर दूसरा पाठ रखा गया है: 'ततस् तत्-समये त्वम् च।'

यतः अपने पुत्रों के कारण वे लज्जित हुए अतः उनके उसके रूप पर दृष्टिपात करने से (४०) उनके (मस्तक पर) एक दक्षिण दिशा में मुख प्रगट हुआ जिसके कपोल पाण्डुवर्ण के थे, और उसके उपरान्त पश्चिम दिशा में एक मुख प्रकट हुआ जिसके ओष्ठों में आश्चर्य से उत्पन्न कम्पन था। ४१. इसके उपरान्त एक चौथा मुख प्रकट हुआ जो सुन्दर था और काम के बाणों से व्याकुल था। तब इसी भावना के व्याकुल करने वाले प्रभाव से ४२. तथा उसके आकाश में उठते समय उसकी ओर देखने की उत्कण्ठा से एक और मुख प्रकट हुआ। ब्रह्मा ने सृष्टि के ध्येय से जो घोर तप किया ४३. वह अपनी पुत्री के साथ (यौन) सम्पर्क करने के कारण पूर्णतः लुप्त हो गया। इससे उस बुद्धिमान् देव का एक पाँचवा मुख या (एक हस्तप्रति के अनुसार ऊर्ध्व या पञ्चम मुख) शीघ्र उत्पन्न हुआ ४४. जो जटाओं से युक्त था और उसे उन्होंने आच्छादित कर लिया। तब ब्रह्मा ने उन पुत्रों से, जो उत्पन्न हुए थे, कहा ४५. 'सर्वत्र देवता, असुर और मनुष्य प्रजाओं की सृष्टि करो।' ऐसा निर्देश पाकर उन्होंने विविध प्रकार के प्रजाओं की सृष्टि की। ४६. जब वे सृष्टि करने चले गये तो उस विश्वात्मा ने उस निष्कलुष शतरूपा को अपनी पत्नी बनाया। अत्यन्त कामातुर होकर उन्होंने उसके साथ संभोग किया : एक सामान्य मनुष्य के समान यद्यपि वह लज्जित थी—एक कमल के सम्पुट में ४८. एक सहस्र दिव्य वर्षों तक उन्होंने उसके साथ प्रेम-लीलायें कीं। दीर्घकाल के उपरान्त उनके मनु ४९. स्वायम्भुव नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ जो विराज है, ऐसा हमने सुना है।[२०६] ५०. उससे वे अनेक विराज उत्पन्न हुए जो धार्मिक कृत्यों में दृढ थे, वे स्वयम्भू के सात महान् पुत्र थे, तथा दूसरे सात मनु थे ५१. जो स्वारोचिष और औत्तमि से प्रारम्भ होते हैं, और रूप में ब्रह्मा के तुल्य थे : उनमें तुम[२०७] सातवें मनु हो।" (चतुर्थ अध्याय) "१. मनु कहते हैं—'काम का देवता में प्रवेश करना बड़ा दुःसकर है। यह कैसे सम्भव हुआ कि कमल से उत्पन्न हुए उस देवता को उस कर्म से कोई पाप न लगा ? और उससे उत्पन्न हुए एक ही गोत्र के स्त्री-पुरुषों में वैवाहिक संबंध किस प्रकार घटित हुआ ? हे भगवन् मेरे इस संशय को दूर कीजिए।' मत्स्य ने उत्तर दिया ३. 'यह आद्य सृष्टि स्वर्गीय और रजस्

---

[२०६] तु० की० पृ० १० पर दिया गया पुरुषसूक्त, जिसके पाचवे मन्त्र मे 'विराजो अधि पूरुषः' शब्द आते है। यदि अन्तिम दो शब्दो को एक साथ कर दिया जाय तो इस पाठ मे दिया गया नाम हो जाता है।

[२०७] यह कथा मत्स्यावतार धारण करनेवाले देवता, मनु वैवस्वत को सुनाते हैं।

गुण से उत्पन्न थी; इसकी इन्द्रियाँ इन्द्रिय-विषयों का भी अतिक्रमण करने वाली थीं, और शरीर भी उसी प्रकार के ४. और दैवी ज्ञान से उद्भूत दैवी शक्ति से युक्त थे तथा दूसरे भौतिक नेत्रों द्वारा उनका प्रत्यक्ष नहीं कर सकते थे। ५. जिस प्रकार सर्प सर्पों के मार्ग का ज्ञान रखते हैं और आकाश में विचरण करनेवाले प्राणी पक्षियों के मार्ग को जान जाते हैं, उसी प्रकार देवताओं के मार्ग को केवल देवता ही जान सकते है, मनुष्य नहीं। ६. यतः देवता ही किए गए शुभ या अशुभ कर्मों के अनुसार प्रिय या अप्रिय फल देते हैं, अतः मनुष्य के लिए इस प्रश्न पर विमर्श करना समीचीन नहीं। ७. अपरञ्च, चतुर्मुख (ब्रह्मा) सभी देवताओं के शासक है, और इसी प्रकार गायत्री को भी ब्रह्मा का एक अंग कहा गया है ; ८. और जैसा कि लोग कहते हैं कि अमूर्त और मूर्तिमान् जोड़ा है। जहाँ कहीं भगवान् विरञ्चि (ब्रह्मा) रहते हैं वहीं देवी सरस्वती भी रहती हैं। ९. जहाँ भारती (सरस्वती का एक नाम) होती है, वहीं प्रजापति भी रहते है। जिस प्रकार कहीं भी छाया सूर्य के प्रकाश से पृथक् नहीं दिखाई पड़ती १०. उसी प्रकार गायत्री कदापि ब्रह्मा से दूर नहीं रहती। वे वेद की राशि हैं और सावित्री उन पर अधिष्ठित रहती हैं। ११. अतएव सावित्रीगमन में ब्रह्मा को कोई दोष नहीं हो सकता। तथापि प्राणियों के स्वामी ब्रह्मा लज्जा से अवनत हो गये थे १२. क्योंकि उन्होंने स्वयं अपनी पुत्री का गमन किया था, तथा उन्होंने कुसुमायुध[२०८] (काम) को (इने शब्दों में) शाप दिया 'जिस प्रकार तुमने मेरे मन को अपने बाणों से क्षुब्ध किया है, उसी प्रकार रुद्र भी तुम्हें भस्मसात् कर देगा।' कामदेव ने तब चतुरानन की इन शब्दों में प्रार्थना की : १४. 'विना कारण के मुझे शाप देना आपके लिये उचित नहीं था : मेरी रक्षा करें। स्वयं आपने ही तो मुझे इस रूप में उत्पन्न किया है १५. और शरीरधारियों की इन्द्रियों को व्याकुल करने वाला बनाया है। सदैव और सर्वत्र स्त्रियों एवं पुरुषों के मन में १६. निःसंकोचन उत्तेजना उत्पन्न करना ही मेरा कर्त्तव्य है; इसका विधान तो स्वयं आपने ही किया है। अतएव विना मेरे दोष के आपने मुझे शाप दे दिया है। १७. भगवन् प्रसन्न होवें जिससे मैं शरीर प्राप्त कर सकूँ।' ब्रह्मा ने उत्तर दिया १८. 'जब वैवस्वत मन्वन्तर आवेगा तब यादव वंश में उत्पन्न राम नाम का पुरुष मेरे तत्व से अंश ग्रहण कर और असुरों के नाश का अवतार बनकर द्वारका में निवास करेगा। तब तुम उसके वीर्य से उसी के समान रूप वाले पुत्र बन कर उत्पन्न होओगे।' इत्यादि।"

---

[२०८] इस शब्द का अर्थ है "वह जिसके अस्त्र पुष्प है।"

इस कथा के वक्ता ने ब्रह्मा के काम वासना के वशीभूत होने का चित्रण रंगसज्जा के साथ (यद्यपि रंचमात्र भी अश्लीलता का आश्रय न लेकर) करने मे सकोच नहीं किया है। इस अनैतिक सम्बन्ध को शतपथ तथा ऐतरेय ब्राह्मणों के लेखकों ने सुतरां गर्हित माना था और वे इसकी अनम्रता का उस प्रकार की रहस्यात्मक व्याख्या द्वारा परिहार करने का प्रयत्न नहीं करते जैसा हम मत्स्य पुराण में पाते हैं। यह कहना कठिन है यह दोष-शुद्धि मौलिक कथाकार ने की या अधिक विचारशील किसी ऐसे परवर्ती लेखक ने जिसने महान् शक्तियों की किसी उदात्त कल्पना के साथ उस कथा की असंगति का अनुभव किया था। यह नितान्त सम्भव है कि जिस लेखक ने इस अशोभनीय दृश्य का वर्णन करने मे अपनी कल्पना को उन्मुक्त कर दिया था, जिसके सार का विवेचन प्रामाणिक माने जाने वाले ग्रन्थों मे हो चुका है, उसी लेखक ने इस व्यभिचार का निवारण करने के लिये कोई उपाय ढूँढ निकालना आवश्यक समझा होगा। दूसरी ओर, ऐसा प्रतीत होता है कि मौलिक लेखक ने ब्रह्मा की प्रेम-क्रीड़ा को सामान्य मनुष्य के धरातल पर प्रस्तुत कर मूल लेखक ने इस व्यभिचार की व्याख्या करने के लिए किसी रहस्यात्मक परिष्कार से किनारा कर दिया है। और इस दोष-परिहार के उपरान्त भी यह बताया गया है कि ब्रह्मा अपने उस कर्म से लज्जित हुए बिना नहीं रहे। इस दोष का परिहार करने वाली व्याख्या के लेखक को यह ध्यान में रखना चाहिए था कि यदि उसकी बचाव की युक्ति का कोई मूल्य था, तो जिस देवता के दोष का वह परिहार कर रहा था उसके अपमानित होने का कोई कारण ही नहीं था। किन्तु उसने इस कथन के प्रचलित स्वरूप को निकाल देने का साहस नहीं किया। जिस आधार पर दोष का परिहार किया गया है वह अंशत. तो वैसा ही है, जैसा कि इस कृति के चतुर्थभाग में उद्धृत अंश में भागवत पुराण के लेखक ने दिया है, अर्थात् देवताओं के चरित्र का आकलन उन्हीं मान्यताओं से नहीं हो सकता जिनसे मनुष्यों का होता है—और देवताओं के अपने नियम हैं (Sunt superis sua jura), तथापि भागवतपुराण ने ब्रह्मा और कृष्ण के लिये विभिन्न मानस्तर बताये हैं, क्योंकि कृष्ण के परस्त्रीगमन का दोष-परिष्कार तो सद्योल्लिखित श्लोकों मे किया गया है किन्तु दूसरे अनुच्छेद ३. १२, २८ आदि मे, जो उसी भाग मे उद्धृत है, ब्रह्मा के अनैतिक व्यवहार को दोषरहित प्रमाणित करने की कोई इच्छा प्रदर्शित नहीं की गई है।

जहाँ तक विभिन्न पुराणों के अनुसार इस कथा के सूक्ष्म विस्तारों का सम्बन्ध है मैं यह कह सकता हूँ कि जहाँ विष्णु, वायु (देखिए ऊपर

पृ० ७४ तथा १२१ तथा मार्कण्डेयपुराण ४०. १३ आदि शतरूपा को मनु स्वायम्भुव की पत्नी बताते है, वहीं मत्स्यपुराण, जैसा कि हम देख चुके हैं, उसे स्वयं ब्रह्मा की पत्नी तथा मनुस्वायम्भुव की माता[209] बताता है। इसकी आवृत्ति चतुर्थ अध्याय के छब्बीसवें श्लोक में की गयी है :

या सा देहार्द्ध-सम्भूता गायत्री ब्रह्म-वादिनी। जननी या मनोर् देवी शतरूपा शतेन्द्रिया। २७. रतिर् मनस् तपो बुद्धिर् महद्-आदि समुद्भवा।[210] ततः स शतरूपायां सप्तापत्यान्य् अजीजनत्। २८. ये मरीच्यादयः पुत्राः मानसास् तस्य धीमतः। तेषाम् अयम् अभूल् लोकः सर्व-ज्ञानात्मकः पुरा। २९. ततोऽसृजद् वामदेवम् त्रिशूल-वर-धारिणम्। सनत्कुमारञ्च विभुम् पूर्वेषाम् अपि पूर्वजम्। ३०. वामदेवस् तु भगवान् असृजद् मुखतो द्विजान्। राजन्यान् असृजद् बाह्वोर् विट्-शूद्राव् ऊरु-पादयोः।.... .३५. स्वायम्भुवो मनुर धीमांस् तपस् तप्त्वा सुदुश्चरम्। पत्नीम् अवाप रूपाढ्याम् अनन्ताम् नाम नामतः। प्रियव्रतोत्तानपादौ मनुस् तस्याम् अजीजनत्।

"जो उनके देह के अर्द्धभाग से उत्पन्न, ब्रह्मज्ञान का उपदेश देनेवाली, मनु की माता, देवी शतरूपा (अर्थात् सौ रूपोंवाली) तथा शतेन्द्रिया (अर्थात् सौ इन्द्रियोंवाली) थी २७. वह रति, मन, तप, तथा बुद्धि थी जो महत् आदि तत्वों से उत्पन्न हुई थी। तब उन्होंने शतरूपा से सात पुत्र उत्पन्न किये। २८. यह सम्पूर्ण ज्ञानात्मक संसार, मरीचि तथा दूसरों से उत्पन्न हुआ जो उस धीमान् सत्ता के मानसपुत्र थे। उसके उपरान्त उन्होंने श्रेष्ठ त्रिशूल को धारण करनेवाले वामदेव (महादेव) की तथा सनत्कुमार की रचना की जो पूर्व-उत्पन्न पुरुषों से पूर्व थे। ३०. तब भगवान् वामदेव ने अपने मुख से ब्राह्मणों की, वक्ष से राजन्यों की, जङ्घों और पैरों से विश् तथा शूद्रों की सृष्टि की।" [इसके आगे वाले श्लोक वामदेव की कुछ और सृष्टियों का वर्णन कर लेखक श्लोक ३५. में कहता है] : "बुद्धिमान मनुस्वायम्भुव ने अत्यन्त कठोर तप करके अनन्ता नाम की एक सुन्दर पत्नी प्राप्त की। उससे उन्होंने प्रियव्रत और उत्तानपाद को उत्पन्न किया।"

---

[209] मनुस्मृति मे दिये गये विवरण (ऊपर पृ० ४१) की तुलना कीजिए जो यहाँ उद्धृत पुराणो के किसी भी वर्णन के साथ साम्य नही रखता।

[210] टेलर हस्तप्रति मे इस पक्ति मे कई स्थानो पर मूल पाठ मिटा दिया गया है। मैंने गायकवाड हस्तप्रति की सहायता से इसे सगृहीत करने का प्रयत्न किया है।

मनु को शतरूपा का पुत्र बना देने पर लेखक के लिए यह आवश्यक था कि वह उसके लिए दूसरी पत्नी की कल्पना करे जैसा कि उसने यहाँ किया है।

यह देखा जायगा कि इस अनुच्छेद में वामदेव को—और अन्य पुराणों के समान ब्रह्मा को नहीं—चार वर्णों का रचयिता कहा गया है।

खण्ड १०—सृष्टि तथा वर्णों की उत्पत्ति पर रामायण से उद्धरण

अधोलिखित अनुच्छेदों में प्रथम का संक्षेप पृ० ४३ पर एक टिप्पणी में दिया जा चुका है। इसके एक अंश का उद्धरण पृ० ६३ पर भी दिया गया है, इस कृति के चतुर्थ भाग में इसका अधिक पूर्ण रूप में दृष्टान्त दिया गया है, परन्तु सुविधा ने लिए मैं यहाँ इसकी आवृत्ति कर देता हूँ :—

रामायण (बम्बई संस्करण) २. ११०, १ : क्रुद्धम् आज्ञाय रामं तु वसिष्ठः प्रत्युवाच ह। जाबालिर् अपि जानीते लोकस्यास्य गतागतिम्। २. निवर्त्तयितु-कामस् तु त्वाम् एतद् वाक्यम् अब्रवीत्। इमाम् लोक-समुत्पत्तिं लोक-नाथ निबोध मे। ३. सर्वं सलिलम् एवासीत् पृथिवी तत्र निर्मिता। ततः समभवत् ब्रह्मा स्वयम्भूर् दैवतैः सह। ४. स वराहस् ततो भूत्वा प्रोज्जहार वसुन्धराम्। असृजच् च जगत् सर्वं सह पुत्रैः कृतात्मभिः ५ आकाशप्रभवो ब्रह्मा शाश्वतो नित्य अव्ययः। तस्माद् मरीचिः सञ्जज्ञे मरीचेः कश्यपः सुतः। ६. विवस्वान् कश्यपाज् जज्ञे मनुर् वैवस्वतः स्वयम्। स तु प्रजापतिः पूर्वम् इक्ष्वाकुस् तु मनोः सुतः। ७. यस्येयम् प्रथम दत्ता समृद्धा मनुना मही। तम् इक्ष्वाकुम् अयोध्यायां राजानं विधि पूर्वकम्।

"१. राम को क्रुद्ध देखकर[२५१] वसिष्ठ ने उत्तर दिया, 'जाबालि भी लोक की गतागति का ज्ञान रखते हैं २. किन्तु उन्होंने इस प्रकार के वचन आपको लौटने के लिए प्रेरित करने के अभिप्राय से कहे हैं। हे पृथ्वी के स्वामी, आप

[२५१] एक भौतिकतावादी तथा अनैतिक तर्क के कारण जो जाबालि ने राम के सम्मुख अपने मृत पिता के उत्तराधिकार की व्यवस्था की अवहेलना करने की प्रेरणा देने के लिए प्रस्तुत किया था। देखिये ज० ए० सो० भाग १९ पृ० ३०३ आदि।

मुझसे संसार की उत्पत्ति (के इस वर्णन) का ज्ञान प्राप्त करें। ३. विश्व जगत् के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। इसमें पृथ्वी की रचना हुई। तब ब्रह्मा स्वयम्भू देवताओं सहित उत्पन्न हुए। इसके उपरान्त, वराह बन कर उन्होंने पृथ्वी को ऊपर निकाला और अपने पुत्रों, महर्षियों के साथ, सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि की। ५, नित्य, विकारहीन, और अव्यय की उत्पत्ति आकाश से हुई। उनसे मरिचि उत्पन्न हुए जिनके पुत्र कश्यप थे। कश्यप से विवस्वत उत्पन्न हुए, और उनसे मनु हुए जो पूर्वकाल में प्रजापति थे। इक्ष्वाकु[२१२] मनु के पुत्र थे ७. और उन्हें ही उनके पिता ने पूर्वकाल में इस समृद्धिशाली पृथ्वी को प्रदान किया। आप यह जाने कि ये इक्ष्वाकु ही पूर्व काल में अयोध्या के राजा थे।"

जिस वर्णन का मैं आगे उद्धरण दूँगा वह सूक्ष्म विस्तारों में इस अन्तिम विवरण के साथ साम्य नहीं रखता क्योंकि प्रजापतियों या ब्रह्मा के पुत्रों की संख्या सत्रह बताने के अतिरिक्त यह मरीचि, कश्यप और विवस्वत् को सम-कालीन व्यक्तियों के रूप में एक ही कोटि में रखता है, जब कि पहले आई हुई कथा उन्हें पिता, पुत्र, और पौत्र के रूप में वर्णित करती है।

रामायण ३. १४, ३ रामस्य वचनं श्रुत्वा कुलम् आत्मानम् एव च। आचचक्षे द्विजस् तस्मै सर्व-भूत-समुद्भवम्। ६. पूर्वकाले महाबाहो ये प्रजापतयोऽभवन्। तान् मे निगदतः सर्वान् आदितः शृणु राघव। ७. कर्दमः प्रथमस् तेषां विकृतस् तद्-अनन्तरम्। शेषश् च संश्रयश् चैव बहुपुत्रश् च वीर्यवान् ८ स्थाणुर् मरीचिर् अत्रिश् च क्रतुश् चैव महाबलः। पुलस्त्यश चाङ्गिराश् चैव प्रचेताः पुलहस् तथा। ९. दक्षो विवस्वान् अपरोऽरिष्टनेमिश् च राघव। कश्यपश् च महातेजास् तेषाम् आसीच् च पश्चिमः। १०. प्रजापतेस् तु दक्षस्य बभूवुर् इति विश्रुताः। षष्टिर् दुहित्रो राम यशस्विन्यो महायशः। ११. कश्यपः प्रतिजग्राह तासाम् अष्टौ सुमध्यमाः। अदितिं च दितिं चैव दनूम् अपि च कालकाम्। १२. ताम्रां क्रोधवशां चैव मनुम्[२१३] चाप्य् अनलाम् अपि। तास् तु कन्यास् ततः प्रीतः कश्यपः पुनर् अब्रवीत्। १३. पुत्रांस् त्रैलोक्य-भातॄन् वै जनयिष्यथ मत्-समान। अदितिस् तन्-मानाः राम दितिश्च दनुर् एव च। १४. कालिका च महाबाहो शेषास् त्व् अमनसोऽभवन्[२१४]।

---

[२१२] इक्ष्वाकु नाम ऋग्वेद १०. ६०, ४, मे आता है। देखिए प्रोफेसर मैक्समूलर का लेख, ज० ए० सो० १८६६, पृ० ४५१ तथा ४६२।

[२१३] 'बलाम् अतिबलाम् अपि'—गोर०।

[२१४] मनोरथ-हीनाः—भाष्य०।

अदित्यां-जज्ञिरे देवास् त्रयस्त्रिंशद् अरिन्दम। १५. आदित्या वसवो रुद्रा अश्विनौ च परन्तप।''' २९. मनुर् मनुष्यान् जनयत् काश्यपस्य महात्मनः। ब्राह्मणान् क्षत्रियान् शूद्रांश्च मनुजर्षभ। ३० मुखतो ब्राह्मणा जाताः उरस् क्षत्रियास् तथा। ऊरुभ्यां जज्ञिरे वैश्याः पद्भ्यां शूद्रा इति श्रुतिः। ३१. सर्वान् पुण्य-फलान् वृक्षान् अनलाऽपि व्यजायत।

"५. राम के शब्दों को सुनकर उस पक्षी (जटायु) ने उन्हें अपने वंश का और अपना परिचय दिया तथा सभी प्राणियों की उत्पत्ति बताई। ६. मैं प्रारम्भ से सभी प्रजापतियों का वर्णन करता हूँ जो पुरातन काल में उत्पन्न हुए थे, जिसे आप सुनें। ७. सबसे पहले कर्दम हुये, तब विकृत, शेष, संश्रय, बलशाली बहुपुत्र (८) स्थाणु, मरीचि, अत्रि, वीरक्रतु, पुलस्त्य, अङ्गिरस्, प्रचेतस् पुलह (९) दक्ष हुए, तब विवस्वत्, अरिष्टनेमि, तथा श्रेष्ठ कश्यप हुए जो अन्तिम थे। १०. प्रजापति दक्ष की साठ पुत्रियाँ कही जाती हैं। ११. इनमें कश्यप ने आठ उत्तम युवतियों को अपनी पत्नियाँ बनाया : ये थी अदिति, दिति, दनू, कालका (१२) ताम्रा, क्रोधवशा, मनु[२१५] तथा अनला। प्रसन्न होकर कश्यप ने इन युवतियों से कहा (१३) 'तुम लोग मेरे समान पुत्रों को जन्म दोगी जो तीनों लोकों के स्वामी होंगे'। अदिति, दिति, दनू (१४) तथा कालका सहमत हुई किन्तु अन्य स्त्रियाँ सहमत नहीं हुईं। अदिति से आदित्य, वसु, रुद्र तथा अश्विनद्वय आदि तैंतीस देवता उत्पन्न हुए।" [इसके आगे आने वाले श्लोक दिति, दनू, कालका, ताम्रा, क्रोधवशा के साथ-साथ क्रौञ्ची, भासी,

---

[२१५] मुझे यह सन्देह हो सकता था कि 'मनु' यहाँ सही पाठ है, किन्तु यह पुन श्लोक २९ मे भी आया है, जहाँ यह उसी प्रकार श्लोक ३१ मे 'अनला' के बाद आता है, 'अतएव निश्चय ही ऐसा प्रतीत होता है कि 'मनु' नाम एक स्त्री के लिये अभिप्रेत है जो दक्ष की पुत्री थी। गौड़ पाठ मे, जिसका अनुसरण सिग्नार गोरेसिओ (३, २०, १०) ने किया है, इस पंक्ति के अन्त में नितान्त भिन्न पाठ दिया गया है - "बलाम् अतिबलाम् अपि" "मनु और अनला के स्थान पर बला और अतिबला"। मैंने यह देखा है कि प्रोफेसर रॉथ ने इस शब्द की व्याख्या मे अमरकोश तथा पाणिनि के भाष्य का उद्धरण दिया और यह प्रदर्शित किया है कि इस शब्द का अर्थ कभी-कभी "मनु की पत्नी" होता है। महाभारत १ ६५, ४५ के इस पाठ मे भी मनु एक स्त्री का नाम प्रतीत होता है : 'अनवद्याम् मनुं वशाम् असुराम् मार्गणप्रियाम्। अनूपाम् सुभगाम् भासीम् इति प्रावा व्यजायत'। "प्रावा (दक्ष की पुत्री) ने अनवद्या, मनु, वंशा, असुरा, मार्गणप्रिया, अनूपा, सुभगा तथा भासी को उत्पन्न किया।"

श्येनी, धृतराष्ट्री तथा शुकी इन कालका की पुत्रियों, तथा क्रोधवशा की पुत्रियों के पुत्रों का विस्तृत वर्णन करते हैं (तु० की० महाभारत १. ६६, ५६—६०; तथा विलसन का विष्णु पुराण, भाग २, पृ० ७२ आदि)। इसके उपरान्त हम मनु और मनुष्य जाति की सृष्टि पर आते हैं]: "२९. कश्यप की (पत्नी) मनु[२१६] ने मनुष्यों, ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों को जन्म दिया। ३०. 'ब्राह्मण मुख से उत्पन्न हुए, क्षत्रिय वक्ष से, वैश्य जंघों से तथा शूद्र पैरों से उत्पन्न हुए' ऐसी वेद की उक्ति है। ३१. अनला ने पुण्य-फल वाले सभी वृक्षों को जन्म दिया।"

यह बात यहाँ विलक्षण है कि इस अनुच्छेद में सभी वर्णों के मनुष्यों के मनु से उत्पन्न होने का वर्णन करके लेखक आगे एक श्लोक जोड़कर वेद के प्रामाण्य द्वारा यह वक्तव्य देता है कि विभिन्न वर्ण शरीर के विभिन्न अङ्गों से उत्पन्न हुए थे, जिनसे वे निकल पड़े थे। यदि यहाँ मनु के शरीर से तात्पर्य है तो उक्ति सामान्य विवरण के विरोध में जा पड़ती है। और यदि यहाँ उल्लिखित मनु एक स्त्री है, जैसा कि प्रसंग से प्रतीत होता है, तो हम स्वभावतः यह निष्कर्ष निकालेंगे कि उसकी सन्तानें साधारण ढंग से उत्पन्न हुई थीं, विशेषतः इस कारण कि उसे मनु की पत्नियों में गिनाया गया है।

रामायण के उत्तरकाण्ड ७४, ८ आदि से उद्धृत दूसरा अंश कृतयुग में मनुष्यों की दशा तथा उसके उपरान्त त्रेता में वर्णव्यवस्था के श्रीगणेश का वर्णन करता है। इस वर्णन का उपक्रम एक घटना से होता है, जो ठीक पूर्व घटित हुई थी। अयोध्या में राम के प्रसाद के द्वार पर एक ब्राह्मण अपने मृत पुत्र के शव को लेकर पहुँचा[२१७] और अपनी विपत्ति पर विलाप करने

---

[२१६] इसमे काश्यप पाठ है अर्थात् 'कश्यप का वशज' जो राम० २. ११०, ६ के अनुसार विवस्वत् होना चाहिए। किन्तु जैसा इस अनुच्छेद ३. १४, ११ के पहले आये हुए अश मे कहा गया है कि मनु कश्यप की आठ पत्नियो मे एक थी, अतः हमे यहाँ 'कश्यप' ही पढना चाहिए। गौड सस्करण (३ २०, ३०) मे बम्बई संस्करण के समान पक्ति के स्थान पर 'मनुर् मनुष्याश् च तथा जनयामास राघव' पाठ है।

[२१७] ७३, ५ मे उस बालक को "अप्राप्त-यौवनम् बालम् पञ्च-वर्ष-सहस्रकम्। "पाँच सहस्र वर्ष का बालक जिसने अभी यौवन नही प्राप्त किया था।" भाष्यकार का कथन है कि यहाँ वर्ष का अर्थ एक वर्ष नही अपितु एक दिन है (वर्षशब्दोऽत्र दिनपर.)—जिस प्रकार इस याज्ञिक विधान मे कि मनुष्य को एक सहस्र वर्षो का यज्ञ करना चाहिए, वर्ष शब्द दिन का द्योतक है (सहस्र-सवत्सरं

लगा, जिसके लिये स्वयं (अपने किसी पाठक्रम से अनभिज्ञ होने के कारण) उसने राजा के किसी दुष्कर्म को दोषी ठहराया। इसके परिणामस्वरूप राम ने अपने मन्त्रियों को बुलाया और महर्षि नारद ने इस प्रकार कहा:—

८. शृणु राजन् यथाऽकाले प्राप्तो बालस्य संक्षयः। श्रुत्वा कर्त्तव्यता राजन् कुरुष्व रघुनन्दन। ९. पुरा कृत-युगे राजन् ब्राह्मणा वै तपस्विनः। १०. अब्राह्मणस् तदा राजन् न तपस्वी कथञ्चन। तस्मिन् युगे प्रज्ज्वलिते ब्रह्मभूते त्व् अनावृते। ११. अमृत्यवस् तदा सर्वे जज्ञिरे दीर्घ-दर्शिनः। ततस् त्रेता-युगं नाम मानवानां वपुष्मताम्। १२. क्षत्रिया यत्र जायन्ते पूर्वेण तपसान्विताः। वीर्य्येण तपसा चैव तेऽधिकाः पूर्व-जन्मनि। मानवा ये महात्मानस् तत्र त्रेता-युगे युगे। १३. ब्रह्म क्षत्रं च तत् सर्वं यत् पूर्वम् अवरं च यत्। युगयोर् उभयोर् आसीत् सम-वीर्य-समन्वितम्। १४. अपश्यन्तस् तु ते सर्वे विशेषम् अधिकं ततः। स्थापनं चक्रिरे तत्र चातुर्वर्ण्यस्य सम्मतम्। १५. तस्मिन् युगे प्रज्वलिते धर्मभूते ह्य् अनावृते। अधर्मः पादम् एकं तु पातयत् पृथिवीतले।''' १९. पातिते त्व् अनृते तस्मिन्न् अधर्मेण महीतले। शुभान्य् एवाचरल् लोकः सत्य-धर्म-परायणः। २०. त्रेता-युगे च वर्त्तन्ते ब्राह्मणाः क्षत्रियाश् च ये। तपोऽतप्यन्त ते सर्वे शुश्रूषाम् अपरे जनाः। २१. स्व-धर्मः परमस् तेषां वैश्य-शूद्रं तदाऽऽगमत्। पूजां च सर्व-वर्णानां शूद्राश् चक्रुर् विशेषतः। ''''''२३. ततः पादम् अधर्मस्य द्वितीयम् अवतारयत्। ततो द्वापर-संख्या सा युगस्य समजायत। २४. तस्मिन् द्वापर-सङ्ख्ये तु वर्त्तमाने युग-क्षये। अधर्मश् चानृतं चैव ववृधे पुरुषर्षभ। २५. अस्मिन् द्वापर-संख्याते तपो वैश्यान् समाविशत्। त्रिभ्यो युगेभ्यस् त्रीन् वर्णान् क्रमाद् वै तप आविशत्। २६. त्रिभ्यो युगेभ्यस् त्रीन् वर्णान् धर्मश्च परिनिष्ठितः। न शूद्रो लभते धर्मं युगतस् तु नरर्षभ। २७. हीन-वर्णो नृप-श्रेष्ठ तप्यते सुमहत् तपः। भविष्यच्छूद्रयोन्या हि तपश्-चर्या कलौयुगे। २८. अधर्मः परमो राजन् द्वापरे शूद्र-जन्मनः। स वै विषय-पर्यन्ते तव राजन् महा-तपाः। २९. अद्य तप्यति दुर्बुद्धिस् तेन बाल-वधो ह्य् अयम्।

नारद कहते हैं ८. हे राजन् आप सुनें कि इस बालक की अकाल मृत्यु कैसे हुई है; कर्त्तव्य के विषय में तथ्य को सुनकर आप तदनुकूल कर्म करें।

सत्रम् उपासीत" इति वत्)—और इस प्रकार कुछ व्याख्याकार उस बालक की आयु सोलह वर्ष और दूसरे चौदह वर्ष के नीचे बताते हैं। किन्तु आयु की गणना करने की यह विधि नितान्त स्वाभाविक है।

९. पूर्वकाल में कृतयुग में केवल ब्राह्मण ही तपस्या करते थे। कोई भी व्यक्ति जो ब्राह्मण नहीं होता था, उस युग में जो परमार्थ ज्ञान (या ब्रह्म) से युक्त और अज्ञानसे अनावृत्त था, ऐसा नहीं करता था। ११. उस समय सभी व्यक्ति अमर्त्य एवं दिव्य दृष्टि से युक्त उत्पन्न होते थे। तब शरीरधारी मनुष्यों का त्रेता-युग आया, (१२) जिसमें क्षत्रिय उत्पन्न हुए, जो पूर्व तपकर्मों से युक्त थे, यद्यपि जो मनुष्य त्रेता में महान् थे वे पूर्वजन्म में शक्ति एवं तपस्या दोनों में ही और भी महत्तर थे। १३. पूर्वकाल के तथा परवर्ती दोनों ही प्रकार के ब्राह्मण और क्षत्रिय, इन दोनों युगों में समान शक्तिशाली थे।[२१८] १४. किन्तु (उस समय विद्यमान मनुष्यों में) किसी प्रकार का और भेद न देखकर उन सभी ने[२१९] इसके उपरान्त चार वर्णों की मान्य व्यवस्था स्थापित की। १५. तथापि उस प्रकाशपूर्ण युग में, जो धर्मपूर्ण तथा (अन्धकार से) अनावृत था—अधर्म ने अपना एक चरण पृथ्वी पर आरोपित किया।" [कुछ अन्य उक्तियों के उपरान्त (श्लोक १६–१८ जो अंशतः अस्पष्ट हैं), लेखक आगे कहता है]: १९. "किन्तु यद्यपि अधर्म ने पृथ्वी पर इस असत्य की स्थापना कर ली, तथापि लोग सत्य धर्म मे अनुरक्त होकर तपस्या करते रहे। २. जो ब्राह्मण और क्षत्रिय त्रेतायुग में थे उन्होंने तपस्यायें कीं और शेष मनुष्यों ने सेवाकार्य किया। २१. (यह सिद्धान्त कि) स्वधर्म ही परम

---

[२१८] भाष्यकार के अनुसार इसका अर्थ यह है कि कृतयुग मे ब्राह्मण श्रेष्ठ थे और क्षत्रिय उनसे हीन थे (क्योकि क्षत्रियो को उस समय तपश्चर्या का अधिकार नही प्राप्त था), किन्तु त्रेता मे दोनो वर्ण समान थे (उभयोर् युगयोर् मध्ये कृत-युगे ब्रह्म पूर्वम् तपो-वीर्याभ्याम् उत्कृष्टम् क्षत्र चावर च ताभ्या तपो-वीर्याभ्या न्यूनम् आसीत्। तत् सर्वम् ब्रह्म-क्षत्र-रूपम्-उभयम् त्रेतायाम् सम-वीर्य समन्वितम् आसीत्। कृते क्षत्रियाणाम् तपस्य् अनधिकारात् तद्युगीयेभ्यो ब्राह्मणे-भ्यस् तेषाम् न्यूनता। त्रेतायाम् तु उभयोरपि तपोऽधिकाराद् उभाव् अति तपो-वीर्याभ्याम् समौ)। किन्तु इसके पूर्व आने वाले श्लोक मे यह कहा गया है कि क्षत्रिय त्रेतायुग मे अपने पूर्व तपस् के साथ युक्त होकर उत्पन्न हुए। किन्तु श्लोक ९, १० तथा १२ के अनुसार कदाचित् वे पहले ब्राह्मण थे।

[२१९] टीकाकार के अनुसार मनु तथा उस युग के अन्य धर्म प्रवर्त्तक (मन्व् आदय. सर्वे तात्कालिकाः धर्मप्रवर्त्तनाधिकृता)। वह आगे कहता है कि कृतयुग मे सभी प्राणी स्वभावत: अपने धर्मों मे लगे रहते थे, यद्यपि कोई विधि व्यवस्था निर्धारित नही की गयी थी (कृते तु विनैव स्थापनम् स्वयम् एव सर्वे वर्णाः स्व-स्व-धर्म-रताः)।

कर्त्तव्य है जो वैश्यों एवं शूद्रों में प्रचलित हुआ; और विशेषतः शूद्रों ने (अन्य) वर्णों की सेवा की''' २३. इसके उपरान्त अधर्म का दूसरा चरण पृथ्वी पर आरोपित हुआ तब द्वापर (तीसरे युग) की संख्या उत्पन्न हुई। २२. जब द्वापर नाम से ख्यात युग का क्षय उपस्थित हुआ तो अधर्म और असत्य की वृद्धि हुई। २५. द्वापर नाम से ख्यात इस युग में वैश्यों में तपस्या ने स्थान प्राप्त कर लिया। इस प्रकार तीन युगों की अवधि में इसने तीन वर्णों में स्थान प्राप्त कर लिया (२६) और तीन युगों में धर्म तीन वर्णों में स्थापित हो गया। किन्तु इन तीन (युगों के अनन्तर) में शूद्र को धर्म का स्थान नहीं प्राप्त होता। २७. एक अधमवर्ण का पुरुष उग्र तप का महान् कार्य कर रहा है। इस प्रकार के कर्म भावी कलियुग में ही शूद्रों द्वारा किए जायेंगे; (२८) किन्तु यदि उस वर्ण का कोई व्यक्ति द्वापर में तप करता है तो वह घोर अधर्म होता है। इस राज्य की सीमा पर इस प्रकार का एक व्यक्ति तपस्या कर रहा है, जिसके कारण इस बालक की मृत्यु हुई है।"

यहाँ ब्राह्मण बालक की मृत्यु के रहस्य का उद्घाटन किया गया है। एक उद्धत शूद्र यह विचार न करके कि उसके युग[२२०] में आत्मनिग्रह के आचरण का अधिकार उसके अधम वर्ण को प्राप्त नहीं हुआ था, इसके आचरण द्वारा पुण्यसञ्चय करने के प्रयत्न के लिए अपराधी था। राम अपने पुष्पक विमान पर चलते है, विभिन्न भूभागों में अन्वेषण करते है, और अन्त में एक ऐसे पुरुष के निकट पहुँचते है जो उपर्युक्त विधि से तपस्या में लीन था। प्रश्न करने पर वह शूद्र अपना वर्ण बता देता है, तथा आत्मनिग्रह के द्वारा देव पद प्राप्ति की अपनी इच्छा को भी व्यक्त कर देता है। तत्काल ही राम उस पापी का सिर काट देते हैं। देवता इस कर्म की प्रशंसा करते है और आकाश से पुष्पों की वृष्टि उस धर्मरक्षक के ऊपर पड़ने लगती है। देवताओं से एक वर माँग लेने का आमन्त्रण पाकर वे यह वर माँगते है कि ब्राह्मण का पुत्र पुनः जीवित हो जाय। तब उन्हें यह बताया जाता है कि वह बालक तो उसी क्षण जीवित हो गया था जिस क्षण शूद्र का वध हुआ (खण्ड ७५ तथा ७६)।[२२१]

मनुष्य जाति की सृष्टि का यह विलक्षण वर्णन, जिनमें इस वर्णन के अनुसार मूलतः कोई वर्णभेद नहीं था, उत्तरकाण्ड ३०, १९ आदि में दिया गया है, जहाँ ब्रह्मा इन्द्र से कहते हैं:—

---

[२२०] भाष्यकार के अनुसार, त्रेता।

[२२१] देखिए हिन्दू दर्शन पर खि० प्रोफेसरबनर्जी को संवाद (डायलग), जिसमें इस कथा की ओर पहले ही ध्यान आकृष्ट किया गया है।

अमरेन्द्र मया बुद्ध्या प्रजाः सृष्टास् तथा प्रभो। एक-वर्णाः सम-भाषा एक-रूपाश् च सर्वश.। २०. तासां नास्ति विशेषो हि दर्शने लक्षणेऽपि वा। ततोऽहम् एकाग्रमनास् ताः प्रजाः समचिन्तयम्। २१. सोऽहम् तासां विशेषार्थम् स्त्रियम् एकाम् विनिर्ममे। यद् यत् प्रजानाम् प्रत्यङ्गम् विशिष्टं तत् तद् उद्धृतम्। २२. ततो मया रूप-गुणैर् अहल्या स्त्री विनिर्मिता। हलम् नामेह वैरूप्यं हल्यं तत्-प्रभवम् भवेत्। २३. यस्या न विद्यते हल्यम् तेनाहल्येनि विश्रुता। अहल्येत्य् एव च मया तस्या नाम प्रकीर्त्तितम्। २४. निर्मितायां च देवेन्द्र तस्याम् नार्यां सुरर्षभ। भविष्यतीति कस्यैपा मम चिन्ता ततोऽभवत्। २५. त्वं तु शक्र तदा नारीं जानीषे मनसा प्रभो। स्थानाधिकतया पत्नी ममैषेति पुरन्दर। २६. स मया न्यास-भूता तु गौतमस्य महात्मनः। न्यस्ता बहूनि वर्षाणि तेन निर्यातिता च ह। २७. ततस् तस्य परिज्ञाय महास्थैर्यम् महामुनेः। ज्ञात्वा तपसि सिद्धिं च पत्न्य्-अर्थं स्पर्शिता तदा। २८. स तया सह धर्मात्मा रमते स्म महामुनिः। आसन् निराशा देवास् तु गौतमे दत्तया तया। २९. त्वं क्रुद्धस् त्व् इह कामात्मा गत्वा तस्याश्रमम् मुनेः। दृष्टवांश् च तदा ताम् स्त्री दीप्ताम् अग्निशिखाम् इव। ३०. सा त्वया धर्षिता शक्र कामार्त्तेन समन्युना। दृष्टस् त्वं च च तदा तेन आश्रमे परमर्षिणा। ३१. ततः क्रुद्धेन तेनासि शप्तः परमतेजसा। गतोऽसि येन देवेन्द्र दशा-भाग- विपर्ययम्।

"१९. हे देवताओं के स्वामी (इन्द्र) सभी मनुष्य मेरी इच्छा से एक वर्ण, एक भाषा वाले तथा प्रत्येक दृष्टि से समान उत्पन्न हुए। २०. उनके रूप में या गुण में कोई विशेषता नहीं थी। मैंने तब एकाग्रचित्त होकर इन प्रजाओं पर विचार किया। २१. उनमें भेद लाने के लिए मैंने एक स्त्री की रचना की। विभिन्न प्राणियों के विविध अङ्गों में जो भी वैशिष्टय था उसे उनसे लेकर (२२) और इस (संघात) से मैंने एक स्त्री की रचना की जो सौन्दर्य तथा सभी गुणों में दोषरहित थी। 'हल' का अर्थ होता है कुरूपता और कुरूपता से उत्पन्न हुए को 'हल्य' कहते हैं। २३. जिस स्त्री में हल्य का नितान्त अभाव होता है उसे अहल्या कहते हैं। और मैंने उस स्त्री को यही नाम दिया। २४. उस स्त्री की रचना करने के उपरान्त मुझे यह चिन्ता हुई कि वह किसकी पत्नी हो। हे इन्द्र, तुम अपनी श्रेष्ठ पद की श्रेष्ठता के कारण सोचोगे कि 'वह मेरी पत्नी हो'। २६. किन्तु मैंने उसे महर्षि गौतम को न्यास रूप मे दिया और उसे अनेक वर्षों तक रखकर उन्होंने उसे प्राप्त कर

लिया। २६. तब उस श्रेष्ठ मुनि की दृढ़ता तथा उनकी तपस्या की पूर्णता को जानकर मैंने उसे पत्नी-रूप में उन्हें ही दे दिया। २८. ये धर्मात्मा ऋषि उसके साथ वैवाहिक आनन्द के साथ निवास करने लगे। किन्तु वह गौतम को प्रदान कर दी गयी तो देवता बड़े निराश हुए। २९. और हे इन्द्र तुम क्रुद्ध होकर तथा काम के वशीभूत होकर मुनि के आश्रम में पहुँचे और तुमने उस स्त्री को अग्निशिखा के समान दीप्त देखा। ३०. तब क्रोध तथा काम से व्याकुल हुए तुमने उसे सतीत्वभ्रष्ट कर दिया।[२२२] किन्तु तुम्हें उस महर्षि ने अपने आश्रम में देख लिया। (३१) अत्यन्त क्रोध में आकर तुम्हें उस तेजस्वी मुनि ने शाप दिया। इसके फलस्वरूप तुम घोर विपत्ति और दुर्भाग्य के भागी बने", आदि, आदि।

खण्ड ११—इन्हीं विषयों पर महाभारत से उद्धरण

जिस प्रथम अंश का मैं यहाँ उद्धरण दूँगा वह आदि पर्व ६५, ९ से है :

वैशम्पायन उवाच। हन्त ते कथयिष्यामि नमस्कृत्य स्वयंभुवे। सुरादीनाम् अहं सम्यक् लोकानाम् प्रभवाप्ययम्। ब्रह्मणोः मानसाः पुत्राः विदिताः षण्-महर्षयः। मरीचिर् अत्र्य्-अङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः। मरीचेः कश्यपः पुत्रः कश्यपात् तु प्रजा इमाः। प्रजज्ञिरे महाभागा दक्ष-कन्यास् त्रयोदश। अदितिर् दितिर् दनुः काला दनायुः सिंहिका तथा। क्रोधा प्रधा एह विश्वा च विनता कपिला मुनिः। कद्रूश् च मनुजव्याघ्र दक्ष-कन्यैव भारत। एतासां वीर्य-सम्पन्नम् पुत्र-पौत्रम् अनन्तकम्।

"वैशम्पायन ने कहा : स्वयम्भू को नमस्कार करके मैं तुमसे देवताओं एवं अन्य प्राणियों की उत्पत्ति तथा विनाश का यथार्थतः वर्णन करूँगा। ब्रह्मा के

[२२२] इन्द्र और अहल्या की इस कथा तथा ऊपर उल्लिखित ब्रह्मा और उनकी पुत्री की कथा के सम्बन्ध में कुमारिल भट्ट की व्याख्या देखिए जिसे प्रोफेसर मैक्स मूलर ने अपनी ए० स० लि० पृ० ५२१ आदि पर उद्धृत किया है। इसमें अहिल्या के नाम का लाक्षणिक अर्थ रात्रि लिया गया है, जिसका नाम दिन में लीन हो जाने के कारण पड़ा बताया जाता है (अहनि लीयमानतया)। इन्द्र सूर्य है।

मानस पुत्र छः[२२३] महर्षि कहे जाते है जो ये है : मरीचि, अत्रि, अङ्गिरस्, पुलस्त्य, पुलह तथा क्रतु। कश्यप मरीचि के पुत्र थे, और कश्यप से प्राणी उत्पन्न हुए हैं। दक्ष के तेरह श्रेष्ठ पुत्रियाँ उत्पन्न हुईं जिनका नाम अदिति, दिति, दनु, काला, दनायु, सिंहिका, क्रोधा, प्रधा, विश्वा, विनता, कपिला तथा मुनि था।[२२४] कद्रू भी इन्हीं में थी। इन पुत्रियों के अनेक वीर पुत्र तथा पौत्र हुए।"

जैसा कि महा० १. ६६, १० से हमे ज्ञात होता है, दक्ष के अन्य पुत्रियाँ भी थीं; इस स्थल पर स्वयं दक्ष के जन्म का भी वर्णन किया गया है :

---

[२२३] दूसरा वृत्त (शान्तिपर्व २०८, ३ और बाद) वसिष्ठ को जोडकर ब्रह्मा के पुत्रोकी संख्या सात बना देता है: 'एक. स्वयम्भूर् भगवान् आद्यो ब्रह्मा सनातनः। ब्रह्मण' सप्त वै पुत्रा महात्मानः स्वयम्भुव'। मरीचिर् अत्र्य्-अङ्गिरसौ पुस्त्यः पुलह' क्रतुः वशिष्ठश्च महाभाग' सदृशो वै स्वयम्भुवा। सप्त ब्रह्माण इत्य् एते पुराणे निश्चय गताः।' एक ही आद्य और सनातन भगवान् ब्रह्मा स्वयम्भू हैं। उनके सात महात्मा पुत्र थे मरिचि, अत्रि, अङ्गिरस्, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु तथा वसिष्ठ जो स्वयम्भू के ही समान थे। ये सात ब्रह्मा हैं जिन्हे पुराणो मे निश्चित रूप से वर्णित किया गया है। उसी शान्ति पर्व के दूसरे भाग मे ३३४, ३५ और बाद मे प्रजापतियो की सख्या इक्कीस तक कर दी गई है। 'ब्रह्मा स्थाणुर् मनुर् दक्षो भृगुर् धर्मस् तथा यम.। मरचिर् अङ्गिराऽत्रिश्च पुलस्त्य. पुलहः क्रतु.। वसिष्ठः परमेष्ठी च विवस्वान् सोम एव च। कर्दमश् चापि. य. प्रोक्तः क्रोधो विक्रीत एव च। एकविंशतिर् उत्पन्नास् ते प्रजापतय स्मृता।' "इक्कीस प्रजापतियो का उत्पन्न होना कहा गया है, वे हैं, ब्रह्मा, स्थाणु, मनु, दक्ष, भृगु, धर्म यम, मरीचि, अङ्गिरस्, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वसिष्ठ, परमेष्ठिन्, विवस्वत्, सोम, नर्दम नाम के पुरुष, क्रोध तथा विक्रीत।" (किन्तु यहाँ स्वय ब्रह्मा को लेकर केवल बीस ही नाम गिनाए गये है)। इस सूची की तुलना ऊपर पृ० १३२ पर रामायण ३ १४, ७ आदि से, पृ० ४२ पर मनु से, तथा पृ० ७४ पर विष्णु पु० से उद्धृत सूचियो के साथ कीजिए।

[२२४] मनु एक नाम है, विशेषण नही, यह बात इन दो कारणो से स्पष्ट है (१) उसके अतिरिक्त केवल बारह नाम ही होते हैं तथा (२) आगे श्लोक मे देवता और गन्धर्व दोनो ही उसके वंशज बताए गये हैं (इत्य् एते देवगन्धर्वा मौनेया' परिकीर्त्तिता)। मनु की तेरह पुत्रियो मे एक अन्य पुत्री कपिला को अमृत, ब्राह्मणो, गौओ, गन्धर्वों तथा अप्सराओ की माता कहा गया है (अमृतम् ब्राह्मणा गावो गन्धर्वाप्सरसस् तथा। अपत्यम् कपिलायास् तु पुराणे परिकीर्त्तितम्)।

दक्षस् त्व् अजायताङ्गुष्ठाद् दक्षिणाद् भगवान् ऋषिः। ब्रह्मणः पृथिवीपाल शान्तात्मा सुमहातपाः। वामाद् अजायताङ्गुष्ठाद् भार्या तस्य महात्मनः। तस्याम् पञ्चाशतम् कन्याः स एवाजनयद् मुनिः। ··१३. ददौ च दश धर्माय सप्तविंशतिम् इन्दवे। दिव्येन विधिना राजन् कश्यपाय त्रयोदश। ··१७. पैतामहः मनुर् देवस् तस्य पुत्रः प्रजापतिः। तस्याष्टौ वसवः पुत्रास् तेषाम् वक्ष्यामि विस्तरम्। ३१. स्तनं तु दक्षिणम् भित्वा ब्रह्मणो नर-विग्रहः। निस्सृतो भगवान् धर्मः सर्व-लोक-सुखावहः। त्रयस् तस्य वराः पुत्राः सर्व-भूत-मनोहराः। शमः कामश् च हर्षश् च तेजसा लोक-धारिणः। ·· ४६. आरुषी तु मनोः कन्या तस्य पत्नी मनीषिणः। ५०. द्वौ पुत्रौ ब्रह्मणस् त्व् अन्यौ ययोस् तिष्ठति लक्षणम्। लोके धाता विधाता च यौ स्थितौ मनुना सह। तयोर् एव स्वसा देवी लक्ष्मी पद्मगृहा-शुभा। तस्यास् तु मनसः पुत्रास् तुरगाः व्योम-चारिणः। ·· ५३. प्रजानाम् अन्नकामानाम् अन्योन्य-परिभक्षणात्। अधर्मस् तत्र सञ्जातः सर्व-भूत-विनाशकः। तस्यापि निर्ऋतिर् भार्या नैर्ऋता येन राक्षसाः। घोरास् तस्यास् त्रयः पुत्राः पाप-कर्म-रता सदा। भयो महाभयश् चैव मृत्युर् भूतान्तकस् तथा। न तस्य भार्या पुत्रो वा कश्चिद् अस्त्य् अन्तको हि सः।

"१. शान्तात्मा, श्रेष्ठ तपस्वी, भगवान् ऋषि दक्ष ब्रह्मा के दाहिने अंगूठे से उत्पन्न हुए।[२२५] बायें अंगूठे से उस महामुनि की पत्नी उत्पन्न हुई, जिससे उन्होंने पचास पुत्रियों को जन्म दिया।[२२६] इनमें उन्होंने दस पुत्रियों को धर्म को, सत्ताइस को इन्दु (सोम) को[२२७], और दिव्य विधि के अनुसार चौदह को कश्यप को प्रदान किया।" मैं ऊपर उद्धृत श्लोकों में दिये गये कुछ अन्य विस्तारों का आगे विवेचन करता हूँ। १७. "पितामह के

[२२५] देखिए ऊपर पृ० ८३ और उसके आगे। मत्स्यपुराण में भी कहा गया है कि दक्ष ब्रह्मा के दाहिने अँगूठे से निकले, धर्म यक्ष के अग्र भाग से तथा काम हृदय से निकले, इत्यादि।

[२२६] ऊपर पृ० १३२ पर रामायण से उद्धृत अंश यह पुष्ट करता है कि उनकी सख्या सोलह थी। तु० की० विलसन का विष्णु पु० भाग १ पृ० १०९ आदि भाग २, पृ० १९ आदि।

[२२७] तैत्ति० स० २ ३, ५, १ का कथन है कि प्रजापति के तैंतीस पुत्रियाँ थी, जिन्हे उन्होने राजा सोम को प्रदान किया (प्रजापतेस् त्रयस्त्रिंशद् दुहितर आसन्। ताः सोमाय राज्ञेऽददात्)।

वंशज मनु, जो देव और प्रजापति थे, उनके पुत्र थे (यह स्पष्ट नहीं होता कि किसके पुत्र थे)। आठ वसु, जिनका मैं विस्तार से वर्णन करूँगा, उन्हीं के पुत्र थे...। ३१. ब्रह्मा के दाहिने वक्ष का भेदन कर भगवान् धर्म सभी मनुष्यों को आनन्द प्रदान करते हुए मनुष्य शरीर में प्रकट हुए। उनके तीन श्रेष्ठ पुत्र थे, शम, काम, तथा हर्ष (शान्ति, प्रेम, तथा आनन्द), जो सभी प्राणियों के सुख के साधन और लोकों को धारण करने वाले हैं ..। ४६. मनु की पुत्री आरुषी (भृगु के पुत्र च्यवन) ऋषि की पत्नी थी...। ५०. ब्रह्मा के दो और पुत्र हैं, जिनके लक्षण लोक में अवशिष्ट हैं : वे हैं धातृ[228] और विधातृ, जो मनु के साथ थे। उनकी भगिनी सुन्दर देवी लक्ष्मी[229] थीं जिनका निवासस्थान कमल में है। उनके मानस पुत्र वे अश्व है जो आकाश में विचरण करते हैं ..। ५३. जब अन्न की इच्छा से प्राणियों ने एक दूसरे का भक्षण किया तो सभी प्राणियों का नाश करने वाला अधर्म उत्पन्न हुआ। उसकी पत्नी निर्ऋति थी और इस कारण राक्षसों को नैर्ऋत या निर्ऋति के अपत्य कहते हैं। उसके तीन भयंकर पुत्र थे, जो निरन्तर दुष्कर्म में लगे रहते थे; वे थे भय, महाभय, तथा प्राणियों का नाश करने वाला मृत्यु। उसके न तो पत्नी थी और न कोई पुत्र क्योंकि वह प्राणियों का नाश करने वाला है।"[230]

इसके आगे का अनुच्छेद दक्ष की उत्पत्ति का एक भिन्न विवरण देते हुये मनु से मनुष्य जाति के उत्पन्न होने का वर्णन करता है :

आदिपर्व ७५, ३ : तेजोभिर् उदिताः सर्वे महर्षि-सम-तेजसः। दश प्रचेतसः पुत्राः सन्तः पुण्य-जनाः स्मृताः। मुखजेनाग्निना यैस् ते पूर्वं दग्धा महौजसा। तेभ्यः प्राचेतसो जज्ञे दक्षो दक्षाद् इमाः प्रजाः। सम्भूताः पुरुष व्याघ्र स हि लोक-पितामहः। वीरिण्या सह संगम्य दक्षः प्राचेतसो मुनिः। आत्म-तुल्यान् अजनयत् सहस्रं शंसित-व्रतान्। सहस्र-संख्यान् सम्भूतान् दक्ष-पुत्रांश् च नारदः। मोक्षम् अध्यापयामास साङ्ख्य-ज्ञानम् अनुत्तमम। ततः पञ्चाशतं कन्याः पुत्रिकाः अभिस-

---

[228] धातृ का उल्लेख पहले श्लोक १४वे मे अदिति के पुत्र रूप मे किया गया है। देखिए विलसन का विष्णु पु० २ १५२।

[229] देखिए, विलसन का विष्णु पु० भाग १, पृ० १०९, ११८ आदि तथा १५२।

[230] विष्णुपुराण (विलसन भाग १, पृ० ११२) का कथन है कि उनके पाँच बच्चे थे।

न्दधे। प्रजापतिः प्रजाः दक्षः सिसृक्षुर जनमेजय। ददौ च दश धर्माय कश्यपाय त्रयोदश। कालस्य नयने युक्ताः सप्तविंशतिम् इन्दवे। १०. त्रयोदशानाम् पत्नीनाम् या तु दाक्षायणी वरा। मारीचः कश्यपस् तस्याम् आदित्यान् समजीजनत्। इन्द्रादीन् वीर्य्य-सम्पन्नान् विवस्वन्तम् अथापि च। विवस्वतः सुतो जज्ञे यमोवैवस्वतः प्रभुः। मार्तण्डस्य मनुर् धीमान् अजायत सुतः प्रभुः। यमश् चापि सुतो जज्ञे ख्यातस् तस्यानुजः प्रभुः। धर्मात्मा स मनुर् धीमान् यत्र वंशः प्रतिष्ठितः। मनोर् वंशो मानवानाम् ततोऽयम् प्रथितोऽभवत्। ब्रह्मक्षत्रादयस तस्माद् मनोर् जातास् तु मानवाः। ततोऽभवद् महाराजा ब्रह्म क्षत्रेण सङ्गतम्। १५. ब्राह्मणा मानवास् तेषाम् साङ्गम् वेदम् अधारयन्। वेनम् धृष्णुं नरिष्यन्तम् नाभागेक्ष्वाकुम् एव च। कारुषम् अथ शर्यातिं तथा चैवाष्टमीम् इलाम्। पृषध्रं नवमम् प्राहुः क्षत्र-धर्म-परायणम्। नाभागारिष्ट-दशमान् मनोः पुत्रान् प्रचक्षते। पञ्चाशत् तु मनोः पुत्रास् तथैवान्येऽभवन् क्षितौ। अन्योन्यभेदात् ते सर्वे विनेशुर् इति नः श्रुतम्। पुरूरवस् ततो विद्वान् इलायां समपद्यत। सा वै तस्याभवद् माता-पिता चैवेति नः श्रुतम्।

३. महर्षियों के समान तेज से युक्त उत्पन्न हुए प्रचेतस के दस पुत्र गुणवान् और धर्मात्मा थे। और उनके मुख से निकलनेवाली अग्नि द्वारा पूर्वकाल में सभी तेजशाली प्राणी[231] भस्म हो गये। उनसे दक्ष प्राचेतस्[232] उत्पन्न हुये, और दक्ष से, जो इस लोक के पितामह थे, ये प्राणी उत्पन्न हुए। वीरिणी के साथ सहवास करके मुनि दक्ष ने अपने ही समान एक सहस्र पुत्रों को उत्पन्न किया, जो अपनी तपस्याओं के लिए प्रसिद्ध थे। उन्हें नारद ने सांख्य के अद्वितीय ज्ञान, मोक्ष के सिद्धान्त की, शिक्षा दी। प्रजाओं की सृष्टि करने की इच्छा से प्रजापति दक्ष ने पचास पुत्रियों की

---

[231] भाष्यकार के अनुसार 'वृक्ष एव ओषधियाँ" (महाप्रभावा वृक्षौषधयाः) तुलना विलसन का विष्णु पु० २, पृ० १।

[232] दक्ष के जन्म की यही कथा शान्तिपर्व २०८, ७ मे दी गयी है। 'दशाना तनयस् त्व् एको दक्षो नाम प्रजापति तस्य है नामनी लोके दक्ष. क इति चोच्यते। दस प्रचेतसों का पुत्र दक्ष प्रजापति था। उनके सामान्यत दो नाम प्रसिद्ध हैं, दक्ष और क।" तु० की० इस कृति का भाग ४, शतपथ ब्राह्मण, ७ ४, १, १९ तथा २ ४, ४, १, जो वहीं उद्धृत है)। इसके बाद के श्लोक ८वें यह बताता है कश्यप के भी दो नाम थे, दूसरा नाम अरिष्टनेमि था। दे० राम० ३ १४, ९ जो ऊपर उद्धृत है।

रचना की, जिनमें उन्होंने दस धर्म को, तेरह कश्यप को और काल के नियमन में युक्त सत्ताइस पुत्रियों को[233] इन्दु (सोम) को प्रदान किया'''। १०. अपनी तेरह पत्नियों में सर्वाधिक सुन्दर दाक्षायणी[234] से मरीचि के पुत्र कश्यप ने इन्द्र प्रमुख आदित्यों को उत्पन्न किया जो शक्ति से युक्त थे, तथा विवस्वत्[235] को भी उत्पन्न किया। विवस्वत् का महाशक्तिशाली यम वैवस्वत् पुत्र हुआ। मार्तण्ड (अर्थात् विवस्वत या सूर्य) के बुद्धिमान् एवं वीर्यवान् मनु तथा उसके (मनु) के अनुज यम नामक पुत्र हुए। यह बुद्धिमान् मनु धर्मात्मा थे, जिन पर एक वंश की स्थापना हुई। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा अन्य मनुष्य इसी मनु से उद्भूत हुए। उनसे क्षत्रिय के साथ युक्त ब्राह्मण उत्पन्न हुआ। १५. उनमें मनु के पुत्र ब्राह्मण वेदांगों सहित वेद के अधिकारी थे। मनु के पुत्र थे वेन, धृष्णु, नरिष्यन्त, नाभाग, इक्ष्वाकु, कारुष, शर्याति, आठवें इला, नवें पृष्ठ, जो क्षत्रिय के कर्मों में रत थे, तथा दसवें नाभागारिष्ट। मनु के दूसरे पचास पुत्र भी थे, किन्तु वे सभी, जैसा कि हमने सुना है, पारस्परिक संघर्ष के फलस्वरूप नष्ट हो गये। इसके उपरान्त बुद्धिमान् पुरूरवस् इला से उत्पन्न हुआ जो उसकी माता तथा पिता दोनों थी, ऐसा हमने सुना है।"

यह वृत्तान्त, जो स्रष्टा से अनेक अवस्थाओं के अन्तर पर स्थित व्यक्ति को, सभी वर्णों का एक सामान्य आदि पुरुष बताता है, निश्चय ही उस वर्णन का विरोधी है जो स्वयं ब्रह्मा के शरीर से वर्णों की चार प्रकार की उत्पत्ति का वर्णन करता है।

शान्तिपर्व ७२, १ और बाद में वर्णों की उत्पत्ति की एक कथा है, जो स्पष्टतः ब्राह्मणीय व्यवस्था के उद्धत प्रतिपादक द्वारा ही रची गयी है। पुरोहित वर्ग के विशेषाधिकारों का वर्णन स्पष्ट शैली में किया गया है, और उसी विषय

---

[233] 'कालस्य नयने युक्ताः' वाक्यांश पहले महा० १ ६६, १६ मे आ चुका है, जहाँ इसके उपरान्त 'सर्वा नक्षत्र-योगिन्यो लोक-यात्रा-विधानत' शब्द आए हैं : "जिनका अर्थ है सभी नक्षत्रो से अभिन्न हैं तथा मनुष्यो के जीवन का नियमन करने के लिए रचे गये है ?" देखिये विष्णु पु० १ १५, ५६ तथा प्रोफेसर विलसन का अनुवाद भाग २ पृ०, टि० १, तथा पृ० २८, टि० १।

[234] अर्थात् अदिति। देखिए, इसी खण्ड का श्लोक ६५, १२ १४ तथा ६६, ३६।

[235] रामायण २, ११०, ५ आदि का वर्णन कश्यप को मरीचि का पुत्र तथा विवस्वत् का पिता बताने के कारण इस अंश से मिलता है।

पर मनु (१. ९९ आदि) की उक्तियों का अंशतः उन्हीं शब्दों में वर्णन किया गया है। तथापि दूसरे स्थानों पर महाभारत में इसका रचना के काल में प्रचलित सामाजिक तथा व्यावसायिक भेदों की उत्पत्ति की नितान्त भिन्न प्रकार की व्याख्याएँ दी गई हैं। इन विभिन्न वृत्तों की तुलना पृ० ८[२३८] पर प्रदर्शित इस तथ्य पर प्रकाश डालेगी कि यह विशालकाय काव्य के परस्पर विरोधी तत्त्वों से निर्मित है जो विभिन्न कालों की रचना हैं तथा नितान्त भिन्न स्वमताभिमानी प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं, इसके परवर्ती अंश इस रचना के वाद के संपादकों ने अपने विशिष्ट विचारों को प्रतिपादन करने के लिये जोड़ दिये हैं और पूर्ववर्ती विषयों के साथ उनकी असंगति का कोई ध्यान नहीं रक्खा है। वस्तुतः इतनी वृहत् रचना, जिसके अकेले संकलन करने में डियुमस चाल्केण्टरस की सम्पूर्ण शक्ति खप जाती, क्रमिक परिवृंहण के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार से कदापि गढ़ी नहीं जा सकती थी। और ऐसी मान्यता निःसन्देह उस प्रकार की असंगतियों की व्याख्या करने के लिए आवश्यक होगी जो आगे उद्धृत किये गये वृत्तों के बीच उपलब्ध होंगी, इन वृत्तों में प्रथम तीन अपने ब्राह्मणीय वर्ग तथा समाज के अन्य वर्णों के बीच एक स्वाभाविक भेद की स्थिति पर (वास्तविक या छद्मपूर्ण) विश्वास रखनेवालों की रचनाएँ हैं, जब कि इन तीन के उपरान्त आनेवाले दो अन्य वृत्तान्त उन निष्पक्ष एवं सन्तुलित विचारवाले लेखकों की देन है जो मनुष्य जाति की अनिवार्य एकता तथा नैतिक एवं धार्मिक चरित्र के सामाजिक कहे जानेवाले किसी भी मिथ्याभेद से श्रेष्ठ विचार रखते थे।

प्रथम अंश में पाण्डवों के प्रसिद्ध पितामह भीष्म, युधिष्ठिर को राजधर्म का उपदेश देते समय ऐसी प्राचीन कथाओं में से एक कथा का दृष्टान्त देते हैं, जो महाभारत में प्रायः उद्धृत की गई है। इस काव्य का सूक्ष्म अध्ययन किये विना यह कहना कठिन होगा कि ये प्राचीन परम्पराओं पर आधृत हैं अथवा इनके कहनेवाले लेखकों के विचार प्रतिपादन के साधन मात्र के अतिरिक्त और भी कुछ हैं। भीष्म कहते हैं : शान्तिपर्व ७२, १ और वाद।

य एव तु सतो रक्षेद् असतश् च निवर्त्तयेत्। स एव राज्ञा कर्त्तव्यो राजन् राज-पुरोहितः। २. अत्राप्य् उदाहरन्तीमम् इतिहासम् पुरातनम्। पुरूरवस ऐलस्य संवादम् मातरिश्वन। पुरूरवा उवाच। कुतः स्विद् ब्राह्मणो जात वर्णाश् चापि कुतस् त्रयः। कस्माच्च भवति श्रेष्ठस् तन् मे व्याख्यातुम् अर्हसि। मातरिश्वोवाच। ब्रह्मणो

[२३८] इस कृति का चतुर्थ भाग आदि भी देखिए।

मुखतः सृष्टो ब्राह्मणो राज-सत्तम। वाहुभ्यां क्षत्रियः सृष्ट ऊरुभ्यां वैश्य एव च। वर्णानाम् परिचार्य्यार्थम् त्रयाणाम् भरतर्षभ। वर्णश् चतुर्थः सम्भूतः पद्भ्यां शूद्रो विनिर्मितः। ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्याम् अनुजायते।[२३७] ईश्वरः सर्व-भूतानां धर्म-कोषस्य गुप्तये। ७. अतः पृथिव्या यन्तारम् क्षत्रियं दण्ड-धारणे। द्वितीयम् दण्डम् अकरोत् प्रजानाम् अनुतृप्तये। वैश्यस् तु धन-धान्येन त्रीन् वर्णान् बिभृयाद् इमान् शूद्रो ह्य् एतान् परिचरेद् इति ब्रह्मानुशासनम्। ऐल उवाच। द्विजस्य क्षत्रबन्धोर् वा कस्येयम् पृथिवी भवेत्। धर्मतः सहवित्तेन सम्यग् वायो प्रचक्ष्व मे। वायुर् उवाच। विप्रस्य सर्वम् एवैतद् यत् किञ्चिज् जगतीगतम्। ज्येष्ठेनाभिजनेनेह तद् धर्म-कुशला विदुः। स्वम् एव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वम् वस्ते स्वं ददाति च गुरुर् हि सर्व-वर्णानां ज्येष्ठाः श्रेष्ठाश् च वै द्विजः। १२. पत्य्-अभावे यथैव स्त्री देवरम् कुरुते पतिम्। एष ते प्रथमः कल्पः आपद्य् अन्यो भवेद् अतः।

"१. राजा को अपना राजपुरोहित[२३८] ऐसे व्यक्ति को नियुक्त करना चाहिए, जो सत् की रक्षा और असत् का निवारण करे। २. इस विषय

---

[२३७] मनु १ ९९ मे 'अधि जायते'।

[२३८] राज-पुरोहित। राजा के पुरोहित (राज-पुरोहित) को यहाँ एक ऐसे व्यक्ति के रूप मे प्रस्तुत किया गया है जिसे राज्य का एक विश्रब्ध एव सद्गुणी मन्त्री होना चाहिए। तथापि इस वर्ग के व्यक्ति को सदैव यही रूप नही प्रदान किया गया है। ऊपर (पृ० ४८ आदि) पर उद्धृत मनु १२ ४६ मे पुरोहित को अन्य ब्राह्मणो से निम्न कोटि मे रखा गया है और अनुशानपर्व के निम्नलिखित श्लोक मे, जो एक कथा से लिया गया है जिसमे ऋषि एक ऐसे व्यक्ति के विपरीत अभिशापो का प्रयोग करते हैं, जिसने कमल के मूल चुरा लिए थे, विश्वामित्र द्वारा दिये गये शाप का एक अश इस प्रकार है ९३, १३० 'वर्षाचरोऽस्तु भृतको राज्ञश् चास्तु पुरोहितः। अयाज्यस्य भवत्व् ऋत्विग् बिस्-स्तैन्य करोति य।' "जो व्यक्ति कमल के मूल की चोरी करता है वह वर्षा के अभिचारो मे (?) भृतक बने, राजा का पुरोहित बने और ऐसे व्यक्ति का ऋत्विज् बने, जिसके लिए कोई किसी ब्राह्मण को यज्ञ नही करना चाहिए। श्लोक ९४, ३३ मे वे ही कहते हैं: "करोतु भृतकोऽवर्षां राज्ञश् यास्तु पुरोहितः। ऋत्विग् अस्तु ह्य् अयाज्यस्य यस् ते हरति पुष्करम्।" "जो तुम्हारे कमलो को चुराता है, वह अवर्षण के अभिचार मे भृतक होवे, राजा का पुरोहित बने, तथा ऐसे व्यक्ति का ऋत्विज् बने जिसके लिए कोई ब्राह्मण यज्ञ न करता हो।" मुझे 'वर्षाचरः' तथा 'अवर्षाम्' के अर्थ

पर वे इला-पुत्र पुरूरवस् और मातरिश्वन् (वायु देवता) के संवाद की इस प्राचीन कथा का उदाहरण देते हैं। पुरूरवस् ने कहा, 'आप मुझे यह बतावें कि ब्राह्मण कहाँ से उत्पन्न हुए, अन्य तीन वर्ण कहाँ से उत्पन्न हुए और क्यों ब्राह्मण उन सबसे श्रेष्ठ होते हैं ?' मातरिश्वन् ने उत्तर दिया : 'ब्राह्मण की सृष्टि ब्रह्मा के मुख से हुई, क्षत्रिय की उनकी भुजाओं से, वैश्य की उनकी जङ्घाओं से, तथा इन तीन वर्णों की सेवा के लिए चौथे वर्ण शूद्र की रचना उनके पैरों से हुई। ब्राह्मण उत्पन्न होते ही पृथ्वी पर धर्म के कोष की रक्षा के लिये सभी प्राणियों का स्वामी हो जाता है। ७. तब (स्रष्टा ने) पृथ्वी के शासक क्षत्रियों की रचना की जो मनुष्यों के सुखार्थ दण्ड धारण करने के लिए दूसरे यम थे और यह ब्रह्मा का आदेश था कि वैश्य इन दोनों वर्णों को धन और अन्न देकर इनका पालन करे तथा शूद्र उनकी सेवा करे।' तब इला के पुत्र ने प्रश्न किया : 'हे वायु, मुझे यह बतावें कि यह पृथ्वी अपने सम्पूर्ण धनधान्य सहित न्यायतः किसके अधिकार में रहती है, ब्राह्मण या क्षत्रिय के ?' वायु ने उत्तर दिया : 'इस संसार में जो कुछ भी है वह सब के अधिकार के कारण ब्राह्मण की सम्पत्ति है।[२३३] जो धर्म के नियमों में दक्ष हैं वे इसे जानते हैं। ब्राह्मण अपना ही अन्न ग्रहण करता है, अपना ही वस्त्र पहनता है, और अपनी ही वस्तु दान करता है, वह सभी वर्णों में प्रधान है, अग्रजन्मा और सर्वश्रेष्ठ है, जिस प्रकार किसी स्त्री के (प्रथम) पुत्र की मृत्यु हो जाती है तो वह अपने देवर को पति बना लेती है, उसी प्रकार विपत्ति में ब्राह्मण प्रथम शरण-स्थान होता है, उसके उपरान्त दूसरे आते हैं।"

इसके शीघ्र बाद ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों के सामञ्जस्य के लाभों के विषय में बहुत कुछ कहा गया है। इस प्रकार के श्लोक कि "ब्राह्मणों और क्षत्रियों

के लिये अंशतः अनुमान का अवलम्बन करना पड़ा है। टीकाकार इसमें पहले की व्याख्या नहीं करता, और दूसरे का अर्थ करता है। जिसके लिए एडिनबर्ग मैन्युस्क्रिप्ट में 'अवर्षा' पाठ है। 'वृष्टिनिबन्धम्' अर्थात् अवर्षणोत्पादक। उसका कथन है 'पापिष्ठा एव अवर्षा', "जो अवर्षण उत्पन्न करते हैं वे घोर पापी होते हैं।"

[२३३] मनु (१ १००) की टीका में कुल्लूक को यह मानना पड़ा है कि यह केवल आलंकारिक या अतिशयोक्तिपूर्ण कथन है, और समृद्धि का अर्थ यह लाक्षणिक है क्योंकि मनु ने ब्राह्मणों तथा अन्य पुरुषों के भी स्तेय का उल्लेख किया है ("स्वम्" इति स्तुत्या उच्यते। स्वम् इव स्व न तु स्वम् एव। ब्राह्मणस्यापि मनुना स्तेयस्य वक्ष्यमाणत्वात्)।

के संघर्ष से मनुष्यों को घोर कष्ट होता है" (मिथो भेदाद् ब्राह्मण-क्षत्रियणाम् प्रजा दुःखं दुस्सहं चाविशन्ति) इस बात के स्पष्ट प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि इन दोनों वर्णों के स्वार्थं प्रायः परस्पर टकराये होंगे।

पहले आये हुए अंश के समान ही यह अंश भी है :

वनपर्व २००, ८७ और बाद : नाध्यापनाद् याजनाद् वा अन्यस्माद् वा प्रतिग्रहात्। दोषो भवति विप्राणां ज्वलिताग्नि-समा द्विजाः। दुर्वेदा वा सुवेदा वा प्राकृताः संस्कृतास् तथा। ब्राह्मणा नावमन्तव्या भस्मचन्ना इवाग्नयः। यथा श्मशाने दीप्तौजाः पावको नैव दुष्यति। एवं विद्वान् अविद्वान् वा ब्राह्मणो दैवतम् महत्। प्राकारैश् च पुरद्वारैः प्रासादैश् च पृथग्-विधैः। नगराणि न शोभन्ते हीनानि ब्राह्मणोत्तमैः वेदाढ्या वृत्त-सम्पन्ना ज्ञानवन्तस् तपस्विनः। यत्र तिष्ठन्ति वै विप्रास् तन्-नाम् नगरं नृप। व्रजे वा प्य् अथवाऽरण्ये यत्र सन्ति बहु-श्रुताः। तत् तद् नगरम् इत्य् आहुः पार्थ तीर्थं च तद् भवेत्।

"अध्ययन से, यज्ञ करने से, या किसी अन्य प्रकार से धन ग्रहण करने पर ब्राह्मणों को कोई दोष नही होता, ब्राह्मण प्रज्वलित अग्नि के समान होते है। चाहे वे वेद के ज्ञाता हों या न हों, शिक्षित हों या अशिक्षित हों, फिर भी भस्म से ढकी हुई अग्नि के समान ब्राह्मण का अपमान नहीं करना चाहिए। जिस प्रकार श्मशान में जलती हुई अग्नि में किसी प्रकार का दोष नहीं आता उसी प्रकार ब्राह्मण चाहे विद्वान् हो या मूर्ख एक महान् देवता होता है। यदि नगरों में उत्तम ब्राह्मण न निवास करते हों तो प्राकार, पुरद्वार और अनेक प्रकार के प्रासादों से भी उनकी शोभा नहीं होती। जिस स्थान पर वेद के ज्ञाता, सदाचारी, ज्ञानी एवं तपस्वी ब्राह्मण निवास करते हैं, वही स्थान वस्तुतः नगर होता है, वही स्थान तीर्थ स्थान है।"

अनुशासनपर्व ३५, १९ और बाद के निम्नलिखित श्लोक और भी स्पष्ट स्वरूप वाले और वस्तुत' गर्व से पूर्णतया भरे हुए हैं :

ब्राह्मणानाम् परिभवाद् असुराः सलिले शयाः। ब्राह्मणानां प्रसादाच् च देवाः स्वर्ग निवासिनः। अशक्यं स्रष्टुम् आकाशम् अचाल्यो हिमवान् गिरिः। अधार्या सेतुना गङ्गा दुर्जया ब्राह्मणा भुवि। न ब्राह्मण-विरोधेन शक्या शास्तु वसुन्धरा। ब्राह्मण हि महात्मानो देवानाम् अपि देवताः। तान् पूजयस्व सततं दानेन परिचर्यया। यदीच्छसि महीम् भोक्तुम् इमाम् सागर-मेखलाम्।

"ब्राह्मणों की शक्ति से असुर जल के ऊपर पराभूत हो गये। ब्राह्मणों की कृपा से ही देवता स्वर्ग में निवास करते हैं। आकाश की सृष्टि नहीं की जा सकती, हिमवान् को हिलाया नहीं जा सकता, और गङ्गा को सेतु द्वारा रोका नहीं जा सकता, इसी प्रकार पृथ्वी पर ब्राह्मणों को भी कोई जीत नहीं सकता। ब्राह्मणों से विरोध करके पृथ्वी का शासन नहीं किया जा सकता। महात्मा ब्राह्मण देवताओं के भी देवता होते हैं। यदि तुम समुद्रों से घिरी हुई पृथ्वी का भोग करना चाहते हो तो निरन्तर दान और सेवा द्वारा उनकी पूजा करो।"

इसके बाद का अंश स्वविरोधी प्रतीत होता है, कारण यह इस धारणा पर आधृत प्रतीत होता है कि वर्णों का भेद सृष्टि के उपरान्त उत्पन्न हुआ और साथ ही यह चारों वर्णों की पृथक् उत्पत्ति का प्रतिपादन करता है।

शान्तिपर्व २६६, १ और बाद : जनक उवाच। वर्णो विशेष-वर्णानाम् महर्षे केन जायते एतद् इच्छाम्य् अहं ज्ञातुम् तद् ब्रूहि वदतां वर। यद् एतज् जायतेऽपत्यं स एवायम् इति श्रुतिः। कथम् ब्राह्मणतो जातो विशेषे ग्रहणां गतः। पराशर उवाच। एवम् एतद् महाराज येन जात. स एव सः। तपसस् त्व् अपकर्षेण जातिग्रहणतां गतः। सुक्षेत्राच्च सुबीजाच् च पुण्यो भवति सम्भवः। अतोऽन्यतरतो हीनाद् अवरो नाम जायते। ५. वक्त्राद् भुजाभ्याम् ऊरुभ्याम् पद्भ्या चैवाथ जज्ञिरे। सृजतः प्रजापतेर् लोकान् इति धर्मविदो विदुः। मुखजा ब्राह्मणास् तात बाहुजाः क्षत्रियाः स्मृताः। ऊरुजाः धनिनो राजन् पादजा. परिचारकाः। चतुर्णाम् एव वर्णानाम् आगमः पुरुषर्षभ। अतोऽन्ये व्यतिरिक्ता ये ते वै सङ्करजा. स्मृताः।... १०. जनक उवाच। ब्रह्मणैकेन जातानाम् नानात्वं गोत्रतः कथम्। बहूनीह हि लोके वै गोत्राणि मुनि सत्तम। यत्र तत्र कथं जाताः स्वयोनिम् (सुयोनिम्) मुनयो गताः। शुद्ध योनौ समुत्पन्ना वियोनौ च तथाऽपरे। पराशर उवाच। राजन् नैतद् भवेद् ग्राह्यम् अपकृष्टेन जन्मना। मतात्मना समुत्पत्तिस् तपसा भावितात्मनाम्। उत्पाद्य पुत्रान् मुनयो नृपते यत्र तत्र ह। स्वेनैव तपसा तेषाम् ऋषित्वम् प्रदधुः पुनः।.. १६. एते स्वाम् प्रकृतिम् प्राप्ता वैदेह तपसोऽश्रयात्। प्रतिष्ठिता वेद-विदो दमेन तपसैव हि।

"जनक पूछते हैं : १. 'हे महर्षि विभिन्न वर्गों का वर्ण किस प्रकार उत्पन्न होता है? मैं यह जानने की इच्छा रखता हूँ, इसे आप मुझे बतावें। वेद के अनुसार, मनुष्य का जो अपत्य उत्पन्न होता है वह स्वयं वह मनुष्य ही होता है। एक ब्राह्मण से उत्पन्न पुरुष विशेष वर्गों में किस प्रकार वर्गीकृत हो जाते हैं। पराशर ने उत्तर दिया 'हे महाराज, आप जैसा कहते हैं ठीक वैसी ही बात

है। एक पुत्र यथार्थतः वैसा ही होता है जैसा उसे उत्पन्न करने वाला पुरुष; किन्तु तपस्या के क्षय के कारण मनुष्य भिन्न-भिन्न वर्गों में विभाजित हुए है। उत्तम भूमि और उत्तम बीजों से श्रेष्ठ उत्पत्ति होती है, और दूसरे प्रकार के एवं हीन भूमि एवं बीज से अवर कोटि की उत्पत्ति होती है। धर्म को जानने वाले पुरुष यह जानते हैं कि प्रजापति जब लोकों की सृष्टि कर रहे थे तो उनके मुख, भुजाओं, जंघों तथा पैरों से मनुष्यों का जन्म हुआ। ब्राह्मण उनके मुख से उत्पन्न हुए, क्षत्रिय बाहुओं से, वणिक् जंघों से, और सेवक पैरों से उत्पन्न हुए। शास्त्रों में केवल इन्ही चार वर्णों का उल्लेख है। इनके अन्तर्गत न आने वाले मनुष्यों के इन (चारों वर्णों) के संकर से उत्पन्न कहा गया है···।' १०. जनक ने पूछा—एक ही ब्राह्मण से उत्पन्न मनुष्यों में गोत्र का भेद कैसे हुआ ?, क्योंकि इस समय संसार में अनेक गोत्र हैं; अच्छे वंश में (विना भेदभाव के) प्रवेश करके मुनि लोग यत्र-तत्र कैसे उत्पन्न हुए हैं : कुछ शुद्ध योनि से और कुछ हीन वंश में कैसे उत्पन्न हुए है ?' पराशर ने उत्तर दिया : 'यह विश्वसनीय नही होगा कि उच्च विचारवाले मनुष्यों के, जिनके आत्मा ने तपस्या द्वारा पूर्णत्व प्राप्त कर लिया था, हीन जन्म वाले पुत्र उत्पन्न हुए। मुनियों ने यत्र तत्र विना विचार के पुत्र उत्पन्न करके अपने तप के प्रभाव से उन्हें ऋषि का स्थान दे दिया।" इसके उपरान्त वक्ता अनेक ऋषियों का नामोल्लेख करता है (२९६, १६) जो अपने वेदज्ञान, आत्म-सयम एवं तप के लिए प्रसिद्ध थे" और जिन्होंने अपनी गति तपश्चर्या के द्वारा प्राप्त की थी।"

बाद के श्लोकों में वक्ता जिस क्षण प्राचीन भारत के कतिपय प्रख्यात ऋषियों की अधम उत्पत्ति को अस्वीकार करता है, उसी क्षण इसे स्वीकार करता भी प्रतीत होता है। अन्यथा इस श्लोक का अर्थ क्या हो सकता है कि "मुनियों ने यत्र तत्र विना विचार के पुत्र उत्पन्न करके अपने तप के प्रभाव से उन्हें ऋषि पद पर प्रतिष्ठित कर दिया ?" इसमें सन्देह नही कि इसका अभिप्राय उन्हें अपवाद स्वरूप प्रस्तुत करने का है : किन्तु जब इस धारणा को अस्वीकार करते है, तो हम यह मानने के लिये कारण ढूंढ सकते है कि ये मर्यादाहीनतायें, जैसा कि इन्हें बाद में समझा गया और जिनका निराकरण इस व्याख्या को अभिप्रेत था, वस्तुतः प्राचीन समय में सामान्यतया प्रचलित वस्तुस्थिति की उदाहरण थीं।

आगे आनेवाला उद्धरण स्पष्टतः यह कहता है कि ब्राह्मणों एवं अन्य वर्णों के बीच एक स्वाभाविक भेद है; और यह भी कहता प्रतीत होता है कि

इस प्रकार के अवरोधों का तभी उल्लंघन हो सकता है जब आत्मा पुनः दूसरा जन्म ग्रहण करता है :

अनुशासन-पर्व १४३, ५ :— देव उवाच। ब्राह्मण्यं देवि दुष्प्राप्यं निसर्गाद् ब्राह्मण शुभे। क्षत्रियो वैश्यशूद्रौ वा निसर्गाद् इति मे मतिः। कर्मणा दुष्कृतेनेह स्थानाद् भ्रश्यति वै द्विजः। ज्येष्ठम् वर्णम् अनुप्राप्य तस्माद् रक्षेत वै द्विजः। स्थितो ब्राह्मण-धर्मेण ब्राह्मण्यम् उपजीवति। क्षत्रियो वाऽथ वैश्यो वा ब्रह्मभूयम् स गच्छति। यस् तु ब्रह्मत्वम् उत्सृज्य क्षात्रं धर्मं निषेवते। ब्राह्मण्यात् स परिभ्रष्टः क्षत्र-योनौ प्रजायते वैश्य-कर्म च यो विप्रो लोभ-मोह-व्यापाश्रय। ब्राह्मण्यं दुर्लभम् प्राप्य करोत्य् अल्प-मति सदा। स द्विजो वैश्यताम् एति वैश्यो वा शूद्रताम् इयत्। स्व-धर्मात् प्रच्युतो विप्रम् तत शूद्रत्वम् आप्नुते। ... २६. एभिस् तु कर्मभिर् देवि शुभैर् आचरितैस् तथा। शूद्रो ब्राह्मणताम् याति वैश्यः क्षत्रियता व्रजेत। शूद्र-कर्माणि सर्वाणि यथान्यायम् यथाविधि। शुश्रूषाम् परिचर्य्याम् च ज्येष्ठे वर्णे प्रयत्नतः। कुर्याद् इत्यादि।

महादेव कहते हैं। १४३, ५. 'हे देवि ! ब्राह्मण का जन्म पाना दुष्कर होता है। मनुष्य स्वभाव से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र होता है ऐसा मेरा मत है। दुष्कर्म से द्विज अपने स्थान से भ्रष्ट हो जाता है। अतएव सर्वोच्च वर्ण को प्राप्त कर द्विज को उस वर्ण की रक्षा करनी चाहिये। जो क्षत्रिय या वैश्य ब्राह्मण के धर्म का आचरण करता हुआ ब्राह्मण की दशा में रहता है वह ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लेता है। किन्तु जब व्यक्ति ब्राह्मण के वृत्त का परित्याग करके क्षात्रधर्म का सेवन करता है तब वह ब्राह्मणत्व से च्युत हो जाता है और क्षत्रिय योनि में उत्पन्न होता है। जो मूर्ख ब्राह्मण उस दुष्प्राप्य ब्राह्मण पद को प्राप्त कर लोभ और मोह के वश होकर वैश्य का कर्म करता है वह ब्राह्मण वैश्यता प्राप्त करता है। (इसी प्रकार) एक वैश्य शूद्रता प्राप्त कर लेता है। अपने धर्म से च्युत होकर ब्राह्मण भी शूद्रत्व प्राप्त कर लेता है। ... २६. किन्तु हे देवि इन उत्तम कर्मों का आचरण करके शूद्र भी ब्राह्मण हो जाता है और वैश्य भी क्षत्रिय हो जाता है। अतएव उसे विधिपूर्वक एवं उचित ढंग से शूद्र के सभी कर्म, यथा उच्च वर्णों की आज्ञा का पालन और सेवा, करने चाहियें।"

इसके आगे वाला अनुच्छेद उनमें से प्रथम है जिनका मैंने पहले ही उल्लेख किया है। यह विचार एवं शैली में पहले आये हुए वर्णन से नितान्त भिन्न है। जिस सम्वाद का इसमें वर्णन है वह इस प्रकार है : युधिष्ठिर ने

अपने भाई भीम को एक नाग के पाश में बद्ध देखा जो वास्तविक रूप में आने पर उस प्रसिद्ध राजा नहुष के अतिरिक्त और कोई नहीं था, जिसने अपने यज्ञों एवं तपो इत्यादि द्वारा प्राचीन काल में तीनों लोकों का प्रभुत्व प्राप्त कर लिया था, किन्तु अपने अभिमान और ब्राह्मणों के अपमान के दण्डस्वरूप इस दशा को प्राप्त हो गया था। वह भीमसेन को मुक्त करने का वचन देता है यदि युधिष्ठिर उसके प्रश्नों का उत्तर देते है। युधिष्ठिर सहमत हो जाते हैं और कहते है कि सर्प उन सभी विद्याओं से अनभिज्ञ था जो एक ब्राह्मण को जानना चाहिये। इसके उपरान्त सर्प आगे कहता है :

वन पर्व १८०, १६ : सर्प उवाच। ब्राह्मणः को भवेत् राजन् वेद्यं किं च युधिष्ठिर। २०. ब्रवीह्य् अतिमतिम् त्वां हि वाक्यैर् अनुमिमीमहे। युधिष्ठिर उवाच। सत्यं दानम् क्षमा शीलम् आनृशंस्यं तपो घृणा। दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतिः। वेद्यम् सर्प परम् ब्रह्म निर्दुःखम् असुखम् च यत्। यत्र गत्वा न शोचन्ति भवतः किं विवक्षितम्। सर्प उवाच। चातुर्वण्यम् प्रमाणं च सत्यं च ब्रह्म चैव हि शूद्रेष्व् अपि च सत्यं च दानम् अक्रोध एव च। अनृशंस्यम् अहिंसा च घृणा चैव युधिष्ठिर। वेद्यां यच् चात्र निर्दुःखम् असुखम् च नराधिप। ताभ्यां हीनम् पदं चान्यद् न तद् अस्तीति लक्षये। युधिष्ठिर उवाच। २४. शूद्रे तु यद् भवेल् लक्ष्म द्विजे तच् च न विद्यते। न वै शूद्रो भवेच् छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः। यत्रैतल् लक्ष्यते सर्प वृत्तम् स ब्राह्मणः स्मृतः। यत्रैतद् न भवेत् सर्प तम् शूद्रम् इति निर्दिशेत्। यत् पुनर् भवता प्रोक्तम् न वेद्यम् विद्यतीति च। ताभ्यां हीनम् अतोऽन्यत्र पदं नास्तीति चेद् अपि। एवम् एतद् मतम् सर्प ताभ्यां हीनं न विद्यते। यथा शीतोष्णयोर् मध्ये भवेद् नोष्णं न शीतता। एवं वै सुख-दुःखाभ्याम् हीनं नास्ति पदं क्वचित्। एषा मम मतिः सर्प यथा वा मन्यते भवान्। सर्प उवाच। ३०. यदि ते वृत्ततो राजन् ब्राह्मणः प्रसमीक्षितः। वृथा जातिस् तदाऽऽयुष्मान् कृतिर् यावद् न विद्यते। युधिष्ठिर उवाच। जातिर् अत्र महासर्प मनुष्यत्वे महामते। संकरात् सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः। सर्वे सर्वास्व् अपत्यादि जनयन्ति सदा नराः। वाङ् मैथुनम् अथो जन्म मरणं च समं नृणाम्। इदम् आर्षम् प्रमाणं च "ये यजामहे" इत्य् अति। तस्माच् छीलम् प्रधानेष्ट विदुर् ये तत्त्वदर्शिणः। "प्राङ्नाभि-वर्धनात् पुंसो जात-कर्म विधीयते।" "तदाऽस्य माता सावित्री पिता त्व् आचार्य्य उच्यते"। ३५. "तावच् छूद्रसमो ह्य् एष यावद् वेदे न जायते।" तस्मिन्न् एवम् मति-द्वैधे मनुः

स्वायम्भुवोऽब्रवीत्। कृत-कृत्याः पुनर् वर्णा यदि वृत्तम् न विद्यते। संकरस् तत्र नागेन्द्र बलवान् प्रसमीक्षितः। यत्रेदानीम् महासर्प संस्कृतम् वृत्तम् इष्यते। तम् ब्राह्मणम् अहम् पूर्वम् उक्तवान् भुजगोत्तम।

"१९. सर्प ने कहा: 'हे युधिष्ठिर, ब्राह्मण कौन हो सकता है? और कौन सी वस्तु जानने योग्य है? यह मुझे बताओ, क्योंकि तुम्हारे शब्दों से मैं तुम्हारे अतिशय बुद्धिमान् होने का अनुमान करता हूँ।' युधिष्ठिर ने उत्तर दिया: २०. 'हे सर्पों के स्वामी, स्मृति का कथन है कि वहां ब्राह्मण है, जिसमें सत्य, दान, क्षमा, शील, धैर्य, सरलता, तप एवं दया के गुण देखे जाते हैं। और ज्ञेय वस्तु परम ब्रह्म है—जो सुख और दुःख दोनों से मुक्त है; जिसकी प्राप्ति कर लेने पर मनुष्य शोक नहीं करते। आपका क्या मत है?' सर्प ने उत्तर दिया: 'वेद (ब्रह्म) सभी चारों वर्णों के लिए उपकारी, प्रामाणिक और सत्यवचन[२४०] है। और इस प्रकार हम शूद्रों में भी सत्य, दान,

[२४०] टीकाकार ने इस पंक्ति का ऐसा ही अर्थ किया है, किन्तु इसका तात्पर्य स्पष्ट नहीं है: टीका इस प्रकार है: 'सर्पस् तु ब्राह्मण-पदेन जाति-मात्रम् विवक्षित्वा शूद्रे तल् लक्षण व्यभिचारयति "चातुर्वर्ण्यम्" इति सार्द्धेन। चतुर्णां वर्णानना हितम्। सत्यम् प्रमाण च धर्म व्यपस्थापकम् ब्रह्म वेदः। शूद्राचार-स्मृतेर् अपि वेद-मूलकत्वात् सर्वोऽप्य् आचारादिः श्रुति-मूलकः इत्य् अर्थ। एव च सत्यादिक यदि शूद्रेऽप्य् अस्ति तर्हि सोऽपि ब्राह्मण एव स्याद् इति आह "शूद्रेष्व् अपि" इति। "तथापि, ब्राह्मण शब्द से केवल जाति का अर्थ लेकर सर्प डेढ श्लोको मे यह प्रदर्शित करता है कि युधिष्ठिर की परिभाषा अशुद्ध है क्योंकि वह शूद्र के ऊपर भी घटित होती है। 'चातुर्वर्ण्य' का अर्थ है 'चारो वर्णों के लिए हितकारी'। (इसी प्रकार का वेद भी है) जो 'सत्य' एवं 'प्रामाणिक' है, क्योंकि धर्म की स्थापना करता है। यत स्वय स्मृति भी जो शूद्रो के आचरण का विधान करती है, वेद पर आधृत है, अतः सभी आचार आदि वेद पर आधृत है। और अतएव यदि सत्य आदि गुण शूद्र मे भी उपलब्ध होते हैं तो उन्हे भी ब्राह्मण होना चाहिए—'शूद्रेष्वपि' अर्थात् शूद्र मे भी आदि शब्दो मे उसका तर्क यही है।" इस व्याख्या के अनुसार प्रथम पक्ति तथा दूसरी एव तीसरी पक्तियो मे इस प्रकार सम्बन्ध हो सकता है वेद सभी वर्णों के लिए हितकारी है, और अतएव शूद्र भी, इसके उपदेशो को दूसरे के माध्यम से प्राप्त करके उन सभी सद्गुणो को अर्जित कर सकते है जिसे आपने गिनाया है, किन्तु क्या आप उन्हे इस कारण ब्राह्मण कहेंगे?

शान्ति, सरलता,-अहिंसा तथा दया पाते हैं। और जहाँ तक दुःख और सुख से मुक्त ज्ञेय वस्तु की बात है, मैं यह देखता हूँ कि कोई भी दूसरी वस्तु नहीं है जो इन दो प्रमाणों से मुक्त हो।' युधिष्ठिर ने कहा: २४. 'शूद्र के गुण ब्राह्मण में नहीं पाये जाते हैं (इसके विपरीत नहीं), (यदि ऐसा न होता तो) शूद्र शूद्र नहीं होता और ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं होता।[२४१] जिस व्यक्ति में ये नियमित व्यवहार पाये जाते हैं उसे ही ब्राह्मण कहा गया है; और जिसमें इनका अभाव होता है उसे शूद्र ही कहना चाहिए। और आपने पहले जो यह कहा है कि इस (ब्रह्म) के अतिरिक्त कोई ऐसी ज्ञेय वस्तु नहीं है जो दुःख-सुख से मुक्त हो, तो मेरा भी यही विचार है कि इनसे कोई भी वस्तु मुक्त नहीं है। जिस प्रकार शीत और ताप के बीच न तो ताप हो सकता है और न शीतता, उसी प्रकार कोई भी वस्तु सुख और दुःख से हीन नहीं है। मेरा विचार तो यही है, आपका क्या विचार है?' सर्प ने कहा: ३०. 'यदि किसी व्यक्ति को आचरण के आधार पर ही आप ब्राह्मण मानते हैं, तब बिना कर्म के जन्म ही व्यर्थ है।' युधिष्ठिर ने उत्तर दिया: 'हे महामतिमान सर्प! मानव जाति की वर्तमान अवस्था में जन्म का निर्धारण करना सभी वर्णों के मिश्रण के कारण कठिन है।[१४२] सभी प्रकार के पुरुष निरन्तर सभी

---

[२४१] यह श्लोक अधिक स्पष्ट नहीं है, किन्तु इसका अर्थ वही हो सकता है जो मैंने लगाया है। टीकाकार का कथन है: "इतरस् तु ब्राह्मण-पदेन ब्रह्म-विद विवक्षित्वा शूद्रादेर् अपि ब्राह्मणत्वम् अभ्युपगम्य परिहरति "शूद्रे तु" इति। शूद्र-लक्ष्यकामादिकं न ब्राह्मणेऽस्ति न ब्राह्मण लक्ष्य-शमादिक शूद्रेऽस्ति इत्य् अर्थ। शूद्रोऽपि शमाद्य्-उपेतो ब्राह्मण। ब्राह्मणोऽपि कामाद्य्-उपेतः शूद्र एव इत्य् अर्थ।" "दूसरे (युधिष्ठिर) ब्राह्मण शब्द का अर्थ वेद (या ब्रह्म) का ज्ञाता लगाकर तथा एक शूद्र के ब्राह्मणत्व को स्वीकार कर इन शब्दों से परिहार करते हैं, 'किन्तु एक एक शूद्र में' इत्यादि (तब आपत्ति उठायी गयी है)। लोभ आदि गुण, जो शूद्र के लक्षण हैं ब्राह्मण मे नहीं होते और न शम इत्यादि गुण, जो ब्राह्मण के लक्षण होते हैं शूद्र मे पाये जाते हैं। शमादि गुणो से युक्त शूद्र ब्राह्मण हो जाता है; जब कि लोभादि गुणो से युक्त ब्राह्मण शूद्र ही बन जाता है।

[२४२] अपने इण्ड० स्टू० के भाग १०, पृ० ८३ पर प्रोफेसर वेबर ने प्राचीन-काल में भारतीयो की अपनी स्त्रियों की पवित्रता मे अविश्वास के कुछ विलक्षण प्रमाण प्रस्तुत किये हैं: वे निम्न लिखित अंशो का उल्लेख करते हैं. निदान सूत्र ३. ८: 'उच्चावच चरणा स्त्रियो भवन्ति। सह देव-साक्ष्ये च मनुष्य-साक्ष्ये

वर्गो की स्त्रियों से सन्तान उत्पन्न करते है। वाणी, मैथुन कर्म, जन्म और मृत्यु सभी मनुष्य जाति मे समानरूप से है। यह वचन वेद का है और इस विषय में प्रमाण है 'हम, (जिन्हे आमन्त्रित किया गया है) मन्त्रोच्चारण

च येषाम् पुत्रो वक्ष्ये तेषाम् पुत्रो भविष्यामि। याश् च पुत्रान् वक्ष्ये ते मे पुत्राः भविष्यन्ति।' "स्त्रियो का चरित्र एक सा नही होता। मै देवताओ तथा मनुष्यो को साक्षी देकर अपने को जिस किसी व्यक्ति का पुत्र मान लूँगा मै उसी का पुत्र होऊँगा और जिन्हे मै अपना पुत्र घोषित करूँगा वे मेरे पुत्र होंगे।' (२) शतपथ ब्राह्मण ३ २, १, ४० : 'अथ यद् "ब्राह्मणा." इत्याह। अनद्धा इव वै अस्य अत पुराजानम् भवति। इद ह्य् आहु "रक्षासि योषितम् अनुसचन्ते तद् उत् रक्षास्य् एव रेत आदधति इति। अथ अत्र अद्धा जायते यो ब्रह्मणो यो यज्ञाज् जायते। तस्माद् अपि राजन्य वा वैश्य वा "ब्राह्मण'" इत्य् एव ब्रूयात्। ब्रह्मणो हि जायते यो यज्ञाज् जायते। तस्माद् आहु "न सवन-कृत हन्याद् एनस्वी ह एव सवन-कृता" इति।' "ब्राह्मण (दीक्षित हो गया है) ऐसा जो कहा गया है, उसके विषय मे। इसके पूर्व उसका जन्म अनिश्चित रहता है। क्योंकि लोग कहते है कि 'राक्षस स्त्रियो के पीछे लगे रहते है और रक्षस् ही उनमे वीर्य डालते ह।" (तु० की० अथर्ववेद ४ ३७, ११६ मे गन्धर्वों के विषय मे उक्ति तथा ज०ए० सो० १८६५, पृ० ३०१)। अतएव वही व्यक्ति वास्तव मे जन्म लेता है जो वेद और यज्ञ से उत्पन्न होता है। अतएव राजन्य या वैश्य को भी 'ब्राह्मण' ही कह कर सम्बोधित करे, क्योकि वह वेद से (ब्राह्म से, और इस कारण ब्राह्मण होता है) उत्पन्न होता है, जो यज्ञ से उत्पन्न होता है। इसलिए कहा गया है कोई भी सवन करने वाले का वध न करे, क्योंकि ऐसा करके वह ब्रह्महत्या का दोषी हो जाता है।" ३ शतपथ ब्राह्मण के दूसरे अश २, ५, ५, २० पर प्रोफेसर वेबर का कथन है कि यह मान लिया गया है कि वरुणप्रघास अर्पित करने वाले पुरुष की पत्नी के एक या अधिक प्रेमी रहे होगे 'अथ प्रतिप्रस्थाता प्रतिपरैति। स पत्नीम् उदानेष्यन् पृच्छति "केन (जारेण, भाष्य) चरसि" इति। वरुण्यं वै एतत् स्त्री करोति यद् अन्यस्य सत्य् अन्येन चरति। अथो "न इद मेऽन्त -शल्पा जुहुवद्" इति तस्मात् पृच्छति। निरुक्त वै एनः कनीयो भवति। सत्यं हि भवति। तस्माद् वा इव पृच्छति। सा यद् न प्रतिजानीत ज्ञातिभ्यो ह अस्यै तद् अहित स्यात्।" "प्रतिप्रस्थाता (पुरोहितो मे से एक) लौटता है। पत्नी को आगे ले जाते समय वह पूछता है किस (जार) के साथ तुम सम्बन्ध रखती हो ?' क्योकि यह वरुण के लिए एक अपराध है कि किसी पुरुष की पत्नी होकर वह दूसरे के साथ

करते है ।[२४३] अतएव तत्वदर्शी लोग जानते हैं कि शील ही प्रधान एवं इष्ट वस्तु है । 'नाभिवर्द्धन के पूर्व ही बालक के जातकर्म संस्कार का विधान किया

यौन सम्बन्ध रखती है । वह इसलिए प्रश्न करता है कि उसके साथ यज्ञ करते हुए वह मन मे व्याकुलता का अनुभव न करे । क्योकि पाप को खोल देने पर वह कम हो जाता है, तब इसके साथ असत्य नही रह जाता । अतएव वह प्रश्न करता है । यदि वह अपने व्याभिचार का प्रकाशन नही करती तो उसके सम्बन्धियो का अहित होता है ।" (इस अंश की व्याख्या कात्यायान श्रौत-सूत्र ५ ५, ६-११ मे की गई हैं)। ४ श० ब्रा० १ ३, २, २१ 'तद् उ ह उवाच याज्ञवल्क्यो यथादिष्टम् पत्न्या अस्तु । कस् तद् आद्रियेत् यत् पर-पुंसा वा पत्नी स्यात् ।" याज्ञवल्य ने (किसी दूसरे आचार्य के मत के विरोध मे) यह कहा है : "पत्नी के सम्बन्ध मे विहित नियम का पालन किया जाय । कौन व्यक्ति दूसरे के साथ प्रेम रखने वाली अपनी पत्नी का आदर करेगा ?" अन्तिम उपवाक्य उस परिणाम का निर्देश करता है, जिसे अन्य आचार्यों ने अपने मत के विपरीत मार्ग स्वीकार करने से उत्पन्न माना हे । अर्थात् ऐसा करने वाले व्यक्ति की पत्नी व्याभिचारिणी हो जायगी । ५ तैत्ति० स० ५ ६, ८, ३ 'न अग्निं चित्वा रामाम् उपेयाद् "अयोनौ रेतो वस्यामि" इति । न द्वितीयं चित्वाऽन्यस्य स्त्रियम् उपेयात् । न तृतीय चित्वा काञ्चन उपेयात् । रेतो वै एतद् निधत्ते यद् अग्निम् चिनुते । यद् उपेयाद् रेतसा वृद्धेत ।' "अग्नि के लिए वेदी बनाकर पुरुष स्त्री (भाष्यकार के अनुसार शूद्रा स्त्री) का भोग न करे । इस प्रकार करके वह एक अनुचित स्थान पर वीर्य डालेगा । दूसरी वार अग्नि चयन करके दूसरे पुरुष की पत्नी के साथ भोग न करे । तीसरी वार अग्नि की स्थापना करके किसी भी स्त्री के साथ मैथुन न करे, क्योकि अग्नि-चयन करने मे वह अपना वीर्य ही स्खलित करता है । यदि (इन निषिद्ध स्थितियो मे) वह किसी स्त्री के साथ मैथुन करता है तो वह अपने वीर्य को व्यर्थ करता है ।" कतिपय स्थितियो मे परस्त्री गमन का ऐसा निषेध यह सिद्ध करता प्रतीत होता है कि यह असामान्य घटना नही थी, और जैसा प्रोफेसर वेवर का कथन है, यह प्राचीन भारतीय वशो की रक्त-शुद्धता के विषय में गम्भीर सन्देह उत्पन्न करती है ।

[२०३] अन्तिम न्यून पद के उक्ति की व्याख्या करने के लिए मैं युधिष्ठिर के उत्तर के आरम्भ पर टीकाकार की टिप्पणी का एक अश उद्धृत करूँगा 'वागादीनाम् इव मैथुनस्यापि साधारण्याज् जातिर् दुर्ज्ञेया । तथा चा श्रुति "न चैतद् विद्मो ब्राह्मणा. स्मो वयम् अब्राह्मणा वा" इति ब्राह्मण्य-सशयं उपन्य-स्यति । ननु जात्य्-अनिश्चये कथम् "ब्राह्मणोऽहम्" इत्याद्य् अभिमान-पुरस्स-

गया है।' (मनु २.२९) तव सावित्री (गायत्री, मनु २. ७७) उस बालक की माता बन जाती है और आचार्य उसके पिता हो जाते हैं (मनु २. १७०, २२५)। ३५. जव तक वह वेद से जन्म नहीं लेता वह शूद्र के समकक्ष

रम् यागादौ प्रवर्त्तेत इत्य् आशङ्क्याह "इदम् आर्षम्" इति। अत्र "ये यजामहे" इत्य् अनेन च ये वय स्मो ब्राह्मणा' अन्ये वा ते वयम् यजामहे इति ब्राह्मण्येऽन्वधारण दर्शितम्। मन्त्र-लिङ्गम् अपि "य एवास्मि स सन् यजे" इति।

तस्माद् आचार एव ब्राह्मण्यनिश्चयहेतुर् वेद-प्रामाण्याद् इत्य् उपसहरति।' "यत. वाणी इत्यादि के समान मैथुन भी सभी वर्णों मे एक जैसा ही है, अत' जाति का निर्धारण करना कठिन है। और इन शब्दो के अनुसार "हम यह नही जानते है कि हम ब्राह्मण हैं या अब्राह्मण', वेद ब्राह्मणत्व के विषय मे सन्देह करता है। तव यह प्रश्न कर उठता है कि यदि जाति का निर्धारण नही किया जा सकता तो कोई व्यक्ति यज्ञ का अनुष्ठान अपने ब्राह्मण होने के पूर्व-ज्ञान से कैसे करता है? इसका उत्तर यह है कि "यह उक्ति वैदिक है"। यह इन शब्दो "ये यजामहे (हम जो "उच्चारण करते हैं)", से जिसका अर्थ है हम-जो कोई भी हों—ब्राह्मण या अन्य वर्ण—हम यजन करते हैं, से यह प्रदर्शित होता है कि ब्राह्मणत्व अनिश्चित है, और यही इस मन्त्र का भी लक्षण है "या एवास्मि स सन् यजे", "मैं जो कोई भी हूँ मैं यज्ञ करता हूँ"। टीका का निष्कर्ष है. "अतएव वह वेद के प्रामाण्य से सक्षेप मे यह निष्कर्ष निकालता है कि ब्राह्मणत्व के निर्धारण का आधार आचार ही है। प्रोफेसर आफरेख्त ने मुझे यह संकेत दिया है कि 'ये यजामहे' शब्द श० ब्रा० १ ५, २, १६ तथा तैत्ति० स० १ १६, ११, १ मे आते हैं। तैत्तिरीय सं० के अश पर भाष्यकार इन की व्याख्या मे आश्वलायन श्रौतसूत्र १ ५, ४ का निर्देश करता है, जिसमे कहा गया है कि ये दोनो शब्द मिलकर 'आयु.' नाम के मन्त्र बनाते हैं, जो अनुयाज से युक्त सभी याज्याओ के प्रारम्भ मे आता है। इन दो शब्दो का अर्थ भाष्यकार इस. प्रकार करता है, सर्वे "ये" वय होतारोऽध्वर्युणा "यज" इति प्रेपितास् ते वयम् "यजामहे" याज्याम् पठामह।" "हम सभी होता ऋत्विज जो अध्वर्यु के यज (उच्चारण करो) वचन से आदिष्ट हुए हैं, यजन करते हैं अर्थात् याज्या का पाठ करते है।" (देखिये हॉग का ऐत० ब्रा० भाग २, पृ० १३३ टि० ११)। प्रो० आफरेख्त का विचार है कि टीकाकार की टिप्पणी के 'य एवास्मि स सन् यजे' शब्द अथर्ववेद ५ ६, १२३, ३. ४ से स्वतन्त्रता पूर्वक ग्रहण किये गये हो सकते हैं। यह पता नही चलता कि किस स्रोत से "न चैतद् विद्म." आदि शब्द लिये गये हैं।

होता है (मनु २. १७२)—अतएव, इस विचार विभिन्नता में मनु स्वायम्भुव ने कहा है : "वर्ण (यद्यपि उन्होंने कुछ नहीं किया) सभी आवश्यक कर्म कर चुकेंगे[२४४] यद्यपि व्यवहार के कोई नियत नियमों का पालन नहीं किया जाता है। मैं पहले कह चुका हूँ कि वही ब्राह्मण है जिसमें चरित्र की पवित्रता देखने में आती हो।"

शान्तिपर्व १८८, १ और बाद विभिन्न वर्णों में स्वाभाविक भेद अस्वीकार करने में पिछले अंश की अपेक्षा अधिक स्पष्टवादी है :

भृगुर उवाच। असृजद् ब्राह्मणान् एवम् पूर्वम् ब्रह्मा प्रजापतीन्। आत्म-तेजोऽभिनिर्वृत्तान् भास्कराग्नि-सम-प्रभान्। ततः सत्यं च धर्मं च तपो ब्रह्म च शाश्वतम्। आचारम् चैव शौचं च स्वर्गाय विदधे प्रभुः। देव-दानव-गन्धर्वा दैत्यासुर-महोरगाः। यक्ष-राक्षस-नागाश् च पिशाचा मनुजास् तथा। ब्राह्मणः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश् च द्विज-सत्तम। ये चान्ये भूत-संघानां वर्णास् तांस् चापि निर्ममे। ब्राह्मणानां सितो वर्णः क्षत्रियाणां च लोहित। वैश्यानाम् पीतको वर्णः शूद्रानाम् असितस् तथा। ६. भरद्वाज उवाच। चातुर्वर्ण्यस्य वर्णेन यदि वर्णो विभिद्यते। सर्वेषां खलु वर्णानां दृश्यते वर्ण-संकरः। कामः क्रोधो भयं लोभः शोकश् चिन्ता क्षुधा श्रमः। सर्वेषां नः[२४५] प्रभवति कस्माद् वर्णो विभिद्यते। स्वेद-मूत्र-पुरीषाणि श्लेष्मा, पित्तं स-शोणितम। तनुः क्षरति सर्वेषां कस्माद् वर्णो विभज्यते। जङ्गमानाम् असंख्येया स्थावराणां च जातयः। तेषां विविधवर्णानां कुतो वर्ण-विनिश्चयः। भृगुर् उवाच। न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वम् ब्राह्मम् इदं जगत्। ब्रह्मणा पूर्वं

---

[२४४] टीकाकार 'कृत-कृत्य' की व्याख्या इस प्रकार करते हैं : 'कृत-कृत्याः शूद्र-तुल्याः। तथा च स्मृति "न शूद्रे पातक किञ्चिद् न च संस्कारम् अर्हति।" इति तेषा सस्कारानर्हत्व-निष्पापत्वाभिदानत् कृत-कृत्यत्वम् दर्शयति। तद्वत् त्रैवर्णिका अपि स्युर् इत्य् अर्थ।" "कृत कृत्याः (कृत्य कम को कर के) का अर्थ यह है कि शूद्रो के तुल्य, अतएव स्मृति (जब यह कहती है कि) 'शूद्र मे कोई पाप नही रहता, और न वह सस्कारो के योग्य होता है' (तो) इस प्रकार के सस्कारो के अयोग्य ठहरा कर तथा पापरहित बताकर यह प्रदर्शित करती है कि इसका स्वभाव 'कृत-कृत्यत्व' का अर्थात् सभी कर्त्तव्यो के कर चुके होने का है। और (इसे मानने पर) यही बात तीन उच्च वर्णों के विषय मे भी घटित होगी।"

[२४५] कलकत्ता सस्करण मे "न" पाठ है जो शुद्ध नही हो सकता। एडिनबर्ग युनिवर्सिटी लाइब्रेरी की हस्तप्रति मे "नः", हमारा, पाठ है।

गया है।' (मनु २.२९) तब सावित्री (गायत्री, मनु २. ७७) उस बालक की माता बन जाती है और आचार्य उसके पिता हो जाते हैं (मनु २. १७०, २२५)। ३५. जब तक वह वेद से जन्म नहीं लेता वह शूद्र के समकक्ष

रम् यागादौ प्रवर्त्तेत इत्य् आशङ्क्याह "इदम् आर्षम्" इति। अत्र "ये यजामहे" इत्य् अनेन च ये वय स्मो ब्राह्मणाः अन्ये वा ते वयम् यजामहे इति ब्राह्मण्येऽनवधारण दर्शितम्। मन्त्र-लिङ्गम् अपि "य एवास्मि स सन् यजे" इति। तस्माद् आचार एव ब्राह्मण्यनिश्चयहेतुर् वेद-प्रामाण्याद् इत्य् उपसहरति।' "यत वाणी इत्यादि के समान मैथुन भी सभी वर्णा मे एक जैसा ही है, अत जाति का निर्धारण करना कठिन है। और इन शब्दो के अनुसार 'हम यह नही जानते है कि हम ब्राह्मण हैं या अब्राह्मण', वेद ब्राह्मणत्व के विषय मे सन्देह करता है। तब यह प्रश्न कर उठता है कि यदि जाति का निर्धारण नहीं किया जा सकता तो कोई व्यक्ति यज्ञ का अनुष्ठान अपने ब्राह्मण होने के पूर्व-ज्ञान से कैसे करता है? इसका उत्तर यह है कि "यह उक्ति वैदिक है"। यह इन शब्दों "ये यजामहे (हम जो · उच्चारण करते हैं)", से जिसका अर्थ है हम-जो कोई भी हों—ब्राह्मण या अन्य वर्ण—हम यजन करते हैं, से यह प्रदर्शित होता है कि ब्राह्मणत्व अनिश्चित है, और यही इस मन्त्र का भी लक्षण है "या एवास्मि स सन् यजे", "मैं जो कोई भी हूँ मैं यज्ञ करता हूँ"। टीका का निष्कर्ष है: "अतएव वह वेद के प्रामाण्य से सक्षेप मे यह निष्कर्ष निकालता है कि ब्राह्मणत्व के निर्धारण का आधार आचार ही है। प्रोफेसर आफरेख्त ने मुझे यह सकेत दिया है कि 'ये यजामहे' शब्द श० ब्रा० १ ५, २, १६ तथा तैत्ति० स० १ १६, ११, १ मे आते है। तैत्तिरीय स० के अश पर भाष्यकार इन की व्याख्या मे आश्वलायन श्रौतसूत्र १ ५, ४ का निर्देश करता है, जिसमे कहा गया है कि ये दोनो शब्द मिलकर 'आयु' नाम के मन्त्र बनाते है, जो अनुयाज से युक्त सभी याज्याओ के प्रारम्भ मे आता है। इन दो शब्दो का अर्थ भाष्यकार इस. प्रकार करता है, सर्वे "ये" वयं होतारोऽध्वर्युणा "यज" इति प्रेषितास् ते वयम् "यजामहे" याज्याम् पठामह।" "हम सभी होता ऋत्विज जो अध्वर्यु के यज (उच्चारण करो) वचन से आदिष्ट हुए है, यजन करते हैं अर्थात् याज्या का पाठ करते है।" (देखिये हॉग का ऐत० ब्रा० भाग २, पृ० १३३ टि० ११)। प्रो० आफरेख्त का विचार है कि टीकाकार की टिप्पणी के 'य एवास्मि स सन् यजे' शब्द अथर्ववेद ५ ६, १२३, ३ ४ से स्वतन्त्रता पूर्वक ग्रहण किये गये हो सकते हैं। यह पता नहीं चलता कि किस स्रोत से "न चैतद् विद्म." आदि शब्द लिये गये हैं।

होता है (मनु २. १७२)—अतएव, इस विचार विभिन्नता में मनु स्वायम्भुव ने कहा है : "वर्ण (यद्यपि उन्होंने कुछ नहीं किया) सभी आवश्यक कर्म कर चुकेंगे[२४४] यद्यपि व्यवहार के कोई नियत नियमों का पालन नहीं किया जाता है। मैं पहले कह चुका हूँ कि वही ब्राह्मण है जिसमें चरित्र की पवित्रता देखने में आती हो।"

शान्तिपर्व १८८, १ और बाद विभिन्न वर्णों में स्वाभाविक भेद अस्वीकार करने में पिछले अंश की अपेक्षा अधिक स्पष्टवादी है :

भृगुर् उवाच। असृजद् ब्राह्मणान् एवम् पूर्वम् ब्रह्मा प्रजापतीन्। आत्म-तेजोऽभिनिर्वृत्तान् भास्कराग्नि-सम-प्रभान्। ततः सत्यं च धर्मं च तपो ब्रह्म च शाश्वतम्। आचारम् चैव शौचं च स्वर्गाय विदधे प्रभुः। देव-दानव-गन्धर्वा दैत्यासुर-महोरगाः। यक्ष-राक्षस-नागाश् च पिशाचा मनुजास् तथा। ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश् च द्विज-सत्तम। ये चान्ये भूत-संघानां वर्णास् तांस् चापि निर्ममे। ब्राह्मणानां सितो वर्णः क्षत्रियाणां च लोहितः। वैश्यानाम् पीतको वर्णः शूद्रानाम् असितस् तथा। ६. भरद्वाज उवाच। चातुर्वर्ण्यस्य वर्णेन यदि वर्णो विभिद्यते। सर्वेषां खलु वर्णानां दृश्यते वर्ण-संकरः। कामः क्रोधो भयं लोभः शोकश् चिन्ता क्षुधा श्रमः। सर्वेषां नः[२४५] प्रभवति कस्माद् वर्णो विभिद्यते। स्वेद-मूत्र-पुरीषाणि श्लेष्मा, पित्तं स-शोणितम्। तनुः क्षरति सर्वेषां कस्माद् वर्णो विभज्यते। जङ्गमानाम् असंख्येया स्थावराणां च जातयः। तेषां विविधवर्णानां कुतो वर्ण-विनिश्चयः। भृगुर् उवाच। न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वम् ब्राह्मम् इदं जगत्। ब्रह्मणा पूर्व

---

[२४४] टीकाकार 'कृत-कृत्य' की व्याख्या इस प्रकार करते हैं : 'कृत-कृत्याः शूद्र-तुल्या'। तथा च स्मृतिः "न शूद्रे पातकं किञ्चिद् न च संस्कारम् अर्हति।" इति तेषा सस्कारानर्हत्व-निष्पापत्वाभिदानत् कृत-कृत्यत्वम् दर्शयति। तद्वत् त्रैवर्णिका अपि स्युर् इत्य् अर्थः।" "कृत कृत्याः (कृत्य कम को कर के) का अर्थ यह है कि शूद्रो के तुल्य; अतएव स्मृति (जब यह कहती है कि) 'शूद्र मे कोई पाप नही रहता, और न वह सस्कारो के योग्य होता है' (तो) इस प्रकार के सस्कारो के अयोग्य ठहरा कर तथा पापरहित बताकर यह प्रदर्शित करती है कि इसका स्वभाव 'कृत-कृत्यत्व' का अर्थात् सभी कर्त्तव्यो के कर चुके होने का है। और (इसे मानने पर) यही बात तीन उच्च वर्णों के विषय मे भी घटित होगी।"

[२४५] कलकत्ता संस्करण मे "न" पाठ है जो शुद्ध नही हो सकता। एडिनबर्ग युनिवर्सिटी लाइब्रेरी की हस्तप्रति मे "न", हमारा, पाठ है।

सृष्टं हि कर्मभिर् वर्णतां गतम्। ११ काम-भोग-प्रियास् तीक्ष्णाः क्रोधनाः प्रिय-साहसाः। त्यक्त-स्वधर्मा रक्ताङ्गास् ते द्विजाः क्षत्रतां गताः। गोभ्यो वृत्तिं समास्थाय पीताः कृष्य्-उपजीविनः। स्व-धर्मान् नानुतिष्ठन्ति ते द्विजा वैश्यतां गताः। हिंसानृत-प्रिया लुब्धाः सर्वकर्मोपजीविनः। कृष्णाः शौच-परिभ्रष्टास् ते द्विजाः शूद्रतां गताः। इत्य् एतैः कर्मभिर् व्यस्ता द्विजा वर्णान्तरं गताः। धर्मो यज्ञ-क्रिया तेषां नित्यं न प्रतिषिध्यते। इत्य् एते चतुरो वर्णा येषाम् ब्राह्मी सरस्वती। विहिता ब्राह्मणा-पूर्वं लोभात् त्व् अज्ञानतां गताः। १३. ब्राह्मणा ब्रह्म-तन्त्र-स्थास्[१८६] तपस् तेषां न नश्यति। ब्रह्म धारयतां नित्यं व्रतानि नियमांस् तथा। ब्रह्म चैव परं सृष्टं ये न जानन्ति तेऽद्विजाः। तेषाम् बहुविधास् त्व् अन्यास् तत्र तत्र हि जातयः। पिशाचा राक्षसाः प्रेता विविधा म्लेच्छ-जातयः। प्रणष्ट-ज्ञान-विज्ञानाः स्वच्छन्दाचार-चेष्टिताः। प्रजा ब्राह्मण-संस्काराः स्व-कर्म-कृत-निश्चयाः। ऋषिभिः स्वेन तपसा सृज्यन्ते चापरे-परैः। आदि-देव-समुद्भूता ब्रह्ममूलाऽक्षयाऽव्यया। सा सृष्टिर् मानसी-नाम धर्म-तन्त्र-परायणा। १८९, १. भरद्वाज उवाच। ब्राह्मणः केन भवति क्षत्रियो वा द्विजोत्तम। वैश्यः शूद्रश् च विप्रर्षे तद् ब्रूहि वदतां वर। भृगुर् उवाच। जात-कर्मादिभिर् यस् तु संस्कारैः संस्कृतः शुचिः। वेदाध्ययन-सम्पन्नः षट्सु कर्मस्व् अवस्थितः। शौचाचार-स्थितः सम्यग् विघसाशी गुरु-प्रियः। नित्य-व्रती सत्यपरः स वै ब्राह्मण उच्यते। सत्यं दानम् अथाद्रोह आनृशंस्यं त्रपा घृणा। तपश् च दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृतः। क्षत्र-जं सेवते कर्म वेदाध्ययन-सङ्गतः। दानादान-रतिर् यस् तु स वै क्षत्रिय उच्यते। ७. विशत्य् आशु पशुभ्यश् च कृष्य्-आदान-रतिः शुचिः। वेदाध्ययनसम्पन्नः स वैश्यः इति संज्ञितः। सर्व-भक्ष्य-रतिर् नित्यं सर्व-कर्म-करोऽशुचिः। त्यक्त-वेदस् त्व् अनाचारः स वै शूद्र इति स्मृतः। शूद्रे चैतद् भवेल् लक्ष्यं द्विजे तच् च न विद्यते। न वै शूद्रो भवेच् छूद्रो ब्राह्मणो ब्राह्मणो न च।

भृगु ने उत्तर दिया। १८८, १. इस प्रकार ब्रह्मा ने अपने तेज से युक्त तथा सूर्य एवं अग्नि के समान प्रभावाले ब्राह्मण[१८७] प्रजापतियों को उत्पन्न किया। तब भगवान् ने सत्य, धर्म, तप, शाश्वत वेद (या पवित्रशास्त्र),

---

[१८६] ब्रह्म-तन्त्रम् = वेदोक्तानुष्ठानम्। टीका।

[१८७] "ब्राह्मणान्" शब्द का प्रयोग किया गया है। यहाँ इसका अर्थ हो सकता है 'ब्रह्मा के पुत्र'।

आचार, तथा पवित्रता की, स्वर्ग की प्राप्ति के लिए रचना की। उन्होंने देवताओं, दानवों, गन्धर्वों, दैत्यों, असुरों, महोरगों, यक्षों, राक्षसों, नागों, पिशाचों तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र एवं सभी अन्य वर्णों वाले (वर्णाः) मनुष्यों की सृष्टि की। ब्राह्मण का वर्ण श्वेत था, क्षत्रिय का लाल, वैश्य का पीला तथा शूद्र का कृष्ण था।'[२४८] ६. भरद्वाज यहाँ प्रश्न करते है: 'यदि चारों वर्णों का भेद रंग (वर्ण) के आधार पर किया जाता है, तो सभी वर्णों का वर्णसंकर भी दिखाई पडता है। काम, क्रोध, भय, लोभ, शोक, चिन्ता, क्षुधा और श्रम ये हम सभी को होते हैं, तो फिर किस आधार पर वर्णों का भेद किया जाता है। स्वेद, मूत्र, मल, श्लेष्मा, पित्त और रुधिर (सभी में होते हैं); सभी के शरीर क्षीण होते है, तो फिर किस आधार पर वर्णों का भेद किया जाता है? जङ्गम तथा स्थावर वस्तुएँ असंख्य हैं। इन विविध वस्तुओं के वर्णों का निश्चय किस प्रकार किया जा सकता है?' भृगु उत्तर देते हैं: 'वर्णों का कोई भेद नहीं है।[२४९] इस सम्पूर्ण संसार को

---

[२४८] जैसा प्रोफेसर वेबर ने अपनी वज्रसूची के अनुवाद के पृ० २१५ की एक टिप्पणी मे कहा है, यह कुछ विलक्षण बात है कि काठक ब्राह्मण के अश मे, जिसका उन्होंने उस स्थान पर उद्धरण दिया है, वैश्य का रग श्वेत तथा राजन्य का कृष्ण बताया गया है। वे शब्द इस प्रकार है: "यच् छुक्लानाम् (व्रीहीणाम्) आदितेभ्यो निर्वपति तस्माच् छुक्ल इव वैश्यो जायते। यत् कृष्णा नाम् वारुणाम् तस्माद् धूम्र इव राजन्य·।" "यतः वैश्य श्वेत रग के (चावल की) चरु आदित्य को देता है, अत· वह श्वेत वर्ण का उत्पन्न होता है, और वरुण का पुरोडाश काले (व्रीहि) का होता है अत. राजन्य धूम्र वर्ण का होता है।"

[२४९] इसके साथ शान्तिपर्व ७४,११ आदि मे उक्त राजा मुचुकुन्द के वचनो की तुलना कीजिए। मुचुकुन्द की वरुण देवता ने विजय के लिए अपनी शक्ति पर आश्रित न रहकर अपने पुरोहित की सहायता पर अवलम्बित होने की भर्त्सना की थी। "मुचुकुन्दस् ततः क्रुद्ध प्रत्युवाच धनेश्वरम्। न्याय-पूर्वम् असरब्धम् असभ्रान्तम् इदं वचः। ब्रह्म क्षत्रम् इदं सृष्टम् एक-योनि स्वयम्भुवा। पृथग्-बल-विधान तन्न लोक परिपालयेत्। तपो-मन्त्र-बलम् नित्यम् ब्राह्मणेपु प्रतिष्ठितम्। अस्त्र-बाहु-बलम् नित्यं क्षत्रियेपु प्रतिष्ठितम्। ताभ्या सम्भूय कर्त्तव्यम् प्रजानाम् परिपालनम्।" "तब क्रुद्ध होकर मुचुकुन्द ने धनपति कुबेर से ये युक्तियुक्त वचन कहे, जो उनके क्रोध या उत्तेजना से युक्त नही थे: 'ब्रह्मा ने ब्राह्मण और क्षत्रियो को एक ही योनि (या स्रोत) से उत्पन्न किया और उनके पृथक् बल का विधान किया यह (इन पृथक् शक्तियो मे से कोई एक) लोक की

ब्रह्मा ने ब्राह्म निर्मित किया।[२५०] पुनः कर्मों के अनुसार यह वर्णों में विभक्त हो गया। ११. जो ब्राह्मण (द्विज) भोगविलास में रुचि रखते थे, उग्र, क्रोधी तथा हिंसक स्वभाव वाले थे, जिन्होंने अपना धर्म छोड़ दिया था और रक्ताङ्ग थे वे क्षत्रिय हो गये। जो ब्राह्मण गौओं से वृत्ति चलाते थे, पीतवर्ण कृषि से जीविकोपार्जन करते थे और जिन्होंने अपने धर्म का आचरण करना छोड़ दिया था उन्होंने वैश्य की दशा प्राप्त की। जो ब्राह्मण दुष्कर्मी, असत्यवादी और लोभी थे, सभी प्रकार के कर्मों से जीविका चलाते थे, कृष्णवर्ण के थे तथा पवित्रता से च्युत थे वे शूद्र की दशा में पहुँचे। इन कर्मों से एक दूसरे से पृथक् होकर ब्राह्मण अनेक वर्णों में विभक्त हो गये। धर्म और यज्ञ की क्रिया इनमें से किसी के लिये सदैव निषिद्ध नहीं थी। इन चार वर्णों के लिए सर्वप्रथम ब्रह्मा ने ब्राह्मी[२५१] सरस्वती की रचना की

रक्षा नहीं कर सकता। तप और मन्त्र का बल नित्य ब्राह्मण मे प्रतिष्ठित होता है और अस्त्र तथा बाहु का बल सदैव क्षत्रिय मे होता है, इन दोनो शक्तियो को मिला कर ही प्रजा का पालन करना चाहिए।"

[२५०] 'ब्राह्मम्' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसे "ब्राह्मणीय" अर्थ मे समझना चाहिए यह बात आगे वाली पक्तियो से स्पष्ट होती है, जिनमे 'द्विजा.' शब्द को ब्राह्मण के विशिष्ट अर्थ मे लेना होगा, "द्विविध-जन्म वाले मनुष्यो' के सामान्य अर्थ मे नहीं (जो ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्य मे कोई भी हो सकता है)। ब्राह्मण की रचना ब्रह्मा के तत्व से हुई मानी जाती है, और वे सृष्टि के आरम्भ मे विद्यमान मूल मनुष्य जाति का प्रतिनिधित्व करते है। टीकाकार ब्राह्मम् शब्द का अर्थ 'ब्राह्मण-जातिमत्' अर्थात् ब्राह्मण की जाति वाला करता है, और वह इसमे उल्लिखित, विभिन्न रगो की व्याख्या इस प्रकार करता है : लाल (रक्त) का अर्थ है "रजस् गुण से निर्मित" (रजो-गुण-मय), पीले (पीत) का "रजोगुण तथा तमोगुण से निर्मित (रजस् तमो, मय), तथा काले (कृष्ण या असित) का 'मात्र तमोगुण से निर्मित" (केवल-तमोमय) अर्थ है।

[२५१] 'ब्राह्मी'। इस शब्द की व्याख्या टीकाकार ने इस प्रकार की है : 'वेद-मयी। चतुर्णाम् अपि वर्णनास् ब्रह्मणा पूर्वम् विहिता। लोभ-दोषेन तु अज्ञानता तमोभाव गता. शूद्रा. अनधिकारिणो वेदे जाताः।' "वेदमयी सरस्वती की पूर्व-काल मे ब्रह्मा ने सभी वर्णों के लिए रचना की किन्तु लोभ के कारण अज्ञान के गर्त मे गिरकर तथा तमोभाव को प्राप्त कर शूद्र ने अपना वेद का अधिकार खो दिया।" देखिये इण्ड० स्ट० भाग २, पृ० १९४ टि०, जहां प्रोफेसर वेबर इस अश से यह निष्कर्ष निकालते हैं कि प्राचीनकाल मे शूद्र आर्यों की सस्कृत भाषा का व्यवहार करते थे।

किन्तु वे लोभवश अज्ञान के गर्त में गिर पड़े। १६. ब्राह्मण वेद के आदेशों के अनुकूल आचरण करते हैं। जब वे वेद में निष्ठा रखते है, तथा सस्कार एवं यज्ञ-व्रतों का पालन करते है तो उनकी तपस्या नष्ट नहीं होती। ब्रह्म अर्थात् पवित्रशास्त्र ही सृष्टि की वस्तुओं मे परम है। जो इसे नहीं जानते वे द्विज नहीं हैं। इनके विभिन्न स्थानों में अनेक दूसरे वर्ग भी है। ये है पिशाच, राक्षस, प्रेत, म्लेच्छों की अनेक जातियाँ, जिनके सभी प्रकार के पवित्र और लौकिक ज्ञान नष्ट हो गये है और वे अपनी इच्छानुसार कर्म करते है। विभिन्न ऋषियों ने भी अपनी तपस्या के प्रभाव से ब्राह्मण के संस्कारों से युक्त एवं अपने धर्म में परायण अनेक प्रकार के प्राणियों की सृष्टि की है। यह सृष्टि आदि देव से उत्पन्न हुई, इसका मूल ब्रह्म है, यह अक्षय और अव्यय है, इसे मानस सृष्टि कहते है और यह धर्म के विधानों में परायण है।' १८२, १. भरद्वाज पुनः प्रश्न करते हैं : 'वह कौन सी वस्तु है जिसके कारण एक मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र होता है? हे श्रेष्ठ वक्ता ब्रह्मर्षि, कृपया आप मुझे बताइए।' भृगु उत्तर देते हैं : 'जो व्यक्ति पवित्र है, जातकर्म आदि संस्कारों से शुद्ध है, वेद का अध्ययन करने वाला है, छः कर्मों मे स्थित रहता है, जो सम्यक् रूप से शौच के कर्मों का आचरण करता है, बलि के अवशिष्ट अंश का भक्षण करता है, अपने गुरु की सेवा मे रत रहता है, नित्य व्रतों का पालन करता है तथा सत्यपरायण होता है वही ब्राह्मण कहलाता है। ३. जिस व्यक्ति में सत्य, दान, अद्रोह, अहिंसा, सरलता तथा तप देखे जाते है उसे ही ब्राह्मण कहा जाता है। जो व्यक्ति राजा के स्थान से उद्भूत कर्मों का आचरण करता है, वेद के अध्ययन में रत रहता है और जो दान देने और ग्रहण करने मे[२५२] आनन्दित होता है—वह क्षत्रिय होता है। ५. जो शीघ्र पशुओं के साथ निवास बना लेता है, कृषि तथा धनोपार्जन में रत रहता है, पवित्र होता है, और वेद के अध्ययन में लीन रहता है उसे ही वैश्य नाम दिया जाता है।[२५३] जो स्वभावतः सभी प्रकार के भोजन करता है, सभी प्रकार के कर्म करता है, अशुद्ध होता है, वेद का परित्याग कर चुका होता है, तथा अनाचारी होता

[२५२] 'दानम् विप्रेभ्यः। आदानम् प्रजाभ्य'' "ब्राह्मण को दान तथा प्रजाओ से कर ग्रहण"—टीका०

[२५३] पशून् वाणिज्याय उपयोगिन उपलभ्वा विशति प्रतिष्ठाम् लभते। "जो पशुओ को वाणिज्य के लिये उपयोगी देखकर प्रवेश करता है और अपने कर्मों का) आधार प्राप्त करता है।"—टीका०। जैसा हम ऊपर पृ० ६७ पर देख चुके है, ये व्युत्पत्तियां प्रायः अलकृत और असगत ही हैं।

है, ऐसा व्यक्ति शूद्र कहा गया है और यह (जिसका मैंने वर्णन किया है वह) शूद्र का लक्षण है, और यह ब्राह्मण में नहीं पाया जाता : (इस प्रकार का) शूद्र सदैव शूद्र ही रहेगा, जबकि (इस प्रकार कर्म करनेवाला) ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं रह जायगा।"[२५४]

आगे उद्धृत किया जाने वाला अंश, निश्चय ही कृतयुग में वर्णों की स्थिति को स्वीकार करता है, किन्तु वर्णों के सभी सदस्यों को अपने स्वभाव एवं अवस्था में पूर्ण और किसी भी आवश्यक दृष्टि से एक दूसरे से अभिन्न वर्णित करता है।

वनपर्व में यह कहा गया है कि पाण्डवों में अन्यतम भीमसेन ने अपने भ्राता[२५५] वानरराज हनुमान से संलाप करते हुए युगों एवं उनके लक्षणों के विषय में जिज्ञासा व्यक्त की। हनुमान का उत्तर ३.१४९, ११, और आगे के श्लोकों में दिया गया है :

कृतं नाम युगं तात यत्र धर्मः सनातनः। कृतम् एव न कर्त्तव्यं तस्मिन् काले युगोत्तमे। न तत्र धर्माः सीदन्ति क्षीयन्ते न च वै प्रजाः। ततः कृत-युगम् नाम कालेन गुणतां गतम्। देव-दानव-गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-पन्नगाः। नासन् कृत-युगे तात तदा न क्रय-विक्रयः।[२५६] न साम-ऋग्-यजुर्-वर्णाः[२५७] क्रिया नासीच् च मानवी। अभिध्याय फलं तत्र धर्मः सन्न्यास एव च। न तस्मिन् युग-संसर्गे व्याधयो नेन्द्रिय-क्षयः।

---

[२५४] इस श्लोक पर टीकाकार इस प्रकार टिप्पणी करता है 'एतत् सत्यादिसप्तकम् द्विजे त्रैवर्णिके। धर्म एव वर्ण-विभागे कारण न जातिर् इत्य् अर्थः।' "सत्य इत्यादि। (श्लोक १८९,१ में उल्लिखित) सात गुण प्रथम तीन वर्णों के द्विजों में होते हैं। इसका अर्थ यह है कि वर्णों के विभाजन का कारण धर्म है, जन्म नहीं।" यह व्याख्या पर्याप्त स्पष्ट नहीं है। किन्तु इसका तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि उल्लिखित सात गुण तीन श्रेष्ठ वर्णों के विशेष धर्म हैं जब कि श्लोक १८९,५ में वर्णित दोष शूद्रों के चिह्न हैं। इस प्रकार चार दोषों से युक्त शूद्र ही रहेगा किन्तु जिस ब्राह्मण में वे दोष होंगे वह ब्राह्मण नहीं रह जायगा।

[२५५] दोनों ही वायु के पुत्र थे। देखिये उसी अध्याय के श्लोक १४७,३ तथा १० तथा आगे। रामायण का उल्लेख श्लोक १४७,११ में किया गया है।

[२५६] एडिनबर्ग युनिवर्सिटी लाइब्रेरी की हस्तप्रति में अन्तिम पाद का पाठ इस प्रकार है 'दानाध्ययन-विभ्रमा।'

[२५७] एडिनबर्ग हस्तप्रति में 'वर्णाः' के स्थान पर 'वेदाः' पाठ है।

नासूया नापि रुदितप न दर्पो नापि वैकृतं[२५८]। न विग्रहः[२५९] कुतस् तन्द्री न द्वेषो न च पैशुनम्। १६. न भयं नापि सन्तापो न चेर्ष्या न च मत्सरः। ततः परमकम् ब्रह्म सा गति योगिनाम् परा। आत्मा च सर्व-भूतानां शुक्लो नारायणस् तदा। ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्याः शूद्राश्च कृत-लक्षणाः। कृते युगे समभवन् स्व-कर्म-निरताः प्रजाः। समाश्रयं समा-चार सम-ज्ञानं च केवलम्। तदा हि सामकर्माणो वर्णा धर्मान् अवा-प्नुवन्। एक-देव-सदा-युक्ताः एक-मन्त्र-विधि-क्रियाः। पृथग्धर्मास् त्व् एक-वेदा धर्मम् एकम् अनुव्रताः। चातुरश्रम्य-युक्तेन कर्मणा काल-योगिना। २१. अकाम-फल-संयोगात् प्राप्नुवन्ति परम् गतिम्। आत्म-योग-समायुक्तो धर्मोऽयं कृत-लक्षणः। कृते युगे चतुष्पादश् चातुर्वर्ण्यस्य शाश्वतः। एतत् कृतयुगं नाम त्रैगुण्य-परिवर्जितम्। त्रेताम् अपि निबोध त्वं तस्मिन् सत्रम् प्रवर्त्तते। पादेन ह्रसते धर्मो रक्तताम् याति चाच्युतः सत्या प्रवृत्ताश् च नराः क्रिया-धर्म-परायणाः ततो यज्ञाः प्रवर्त्तन्ते धर्माश्च विविधाक्रियाः। त्रेतायाम् भाव-सकल्पाः क्रिया-दान-फलोपगाः। प्रचलन्ति न वै धर्मात् तपो-दान-परायणाः। २६. स्व-धर्म-स्थाः क्रियावन्तो नरास् त्रेता-युगेऽभवन्। द्वापरे तु युगे धर्मो द्विभागोनः प्रवर्त्तते। विष्णुर् वै पीततां याति चतुर्धा वेद एव च। ततोऽन्ये च चतुर्-वेदास् त्रिवेदाश् च तथा परे। द्वि-वेदाश् चैक-वेदाश् चाप्य् अनृचश् च तथा परे। एव शास्त्रेषु भिन्नेषु बहुधा नीयते क्रिया। तपो-दान-प्रवृत्ता च राजसी भवति प्रजा। क-वेदस्य चाज्ञानाद् वेदास् ते वहवः कृताः। सत्त्वस्य चेह विभ्रंशात् सत्ये[२६०] कश्चिद् अवस्थितः। सत्त्वात् प्रच्यवमानानां व्याधयो वहवोऽभवन्। ३१. कामश् चोप-द्रवाश्चैव तदा वै दैव-कारिताः। यैर् अर्द्यमाना सुभृशम् तपस् तप्यन्ति मानवाः। काम-कामाः स्वर्ग-कामा यज्ञांस् तन्वन्ति चापरे। एवं द्वापरम् आसाद्य प्रजाः क्षीयन्त्य् अधर्मतः। पादेनैकेन कौन्तेय, धर्मः कलि-युगे स्थितः। तामसं युगम् आसाद्य कृष्णो भवति केशवः। वेदाचाराः प्रशाम्यन्ति धर्मयज्ञ-क्रियास् तथा। ईतयो व्याधयस् तन्द्री दोषाः क्रोधादयास् तथा। उपद्रवाश् च वर्त्तन्ते आधयः क्षुद् भयम् तथा। युगेष्व् आवर्त्तमानेषु धर्मो व्यावर्त्तते पुनः। धर्मे व्यावर्त्तमाने तु लोको व्यावर्त्तते पुनः। लोके क्षीणे क्षयं यान्ति भावा लोक-प्रवर्त्तकाः। युग-

[२५८] 'कपटम्'—टीका०,

[२५९] 'वैरम्'—टीका०,

[२६०] एडिनवर्ग हस्तप्रति मे 'सत्ये' के स्थान पर 'सत्त्वे' पाठ है।

क्रय-कृता धर्माः प्रार्थनानि विकुर्वते। एतत् कलियुगं नाम अचिराद् यत् प्रवर्त्तते। युगानुवर्त्तनं त्व् कुर्वन्ति चिरजीविनः।

३. १४९, ११. 'कृत नाम का युग वह होता है जिसमें धर्म सनातन होता है। सभी युगों में उत्तम इस युग में सभी कर्म किये हुए (कृत) थे और कुछ भी करने को शेष नहीं था। न तो धर्म का ह्रास होता था और न मनुष्यों का क्षय। कालान्तर में, समय के (प्रभाव द्वारा) यह युग अष्टता की दशा में पहुँच गया।[261] उस युग में देवता[262], दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस या पन्नग कोई नहीं थे, क्रय-विक्रय नहीं होता था, वेदों का सामन्, ऋच् तथा यजुष में विभाजन नहीं हुआ था।[263] मनुष्य कोई श्रम नहीं करते थे[264] पृथ्वी के फल इच्छामात्र से ही उन्हें प्राप्त हो जाते थे; धर्म तथा सन्यास का सर्वत्र (आधिपत्य था)। आयु के प्रभाव से कोई रोग नहीं होता था और न इन्द्रियों में विकार आता

---

[261] इस प्रकार अनुवाद करने में मैंने टीकाकार का अनुसरण किया है, जिन की टीका यह है 'मुख्यम् अप्य् अमुख्यताम् गतम्।' "यद्यपि वह मुख्य था, तथापि निकृष्ट हो गया।" बाटलिंक और रॉथ के लेक्सिकन में इस पंक्ति का उद्धरण 'गुणता' शब्द के अन्तर्गत दिया गया है जिनका अर्थ 'श्रेष्ठता' तथा 'उत्तमता' दिया गया है।

[262] इसके साथ ऊपर पृ० १०३ पर उद्धृत वायु पुराण के श्लोकों की तुलना कीजिए, जिनका कथन है कि कलियुग में न तो वनस्पतियाँ थीं और न पशु, जो कि अधर्म से उत्पन्न होते हैं।

[263] मैं इसका यह अनुवाद करने का साहस नहीं करता कि "उस समय वेद या सामन्, ऋच तथा यजुष में कोई विभाजन नहीं था और न वर्ण थे।" क्योंकि १ एडिनबर्ग हस्तप्रति में 'वर्णा' के स्थान पर 'वेदा' पाठ है; और टीकाकार 'वर्णाः' शब्द का उल्लेख नहीं करता, तथा २ आगे (श्लोक २१-२४२ आदि) में वर्णों की स्थिति का उल्लेख किया गया है, यद्यपि उनमें स्वभाव का अधिक भेद नहीं था। टीकाकार इस प्रकार अर्थ करता है: 'त्रयीधर्मस्य चित्त-शुद्ध्य-अर्थत्वात् तस्याश् च तदानीं स्वभावत्वात् न सामादीन्य् आसन्।' "वेद धर्मों का लक्ष्य चित्त की शुद्धि है और चित्त-शुद्धि उस युग में स्वभावतः विद्यमान थी अतः सामन् आदि के विभाजन नहीं थे।

[264] मैंने टीकाकार का अनुसरण किया है, जिसकी टीका है "मानवी क्रिया' इत्युक्तम् आरम्भ-कृत। किन्तु "अभिध्याय फलम्" सकलपाद् एव सर्वम्. समाप्ते।

था। असूया, रुदन, दर्प, छल, विग्रह, कुछ भी नहीं था और फिर तन्द्रा उस समय कहाँ से हो सकती थी? न द्वेष था, न निर्दयता थी, भय, सन्ताप, ईर्ष्या और मत्सर का अभाव था। अतएव परम ब्रह्म ही योगियों के श्रेष्ठ आश्रय-स्थान थे। तब सभी प्राणियों के आत्मा नारायण शुक्ल वर्ण के थे।[२६५] ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र कृत के लक्षणों से युक्त थे।[२६६] उस युग में प्राणी स्वधर्मपरायण उत्पन्न होते थे। वे सभी समान आश्रय वाले, समान आचार और समान ज्ञान वाले थे। उस युग में समानकर्म वाले वर्ण अपने धर्म का पालन करते थे और निरन्तर एक देवता की भक्ति में लीन रहते थे, एक मन्त्र का प्रयोग करते थे, एक ही नियम का पालन करते थे और एक ही क्रियाएँ करते। यद्यपि उनके धर्म पृथक्-पृथक् थे, तथापि उनका वेद एक था, वे एक ही व्रत का पालन करते थे।[२६७] चारों आश्रमों के कर्मों द्वारा, तथा काल-योग पर आश्रित होकर,[२६८] २१. किन्तु निष्काम होकर या फल की कामना न करते हुए उन्होंने परम गति प्राप्त की। कृत युग में चारों वर्णों का यह पूर्ण एवं शाश्वत धर्म युग के लक्षणों से युक्त था और परमात्मा के साथ योग-प्राप्ति में प्रवृत्त था। कृतयुग तीनों गुणों से मुक्त था[२६९]। अब उस त्रेता के विषय में समझो जिस से यज्ञ का प्रारम्भ

---

[२६५] उसी वनपर्व १९०, ३२ मे भगवान् अपने विषय मे कहते हैं : 'श्वेत कृतयुगे वर्णः पीतस् त्रेतायुगे मम। रक्तो द्वापरम् आसाद्य कृष्ण कलि-युगे तथा।' "कृत युग मे मेरा रग श्वेत होता है, त्रेता मे पीला तथा जब मैं द्वापर मे प्रवेश करता हूँ तो मेरा रग लाल होता है और कलियुग मे कृष्ण।"

[२६६] टीकाकार की टीका इस प्रकार है - 'कृतानि स्वत सिद्धानि लक्षणानि शमो दमस् तप इत्य्-आदीनि येषा ते।' "वे इस प्रकार के मनुष्य थे जिनके शम आदि लक्षण स्वत ही सिद्ध हो जाते थे।" श्लोक १४९,२२ पर उसी 'कृत-लक्षण' शब्द की व्याख्या वह 'कृत-युग-सूचक' अर्थात् "कृत युग का द्योतन" करता है।

[२६७] इस पंक्ति के विभिन्न उपवाक्यो की संगति तभी बैठ सकती है, जब हम यह मान ले कि धर्म का सामान्य सिद्धान्त तथा कर्त्तव्यो का विस्तार पृथक् वस्तुएँ है। धर्म शब्द इस श्लोक के दोनो भागो मे कर्त्तव्य के लिये प्रयुक्त है।

[२६८] 'कालयोगिना।' टीकाकार व्याख्या करता है: 'कालो दर्शादि। तद्युक्तेन।' समय से युक्त अर्थात् प्रतिपद् चन्द्र के उदय आदि।

[२६९] तथापि वायु पु० मे कहा गया है कि स्वय सृष्टि रजोगुण के प्रभाव से उत्पन्न हुई (देखिए ऊपर पृ० ८७) तथा प्रारम्भ मे जब चारो वर्णों की रचना हुई तो वे तीनो गुणो से विभिन्न रूपो मे युक्त थे, पृ० ७२ तथा ९४।

हुआ[२७०], धर्म के एक पाद का ह्रास हो गया, विष्णु रक्तवर्ण के हो गये। मनुष्य सत्यव्रत तथा क्रियाओं पर आश्रित धर्म में परायण हुए। तब अनेक धर्मों एवं क्रियाओं के साथ यज्ञों का प्रवर्तन हुआ। त्रेता में मनुष्य संकल्प के साथ कर्म करते थे, अपने कर्मों तथा दानों के लिए फल की अभिलाषा रखते थे, और वे अब तप एवं (मात्र धर्म के विचार से) दान देने से पराङ्मुख हो गये। २६. इस युग में वे स्वधर्मपरायण तथा धार्मिक क्रियाओं में रत थे। द्वापर युग में धर्म के दो पादों का ह्रास हो गया, विष्णु पीतवर्ण के हो गये और वेदों की संख्या चार हो गयी। कुछ लोग चारों वेदों का अध्ययन करते थे, कुछ तीन का, कुछ दो का और कुछ एक का अध्ययन करते थे, कुछ व्यक्ति किसी भी वेद का अध्ययन नहीं करते थे।[२७१] इस प्रकार शास्त्रों का विविध विभाजन होने पर क्रियाओं का भी अनुष्ठान अनेक प्रकार से होने लगा, और तपस्या तथा दान में रत होकर मनुष्य रजोगुण से पूर्ण (राजसी) हो गये। एक वेद के अज्ञान के कारण वेदों की संख्या मे वृद्धि हुई। और सत्व के चय हो जाने से कोई-कोई ही सत्य परायण बने रहे। जब मनुष्य सत्य से च्युत हो गये तो दैव से उत्पन्न किये गये अनेक रोग (३१.), इच्छा एवं विपत्तियों ने उन्हें व्याकुल कर दिया, उससे वे अत्यधिक पीड़ित हुए और तप मे प्रवृत्त हुए। कुछ लोगों ने सुख एवं स्वर्गीय आनन्द की इच्छा से यज्ञ किये। इस प्रकार जब मनुष्य द्वापर मे आये तो वे अधर्म के कारण भ्रष्ट हो गये, कलियुग में धर्म का केवल एक पाद शेष बच रहा। इस तमोमय युग में पहुँचकर विष्णु कृष्णवर्ण के हो गये, वेद विहित क्रियाएँ, धर्म के कर्म, यज्ञ की विधियाँ समाप्त हो गईं। विपत्तियाँ, व्याधियाँ, तन्द्रा, दोष, क्रोध इत्यादि, उपद्रव, चिन्तायें, क्षुधा और भय का आधिपत्य हो गया। जैसे-जैसे युग बीतता है धर्म भ्रष्ट होता जाता है। जब ऐसा होता है तो मनुष्य भी भ्रष्ट होते जाते हैं। उनके क्षीण होने

[२७०] शान्तिपर्व ३०४,८२ की तुलना कीजिए : 'इदम् कृत-युग नाम कालः श्रेष्ठ प्रवर्त्तित'। अहिंस्या यज्ञ पशवो युगेऽस्मिन् न तद् अन्यथा। चतुष्पात् सकलो धर्मो भविष्यत्य् अत्र वै सुराः। ततस् त्रेता-युग नाम त्रयी यत्र भविष्यति। प्रोक्षिता यत्र पशवो वधम् प्राप्स्यन्ति वै मखे।' "कृत युग सभी युगो मे उत्तम है, इस युग मे बलिपशुओ का वध नही होता, पूर्ण तथा अखण्ड धर्म का राज्य होगा। इसके बाद त्रेता है, जिसमे वेद तीन होगे और यज्ञो मे पशुओ की बलि होगी।" देखिए पृ० ४६ पर टि० ६५।

[२७१] टीकाकार 'अनृचस्' (ऋग्वेद के बिना) का अर्थ 'कृतकृत्या.' करता है। दूसरे शब्द के अर्थ के लिए ऊपर देखिए।

पर उन्हें प्रवृत्त करने वाले भाव भी क्षीण होते हैं। इस युग के क्षय से उत्पन्न हुए धर्म मनुष्यों की लक्ष्य प्राप्ति में निराशा उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार का यह कलियुग है, जो अल्प समय से आ रहा है। जो चिरजीवी हैं वे युग के अनुसार कर्म करते हैं।

इसी पर्व (वनपर्व) से उद्धृत अगला अंश युगों का कोई उल्लेख नहीं करता, किन्तु मानव जाति की आदि पूर्णता का चित्रण कुछ वैशिष्ट्य के साथ करता है और तब उनके ह्रास का वर्णन करता है। वक्ता मार्कण्डेय हैं।

१८३, ६३. निर्मलानि शरीराणि विशुद्धानि शरीरिणाम्। ससर्ज धर्म-तन्त्राणि पूर्वोत्पन्न. प्रजापतिः। अमोघ-फल-संकल्पाः सुव्रताः सत्यवादिनः। ब्रह्म-भूता नराः पुण्याः पुराणाः कुरु-सत्तम। सर्वे देवैः समाः यान्ति स्वच्छन्देन नभस्-तलम्। ततश च पुनर् आयान्ति सर्वे स्वच्छन्द-चारिणः। स्वच्छन्द-मरणाश् चासन् नराः स्वच्छन्द-चारिणः। अल्प-बाधा निरातङ्काः सिद्धार्था निरुपद्रवाः। द्रष्टारो देव-सङ्घानाम् ऋषीणां च महात्मनाम्। प्रत्यक्षाः सर्वधर्माणाम् दान्ता विगत-मत्सराः। आसन् वर्ष-सहस्रीयास् तथा पुत्र-सहस्रिणः। ६८. ततः कालान्तरेऽन्यस्मिन् पृथिवी-तल-चारिणः। कामक्रोधाधिभूतास् ते माया-व्याजोपजीविन'। लोभ-मोहाभिभूतास् ते सक्तादेहैस् ततो नराः अशुभिः कर्मभिः पापास् तिर्यङ् निरयगामिनः।

"प्रथमोत्पन्न प्रजापति ने शरीरधारियों के शरीरों को निर्मल, दोषरहित तथा धर्मपरायण बनाया। पूर्वकाल के धर्मात्मा मनुष्य अपने कर्मों की फलप्राप्ति में असफल नहीं होते थे, वे धर्मपरायण, सत्यभाषी और ब्रह्म के अंश से युक्त थे। वे सभी देवताओं के समान थे, वे आकाश में इच्छानुसार विचरण करते थे, और पुनः पृथ्वी पर लौट आते थे। वे अपनी इच्छा से ही मृत्यु प्राप्त करते थे, उन्हे कोई बाधा नही थी, वे रोगों से मुक्त थे, सभी इच्छाओं की सिद्धि से युक्त थे, और उन्हें कोई पीडा नही थी। वे आत्मसंयमी, ईर्ष्यारहित, थे, वे देवताओं[२७२] एवं महर्षियों का दर्शन करते थे और सभी

[२७१] ब्रह्मसूत्र १ ३, ३२ पर शाङ्करभाष्य का अश देखिए जो इस कृति के तीसरे भाग मे उद्धृत है, तथा पृ० ३६ पर टि० ४९ देखे, तथा देखिए शतपथ ब्राह्मण २ ३, ४, ४ ' 'उभये ह वै इदम् अग्रे सह आसुर् देवाश् च मनुष्याश् च। तद् यद् ह स्म मनुष्याणा न भवति तद् ह देवान् याचन्ते "इद वै नो नास्ति इद नो ऽस्तव्" इति। ते तस्यै एव याचन्यायै द्वेपेण देवास् तिरोभूता

प्रिय-दर्शिनः । प्रजायन्ते च जाताश् च मुनयो वै तपोधनाः । महोत्साहाः महात्मानो धर्मिकाः सत्यवादिनः । प्रियदर्शना वपुष्मतो महावीर्या धनुर्धराः । वरार्हा युधि जायन्ते क्षत्रियाः शूद्र-सत्तमाः । त्रेतायां क्षत्रिया राजन् सर्वे वै चक्र वर्त्तिनः । 'आयुष्मन्तो महावीरा धनुर्धर-वरा युधि । जायन्ते क्षत्रिया वीरास् त्रेतायां वश-वर्त्तिनः । सर्वे वर्णा महाराज जायन्ते द्वापरे सति । महोत्साहा वीर्यवन्तः परस्पर-जयैषिणः । तेजसाऽल्पेन संयुक्ताः क्रोधनाः पुरुषा नृप । लुब्धा अनृतकाश् चैव तिष्ये जायन्ति भारत । ईर्षा मानस् तथा क्रोधो मायाऽसूया तथैव च । तिष्ये भवति भूतानां रागो लोभश् च भारत । सङ्क्षेपो वर्त्-राजन् द्वापरेऽस्मिन् नराधिप ।

"१०,५. जीवन की अवधि कृतयुग में चार सहस्र वर्ष,[२७४] त्रेता में तीन सहस्र वर्ष, तथा वर्तमान काल में पृथ्वी पर स्थित द्वापर युग में दो सहस्र वर्ष बताई गई है। तिष्य (कलि) युग में कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। गर्भ में स्थित भ्रूण की मृत्यु हो जाती है, और बालक जन्म के उपरान्त भी मर जाते है। महान् शक्तिशाली, सत्वगुण-सम्पन्न, बुद्धिमान और गुणी व्यक्ति उत्पन्न हुए थे और वह भी सैकड़ों और सहस्रों की संख्या में। कृत युग में मनुष्य धनी और सुन्दर होते थे और मुनि तपस्वी होते थे। महान् उत्साही, महात्मा, धार्मिक, सत्यवादी, सुन्दर, पुष्ट शरीरवाले, पराक्रमी धनुर्धारी तथा युद्ध में पराक्रम दिखाने वाले क्षत्रिय उत्पन्न हुए थे।[२७५] त्रेतायुग में सभी चक्रवर्ती क्षत्रिय थे। त्रेता मे वीर क्षत्रिय उत्पन्न हुए थे, जो दीर्घ आयुवाले, महान् वीर, युद्ध में धनुष धारण करनेवाले और शासन के अधीन रहनेवाले थे। द्वापर में सभी वर्ण पराक्रमी, शक्तिशाली और परस्पर विजय की इच्छा रखने वाले उत्पन्न होते है। तिष्य युग में मनुष्य अल्प तेज से युक्त, क्रोधी, लोभी, असत्यवादी उत्पन्न होते है। इस युग में ईर्ष्या, अभिमान, क्रोध, छल, असूया, राग और लोभ आदि दोष सभी मनुष्यों में व्याप्त रहते हैं। इस द्वापर युग में कुछ नियन्त्रण है।"

यत. यहाँ कहा गया है कि द्वापर में भी सभी वर्णों के मनुष्य उत्पन्न हुए जब कि ब्राह्मण एवं क्षत्रिय ही पूर्वकाल में स्थित बताये गये है, अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि लेखक यह बताना चाहता है कि कृत और त्रेता युगों

---

[२७४] देखिए ऊपर पृ० १०५ टि० १७४।

[२७५] यह स्पष्ट प्रतीत नही होता कि हम उनकी उत्पत्ति कृत मे माने या त्रेता मे जैसा कि ऊपर पृ० १३५ पर उद्धृत रामायण के अश मे माना गया है।

कृतयुग में अवस्था रहती है उसकी प्रायः विपरीत स्थिति हो जाती है।]
"९८ राजा कृत, त्रेता तथा द्वापर युगों की सृष्टि करने वाला है और चौथे युग का भी कारण होता है।"

आगे वाला अंश भी राजधर्म के विषय से तथा उसके कर्म के रूप में युगों से सम्बद्ध है (देखिए मनु ९. ३०१, ऊपर पृ० ५७ पर उद्धृत) :

शान्तिपर्व ९१.४ : कर्म शूद्रे कृपिर् वैश्ये दण्ड-नीतिश् च राजनि। ब्रह्मचर्य्यं तपो मन्त्राः सत्यं चापि द्विजातिषु। तेषां यः क्षत्रियो वेद वस्त्राणाम् इव शोधनम्।[२७६] शील-दोषान् विनिर्हर्त्तुम् स पिता स प्रजापतिः कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश् भरतर्षभ। राज-वृत्तानि सर्वाणि राजैव युगम् उच्यते। चातुर्वर्ण्य तथा वेदाश् चातुराश्रम्यम् एव च। सर्वम् प्रमुह्यते ह्य् एतद् यदा राजा प्रमाद्यति।

९१,४. शूद्र में श्रम, वैश्य में कृषि, तथा राजा में दण्डनीति (पाई जानी चाहिए)। ब्राह्मण में ब्रह्मचर्य, तप का प्रयोग तथा सत्य भाषण होने चाहिए। जो क्षत्रिय उनके दुर्गुणों एवं सद्गुणों को उसी प्रकार पृथक् कर लेने का विवेक रखता है, जैसे धोबी वस्त्रों के धोने का ढंग जानता है, वह प्रजाओं का पिता और स्वामी होता है। कृत, त्रेता, द्वापर ओर कलि ये सभी राजा के वृत्त हैं, राजा ही युग नाम से ख्यात होता है। चारों वर्ण, वेद और चारों आश्रम राजा के प्रमाद करने पर अनियमित हो जाते हैं।"

पहले आये हुए दो अंशों में विभिन्न रंगों को या तो विशिष्ट वर्णों का लक्षण बताया गया है (शान्तिपर्व १८८,५) या विशिष्ट युगों का (वनपर्व १४९, १७)। रंगों को (यद्यपि श्रेष्ठता के उसी क्रम में नहीं रखा गया है तथापि) उसी प्रकार शान्तिपर्व २८०, ३३ में, जिसके कुछ उदाहरण मैं प्रस्तुत करूँगा, नैतिक एवं भौतिक दशाओं से सम्बद्ध किया गया है :

षड् जीव-वर्णा' परमम् प्रमाणं कृष्णो धूम्रो नीलम् अथास्य मध्यम्। रक्तम् पुनः सह्यतरं सुखं तु हारिद्र-वर्णम् सुसुखं च शुक्लम्। परन्तु शुक्लम् विमल विशोकं गत-क्लमं सिद्ध्यति दानवेन्द्र। गत्वा तु योनि-प्रभवाणि दैत्य सहस्रशः सिद्धिम् उपैति जीवः। ३५ ' गतिः पुनर् वर्ण-कृता प्रजाना वर्णस् तथा काला-कृतोऽसुरेन्द्र। ३७. कृष्णस्य वर्णस्य गतिर् निकृष्टा स सजते नरके पच्यमान.।

[२७६] यह तुलना इसके पूर्व आने वाले एक श्लोक में अधिक उभरी हुई है : (९१, २) 'यो न जानाति निर्हर्तुं वस्त्राणारजको मलम्। रक्ताना वा शोधयितु यथा नास्ति तथैव स।

"१८८,५. जीवों के छः वर्ण प्रमुख महत्त्व वाले हैं कृष्ण, धूम्र, इन दोनों के बीच का नीला, अधिक मध्य रक्तवर्ण, पीतवर्ण सुख है, और श्वेत वर्ण अतिशय सुख है। शुक्ल वर्ण सिद्ध होता है, क्योंकि कलुष, शोक तथा क्लान्ति से मुक्त रहता है। (इससे युक्त) प्राणी अनेक जन्मों को प्राप्त कर सहस्र रूपों में सिद्धि प्राप्त करता है। ३५. "गति वर्णों के द्वारा उत्पन्न होती है और वर्ण काल द्वारा उत्पन्न होता है "३७. कृष्णवर्ण की गति निकृष्ट होती है। अपना परिणाम उत्पन्न करने पर यह नरक से चिपकी रहती है।"

हरिवंश से उद्धृत आगे वाला अंश चारों वर्णों में प्रत्येक की पृथक् उत्पत्ति बताता है, परन्तु उसके साथ ही साथ उनकी अनेकता की इस प्रकार की व्याख्या प्रस्तुत करता है, जो अब तक विवेचित सभी व्याख्याओं से भिन्न है। निःसन्देह तब तक जब तक कोई यह मानने को प्रस्तुत न हो कि जिन चार तत्त्वों से यहाँ चारों वर्णों की उत्पत्ति का उल्लेख किया गया है, वे क्रमशः ब्रह्मा के मुख, भुजाओं, जंघों और पैरों से तादात्म्य रखते हैं। तथापि, यह अंश विभिन्न रंगों का विभिन्न वर्णों से सम्बन्ध जोड़ने में उस अंश से मिलता है, जिसे हम पहले उद्धृत कर चुके हैं। जिस प्रश्न के साथ यह अंश प्रारम्भ होता है वह इसके पूर्व वाले खण्ड (श्लोक ११७९९ और बाद) में भृगु और अङ्गिरस् की सृष्टि के वर्णन को निर्दिष्ट करता है, जिनमें दोनों को ब्राह्मणों का जन्मदाता (ब्रह्म-वंश-कर) विशेषण दिया गया है। इसमें क्षत्रियों या किसी अन्य वर्ण का कोई उल्लेख नहीं किया गया है। हरिवंश के फ्रेंच भाषा के अनुवादक एम० लागलोइस का कथन है कि ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों के युगों के बीच का अन्तर अप्राकृतिक है, और इस प्रसंग में इसका कोई अर्थ नहीं होता। किन्तु दो अंशों में जो ऊपर (१) रामायण के उत्तर काण्ड अध्याय ७४ (पृ० १३५) तथा (२) महाभारत के भीष्म-पर्व १०,९ से उद्धृत किए गये हैं, मेरे विचार से हमें इस बात के संकेत मिलते हैं कि कृतयुग को एक ऐसा युग माना जाता था, जिसमें केवल ब्राह्मण ही थे, और क्षत्रियों का जन्म होना त्रेतायुग में प्रारम्भ हुआ।

हरिवंश ११८०८. जनमेजय उवाच। श्रुतम् ब्रह्म-युगम् ब्रह्मन् युगानाम् प्रथमं युगम्। क्षत्रस्यापि युगम् ब्रह्मन् श्रोतुम् इच्छामि तत्त्वत'। ससंक्षेप सविस्तरं नियमैः बहुभिश् चितम्। उपाय-ज्ञैश् च कथितं क्रतुभिश् चोपशोभितम्। वैशम्पायन उवाच। ११८१०. एतत् ते कथयिष्यामि यज्ञ-कर्मभिर् अर्चितम्। दान-धर्मैश् च विविधैः प्रजाभिर् उपशोभितम्। तेऽङ्गुष्ठ-मात्रा मुनयः आदत्ता सूर्य-रश्मिभि। मोक्ष-प्राप्तेन

विधिना निराबाधेन कर्मणा। प्रवृत्ते चाप्रवृत्ते च नित्यम् ब्रह्मपरायणाः। परायणस्य सङ्गम्य ब्रह्मस् तु महीपते। श्री-वृत्ताः पावनाश् चैव ब्राह्मणाश् च महीपते। चारित-ब्रह्मचर्य्याश् च ब्रह्मज्ञानेन बोधिताः। पूर्णे युग-सहस्रान्ते प्रभावे प्रलय गताः। ब्राह्मण वृत्त-सम्पन्ना ज्ञान-सिद्धाः समाहिता.। ११८१५. व्यतिरिक्तेन्द्रियो विष्णुर् योगात्मा ब्रह्म-सम्भवः। दक्षः प्रजापतिर् भूत्वा सृजते विपुलाः प्रजाः। अक्षराद् ब्राह्मणाः सौम्या. क्षरात् क्षत्रिय-बान्धवाः। वैश्या विकारतश् चैव शूद्राः धूम-विकारतः। श्वेत-लोहितकैर् वर्णैः पीतैर् नीलैश् च ब्राह्मणाः अभिनिर्वर्त्तिताः वर्णाश् चिन्तयानेन विष्णुना। ततो वर्णत्वम् आपन्ना प्रजालोके चतुर्विधाः। ब्राह्मणा. क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश् चैव महीपते। एकलिङ्गाः पृथग्-धर्मा द्विपादाः परमाद्भुताः। यातनयाऽभिसम्पन्ना गति-ज्ञाः सर्व-कर्मसु। त्रयाणां वर्ण-जातानां वेद-प्रोक्ताः क्रियाः स्मृताः। तेन ब्राह्मण-योगेन वैष्णवेन महीपते। प्रज्ञया तेजसा योगात् तस्मात् प्राचेतसः प्रभुः। विष्णुर् एव महायोगी कर्मणाम् अन्तरं गतः ततो निर्वाण-सम्भूताः शूद्राः कर्म-विवर्जिताः। तस्माद् नार्हन्ति संस्कारम् न ह्य् अत्र ब्रह्म विद्यते। यथाऽग्नौ धूम-संघातो ह्य् अरण्या मथ्यमानया। प्रादुर्भूतो विसर्पन् वै नोपयुज्यति कर्मणि एवं शूद्रा विसर्पन्तो भुवि कार्त्स्न्येन जन्मना। न संस्कृतेन[२७७] धर्मेण वेद-प्रोक्तेन कर्मणा।

"जनमेजय कहते हैं ११८०८ : 'हे ब्राह्मण, मैंने सभी युग में प्रथम ब्रह्मयुग (का वर्णन) सुन लिया। मै यज्ञों द्वारा प्रतिपादित एवं कथा कहने में दक्ष व्यक्तियों द्वारा उक्त अनेक क्रियाओं सहित क्षत्रियों के युग के विषय मे भी संक्षेप तथा विस्तार से तत्त्वतः सुनने की इच्छा रखता हूँ।' वैशम्पायन ने उत्तर दिया : ११८१०. 'मै आपसे उस युग का वर्णन करूँगा जो यज्ञ कर्मों के कारण श्रेष्ठ कहा जाता है, तथा जो अनेक प्रकार के दान धर्मों से युक्त और प्रजाओं के कारण वैशिष्ट्यपूर्ण है। अँगूठे के आकार के उन मुनियों को सूर्य की किरणों ने आत्मसात् कर लिया। मोक्ष प्रदान करने वाले नियम पालन करते हुए, निर्विघ्न कर्म करते हुए, कर्म द्वारा तथा कर्म की अप्रवृत्ति द्वारा निरन्तर ब्रह्मपरायण रहते हुए, परमतत्त्व ब्रह्म मे युक्त होकर श्रेष्ठ तथा पवित्र आचरण वाले ब्राह्मण, ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत करते हुए तथा ब्रह्म के ज्ञान से प्रबुद्ध—वृत्त सम्पन्न, होकर और पूर्ण ज्ञान वाले तथा विचारशील ब्राह्मण—इन मुनियों का प्रभाव जब सहस्र युगों के अन्त में पूर्ण हो गया, तब वे प्रलय

---

[२७७] छपे हुए पाठ मे 'नासस्कृतेन' है, किन्तु 'न सस्कृतेन' आवश्यक प्रतीत होता है।

में मग्न हो गये। तब ब्रह्मा से उत्पन्न, इन्द्रियों के अगोचर तथा योग में लीन विष्णु दक्ष प्रजापति हुए और उन्होंने विविध प्रजाओं की सृष्टि की। सुन्दर (या सोम को प्रिय)[२७८] ब्राह्मण अनश्वर (अक्षर) तत्व से उत्पन्न हुए, क्षत्रिय नश्वर (क्षर) तत्व से, वैश्य विकार से और शूद्र धूम-विकार से उत्पन्न हुए। जब विष्णु वर्णों का ध्यान कर रहे थे तो ब्राह्मण श्वेत, रक्त, पीले तथा नीले रंगों (वर्णः)[२७९] से युक्त उत्पन्न हुए। अतएव लोक में मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र होकर अनेक वर्णों में विभक्त हो गए। वे रूप में एक ही हैं, अपने धर्म में पृथक्-पृथक् हैं, दो पैरों वाले तथा परम अद्भुत हैं, परम शक्ति से युक्त तथा अपने सभी कर्मों की विधि का ज्ञान रखने में निपुण हैं। ११८२०. वेदोक्त क्रियायें केवल तीन (उच्च) वर्णों के लिये विहित हैं। ब्रह्मा से उत्पन्न पुरुष के उस योग में—विष्णु रूप में किये गये ध्यान में—भगवान् प्राचेतस (दक्ष) अर्थात् महायोगी विष्णु अपनी प्रज्ञा और तेज द्वारा योग अवस्था से कर्म के क्षेत्र में पहुँचे।[२८०] तब निर्वाण से उद्भूत शूद्र कर्म-विवर्जित होते हैं। अतएव वे संस्कार के योग्य नहीं होते और न शास्त्र के अध्ययन के अधिकारी ही होते हैं। जिस प्रकार अरणियों के मन्थन से उत्पन्न अग्नि से निकल कर फैलने वाला धूम समूह का याज्ञिक कर्म में कोई उपयोग नहीं होता उसी प्रकार पृथ्वी पर विचरण करते हुये शूद्र भी (यज्ञ के कर्म के लिये) जन्म, दूषित जीवन-वृत्ति, तथा वेदोक्त कर्मों के अनधिकारी होने के कारण अनुपयुक्त होते हैं।"

आगे वाला उद्धरण पहले आये हुए सभी वृत्तों से एक भिन्न वर्णन प्रस्तुत करता है, क्योंकि यह सभी ब्राह्मणों की भी एक ही उत्पत्ति नहीं बताता, किन्तु विष्णु के शरीर के विभिन्न अवयवों से अनेक प्रकार के ऋत्विजों की उत्पत्ति का वर्णन करता है :

हरिवंश ११३५५ : एवम् एकार्णवे भूते शेते लोके महाद्युतिः। प्रच्छाद्य सलिलं सर्वं हरिर्नारायणः प्रभुः। महतो रजसो मध्ये महार्णव-

---

[२७८] श्लोक ११८०२ इस प्रकार है : 'अभिषिच्य तु सोमं च यौवराज्ये पितामहः। ब्राह्मणानां च राजानं शाश्वतं रजनी-चरम्॥' "ब्रह्मा ने ब्राह्मणों के राजा के रूप में सोम को युवराज पद पर अभिषिक्त किया, जो रात्रि में विचरण करता है।"

[२७९] 'वर्ण' शब्द पर श्लेष अलंकार ध्यान दिया जा सकता है।

[२८०] मैं यह निश्चित रूप से नहीं कह सकता कि मैं इस अन्तिम वाक्य का उचित अर्थ निकाल पाया हूँ।

समस्य वै। विरजस्को महाबाहुर् अक्षरम् ब्राह्मणा विदुः। आत्म-रूप-प्रकाशेन तपसा संवृतः प्रभुः। त्रिकम् आच्छाद्य कालं तु ततः सुष्वाप सस् तदा। पुरुषो यज्ञ इत्य् एवं यत् परम् परिकीर्त्तितम्। यच् चान्यत् पुरुषाख्यं तु तत् सर्वम् पुरुषोत्तमः। ये च यज्ञपरा विप्रा ऋत्विजा इति संज्ञिताः। आत्म-देहात् पुरा भूता यज्ञेभ्यः श्रूयतां तदा। ११३६०. ब्रह्माणम् परमं वक्त्राद् उद्गातारं च साम-गं। होतारं अथ चाध्वर्युं बाहुभ्याम् असृजत् प्रभुः। ब्रह्मणो ब्राह्मणत्वाच् च प्रस्तोतारं च सर्वशः। तम् मैत्रावरुणं सृष्ट्वा प्रतिष्ठातारम् एव च। उदरात् प्रतिहर्त्तारम् पोतारं चैव भारत। अछावाकम् अथोरुभ्याम् नेष्टारं चैव भारत। पाणिभ्याम् अथचाग्नीध्रम् ब्रह्मण्यं चैव यज्ञियम्। ग्रावाणम् अथ बाहुभ्याम् उन्नेतारं च याज्ञिकम्। एवम् एवैष भगवान् षोडशैतान् जगत्पतिः। प्रवक्तॄन् सर्व-यज्ञानाम् ऋत्विजोऽसृजद् उत्तमान्। तद् एष वै यज्ञमयः पुरुषो वेद-सञ्ज्ञितः। वेदाश् च तन्मयाः सर्वे साङ्गोपनिषद्-क्रियाः।

वैशम्पायन ने कहा : ११३५५ 'इस प्रकार भगवान् हरि नारायण सम्पूर्ण जल को, जो विस्तृत रज[२८१] के बीच एक विशाल समुद्र के समान हो गया था, आच्छादित करके सो गये। वे स्वयं रज से विमुक्त (विरजस्कः) थे। उनकी भुजाएँ विशाल थीं। ब्राह्मण उन्हें अनश्वर जानते है। अपने ही शरीर के तेज द्वारा तप से युक्त होकर तथा तीन कालों (भूत, वर्तमान, भविष्य) से आच्छन्न होकर भगवान् सो गये। पुरुषयज्ञ नाम से जिसे श्रेष्ठ कहा गया है और अन्य जो कुछ भी पुरुष नाम से ख्यात है, वह सभी पुरुषोत्तम (विष्णु) है। अब सुनिये कि पूर्वकाल में यज्ञानुष्ठान के निमित्त ऋत्विज नाम के यज्ञ कराने वाले ब्राह्मणों को उन्होंने अपने शरीर से किस प्रकार उत्पन्न किया। ११३६० भगवान् ने अपने मुख से ब्रह्मन् को उत्पन्न किया जो प्रमुख होता है, तथा साम का गान करने वाले उद्गाता को उत्पन्न किया। बाहुओं से होता और अध्वर्यु की सृष्टि की। तब उन्होंने[२८२] प्रस्तोता, मैत्रावरुण और प्रतिष्ठाता

---

[२८१] निरुक्त मे दो स्थानो ४ १९ तथा १० ४४ पर 'रजस्' का अर्थ 'जल' बताया गया है।

[२८२] मैं 'ब्रह्मणो ब्राह्मत्वाच् च' शब्दो का उचित अर्थ लगाने मे असमर्थ हूँ, जो, जैसा कि मुझे डा० फिट्ज एडवर्ड हाल से ज्ञात हुआ है, सर्वोत्तम सुलभ हस्तप्रतियो मे (केवल एक दीर्घ और ह्रस्व स्वर के अन्तर के साथ) तथा बम्बई संस्करण मे उपलब्ध होते हैं। सोलह ऋषियो मे एक ब्राह्मणाच्छंशिन् की गणना नही की गयी है, अतएव उसका नाम इस पंक्ति मे आरम्भ मे रहा

को उत्पन्न किया। अपने उदर से उन्होंने प्रतिहर्त्ता और प्रोतृ को, जंघों से अच्छाक और नेष्टृ को, हाथों से अग्नीध्र और यज्ञिय ब्रह्मण्य को, बाहुओं से ग्रावन् और यज्ञिक उन्नेतृ को उत्पन्न किया। इस प्रकार लोक के स्वामी भगवान् ने यज्ञ के प्रवक्ता इन सोलह श्रेष्ठ ऋत्विजों को उत्पन्न किया। अतएव यह पुरुष यज्ञमय है और वेद नाम से पुकारा जाता है। वेदाङ्गों सहित सभी वेद, उपनिषद् तथा क्रियाएँ उनके तत्व से निर्मित हैं।"

खण्ड १२—इसी विषय पर भागवत पुराण से उद्धरण

मैं मनुष्य जाति तथा वर्णों की उत्पत्ति के विषय पर पुराणों से अपने उद्धरणों को भागवत पुराण के कतिपय वर्णनों के साथ समाप्त करूँगा। प्रथम उद्धरण अब तक विवेचित किसी भी पौराणिक वृत्त की अपेक्षा पुरुषसूक्त[२८३] के विचारों की अधिक पुनरावृत्ति करता है।

२, ५, ३४ वर्ष-पूग-सहस्रान्ते तद् अण्डम् उदके शयम्। काल-कर्म-स्वभाव-स्थो जीवोऽजीवम् अजीवयत्। ३५. स एव पुरुषस् तस्माद् अण्डम् निर्भेद्य निर्गतः। सहस्रोर्व्-अङ्घ्रि-बाहु-अक्षः सहस्राननशीर्षवान्। ३६. यस्येहावयवैर् लोकान् कल्पयन्ति मनीषिणः। कट्यादिभिर् अधः सप्त सप्तोर्ध्वं जघनादिभिः। ३७. पुरुषस्य मुखम् ब्रह्म क्षत्रम् एतस्य बाहवः। ऊर्वोर् वैश्यो भगवतः पद्भ्यां शूद्रो व्यजायत। ३८. भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्याम् भुवर्लोकोऽस्य नाभितः। हृदा स्वर्लोक उरसा महर्लोको महात्मनः।

"३४. अनेक सहस्र वर्षों के अन्त में काल, कर्म और स्वभाव में स्थित जीव ने उस जल के ऊपर तैरते हुए अण्ड को जीवन प्रदान किया। ३५. तब उस अण्ड को तोड़कर पुरुष बाहर निकला, वह सहस्र ऊरुओं, पैरों, बाहुओं, नेत्रों, मुखों तथा सिरों से युक्त था। ३६. उसके अवयवों से मनीषियों ने

होगा। अन्त में 'सर्वशः' के असिद्ध पाठ के स्थान पर लेखक ने कदाचित् 'वक्षसः' उसके वक्ष से, लिखा होगा, जैसा कि एक हस्तप्रति में दूसरी पंक्ति में मिलता है। बम्बई संस्करण में 'सृष्ट्वा' के स्थान पर 'पृष्ठात्' पीठ से, पाठ है।

[२८३] एम० बरनफ ने अपने भागवत के संस्करण के प्रथम भाग के आमुख पृ० १२२ में यह स्पष्ट किया है कि किस प्रकार इसके लेखक ने अपने वर्णन के लिये वैदिक स्रोतों को छान डाला है। इसी तथ्य का निर्देश प्रो० वेबर ने किया है, इण्डिशे स्टू० १, २८६ टि०।

लोकों की रचना की, सात अधःलोक की उसके कटि इत्यादि से, और सात ऊर्ध्वलोकों की उसके जघन आदि अवयवों से रचना हुई। ३७. ब्राह्मण पुरुष का मुख था, क्षत्रिय उसकी भुजाएँ था, वैश्य उसके ऊरुओं से उत्पन्न हुआ और शूद्र उस भगवान के पैरों से उत्पन्न हुआ। पृथ्वी की रचना उसके पैरों से हुई, भुवः लोक की उसकी नाभि से, स्वर्लोक की हृदय से, तथा महर्लोक की उस महात्मा के वक्ष से सृष्टि हुई।"

निम्नलिखित श्लोक में इस वर्णन का लाक्षणिक स्वरूप स्पष्ट है :

२. १, ३७. ब्रह्माननं क्षत्र-भुजो महात्मा विड्-ऊरुर् अङ्घ्रि-श्रित-कृष्ण-वर्णः।

"ब्राह्मण उसका मुख है, क्षत्रिय उसकी भुजाएँ हैं, उस महात्मा के ऊरु वैश्य हैं और उसके पैरों में कृष्ण वर्ण निवास करता है।"

अगला अंश सामान्य वर्णन के साथ अधिक साम्य रखता है, यद्यपि यहाँ भी रहस्यात्मक दृष्टिकोण का सन्निवेश किया गया है :

३. २२, २. ब्रह्माऽसृजत् स्व-मुखतो युष्मान् आत्म-परीप्सया। छन्दोमयस् तपो-विद्या-योग-युक्तान् अलम्पटान्। ३. तत्-त्राणायासृजच् चास्मान् दोः-सहस्रात् सहस्र-पात्। हृदयं तस्य हि ब्रह्म क्षत्रम् अन्यम् प्रचक्षते।

"वेद (छन्द) मय ब्रह्मा ने अपने अस्तित्वप्रदर्शन की इच्छा से, स्वयं अपने मुख से तुम लोगों (ब्राह्मणों) को उत्पन्न किया, जो तप, ज्ञान, भक्ति तथा पवित्रता से युक्त हो। उनकी रक्षा के लिए उस सहस्र पैरोंवाले ने हमें (क्षत्रियों को) अपनी सहस्र बाहुओं से उत्पन्न किया; क्योंकि ब्राह्मण उनके हृदय और क्षत्रिय उनके शरीर कहे जाते हैं।"

३. ६, २९. आदि में वर्णों की उत्पत्ति का उल्लेख है :—

२६. मुखतोऽवर्त्तत ब्रह्म पुरुषस्य कुरूद्वह। यस्तून्मुखत्वाद् वर्णानाम् मुख्योऽभूद् ब्राह्मणो गुरुः। ३०. बाहुभ्योऽवर्त्तत क्षत्रं क्षत्रियस् तद्-अनुव्रतः। यो जातस् त्रायते वर्णान् पौरुषः कण्टक-क्षतात्। ३१. विशोऽवर्त्तन्त तस्योर्वोर् लोक-वृत्ति-करीर् विभोः। वैश्यस् तद्-उद्भवो वार्त्तां नृणां यः समवर्त्तयत्। ३२. पद्भ्याम् भगवतो जज्ञे शुश्रूषा धर्म-सिद्धये। तस्यां जातः पुरा शूद्रो यद्-वृत्त्या तुष्यते हरिः ३३. एते वर्णाः स्व-धर्मेण यजन्ति स्व-गुरुं हरिम्। श्रद्धयाऽत्म-विशुद्ध्यर्थं यज् जाता सह वृत्तिभिः।

"२९ हे कुरु के वंशज! पुरुष के मुख से अध्यात्मज्ञान (ब्रह्म) तथा ब्राह्मण उत्पन्न हुआ, जो उसके मुख से उत्पन्न होने के कारण वर्णों में प्रमुख

तथा गुरु हुआ। ३०. उसकी बाहुओं से राजशक्ति (क्षत्र) निकली और उस कर्म में रत क्षत्रिय उत्पन्न हुआ, जो उत्पन्न होते ही वर्णों की शत्रुओं के प्रहार से रक्षा करता है। ३१. भगवान् के जंघों से लोक को वृत्ति प्रदान करनेवाली कलाएँ निकलीं[२८४] और उनसे वैश्य उत्पन्न हुआ, जिसने मनुष्य जाति के लिए जीविका प्रदान की। ३२. भगवान् के पैरों से धर्म की सिद्धि के लिए सेवा उत्पन्न हुई। इसमें पूर्व काल में शूद्र उत्पन्न हुआ, जिसके कर्म से हरि सन्तुष्ट रहते हैं। ३३. ये सभी वर्ण अपने धर्म का आचरण करके श्रद्धासहित अपनी आत्मा की शुद्धि के लिए अपने पिता हरि की पूजा करते हैं, जिससे वे अपनी वृत्तियों के साथ उत्पन्न हुए हैं।

८. ५, ४१ में हम निम्नलिखित वर्णन पाते हैं :

विप्रो मुखाद् ब्रह्म च यस्य गुह्य राजन्य आसीद् भुजयोर् बलं च।
ऊर्वोर् विड् ओजोऽङ्घ्रिर् अवेद-शूद्रौ प्रसीदतां नः स महाविभूतिः।

"वह महान् विभूति हम पर कृपा करे, जिसके मुख से ब्राह्मण तथा रहस्यमय वेद निकला, जिसकी भुजाओं से राजन्य और बल उत्पन्न हुए, जिसकी जङ्घाओं में विश् और ओज निकले, और जिसके पैर अवेद और शूद्र हैं।"

वही ग्रन्थ अर्वाक्स्रोतस् की सृष्टि का अधोलिखित संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करता है, जिसका वर्णन कुछ विस्तृत रूप में ऊपर विष्णु तथा वायु पुराणों से उद्धृत अंशों में किया गया है :

३. २०, २५ अर्वाक्-स्रोतस् तु नवमः क्षत्तर् एक-विधो नृणाम्।
रजोऽधिकाः कर्म-पराः दुःखे च सुख-मानिनः।

"अर्वाक्स्रोतस् सृष्टि एक प्रकार की थी[२८५], अर्थात् वह मनुष्यों की सृष्टि थी जिनमें रजोगुण का प्राधान्य था, जो कर्मों में अनुरक्त थे, और जो दुःख में सुख की कल्पना करने वाले थे।"

---

[२८४] जिस शब्द का यहाँ यह अनुवाद दिया गया है वह विश् है जिसका ऋग्वेद के सूक्तों में सर्वत्र 'जन' या 'लोग' अर्थ होता है। तथापि यदि इसके आगे आनेवाले श्लोक के आधार पर, जिसमें शूद्र को उसके विशिष्ट कर्म 'शुश्रूषा' अर्थात् सेवा से उत्पन्न कहा गया है, निर्णय दिया जाय तो यहाँ मूल में उपर्युक्त अर्थ अभिप्रेत प्रतीत होता है। टीकाकार ने विश =कृष्य्-आदि-व्यवसाया ' अर्थात् 'कृषि आदि के व्यवसाय, व्याख्या की है।

[२८५] साख्यकारिका, ५३ का कथन है 'अष्ट-विकल्पो दैवस् तैर्यग्योन्यश् च पञ्चधा भवति मानुष्यश् चैक-विध समासतो भौतिक' सर्ग।' जिसका अनुवाद कोलब्रूक ने (विल्सन की साख्य कारिका मे पृ० १६४) इस प्रकार किया है :

६. ६, ४० में मनुष्य जाति की उत्पत्ति का एक नवीन वर्णन दिया गया है। इस स्थल पर कहा गया है :

अर्यम्णो मातृका पत्नी तयोश् चर्षणयः सुताः। यत्र वै मानुषी जातिर् ब्रह्मणा चोपकल्पिता।

"(अदिति के पुत्र) अर्यमन् की पत्नी मातृका थी। चर्षणी इन दोनों के पुत्र थे, इनमें ब्रह्मा ने मनुष्यजाति की रचना की।" 'चर्षणी' शब्द का वेद में अर्थ है "मनुष्य" या "लोग"।

अधोलिखित श्लोक में (जो इस कृति के तीसरे भाग आदि में उद्धृत पुरूरवा की कथा का एक अंश है) यह कहा गया है कि कृत युग में केवल एक ही वर्ण था।

६. १४, ४८. एक एव पुरा वेदः प्रणवः सर्व-वाङ्मयः। देवो नारायणो नान्य एकोऽग्निर् वर्ण एव च। पुरुरवस् एवासीत् त्रयी त्रेता-मुखे नृप।

"पहले केवल एक ही वेद प्रणव था जो सम्पूर्ण वाणी का तत्त्व था। एक ही देवता नारायण थे, एक ही अग्नि था, और एक ही वर्ण था। त्रेता के आरम्भ में पुरूरवा से तीन वेद उद्भूत हुए।"

इस अंश पर टीकाकार की कुछ उक्तियाँ भाग २ में देखी जा सकती हैं। वह कहता है कि उस एक वर्ण का नाम था "हंस" (वर्णश् च एक एव हंसो नाम), और यह कहते हुए अपनी टिप्पणी समाप्त करता है कि "इसका अर्थ यह है : कृत युग में जब मनुष्यों में सत्त्वगुण का प्राधान्य था, तो प्रायः सभी ध्यान में लीन रहते थे, किन्तु त्रेता में जब रजोगुण का प्राधान्य हुआ तो वेदों के विभाजन द्वारा कर्मों की विधि का प्रकाशन हुआ।"

खण्ड १३—इस अध्याय के निष्कर्ष

इस अध्याय में मैंने जो विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किये हैं, उनसे यह पर्याप्त रूप से स्पष्ट हो गया होगा कि हिन्दुओं के पवित्र ग्रन्थों में वर्णों की उत्पत्ति के

'देवो की जाति आठ प्रकार की है, क्षुद्र जीव पाँच प्रकार के हैं, मनुष्य जाति केवल एक प्रकार की होती है। सक्षेप मे यही भोतिक सृष्टि है।" भाष्यकार गौडपाद के 'मानुष्यश् चैकविध' शब्दो की संक्षेप मे 'मानुष्ययोनिर् एकैव' अर्थात् 'मनुष्य जाति की उत्पत्ति का स्रोत एक ही है" ऐसी व्याख्या करते है।" 'साख्य प्रवचन' ३, ४६ की टीका मे विज्ञानभिक्षु इन्ही शब्दो का अर्थ करते हैं, 'मानुष्य-सर्गश् चैक-प्रकार अर्थात् "मनुष्यजाति की सृष्टि केवल एक प्रकार की होती है।'

विषय में कोई एक रूप या अविरुद्ध विवरण नहीं है, किन्तु इसके विपरीत वे इस विषय पर अनेक प्रकार की विचारधाराएँ उपस्थित करते हैं। रहस्यवादी, पुराकथाशास्त्रीय, एवं हेतुवादी सभी व्यवस्थाएँ बारी-बारी से प्रस्तुत की गई हैं, तथा वैयक्तिक लेखकों ने काल्पनिक और स्वच्छन्द अनुमानों को अधिकाधिक स्वतन्त्रता दे रक्खी है।

प्रथमतः—हमारे पास इस प्रकार के विवरण हैं, जिनमें चारों वर्णों को उन पूर्वपुरुषों से उत्पन्न कहा गया है, जिनकी सृष्टि पृथक्-पृथक् हुई थी; किन्तु उनकी सृष्टि की प्रणाली के संबन्ध में हमें अनेक प्रकार के विवरण उपलब्ध होते हैं। नितान्त सामान्य कथा यह है कि ये वर्ण पुरुष या ब्रह्म के मुख, भुजाओं, जंघों तथा पैरों से उद्भूत हुए। इस विचार का प्रतिपादन करनेवाला प्राचीनतम उपलब्ध अंश, जिससे निश्चित रूप से इसके समान वृत्तान्त वाली सभी परवर्ती कथाएँ ली गई हैं, जैसा कि हम देख देख चुके हैं, पुरुष सूक्त है; किन्तु यह सन्देहास्पद है कि जिस रूप में यह पाया जाता है उस रूप में यह रूपक के अतिरिक्त और भी कुछ है या नहीं। कुछ अंशों में, जिनका उद्धरण मैंने भागवत पुराण से दिया है, इसी लाक्षणिक स्वभाव के चिह्न देखे जा सकते हैं, किन्तु मनु और पुराणों में वैदिक मन्त्र का रहस्यात्मक अर्थ लुप्त हो जाता है, और इस आलङ्कारिक वर्ण को तथ्य के विवरण के रूप में कठोर रूप दे दिया गया है। अन्य अंशों में, जहाँ वर्णों की एक भिन्न उत्पत्ति बताई गई है, उन्हें अनेक रूप में भूः, भुवः, स्वः आदि शब्दों से; विभिन्न वेदों से, विभिन्न प्रार्थनाओं से, देवताओं और असुरों से; असत् (पृ० २०–२५) से, तथा अनश्वर, नश्वर एवं अन्य तत्वों से उत्पन्न कहा गया है (हरिवंश ११८१६)। विष्णु, वायु, तथा मार्कण्डेय पुराणों के अध्यायों में, जहाँ वर्णों को सृष्टि के साथ उद्भूत बताया गया है, और स्वभावतः नैतिक आचरण की भिन्नता उत्पन्न करने वाले विभिन्न गुणों द्वारा वर्णों में विभक्त कहा गया है, हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उन गुणों ने उन वर्णों पर कोई प्रभाव नहीं डाला, जिनमें वे स्वभावतः विद्यमान थे, कारण, कृतयुग में सम्पूर्ण मनुष्य जाति की दशा एकरूप सिद्धि तथा आनन्द से पूर्ण वर्णित की गयी है; जब कि वायु पुराण के अनुसार वर्णों का आरम्भ उस समय तक नहीं हुआ था, जब तक कि त्रेता में मनुष्यों का पतन नहीं हुआ।

दूसरे—ब्राह्मणों, महाकाव्यों तथा पुराणों के अनेक अंशों में मनुष्य जाति की सृष्टि का वर्णन, जैसा कि हम देख चुके हैं, चारों वर्णों के जन्मदाताओं की पृथक् उत्पत्ति का उल्लेख किये बिना किया गया है (पृ० २७–३२ तथा

अन्यत्र)। जहाँ पुराण उन अध्याओं में, जिनमें वर्णों की पृथक् रचना का वर्णन करते हैं, प्रत्येक वर्ग की विभिन्न नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ बताते हैं, वहीं वे अन्यत्र सम्पूर्ण मनुष्य जाति को सृष्टि के समय समान्य रूप से रजोगुण से युक्त वर्णित करते हैं। एक उद्धरण में, जिसे मैंने यहाँ दिया है (पृ० ३०–३१ आदि), मनुष्यों को विवस्वत् की सन्तान कहा गया है; दूसरे अंश में उनके पुत्र मनु को उनका जन्मदाता कहा गया है; और तीसरे वर्णन में वे इसी नाम की एक स्त्री से उत्पन्न बताए गये हैं। जिस अंश में मनु को स्पष्टतः मनुष्य जाति का पिता कहा गया है वह यह स्पष्ट रूप से घोषणा करता है कि सभी चारों वर्णों के मनुष्य उन्हीं से उत्पन्न हुए थे। एक दूसरे उल्लेखनीय उद्धरण में महाभारत युक्तिपूर्वक कहता है कि मूलरूप में वर्णों का कोई भेद नहीं था और वर्तमान वर्णभेद स्वभाव तथा व्यवसाय की विभिन्नता से उत्पन्न हुआ है। इसी प्रकार एक स्थल पर भागवत पुराण भी यह निर्देश करता है कि कृत युग में केवल एक ही वर्ण था, और यही विचार उन अंशों में भी प्रतिपादित प्रतीत होता है, जिन्हें मैंने महाकाव्यों से उद्धृत किया है।

इन स्थितियों में हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि चारों वर्णों की पृथक् उत्पत्ति का सिद्धान्त प्राचीन भारत में सर्वतः मान्य विषय होने से बहुत दूर था।

अब मैं इस प्रश्न का विवेचन करूँगा कि प्राचीन वैदिक सूक्तों के रचयिताओं के स्वयं अपनी जाति की उत्पत्ति के विषय में क्या विचार दिखाई पड़ते हैं।



अध्याय २

भारतीय जाति की मनु से उत्पत्ति की परम्परा[1]

पहले अध्याय में प्रस्तुत किये गये विचारों से ऐसा प्रतीत होता है कि पुरुषसूक्त निश्चय ही ऋग्वेद के नितान्त अर्वाचीन अंश से सम्बद्ध है और कम से कम यह सन्देहास्पद है कि जिस मन्त्र में यह चारों वर्णों का स्रष्टा के शरीर के विभिन्न अवयवों से सम्बन्ध जोड़ता है, वह लाक्षणिक है या नहीं। हम देख चुके हैं कि यदि उस वर्णन को विभिन्न वर्णों की सृष्टि का प्रकृत विवरण मान लिया जाय, तो विविध स्वभाव वाले अनेक वृत्तान्तों तथा इसकी नितान्त प्राचीनता के समक्ष इसे सूक्तों की रचना के तत्काल बाद आनेवाले समय के लेखकों की उनके अपने समय में प्रचलित सामाजिक विभाजनों की उत्पत्ति के संबन्ध में प्रतिष्ठित मान्यता का अभिव्यञ्जक नहीं समझा जा सकता। किन्तु पुरुषसूक्त के समय में वर्ण की उत्पत्ति के विषय में मान्य कल्पनाएँ, चाहे वे जो कुछ भी रही हों, इस विषय पर अधिक प्राचीन-काल के विचारों की स्थिति की कसौटी नहीं हो सकेंगी। अतएव यह जिज्ञासा बनी रह जाती है कि ऋग्वेद के उन सूक्तों में, जो सर्वाधिक प्राचीन प्रतीत होते हैं (१) मनुष्य जाति या भारतीय वंशों की उत्पत्ति की कोई परम्परा या (२) उनकी रचनाकाल के समाज में ऐसे विभिन्न वर्गों के होने का कोई उल्लेख है, जो बाद में, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नाम से ख्यात वर्गों से मिलते-जुलते हों, और यदि उनमें दूसरे का कोई उल्लेख है तो क्या वे उस रीति की कोई व्याख्या प्रस्तुत करते हैं जिस रीति से मनुष्यों की इन श्रेणियों ने समाज में अपने-अपने स्थान प्राप्त किये। परीक्षण करने पर हमें यह ज्ञात होगा कि ये सूक्त इस प्रश्न के दोनों पहलुओं पर सूचनाएँ प्रदान करते हैं।

निःसन्देह सूक्त संहिता में श्रेणियों, वर्गों तथा व्यवसायों की विविधता के अनेक उल्लेख उपलब्ध होते हैं। जिनका विवरण अगले अध्याय में दिया

---

[1] इस अध्याय मे विवेचित विषयों पर ज० ए० सो०, १८६३ भाग २०, पृ० ४०६ आदि पर मेरा लेख देखिए, जिसमे इस विषय का पहले विवेचन करने वाले लेखकों, यथा एम० नेवे, द्वारा रचित मिथेडेस रिभवस् आदि, का निर्देश किया गया है।

जायगा; किन्तु पुरुषसूक्त के एकमेव मन्त्र के अतिरिक्त उन वर्णों के एक दूसरे से किसी मौलिक जातीय भिन्नता के कारण पृथक् होने का कोई भी संकेत कहीं प्राप्य नहीं है। तथापि, यदि प्राचीन वैदिक भारतीय पुरुष के विभिन्न अवयवों से अपनी जाति की चतुर्विध उत्पत्ति में विश्वास रखते होते तो इस प्रकार के जन्म की विविधता के उल्लेख सूक्तों में आद्योपान्त पाने की आशा रखनी स्वाभाविक होती। किन्तु मैं पुनः कहता हूँ कि इस प्रकार की किसी वस्तु के चिह्न नहीं मिलते। इसके विपरीत अनेक अंशों से यह प्रतीत होता है कि, कम से कम, समाज की श्रेष्ठ श्रेणियाँ एक आर्यजाति की तथा एक ही पूर्वपुरुष से उद्भूत समझी जाती थीं। अतएव इस अध्याय में प्रथमतः वे उद्धरण आयेंगे, जो भारतीय जातियों की उत्पत्ति तथा उनके पूर्वपुरुष के इतिहास के सम्बन्ध में सूक्तों में मिलते हैं और दूसरे वे अंश आयेंगे जो ब्राह्मणों और परवर्ती रचनाओं में आते हैं तथा जिनमें आदिकालीन वैदिक कवियों के एतद्विषयक वर्णन प्रतिध्वनित तथा विकसित हुए हैं।

खण्ड १—ऋग्वेद के सूक्तों के अनुसार आर्य भारतीयों के पूर्वपुरुष तथा धार्मिक क्रियाओं के व्यवस्थापक मनु

इस खण्ड में पहले मैं उन अंशों को उद्धृत करूँगा जो मनु का पिता रूप में उल्लेख करते हैं (जिसका अर्थ निःसन्देह यह समझना चाहिए कि ये उन्हें सूक्तों के रचयिताओं तथा उनके द्वारा वर्णित जनसमूह के वास्तविक पूर्वपुरुष की संज्ञा देते हैं); और तब उन अंशों के उदाहरण प्रस्तुत करूँगा जो उन्हें धार्मिक क्रियाओं के व्यवस्थापक या दैवी अनुकम्पा का पात्र बताते हैं।

(१) अधोलिखित उद्धरण प्रथम वर्ग के हैं :

१. ८०, १६. यम् अथर्वा मनुष् पिता[२] दध्यङ् धियम् अत्नत। तस्मिन् ब्रह्माणि पूर्वथा इन्द्रे उक्था समग्मत।

[२] यह मन्त्र निरुक्त १२ ३४ मे उद्धृत है, जिसमे 'मनुष् पिता' अर्थात् "पिता मनु" का अर्थ "मनुश्च पिता मानवानाम्" "मनुष्यो के पिता मनु" अर्थ किया गया है। ऋग्वेद के भाष्यकार सायण इनकी व्याख्या इस अर्थ मे करते है 'सर्वासाम् प्रजानाम् पितृभूतो मनुश् च', "सभी प्रजाओ के पिता मनु।" ऋग्वेद १० ८२,३ मे "हमारे पिता और जनिता" (यो नः पिता जनिता) शब्दो का प्रयोग विश्व के स्रष्टा विश्वकर्मन् के लिये किया गया है। ऋग्वेद

"पूर्वकाल में यज्ञ में, जो अथर्वा, मनु तथा दध्यञ्च् ने किया था, प्रार्थनाएँ एवं सूक्त उस इन्द्र में एकत्र हुए।"

१. ११४, २. यत् शं च योश् च मनुर् आयेजे पिता तद् अश्याम तव रुद्र प्रणीतिपु।

"जो कुछ समृद्धि या कृपा पिता मनु ने यज्ञ द्वारा प्राप्त की, हे रुद्र, उसे हम तुम्हारे पथप्रदर्शन में प्राप्त करें।"

२. ३३, १३ : या वो भेपजा मरुतः शुचीनि या शन्तमा वृपणो या मयोभू। यानि मनुर् अवृणीत पिता नः ता शं च योश् च रुद्रस्य वश्मि।

"हे मरुतों, तुम्हारी वे पवित्र ओपधियाँ जो नितान्त कल्याणकारी हैं, हे बलशाली देवताओं, जो ओपधियाँ सुखदायी हैं, जिन्हें हमारे[3] पिता मनु ने प्राप्त किया था, उनकी तथा रुद्र के आशीर्वचन एवं कृपा की हम कामना करते हैं।"

मे पिता शब्द प्राय 'द्यौस्' अर्थात् आकाश के लिए और "माता" शब्द पृथ्वी के लिये प्रयुक्त हुआ है यथा ६ ५१,५ मे (तु० की० ज० ए० सो० १८६४ का, पृ० ५५ आदि)। किन्तु इन अशो मे यह मानना आवश्यक नहीं है कि इन शब्दो का प्रयोग लाक्षणिक अर्थ के अतिरिक्त किसी अन्य अर्थ मे किया गया है, यद्यपि अथर्ववेद १२ १ के पृथ्वीसूक्त मे निम्नलिखित (१५वां) मन्त्र उपलब्ध होता है : 'त्वज्-जातस् त्वयि चरन्ति मर्त्यास् त्वम् विभर्षि द्विपदस् त्व चतुष्पद.। त्वेमे पृथिवी पञ्च-मानवाः येभ्यो ज्योतिर् अमृतम् मर्त्येभ्य उद्यन सूर्यो रश्मिभिर् आतनोति।' "तुझसे उत्पन्न हुए पुरुप तुझ पर निवास करते हैं, तू द्विपाद और चतुष्पाद दोनो प्रकार के प्राणियो को धारण करती है। हे पृथ्वी, ये मनुष्यो की पाँच जातियाँ तेरी हैं, जिन पर सूर्य उगकर अपनी अमर किरणे बिखेरता है।"—यहाँ प्राय यह प्रतीत होता है कि मानो कवि ने मनुष्य जाति को वस्तुत. पृथ्वी से उत्पन्न वर्णित करने का तात्पर्य रक्खा है। बृहस्पति (४ ५०, ६, ६ ७३, १) तथा अन्य देवताओ, जैसे इन्द्र को, "पिता" कहा गया है या उनकी तुलना पिताओ से की गई है (७ ५२, ३) तथा रुद्र ६ ४९, १०, एव ऋपि (ऋग्वेद १० ८१, १, १० ८२, १ ३ ४) के विषय मे भी यही बात है। श० ब्रा० ? ५, ३, २ मे 'प्रजापतौ पितरि' है, तथा तैत्ति० ब्रा० ३ ९, २२, १ मे 'प्रजापतिम् पितरम्'। इन दोनो अन्तिम अशो मे प्रजापति को देवताओ का पिता कहा गया है।

[3] यह द्रष्टव्य है कि पिछले दो अशो मे मनु को केवल "पिता मनु" कहा गया है, किन्तु यहाँ उन्हे "हमारे पिता मनु" (मनु पिता न.) कहा गया है।

८. ५२, १ (सामवेद १. ३५५) स पूर्व्यो महानाम् वेनो क्रतुभिर् आनजे । यस्य द्वारा मनुष् पिता देवेषु धियः आनजे ।

"वह पूर्वकाल का मित्र महान् (देवताओं) की शक्ति से युक्त हुआ है। पिता मनु ने उसके लिए देवताओं के निकट पहुँचाने वाले द्वार के समान सूक्तों की रचना की है।"[४]

आगे वाले उद्धरण का अर्थ कम स्पष्ट है, किन्तु कम से कम इतना प्रतीत होता है कि यह मनु के सामान्य अभिधान का पिता के रूप में उल्लेख करता है :

१०. १००, ५. यज्ञो मनुः प्रमतिर् नः पिता हि कम् ।

"यज्ञ मनु है, जो हमारे पालनकर्त्ता पिता हैं।"

निम्नलिखित मन्त्र, कम से कम भाष्यकार के अनुसार, मनु के पैतृक या पूर्वपुरुष सम्बन्धी मार्ग का वर्णन करता है। प्रोफेसर ऑफरेख्त का विचार है कि इसका अर्थ पूर्व पैतृक मानवीय मार्ग के अतिरिक्त और कुछ नहीं है :

---

[४] मैं इस मन्त्र के अनुवाद के लिये प्रोफेसर ऑफरेख्त का आभारी हूँ, जो मेरे लिये दुर्बोध था। सायण इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं : 'स पूर्व्यो मुख्यो महानाम् पूज्यानाम् यजमानानाम् क्रतुभिः कर्मभिर् निमित्तभूतैर् वेन कान्तस् तेषाम् हवि कामयमानः आनजे आगच्छति । यस्येन्द्रस्य द्वारा द्वाराणि प्राप्त्युपायानि धिय कर्मणि देवेष्व् एतेषु मध्ये पिता सर्वेषाम् पालको मनुर् आनजे प्राप । आनजि प्राप्तिकर्मा ।' "श्रेष्ठ यज्ञकर्त्ताओ की क्रियाओ के फलस्वरूप उसे प्रमुख उनकी हवियो की इच्छा करते हुए आता है, वह (इन्द्र) जिसे प्राप्त करने के साधनरूप मे सबके पालक मनु ने इन देवताओ मे यज्ञ क्रियाएँ प्राप्त की है।" प्रोफेसर वेनफे भी इस मन्त्र का, जो सामवेद मे आया है, इस प्रकार अनुवाद करते हैं "वह धनियो मे प्रमुख है, क्रिया के द्वारा प्रिय व्यक्ति उसे प्रसन्न करते है जिसके द्वारा पिता मनु के अधिकार मे हैं, और देवताओ के लिये यज्ञो को प्रकाशित करता है।" इस अंश पर प्रो० वेनफे की टिप्पणी (पृ० २३०) से यह प्रतीत होता है कि सामवेद का भाष्यकार 'आनजे' का अर्थ 'व्यक्तीकरोति आत्मानम्' "अपने को व्यक्त करता है" लेता है। (और इसमे वह सायण से भिन्न है) मनु का अर्थ 'ज्ञाता सर्वस्यइन्द्रः' "सबका ज्ञाता, इन्द्र" तथा 'आनजे' का जो दूसरी बार आता है "आगमयति" अर्थात् "आने को प्रेरित करता है," अर्थ लेता है। सूक्तो के कुछ अशो की व्याख्या के विषय मे इस प्रकार का मतवैभिन्न्य है।

८. ३०. ३. ते नस् त्राध्वम् ते अवत ते उ नो अधि वोचत। मा नः पथः पित्र्याद् मानवाद् अधि दूरम् नैष्ट परावत'।

"हे देवताओं तुम हमें दुःख से मुक्त करो, हमारी रक्षा करो और हमारे मध्यस्थ बनो। हमें मनु के पैतृक मार्ग से दूर मत ले चलो।"[५]

जिस प्रकार पिछले अंश में मनु को पूजकों का पूर्वपुरुष कहा गया है उसी प्रकार इन अंशों में इन्हीं व्यक्तियों को उनका वंशज कहा गया है, यद्यपि यह भी सत्य है कि यहाँ प्रयुक्त शब्द केवल "मनुष्यों के अपत्य" का पर्यायवाची हो।

१. ६८. ४, होता निषत्तो मनोर् अपत्ये स चित् नु आसाम् पतिः रयीणाम्।

"वह (अग्नि) जो मनु की सन्तानों में उनके होता के रूप में विद्यमान रहता है, इन धन-समूहों का भी स्वामी है।"[६]

३. ३. ६. अग्निर् देवेभिर् मनुषश्च जन्तुभिस् तन्वानो यज्ञम् पुरुपेशसम् धिया।

[५] इस मन्त्र पर सायण ने इस प्रकार टीका की है :—'सर्वेषाम् मनु' पिता तत आगतात्। परावत। पिता मनुर दूरम् मार्गम् चक्रे। तस्मात् पथो मार्गात् नो अस्मान् मा नैष्ट मा नयत। अपनय नम् मा कुरुत इत्य् अर्थ। सर्वदा ब्रह्मचर्याग्नि-होत्रादि-कर्माणि येन मार्गेण भवन्ति तम् एव अस्मान् नयत। किन्तु दूरम्य एतद्-व्यतिरिक्तो विप्रकृष्टो मार्गोऽस्ति तस्माद् अधि अधिकम् इत्य् अर्थ अस्मान् अपनयत।' "'मनु का' अर्थ है मनु से आया हुआ, जो सबके पिता हैं। 'परावत' अर्थात् पिता मनु ने दूर की यात्रा की। हमें उस मार्ग से दूर मत ले चलो। हमें उस पथ से ले चलो जिसमें ब्रह्मचर्य, अग्निहोत्र, यज्ञ तथा अन्य कर्मों का निरन्तर अनुष्ठान होता हो। किन्तु हमें उस दूर मार्ग से हटाओ जो उससे भिन्न है।"

[६] भाष्यकार ने यहाँ "मनु की प्रजा" का "यज्ञकर्त्ता रूप में प्रजा या प्राणियों" (यजमान-स्वरूपायाम् प्रजायाम्) का अर्थ लिया है और आगे यह कहा है कि एक ब्राह्मण के अनुसार "प्रजा मनु से उत्पन्न हुई" (मानव्यो हि प्रजा इति हि ब्राह्मणम्)। यास्क (निरु० ३ ७) मनुष्य शब्द की यह व्युत्पत्ति देते हैं ''मनुष्या कस्मात्। मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति। मनस्यमानेन सृष्टा . । मनोर् अपत्यम् मनुषो वा।' "'मनुष्य' क्यों कहे जाते हैं? क्योंकि मनन करने के उपरान्त के कार्यों को एक साथ ही सीखते हैं, (या) उनकी रचना मनन करने वाले ने की (अथवा) दुर्ग के अनुसार "प्रसन्न होने वाले ने") . . (या) वे मनु अथवा मनुष्य की सन्तान हैं।"

"अग्नि, देवताओं और मनुष्य की प्रजाओं (जन्तुभिः) के साथ मन्त्रों द्वारा अनेक रूपवाला यज्ञ करते हुए" इत्यादि।

निम्नलिखित अंश में मनु के लोगों का उल्लेख किया गया है। लोग के लिए शब्द है "विश्" जिससे वैश्य 'जन का एक मनुष्य' बना है :

४. ३७. १. उप नो वाजाः अध्वरम् ऋभुक्षाः देवाः यात पथिभिर् देवयानैः। यथा यज्ञम् मनुषो विक्षु आसु दधिध्वे रणवाः सुदिनेषु अह्नाम्।

"हे वाजों, ऋभुक्षों, देवताओं द्वारा चले गये मार्ग से हमारे यज्ञ में आओ, जिससे, हे प्रसन्न होने वाले देवताओं, तुम इन मनुष की प्रजाओं (मनुषो विक्षु) में शुभ दिनों पर यज्ञ की स्थापना करो।"

६. १४. २ अग्निम् होतारम् ईळते यज्ञेषु मनुषो विशः।

"मनुष् की प्रजाएँ यज्ञ में होता अग्नि की प्रार्थना करती हैं।"

८. २३. १३ : यद् वै ऊ विश्पतिः शितः सुप्रीतो मनुषो विशि। विश्वा इद् अग्निः प्रति रक्षांसि सेधति।

"जब विश के पति[7] अग्नि प्रज्वलित होने पर सन्तुष्ट होकर मनु के लोगों में निवास करता है, तब वह रक्षसों को दूर भगाता है।"

(२) इन अंशों से यह प्रतीत होता है कि सूक्तों के रचयिता मनु को अपनी जाति का पूर्वपुरुष मानते थे। किन्तु (जैसा कि अनेक दूसरे अंशों से स्पष्ट है) वे उन्हें प्रथम व्यक्ति मानते हैं जिसने याज्ञिक अग्नि प्रज्वलित की, तथा जो पूजा के विधान के प्रथम संस्थापक थे, यद्यपि इस विषय पर परम्परा सदैव एकरूप नहीं है। पहले उद्धृत किये गये एक मन्त्र (१. ८०, १६) में इसी प्रकार मनु के अथर्वन् और दध्यञ्च् के साथ प्राचीनकाल में धार्मिक क्रियाओं का सम्पादन करने का उल्लेख किया गया है। निम्नलिखित अंश में उन्हें अग्नि को जलाने वाला तथा बलि प्रदान करने वाला कहा गया है :

१. ३६. १९ नि त्वाम् अग्ने मनुर् दधे ज्योतिर् जनाय शश्वते।

---

[7] विश्पति, तु० की० ६ ४८,८ जिसमे कहा गया है : 'विश्वासाम् गृहपतिम् विशाम् असि त्वम् अग्ने मानुषीम्।' "हे अग्नि! तुम सभी मनुष्यो (या मनुष् से उत्पन्न लोगो) के गृहपति हो।" तथा १० ८०, ६ : 'अग्निम् विश ईलते मानुषीर् या अग्निम् मनुषो नहुषो वि जाता।' "मनुष्य (या मनुष् से उत्पन्न लोग) अग्नि की प्रार्थना करते है, मनुष् तथा नहुष से उत्पन्न लोग अग्नि की (प्रार्थना करते है)।" अथवा यदि 'मनुष' प्रथमा विभक्ति बहुवचन हो तो अन्तिम पंक्ति इस प्रकार होगी : "नहुष् से उत्पन्न लोग अग्नि की (प्रार्थना करते हैं)।"

"हे अग्नि, तुम्हें मनु ने मनुष्यों के लिये ज्योति-रूप में स्थापित किया है।"

१. ७६, ५. यथा विप्रस्य मनुषो हविर्भिर् देवान् अयजः कविभिः कविः सन्। एव होतः सत्यतर त्वम् अद्य अग्ने मन्द्रया जुह्वा यजस्व।

"जिस प्रकार तुमने स्वयं ऋषि होते हुए ऋषियों के साथ बुद्धिमान मनुष की हवि द्वारा देवताओं के लिये यज्ञ किया, उसी प्रकार हे सच्चा आह्वान करने वाले अग्नि तुम आनन्ददायी ज्वाला से उनके लिये यज्ञ करो।"

५. ४५. ६. आ इत धियम् कृणवाम सखायः ''यया मनुर् विशिशिप्रम् जिगाय ''।

"मित्रों आओ, हम प्रार्थना करें '' जिसके द्वारा मनु ने विशिशिप्र को जीता था।"

८. २०. २. यद् वा यज्ञम् मनवे सम्मिमिक्षथुर् एव इत् काण्वस्य बोधतम्।

"या (हे अश्विनों) तुमने मनु के लिये यज्ञ का अभिषेक किया, उसी प्रकार कण्व के वंशजों के लिये भी विचार करो।"

९. ९६, ११ : त्वया हि नः पितरः सोम पूर्वे कर्माणि चक्रुः पवमान धीराः। '' ''१२. यथा अपवथाः मनवे वयोधाः अमित्रहा वरिवोविद् हविष्मान्। एव पवस्व ''।

"हे पवित्र सोम, तुम्हारे द्वारा हमारे पूर्व पिताओं ने, जो धीर थे, अपने कर्म किये'''१२. जिस प्रकार तुम मनु के लिये शुद्ध होकर प्रवाहित हुए उसी प्रकार, हे जीवन देने वाले, शत्रुओं का नाश करने वाले, धन से पूर्ण एवं हवियों से युक्त (सोम) हमारे लिये भी शुद्ध होकर प्रवाहित होओ।"

१०. ६३, ७. येभ्यो होतारम् प्रथमाम् आयेजे मनुः समिद्धाग्निर् मनसा सप्त होतृभिः। ता आदित्या अभयम् शर्म यच्छतः''।

"हे आदित्यों, जिन्हें मनु ने अग्नि प्रज्वलित कर, सात होतृ ऋत्विजों के साथ प्रार्थना करते हुए प्रथम हवि प्रदान की थी, हमें अभय प्रदान करो ''।'

१०. ६३, ३. "यत् ते मनुर् यद् अनीकम् सुमित्रः समीधे अग्ने तद् इदम् नवीयः"।[८]

---

[८] शतपथ ब्राह्मण (१ ४, २, ५) मे 'देवेद्धो मन्विद्ध'' शब्दो की व्याख्या इस प्रकार की गई है :—'मन्विद्ध इति। मनुर् ह्य् एतम् अग्रे ऐन्धत। तस्माद् आह "मन्विद्ध" इति। "देवताओ ने पहले इसे अग्नि से जलाया, अत इसे देवेद्ध कहते ह। "पूर्वकाल मे मनु ने इसे प्रज्वलित किया, अत इसे "मन्विद्ध" कहते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण (२.३४) 'मन्विद्ध' शब्द की व्याख्या इस तथ्य से से करता है कि "मनुष्य इसे जलाते हैं" (इमम् हि मनुष्या इन्धते)।

"तुम्हारी वह ज्योति जिसे मनु ने प्रज्वलित की थी, सुमित्र ने प्रज्वलित की थी, वह यही है जो अब नवीन होकर जल रही है।"

पहले उद्धृत किये गये अंशों के साथ संगति रखते हुए अधोलिखित उद्धरण यह निर्दिष्ट करने वाले कहे जा सकते हैं कि याज्ञिक अग्नि सर्वप्रथम मनु ने प्रज्वलित की थी :

१. १३, ४ (=सा० वे० २. ७००) अग्ने सुखतमे रथे देवान् ईळितः आ वह। असि होता मनुर्हितः।

"हे प्रशंसित अग्नि : देवताओं को यहाँ सुखदायी रथ में ले आओ। तुम मनुष् द्वारा स्थापित (देवताओं के) होता हो।"[1]

---

[1] जिस समास-पद का मैंने "मनु द्वारा स्थापित" अर्थ किया है वह मूल मे 'मनुर्हित' है। प्रोफेसर आफरेख्त इसका अनुवाद करते हैं "मनुष्य को दिया गया" और इस विचार के समर्थन मे १ ३६, १० को उद्धृत करते है। जो अर्थ मैंने किया है वह १ ३६, १९ द्वारा पुष्ट होता है, जिसमे वही 'धा' धातु जिससे 'हित' (मूल रूप मे 'धित') बना है, 'नि' उपसर्ग के साथ प्रयुक्त हुई है। उसी कृदन्त 'हित' का प्रयोग ६ १६, १ मे भी किया गया है जिसमे कहा गया है : 'त्वम् अग्ने यज्ञानाम् होता सर्वेषाम् हित । देवेभिर् मानुषे जने।' "हे अग्नि, तुम मनुष् के जन मे देवताओ द्वारा सभी यज्ञो के होता रूप मे रखे गये हो या नियुक्त किये गये हो।" यह तथ्य कि यहाँ अग्नि को मनुष् के जनमे देवताओ द्वारा नियुक्त कहा गया है हमारी इस धारणा को बाधित नही करता कि दूसरे अश भी है जिनमे विरुद्ध रूप मे या भिन्न दृष्टिकोण से, अग्नि को मनु द्वारा स्थापित कहा गया होगा। 'मनुर्-हित' समास निम्न-लिखित स्थलो पर भी आता है, जिनमे इसका अर्थ सभवत. 'मनुष्यो के लिए कल्याणकारी है' ?, यथा १ १०६, ५ 'बृहस्पते सदम् इद् न. सुग कृधि श योर् यत् ते मनुर्-हितम् तद् ईमहे।' "हे बृहस्पति! हमारा सदैव कल्याण करो, हमारे तुम्हारे उस आशीर्वाद एव कृपा की कामना करते हैं जो मनुष्य के लिये हितकारी है।" (सायण का कथन है कि यहाँ 'मनुर्-हित' का अर्थ है 'तुम मे मनु अर्थात् ब्रह्मा द्वारा स्थापित किया गया' या 'मनुष्य के लिये अनुकूल।' बेनफे इसका अनुवाद "मनुष्य के लिये रचित" करते हैं। ६ ७०, २. 'राजन्ती अस्य भुवनस्य रोदसी अस्मे रेत सिञ्चत यद् मनुर्-हितम्।' "आकाश और पृथ्वी ने इस जगत् पर शासन करते हुए, हमारे ऊपर वह बीज छोडा जो मनुष्य के लिये हितकारी होता है। १० २६, ५ 'ऋषि. स यो मनुर्-हित।' "वह (पूषन्) जो मनुष्य के लिये दयालु ऋषि है।" प्रोफेसर रॉथ ने इस शब्द की व्याख्या मे केवल दूसरा अर्थ दिया है।

१. १४, ११. त्वम् होता मनुर्हितोऽग्ने यज्ञेषु सीदसि। सः इमम् नो अध्वरम् यज।

"हे अग्नि, मनुष द्वारा स्थापित होता, तुम यज्ञ में उपस्थित हो; हमारी इस हवि को प्रदान करो।" (देखिये ऋग्वेद ३. २, १५ भी)

६. १६, ९. त्वम होता मनुर्हितः··· ।

"तुम मनु द्वारा स्थापित किये गये होता हो ··· ।"

८ १९, २१. इळे गिरा मनुर्हितम् यम् देवा दूतम् अरतिम् नि एरिरे। यजिष्ठम् हव्य-वाहनम्।

"मैं प्रार्थना द्वारा मनुष् द्वारा स्थापित[10] उस श्लाघनीय एवं हवि को ले जाने वाले (अग्नि) की प्रशंसा करता हूँ, जिसे देवताओं ने दूत बनाकर भेजा है।"

८. ३४, ८. आ त्वा होता मनुर्हितो देवत्रा वक्षद् ईड्य ।

"मनु द्वारा स्थापित किया गया वह प्रशंसनीय होता तुझे (इन्द्र को) यहाँ देवताओं के मध्य ले आवे" इत्यादि।

इस प्रकार के भी वृत्त हैं जिनमें मनुष् के उदाहरणों को 'मनुषवत्', "मनुष के समान" या "जैसा मनुष् के सम्बन्ध में"[11] शब्दों द्वारा उल्लिखित कहा जा सकता है। इस प्रकार १. ४४, ११ में कहा गया है:

नि त्वा यज्ञस्य साधनम् अग्ने होतारम् ऋत्विजम् मनुष्वद् देव धीमहि··· ।

"हे देव अग्नि, हम मनुष् के समान तुम्हें स्थापित करते हैं, तुम यज्ञ के साधन हो, होता और ऋत्विज् हो ··· ।"

५. २१, १. मनुष्वत् त्वा नि धीमहि मनुष्वत्स म् इधीमहि। अग्ने मनुष्वद् अङ्गिरो देवान् देवयते यज।

"हे अग्नि, हम तुम्हें मनुष के समान स्थापित करते हैं, हम तुम्हें मनुष्

---

[10] यद्यपि यहाँ 'मनुर्-हित' शब्द की व्याख्या सायण ने "यज्ञ करने वाले मनु प्रजापति द्वारा स्थापित" किया है, तथापि इसका अर्थ "मनुष्यों के लिये मैत्रीपूर्ण" भी हो सकता है, क्योंकि अग्नि को देवताओ द्वारा प्रेषित कहा जाता है।

[11] मैं यह उल्लेखनीय समझता हूँ कि प्रोफेसर आफरेख्त—कदाचित् केवल ८ ४३, १३ के अपवाद को छोड कर—इसका अर्थ "मनुष्यो मे" लेते हैं। प्रोफेसर रॉथ केवल "मनुष्यो के समान" "यथा मनुष्यो मे या मनुष्यो के लिये" अर्थ लेते हैं।

के समान प्रज्वलित करते हैं। हे अग्नि, अङ्गिरस्, तुम उसके लिये मनुष् के समान देवताओं की पूजा करो, जो उनकी प्रार्थना करता है।"

७. २, ३. मनुष्वद् अग्निम् मनुना समिद्धम् सम् अध्वराय सदम् इन् महेम।

"हम मनुष् के समान निरन्तर अग्नि का यज्ञ में आह्वान करें, जो मनु द्वारा प्रज्ज्वलित किया गया था।"

८. २७, ७. सुत-सोमासो वरुण हवामहे मनुष्वद् इद्धाग्नयः।

"हे वरुण, हम सोम का सवन कर तथा अग्नि प्रज्वलित कर मनुष् के समान तुम्हारा आह्वान करते हैं।"

८. ४३, १३ : उत त्वा भृगुवत् शुचे मनुषवद् अग्ने आहुत। अङ्गिरस्वद् हवामहे।·· २७. यम् त्वा जनास इन्धते मनुषवद् अङ्गिरस्तम। अग्ने स बोधि मे वचः।

"हे तेजस्वी अग्नि हम भृगु, मनुष् और अङ्गिरस् के समान तुम्हारा आह्वान करते हैं, और तुम्हारा आह्वान किया जा चुका है। २७. हे अग्नि, जो अङ्गिरस् के समान है, और जिसे मनुष्य मनुष् के समान प्रज्वलित करते हैं, मेरे वचनों पर ध्यान दो।"

शतपथ ब्राह्मण १. ५, १, ७ मनुपवत् शब्द की इस प्रकार व्याख्या करता है :[१२] मनुराह वै अग्रे यज्ञेन ईजे। तद् अनुकृत्य इमाः प्रजाः यजन्ते। तस्माद् आह "मनुष्-वद्" इति। "मनोर् यज्ञः" इति उ वै आहुः। तस्माद् वा इव आहुर् "मनुष्वद्" इति। "मनु ने पूर्वकाल में यज्ञ किया। इसी का अनुकरण कर ये मनुष्य भी यज्ञ करते हैं। अतएव वह कहता है "मनुष्वत्" अर्थात् "मनु के समान"। अथवा लोग कहते हैं 'मनु के समान' क्योंकि मनुष्य यज्ञ को मनु का कहते हैं।"

तथापि, यह मानना पड़ेगा कि सूक्तों में मनु को सर्वत्र ही प्रथम या एकमात्र अग्नि को प्रज्वलित करने वाला या धार्मिक कर्मों का अनुष्ठान करने वाला नहीं कहा गया है। पहले उद्धृत किये गये १. ८०, १६ में उनके

---

[१२] वही ग्रन्थ उसी अंश में 'भरत-वत्' की व्याख्या इस प्रकार करता है· 'वह देवताओं के लिये हवि ले जाता है (भरति) अतएव लोग कहते हैं कि भरत (या ले जाने वाला) अग्नि है। अथवा उसे भरत (धारण करने वाला) इसलिये कहा जाता है कि प्राण होकर वह प्राणियों में जीवन धारण करता है।" यह शब्द राजा भरत के उदाहरण को निर्दिष्ट कर सकता है। देखिए शतपथ ब्राह्मण १३ ५, ४, १४

साथ प्राचीनकाल में यज्ञ करने वाले अथर्वन् तथा दध्यञ्च् का भी नामोल्लेख किया गया है।

निम्नलिखित मन्त्रों में अथर्वन् को अग्नि उत्पन्न करने वाला कहा गया है:

६. १६, १३. इमम् उ त्यम् अथर्व-वद् अग्निम् मथन्ति वेधसः।

"बुद्धिमान लोग इस अग्नि को उसी प्रकार निकालते हैं जिस प्रकार अथर्वन् ने निकाला था।"

६. १६, १३ (=सा० वे० १. ९; वाज० सं० ११, ३२): त्वाम् अग्ने पुष्करादू अध्य् अथर्वा निर् अमन्थत। १४. तम् उ त्वा दध्यङ्ङ् ऋषि. पुत्रः ईधे अथर्वणः।

"हे अग्नि, अथर्वन् ने तुम्हें कमल के पत्ते से निकाला", इत्यादि। १४. "तुझे अथर्वन् के पुत्र दध्यञ्च् ने प्रज्वलित किया।" इत्यादि।

[वाजसनेयि संहिता में इन मन्त्रों में प्रथम मन्त्र के तत्काल पूर्व ये शब्द आये हैं (११ ३२) ∙ अथर्वा त्वा प्रथमो निर् अमन्थद् अग्ने। "हे अग्नि, अथर्वन् ने तुम्हें सबसे पहले निकाला।"]

पुन. ऋग्वेद १०. २१, ५ में कहा गया है: अग्निर् जातो अथर्वणा विदद् विश्वानि काव्या। भुवद् दूतो विवस्वतः। "अथर्वन् द्वारा उत्पन्न किया गया अग्नि सम्पूर्ण ज्ञान का ज्ञाता है और वह विवस्वत का दूत बना है।"

१. ८३, ५ में अथर्वन् का उल्लेख यज्ञ के सर्वप्रथम संस्थापक के रूप में आया है: यज्ञैर् अथर्वा प्रथमः पथस् तते ततः सूर्यो व्रतपाः वेनः आजनि। "अथर्वन् प्रथम व्यक्ति था जिसने यज्ञों द्वारा मार्ग खोला, तब व्रत का पालन करने वाला, मित्र सूर्य उत्पन्न हुआ", इत्यादि: इसी प्रकार १०. ९२, १० में यज्ञैर् अथर्वा प्रथमो वि धारयद् देवा दक्षैर् भृगवः सम् चिकित्रिरे। "प्रथम अथर्वन् ने (सभी वस्तुओं की) यज्ञ द्वारा स्थापना की। देव भृगुओं ने अपनी शक्ति के साथ सहयोग दिया।"[13]

आगे वाले अंश भृगु को अग्नि द्वारा यज्ञ की सर्वप्रथम स्थापना करने वाला बताते हैं:

१. ५८, ६. दधुस् त्वा भृगवो मानुषेष्व् आ रयिम् न चारुम् सुहवम् जनेभ्यः। होतारम् अग्ने।

"हे अग्नि! भृगुओं ने तुम्हें मनुष्यों के बीच होता के रूप में, एक सुन्दर

[13] यद्यपि ऐसा बहुत सम्भव नहीं, तथापि इन दोनों पाठों से यह अर्थ समझा जा सकता है कि अथर्वन् ने सर्वप्रथम यज्ञ का उपयोग नहीं किया अपितु सन्दर्भ में उल्लिखित प्रयोजन के लिये इसका प्रयोग किया।

भण्डार के समान स्थापित किया है जिसका मनुष्यों के लिए सरलता से आह्वान होता है", इत्यादि ।

२. ४, २. इमम् विधन्तो अपाम् सदस्थे द्विता अदधुर् भृगवो विक्षु आयोः ।

"उस अग्नि की जल के आश्रयस्थान में पूजा करते हुए भृगुओं ने उसे आयु के लोगों के बीच स्थापित किया है ।

१०. ४६, २. इमम् विधन्तो अपाम् सदस्थे पशुम् न नष्टम् पदैर् अनुग्मन् । गुहा चतन्तम् उशिजो नमोभिर् इच्छन्तो धीरा भृगवो अविन्दन् ।

"जल के आश्रयस्थान में उसकी पूजा करते हुए एवं नमस्कार द्वारा उसकी इच्छा करते हुए बुद्धिमान् तथा इच्छुक भृगुओं ने अपने पदों द्वारा उसका एक खोये हुए पशु के समान अन्वेषण किया और उसे गुप्त स्थान में छिपा हुआ पाया"[१४] (१ ६५, १) ।

अन्य स्थलों पर देवताओं तथा अन्य ऋषियों के अग्नि द्वारा यज्ञ प्रारम्भ करने या यज्ञ का अनुष्ठान करने का, अथवा स्वर्ग से पवित्र अग्नि के ले आने का उल्लेख है :

१. ३६, १०. यम् त्वा देवासो मनवे दधुर् इह यजिष्ठम् हव्यवाहन । यम् कण्वो मेध्यातिथिर् धनस्पृतम् यम् वृषा यम् उपस्तुतः ।

हे हवि को ले जाने वाले, तुम्हें, जिसे देवताओं ने मनुष्य (या मनु) के लिये पूज्य बनाकर यहाँ स्थापित किया है, जिसे कण्व, जिसे मेध्यातिथि, जिसे वृषन्, जिसे उपस्तुत ने धन ले आनेवाला बनाकर स्थापित किया है ।" इत्यादि तु० की० ६. १६, १ ऊपर पृ० १८९, पर उद्धृत, टि० ९ ।

३. ५, १० : यदी भृगुभ्यः परि मातरिश्वा गुहा सन्तं हव्यवाहम् समीधे ।

"जब मातरिश्वन् ने भृगुओं के लिये हवियों को ले आनेवाले उस अग्नि को प्रज्वलित किया, जो गुप्त स्थान में छिपा था ।"

१०. ४६, ९. द्यावा यम् अग्निम् पृथिवी जनिष्टाम् आपस् त्वष्टा भृगवो यम् सहोभिः । ईळेन्यम् प्रथमम् मातरिश्वा देवास् ततक्षुर् मनवे यजत्रम् ।

---

[१४] निम्नलिखित मन्त्रो मे भी भृगुओ को अग्नि के पूजन से सवद्ध वताया गया हे : १ ७१, ४, १ १२७, ७, १ १४३, ४, ३ २, ४, ४. ७, १, ६. १५, २, ८ ४३, १३, ८ ९१, ५, १० १२२, ५

"मातरिश्वन् और देवताओं ने मनुष्य (या मनु) के लिए उस अग्नि को प्रथम पूजनीय वस्तु बनाया है जिसे द्युलोक और पृथ्वी ने, जलों ने, त्वष्टा ने, और भृगुओं ने अपनी शक्ति से उत्पन्न किया है।"

८वें मन्त्र में आयुस् के और १०वें में देवताओं तथा मनुष्यों के अग्नि स्थापित करने का उल्लेख किया गया है।

१. ६०, १; १. ९३, ६; १. १४८, १, ३. २, १३, २ ५, १०, ३. ९, ५; ६. ८, ४ में मातरिश्वन् को पुनः अग्नि को लानेवाला या उत्पन्न करने वाला कहा गया है। (मेरे ज० ए० सो०, भाग २२, वर्ष १८६३ में "ऑन मनु, द प्रोजेनिटर ऑफ दि आर्यन इण्डियन्स" शीर्षक लेख के पृ० ४१६ की टि० १ की तुलना कीजिए)।

हम पुनः मनु पर आते हैं। यद्यपि अनेक वृत्तों में सर्वप्रथम अग्नि को प्रज्वलित करने का श्रेय अथर्वन् या भृगुओं को दिया गया है, तथापि यह इस तथ्य को मिथ्या सिद्ध नहीं करता कि अन्य स्थानों पर यह श्रेय, कुछ असंगत रूप से, मनु को प्रदान किया गया है, और इन अन्य व्यक्तियों में किसी को भी मनु के साथ आर्य जाति का पूर्वपुरुष होने के गौरव के लिये संघर्ष करता हुआ नहीं प्रस्तुत किया गया है। इस सम्बन्ध में इसके अतिरिक्त कि कुछ स्थलों पर यम भी पूर्वपुरुष के रूप में वर्णित प्रतीत होते हैं, वैदिक परम्परा कोई अन्तर नहीं प्रदर्शित करती,। (१८६५ के ज० ए० सो०, पृ० २८७ आदि में मेरा लेख देखे तथा विशेषतः अथर्ववेद १८. ३, १३ के इन शब्दों पर ध्यान दें : यो ममार प्रथमो मर्त्यानाम्। "जो (यम) मनुष्यों में सर्वप्रथम मरा।"

(३) निम्नलिखित अंशों में मनु का वर्णन कतिपय देवताओं की विशेष कृपा या मध्यस्थता के पात्र रूप में किया गया है :

१. ११२, १६ : याभिर् नरा शयवे याभिर् अत्रये याभिः पुरा मनवे गातुम् ईषथुः। याभिः शारीर् आजतम् स्यूमरश्मये ताभिर् उ षु ऊतिभिर् अश्विना गतम्। १८ ''याभिर् मनुम् शूरम् इषा समावतम्।

"हे अश्विनों उन उपकारों के साथ आओ, जिनसे तुमने शयु को, अत्रि को, और पूर्वकाल में मनु को मुक्ति प्रदान की, जिससे तुमने स्यूमरश्मि के लिए बाण छोड़ा। १८ ' जिसके द्वारा तुमने वीर मनु की अन्न द्वारा रक्षा की।"[५५]

[५५] जहाँ तक यह मन्त्र मनु से सबद्ध है उसकी व्याख्या सायण ने इस प्रकार की है "और उन सहायताओ द्वारा, जिससे तुमने मनु के लिए यव इत्यादि अन्न बोकर दरिद्रता से बच निकलने के लिए मार्ग का निर्माण

८. १५, ५. येन ज्योतींपि आयवे मनवे च विवेदिथ। मन्दानो अस्य बर्हिषो वि राजसि।

"इस (प्रसन्नता) में आनन्दित होते हुए, जिससे तुमने आयु और मनु को ज्योतियों का ज्ञान कराया, तुम यज्ञ की घास के स्वामी हो।"

पहले आये हुए मन्त्र के साथ तुलना करने पर यह असम्भव नहीं प्रतीत होता कि निम्नलिखित उद्धरण भी उसी परम्परा का निर्देश करते हैं और हमें 'वायवे' के स्थान पर 'आयवे' पढ़ना चाहिए:

७. ६१, १: कुविद् अंग नमसा ये वृधसाः पुरा देवा अनवद्यासः आसन्। ते वायवे (आयवे?) मनवे बाधिताय अवासयन् उपसम् सूर्येन।

"निःसन्देह वे देवता, जिनको प्रार्थना द्वारा स्तुति की गई थी, पूर्वकाल में दोषरहित थे। उन्होंने सूर्य के साथ उषा को वायु (आयु?) के सम्मुख प्रदर्शित किया और मनु के सम्मुख प्रदर्शित किया, जब वे विपत्ति में थे।"

अधोलिखित मन्त्र में आकाश के समक्ष प्रदर्शित किये जाने का भी उल्लेख है, जब तक कि इसमें प्रयुक्त शब्द (मनु) को हम पुरूरवस् का विशेषण नहीं मान लेते, जो एक सम्भव कल्पना नहीं प्रतीत होती।"

१. ३१, ४. त्वम् अग्ने मनवे द्याम् अवाशयः पुरूरवसे सुकृते सुकृत्तरः।

"हे अग्नि तुमने मनु के समक्ष आकाश को प्रदर्शित किया, उदार पुरूरवस् के समक्ष प्रदर्शित किया; तुम महान् उपकारी हो।"

यदि ७. ९१, १ में मनु एक व्यक्ति का नाम माना जाय तो ६. ४९, १३ में भी उसे इसी अर्थ में समझना युक्तिसंगत होगा, जिसमें उल्लिखित व्यक्ति को समान रूप से पीड़ित बताया गया है।

६. ४६, १३: यो रजांशि विममे पार्थिवानि त्रिश् चिद् विष्णुर् मनवे बाधिताय।

"विष्णु, जिसने पीडित मनु के लिये तीन वार अन्तरिक्ष को नापा।"

और इस स्थिति में ७ १००, ४ में आया हुआ 'मनु' शब्द भी किसी व्यक्ति का द्योतक माना जा सकता है: विचक्रमे पृथिवीम् एष एताम् क्षेत्राय विष्णुर् मनवे दशस्यन्। "इस विष्णु ने इस पृथ्वी को मनु को

किया, इत्यादि।" दूसरे मन्त्र (१ ११७, २१) के अनुसार मनु एक राजर्षि थे।

निवास-स्थान के लिए प्रदान करते हुए उसका अतिक्रमण किया।" यद्यपि यहाँ "मनुष्य" का सामान्य अर्थ लेने पर भी अर्थ में कोई न्यूनता नहीं आती।

मैं यहाँ एक दूसरे अंश का उद्धरण दे सकता हूँ, जिसमें मनु शब्द का अन्य व्यक्तिवाचक शब्दों के साथ प्रयोग होने से यह मानना होगा कि यह शब्द व्यक्ति का सूचक है।

१. १३९, ९. दध्यङ् ह मे जनुषम् पूर्वो अङ्गिराः प्रियमेधः कण्वो अत्रिर् मनुर् विदुस् ते मे पूर्वे मनुर् विदुः।

दध्यङ्, प्राचीन अङ्गिरस्, प्रियमेध, कण्व, अत्रि, मनु मेरे (परुच्छेप के ?) जन्म को जानते हैं; वे मेरे पूर्वज, मनु, इसे जानते हैं।'

जैसा हम देख चुके हैं, सूक्तों में कुछ ऐसे अंश हैं जिनमें यह सन्देहास्पद है कि 'मनु' तथा 'मनुष्' शब्द किसी व्यक्ति के बोधक हैं या सामान्य मनुष्य के लिये आये हैं; और कुछ ऐसे उद्धरण भी हैं जिनमें दूसरा अर्थ ही स्पष्टतः एकमात्र अर्थ है जो संगत बैठ सकता है। इस प्रकार के अंश अधोलिखित हैं:—

(१) मनु : एकवचन में .

१. १३०, ५. ...धेनुर् इव मनवे विश्वदोहसो जनाय विश्वदोहसः।

"जिस प्रकार एक गाय मनुष्य के लिए होती है उसी प्रकार सभी कुछ उत्पन्न करने वाला, मनुष्यों के लिये सर्वस्व प्रदान करने वाला।"

५. २, १२ बर्हिष्मते मनवे शर्म यंसद् हविष्मते मनवे शर्म यंसत्।

"वह यज्ञ करने वाले मनुष्य को, हवि प्रदान करने वाले मनुष्य को कृपा प्रदान करे।"

८. ४७, ४. मनोर् विश्वस्य घ इद् इमे आदित्या राय ईशते...।

"ये आदित्य प्रत्येक मनुष्य के धनों के स्वामी हैं...।"

(२) मनु : बहुवचन में :

८. १८, २२ : ये चिद् हि मृत्युबन्धवः आदित्या. मनवः स्मसि। प्र सु नः आयुर् जीवसे तिरेतन।

"हे आदित्यों, हमारे दिनों को बढ़ाओ, जिससे हम जीवित रह सकें, हम मनुष्य हैं, मृत्यु के बन्धु हैं।"

१०. ९१, ९. यद् देवयन्तो दधति प्रयांसि ते हविष्मन्तो मनवो वृक्तबर्हिषः।

"जब ये पवित्र मनुष्य यज्ञ करते हुए, और याज्ञिक बर्हि को फैलाते हुए तुम्हें हवि प्रदान करते हैं।"

(३) मनुष् : एकवचन में :

१. १६७, ७. गुहा चरन्ती मनुषो न योषा ।

"गुप्त रूप से विचरण करने वाली एक मनुष्य की पत्नी के समान ।"

७. ७०, २ ···अतापि घर्मो मनुषो दुरोणे ।

"मनुष्य के घर में अग्नि प्रज्वलित हुई है ।"

वे ही शब्द "मनुषो दुरोणे" ८. ७६, २; १०. ४०, १३; १०. १०४, ४; १०. ११०, १० में भी आते हैं । १०. ९९, ७ में हम "द्रुह्वणे मनुषे", "दुष्ट मनुष्यों के विपरीत" शब्द पाते हैं ।

(४) मनुष् : बहुवचन में ·—

४. ६, ११. होतारम् अग्निम् मनुषो निषेदुर् नमस्यन्त उशिजः शंसम् आयोः ।

"प्रार्थना करते हुए, तथा इच्छुक होकर मनुष्य होता अग्नि की सेवा करते हैं, जो मनुष्यों (या आयु) की प्रशसा का पात्र है ।"

यदि अधोलिखित अंशों में मनु को व्यक्तिवाचक और मनुष्यों के पूर्वज का नाम न समझा जाय तो यह सर्वथा उसके उन वंशजों का नाम प्रतीत होगा जो वह कृपापात्र जाति थी जिससे मन्त्रों के रचयिता अपने को संबद्ध मानते थे; और कुछ स्थलों पर कम से कम आर्य का पर्यायवाची प्रतीत होता है, जिस नाम से वे अपनी जाति और धर्म के लोगों को दस्युओं से विपर्यास दिखाने के लिये अभिहित करते थे; दस्यु शब्द से या तो हम बर्बर दानवों या असभ्य आदिम जातियों का अर्थ ले सकते हैं : ·

१. १३०, ८. इन्द्रः समत्सु यजमानम् आर्यम् प्रावद् विश्वेषु शतमूतिर् आजिषु··· । मनवे शासद् अव्रतान् त्वचम् कृष्णाम् अरन्धयत् ।[१६]

"इन्द्र ने, जो सभी युद्धों में सैकड़ों उपकार करता है ··आर्यों के इन युद्धों में रक्षा की है । उद्दण्ड व्यक्तियों को दण्ड देते हुए उसने कृष्ण चर्म वालों को मनुष्य (मनवे) का सेवक बना दिया है ।"

तुलना कीजिए १. ११७, २१ जिसमें 'मनु' या 'मनुष्' के स्थान पर 'मनुष' शब्द का प्रयोग किया गया है ।

---

[१६] इसी प्रकार का विपर्यास 'आयु', "मनुष्य" एव 'दस्यु' के बीच निम्नलिखित वृत्त मे दृष्टिगोचर होता है —६. १४, ३ : 'नाना हि अग्ने अवसे स्पर्धन्ते रायो अर्य । तूर्वन्तो दस्युम् आयवो व्रतै सीक्षन्तो अव्रतम् ।' "हे अग्नि ! शत्रु की सम्पत्तियाँ अनेक मार्गों से (तुम्हारी पूजा करने वालो की सहायता के लिये) प्रतिद्वन्दिता करती हुई-सी दौडकर जाती हैं । मनुष्य दस्युओ का नाश करते हैं और व्रतो द्वारा व्रतहीनो को पराभूत करने का प्रयत्न करते हैं ।"

यवं वृकेण अश्विना वपन्ता इषम् दुहन्ता मनुषाय दस्रा । अभि दस्युम् बकुरेण धमन्ता उरु ज्योतिश् चक्रथुर् आर्याय ।

"हे वीर अश्विनों, वृक द्वारा जौ बोते हुए और मन् (मनुष) के लिए अन्न दुहते हुए, वज्र से (?) दस्यु को भगाते हुए तुमने आर्य के लिए विस्तृत ज्योति की है ।"[17]

१ १७५, ३ : त्वम् हि शूरः सनिता चोदयो मनुषो रथम् । सहावान् दस्युम् अव्रतम् ओपः पात्रम् न शोचिषा ।

"वीर और उपकारी तुमने मन् के रथ को आगे बढ़ाया है, विजयी तुमने अव्रती दस्यु को उस प्रकार जलाया है जैसे एक पात्र अग्नि द्वारा जला दिया जाता है ।"

२ २०, ६ : स ह श्रुत इन्द्रो नाम देव ऊर्ध्वो भुवद् मनुषे दस्मतमः । अव प्रियम् अर्शसानस्य सह्वान् शिरो भरद् दासस्य स्वधावान् । ७. स वृत्रहा इन्द्रः कृष्णयोनीः पुरन्दरो दासीर् ऐरयद् वि । अजनयद् मनवे क्षाम् अपश्च सत्रा शंसम् यजमानस्य तूतोत् ।

"इन्द्र नाम से ख्यात देवता मन् के लिए सर्वाधिक शक्तिशाली हुआ है । उस वीर, आत्माभिमानी ने दुष्ट दास के प्रिय मस्तक को विद्ध कर डाला है । ७ वृत्र को मारने वाले तथा नगरों को ध्वंस करने वाले इन्द्र ने कृष्णयोनि से उत्पन्न हुए दस्युओं को दूर भगा दिया है । उसने मन् के लिए पृथ्वी और जल की उत्पत्ति की है; उसने अपने यजमानों की अभिलाषा सम्यक् रूपेण पूर्ण की है ।"[18]

६. २१, ११ : नु मे आ वाचम् उप याहि विद्वान् विश्वेभिः सूनो सहसो यजत्रैः । ये अग्निजिह्वाः ऋतसापः आसुर् ये मनुम् चक्रुर् उपरम् दसाय ।

"हे विद्वान् देवता, शक्ति के पुत्र, उन सभी पूज्य देवताओं के साथ हमारे यज्ञ में आओ, जो अग्निजिह्वा हैं, यज्ञों में जानेवाले है, और जिन्होंने 'मन्' को दास से श्रेष्ठ बना दिया ।"

---

[17] इस अंश की प्रोफेसर रॉथ द्वारा की गई व्याख्या देखिए, जो आर्य भारतीयो के पूर्वपुरुष मनु पर लिखे गये एक लेख की टिप्पणी मे दी गयी है : ज० ए० सो०, भाग २० पृ० ४१८ ।

[18] ४ २६, ७ मे इन्द्र कहते है . 'अहम् भूमिम् अददाम् आर्याय अहम् वृष्टिम् दाशुषे मर्त्याय ।' "मैने आर्य को पृथ्वी दी और यज्ञ करने वाले पुरुष को वृष्टि दी ।"

८. ८७, ५. अभि हि सत्य सोमपाः उभे वभूथ रोदसी। इन्द्रासि सुन्वतो वृधः पतिर् दिवः। ६. त्वम् हि शश्वतीनाम् इन्द्र दर्ता पुराम् असि। हन्ता दस्योर् मनोर् वृधः पतिर् दिवः।

"५ हे सत्य सोम का पान करने वाले, तुमने दोनों लोकों को जीत लिया है। हे इन्द्र, तुम उसकी समृद्धि करने वाले हो जो सवन करता है। तुम आकाश के स्वामी हो। ६. हे इन्द्र, तुम नगरों का विध्वंस करने वाले हो, दस्यु को मारने वाले, मनु को समृद्धि प्रदान करने वाले और आकाश के स्वामी हो।"

९. ९२, ५ तन् नु सत्यम् पवमानस्य अस्तु यत्र विश्वे कारवः संनसन्त। ज्योतिर् यद् अह्ने अकृणोद् उ लोकम् प्रावद् मनुम् दस्यवे करभीकम्।

"यह पवित्र देव (सोम) का सत्य (निवासस्थान) होवे, जहाँ सभी ऋषि एकत्र हुए है, क्योंकि उसने दिन के लिये ज्योति एवं अन्तरिक्ष का निर्माण किया है, मनुष्य की रक्षा की है और दस्यु को दूर भगाया है।"

१०. ४९, ७ : यद् मा सावो मनुषः आह निर्णिजे ऋधक् कृपे दासं कृतव्यम् हथैः।

"जब मनु का सवन मुझे तेजयुक्त करता है, मै अपने प्रहारों से वलशाली दास को छिन्न-भिन्न कर देता हूँ (?)।"

१०. ७३, ७. त्वम् जघन्थ नमुचिम् मखस्युम् दासम् कृण्वानः ऋषये विमायम्। त्वम् चकर्थ मनवे स्योनान् पथो देवत्रा अञ्जसा इव यानान्।

"तुमने लोभी नमुचि का संहार किया है, दास द्वारा ऋषियों के विरुद्ध प्रयुक्त माया को दूर कर दिया है : तुमने मनुष्य के लिए सुन्दर मार्ग बनाये हैं जो मानों सीधे देवताओं के निकट पहुँचते हैं।"

यह द्रष्टव्य है कि इन अंशों में से किसी मे भी ब्राह्मणीय या अन्य किसी वर्ग के दैवी कृपा का विशिष्ट पात्र होने का उल्लेख नहीं किया गया है। मनुष्य या आर्य ही देवताओं के प्रियपात्र हैं। और यहाँ तक कि ऋग्वेद १. ११२, १. ११६, १. ११७; १. ११९ जैसे सूक्तों में, जिनमें अश्विनों के अपने अनेक भक्तों को दुःख से निवृत्ति करने का वर्णन और इन कृपापात्रों के नामों का भी उल्लेख किया गया है, यह कहीं भी नहीं बताया गया है

कि इनमें से कोई ब्राह्मण थे, यद्यपि प्रायः उनके ऋषि होने का निर्देश किया गया है।[१९]

एक और भी पर्याप्त रोचक और महत्त्वपूर्ण अंश है। ऋग्वेद ३. ३४, ९ को, जो यद्यपि मनु से असम्बद्ध है, यहाँ उद्धृत किया जा सकता है, क्योंकि यह 'आर्य' शब्द को "वर्ण" अर्थात् रंग संज्ञा के साथ जोड़ता है जो आगे चलकर ब्राह्मण एवं क्षत्रियों के लिए प्रयुक्त होकर "जाति" का वाचक हो गया। यह इस प्रकार है :

ससानात्यान् उत सूर्यं ससान इन्द्रः ससान पुरुभोजसं गाम्।
हिरण्ययम् उत भोगं ससान हत्वी दस्यून् प्र आर्यं वर्णम् आवत्।

"इन्द्र ने अश्व प्रदान किया, उसने सूर्य प्रदान किया, उसने अनेक व्यक्तियों को पुष्ट करने वाली गौ दी, उसने स्वर्णमय धन दिया : दस्यु को मारकर उसने आर्य वर्ण की रक्षा की।"

यह द्रष्टव्य है कि यहाँ 'वर्ण' शब्द एकवचन में प्रयुक्त है। इस प्रकार आर्य नाम के अन्तर्गत आनेवाले सभी व्यक्ति एक वर्ग या रंग में सम्मिलित हैं, अनेक में नहीं।[२०]

हम अगले अध्याय में देखेंगे कि पुरुषसूक्त के मन्त्र के अतिरिक्त भी ऋग्वेद में कुछ ऐसे मन्त्र हैं जिनमें सभी वर्णों में केवल ब्राह्मणों का उल्लेख किया गया है और द्वितीय वर्ण राजन्यों या क्षत्रियों का अथवा तीसरे और चौथे वर्णों का वैश्यों और शूद्रों के रूप में कहीं भी कोई स्पष्ट निर्देश नहीं मिलता।

इसी बीच मैं कुछ ऐसी उक्तियों को प्रस्तुत करूँगा जिनका सूक्तों में प्रयोग या तो सामान्य मनुष्य जाति का बोध कराने के लिये हुआ है अथवा कतिपय जातिगत या जनगत विभाजनों को सूचित करने के लिये। इन सबमें महत्वपूर्ण उल्लेख "पञ्चजनों" का है जिनका उल्लेख प्रायः 'पञ्च-कृष्टय.' 'पञ्च-क्षितयः' पञ्चक्षितयो मानुष्ययः (८. ६७, १), पञ्च-चर्षणयः, 'पञ्च-

---

[१९] देखिए ज० ए० सो० १८६६, पृ० ७ आदि।

[२०] नि सन्देह, सायण "आर्यम् वर्णम्" की व्याख्या "उत्तमम् वर्ण त्रैवर्णिकम्।" करते हैं अर्थात् "तीन उच्चवर्णों वाला नितान्त उत्तम वर्ण।" किन्तु निश्चय ही सायण ने अपने युग के विचारों के अनुसार ही व्याख्या की है। शतपथ ब्राह्मण, काण्व शाखा (अध्वर काण्ड १. ६) में कहा गया है कि केवल तीन उच्च वर्ण ही आर्य और यज्ञ के अधिकारी थे (आर्य एव ब्राह्मणो वा क्षत्रियो वा वैश्यो वा ते हि यज्ञिया.) देखिए ज० ए० सो० १८६६ का, पृ० २८१।

जनाः' 'पञ्चजन्या विश्' (८. ५२. ७), 'पञ्चभूम' (७. ६६, २) पञ्चजाता (६. ६१, १२)[२१] नामों से हुआ है।

इनमें से कुछ अभिधानों का प्रयोग स्थान-स्थान पर देवताओं के लिये भी किया गया है, यथा १०. ५३, ४ में : ऊर्जाद उत यज्ञियासः पञ्चजना मम होत्रं जुपध्वम्। "तुम पाँच जातियाँ जो यज्ञ-हवि का भक्षण करते हो, और पूजनीय हो, हमारी हवि को कृपापूर्वक ग्रहण करो।"[२२]

इस मन्त्र पर यास्क का यह कथन है, निरुक्त ३.८ : "गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसि" इत्य् एके। "चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चमः इत्य् औपमन्यवः।" "कुछ लोग कहते है कि इस शब्द का तात्पर्य गन्धर्वों, पितरों, देवताओं, असुरों तथा रक्षसों से है। औपमन्यव का कथन है कि यह चार वर्णों और पाँचवें निषादों के लिये आया है।"[२३]

---

[२१] ३ ८९, १ मे पञ्चजनो का ही उल्लेख नही, अपितु सभी जनो का उल्लेख किया गया है . 'शस महाम् इन्द्र यस्मिन् विश्वा आ कृष्टयः सोमपा कामम् अव्यन्।' "महान् इन्द्र की प्रशसा करो, जिसमे सभी जनो ने सोम का पान कर अपनी सम्पूर्ण इच्छाएं प्राप्त कर ली हैं।"

[२२] तु० की० १० ६०, ४ "जिसकी पूजा मे इक्ष्वाकु उस प्रकार समृद्ध, धनवान एव शत्रु का नाश करने वाले होते हैं जैसे आकाश मे पाँच जन (दिवीव पञ्च कृष्टय.)।" सायण ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है "उसके पाँच जन (चार वर्ण तथा निषाद) इस प्रकार (सुखी है) मानो वे स्वर्ग मे हो।" प्रो० मूलर, ज० ए० सो० १८६६, पृ० ४६२ इसका अनुवाद इस प्रकार करते हैं 'जैसे पाँच जन स्वर्ग मे।'

[२३] अपने इलस्ट्रेशन्स आफ द निरुक्त, पृ० २८ मे इस मन्त्र की टिप्पणी मे प्रोफेसर रॉथ ने कहा है.—'पाँच जनो की कल्पना, जिनमे मूलत सभी मानव जाति आ जाती थी ' " यहाँ दिव्य प्राणियो के समूह के लिये स्थानान्तरित कर दी गई है। इस कारण से ही जहाँ सख्या का निर्देश करना होता है, वहाँ अर्थ की अनेकता उत्पन्न हो जाती है।" तव प्रोफेसर रॉथ ने ऐतरेय ब्राह्मण ३ ३१ के एक अश को उद्धृत किया है, जिसे मैं डॉ० हाग के सस्करण मे कुछ अधिक पूर्ण रूप मे उद्धृत करता हूँ . 'पाञ्चजन्य वै एतद् उक्थ यद् वैश्वदेवम्। सर्वेषा वै एतत् पञ्चजनानाम् उक्थ देव-मनुष्याणा गन्धर्वाप्सरसा सर्पाणा च पितृणा च। एतेषा वै एतत् पञ्चजनानाम् उक्थम्। सर्वे एनम् पञ्च-जना विदु.। आ एनम् पञ्चिन्यै जनतायै हविनो गच्छन्ति य एव वेद।' "यह वैश्वदेव उक्थ पाँच जनो का होता है। यह देवता, मनुष्य, गन्धर्व तथा अप्सराओ, सर्पों तथा पितरो के सभी पाँचो जनो का है। इन पाँच वर्गों का

यदि औपमन्यव का अर्थ सही है तो वैदिक युग में निषादों को भी देव-पूजन का अधिकार था, क्योंकि अनेक मन्त्रों में इन 'पञ्चजनों' को अग्नि का भक्त बताया गया है। ये भी इसी प्रकार के अंश है :

६. ११, ४. आयु न य नमसा रातहव्याः अञ्जन्ति सुप्रयसम् पञ्चजना ।

"अग्नि, जिसे प्रचुर हवि के साथ पाँच जन, उपहार देते हुए नमस्कारों द्वारा आहूत करते हैं, जैसे वह एक मनुष्य होवे।"

यहाँ सायण ने पञ्चजनों का अर्थ "ऋत्विज् और यजमान" (ऋत्विग्-यजमान-लक्षणा.) किया है।

६. ६५, २२. ये सोमासः ''सुन्विरे '' । २३. ये वा जनेषु पञ्चसु ।
"अथवा वे सोम के सवन जो ' (२३) पञ्चजनों में उड़ेले गये हैं।"

१०. ४५, ६ वीळुं चिद् अद्रिम् अभिनत् परायन् जना यद् अग्निम् अयजन्त पञ्च ।

"उस (अग्नि) ने दूर तक चलकर दृढ़ पर्वतों को भी तोड़ दिया, जब पञ्चजनों ने अग्नि के लिये यज्ञ किया।"

७. १५, २ य' पञ्च चर्षणीर् अभि निषसाद दमे दमे। कविर् गृह-पतिर् युवा ।

"गृह के विद्वान् एवं युवक स्वामी (अग्नि), जिसने प्रत्येक घर में पञ्चजनों के बीच स्थान ग्रहण किया है।"

६ ६१, १२ में सरस्वती के पञ्चजनों की वृद्धि या समृद्धि करने का उल्लेख है (पञ्चजाता वर्धयन्ती)।

८. ५२, ७ में कहा गया है: यत् पञ्चजन्यया विशा इन्द्रे घोषाः असृक्षत । "जब पञ्चजन के लोग इन्द्र का आह्वान करते हैं" इत्यादि।

ऋग्वेद १ ११७, ३ में अत्रि को 'ऋषिम् पाञ्चजन्यम्', 'पञ्चजनों का ऋषि' कहा गया है। ५. ३२, ११ में सत्पतिः पाञ्चजन्य, 'पञ्चजनों के श्रेष्ठ स्वामी' विशेषण इन्द्र के लिये आया है; और ९. ६६, २० में अग्नि को

यह उक्थ होता है। ये सभी पाँच जन उसे जानते हैं (जो इसका प्रयोग करता है)। इन पाँच जनों में, जो हवन करने में दक्ष हैं, वे उस मनुष्य के निकट आते हैं, जो इसे जानता है।" देखिए डॉ० हाग का ऐत० ब्रा० २ २१४ जिसमें यह कहा गया है कि गन्धर्व और अप्सराएँ एक ही वर्ग में आते हैं।

पवित्र ऋषि तथा पञ्चजनों का पुरोहित (पाञ्चजन्यः पुरोहितः)[२४] कहा गया है।

तथापि दूसरे अंशों में यह कथमपि स्पष्ट नहीं है कि "पञ्चजनों" का आर्यों या उस श्रेष्ठ वर्ग के लोगों के साथ, जिनसे सूक्तों के रचयिता सम्बद्ध थे, तादात्म्य प्रदर्शित करना अभिप्रेत है। ऐसी बात कदाचित् इस मन्त्र में है: २. २, १० : अस्माकं द्युम्नम् अधि पञ्च कृष्टिषु उच्चा स्वर् न शुशुचीत दुष्टरम्। "हमारा यश पञ्चजनों में अलङ्घ्य आकाश के समान उन्नत होवे।" देखिए ६ ४६, ७, जिसे नीचे उद्धृत किया जायगा।

इसी विषय पर प्रोफेसर रॉथ अपने लेक्सिन में 'कृष्टि' शब्द के अन्तर्गत इस प्रकार कहते हैं: 'पञ्चजना' शब्द सभी जातियों का अभिधान है, केवल आर्य जातियों का ही नहीं।" यह उत्पत्ति की एक प्राचीन गणना है, जिसका कोई स्पष्ट निर्देश वैदिक मन्त्रों में नहीं मिलता। हम इस तथ्य की तुलना कर सकते हैं कि जगत् के विस्तारों या भूवृत्त के विन्दुओं की संख्या प्रायः पाँच बतायी गई है, विशेषत. अथर्ववेद ३. २४, २ के इस मन्त्र में: इमायाः पञ्च प्रदिशो मानवीः पञ्चकृष्टयः। "ये पाँच दिशाएँ, ये पञ्चजन मनु से उत्पन्न हुए हैं"। इन दिशाओं में हमें पाँचवीं इनकी मध्यवर्ती (ध्रुवादिक् अथर्ववेद ४. १४, ८, १८. ३, ३४) मानना पडेगा, अर्थात् आर्यों का मध्यविन्दु मानना होगा और इनके चारों ओर विश्व की चार दिशाएँ · · वैदिक प्रयोग के अनुसार पाँच सख्या असीमित संख्या की वोधक नहीं मानी जा सकती।"

अतएव हम 'पञ्चजनाः' शब्द के प्रयोग को उस समय जब इसका प्रयोग प्रायः होता था कठोर रूप में वर्ण व्यवस्था के व्यवस्थित होने का प्रमाण नहीं मान सकते। इस प्रकार के वर्गीकरण का प्रायिक प्रयोग, जो आगे चलकर समाप्त हो गया, इसकी विपरीत स्थिति को प्रमाणित करता है। वर्ण व्यवस्था सदैव चार वर्णों वाली थी, पांच वर्णों की नहीं, और यद्यपि औपमन्यव ने निषादों को जनवर्ग के पाँचवें भेद के रूप में जोड़ा है, तथापि यह वर्ग इतना पतित माना जाता था कि हम यह मान नहीं सकते कि सभी अंग समान अथवा प्रायः समान धरातल पर स्थित माने गये हैं।

---

[२४] देखिए महाभारत, ३ २२०, ५, जिसका निर्देश रॉथ ने 'जन' के अन्तर्गत किया है। इसमे पाँच वर्णां वाले एक पुरुष के जन्म का वर्णन किया गया है, जो स्पष्टत अग्नि है। यह पाँच ऋषियों द्वारा उत्पन्न किया गया था और पञ्चजनो के देवता (पाञ्चजन्य) तथा पञ्चजनो को उत्पन्न करने वाला ख्यात हुआ।

डॉ० कून ने[२५] माना है कि "पञ्चजनों" को उन जातियों से अभिन्न मानना होगा, जिनके नाम निम्नलिखित मन्त्र में उल्लिखित हैं :

१. १०८, ८. यद् इन्द्राग्नी यदुषु तुर्वशेषु यद् द्रुह्युष्व् अनुषु पूरुषु स्थः। अतः परि वृष्णाव् आ हि यातम् अथवा सोमस्य पिबतं सुतस्य।

"हे इन्द्र और अग्नि ! यदि तुम लोग यदुओं, तुर्वशों, द्रुह्युओं, अनुओं पूरुओं में निवास कर रहे हो—तो हे शक्तिशाली वीरों, सभी दिशाओं से यहाँ आओ और इस सोम का पान करो जिसका सवन किया गया है।"

यद्यपि इन जनों का ऋग्वेद में पृथक्-पृथक् उल्लेख किया गया है, यह एक मात्र या प्राय: एकमात्र ऐसा वर्णन है जिसमें इन सबको एक साथ सम्बद्ध किया गया है। अतएव "पाँच" के साथ उनकी अभिन्नता सन्देहास्पद है।

ऋग्वेद में सूक्तों के रचयिताओं को सुज्ञात एक जाति के लिए एक और शब्द का प्रयोग किया गया है, वह है, 'नहुष'। हम इस शब्द से पहले ही एक मन्त्र (१०. ८०, ६) में परिचित हो चुके हैं, जिसका मैंने ऊपर उद्धरण दिया है। उस मन्त्र में यह शब्द स्पष्टतः एक ऐसी जाति का बोधक प्रतीत होता है, जो मनुष् के वंशजों से भिन्न हैं; और इससे व्युत्पन्न विशेषण शब्द ६. ४६, ७ (=सामवेद १.२६२) में आता है, जहाँ नहुष् के जन पञ्चजनों से भिन्न दिखाये गये हैं, चाहे उन्हें जो भी माना जाय। शब्द ये हैं : यद् इन्द्र नाहुषीष्व् आ ओजो नृम्णं च कृष्टिषु। यद् वा पञ्च क्षितीनां द्युम्नम् आ भर सत्रा विश्वानि पौंस्या। "हे इन्द्र ! नहुष् के जनों में जो कुछ शक्ति या बल है, या पञ्चजनों का जो कुछ वैभव है, वह सब (हमारे लिए) ले आओ, सभी पौरुष शक्तियों को एक साथ ले आओ।'

प्रोफेसर रॉथ (देखिए उनका लेक्सिकन) नहुष शब्द से सामान्य मनुष्यों को अभिहित मानते हैं, किन्तु इसका विशेष अर्थ अपरिचित या प्रतिवंशी है, जो वक्ता के अपने समाज के लोगों के साथ विपर्यास प्रदर्शित करता है। और वे ऊपर दो बार उल्लिखित १०. ८०, ६ के शब्दों का अर्थ "हमारे अपने जनों के पुत्र तथा हमारे चारों ओर विद्यमान जनों के पुत्र" मानते हैं।

नहुष् के ये वंशज चाहे जो कोई भी रहे हों १०. ८, ६० (अभी विवेचित अंश) में उन्हें स्पष्टतः अग्नि का पुजारी कहा गया है और इस कारण आर्य उन्हें अपनी नितान्त जाति और पूजा से नितान्त पृथक नहीं समझते होंगे।

---

[२५] देखिए वेबर का इण्ड० स्टू० १. २००. जिसमें हाल० अल्ग० लिट० स्ने० १८४६ पृ० १०८६ में प्रकाशित डॉ० कून के लेख का उल्लेख किया गया है।

पहले के समान पुरुषसूक्त को छोड़कर ऋग्वेद के सूक्तों में मनुष्यों की उत्पत्ति के अत्यल्प निर्देश हैं और वर्णों की पृथक् उत्पत्ति का तो कोई भी उल्लेख नहीं मिलता। निम्नलिखित उद्धरण मनुष्य जाति को उत्पन्न करने का श्रेय अग्नि को प्रदान करता है, ऋग्वेद १. ९६, २ : स पूर्वया निविदा कव्यता आयोर् इमाः प्रजाः अजनयद् मनूनाम्। विवस्ता चक्षसा द्याम् अपश् च देवा अग्नि धारयन् द्रविणोदाम्। "प्रथम निविद द्वारा, आयु के ज्ञान द्वारा उस (अग्नि) ने इन मनुष्यों की प्रजाओं को उत्पन्न किया, अपनी तीव्र ज्योति से पृथ्वी एवं जलों की सृष्टि की; देवताओं ने धन देने वाले अग्नि को धारण किया।"[२६]

ऐतरेय ब्राह्मण इस मन्त्र का प्रवेश निम्न अंश द्वारा करता है : प्रजापतिर् वै इदम् एक एव अग्रे आस। सोऽकामयत "प्रजायेय भूयान् स्याम्" इति। स तपोऽतप्यत। स वाचम् अयच्छत्। स संवत्सरस्य परस्ताद् व्याहरद् द्वादश कृत्वः। द्वादशपदा वै एषा निवित्। एताम् वाव ताम् निविदं व्याहरत्। तां सर्वाणि भूतान्य् अन्वसृज्यन्त। तद् एतद् ऋषिभिः पश्यन्न् अभ्यनूवाच "स पूर्वया" इत्यादिना। "पूर्वकाल में केवल प्रजापति ही यह विश्व थे। उन्होंने इच्छा की, मेरी सन्तान होवे, मेरी वृद्धि होवे। उन्होंने तप किया। उन्होंने अपनी वाणी को रोक लिया। एक वर्ष के बाद वे बारह बार बोले। इस निविद् में बारह शब्द होते हैं। इस निविद् का ही उन्होंने उच्चारण किया। इसके उपरान्त सभी प्राणियों की सृष्टि हुई। इसे देख कर ऋषि ने यह मन्त्र कहा है "प्रथम निविद् के द्वारा" इत्यादि।

अनेक स्थलों पर "प्राणियों" (प्रजाः) की सृष्टि का श्रेय विभिन्न देवताओं को दिया गया है। ३. ५५, १९[२७] में—त्वष्टसवितृ, ९. ८६, २८ में सोम को, ८. ८५, ६ (य इमा जजान् विश्वा जातानि) में इन्द्र को। १०. ५४, ३ में इन्द्र के विषय में कहा गया है कि उसने स्वयं अपने शरीर से पिता एवं माता (द्युलोक और पृथ्वी) को उत्पन्न किया" (यन् मातरं च पितरं च साकम् अजनयथास् तन्व. स्वायाः), जबकि विश्वकर्मन् को, जिसे १०. ८१, २. ३ में आकाश और पृथ्वी को उत्पन्न करने वाला बताया गया है, १०. ८२, ३

---

[२६] देखिये डॉ० हाग का अनुवाद, ऐत० ब्रा० भाग २ पृ० १४३, तथा वेनफी का जर्मन अनुवाद ओरिएण्ट एण्ड ओक्सिडेण्ट, २. ५१२

[२७] कदाचित् यहाँ हमे त्वष्टृ का सृष्टि मे सहायक होने का कर्म समझना होगा।

में भी "हमारे पिता और जन्मदाता" (यो नः पिता जनिता) शब्दों द्वारा उल्लिखित किया गया है। तथापि ये सभी अंश इतने अव्यवस्थित है कि मनुष्य जाति की सृष्टि के विषय में इन अंशों के रचयिताओं के विचारों की गहराई तक नहीं पहुँचा जा सकता।

खण्ड २—शतपथ, ऐतरेय, एवं तैत्तिरीय ब्राह्मणों, तैत्तिरीय संहिता, और छान्दोग्य उपनिषद् के मनु-सम्बन्धी आख्यान एवं वर्णन।

जिस प्रथम अंश का मैं उद्धरण दूँगा उसमें जलप्लावन का प्रमुख आख्यान है, जिसे इस कृति के दूसरे भाग आदि में दिया गया है और जिसका अब तक अँग्रेजी में रूपान्तर प्रोफेसर मैक्स मूलर (ऐ० सं० लिट० पृ० ४२५) तथा प्रोफेसर मो० विलिअम्स (इण्ड० एपिक पोएट्री, पृ० ३४, ने किया है और जर्मन में इसका सबसे प्रथम अनुवाद प्रोफेसर वेवर ने १८४९ ई० में किया है (इण्ड० स्टू० १. १६३ आदि)।

शतपथ ब्राह्मण १ ८ १. १ : मनवे ह वै प्रातर् अवनेग्यम् उदकम् आजहुर् यथा इदम् पाणिभ्याम् अवनेजनाय आहरन्ति। एव तस्य अवनेनिजानस्य मत्स्यः पाणी आपेदे। २. स ह अस्मै वाचम् उवाद "विभृहि पारयिष्यामि त्वा" इति। "कस्माद् मा पारयिष्यासि" इति। "औघः इमाः सर्वा प्रजा निर्वोढा ततस् त्वा पारयितास्मि" इति। "कथम् ते भृतिर्" इति। ३. स ह उवाच "यावद् वे क्षुल्लकाः भवामो वह्वी वे नस् तावद् नाष्ट्रा भवन्त्य् उत मत्स्य एव मत्स्यम् गिलति। कुम्भ्यां मा अग्रे विभरासि। स यदा ताम् अतिवर्धा अथ कर्षूम खात्वा तस्या मा विभरासि। स यदा ताम् अतिवर्धा अथ मा समुद्रम् अभ्यवहरासि। तर्हि वै अतिनाष्ट्रो भवतास्मि" इति। ४. शश्वद्[२८] ह झप[२९] आस स हि ज्येष्ठम्[३०] वर्धते। "अथ इतिथीम् समाम् तद् औघः आगन्ता तद् मा नावम् उपकल्प्य उपासासै। स औघे उत्थिते नावम् आपद्यासै ततस् त्वा पारयितास्मि" इति। ५. तम् एवम् भृत्वा समुद्रम् अभ्यवजहार। स यतिथीम् तत् समाम् परिदिदेश ततिथीम् समाम्

[२८] 'शश्वत्—शब्दोऽत्र सामर्थ्यात् क्षिप्र-वचन'—भाष्य०।

[२९] झषो महा-मत्स्य —भाष्य

[३०] ज्येष्ठम् वृद्धतमम्—भाष्य

नावम् उपकल्प्य उपासाञ्चक्रे। स औघे उत्थिते नावम् आपेदे। तम् स मत्स्यः उपन्यापुप्लुवे। तस्य शृङ्गे नावः पाशं प्रतिमुमोच। तेन एतम् उत्तरम् गिरिम्[31] अतिदुद्राव।[32] ६. स ह उवाच "अपीपरम् वै त्वा वृक्षे नावम् प्रतिबध्नीष्व। तं तु त्वा मा गिरौ सन्तम् उदकम् अन्तश्छैत्सीद् यावद् यावद् उदकं समवायात् तावत् तावद् अन्ववसर्पासि" इति। स ह तावत् तावद् एव अन्ववससर्प। तद् अपि एतद् उत्तरस्य गिरेर् "मनोर् अवसर्पणम्" इति। औघो ह ताः सर्वाः प्रजाः निरुवाह अथ इह मनुर् एव एकः परिशिशिषे। ७. सः अर्चन् श्राम्यंश् चचार प्रजाकामः। तत्र अपि पाक-यज्ञेन ईजे। स घृतम् दधि मस्त्व् आमिक्षाम् इत्य् अप्सु जुहवाञ्चकार। ततः संवत्सरे योपित् सम्बभूव। सा ह पिब्दमाना[33] इव उदेयाय। तस्यै ह स्म घृतं पदे सन्तिष्ठते। तया मित्रा-वरुणौ सञ्जग्माते। ८. तां ह ऊचतुः "का असि" इति। "मनोर् दुहिता" इति। "अवयोर् ब्रूष्व" इति। "न" इति ह उवाच "यः एव माम् अजीजनत तस्य एव अहम् अस्मि" इति। तस्याम् अपित्वम्[34] ईषाते। तत् वा जज्ञौ तद् वा न जज्ञाव[35] अति तु एव इयाय। सा मनुम् आजगाम। ९. ताम् ह मनुर् उवाच "का असि" इति। "तव दुहिता" इति। "कथम् भगवति मम दुहिता" इति। "याः अमूर् अप्सु आहुतीर् अहौषीर् घृतं दधि मस्त्व् अमिक्षां ततो माम् अजीजनथाः। सा आशीर् अस्मि ताम् यज्ञे अवकल्पय। यज्ञे चेद् वै मा अवकल्पयिष्यसि बहुः प्रजया पशुभिर् भविष्यसि याम् उ मया काञ्च आशिषम् आशासिष्यसे सा ते सर्वा समर्धिष्यते" इति। ताम् एतद् मध्ये यज्ञस्य अवाकल्पयत्। मध्यं हि एतद् यज्ञस्य यद् अन्तरा प्रयाजानुयाजान्। १०. तया अर्चन् श्राम्यांस् चचार प्रजाकामः। तया इमाम् प्रजातिम् प्रजज्ञे या इयम् मनो' प्रजाति.। याम् उ एनया काञ्च आशिषम् आशास्त सा अस्मै सर्वा समार्ध्यत। सा एषा निदानेन यद् इडा। स यो ह एवम् विद्वान्

---

[31] उत्तरम् गिरिम् हिमवन्तम्—भाष्य।

[32] कुछ हस्तप्रतियो मे 'अधिदुद्राव' है।

[33] पिब्दमाना.. घृत-प्रभवत्वात् घृतम् स्रवन्ती सुस्निग्धा उदकाद् उत्थिता—भाष्य०

[34] अपित्वम् भाग। तम् प्रार्थितवन्तौ—भाष्य०।

[35] प्रतिज्ञातवती च न च प्रतिज्ञातवती—भाष्य०।

इडया चरति एताम् ह एव प्रजातिम् प्रजायते याम् मनुः प्रयोयत। याम् उ एनया काञ्च आशिषम् आशास्ते सा अस्मै सर्वा समृध्यते।

"१. प्रातःकाल वे मनु के आचमन के लिए जल ले आए, जैसे मनुष्य हस्तप्रक्षालन के लिए जल ले आते हैं। जब वे इस प्रकार प्रक्षालन कर रहे थे तो उनके हाथों में एक मत्स्य[36] आया, २. (जिसने उनसे कहा) 'मेरी रक्षा करो, मैं तुम्हें बचाऊँगा'। (मनु ने पूछा) 'तुम मुझे किससे बचाओगे'। (मत्स्य ने उत्तर दिया) 'एक जलप्लावन इन सभी प्राणियों[37] को बहा ले जायगा, उससे मैं तुम्हें बचाऊँगा।' (मनु ने पूछा) 'तुम्हारी रक्षा कैसे (हो सकेगी)?' ३. मत्स्य ने कहा : 'जब तक हम छोटे रहते हैं तब तक हमें महान् भय रहता है, क्योंकि मत्स्य मत्स्य का भक्षण कर जाते हैं, तुम पहले मेरा पालन एक घड़े में रखकर करो। जब मैं घड़े से अधिक बढ़ जाऊँ तब तक एक गड्ढा खोदना और उसमें मेरा पालन करना। जब उस गड्ढे के लिए भी मैं बड़ा हो जाऊँ तब तुम मुझे समुद्र में डाल देना। तब मैं निर्भय हो जाऊँगा।' ४. शीघ्र ही वह एक महामत्स्य बन गया, क्योंकि वह अत्यन्त शीघ्र बढ़ता है। (उसने कहा) 'अब अमुक-अमुक वर्ष में जलप्लावन होगा, अतएव तुम एक नौका बनाओ और मेरे निकट आओ, जब जलप्लावन बढ़े तब तुम नौका पर चढ़ जाना और मैं तुम्हें इससे बचाऊँगा।' ५ इस प्रकार मत्स्य का पालन कर मनु उसे समुद्र में ले गये। तब जिस वर्ष में मत्स्य ने कहा था उसी वर्ष उन्होंने एक नौका बनाई और उसके निकट पहुँचे। जब जलप्लावन आया तब मनु नौका पर चढ़ गये। मत्स्य तैरकर उनके पास आया उन्होंने नौका की रज्जू को मत्स्य की

---

[36] 'भाविनोऽर्थस्य सिद्ध्यर्थं देवता एव मत्स्य–रूपेण आजगाम।' "भावी कार्य की सिद्धि के लिये एक देव मत्स्य का रूप धारण कर आया।"—भाष्य०

[37] "औघ. उदक–सङ्घात। स इमा. भरतवर्ष–निवासिनी प्रजा. नि शेष वोधा। देशान्तरम् प्रापयिता।" "जलप्लावन भरतवर्ष मे निवास करने वाली सम्पूर्ण प्रजाओ को वहाकर दूसरे देश मे पहुचा देगा"—भाष्य०—मैं यह नहीं समझता कि यहाँ 'निर्वोढा' शब्द का यह अर्थ क्यो किया गया है : आगे सभी स्थानो पर यही कहा गया है कि जलप्लावन के उपरान्त केवल मनु ही शेष रह गये थे।

सींग में बाँध दिया। इस प्रकार वे इस उत्तरी पर्वतों[३८] पर पहुँचे।[३९] ६. मत्स्य ने कहा : 'मैंने तुम्हें बचा दिया; नौका को वृक्ष से बाँध दो। किन्तु जब तुम पर्वत पर हो तो उस समय जल तुम्हें कहीं पृथक् न कर दे, इसलिए जैसे-जैसे जल कम होता जाय, वैसे-वैसे तुम नीचे उतरना।' उसके अनुसार वे जल के घटने के साथ नीचे उतरते गये। अतएव इस उत्तरी पर्वत का 'मनोरवसर्पण' नाम भी है। अब जलप्लावन ने सभी प्राणियों को नष्ट कर दिया था, अतएव केवल मनु ही शेष रह गये थे। ७. सन्तान की इच्छा से वे तपस्या और प्रार्थना में लगे रहे। इनमें उन्होंने पाक-यज्ञ भी किया। उन्होंने घृत, दधि, मस्तु और आमिक्षा की जल में बलि दी, उससे एक वर्ष में एक स्त्री उत्पन्न हुई। वह मानों स्निग्ध उत्पन्न हुई।[४०] घृत उसके चरणों में रचता है। मित्र और वरुण उससे मिले। उन्होंने उससे पूछा, 'तू कौन है'? 'मनु की पुत्री' (उसने उत्तर दिया)। 'कहो कि तुम हमारी हो' (उन्होंने कहा)। उसने उत्तर दिया 'नहीं, मैं उसकी हूँ जिसने मुझे जन्म दिया।' उन्होंने उसमें अंश माँगा, उसने स्वीकार भी किया और नहीं भी स्वीकार किया; किन्तु आगे बढ़ गई। वह मनु के निकट आई। ९. मनु ने उससे कहा, 'तुम कौन हो?' 'तुम्हारी पुत्री' उसने उत्तर दिया। 'सुन्दर पुत्री, यह कैसे?' मनु ने पूछा। उसने कहा, 'आपने मुझे उस हवि, घृत, दधि और आमिक्षा से उत्पन्न किया है, जिसे आपने जल में छोड़ा। मैं आशीः हूँ। मेरा यज्ञ में उपयोग कीजिए। यदि आप मेरा उपयोग यज्ञ में करेंगे तो आपकी प्रजा और पशुओं की वृद्धि होगी।' फलतः उन्होंने उसे उस रूप में प्रयुक्त किया जो यज्ञ के मध्य में आता है, क्योंकि यज्ञ का मध्य वही है, जो प्रयाज और अनुयाज के मध्य आता है। १०. प्रजा की इच्छा से वे उसके साथ तप और धार्मिक कृत्य करते रहे। उसके साथ उन्होंने इस प्रजा

---

[३८] या यदि 'अधिदुद्राव' पाठ सही हो तो यह अनुवाद होगा "उसने शीघ्रता की"

[३९] भाष्यकार के अनुसार 'हिमवत्' या हिमालय।

[४०] 'पिब्दमाना' का भाष्यकार ने ऐसा ही अर्थ किया है, जिसका अनुसरण प्रोफेसर वेबर और मूलर ने किया है। प्रोफेसर रॉथ अपने लेक्सिकन मे इसका यह अर्थ करते हैं : "दृढ" अर्थात् "वह स्त्री जल के भीतर से ठोस पदार्थ के रूप मे निकली।"

को उत्पन्न किया[४१] जो मनु की प्रजा है।[४२] जो कुछ भी आशीष उन्होंने उसके साथ मांगा, वह सब उन्हें प्राप्त हुआ। यह वही है जो इडा कहलाती है। जो कोई भी इसको जानते हुए इडा के साथ रहता है, इस प्रजा को उत्पन्न करता है, जिसे मनु ने उत्पन्न किया। जो कुछ भी आशीष वह उसके साथ माँगता है वह सब उसे प्राप्त हो जाता है।"

इस रोचक आख्यान से हम यह जानते हैं कि उसके रचयिता के विश्वास के अनुसार, मनु मनुष्य जाति के स्रष्टा नहीं थे, जैसा कि कुछ परवर्ती वर्णनों ने उन्हें माना है, किन्तु वह स्वयं ही एक पूर्वकाल की जाति से सम्बद्ध थे जो इसमें वर्णित जलप्लावन द्वारा पूर्णतः नष्ट हो गई। यह आख्यान

---

[४१] यह उल्लेखनीय है कि वही क्रिया (प्रजज्ञे) जिसके द्वारा मनु की सन्तानोत्पादन की क्रिया का वर्णन किया गया है, उसी ब्राह्मण के दूसरे स्थलों पर (२ २, ४, १, २ ५, १, १; ६ १, १, ८, ६ १, ३, १, ७. ५, २, ६, ११ ५, ८, १) दूसरे काल में प्रजापति के लिये प्रयुक्त की गयी है, जिनके विषय में यह कहा गया है कि उन्होंने इस पर विचार किया कि प्रजा की उत्पत्ति किस प्रकार की जाय (स ऐक्षत 'कथ नु प्रजायेय')। (तु० की० ११ १, ६, १)। उसी ग्रन्थ के दूसरे अंशों में कहा गया है कि प्रजापति ने जलों की सृष्टि की ('असृजत' ६ १, १, ९) अथवा प्रजाओं की सृष्टि की (प्रजा असृजत ७ ४, ३, ५, १० २, २, १) और 'जन्म देना' शब्द के प्रजापति के लिये लाक्षणिक अर्थ में अथवा उन्हें मनुष्य सदृश मान कर प्रयुक्त होने का तथ्य हमारी इस मान्यता को न्याय्य नहीं ठहराता कि शतपथ ब्राह्मण के लेखक को प्रस्तुत अंश (जलप्लावन के आख्यान) में मनु को मनुष्य जाति के स्रष्टा के रूप में प्रस्तुत करना अभिप्रेत था, न कि स्वाभाविक अर्थ में उनके पूर्वपुरुष के रूप में (ऋग्वेद २ ३३, १, ६. ७०, ३ में यह वाक्य मिलता है 'प्रजायेमहि प्रजाभि । प्रप्रजाभिर् जायते। "हम सन्तान उत्पन्न करें" "वह सन्तान उत्पन्न करता है")।

[४२] तु० की० तैत्तिरीय स० ५ १, ५, ६ "शिवो भव प्रजाभ्याम्" इत्य् आह प्रजाभ्य एव एनम् शमयति। 'मानुषीभ्यस् त्वाम् अङ्गिर.' इत्य् आह मानव्यो हि प्रजा।" वह कहता है, 'प्रजाओ के लिये कल्याणकारी होओ', क्योंकि वह उसका प्रजाओ को (आघात पहुचाने से) शमन करता है। वह कहता है 'हे अङ्गिरस्, हम तुम्हें मनुष्य की प्रजाओ को आघात पहुँचाने से विरत होने के लिये प्रसन्न करते है।' क्योंकि प्रजाएँ मनु से उत्पन्न हुई है।"

उन्हें अपनी पीढ़ी का प्रतिनिधि मानता है, जो कुछ कारणवश, कदाचित अपने श्रेष्ठ ज्ञान या पवित्रता या पद द्वारा साधारण मर्त्यों के समूह में आनेवाले जलप्लावन से रक्षा के योग्य समझे गये थे। वह केवल एक मनुष्य समझे जाते थे, उच्चश्रेणी के प्राणी नहीं, यह इस तथ्य से प्रदर्शित है कि उन्हें अपनी रक्षा के लिए उच्चतर शक्ति की आवश्यकता पड़ी। एक असाधारण मत्स्य ने, जो स्पष्टतः कोई दैवी पुरुष है, और जिसके एक ऐसे प्राणी का रूप ग्रहण करने की कल्पना की गई है जो उमड़ते हुए जल के बीच पूर्णतः सुरक्षित और सकुशल हो, उनकी रक्षा का बीड़ा उठाया, और जिस नौका पर वे बैठे थे उसे सभी विपत्तियों से होकर गन्तव्य स्थान तक पहुँचाया। मनु के अतिरिक्त किसी और ने नौका में शरण नहीं ली क्योंकि कथा स्पष्टतः निर्देश करती है कि केवल वे ही बच रहे, जब कि सभी अन्य प्राणियों का नाश हो गया। जल के घटने पर केवल अपने को बचा हुआ देखकर उन्होंने सन्तान की कामना की; और अत्यधिक निष्ठा के साथ उन्होंने कतिपय धार्मिक क्रियाएँ, उनके प्रभाव से अपनी इच्छा प्राप्ति की आशा से की। उनकी हवियों के फलस्वरूप उस जल से एक स्त्री निकली, जिसमें हवियाँ छोड़ी गईं थीं। अब एक पुरुष और एक स्त्री का अस्तित्व हुआ, जो उस नवीन मनुष्य जाति के माता-पिता थे, जो उनके संयोग से उत्पन्न हुई—यह संयोग ऐसा संयोग था जिसकी फलप्रवणता की पुष्टि उनके द्वारा याज्ञिक कर्मों के सम्पादन से हुई थी। यह स्पष्टतः कहा गया है कि मनु और इडा से मनु की जाति, अर्थात् मनुष्यों की जाति उत्पन्न हुई। यह कथा इस जाति के मौलिक रूप में वर्णों में विभक्त होने के विषय मे या मनु और इडा से ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों के पूर्वपुरुषों के रूप में चार पुत्रों के उत्पन्न होने के विषय में कुछ भी नही कहती। अतएव हमें यह मानना होगा कि इस कथा के प्रणेता का अभिप्राय मनुष्यों की आरम्भिक जाति का, या कम से कम भारतवर्ष के प्रथम निवासियों का वर्णन करना है, जैसा कि वे विना किसी मौलिक वर्णभेद के एक ही पूर्वपुरुष से उत्पन्न हुए थे, चाहे आगे चलकर उनके वंशजों के व्यवसाय और सामाजिक स्थान कितने भी भिन्न क्यों न हो गये हों। फलतः हम शतपथ ब्राह्मण के इस आख्यान को ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों एवं शूद्रों के संबन्ध में प्रचलित कथा का विरोधी मान सकते हैं।

निम्नलिखित कुछ अन्य अंशों मे मनु और इडा दोनों का उल्लेख किया गया है।

तैत्ति० सं० २. ६, ७, १. मनुः पृथिव्याः यज्ञियम् ऐच्छद्। स

घृतं निषिक्तम् अविन्दत्। सोऽब्रवीत् "कोऽस्य ईश्वरो यज्ञेऽपि कर्त्तोर्" इति। ताव् अब्रूताम् मित्रा-वरुणौ "गोर् एव आवाम् ईश्वरौ कर्त्ताः स्वः" इति। तौ ततो गां शमैरयताम्। सा यत्र यत्र न्यक्रामत् ततो घृतम् अपीड्यत। तस्माद् घृतपदी उच्यते। तत् अस्यै जन्म। ·· ३. इडाम् उपह्वयते। पशवो वै इडा। पशून् एव अपह्वते। चतुर् उपह्वयते। चतुष्पादो हि पशवः। "मानवी" इत्य् आह। मनुर् ह्य् एताम् अग्रेऽपश्यन्। "घृतपदी" इत्य् आह। यद् एव अस्यै पदाद् घृतम् अपीड्यत तस्माद् एवम् आह। "मैत्रावरुणी" इत्य् आह। मित्रावरुणौ ह्य् एनाम् समैरयताम्।

"पृथ्वी पर जो कुछ भी यज्ञ के उपयुक्त था, मनु ने उसकी इच्छा की। उसने घृत निकला हुआ पाया। उसने कहा 'इसका यज्ञ में उपयोग करने में कौन समर्थ है?' मित्र तथा वरुण ने उत्तर दिया 'हम दोनों गो का उपयोग करने में समर्थ हैं।' तब उन्होंने गो को भेजा। जहाँ कहीं भी वह गई वहाँ घृत निकला। अतः उसे 'घृतपदी' कहते हैं। यही उसका जन्म है।·· ·· ३. वह इडा का आह्वान करता है। पशु ही इडा है। वह पशुओं का आह्वान करता है। वह उनका चार बार आह्वान करता है, क्योंकि पशु चार पैरों वाले होते हैं। वह "मानवी" कहता है। क्योंकि मनु ने उसे सर्वप्रथम देखा था। वह "घृतपदी" कहता है। वह ऐसा इसलिए कहता है कि उसके पैरों से घृत निकलता था। वह "मैत्रावरुणी" कहता है, क्योंकि मित्र और वरुण ने उसे भेजा था।" (तु० की०—तैत्ति० ब्रा० ३.७,५,६)

तैत्ति० ब्रा० १. १, ४,४. इडा वै मानवी यज्ञानुकाशिन्य्[४३] आसीत्। साऽशृणोद् "असुरा अग्निम् अदधते" इति····। ६. साऽब्रवीद् इडा मनुम् "तथा वै अहम् तव अग्निम् आधास्यामि यथा प्र प्रजया पशुभिर् मिथुनैर् जनिष्यसे प्रत्य् अस्मिन् लोके स्थास्यसि अभि सुवर्गं लोकं जेष्यसि" इति। गार्हपत्यम् अग्रे आदधात्।·····गार्हपत्येन एव अस्मै प्रजाम् पशून् प्राजनयत्।

"मनु की पुत्री इडा यज्ञ का प्रकाशन करने वाली थी। उसने सुना असुर अग्नि का आधान कर रहे हैं ६ · इडा ने मनु से कहा, 'मैं तुम्हारी अग्नि का इस प्रकार आधान करूँगी कि तुम्हें प्रजा, पशु एवं यमलों की वृद्धि होगी; तुम इस लोक में दृढ़ता से स्थित हो जाओगे और स्वर्ग लोक

[४३] यज्ञ-तत्त्व-प्रकाशन-समर्था—भाष्य०

को जीतोगे'[४१] पहले उसने गार्हपत्य अग्नि स्थापित किया। गार्हपत्य अग्नि के द्वारा ही उसने उनके लिए प्रजा एव पशु उत्पन्न किये।"

तैत्ति० सं० १.७,१,३. सर्वेण वै यज्ञेन देवाः सुवर्गं लोकम् आयन्। पाकयज्ञेन मनुर् अश्राम्यत्। सा इडा मनुम् उपावर्तत। ताम् देवासुराः व्यह्वयन्त प्रतीचीम् देवाः पराचीम् असुराः। सा देवान् उपावर्त्तत।

"सर्वयज्ञ द्वारा देवता स्वर्ग में पहुँचे। मनु ने पाक यज्ञ किया। इडा मनु के निकट आई। देवता और असुर उसे भिन्न-भिन्न दिशाओं में बुलाने लगे, देवता आगे की ओर और असुर पीछे की ओर बुलाने लगे। वह देवताओं के निकट गई।"

अधोलिखित वर्णनों में केवल मनु का उल्लेख धार्मिक क्रियाओं के कर्त्ता के रूप में किया गया है :

तैत्ति० सं० २.५,६,१. "अग्ने महान् असि" इत्य् आह। महान् ह्य् एष यद् अग्निः। "ब्राह्मण" इत्य् आह। ब्राह्मणो ह्य् एप। "भारत" इत्य् आह। एप हि देवेभ्यो हव्यम् भरति। "देवेद्धे" इत्य् आह। देवाः ह्य् एतम् ऐन्धत। "मन्विद्ध" इत्य् आह। मनुर् ह्य् एतम् उत्तरो देवेभ्यः ऐन्ध।

"वह कहता है, 'अग्नि तुम महान् हो।' क्योंकि यह अग्नि महान् होता है। वह कहता है, 'हे ब्राह्मण', क्योंकि वह एक ब्राह्मण है। वह कहता है 'हे भारत' क्योंकि वह देवताओं के लिए हवि ले जाता है। वह कहता है 'देवताओं द्वारा प्रज्वलित देवेद्ध', क्योंकि देवताओं ने उसे प्रज्वलित किया था। वह कहता है 'मन्विद्ध' अर्थात् मनु द्वारा प्रज्वलित, क्योंकि देवों के उपरान्त मनु ने उसे प्रज्वलित किया।"

तैत्ति० सं० ६.२,५,२ आदि : त्रिव्रतो वै मनुर् आसीद् द्विव्रता असुरा एकव्रता देवा। प्रातर मध्यन्दिने सायं तद् मनोर् व्रतम् आसीत् पाकयज्ञस्य रूपम् पुष्ट्यै। प्रातश्च सायाञ्च असुराणां निर्मध्यम् क्षुधो रूपम्। ततस् ते पराभवन्। मध्यान्दिने मध्यरात्रे देवानाम् ततस् तेऽभवन् सुवर्गं लोकम् आयन्।

---

[४१] तु० की० काठक ब्रा० ८ ४ वेबर के इण्ड० स्टू० ३ ४६३ मे उद्धृत, इसमे इडा मनु को वचन देती है : 'तथा ते अग्निम् आधास्यामि यथा मनुष्या देवान् उपप्रजनिष्यन्ते।' "मैं तुम्हारे लिये अग्नि का इस प्रकार आधान करूँगी कि मनुष्य देवताओ मे उत्पन्न होंगे।"

"मनु ने तीन व्रत किये, असुरों ने दो, और देवताओं ने एक। मनु का यज्ञ प्रातः, मध्याह्न और सायंकालीन था और पाकयज्ञ का रूप पुष्टि के लिए था। असुरों का प्रातःकाल और सायंकाल था और मध्याह्न का व्रत नहीं था, वह सुधा का रूप था। अतएव वे नष्ट हो गये। देवताओं का मध्यन्दिन और मध्यरात्रि का व्रत था। अतएव वे समृद्ध हुए और उन्होंने स्वर्ग की प्राप्ति की।"

तैत्ति० सं० ७.५,१५,३. एतया (अर्थात अभिजित्या) वै इन्द्रम् देवाः अयाजयन्। तस्माद् "इन्द्रसवः"। एतया मनुम् मनुष्याः। तस्माद् "मनु-सवः"। यथा इन्द्रो देवानाम् यथा मनुर् मनुष्याणाम् एव भवति य. एवं विद्वान् एतया इष्ट्या यजते।

"इस (अभिजित्) से देवताओं ने इन्द्र के लिए यज्ञ किया। अतएव 'इन्द्र-सव' कहते हैं। मनुष्यों ने इसके द्वारा मनु के लिए यज्ञ किया। अतएव इसे 'मनु-सव' कहते हैं। जिस प्रकार इन्द्र देवताओं में होता है और मनु मनुष्यों में उसी प्रकार वह व्यक्ति भी हो जाता है जो इसका ज्ञान प्राप्त कर इस इष्टि द्वारा यज्ञ करता है।"

तैत्ति० सं० २. २, १०, २ में हम प्राय: वे ही शब्द पाते हैं जिसका उद्धरण कुल्लूक ने मनु १. १ की टीका में दिया है· "यद् वै किञ्च मनुर् अवदत् तद् भेषजम्।" "जो कुछ मनु ने कहा वह औषधि थी।"

शतपथ ब्रा० ६. ६. १, १९ में मनु को प्रजापति कहा गया है. "प्रजापतये मनवे स्वाहा" इति। प्रजापतिर् वै मनुः। स हि इदम् सर्वम् अमनुत। प्रजापतिर् वै एतद् अग्रे कर्म अकरोत्। "प्रजापति मनु के लिए स्वाहा। मनु प्रजाओं के स्वामी (प्रजापति) हैं क्योंकि उन्होंने इन सबका मनन किया (अमनुत), प्रजाओं के स्वामी (प्रजापति) ने पूर्वकाल में ये सभी कर्म किए।"

निम्नलिखित कथा अनेक रूपान्तरों में मनु का सम्बन्ध धार्मिक क्रियाओं के साथ जोड़ती है और उन्हें तपस्वी के रूप में उपस्थित करती है·

श० ब्रा० १. १, ४, १४ आदि : मनोर् ह वै ऋषभः आस। तस्मिन्न् असुरघ्नी सपत्न-घ्नी वाक् प्रविष्टा आस। तस्य ह स्म श्वसथाद् रवथाद् असुर-रक्षसानि मृद्यमानानि यन्ति। ते ह असुरा समूदिरे "पापं वत नोऽयं ऋषभ. सचते कथं न्व् इमं दभ्नुयाम" इति। "किलाताकुली" इति ह असुर-ब्रह्माव् आसतु'। तौ ह ऊचतु. "श्रद्धा देवो वै मनुः। आवम् नु वेदाव" इति। तौ ह आगत्य ऊचतुर् "मनो याजयाव त्वा" इति। 'केन' इति। 'अनेन ऋषभेण' इति। 'तथा' इति।

तस्य आलब्धस्य सा वाग् उपचक्राम। सा मनोर् एव जायाम् मनावीम् प्रविवेश। तस्यै ह स्म यत्र वदन्त्यै शृण्वन्ति ततो ह स्म एव असुर-रक्षसानि मृद्यमानानि यन्ति। ते ह असुराः समूदिरे "इतो वै नः पापीयः सचते भूयो हि मानुषी वाग् वदति" इति। किलाताकुली ह एव ऊचतुः "श्रद्धा देवो वै मनुर् आवम् न्व् एव वेदाव" इति। तौ ह आगत्य ऊचतुर् "मनो याजयाव त्वा" इति। "केन" इति। "एनया एव जायया" इति। "तथा" इति। तस्यै आलब्धायै सा वाग् अपचक्राम सा यज्ञम् एव यज्ञ-पात्राणि प्रविवेश। ततो ह एनां न शेकतुर् निर्हन्तुम्। सा एषा असुर-घ्नी वाग् उद्वदति। स यस्य ह एवं विदुषः एताम् क्षत्र वाचम् प्रत्युद्वादयन्ति पापीयासो ह एव अस्य सपत्नाः भवन्ति।

"मनु का एक वृषभ था। इसमें असुरों का नाश करनेवाली एवं शत्रुओं का नाश करने वाली वाणी ने प्रवेश किया। इस (वृषभ) के सांस लेने और डकारने से असुर और राक्षस निरन्तर नष्ट हो जाते थे। तब असुरों ने कहा: 'यह वृषभ हमें अधिक कष्ट दे रहा है, हम इसे कैसे नष्ट कर सकते हैं?' असुरों के दो पुरोहित थे, किलात और अकुलि? उन्होंने कहा 'मनु नितान्त श्रद्धालु व्यक्ति है, हम उसकी परीक्षा करें।' वे उसके पास गये और बोले 'हम तुम्हारे लिए यज्ञ करेंगे।' 'किस (पशु) द्वारा?' उसने पूछा। 'इस वृषभ द्वारा' उन्होंने उत्तर दिया। 'ऐसा ही हो' उसने कहा। जब उसका वध कर दिया गया तो वह वाणी उससे निकल गई और मनु की पत्नी मनावी में प्रवेश कर गई। जहाँ कहीं भी वे उसे बोलते हुए सुनते थे असुर और राक्षस उसकी वाणी के प्रभाव से नष्ट हो जाते थे। असुरों ने कहा: 'वह तो हमारा और भी नाश कर रही है क्योंकि मनुष्य अधिक बोलता है।' किलात और अकुलि ने कहा, 'मनु एक श्रद्धालु व्यक्ति है, हम उसकी परीक्षा लें।' वे आये और उससे बोले 'मनु, हम तुम्हारे लिए यज्ञ करेंगे।' 'किस (पशु) के द्वारा?' उसने पूछा। 'इस (तुम्हारी) पत्नी द्वारा' उन्होंने उत्तर दिया। 'ऐसा ही हो' मनु ने कहा। जब उसका वध कर दिया गया तो वह वाणी उससे निकली और यज्ञ तथा यज्ञिय पात्रों में प्रवेश कर गई। वहाँ से वे उसे नहीं निकाल सके। (जब दो प्रस्तर खण्डों का शम्या द्वारा यज्ञिय क्रिया के अंश-रूप में ताडन किया जाता है तो) असुरों को नष्ट करने वाली वाणी ही निकलती है। उस मनुष्य का शत्रु दलित हो जाता है, जिसके लिए, इसका ज्ञान रखते हुए वे इस वाणी को उत्पन्न करते हैं।'

तैत्ति० ब्रा० ३. २, ६. ६ मनोः श्रद्धा-देवस्य यजमानस्य असुर-घ्नी वाग् यज्ञायुधेषु प्रविष्टा आसीत्। तेऽसुरा यावन्तो यज्ञायुधानाम् उद्वदताम् उपाशृण्वन्स् ते पराभवन्।

"श्रद्धालु एवं यजमान मनु के यज्ञिय उपकरणों में एक असुरों का नाश करने वाली वाणी ने प्रवेश किया था। जितने असुरों ने उन यज्ञिक उपकरणों की ध्वनि सुनी उतने पराभूत हो गये।"

काठक ब्रा० २. ३०, १[८५] मनोर् वै कपालान्य् आसन्। तैर् यावतोऽसुरान् अभ्युपादधात् ते पराभवन्। अथ तर्हि तृष्टा-वरूत्री[८६] आस्ताम् असुर-ब्रह्मौ। ता असुरा. अब्रुवन् इमानि षट् कपालानि याचेथाम इति। तौ प्रतरित्वाना अभिप्रापद्येताम् "वायवे अग्ने वायवे इन्द्र" इति। "किंकामौ स्थ" इत्य् अब्रवीन्। "इमानि नौ कपालानि देहि" इति। तान्य् आभ्याम अददान्। तान्य् अरण्याम् पराहृत्य समपिंस्टाम्। तद् मनोर गावोऽभिव्यतिष्ठन्त। तानि ऋषभः समलेट्। तस्य रुवतो यावन्तोऽसुरा. उपाशृण्वंस् ते पराभवन्। तौ प्रातरित्वाना अभिप्रापद्येताम् "वायवे अग्ने वायवे इन्द्र" इति। "किंकामौ स्थः" इत्य् अब्रवीत्। "अनेन त्वा ऋषभेण याजयाव" इति। तत् पत्नीम् यजुर् वदन्तीम् प्रत्यपद्यत। तस्याः वाम् वाग् आतिष्ठत्। तस्याः वदन्त्या यावन्तोऽसुराः उपाशृण्वंस् ते पराभवन्। तस्माद् नक्तं स्त्री चन्द्रतरं वदति। तौ प्रातरित्वाना अभिप्रापद्येताम्" वायवे अग्ने वायवे इन्द्र" इति। "किंकामौ स्थ." इत्य् अब्रवीत्। "अनया त्वा पत्न्या याजयव" इति। सा पर्यग्निकृता आसीत्। अथ इन्द्रोऽचायद् "मन्वम् श्रद्धादेवम् तृष्टावरूत्री असुर-ब्रह्मौ जायया व्यर्धयतम्" इति। स आगच्छत्। सोऽब्रवीद् "आभ्यां त्वा याजयानि" इति। "न" इत्य् अब्रवीद् "न वै अहम् अनयोर् ईशे" इति। अतिथिपतिर् वाव अतिथेर् ईशे" इत्य् अब्रवीन्। ता अस्मै प्रायच्छन्। स प्रतिवेशो वेदिं कुर्वन्न् आस्त। ता अपृच्छताम् "कोऽसि" इति। "ब्राह्मण." इति। "कतमो ब्राह्मण" इति। "किम् ब्राह्मणस्य पितरम् किम् उ पृच्छसि मातरम्। श्रुत चेद् अस्मिन् वेद्यम् स पिता स

[८५] वेबर की इण्ड० स्टू० ३ ४६१ आदि मे उद्धृत। इसका और आगे वाले अश का अनुवाद प्रोफेसर वेबर ने जर्नल आफ द जर्मन ओरिएण्टल सोसाइटी भाग १८, पृ० २८४ आदि मे दिया है।

[८६] रॉथ के लेक्सिकन मे 'तृण्णावरुत्री' पाठ है।

पितामहः" इति। ता अवित्ताम् 'इन्द्रो वै' इति। तौ प्रापतताम्। तयोर् याः प्रोक्षणीर आपः आसंस् ताभिर् अनुविमृज्य शीर्षे अच्छिनत्। तौ वृषश् च यवापश् च अभवताम्। तस्मात् तौ वर्षेषु शुष्यतः। अद्भिर् हि हतौ। ताम् पर्यग्निकृताम् उदासृजत्। तयाऽऽर्ध्नोत्। ताः इमाः मानव्य. प्रजाः। यत् पर्यग्नि-कृतम् पात्नीवतम् उत्सृजति याम् एव मनुर् ऋद्धिम् आर्ध्नोत् ताम् ऋध्नोति।

'मनु के कपाल थे। जिन असुरों के विरुद्ध उन्होंने इनके द्वारा यज्ञ किया वे सभी नष्ट हो गये। तृष्ठ और वरूत्रि उस समय असुरों के पुरोहित थे। असुरों ने उनसे कहा, 'इन छः कपालों को माँग लो।' ये दोनों प्रातःकाल के अतिथि के रूप में 'हे अग्नि, वायु के लिये, हे इन्द्र, वायु के लिये', मन्त्र का उच्चारण करते हुए पहुँचे। 'तुम लोग क्या चाहते हो? मनु ने पूछा। उन्होंने उत्तर दिया 'हमें ये कपाल दो।' मनु ने उन्हें दे दिया। उन्होंने लेकर उन्हें वन में चूर्ण कर दिया। मनु के पशु वहाँ खड़े थे। वृषभ ने कपालों को चाट लिया। जितने असुरों ने उसके डकारने की ध्वनि सुनी वे सभी नष्ट हो गये। वे दोनों असुरों के पुरोहित प्रातःकालीन अतिथि के रूप में 'हे इन्द्र, अग्नि-वायु के लिये, हे इन्द्र, वायु के लिये', मन्त्र का उच्चारण करते हुए आये। 'तुम लोग क्या चाहते हो?' मनु ने पूछा। 'हम तुम्हारे लिए इस वृषभ द्वारा यज्ञ करना चाहते हैं।' उन्होंने उत्तर दिया। तब वे अपनी पत्नी के निकट आये जो यजुस् का उच्चारण कर रही थी। उसकी वाणी आकाश में पहुँच रही थी। जितने असुरों ने उसका बोलना सुना वे सभी नष्ट हो गये। अतएव एक स्त्री रात्रि में अधिक सुखद वाणी बोलती है। वे दोनों असुरों के पुरोहित प्रातःकालीन अतिथि के रूप में 'हे अग्नि-वायु के लिये, हे इन्द्र, वायु के लिए' मन्त्र का उच्चारण करते हुए आये। 'तुम लोग क्या चाहते हो?' मनु ने पूछा। 'हम तुम्हारे लिए इस तुम्हारी पत्नी (को पशु बनाकर) यज्ञ करेंगे' उन्होंने उत्तर दिया। उसके चारों ओर अग्नि घुमाया गया। तब इन्द्र ने देखा 'तृष्ठ और वरूत्रि नाम के दो असुर-पुरोहित श्रद्धालु मनु की पत्नी को नष्ट कर देना चाहते हैं।' वह आया और (मनु से) बोला, 'मैं इन दो असुर-पुरोहितों को पशु बनाकर तुम्हारे लिए यज्ञ करूँगा।' मनु ने कहा, 'नहीं, मैं उनका स्वामी नहीं हूँ।' इन्द्र ने कहा—'अतिथिपति अतिथि का स्वामी होता है।' मनु ने उन्हें उसे दे दिया। उनके निकट (खड़ा होकर) वह वेदि की रचना कर रहा था। उन्होंने पूछा 'तू कौन है?' उसने उत्तर दिया 'एक ब्राह्मण हूँ।' 'किस (वंश) के ब्राह्मण हो?' उन्होंने प्रश्न किया। उसने (एक मन्त्र द्वारा) उत्तर दिया, 'एक ब्राह्मण के

पिता और माता के विषय में क्यों पूछते हो? यदि वैदिक परम्परा उसमें परिलक्षित है, तो वही पिता है, वही पितामह है।' वे जान गये 'यह इन्द्र है।' वे भागे। उसने उनके पीछे अभिषेक के लिए रक्खा हुआ जल फेंक दिया और उसके द्वारा उनके सिर काट डाले। उनमें एक वृष और दूसरा यवष वनस्पति हुआ। अतएव ये दोनों वनस्पतियाँ वर्षा में नष्ट हो जाती हैं क्योंकि इनका वध जल से हुआ था। उसने अग्नि के चारों ओर घुमाये जाने के उपरान्त उसे (मनु की पत्नी को) मुक्त किया। उसके द्वारा वह समृद्ध हुआ। ये प्रजायें मनु से उत्पन्न हुईं। जब कभी कोई व्यक्ति पात्नीवत के लिए बाँधे गये पशु को उसके चारों ओर अग्नि घुमाने के उपरान्त मुक्त कर देता है, तब वह उसी समृद्धि से समृद्धिशाली होता है जिससे मनु समृद्ध हुआ था।"

इस वर्णन के साथ तैत्ति० सं० ६. ६, ६, १ की तुलना कीजिए :

इन्द्रः पत्निया मनुम् अयाजयत्। ताम् पर्यग्निकृताम् उदसृजत्। तया मनुर् आर्ध्नोत् यत् पर्यग्निकृतम् पात्नीवतम् उत्सृजति याम् एव मनुर् ऋद्धिम् आर्ध्नोत् ताम् एव यजमान ऋध्नोति।

"इन्द्र मनु के लिए उसकी पत्नी को पशु बनाकर यज्ञ कर रहा था। उसके चारों ओर अग्नि घुमाकर उसने उसे मुक्त कर दिया। उससे मनु ने समृद्धि प्राप्त की। जब कभी यजमान अग्नि पात्नीवत के लिए बाँधे गये पशु को उसके चारों ओर अग्नि घुमाये जाने के बाद मुक्त कर देता है, तब वह उसी समृद्धि से समृद्ध होता है, जिससे मनु समृद्ध हुए थे।"

मैं अधोलिखित अंश को भी मनु जैसे प्राचीन और श्रद्धेय व्यक्ति से सम्बद्ध होने से रोचक होने के कारण उद्धृत करता हूँ —

ऐतरेय ब्राह्मण ५. १४ : नाभानेदिष्ठं वै मानवम् ब्रह्मचर्य्यं वसन्तम् भ्रातरो निरभजन्। सोऽब्रवीद् एत्य "किम् मह्यम् अभाक्त" इति। "एतम् एव निष्टावम् अववदितारम्" इत्य् अब्रुवन्। तस्माद् ह अप्य् एतर्हि पितरम् पुत्राः "निष्टावोऽववदिता" इत्य् एव आचक्षते। स पितरम् एत्य अब्रवीत् "त्वाम् ह वाव मह्यं तत अभाक्षुर्" इति। तम् पिताऽब्रवीद् "मा पुत्रक तद् आदृथा। अङ्गिरसो वै इमे स्वर्गाय लोकाय सत्रम् आसते। ते षष्ठम् षष्ठम् एव अहर् आगत्य मुह्यन्ति। तान् एते सूक्ते षष्ठेऽहनि शंसय। तेषां यत् सहस्र सत्र-परिवेषण तत् ते स्वर् यन्तो दास्यन्ति" इति। "तथा" इति। तान् उपैत् "प्रतिगृभ्णीत मानवम् सुमेधसः" इति। तम् अब्रुवन् "किंकामो वदसि" इति। "इदम्

एव वः षष्टम् अहः प्रज्ञापयानि" इत्य् अब्रवीद्" अथ यद् वै एतत् सहस्रं सत्र-परिवेषणम् तद् मे स्वर् यन्तो दत्त" इति। "तथा" इति। तान् एते सूक्ते षष्ठेऽहन्य् अशंसयत्। ततो वै ते प्र यज्ञम् अजानन् प्र स्वर्गं लोकम्। तद् यद् एते सूक्ते षष्ठेऽहनि शंसति यज्ञस्य प्रज्ञात्यै स्वर्गस्य लोकस्य अनुख्यात्यै। तं स्वर् यन्तोऽब्रुवन्न् "एतत् ते ब्राह्मण सहस्रम्" इति। तद् एनं समाकुर्वाणम् पुरुषः कृष्णश-वास्य् उत्तरतः उपोत्थाय अब्रवीद् "मम वै इदम् मम वै वास्तुहम्" इति। सोऽब्रवीद् "मह्यं वै इदम् अदुर्" इति। तम् अब्रवीत "तद् वै नौ तव एव पितरि प्रश्नः" इति। स पितरम् ऐत्। तम् पिताऽब्रवीद् "ननु ते पुत्रक अदुर्" इति। "अदुर् एव मे" इत्य् अब्रवीत्।" तत् तु मे पुरुषः कृष्णश-वास्य् उत्तरतः उपोदतिष्ठत् 'मम वै इदं मम वै वास्तुहम्' इति आदित" इति। तम् पिताऽब्रवीत् "तस्य एव पुत्रक। तत् तुल्यं स दास्यति" इति। स पुनर् एत्य अब्रवीत् "तव ह वाव किल भगवः इदम् इति मे पिता आह" इति। सोऽब्रवीत् "तद् अहम् तुभ्यम् एव ददामि य' एव सत्यम् अवादीर्" इति। तस्माद् एवं विदुषा सत्यम् एव वदितव्यम्। स एष सहस्र-सनिर् मन्त्रो यद् नाभानेदिष्ठम्। उप एनम् सहस्रं नमति प्र षष्ठेन अह्ना स्वर्गं लोकम् जानाति यः एवं वेद।[४७]

"नाभानेदिष्ठ के भाइयों ने उसके ब्रह्मचारी की अवस्था में स्थित रहने पर उसे पैतृक सम्पत्ति से वञ्चित कर दिया। (उनके निकट) आकर उसने कहाः 'मुझे तुम लोगों ने कितना अंश दिया है ?' उन्होंने उत्तर दिया 'हमने तुम्हें यह निष्ठा और अववदिता (विभाजन करने वाला) दिया है।' फलतः पुत्र अब भी अपने पिता को न्यायकर्त्ता और बाँटने वाला कहते हैं। वह अपने पिता के समीप आया और बोला 'पिताजी उन लोगों ने आपको मेरे अंश में दिया है।' उसके पिता ने कहा 'मेरे पुत्र, इस विषय में चिन्ता मत करो। ये अङ्गिरस् स्वर्गलोक की प्राप्ति के लिये यज्ञ कर रहे हैं, किन्तु जब ये यज्ञ के छठें दिन पहुँचते हैं तो भूल कर जाते हैं। उनसे छठें दिन इन दो सूक्तों (ऋग्वेद १ ६१ तथा ६२) का उच्चारण कराओ,

---

[४७] इस अंश का अबतक जर्मन मे अनुवाद प्रोफेसर आर० रॉथ ने जर्नल आफ द जर्मन ओरिएण्टल सोसाइटी, ६ २४४ मे किया है तथा अंग्रेजी मे अनुवाद प्रोफेसर मैक्स मूलर ने अपने ऐ० स० लि० पृ० ४२३ आदि मे और डा० एम० हाग ने अपने ऐत० ब्रा० भाग २ पृ० ३४१ आदि मे किया है।

और जब वे स्वर्गलोक को जाने लगेंगे तब उनके पास जो सहस्र है[४८] और जिसे उन्होंने सत्र के लिये रचा है, उसे वे तुम्हें प्रदान करेंगे।' उसने कहा 'ऐसा ही हो'। वह उनके निकट यह कहते हुए पहुँचा 'हे ऋषियों! मुझ मनु के पुत्र का स्वागत करो।' उन्होंने उत्तर दिया 'किस अभिप्राय से तुम यह कह रहे हो?' उसने कहा 'मै तुम्हें छठें दिन की शिक्षा दूँगा और तुम जब स्वर्ग जाओ तब हमे एक सहस्र याज्ञिकनिधि प्रदान करना।' 'ऐसा ही हो' उन्होंने उत्तर दिया। छठें दिन उसने उनसे इन दो सूक्तों का उच्चारण कराया। तब उन्हें यज्ञ और स्वर्गलोक का ज्ञान प्राप्त हुआ। अतएव जब कभी कोई छठें दिन इन दो सूक्तों का उच्चारण करता है तो वह यज्ञ के ज्ञान एव स्वर्गलोक के प्रकाशन के लिए ऐसा करता है। जब वे स्वर्गलोक को जा रहे थे तो उन्होंने उससे कहा 'हे ब्राह्मण,[४९] यह सहस्र तुम्हारा है।' जब वह (इस एक सहस्र) को एकत्र कर रहा था तो कृष्णवस्त्र धारण किए हुए एक व्यक्ति उत्तर से उसके सम्मुख प्रकट हुआ और बोला 'यह मेरा है, इस स्थान पर जो कुछ भी शेष रह जाता है वह मेरा होता है।' नाभानेदिष्ठ ने उत्तर दिया 'किन्तु उन्होंने इसे मुझे दिया है।' (उस पुरुष ने) उत्तर दिया: 'यह हममें से (किसी एक का) है, चलो तुम्हारे पिता से पूछा जाय।' वह अपने पिता के पास पहुँचा, जिन्होंने उससे प्रश्न किया. 'मेरे पुत्र, क्या उन्होंने तुम्हें वह (एक सहस्र) नहीं दिया?' उसने उत्तर दिया 'उन्होंने दिया तो, किन्तु कृष्णवस्त्र धारण किए हुए एक व्यक्ति उत्तर से मेरे संमुख प्रकट हुआ और यह कहते हुए मुझसे ले लिया कि यह मेरा है, इस स्थान पर जो कुछ रह जाता है वह मेरा होता है।' उसके पिता ने कहा 'यह उसी का है, किन्तु वह तुम्हें दे देगा।' वह लौटा और (उस पुरुष से) बोला: 'श्रीमान् यह आपका ही है, मेरे पिता ने ऐसा ही कहा है।' उसने (पुरुष ने) उत्तर दिया 'मैं यह तुम्हे दे दूँगा क्योंकि तुमने सत्य भाषण किया है।' अतएव जिस व्यक्ति को इसका ज्ञान हो उसे सत्य बोलना चाहिए। यह ऐसा सूक्त है जो एक सहस्र प्रदान करता है, यही नाभानेदिष्ठ सूक्त है। जो व्यक्ति इसे जानता है उसके भाग्य में एक सहस्र मिलता है और वह छठें दिन स्वर्ग लोक को जान जाता है।"

---

[४८] देखिये ऋग्वेद १० ६२, ७

[४९] नाभानेदिष्ठ के लिये इस उपाधि का प्रयोग उल्लेखनीय है, कारण पौराणिक कथाओ मे उनके पिता मनु को सूर्यवशी राजाओ का पूर्वज कहा गया है। देखिये महाभारत १ ७५, ३ आदि अश जो ऊपर पृ० १४१ पर उद्धृत है।

तैत्तिरीय संहिता ३. १, ६, ४. मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजत्। स नाभानेदिष्ठम् ब्रह्मचर्यं वसन्तं निरभजत्। स आगच्छत्। सोऽब्रवीत् "कथा मा निरभाग्" इति। "न त्वा निरभाक्षम्" इत्य् अब्रवीद् "अङ्गिरसः इमे सत्रम् आसते ते सुवर्गम् लोकम् न प्रजानन्ति। तेभ्यः इदम् ब्राह्मणम् ब्रूहि। ते सुवर्गम् लोकम् यन्तो ये एषाम् पशवस् तांस् ते दास्यन्ति" इति। तद् एभ्योऽब्रवीत्। ते सुवर्गम् लोकम् यन्तो ये एषाम पशवः आसंस् तान् अस्मै अददुः। तम् पशुभिश् चरन्तम् यज्ञवास्तौ रुद्रः आगछत्। सोऽब्रवीत् "मम वै इमे पशवः" इति। "अदुर् वै मह्यम इमान्" इत्य् अब्रवीत्। "न वै तस्य ते ईशते" इत्य् अब्रवीत्। "यद् यज्ञवास्तौ हीयते मम वै तद्" इति। तस्माद् याज्ञवास्तु न अभ्यवेत्यम्। सोऽब्रवीत्। "यज्ञे मा भज अथ ते पशून् न अभिमंस्ये" इति। तस्मै एतम् मन्थिनः संस्रावम् अजुहोत्। ततो वै तस्य रुद्रो पशून् न अभ्यमन्यत। यत्र एतम् एव विद्वान् मन्थिनः संस्रावम् जुहोति न तत्र रुद्रः पशून् अभिमन्यते।

"मनु ने अपनी सम्पत्ति अपने पुत्रों में विभक्त की किन्तु अपने पुत्र नाभानेदिष्ठ को कुछ नहीं दिया जो ब्रह्मचारी का जीवन व्यतीत कर रहा था। वह आया और बोला 'आपने मुझे क्यों नही कुछ दिया ?' उसके पिता ने उत्तर दिया 'मैंने तुम्हें अंशहीन नहीं किया है, ये अङ्गिरस् एक यज्ञ कर रहे है, उन्हें स्वर्गलोक का ज्ञान नहीं है। उन्हें इस ब्राह्मण की शिक्षा दो, जब वे स्वर्ग जाने लगेंगे तब वे अपने पशुओं को तुम्हें दे देंगे।' उसने उन्हें ब्राह्मण की शिक्षा दी और जब वे स्वर्ग जा रहे थे तब उन्होंने अपने पशु दे दिये। जब वह यज्ञ के स्थान पर पशुओं में लगा था, तभी रुद्र उसके पास आये और बोले 'ये मेरे पशु है।' किन्तु नाभानेदिष्ठ ने कहा 'किन्तु उन्होंने इन्हे मुझे दिया है।' 'उन्हे ऐसा करने का अधिकार नहीं, जो कुछ यज्ञ के स्थान पर बच जाता है वह मेरा होता है', रुद्र ने उत्तर दिया। अतएव यज्ञ के स्थान पर नहीं आना चाहिए। (रुद्र ने आगे) कहा : 'मुझे यज्ञ में अंश दो और मैं तुम्हारे पशुओं को आघात नहीं पहुँचाऊँगा।' उसने उन्हें सोम और मन्थ की बलि दी। तब रुद्र ने उसके पशुओं को आघात नहीं पहुँचाया। जो कोई व्यक्ति इस सोम और मन्थ का ज्ञान रखता है और इसे अर्पित करता है, उसके पशुओं को रुद्र आघात नहीं पहुँचाता।"[५०]

---

[५०] जो पाठक जर्मन का ज्ञान रखते है और इस प्रश्न का एक उत्तम विमर्श देखना चाहते है कि ऐतरेय ब्राह्मण मे दिए हुए नाभानेदिष्ठ को व्याख्यान

ऊपर पृ० ३१ आदि पर तैत्तिरीय संहिता ६. ५, ६, १ आदि से उद्धृत अंश मनुष्यों की उत्पत्ति मनु से बताता है, क्योंकि यह मनुष्यों को विवस्वत् की प्रजा कहता है और विवस्वत मनु के पिता माने जाते हैं।

छान्दोग्य उपनिषद् ३. ११, ४ (बिब्लिओथेका इण्डिका, भाग ३, का पृ० १७८) में मनु के विषय में निम्नलिखित उल्लेख आता है .

तद् ह एतद् ब्रह्मा प्रजापतये प्रजापतिर् मनवे मनुः प्रजाभ्यः। तद् ह एतद् उद्दालकाय आरुणये पुत्राय ज्येष्ठाय पिता ब्रह्म प्रोवाच।

"इस (ज्ञान) की शिक्षा ब्रह्मा ने प्रजापति को दी, प्रजापति ने मनु को और मनु ने अपनी सन्तानों को इसकी शिक्षा दी। इस पवित्र सत्य की शिक्षा उद्दालक आरुणि को उसके पिता ने दी थी।"

इस अंश का उत्तरार्द्ध उसी ग्रन्थ के ८. १५, १ में आवृत्त है (पृ० ६२५)। इन दो अंशों में प्रथम अंश के भाष्य में शङ्कराचार्य ने इस प्रकार व्याख्या की है :—

ब्रह्मा हिरण्यगर्भो विराजे प्रजापतये उवाच। सोऽपि मनवे। मनुर् इक्ष्वाक्व्-आदिभ्यः प्रजाभ्यः प्रोवाच।

"ब्रह्मा हिरण्यगर्भ ने इसका उपदेश प्रजापति विराज् को दिया; उसने मनु को दिया और मनु ने इसकी शिक्षा इक्ष्वाकु आदि अपने वंशजों को दी।"

का इसमे उल्लिखित ऋग्वेद के दो सूक्तो (१० ६१ और ६२) से कोई सम्बन्ध है या नही और इसमे प्राचीन ऐतिहासिक घटनाओ का कोई अवशेष या प्रतीकात्मक वर्णन है या नही, वे जर्नल आफ द जर्मन ओरिएण्टल सोसाइटी भाग ६ पृ० २४३ आदि मे प्रोफेसर रॉथ का इस विषय पर निबन्ध देख सकते है। विद्वान् लेखक ने दोनो प्रश्नो का निषेधात्मक निर्णय दिया है और यह माना है कि इस आख्यान को सूक्तो के कतिपय गलत समझे गये उल्लेखो के आधार पर यह प्रदर्शित करने के लिये गढा गया है कि पुरोहित का ज्ञान भौतिक शक्ति एव भौतिक समृद्धि से श्रेष्ठ है और वस्तुत कभी न तो कोई नाभानेदिष्ठ थे और न कोई मनु ही। इन उद्धरणो के सकलन मे मेरा जो लक्ष्य है उसके लिये यह आवश्यक नही कि मै इन विषयो पर कोई विचार व्यक्त करूँ। मेरा तात्पर्य केवल यही निर्धारित करना है कि स्वय नितान्त प्राचीन भारतीय लेखको ने अपनी ही जाति की उत्पत्ति के विषय मे कौन सी परम्पराएँ ग्रहण की थी, न कि उन परम्पराओ का क्या ऐतिहासिक मूल्य था।

द्वितीय अंश ८. १५, १ की टीका में वह उन व्यक्तियों की व्याख्या में भिन्नता रखते हैं जिनके द्वारा इस ज्ञान का उपदेश दिया गया था :

ब्रह्मा हिरण्यगर्भः परमेश्वरो वा तद्—द्वारेण प्रजापतये काश्यपाय उवाच । असाव् अपि मनवे स्व-पुत्राय । मनुः प्रजाभ्यः ।

"ब्रह्मा हिरण्यगर्भ या परमात्मा (परमेश्वर) ने अपने द्वारा प्रजापति कश्यप को यह ज्ञान दिया, उसने अपने पुत्र मनु को और मनु ने अपने वंशजों को शिक्षा दी।"

छान्दोग्य उपनिषद् के इन दो अंशों में ब्रह्मा प्रजापति से भिन्न है और प्रजापति मनु से भिन्न दिखाये गये हैं, जिसके द्वारा इस ज्ञान के किसी एक व्यक्ति को प्रदान करने की बात नहीं कही गई है आपितु "सन्तानों" या वंशजों (प्रजाभ्य.) को प्रदान किये जाने का उल्लेख किया गया है। अतएव उपनिषद् इस विषय पर सूक्तों और शतपथ ब्राह्मण के कथन से साम्य रखता है कि मनु मनुष्य जाति के पूर्वपुरुष थे। यह देखा गया होगा कि एक स्थान पर भाष्यकार ने यह कहा है कि प्रजापति विराज् से अभिन्न हो सकते हैं और इस नाम से कश्यप को समझना चाहिए। तथापि विराज और कश्यप को सामान्यतः एक ही माना जाता है। कश्यप को सामान्यतः मनु का पिता नहीं समझा गया है। रामायण २. ११० तथा ऊपर पृ० १२० तथा १४१ पर महाभारत से उद्धृत अंश में कश्यप को विवस्वत का पिता और उन्हें मनु का पिता कहा गया है।

चाहे जो कुछ भी हो, यत. मनु के इस पवित्र परम्परा को अपने वंशजों को प्रदान करने का उल्लेख किया गया है, अतः हमें यह मानना चाहिए कि उन वंशजों में आर्य भारतीयों के सम्पूर्ण पूर्वपुरुष आते थे जो इस प्रकार की ज्ञान-परम्परा के आस्पद होने योग्य थे, और इससे यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि छान्दोग्य उपनिषद् ऊपर पृ० १४१ पर महाभारत से उद्धृत अंश से साम्य रखता है, क्योंकि यह मनु को ब्राह्मणों तथा अन्य वर्णों का पूर्वपुरुष स्वीकार करता है।

खण्ड ३—मनु के सम्बन्ध में महाभारत से उद्धरण

पिछले अध्याय में पृ० १४१ पर मैं महाभारत के आदि पर्व ७५, ३ आदि का एक महत्त्वपूर्ण अंश उद्धृत कर चुका हूँ, जिसमें मनु वैवस्वत को स्पष्टतः चार वर्णों सहित मनुष्य जाति का आदि पुरुष कहा गया है। पिछले खण्ड में शतपथ ब्राह्मण से उद्धृत की गयी कथा से मिलती-जुलती जलप्लावन

की कथा महाभारत के वनपर्व में भी पायी जाती है और यह मनु को मनुष्य जाति के पिता रूप में नहीं उपस्थित करती अपितु एक स्रष्टा के रूप में वर्णित करती है जिन्होंने जलप्लावन के उपरान्त पुनः सृष्टि की रचना की। मैं सम्पूर्ण अंश का उद्धरण देता हूँ। इसके वर्णन की शैली ब्राह्मणों की सूक्ष्म शैली के साथ तुलना करने पर दुर्बोध लगती है, किन्तु अनुवाद में जहाँ तक सम्भव हो सकेगा मैं इसे संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करूँगा। यह इस प्रकार प्रारम्भ होता है : ३. १८७, २ और बाद।

मार्कण्डेय उवाच। विवस्वतः सुतो राजन् महर्षिः सुप्रतापवान्। बभूव नर-शार्दूल प्रजापति-सम-द्युतिः। ओजसा तेजसा लक्ष्म्या तपसा च विशेषतः। अतिचक्राम पितरम् मनुः स्वं च पितामहम्। उर्द्ध्व-बाहुर् विशालायाम् बदर्याम् स नराधिपः। एक-पाद-स्थितस्-तीव्रम् चचार सुमहत् तप। ५. अवाक्-शिरास तथा चापि नेत्रैर् अनिमिषैर् दृढम्। सोऽतप्यत तपो घोरं वर्षाणाम् अयुतं तदा। तं कदाचित तपस्यन्तम् आर्द्रचीरं जटा-धरम्। चीरिणी-तीरम् आगम्य मत्स्यो वचनम् अब्रवीत्। "भगवन् क्षुद्र-मत्स्योऽस्मि बलवद्भ्यो भयम् मम। मत्स्येभ्यो हि ततो मां त्वम् त्रातुम् अर्हसि सुव्रत। दुर्बलम् बलवन्तो हि मत्स्यम् मत्स्या विशेषतः। आस्वदन्ति सदा वृत्तिर् विहिता नः सनातनी। तस्माद् भयौघाद् महतो मज्जन्तम् मां विशेषतः। त्रातुम् अर्हसि कर्त्तास्मि कृतेप्रतिकृतं तव"। १०. स मत्स्य-वचनं श्रुत्वा कृपयाऽभिपरिप्लुतः। मनुर् वैवस्वतोऽगृह्णात् तम् मत्स्यं पाणिना स्वयम्। उदकान्तम् उपानीय मत्स्यं वैवस्वतो मनुः। अलिञ्जिरे प्राक्षिपत् तम् चन्द्रांशु-सदृशप्रभे। स तत्र ववृधे राजन् मत्स्यः परम-सत्कृतः। पुत्रवत् स्वीकरोत् तस्मै मनुर् भावम् विशेषतः। अथ कालेन महता स मत्स्यः सुमहान् अभूत्। अलिञ्जिरे यथा चैव नासौ समभवत् किल। अथ मत्स्यो मनुं दृष्ट्वा पुनर् एवाभ्यभाषत। "भगवन् साधु मे-ऽद्यान्यत् स्थानं सम्प्रतिपादय"। १५. उद्धृत्यालिञ्जिरात् तस्मात् ततः स भगवान् मनुः। तम् मत्स्यम् अन्यद् वापीम् महतीं स मनुस् तदा। तत्र तम् प्राक्षिपच् चापि मनु. पर-पुरञ्जय। अथावर्द्धत मत्स्य. स पुनर् वर्ष-गणान् बहून्। द्वि-योजनायता वापि विस्तृता चापि योजनम्। तस्यां नासौ समभवत् मत्स्यो राजीवलोचनः। विचेष्टितु च कौन्तेय मत्स्यो वाप्यां विशाम्पते। मनुं मत्स्यस् ततो दृष्ट्वा पुनर् एवाभ्य-भाषत। "नय माम् भगवन् साधो समुद्र-महिषीम् प्रियाम्। गङ्गां तत्र

निवत्स्यामि यथा वा तात मान्यसे। २०. निदेशे हि मया तुभ्यं स्थातव्यम् अनसूयता। वृद्धिर् हि परमा प्राप्ता त्वत्-कृते हि मयाऽनघ"। एवम् उक्तो मनुर मत्स्यम् अनयद् भगवान् वशी। नदीं गङ्गां तत्र चैनम् स्वयम् प्राक्षिपद् अच्युत.। स तत्र ववृधे मत्स्यः कञ्चित् कालम् अरिन्दम। ततः पुनर् मनुं दृष्ट्वा मत्स्यो वचनम् अब्रवीत्। "गङ्गायां न हि शक्नोमि बृहत्वाच् चेष्टितुम् प्रभो। समुद्रं नय माम् आशु प्रसीद भगवन्न्" इति। उद्धृत्य गङ्गा-सलिलात् ततो मत्स्यम् मनुः स्वयम् समुद्रम् 'अनयत् पार्थ तत्र चैनम् अवासृजत्। २५. सुमहान् अपि मत्स्यस् तु स मनोर् नयतस् तदा। आसीद् यथेष्ट-हार्य्यश्च स्पर्श-गन्ध-सुखश्च वै। यदा समुद्रे प्रक्षितः स मत्स्यो मनुना तदा। तत एनम् इदं वाक्यं स्मयमान इवाब्रवीत्। "भगवन् हि कृता रक्षा त्वया सर्वा विशेषतः। प्राप्त-कालं तु यत् कार्य्यं त्वया तच् छ्रूयताम् मम। अचिराद् भगवन् भौमम् इदं स्थावर-जङ्गमम्। सर्वम् एव महाभाग प्रलय वै गमिष्यति। सम्प्रक्षालन-कालोऽयं लोकानां समुपस्थितः। तस्मात् त्वाम् बोधयाम्य् अद्य यत् ते हितम् अनुत्तमम्। त्रसाना स्थावराणां च यच् चेङ्गम् यच् च नेङ्गति। 'तस्य सर्वस्य सम्प्राप्त काल. परमदारुणः। नौश् च कारयितव्या ते दृढा युक्त-वटारका। तत्र सप्तर्षिभिः सार्द्धम् आरुहेथा महामुने। वीजानि चैव सर्वाणि यथोक्तानि द्विजैः पुरा। तस्याम् आरोहयेर् नावि सुसङ्गुप्तानि भागशः। नौ-स्थश् च माम् प्रतीक्षेथास् ततो मुनि-जन-प्रिय। आगमिष्याम्य् अहं शृङ्गी विज्ञेयस् तेन तापस। एवम् एतत् त्वया कार्यम् आपृष्टोऽसि व्रजाम्य् अहम्। ता न शक्या महत्यो वै आपस् तर्त्तुम् मया विना। ३५. नाभिशङ्क्यम् इदं चापि वचनम् मे त्वया विभो"। "एवं करिष्ये" इति तं स मत्स्यम् प्रत्यभाषत। जग्मतुश् च यथाकामम् अनुज्ञाप्य परस्परम्। ततो मनुर् महाराज यथोक्तम् मत्स्यकेन ह। वीजान्य् आदाय सर्वाणि सागरम् पुप्लुवे तदा। नौकया शुभया वीर महोर्मिणम् अरिन्दम। चिन्तयामास च मनुस् तम् मत्स्यन् पृथिवीपते। स च तच् चिन्तितं ज्ञात्वा मत्स्यः परपुरञ्जय। शृङ्गी तत्राजगामाशु तदा भरत-सत्तम। तं दृष्ट्वा मनुज-व्याघ्र मनुर मत्स्यं जलार्णवे। ४०. शृङ्गिणं तं यथोक्तेन रूपेणाद्रिम् इवोच्छ्रितम्। वटारकमयम् पाशम् अथ मत्स्यस्य मूर्धनि। मनुर् मनुज-शार्दूल तस्मिन् शृङ्गे न्यवेशयत्। सयतस् तेन पाशेन मत्स्य' पर-पुरञ्जय। वेगेन महता नावम् प्राकर्षल् लवणाम्भसि। च स तास् तारयन् नावा समुद्रम् मनुजेश्वर। नृत्यमानम् इवोर्मीभिर्

गर्जमानम् इवाम्भसा। क्षोभ्यमाना महावातैः सा नौस् तस्मिन् महोदधौ। घूर्णते चपलेव स्त्री मत्ता पर-पुरञ्जय। नैव भूमिर् न च दिशः प्रदिशो वा चकाशिरे। ४५. सर्वम् आम्भसम् एवासीत् खं द्यौस् च नरपुङ्गव। एवम्भूते तदा लोके सङ्कुले भरतर्षभ। अदृश्यन्त सप्तर्षय मनुर् मत्स्यस् तथैव च। एवम् बहून् वर्ष-गणान तां नावम् सोऽथ मत्स्यकः। चकर्षातन्द्रितो राजन् तस्मिन् सलिल-सञ्चये। ततो हिमवतः शृङ्गं यत् परम् भरतर्षभ। तत्राकर्षत् ततो नावं स मत्स्यः कुरुनन्दन। अथाब्रवीत् तदा मत्स्यस् तान् ऋषीन् प्रहसन् शनैः। "अस्मिन् हिमवतः शृङ्गे नावं बध्नीत माचिरम्"। सा बद्धा तत्र तैस् तूर्णम् ऋषिभिर् भरतर्षभ। ५०. नौर् मत्स्यस्य वच श्रुत्वा शृङ्गे हिमवतस् तदा। तच् च नौबन्धनं नाम शृङ्गम् हिमवतः परम्। ख्यातम् अद्यापि कौन्तेय तद् विद्धि भरतर्षभ। अथाब्रवीद् अनिमिषस् तान् ऋषीन् स हितस् तदा। "अहम् प्रजापतिर् ब्रह्मा यत्-परं नाधिगम्यते। मत्स्य-रूपेण यूयं च मयाऽस्माद् मोक्षिता भयात्। मनुना च प्रजाः सर्वाः स-देवासुरमानुषाः। स्रष्टव्याः सर्व-लोकाश् च यच्-चेङ्गं यच् च नेङ्गति। तपसा चापि तीव्रेण प्रतिभाऽस्य भविष्यति। मत्-प्रसादात् प्रजा-सर्गे न च मोहं गमिष्यति"। ५५. इत्य् उक्त्वा वचनम् मत्स्यः क्षणेनादर्शनं गतः। स्रष्टु-कामः प्रजाश् चापि मनुर् वैवस्वतः स्वयम्। प्रमूढोऽभूत् प्रजा-सर्गे तपस् तेपे महत् तपः। तपसा महता युक्तः सोऽथ स्रष्टुम् प्रचक्रमे। सर्वा प्रजा मनुः साक्षाद् यथावद् भरतर्षभ। इत्य् एतद् मात्स्यकम् नाम पुराणम् परिकीर्त्तितम्।

"२. मारकण्डेय बोले : विवस्वत के पुत्र मनु नाम के एक महर्षि थे जो प्रतापवान् और तेज में प्रजापति के समान थे। शक्ति, तेज, समृद्धि और तप में वे अपने पिता तथा पितामह दोनों से भी बढ़कर थे। बाहुओं को ऊपर उठाकर और एक पैर पर खड़े होकर उन्होंने पवित्र बदरी में उग्र तप किया। ५. यह घोर तपस्या उन्होंने सिर नीचे[1] करके और बिना पलक

"[1] वे एक ही साथ एक पैर पर खड़े होकर और अपना सिर नीचे करके (यदि इसका अर्थ यह है कि वे सिर के बल खड़े थे) स्थित नहीं रह सके होंगे। यहाँ इस वर्णन का यह अर्थ हो सकता है कि वे क्रमश इन आसनों में खड़े हुए थे।

गिराए हुए १०,००० वर्षों तक की। एक बार जब भीगा हुए वस्त्र तथा जटाजूट धारण कर वे इस प्रकार तपस्या में लगे थे तब चीरिणी नदी के तट पर एक मत्स्य उनके पास आया और बोला : 'भगवन् ! मैं एक मत्स्य हूँ; मैं अधिक बलवाले मत्स्यों से डरता हूँ। उनसे आप मेरी रक्षा करें क्योंकि शक्तिशाली मत्स्य दुर्बल मत्स्यों का भक्षण कर जाते हैं; यही प्राचीन काल से हमारी वृत्ति चली आ रही है। मुझे आप इस भय-समुद्र में डूबने से बचावें और मैं उसका प्रतिदान दूंगा।' १०. यह सुनकर दया से द्रवित होकर मनु ने उस मत्स्य को हाथ में ले लिया और उसे जल के पास लाकर चन्द्रकिरण के समान चमकते हुए घडे में डाल दिया। इसमें भली भाँति पुष्ट होकर मत्स्य बढ़ गया, क्योंकि मनु ने उसका पालन पुत्र के समान किया। दीर्घकाल के अनन्तर वह बहुत बडा हो गया और घडे में नहीं आ सकता था। तब मनु को देखकर उसने पुनः कहा : 'मुझे अन्यत्र पहुँचा दें जिससे मैं और बढ़ सकूँ।' १५. मनु ने तब उसे घडे से निकाल कर एक विशाल जलाशय के पास ले गये और उसमें छोड दिया। वहाँ वह अनेक वर्षों तक बढ़ता रहा। यद्यपि जलाशय दो योजन लम्बा और एक योजन चौडा था फिर भी कमलनेत्र मत्स्य के घूमने के लिये इसमें स्थान नहीं रह गया; और तब उसने पुन मनु से कहा : 'मुझे समुद्रपति की प्रिय महिषी गङ्गा को ले चलें, मैं उसी में निवास करूँगा, अथवा जैसा आप उचित समझें वैसा करें (२०) क्योंकि मैं प्रसन्नतापूर्वक आपकी आज्ञा का पालन करूँगा, कारण आपके द्वारा ही मैं इतना विशाल हो गया हूँ।' मनु ने मत्स्य को उठाया और उसे गङ्गा में डाल दिया। वहाँ वह कुछ समय तक बढ़ता रहा, तब उसने मनु से पुनः कहा : 'अपने विशाल शरीर से अब मैं गङ्गा में नहीं घूम सकता हूँ; कृपा करें और मुझे शीघ्र समुद्र तक ले चलें।' मनु ने उसे गङ्गा से निकाला और समुद्र में छोड दिया। २५ यद्यपि मत्स्य विशाल था, तथापि उसे ले जाने में मनु को कोई कठिनाई नहीं होती थी, उसका स्पर्श और गन्ध भी प्रिय था। जब वह समुद्र में छोड दिया गया तो उसने मनु से कहा : 'हे भगवान् आपने प्रत्येक विधि से मेरी रक्षा की है : अब यह सुनिये कि समय आने पर आपको क्या करना होगा। शीघ्र ही समस्त पृथ्वी के स्थावर और जङ्गम पदार्थ नष्ट हो जायगें। लोकों की शुद्धि का समय आ गया है। अतएव मैं आपसे आपके हित की बात बताता हूँ। ३५. स्थावर और जङ्गम जगत् के लिये भयंकर समय आ गया है। अपने लिए एक दृढ़ नौका की रचना कीजिए और उसमें रज्जु बाँध दीजिए। सात ऋषियों के साथ उस पर आरोहण करें और उसमें भली भाँति उन

बीजों को सुरक्षित रख लें जिनका वर्णन पूर्वकाल के ब्राह्मणों ने किया है।[५२] नौका पर आरोहण कर मेरी प्रतीक्षा करें, मैं आऊँगा। मैं सींगों द्वारा पहचाना जा सकूँगा। इस प्रकार आप करें; अब मैं आपको प्रणाम करता हूँ और प्रस्थान करता हूँ। इस विस्तृत जलराशि को मेरे बिना पार नहीं किया जा सकता।' ४०. मनु ने उत्तर दिया 'मेरे वचनों पर अविश्वास मत करो, जैसा तुमने कहा है मैं वैसा ही करूँगा।' एक दूसरे से आज्ञा लेकर वे अपने अपने स्थान को चले गये। तब यथोक्त विधि से मनु सभी बीजों को साथ लेकर लहराते हुए समुद्र में सुन्दर नौका पर बहने लगे। तब उन्होंने मत्स्य का ध्यान किया, जो उनकी इच्छा को जानकर पूर्ण वेग के साथ सींगों द्वारा परिलक्षित होता हुआ उपस्थित हुआ। जब मनु ने उस सींग वाले मत्स्य को देखा, जो पर्वत के समान विशाल था, तब उन्होंने नौका की रज्जु उसकी सींग में बाँध दी। इस प्रकार बाँधे जाने पर मत्स्य बड़े वेग से नौका को खींचकर ले चला और उसे लवणयुक्त समुद्र को पार पहुँचा दिया जो लहरों द्वारा मानों नाच और जल से वज्र की ध्वनि उत्पन्न कर रहा था। तीव्र वायु का झोंका पाकर नौका एक मत्त और चपल स्त्री के समान घूम रही थी। न तो पृथ्वी दिखाई पड़ रही थी और न दिशाएँ, (४५) जल, वायु और आकाश के अतिरिक्त कुछ भी नहीं था। इस प्रकार क्षुब्ध हुए विश्व में सात ऋषि मनु और मत्स्य ही दिखाई पड़ते थे। इस प्रकार अनेक वर्षों तक मत्स्य बिना परिश्रान्त हुए नौका को खींचता रहा और अन्त में उसे हिमवत् की सबसे ऊंचे शिखर पर ले गया। तब मन्द स्मित के साथ उसने ऋषियों से कहा 'शीघ्र ही नौका को शिखर से बाँध दो।' उन्होंने ऐसा ही किया। ५०. और हिमालय के उस सबसे ऊंचे शिखर का अब भी नौबन्धन (नौका का बाँधना) नाम है। तब उस मित्रतुल्य (या देव-अनिमिष) मत्स्य ने ऋषियों से कहा—"मैं प्रजापति ब्रह्मा हूँ जिससे बढ़कर कोई भी वस्तु नहीं है। एक मत्स्य के रूप में मैंने इस भय से मुक्ति दी है। मनु सभी जीवित प्राणियों, देवताओं, असुरों, मनुष्यों सभी लोकों और स्थावर और जङ्गम वस्तुजगत् की सृष्टि करेगा। मेरी कृपा से तथा कठोर तप से वह अपनी रचना का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करेगा और मोह से युक्त नहीं होगा।' ५५. इस प्रकार कहकर मत्स्य तत्काल लुप्त हो गया। सभी प्राणियों को

---

[५२] इन बीजो तथा सात ऋषियो के विषय मे शतपथ ब्राह्मण मौन है। किन्तु यह सम्भव है कि यहाँ किया गया इनका उल्लेख किसी दूसरे प्राचीन स्रोत से ग्रहण किया गया हो।

उत्पन्न करने की इच्छा होने पर स्वयं वैवस्वत मनु मोह से युक्त हो गये, उन्होंने कठोर तप किया और तब सभी प्राणियों की सृष्टि करने लगे। यह कथा जो कही गयी है, मात्सक पुराण (या मत्स्य का आख्यान) नाम से ख्यात है।"

यह द्रष्टव्य है कि इस कथा के अन्त में कहा गया है कि मनु (न कि स्वयं ब्रह्मा) मनुष्यों तथा देवताओं और असुरों के स्रष्टा थे; और पृथक् वर्णों की रचना का कोई उल्लेख नहीं किया गया है।

भाष्यकार इस आख्यान को शाब्दिक अर्थ में नहीं लेते हैं। हम नीचे देखेंगे कि भागवत पुराण के भाष्यकार ने इस क्रिया का क्या कारण बताया है। नीचे महाभारत के उपर्युक्त अंश पर भाष्यकार नीलकण्ठ की टीका की कुछ उक्तियाँ दी जाती हैं:—

"मनोः" मनुते इत्य् अभिमानात्मकोऽहङ्कारो मनुः। विशेषेण वस्ते आच्छादयति चित्-प्रकाशम् इति विवेक-ज्ञानम् तद्-वान् विवस्वान् मायावी ईश्वरः "मायिनं तु महेश्वरम्" इति श्रुतेः। तस्य वैवस्वतस्य चरितम् सञ्चरणम्। "अविद्या-नाशे सत्य् आविद्यकोऽहङ्कारः कथं सञ्चरति। नहिं तन्तु-दाहे पटस् तिष्ठति" इत्य् आक्षेपः। .... अत्र पर-ब्रह्मण एव रूपान्तरम् मत्स्याख्यो जीवः। सोऽहङ्कारेण मनुना उत्तरोत्तर-श्रेष्ठेषु अलिञ्जिरादि-रूपेषु स्थूल-देहेषु तपो-बलाद् निपात्यते। स च समुद्राख्ये वैराजे देहे निपतितश् च कल्पान्ते अविद्या-नाश-रूपे सत्य् अपि दाध—(दग्ध ?)—पट-न्यायेन अनुवर्त्तमानम् अहङ्कारं सप्तर्षि सञ्ज्ञकैः प्राणादिभिः बीज-सञ्ज्ञैः प्रारब्धकर्मभिश् च सहितं चरम-देह-नाव्य् आरूढम् वासना-वरत्रया जीवमत्स्येन प्रलय-कालेऽप्य् ऊह्यमानम् मेरु-शृङ्ग समेऽचले भवतो (हिमवद्-?) रूपे सद्वासनया लब्धास्पदं विलीनम् अनुलक्ष्य जीव-मत्स्योऽदर्शनम् प्राप्तः। अति-विलीने ह्य् अहङ्कारे जीवत्वम् नश्यति। स पुनर् निरस्त-जीव-भावोऽहङ्कारो ब्रह्म-रूपताम् आपन्नो यथा पूर्वं वासनया जगत् सृजति। नष्टेऽप्य् अविद्याख्ये कारणे संसार-भान-लक्षणं कार्यं चक्र-भ्रमम् इव कञ्चित् कालम् अनुवर्त्तते इत्य् अध्याय-तात्पर्यम्। अक्षरार्थस् त्व् इत्यादि।

" 'मनु' जो मनन करता है। यह आत्मा के अहङ्कार का बोध कराता है, जो इस विचार में निहित है कि वस्तुओं का किसी व्यक्ति के साथ सम्बन्ध होता (अभिमान)[53]। विवस्वत वह है जो इस विवेक-ज्ञान से युक्त होता

[51] देखिये कोलब्रुक. मिस० ए० भाग १ पृ० २४२।

है कि (इस प्रकार की वस्तु) चित्त के प्रकाश को आच्छादित करती है; अर्थात् मायावी ईश्वर, क्योंकि वेद[५४] की उक्ति है 'मायावियों में महेश्वर'। इस वैवस्वत का चरित्र है कर्म। इस पर आपत्ति उठती है कि अविद्या के नाश होने पर अविद्या से उत्पन्न होने वाले अहङ्कार की क्रिया कैसे हो सकती है? क्योंकि तन्तुओं के जल जाने पर वस्त्र की स्थिति नहीं रह जाती।'...... यहाँ मूर्त आत्मा जिसे इस अंश में मत्स्य कहा है परम ब्रह्म का ही रूपान्तर है। 'मत्स्य', मनु के द्वारा, जो अहंकार है, तप के प्रभाव से स्थूल शरीरों में पहुँचाया जाता है जिन्हें यहाँ एक घट या जलाशय आदि के रूप मे उपस्थित किया गया है और जो उत्तरोत्तर श्रेष्ठ रूप हैं। अन्त मे समुद्र नाम के विराज के शरीर में डाले जाने पर यद्यपि 'कल्पान्त' का अर्थ है अविद्या का नाश तथापि मत्स्य-रूप में व्यक्त मूर्त जीव जले हुए वस्त्र के भस्म सदृश अवशिष्ट अहङ्कार का चिन्तन करते हुए और सात ऋषियों के रूप में प्राण और इन्द्रियों के साथ तथा बीज नाम से उक्त पूर्व जन्म के कर्मों के साथ नौका में, जो इसके अन्तिम शरीर का द्योतक है, प्रवेश करके और प्रलय काल मे भी यहाँ मत्स्य रूप में वर्णित जीव द्वारा, पिछले जीवन के अनुभवों (वासना) की अवशिष्ट चेतना की रज्जु से खींचा जाकर और पूर्वजन्म की पवित्र वासना (सद्वासना) की अनुभूति के माध्यम से मेरु शिखर जैसे पर्वत पर, जिसे यहाँ हिमवत् रूप में उपस्थित किया गया है, विश्राम करके और अन्ततः लय प्राप्त कर—मूर्त आत्मा मत्स्य के रूप मे इन सबका अनुभव कर—विलीन हो जाता है। कारण, जब अहङ्कार का पूर्ण नाश हो जाता है तो मूर्त जीव का भी नाश हो जाता है। तब मूर्त आत्मा की अवस्था का लय होने के उपरान्त अहङ्कार ब्रह्म का रूप प्राप्त कर लेता है; किन्तु अपने पूर्व अनुभवों की चेतना के कारण पहले के समान सृष्टि की रचना करता है। जब अज्ञान नाम के कारण का नाश हो जाता है तब भी उसका कार्य जगत् के भान-रूप में कुछ समय तक चक्र के घूमने के समान बना रहता है। यही इस अध्याय का तात्पर्य है।"

इस रूपकात्मक व्याख्या के अनुसार मनु के पिता "विवस्वत" मायावी ईश्वर है, "मनु" अहङ्कार हैं, या अभिमान हैं। "मत्स्य" मूर्त आत्मा है जो स्वयं को परमात्मा से भिन्न समझता है परन्तु ऐसा वस्तुतः है नहीं। "मनु" रूप अहंकार "मत्स्य" रूप में निर्दिष्ट जीवात्मा को उत्तरोत्तर श्रेष्ठ दशा वाले शरीरों में ले जाता है, जिन्हें यहाँ 'घट', 'जलाशय', 'गङ्गा' और 'समुद्र'

---

[५४] ये शब्द एक उपनिषद् से लिये गये हैं, जिसका आवश्यक निर्देश देने मे मैं असमर्थ हूँ।

के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि कल्पान्त का अर्थ है अविद्या का नाश, तथापि अहङ्कार कुछ समय तक बना रहता है और "सात ऋषियों" के साथ, जो प्राणों के प्रतीक हैं, तथा "बीजों" के साथ जो पूर्व के कर्मों के प्रतीक हैं, वह उस "नौका" पर अवरोहण करता है जो उसका अन्तिम शरीर होता है और उसे मूर्त आत्मा समुद्र के पार एक "रज्जु" द्वारा खींचकर ले जाता है, जो पूर्व अनुभूतियों का प्रतीक है। अन्त मे अहङ्कार एक विश्राम स्थल पाता है, जिसे यहाँ हिमवत् पर्वत के रूप में वर्णित किया गया है, और जब यह नष्ट हो जाता है तो मूर्त आत्मा का लय हो जाता है। तथापि, अहङ्कार ब्रह्म का रूप प्राप्त करता है और भाष्यकार द्वारा वर्णित कारण के मध्यम से पुनः जगत् की सृष्टि करता है।

यह कहना आवश्यक नही कि इस कथा को कहने वाले का अभिप्राय इस प्रकार का वेदान्तीय रूपक का माध्यम बनाना नही प्रतीत होता।

इसी कथा का एक रूपान्तर मत्स्यपुराण में इस प्रकार है :

"[55]१. १२. पुरा राजा मनुर् नाम चीर्णवान् विपुलं तपः। पुत्रे राज्यं समारोप्य क्षमावान् रवि-नन्दनः। १३. मलयस्यैक-देशे तु सर्वात्मगुण-संयुतः। सम-दुःख-सुखो वीरः प्राप्तवान् योगम् उत्तमम्। १४ वचनं[56] वरदश् चास्य वर्षायुत-शते गते। "वरं वृणीष्व" प्रोवाच प्रीतात्मा कमलासनः। १५. एवम् उक्तोऽब्रवीद् राजा प्रणम्य स पितामहम्। "एकम् एवाहम् इच्छामि त्वत्तो वरम् अनुत्तमम्। १६. भूत-ग्रामस्य सर्वस्य स्थावरस्य चरस्य च। भवेयं रक्षणायालम् प्रलये समुपस्थिते।" १७. "एवम् अस्तव्" इति विश्वात्मा तत्रैवान्तरधीयत। पुष्प-वृष्टिश् च महती खात् प्रपात सुरार्पिता। १८. कदाचिद् आश्रमे तस्य कुर्वतः पितृ-तर्पणम्। पपात पाण्योर् उपरि शफरी जल-संयुता। १९. दृष्ट्वा तच्-छफरीरूपं स दयालुर् महीपतिः। रक्षणायाकरोद् यत्न स तस्मिन् कर-कोदरे। २०. अहोरात्रेण चैकेन षोडशाङ्गुल-विस्तृतः। सोऽभवद् मत्स्य-रूपेण "पाहि पाहीति" चाब्रवीत्। २१. स तम् आदाय मणिके प्राक्षिपज् जल-चारिणम्। तत्रापि चैकरात्रेण हस्त-त्रयम् अवर्द्धत। २२. पुनः प्राहार्त्तनादेन सहस्रकिरणात्मजम्। स मत्स्यः "पाहि पाहीति" "त्वाम् अहं शरण गतः।" २३. ततः स कूपे तम् मत्स्यम् प्राहिणोद्

[55] यह अश प्रोफेसर आफरेख्त के 'केटलाग ऑफ द बोडलिअन सस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स पृ० ३४७ मे उद्धृत किया गया है।

[56] टेलर मैन्युस्क्रिप्ट मे 'वचनम्' के स्थान पर 'बभूव' पाठ है।

रवि-नन्दनः। यदा न माति तत्रापि कूपे मत्स्यः सरोवरे। २४. क्षिप्तः स पृथुताम् आगात् पुनर् योजन-सम्मिताम्। तत्राप्य् आह पुनर् दीनः "पाहि पाहि नृपोत्तम्।" २५. ततः स मनुना क्षिप्तो गङ्गायाम् अप्य् अवर्द्धत। यदा तदा समुद्रे तम् प्राक्षिपद् मेदिनीपतिः। २६. यदा समुद्रम् अखिलं व्याप्यासौ समवस्थितः। तदा प्राह मनुर् भीतः "कोऽपि त्वम् असुरेतरः। २७. अथवा वासुदेवस् त्वम् अन्य ईदृक् कथम् भवेत्। योजनायुत-विंशत्या कस्य तुल्यम् भवेद् वपु। २८. ज्ञातस् त्वम् मत्स्य-रूपेण मां खेदयसि केशव। हृषीकेश जगन्नाथ जगद्-धाम नमोऽस्तु ते"। २९. एवम् उक्त स भगवान् मत्स्य-रूपी जनार्दनः। "साधु साध्व्" इति चोवाच "सम्यग् ज्ञातं त्वयाऽनघ। ३०. अचिरेणैव कालेन मेदिनी मेदिनीपते। भविष्यति जले मग्ना सा-शैल-वन-कानना। ३१. नौर् इय सर्व-देवानां निकायेन विनिर्मिता। महा-जीव-निकायस्य रक्षणार्थम् महीपते। ३२. स्वेदाण्डजोद्भिजा जीवा ये च जीवा जरायुजा। अस्यं निधाय सर्वास् तान् अनर्थात्[47] पाहि सुव्रत। ३३. युगान्त-वाताभिहता यदा चलति नौर् नृप। शृङ्गेऽस्मिन् मम राजेन्द्र तदेमां संयमिष्यसि। ३४. ततो लयान्ते सर्वस्य स्थावरस्य चरस्य च। प्रजापतिस् त्वम् भविता जगतः पृथिवी-पते। ३५. एवं कृते महाराज[48] सर्वज्ञो धृतिमान् ऋषिः। मन्वन्तराधिपश् चापि देव-पूज्यो भविष्यसि। ३६ अध्याय २. सूत उवाच। १. एवम् उक्तो मनुस् तेन पप्रच्छासुर-सूदनम्। वर्षैर् कियद्भिर् भगवन् भविष्यत्य् अन्तर-क्षयः। २. सत्त्वानि च कथं नाथ रक्षिष्ये मधुसूदन। त्वया सह पुनर् योगः कथं वा भविता मम। ३. श्री-मत्स्य उवाच। अद्य-प्रभृत्य् अनावृष्टिर् भविष्यति महीतले। यावद् वर्ष-शतं साग्रं दुर्भिक्षं नरकावहम्। ४. ततोल्प-सत्त्व-क्षयदा रश्मयः सप्त दारुणाः। सप्त-सप्तेर् भविष्यन्ति प्रतप्ताङ्गार-वर्षिणः। ५. और्वानलोऽपि विकृतिं गमिष्यति युग-क्षये। विषाग्निश् चापि पातालात् सङ्कर्षण-मुख-च्युतः। ६. भवस्यापि ललाटोत्थस् तृतीय-नयनानल। जगद् दग्ध तथा क्षोभं गमिष्यति महामते। ७. एवं दग्धा मही सर्वा यदा स्याद् भस्म-सन्निभा[49]। आकाशम् उष्मणा तप्तम् भविष्यति परन्तप। ८. ततः स-देव-नक्षत्रं जगद् यास्यति संक्ष-

---

[47] 'अनर्थात्' के स्थान पर टेलर ह० प्र० मे 'अनाथान्' पाठ है।

[48] इस स्थल पर टेलर ह० प्र० मे 'एव कृत-युगस्यादौ' पाठ है।

[49] कूर्म-सन्निभा। टेलर ह० प्र०।

यम्। संवर्त्तो भीमनादश् च द्रोणश् चण्डो[60] बलाहकः। ६. विद्युत्पताकः शोणाम्बुः सप्तैते लय-वारिदाः। अग्नि-प्रस्वेद-सम्भूताः प्लावयिष्यन्ति मेदिनीम्। १०. समुद्राः क्षोभम् आगत्य चैकत्वेन व्यवस्थिताः। एतद् एकार्णवं सर्वम् करिष्यन्ति जगत्-त्रयम्। ११. दिव्या नावम्[61] इमां गृह्य सर्व-बीजानि सर्वशः। आरोप्य रज्ज्वा योगेन मत् प्रयुक्तेन सुव्रत। १२. संयम्य नावम मच्-छृङ्गे मत्-प्रभावाभिरक्षितः। एकः स्थास्यसि देवेषु दग्धेष्व् अपि परन्तप। १३. सोम-सूर्याव् अहम् ब्रह्मा चतुर्-लोक-समन्वितः। नर्मदा च नदी पुण्या मार्कण्डेयो महान् ऋषिः। १४. भवो देवाः पुराणं च विद्याभिः सर्वतो वृतम् इदं सर्वं स्थास्यत्य् अन्तर-संक्षये। १५. एवम् एकार्णवे जाते चाक्षुपान्तरसंक्षये। वेदान् प्रवर्त्तयिष्यामि त्वत्-सर्गादौ महीपते। १६. सूत उवाच। एवम् उक्त्वा स भगवांस् तत्रैवान्तरधीयत। मनुर् अप्य आस्थितो योगं वासुदेव-प्रसाद-जम्। १७. अथाभूच् च तथा-भूत. सम्प्लव. पूर्व-सूचिताः। काले यथोक्ते सजाते वासुदेव-मुखोद्यते। १८. शृंगी प्रादुर्बभूवाथ मत्स्य-रूपी जनार्दनः। अनन्तो रज्जुरूपेण मनोः पार्श्वम् उपागमत्। १६.भूत संगान् समाकृष्य योगेनारोप्य धर्मवित्। भुजग-रज्ज्वा मत्स्यस्य शृंगे नावम् अयोजयत्। २०. उपर्य्य उपस्थितस् तस्याः प्रणिपत्य जनार्दनम्। आभूत-सम्प्लवे तस्मिन्न् अतीते योग-शयिना। २१. पृष्टेन मनुना प्रोक्तम् पुराणम् मत्स्यरूपिणा। तद् इदानीम् प्रवक्ष्यामि शृणुध्वम् ऋषि-सत्तमाः।

१२. "प्राचीनकाल में मनु नाम के एक राजा ने, जो सूर्य के धीर पुत्र, सभी सद्गुणों से युक्त, तथा दुःख और सुख से विरक्त थे, अपने पुत्र को राज्य प्रदान कर मलय (मलावार) के किसी भाग में कठोर तप किया १३. और परमात्मा के साथ उत्तम सायुज्य (योग) प्राप्त किया। १४. जब सौ अयुत वर्ष बीत गये तो ब्रह्मा प्रसन्न हुए और उन्होंने मनु से वर माँगने को कहा। १५. जगतपिता के सम्मुख नत होकर राजा ने कहा 'मैं आपसे यही अद्वितीय वर माँगता हूँ कि जब विश्व का प्रलय उपस्थित हो तो सभी स्थावर जगम भूतों की रक्षा करने में समर्थ होऊँ।' १७. ऐसा ही हो, सर्वात्मा ने कहा और उसी स्थान पर लुप्त हो गये, उस समय देवताओं के हाथों से फेंके गये पुष्पों की वर्षा आकाश से होने लगी। १८. एक बार जब

---

[60] टेलर तथा गायकवाड ह० प्र० मे 'चन्द्रो' है।

[61] टेलर हस्तप्रति मे 'वेद-नावम्' "वेदो की नौका" पाठ है।

मनु पितरों का तर्पण कर रहे थे, उनके हाथों पर कुछ जल के साथ एक शफरी मत्स्य आ गिरा (१९) जिसे देखकर दयालु राजा ने जल के घड़े में रख दिया। २०. एक दिन और रात में मत्स्य सोलह अंगुल के बराबर बढ़ गया और बोला 'मेरी रक्षा करो ! रक्षा करो !!' २१. मनु ने तब उसे निकालकर एक बड़े घड़े मे रख दिया, जिसमें वह एक रात्रि में तीन हाथ बढ़ गया, (२२) और आर्तनाद से फिर विवस्वत के पुत्र से बोला 'मेरी रक्षा करो ! रक्षा करो !! मै तुम्हारी शरण में आया हूँ।' २३. मनु ने तब उसे एक कूप मे रख दिया और जब वह उस कूप मे भी नहीं समा सका (२४) तब उसे एक जलाशय में डाल दिया गया जहाँ वह एक योजन के आकार का हो गया, किन्तु फिर भी आर्तस्वर में बोला : 'मेरी रक्षा करो। रक्षा करो !!' २५. जब गंगा मे छोड़े जाने के उपरान्त भी वह अधिक बढ़ गया तब उस राजा ने उसे समुद्र मे डाल दिया। २६. जब उसने सम्पूर्ण समुद्र को घेर लिया तो मनु ने भयभीत होकर कहा 'आप कोई देवता हैं या आप वासुदेव हैं, कोई दूसरा इस प्रकार का कैसे हो सकता है। किसका शरीर २,००,००० योजन का हो सकता है। २८. आपको मैंने इस मत्स्य के वेश में जान लिया, हे केशव आप मुझे भयभीत कर रहे हैं, हे हृषीकेश, हे जगत्पति, हे जगन्निवास ! आपको प्रणाम है। २७ इस प्रकार वचन सुनकर मत्स्य रूपधारी भगवान जनार्दन ने उत्तर दिया : 'तुमने ठीक ही कहा है और वस्तुत तुमने मुझे जान लिया है।' ३० अल्प काल में पर्वतों, कुओं और वनों सहित सम्पूर्ण पृथ्वी जलमग्न हो जायगी। ३१. इस नौका को सभी देवताओं[62] ने जीवित प्राणियों को विस्तृत समूह की रक्षा करने के लिये बनाया है। इस पर सभी स्वेदज, अण्डज, उद्भिज और जरायुज जीवों को रख कर उनकी इस विपत्ति से रक्षा करो। ३३. जब युग के अन्त में प्रचंड वायु के वेग से नौका बहने लगे तो तुम इसे मेरी इस सींग में बाँध देना। ३४. तब प्रलय के अन्त में तुम इस जगत के स्थावर और जंगम के प्रजापति (प्राणियों के स्वामी) होओगे। ३५. जब यह हो जायगा[63] तब सर्वज्ञ, धैर्यवान् ऋषि और मन्वन्तर के स्वामी तुम देवताओं के पूज्य पात्र

---

[62] इस स्थल पर टेलर ह० प्र० का पाठ अशत. मिट गया है, किन्तु यह 'सर्ववेदानाम्' "सभी वेदो का" रहा होगा। अगले अध्याय के श्लोक ११ के विभिन्न पाठो की तुलना कीजिए।

[63] टेलर ह० प्र० के पाठ के अनुसार, हमें इन शब्दो को रखना होगा "इस प्रकार कृत युग के आरम्भ मे तुम" इत्यादि।

वनोगे।" द्वितीय अध्याय : "१. सूत ने कहा : इस प्रकार आदेश पाकर मनु ने असुरों के नाशकर्ता से पूछा, 'कितने वर्षों में वर्तमान मन्वन्तर का अन्त होगा। मै प्राणियों की कैसे रचा करूँगा । और मैं पुनः आपका दर्शन कैसे कर सकूँगा।' मत्स्य ने उत्तर दिया, 'इस दिन के वाद से पृथ्वी पर दुर्भिक्ष के साथ सौ वर्षों से अधिक समय तक अनावृष्टि होगी। ४. तव सूर्य की सात किरणें, जो अल्प प्रकाशवाली और विनाशकारी होंगी, जलते हुये अंगारों की वर्षा करेंगी। ५. युग के अंत में समुद्र की अग्नि धधक उठेगी और सङ्कर्षण के मुख से प्रज्ज्वलित होने वाली अग्नि की भयंकर लपटें पाताल से निकलेंगी और महादेव के तीसरे नेत्र की ज्वाला उनके मस्तक से फूट पडेगी। इस प्रकार प्रज्वलित होकर विश्व क्षुब्ध हो जायगा। ७. इस प्रकार जलकर पृथ्वी भस्म तुल्य हो जायगी। आकाश भी उष्णता से तप्त हो जायगा। ८. तव देवताओं और ग्रहों सहित जगत् का नाश हो जायगा। प्रलयकाल के संवर्त्त, भीमनाद, द्रोण, चण्ड, वलाहक, (९) विद्युत्पताक तथा शोणाम्बु नाम के सात मेघ अग्नि के धुएँ से उत्पन्न होकर पृथ्वी को जलप्लावित कर देंगे। १०. समुद्र क्षुब्ध होकर और एक साथ मिलकर इन सम्पूर्ण तीनों लोकों को एक विशाल समुद्र में परिवर्तित कर देंगे। ११. इस दिव्य नौका को लेकर, इस पर सभी बीजों को रखकर, और मेरे ऊपर ध्यान केन्द्रित करके, इस नौका को एक रज्जु द्वारा (१२) मेरी सींग से वाँधकर केवल तुम मेरी शक्ति से सुरक्षित होकर वचे रहोगे जव कि सभी देवता भस्म हो जायेंगे। १३. सूर्य और चन्द्रमा, चार लोकों सहित मै, ब्रह्मा, पवित्र नदी नर्मदा,[६४] महर्षि मार्कण्डेय, (१४) महादेव, वेद, शास्त्रों सहित पुराण—ये ही सात मन्वन्तर के अन्त में शेष रह जायगें। १५. इस प्रकार चाक्षुष मन्वन्तर के अन्त में जगत् के समुद्र रूप मे परिणत हो जाने पर मैं तुम्हारी सृष्टि के आरम्भ में वेदों का प्रवर्त्तन करूँगा।' १६. सूत ने आगे कहा : 'इस प्रकार कहकर वह दैवी पुरुष वहीं लुप्त हो गया। और मनु वासुदेव की कृपा से योग की अवस्था में लीन हो गये। १७. जव वासुदेव द्वारा उक्त समय आ गया तो पूर्वसूचित जलप्लावन उसी प्रकार हुआ। तव जनार्दन एक श्रृङ्गयुक्त मत्स्य के रूप में प्रकट हुए, (सर्प) अनन्त मनु के निकट रज्जु के रूप में आये। १९. तव धर्म को जानने वाले (मनु) ने सभी जीवों

---

[६४] इस कारण, प्रस्तुत लेखक के विचार से नर्मदा (नेवुदा) गंगा से भी अधिक पवित्र नदी रही होगी। अन्यथा उसने गंगा को ही प्रलय काल मे सुरक्षित रखने के लिये चुना होता।

को अपनी ओर योग द्वारा आकृष्ट किया और उन्हें नौका में रख लिया, नौका को सर्प-रूप रज्जु के द्वारा मत्स्य की सींग में बाँध दिया, (२०) वे नौका पर खड़े हो गये और तब उन्होंने जनार्दन को प्रणाम किया। २१. इसके उपरान्त मैं उस पुराण को कहूँगा जो मनु के एक प्रश्न के उत्तर में मत्स्यरूपधारी भगवान् ने जगत् के जलप्लावन के अन्त तक ध्याननिद्रा में सोते हुए सुनाया था : इसे सुनिये।" मत्स्यपुराण इस जलप्लावन के विस्तार और परिणाम के विषय यहाँ कुछ भी नहीं कहता और यह कथा आगे भी कहीं कही गई नहीं प्रतीत होती।

भागवत पुराण ८. २४, ७ में यही कथा कुछ भिन्नता के साथ इस प्रकार है :

आसीद् अतीत-कल्पान्ते ब्राह्मो नैमित्तिको लयः। समुद्रोपप्लुतास् तत्र लोका भूर्-आदयो नृप। ८. कालेनागत-निद्रस्य धातुः शिशयिषोर् बली। मुखतो निस्सृतान् वेदान् हयग्रीवोऽन्तिकेऽहरत्। ९. ज्ञात्वा तद् दानवेन्द्रस्य हयग्रीवस्य चेष्टितम्। दधार शफरी-रूपम् भगवान् हरिर् ईश्वरः। १०. तत्र राज-ऋषिः कश्चिद् नाम्ना सत्यव्रतो महान्। नारायण-परोऽतप्यत् तपः स सलिलाशनः। ११. योऽसाव् अस्मिन् महाकल्पे तनयः स विवस्वतः। श्राद्धदेव इति ख्यातो मनुत्वे हरिणाऽर्पितः १२. एकधा कृतमालायां कुर्वतो जल-तर्पणाम्। तस्या-ञ्जल्युदके काचिच् छफर्य एकाऽभ्यपद्यत। १३. सत्यव्रतोऽञ्जली-गताम् सह तोयेन भारत। उत्ससर्ज नदी-तोये शफरीं द्रविडेश्वर.। तम् आह सातिकरुणम् महाकारुणिक नृपम्। यादोभ्यो ज्ञाति-घातिभ्यो दीनाम् मां दीनवत्सल। कथ विसृजसे राजन् भीताम् अस्मिन् सरिज्-जले। · ३२. सप्तमेऽद्यतनाद् ऊर्द्ध्वम् अहन्य् एतद् अरिन्दम। निमंक्ष्यत्य् अप्ययाम्भोधौ त्रैलोक्यम् भूर् भुवादिकम्। ३३. त्रिलोक्या लीयमानाया सवर्त्ताम्भसि वै तदा। उपस्थास्यति नौः काचिद् विशाला त्वाम् मयेरिता। ३४. त्वं तावद् ओषधीः सर्वा बीजान्य् उच्चावचानि च। सप्तर्षिभिः परिवृत सर्वसत्वोपबृंहितः। ३५. आरुह्य बृहतीं नाव विचरिष्यस्य् अविक्लवः। एकार्णवे निरालोके ऋषीणाम् एव वर्चसा। ३६. दोधूयमानां ताम् नाव समीरेण बलीयसा। उपस्थितस्य मे शृंगे निबध्नीहि महाहिना। ३७. अहं त्वाम् ऋषिभिः साकं सहनावम् उदन्वति। विकर्षन् विचरिष्यामि यावद् ब्राह्मी निशा प्रभो। ··· ४१. ततः समुद्रः उद्वेलः सर्वतः प्लावयन् महीम्। वर्धमानो महामेघैर्

वर्पाद्भिः समदृश्यत । ४२. ध्यायन् भगवद्-आदेशं ददृशे नावम् आगताम् । ताम् आरुरोह विप्रेन्द्रैर् आदायौषधि-वीरुधः । ४३. तम् ऊचुर् मुनयः प्रीता राजन् ध्यायस्व केशवम् । स वै नः सङ्कटाद् अस्माद् अविता शं विधास्यति । ४४. सोऽनुध्यातस् ततो राज्ञा प्रादुरासीद् महार्णवे । एक-शृंग-धरो मत्स्यो हैमो नियुत-योजनः । ४५. निबध्य नावं तच्छृङ्गे यथोक्तो हरिणा पुरा । वरत्रेणाहिना तुष्टस् तुष्टाव मधुसूदनम् । ·· ५४. इत्य् उक्तवन्तं नृपतिम् भगवान् आदिपूरुषः । मत्स्यरूपी महाम्भोधौ विहरंस् तत्वम् अब्रवीत् । ५५. पुराण-संहिताम् दिव्यां साङ्ख्य-योग-क्रियावतीम् । सत्यव्रतस्य राजर्षेर् आत्म-गुह्यम् अशेषतः । ५६. अश्रौषीद् ऋषिभिः साकम् आत्म-चत्त्वम् असशयम् । नाव्य आसीनो भगवता प्रोक्तम् ब्रह्म सनातनम् । ५७. अतीत-प्रलयापाये उत्थिताय स वेधसे । हत्वाशुरं हयग्रीव वेदान् प्रत्याहरद् हरिः । ५८. स तु सत्यव्रतो राजा ज्ञान-विज्ञान संयुतः । विष्णोः प्रसादात् कल्पेऽस्मिन् आसीद् वैवस्वतो मनुः ।

"७. विगत कल्प के अन्त में ब्रह्मा की रात्रि निद्रा से एक नैमित्तिक[६५] प्रलय हुआ; जिसमें भूर्लोक तथा दूसरे लोक समुद्र में विलीन हो गये। ८. जब विश्राम की इच्छा से स्रष्टा काल के प्रभाव से निद्रा के वशीभूत हो गये तब बली हयग्रीव उनके निकट आकर उनके मुख से निकले हुए वेदों को लेकर भाग गया। ९. दानवों के स्वामी के इस कार्य को जानकर भगवान् हरि ने एक शफरी मत्स्य का रूप धारण किया। १०. उस समय सत्यव्रत नाम के एक महान् राजर्षि, जो नारायण के भक्त थे, जल की वृत्ति ग्रहण कर तपस्या कर रहे थे। ११. वे वही थे, जो वर्त्तमान कल्प में श्राद्धदेव[६६] नाम के विवस्वत के पुत्र हैं, और जिसे हरि ने मनु के पद पर प्रतिष्ठित किया है। १२. एक बार जब वे कृतमाला नदी में पितरों के लिए जल की अँजुलि दे रहे थे तब उनकी अँजुली के जल में एक शफरी मत्स्य आया। १३. द्रविडेश्वर सत्यव्रत ने अपने हाथ में आये हुए मत्स्य को जल सहित नदी में डाल दिया। १४ मत्स्य ने बड़े आर्तस्वर में दयालु राजा से कहा 'तुम मुझ दीन और दुःखी को उन बड़े मत्स्यों के लिए इस नदी में क्यों छोड़ रहे हो जो

[६५] 'नैमित्तिक'। देखिए ऊपर पृ० ५२।

[६६] महाभारत शान्तिपर्व मे भी मनु को श्राद्ध देव कहा गया है। ब्राह्मणो मे उन्हे 'श्राद्धदेव' की उपाधि या विशेषण नही दिया गया है अपितु 'श्रद्धादेव' कहा गया है। देखिए ऊपर पृ० २१४ और उसके आगे।

अपने बन्धुओं का ही नाश कर देते हैं ?" [सत्यव्रत ने तब मत्स्य को नदी से निकाला, उसे अपने कमण्डलु में रखा और ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता गया उसे क्रमशः एक बड़े पात्र, एक वापी अनेक जलाशयों, और अन्त में समुद्र में डाला। मत्स्य वहाँ छोड़े जाने पर यह आपत्ति करता है कि दूसरे मत्स्य उसका भक्षण कर जायँगे, किन्तु मनु उत्तर देते हैं कि वह वास्तविक मत्स्य नहीं हो सकता अपितु स्वयं विष्णु है और अनेक प्रकारों से भक्ति प्रकट कर वे प्रश्न करते हैं कि उन्होंने यह रूप क्यों धारण किया है। श्लोक १५-३१] भगवान उत्तर देते हैं ' ३२. आज के सातवें दिन भूर्लोक आदि तीनों लोक प्रलय-समुद्र में तिरोहित हो जायँगे। ३३. जब विश्व उस समुद्र में डूब जायगा तो मेरे द्वारा भेजी गई एक विशाल नौका तुम्हारे निकट आवेगी। ३४ अपने साथ विविध वनस्पतियों एवं बीजों को लेकर, सात ऋषियों से परिवृत होकर और सभी भूतों से युक्त होकर (३५) उस विशाल नौका पर आरोहण करना और बिना भय के उस अन्धकारपूर्ण समुद्र में ऋषियों की ज्योतिमात्र द्वारा आगे बढ़ना। जब नौका प्रचण्डवायु से इतस्ततः उछलने लगे तो उसे महासर्प से मेरी सींग में बाँध देना—मैं उस समय उपस्थित हो जाऊँगा। ३७ जब तक ब्रह्मा की रात्रि रहेगी मैं तुम्हें ऋषियों सहित समुद्र में खींच कर ले चलूँगा।" [तब वह देव सत्यव्रत को यह वचन देकर लुप्त हो जाता है कि वे वस्तुतः उसकी महानता को जान सकेंगे और उसकी कृपा का अनुभव करेंगे और सत्यव्रत इन पूर्वादिष्ट घटनाओं की प्रतीक्षा करते हैं, श्लोक ३८—४०] ४१ "तब समुद्र विशाल मेघों की वृष्टि से बढ़कर सीमाओं को पार कर बढ़ता हुआ तथा पृथ्वी को आप्लावित करता हुआ दिखाई पड़ने लगा। ४२. उस देव के आदेशों पर ध्यान करते समय सत्यव्रत ने नौका आती हुई देखी जिस पर वे ब्राह्मणों के साथ विविध प्रकार की वनस्पतियों को लेकर चढ़ गये। ४३ प्रसन्न होकर मुनियों ने कहा : 'केशव का ध्यान करो, वे हमें इस विपत्ति से मुक्त करेंगे और समृद्धि प्रदान करेंगे।' ४४. इसके अनन्तर जब राजा ने उनका ध्यान किया तो समुद्र में एक सुनहला मत्स्य प्रकट हुआ जिसके एक सींग थी और जो एक अयुत योजन लम्बा था। ४५. सर्प को रज्जु बनाकर और जैसा उन्हें पहले हरि ने आदेश दिया था, उसके द्वारा नौका को उसकी सींग में बाँधकर सत्यव्रत मधुसूदन की स्तुति करने लगे।" [श्लोक ४६—५३ में प्रार्थना है] ५४ जब राजा ने इस प्रकार कहा तो उस अलौकिक आदिपुरुष ने मत्स्य के रूप में विशाल समुद्र में विचरण करते हुए उन्हें तत्त्व की शिक्षा दी। (५५) पुराणों के दिव्य संग्रह, सांख्य, योग, कर्मकाण्ड तथा आत्म-रहस्य

की शिक्षा दी। ५६ ऋषियों के साथ नौका पर बैठे हुए सत्यव्रत ने उस देव द्वारा दिए गये आत्मा और नित्य ब्रह्म के परमार्थ ज्ञान का श्रवण किया। ५७ जब विगत प्रलय के अन्त में ब्रह्मा उठे तो उन्होंने हयग्रीव का वधकर वेद को प्राप्त कर लिया, ५८. और पारलौकिक सभी ज्ञान के विद्वान् राजा सत्यव्रत विष्णु की कृपा से विवस्वत के पुत्र और इस कल्प के मनु हुए।"

भागवत पुराण से उद्धृत किये गये अंश पर भाष्यकार श्रीधर स्वामी की टीका प्रस्तुत करने के पूर्व मैं इसी कथा के एक पाठ को अग्नि पुराण से उद्धृत करूंगा[67]। यह कोई बहुत महत्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि यद्यपि यह अधिक संक्षिप्त है, तथापि अर्थ में भागवत पुराण की कथा के अनुरूप है : इन दोनों में कौन किससे ग्रहण किया गया है अथवा दोनों किसी एक ही स्रोत से लिये गये हैं, यह कहने में मैं असमर्थ हूँ।

वसिष्ठ उवाच। १ मत्स्यादि-रूपिणं विष्णुम् ब्रूहि सर्गादि-कारणम्। पुराणम् ब्रह्म चाग्नेयं यथा विष्णोः पुरा श्रुतम्। अग्निर् उवाच। २. मत्स्यावतारं वक्ष्येऽहं वसिष्ठ शृणु वै हरेः. अवतार-क्रिया दुष्ट-नष्ट्यै सत्-पालनाय हि। ३. आसीद् अतीत-कल्पान्ते ब्राह्मो नैमित्तिको लयः। समुद्रोपप्लुतास् तत्र लोका भूरादिका मुने। ४. मनुर् वैवस्वतस् तेपे तपो वै भुक्ति-मुक्तये। एकदा कृतमालायां कुर्वतो जल-तर्पणम्। ५. तस्याञ्जल्य्-उदके मत्स्यः स्वल्प एकोऽभ्यपद्यत। क्षेप्तु-काम जले प्राह "न मां क्षिप नरोत्तम। ६. ग्राहादिभ्यो भयम् मेऽत्र" तच् छ्रुत्वा कलशेऽक्षिपत। मनुं वृद्धः पुनर् मत्स्यः प्राह त "देहि मे बृहत्"। ७ तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राजाऽथ वन्दनेऽक्षिपत्। तत्र वृद्धोऽब्रवीद् भूपम् "पृथु देहि पदम् मम।" ८. सरोवरे पुनः क्षिप्तो ववृधे तत्-परमाणवान्। ऊचे "देहि बृहत् स्थानम्" प्राक्षिपच् चाम्बुधौ ततः। ९. लक्ष-योजन-विस्तीर्णः क्षण-मात्रेण सोऽभवत्। मत्स्यं तम् अद्भुतं दृष्ट्वा विस्मितः प्राब्रवीद् मनुः। १० "को भवान् ननु वै विष्णुर् नारायण नमोऽस्तु ते। मायया मोहयसि मां किमर्थं च जनार्दन"। ११. मनुर्-उक्तो[68] ऽब्रवीद्

[67] इसकी प्रतिलिपि प्रोफेसर ऑफरेख्त ने लन्दन की रायल एशियाटिक सोसाइटी की अग्नि पुराण की हस्तप्रति से की है। प्रो० ऑफरेख्त ने मुझे सूचित किया है कि इष्टइण्डिया आफिस लाइब्रेरी में वह्निपुराण की दो हस्त-प्रतियाँ हैं, जो (यद्यपि वह्नि परवर्ती संस्कृत में अग्नि का पर्यायवाची है, तथापि) अग्निपुराण से नितान्त भिन्न है।

[68] प्रोफेसर ऑफरेख्त की प्रतिलिपि मे 'मनुर्-उक्तो' पाठ है, जिसे मैंने यहाँ रहने दिया है, यद्यपि मुझे यह विदित नही था कि वैदिक युग के अतिरिक्त 'मनुस्' सामान्यतः 'मनु' के लिये प्रयुक्त होता था।

मत्स्यो मनुं वै पालने रतम्। अवतीर्णो भवायास्य जगतो दुष्ट-नष्टये। १२. "सप्तमे दिवसे त्व् अब्धि प्लावयिष्यति वै जगत्। उपस्थितायां नावि त्वं बीजादीनि विधाय च। सप्तर्षिभिः परिवृतो निशाम् ब्राह्मी चरिष्यसि। उपस्थितस्य मे शृङ्गे निबध्नीहि महाहिन।" १४. इत्य् उक्त्वाऽन्तर्दधे मत्स्यो मनुः काल-प्रतीक्षक। स्थितः समुद्र उद्वेले नावम् आरुरुहे तदा। १५. एक-शृङ्ग-धरो मत्स्यो हैमो नियुत-योजनः। नावम् बबन्ध तच्-छृङ्गे मत्स्याख्यं च पुराणम्। १६. शुश्राव मत्स्यात् पाप-घ्न स-श्रुतम् श्रुतम् (?) ब्रह्म-वेद-प्रहर्त्तारं हयग्रीव च दानवम्। १७. अवधीद् वेद-मन्त्राद्यान् पालयामास केशवः।

"वसिष्ठ ने कहा · १ 'हे विष्णु मुझे सृष्टि के भूत विष्णु की मत्स्य एवं अन्य रूपों में वर्णन करें; तथा आदि में विष्णु से सुने गये अग्नि के पौराणिक प्रकाशन का भी वर्णन कीजिए।' अग्नि ने उत्तर दिया : २ 'हे वसिष्ठ, सुनो, मैं तुमसे विष्णु के मत्स्यावतार और दुष्टों के नाश तथा सज्जनों की रक्षा के लिये इस अवतार में किये गये उनके कर्मों का कहता हूँ।

३ अतीत कल्प के अन्त में ब्रह्मा की निद्रा के फलस्वरूप विश्व का एक नैमित्तिक प्रलय हुआ। जबकि भूर्लोक और अन्यलोक समुद्र के जल से आप्लावित हो गये। ४ विवस्वत के पुत्र मनु ने संसार के सुख और अन्तिम मोक्ष के लिए कठोर तप किया। एक बार जब वे पितरों को कृतमाला नदी में जल का तर्पण कर रहे थे ५. एक लघु मत्स्य उनकी अञ्जलि के जल में आया और जब वे इसे नदी में डालने लगे जो उनसे बोला 'मुझे जल में मत डालो, ६. क्योंकि मैं ग्रहों एव अन्य जीवों से भयभीत हूँ जो यहाँ निवास करते हैं।' यह सुनकर मनु ने उसे कलश में डाल दिया। और बढ़ने पर मत्स्य ने पुन. उनसे कहा 'मुझे एक बड़ा स्थान दो।' ७. तब मनु ने इसे एक दूसरे अधिक बड़े पात्र (?) में रख दिया। जब यह उसमें भी बढ़ गया तब पुन. राजा से बोला, 'मुझे एक विस्तृत स्थान दो'। ८. जब एक जलाशय में डाले जाने पर भी यह उस जलाशय के बराबर बड़ा होगा और पुनः उसने अधिक विस्तृत स्थान की याचना की, तब उन्होंने उसे समुद्र में डाल दिया। ९. एक क्षण में यह सतसहस्र योजन बड़ा हो गया। अद्‌भुत मत्स्य को देखकर विस्मित मनु ने कहा : १०. 'आप कौन हैं? क्या आप विष्णु हैं? हे नारायण! आपको प्रणाम है। हे जनार्दन अपनी इस माया से मुझे क्यों व्याकुल कर रहे हैं?' मत्स्य ने, जिसने संसार के कल्याण तथा दुष्टों के विनाश के लिये यह रूपधारण किया था, इस प्रकार प्रार्थना सुनकर मनु को

उत्तर दिया, जिन्होंने इसकी रक्षा की थी' (१२) 'आज के सातवें दिन समुद्र पृथ्वी को आप्लावित कर देगा। तुम्हारे निकट एक नौका आवेगी, जिसमें तुम बीजों को रख देना (१३) और ऋषियों को साथ लेकर ब्रह्मा की रात्रि में समुद्र को नौका से पार करना। जब मैं उपस्थित होऊँ तो विशाल सर्प द्वारा इसे मेरी सींग से बाँध देना। (१४) इस प्रकार कह कर मत्स्य लुप्त हो गया। मनु ने उक्त समय की प्रतीक्षा की, और जब समुद्र मर्यादाओं का अतिक्रमण करने लगा तो वे नौका पर आरूढ़ हो गये। (१५) (तब वहाँ) एक स्वर्णाभ मत्स्य प्रकट हुआ, जो एक अयुत योजन बड़ा था, और जिसके एक सींग थी; उस सींग मे मनु ने नौका बाँध दी और मत्स्य से मत्स्य पुराण सुना जो पाप को दूर करता है, और वेदों का भी श्रवण किया। तब केशव ने हयग्रीव दानव का वध किया जिसने वेदों को चुरा लिया था, तथा उन्होंने उसके मन्त्रों एवं अन्य भागों की रक्षा की।"

भागवतपुराण में कही गई जलप्लावन की निम्नलिखित कथा पर श्रीधर की टीका है, जिसका निर्देश पहले किया जा चुका है। टीका का सुन्दर अनुवाद एवं उसकी व्याख्या एम० बरनोफ ने अपने इस पुराण के संस्करण के भाग ३ के आमुख (पृ० ३८ आदि) में की है। उन्होंने इस आख्यान का विस्तृत विवेचन अपने ग्रन्थ के पृ० २३ से पृ० ५४ तक में किया है।

अत्र इदं चिन्त्य "किम् अयम् महाप्रलयो दैनन्दिनो वा" इति। तत्र तावद् "ब्राह्मो लयः" (५. ७) इति "योऽसाव् अस्मिन् महाकल्पे" (५. ११) इति च उक्तेर् "महाप्रलयः" इति प्राप्तं "न" इति ब्रूमः। महाप्रलये पृथिव्य्-आदीनाम् अवशेषासम्भवाद् "यावद् ब्राह्मी-निशा" (५. ३७) इत्य्-आद्य्-उक्ति-विरोधाच् च। अतो "दैनन्दिन" इति युक्तम्। न च एतद् अपि सङ्गच्छते। संवर्त्तकैर अनावृष्ट्य्-आदिभिर् विना अकस्माद् एव "सप्तमेऽहनि त्रैलोक्यं निमङ्क्ष्यति" (५. ३२) इति मत्स्योक्तेर अनुपपत्तेः। यथोक्तम् प्रथम-स्कन्धे "रूपम्" (१. ३, १५) इत्य् आदि तद् अपि तदा दुर्घटम्। न हि प्रलय-द्वयेऽपि "मही मय्यां नाव्य्" आरोहः सम्भवति न च चाक्षुष-मन्वन्तरे प्रलयोऽस्ति। तथा च सति सप्तमो मनुर् वैवस्वतः इत्य् अपि दुर्घटं स्यात्। "त्वं तावद् ओषधीः सर्वाः" (८. २४, ३४) इत्य्-आदि-निर्देशोऽपि न सङ्गच्छते न हि तदा ओषध्य्-आदीनां सत्त्वानां च अवशेषः सम्भवति। तस्माद् अन्यथा वर्ण्यते। नैवायं वास्तवः कोऽपि प्रलयः। किन्तु सत्यव्रतस्य ज्ञानोपदेशस्य आविर्भूतो भगवान् वैराग्यार्थम् अकस्मात् प्रलयम् इव दर्शयामास यथाऽस्मिन्न् एव वैवस्वत-मन्वन्तरे

मार्कण्डेयाय दर्शितवान्। तद्-अपेक्षया एव च "महा-कल्पेऽस्मिन्न्" इति विशेषणं सङ्गच्छते। तथा च "ततः समुद्रः उद्वेलः सर्वतः समदृश्यत" (५. ४१) इति तस्यैव यथा दर्शनम् उक्तम् इत्य् एषा दिक्।

"यहाँ यह विचारणीय है कि यह विश्व का महाप्रलय था अथवा ब्रह्मा के प्रत्येक दिन के अन्त में होनेवाले प्रलयों में से एक प्रलय था। यदि 'ब्रह्मा से उत्पन्न प्रलय' (५. ७) तथा 'वह वही है जो इस महाकल्प में' (५. ११) उक्तियों के आधार पर यह कहा जाय कि यह एक महाप्रलय था, तो हमारा उत्तर है कि नहीं, यह महाप्रलय नहीं था, क्योंकि महाप्रलय में पृथ्वी और अन्य लोकों का अस्तित्व सम्भव हो ही नहीं सकता और यह 'जब तक ब्रह्मा की रात्रि रहती है' (५. ३७) शब्दों के भी विपरीत ठहरेगा। अतएव यह प्रतीत होता है कि यह ब्रह्मा के दिन के अन्त में होनेवाला प्रलय रहा होगा। किन्तु, यह भी असम्भव है, कारण इसका मत्स्य के इन वचनों से विरोध होगा कि 'सातवें दिन तीनों लोक (५. ३२) अचानक अनावृष्टि और प्रलयपूर्व विपत्तियों के बिना ही विलीन हो जायगें।' प्रथम अध्याय (३. १५) में जो यह कहा गया है कि 'चाक्षुष-मन्वन्तर में प्रलय के अवसर पर उन्होंने मत्स्य का रूप धारण किया और पृथ्वी से बनाई हुई नौका पर रखकर मनु वैवस्वत की रक्षा की"[३१] भी इस दशा में असंगत ठहरेगा, कारण (१) इन दोनों में किसी भी प्रलय में किसी भी व्यक्ति को पृथ्वी रूपी नौका में नहीं रक्खा जा सकता, (क्योंकि एक में तो पृथ्वी जलमग्न हो जाती है और दूसरे में उसका पूर्णतः विनाश हो जाता है); (२) चाक्षुष-मन्वन्तर में संसार का प्रलय नहीं होता, (३) ऐसा मानने पर विवस्वत के पुत्र सातवें मनु की स्थिति असम्भव हो जायगी (क्योंकि चौदह मनु एक ही कल्प में बिना प्रलयकालीन व्यवच्छेद के एक दूसरे के उपरान्त आते हैं)। और ऐसी स्थिति में 'सभी वनस्पतियों को नौका में रखने' का आदेश असम्भव होगा, कारण इस प्रकार के प्रलय के समय कोई वनस्पतियाँ या इस

---

[३१] भागवत पुराण १ ३, १५ 'रूप स जगृहे मात्स्य चाक्षुषोदधिसम्प्लवे। नाव्य् आरोप्य महीमय्याम् अपाद् वैवस्वतम् मनुम्।' इस श्लोक पर भी श्रीधर स्वामी इस प्रकार टीका करते हैं:—यद्यपि मन्वन्तरावसाने प्रलयो नास्ति तथापि केनचित् कौतुकेन सत्यव्रताय माया प्रदर्शिता। यथा "अकाण्डे मार्कण्डेयाय" इति द्रष्टव्यम्। "यद्यपि मन्वन्तर के अन्त मे प्रलय नही होता" तथापि कौतुक के लिये सत्यव्रत को माया दिखाई गई। जैसा कि अन्य अंशो मे कहा गया है "अचानक मार्कण्डेय को" इत्यादि।

प्रकार की अन्य वस्तुएँ शेष नहीं बचतीं। इस दशा में इस कथा की व्याख्या दूसरे प्रकार से करनी होगी। जिस प्रलय का यहाँ वर्णन किया गया है वह वस्तुतः कोई प्रलय नहीं था। किन्तु भगवान् ने, जो सत्यव्रत को ज्ञान का उपदेश देने के लिये प्रकट हुए थे, उनमें वैराग्य उत्पन्न करने के लिये उन्हें उसी प्रकार प्रलय का रूप दिखाया, जिस प्रकार वैवस्वत मन्वन्तर में उन्होंने मार्कण्डेय को दिखाया था। और इस सन्दर्भ में 'इस महाकल्प में' ऐसा कथन संगत होगा। अतएव 'तब समुद्र चारों ओर तटों का अतिक्रमण करता हुआ दिखाई पड़ा' ये शब्द उन सबको लक्ष्य करके कहे गये हैं जो सत्यव्रत ने (माया रूप में) देखा। इस अध्याय का अर्थ यही है।"

यहाँ श्रीधर स्वामी इस कथा के केवल एक विशिष्ट पाठ के वर्णनों के आधार पर, जिसे उन्होंने अपने सम्मुख भागवत में पाया, तर्क करते है और अपने अनुसन्धान में यह जानने का प्रयत्न नहीं करते कि अन्य पुराणों में इस कथा में कुछ भिन्नता है या नहीं। यदि उन्होंने मत्स्य पुराण का अवलोकन किया होता तो उन्हें यह ज्ञात होता कि उनकी एक आपत्ति, जो प्रलयपूर्व विपत्तियों के उल्लेख के अभाव पर आधृत है, उसमे दी हुई कथा के संबन्ध में उचित नहीं ठहरती, क्योंकि वह कथा स्पष्टतः कहती है कि ये प्रलयकालीन उत्पात परिलक्षित हुए थे। उनकी अन्य आपत्तियाँ निःसन्देह भागवत के कथारूप के अतिरिक्त अन्य कथारूपों पर भी लागू होती हैं। सामान्य पौराणिक सिद्धान्त के अनुसार (देखिए ऊपर पृ० ५० आदि) प्रत्येक कल्प में चौदह मनु होते हैं और एक के बाद दूसरे मनु बिना प्रलय के व्यवच्छेद के ही आते हैं। इस प्रकार के प्रलय के किसी भी मनु के स्थितिकाल में या उसके लय के उपरान्त वर्णित काल स्पष्टतः उपर्युक्त सिद्धान्त के प्रतिकूल है। यह सदिग्ध भी है अथवा सदिग्धता से भी अधिक (विलसन का विष्णु पु० भाग १. पृ० ५० आदि और ऊपर पृ० ४४) कि एक मनु दूसरे मनु के साथ-साथ हो सकते हैं, और फिर भी मत्स्य एवं अग्नि पुराणों (देखिए ऊपर पृ० २३३ आदि २४० और आगे) के अनुसार मनु वैवस्वत को अपने पूर्ववर्ती मनु के काल में स्थित बताया गया है, यद्यपि भागवत सत्यव्रत को कथा का नायक बनाकर और पुन. दूसरे मन्वन्तर के प्रारम्भ में उनके मनु वैवस्वत रूप में उत्पन्न होने का उल्लेख करके इस कठिनाई को दूर कर देता है। (इस विषय पर और अधिक टिप्पणियों के लिये ऊपर उल्लिखित एम० बरनफ का आमुख देखा जा सकता है)। महाभारत और पुराणों के रचयिता इस वर्णन की असंगतियों के प्रति उतने जागरूक नहीं दिखाई पडते, जितने श्रीधर संभवतः कम से कम जब महाभारत के अधिक प्राचीन भागों की

रचना हुई थी उस समय कल्पों एवं मन्वन्तरों की व्यवस्था उतनी स्पष्ट रूप से व्यवस्थित या प्रचलित नहीं हुई थी जितनी परवर्ती समय में।" और पुराणों के लेखकों ने भी, जो कुछ उन्होंने लिखा, उसमें कठोर सामञ्जस्य बना रखने का अधिक ध्यान नहीं दिया होगा। वस्तुतः उनका इस प्रकार के महायुगों से संबद्ध स्वच्छन्दतापूर्ण एवं कृत्रिम कल्पनाओं में कोई विश्वास नहीं रहा होगा, जिनका मैंने निर्देश किया है—वे ऐसी कल्पनाएं थीं जो उनके अपने ही वर्ग के पूर्ववर्ती लेखकों से ग्रहण की गई थीं। तथापि टीकाकारों के विषय में स्थिति कुछ भिन्न थी, ये परवर्ती समय में हुए थे और कल्पों एवं मन्वन्तरों के विषय में स्थापित मान्यता को श्रद्धास्पद वस्तु के रूप में स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं।

फिर भी, उपर्युक्त कारणों से इस विषय में सन्देह नहीं हो सकता कि जलप्लावन की यह कथा जिस रूप में महाभारत और पुराणों में आई है, वह कल्पों एवं मन्वन्तरों की व्यवस्था के अनुकूल नहीं है[७०]। किन्तु इस स्थिति से हम क्या निष्कर्ष निकाल सकते हैं? एम० बरनफ का विश्वास है कि (१) महायुगों और विश्व के सामयिक प्रलय का सिद्धान्त भारत में अधिक प्राचीन काल से प्रचलित था (भाग० पु० ३, आमुख, पृ० ४३), तथा (२) यह व्यवस्था जलप्लावन की कथा से भी प्राचीन थी, क्योंकि यद्यपि यह कथा प्राचीन भारतीय परम्परा से ली गई होगी, तथापि महाभारत और पुराणों में यह जिस शैली में वर्णित है उसमें ब्राह्मणों में आए हुए इतिहासों की प्राचीनतापूर्ण शैली का अभाव है और जहाँ तक उन्हें ज्ञात था यह ब्राह्मण वर्ग की किसी रचना में नहीं पायी गई है (आमुख, पृ० २७), यथा उनका यह भी अनुमान था कि कहीं पाये जाने की सम्भावना भी नहीं (पृ० ५२)। इन तथ्यों तथा किसी स्थानीय जलाप्लावन की परम्परा के अभाव से उन्होंने जो निष्कर्ष निकाला है (पृ० ४८ तथा ५१) वह यह है कि यद्यपि महाभारत तथा पुराणों में जिस रूप में यह कथा आई है उसने कुछ दृष्टियों में भारतीय स्वरूप ग्रहण कर लिया है (पृ० ३१ आदि, ४५ आदि) तथापि मूलरूप में यह कथा भारतीय नहीं है (५१) अपितु हिन्दुस्तान में यह एक सेमेटिक स्रोत से ली गई है, चाहे वह हिब्रू रहा हो या असीरियन (५२–५४)। कल्पों, मन्वन्तरों एवं संसार के प्रलयों की कल्पना की प्राचीनता के संबन्ध में एम० बरनफ की पहली मान्यता की वैदिक सूक्तों द्वारा या ब्राह्मणों में

---

[७०] स्वायम्भुव मन्वन्तर का उल्लेख शान्तिपर्व में किया गया है, परन्तु कोई विस्तृत वर्णन नहीं दिया गया है (कृते युगे महाराज पुरा स्वायम्भुवेऽन्तरे)।

अद्यावधि उपलब्ध किसी तथ्य द्वारा पुष्टि नहीं होती (देखिए ऊपर पृ० ५२ आदि)। और यह अनुमान कि अधिक प्राचीन भारतीय रचनाओं में जलप्लावन का कोई उल्लेख नहीं पाया जा सकता, गलत सिद्ध हो चुका है, जैसा कि ऊपर (पृ० २०६ आदि) पर शतपथ ब्राह्मण से उद्धृत मनु की कथा से स्पष्ट है।

प्रोफेसर वेवर, जिन्होंने सर्वप्रथम (अपने इण्ड० स्टू० १. १६० आदि में) इस अंश की ओर ध्यान आकृष्ट किया, यह प्रदर्शित करते हैं कि कितने ठोस रूप में यह वरनफ के निष्कर्षों का खण्डन करता है। यदि उस जगत्संबधी सिद्धान्त की नितान्त प्राचीनता का कोई प्रमाण नहीं है जिसे उस महान् विद्वान् ने भारत में जलप्लावन की किसी परम्परा की प्राचीन काल में स्थिति होने के साथ असंगत माना है, जब कि इसके विपरीत इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण विद्यमान है कि यह परम्परा, जिस समय का उन्होंने अनुमान किया था उससे बहुत पहले ही, वास्तविक रूप में प्रचलित थी, तो यह स्पष्ट है कि उनकी यह धारणा कि यह इस देश में किसी शुद्ध सेमेटिक स्रोत से ली गयी है, बहुत कुछ असम्भव ठहरती है।

जिस व्याख्या द्वारा श्रीधर पौराणिक कथाओं और सिद्धान्तों के बीच सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं वह पूर्णतः निराधार प्रतीत होती है। भागवत, मत्स्य या अग्नि पुराणों के लेखकों का अभिप्राय जलप्लावन को एक मायारूप में प्रस्तुत करने का नहीं प्रतीत होता। उन्हें स्पष्टतः इस कथा का शाब्दिक अर्थ ही अभिप्रेत था जैसा कि उनके किसी अन्य वर्णन के संबन्ध में है।

अब मैं महाभारत और पुराणों में आये हुए इस कथा के रूपों की परस्पर और ऊपर शतपथ ब्राह्मण से उद्धृत कथा के साथ तुलना करूँगा।

१. शतपथ ब्राह्मण की कथा में निम्नलिखित विशेषतायें हैं:—

(१) इसमें किसी महायुग, जैसे कल्पों या मन्वन्तरों का कोई निर्देश नहीं है।

(२) इसमें जगत् के प्रलय का उल्लेख नहीं है अपितु एक जलप्लावन (औघ) का वर्णन है जो मनु के अतिरिक्त सभी प्राणियों को बहा ले गया।

(३) यह जलप्लावन आने के दिनों या वर्षों की संख्या नहीं निर्धारित करती।

(४) यह किसी पैतृक नाम, जैसे वैवस्वत, के बिना ही मनु का उल्लेख करती है।

(५) इसमें उस स्थान का कोई उल्लेख नहीं है जिस स्थान पर मत्स्य उनके निकट आया था।

(६) यह कथा मत्स्य के किसी नदी में डाले जाने का कोई उल्लेख नहीं करती।

(७) यह इस विषय पर मौन है कि जब मनु ने नौका पर आरोहण किया तो उनके साथ ऋषि भी थे या नहीं और उन्होंने अपने साथ विभिन्न बीज लिये या नहीं।

(८) इसमें इस नौका के "उत्तर पर्वत" और "मनोरवसर्पण" नाम के स्थान पर लगने का वर्णन है।

(९) यह मत्स्य के किसी देवता का अवतार होने का निर्देश नहीं करती।

(१०) इसमें इडा का मनु की हवि से उत्पन्न और उसकी प्रजा की माता के रूप में वर्णन किया गया है, जो स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हुई थी।

इस सूक्ष्म वर्णन की आगे आने वाले विवेचन से तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण में वर्णित जलप्लावन परवर्ती रचनाओं के प्रलय से अनेक रूपों में भिन्न है।

२. यह आख्यान महाभारत में जिस रूप में आया है वह कुछ बातों में तो शतपथ ब्राह्मण की कथा से साम्य रखता है किन्तु कुछ बातों में उससे भिन्न है :

---

[७१] मनु वैवस्वत का श० ब्रा० १३ ४, २, ३ मे उल्लेख किया गया है। "मनुर् वैवस्वतो राजा" इत्य् आह। तस्य मनुष्या विश.। "वह कहता है "राजा मनु वैवस्वत। मनुष्य उसकी प्रजा है।" आगे १३ ४, ३, ६ मे यम वैवस्वत को पितरो का राजा कहा गया है, तुलना० ऋग्वेद १० १४, १; १७, १, ऋग्वेद ४ १ के वालखिल्य सूक्तो मे इन्द्र के मनु विवस्वत न कि वैवस्वत के घर मे सोम पान करने का उल्लेख है। अथर्ववेद ८ १०, २४ मे मनु वैवस्वत को गो विराज का वत्स कहा गया है (तस्या मनुर् वैवस्वतो वत्स)। इसी प्रकार इसके पूर्ववाले मन्त्र मे यम के विषय मे भी कहा गया है। वालखिल्य ३ १ में इन्द्र के मनु सावरणी के घर मे सोमपान करने का वर्णन है। 'सावर्ण्य' तथा 'सावर्णि' शब्दो का ऋग्वेद १० ६८, ८ आदि, तथा ६१ मे 'मनु' अर्थात् मनुष्य के साथ सम्बन्ध 'मनुसावर्णि की कल्पना को जन्म देता है। देखिए विलसन का वि० पु० ४ पेजी स० पृ० २६६ आदि, तथा ज० ओ० सो० भाग ६, पृ० २५५ आदि मे रॉथ का कथन एव ऋग्वेद १० १७, २।

(१) यह किसी कल्प या मन्वन्तर का नाम नहीं लेता।

(२) यह जगत् के प्रलय तथा जल द्वारा ससार की शुद्धि (सम्प्रक्षालन-काल.) के समय के आगमन का उल्लेख करता है।

(३) इसमें मत्स्य यह कहता है कि यह घटना शीघ्र ही (अचिरात्) होगी तथा उसके पूर्व के उपद्रवों का भी वर्णन कराया गया है।

(४) यह मनु को वैवस्वत पैतृक नाम देता है किन्तु किसी दूसरे मनु के नाम का उल्लेख नहीं करता।

(५) यह मत्स्य के उनके निकट उस समय आने का वर्णन करता है जब वे चिरिणी नदी के तट पर थे।

(६) यह मत्स्य के समुद्र में ले जाने के पूर्व गंगा में डाले जाने का वर्णन करता है।

(७) इसमें मनु के सात ऋषियों एव ब्राह्मणों द्वारा उल्लिखित सभी बीजों के साथ नौकारोहण करने का वर्णन है।

(८) इसके अनुसार नौका हिमालय के सर्वोच्च शिखर से जाकर लगी जिसे इस कारण नौबन्धन कहा जाता है।

(९) इसमें मत्स्य को स्वयं ब्रह्मा प्रजापति के रूप में प्रकट कराया गया है।

(१०) इसमें मनु के प्रजाओं के उत्पन्न करने का वर्णन नहीं है अपितु वे जीवित प्राणियों की सृष्टि करते हैं, जिनमें मनुष्य भी सम्मिलित हैं।

३ मत्स्यपुराण उपर्युक्त तथ्यों से कुछ बातों में तो साम्य रखता है किन्तु कुछ में भिन्न है।

(१) इसका कथन है कि मनु ने, जिन्हें इसमें सूर्य का पुत्र ('सहस्र-किरणात्मज' और 'रवि-नन्दन') कहा गया है अर्थात् मनु वैवस्वत ने, अपना राज्य अपने पुत्र को सौंपकर कठोर तप किया (५. १२)। यह सोचा जा सकता है कि उन्होंने ऐसा अपने ही मन्वन्तर मे किया होगा, किन्तु आगे (५. ३४) यह कहा गया है कि मत्स्य ने उन्हें बताया कि जब प्रलयकाल का अन्त होगा तो वे प्रजापति और मन्वन्तर के स्वामी हो जायगें और उन्हें यह आश्वासन दिया कि प्रलय मे वे सुरक्षित रहेंगे (२. १२), जो, जैसा कि ७. १५ से प्रतीत होता है, चाक्षुष मन्वन्तर के अन्त में होनेवाला था। इसके उपरान्त उन्हें जगत् की फिर से नयी सृष्टि करनी थी। अतएव हमें मानना होगा कि लेखक ने मनुवैवस्वत को उनके पूर्ववर्ती मनु के काल में स्थित स्वीकार किया है, किन्तु तब वे एक राजा के निकृष्ट पद पर थे।

जैसा कि मैंने पहले कहा है, यह कठिनाई भागवत में दूर हो गई है, जिसमें राजा सत्यव्रत को कथा का नायक बना दिया गया है।

(२) इस पुराण में एक प्रलय का उल्लेख है तथापि इसमें (१ १५ आदि) मनु ब्रह्मा से यह वर माँगते और प्राप्त करते हैं कि जल प्रलय उपस्थित हो तो वे स्थावर और जङ्गम भूतों के रक्षक हों।

(३) इसका कथन है कि प्रलय के पहले एक सौ से अधिक वर्ष बीतने को थे और प्रलय के पूर्व दुर्भिक्ष तथा अनेक प्रकार के उत्पात होने वाले थे।

(४) इसमें मनु को सूर्य के पुत्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है। देखिए (१) के अन्तर्गत।

(५) इसमें मलय (मलाबार) को मनु की तपस्या एवं मत्स्य के प्रकट होने का स्थान बताया गया है।

(६) यह मत्स्य के गङ्गा में छोड़े जाने के वर्णन में महाभारत से साम्य रखता है, यद्यपि गङ्गा मलाबार से बहुत दूर है।

(७) सात ऋषियों के नौका पर आरोहण करने के विषय में यह मौन है किन्तु मनु के अपने साथ सभी प्रकार के जीवों के (जो स्पष्टतः जीवित थे) तथा बीजों के ले जाने का उल्लेख करता है (अध्याय २, श्लोक १)

(८) इसमें कथा का उपसंहार नहीं होता (देखिए ऊपर पृ० २३५) और इस कारण यह उल्लेख करने का कोई अवसर नहीं है कि नौका किस स्थान पर लगी थी।

(९) इसमें भगवान् जनार्दन के मत्स्य-रूप धारण करने का वर्णन है।

(१०) इसमें मनु के सृष्टि रचना के लिये उद्यत होने (२ १५), तथा साथ ही, जीवित पशुओं एवं वनस्पतियों की रक्षा करने का उल्लेख है (अध्याय १. १५ आदि ३१ और आगे; अध्याय २. १९)।

४. भागवत पुराण के अनुसार :

(१) वर्णित घटना एक नैमित्तिक प्रलय थी, (देखिए उपर पृ० ५२) जो कल्प के अन्त में हुआ था (८. २४, २७), तथापि इसके विरोध में यह पहले उल्लेख किया गया है (१. ३, १५) कि यह चाक्षुष मन्वन्तर के अन्त में हुआ था।

(२) देखिए (१) के अन्तर्गत।

(३) प्रलय सात दिनों के उपरान्त होने वाला था (८. २४, ३२) और प्रलयपूर्व उत्पातों का कोई उल्लेख नहीं किया गया है।

(४) कथा के नायक द्रविड़ेश्वर सत्यव्रत हैं, जो पुनः वर्त्तमान महाकल्प में विवस्वत के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुए (श्लोक १०, ११, ५८)।

(५) जिस घटनास्थल से कथा प्रारम्भ होती है वह द्रविड़ देश की नहीं वरन् कृतमाला है।

(६) कृतमाला नदी से एक बार निकाले जाने पर और उसके उपरान्त बढ़ने पर मत्स्य किसी नदी में नहीं डाला गया।

(७) सत्यव्रत को नौका मे अपने साथ सात ऋषियों, वनस्पतियों, बीजों एवं सभी भूतों को साथ (सर्व-सत्त्वोपबृंहितः) ले जाने का आदेश दिया गया है।

(८) नौका लगने के स्थान के विषय में कुछ भी नहीं कहा गया है।

(९) विष्णु भगवान् ने दानव हयग्रीव द्वारा चुराये गये वेदों को पुनः प्राप्त करने के लिये मत्स्य का रूप धारण किया था (श्लोक ९, ५७)।

(१०) इस अध्याय में मनु द्वारा की गई किसी सृष्टि का कोई उल्लेख नहीं है, किन्तु ९ १ मे उनके वंशजों का एक विवरण दिया गया है :

५. अग्निपुराण की कथा भागवत की कथा से मिलती-जुलती है। अन्तर इतना ही है कि यह अधिक संक्षिप्त है और सत्यव्रत के स्थान पर मनु वैवस्वत कथा के नायक हैं।

खण्ड ४:—पुराणों के अनुसार मनु तथा अत्रि के वंशजों में वर्णों की उत्पत्ति के आख्यानात्मक विवरण।

हम देख चुके हैं कि ऊपर (पृ० १४१) महाभारत के आदिपर्व, ७५, ३ आदि से उद्धृत एक अंश में यह स्पष्टत. कहा गया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र सभी वर्णों के मनुष्य मनु से उत्पन्न हुए; यह एक ऐसा कथन है जो स्पष्टतः उनके ब्रह्मा के विभिन्न अवयवों से उत्पन्न होने की कल्पना के विरुद्ध ठहरता है। यह पुराणों के उन भागों मे पाये जानेवाले वर्णों की उत्पत्ति के विवरण से साम्य रखता है जो उन दो राजवंशों, सूर्यवंश, एवं चन्द्रवंश के इतिहास का वर्णन करते है, जिन्हे मनु वैवस्वत एवं अत्रि से उत्पन्न कहा गया है।

विष्णु पुराण (जिसे जहाँ गद्य-रूप में लिखा गया है) मनु के वंशजों के विषय मे इस प्रकार वर्णन करता है :

४. १, ४. सकल जगताम् अनादिर् आदिभूतः ऋग्-यजुः-सामादि-मय-भगवद्-विष्णुमयस्य ब्रह्मणो मूर्त्तिरूपम् हिरण्यगर्भो ब्रह्माण्डतो भगवान्

ब्रह्मा प्राग् बभूव। ब्रह्मणश् च दक्षिणाङ्गुष्ठ-जन्मा दक्षः प्रजापतिः। दक्षस्याप्य् अदितिः। अदितेर् विवस्वान्। विवस्वतो मनुः। मनोर् इक्ष्वाकु-नृग-धृष्ट-शर्याति-नरिष्यन्त-प्रांशु-नाभागनेदिष्ट-करूष-पृषध्राख्याः पुत्राः बभूवुः। ६. इष्टिं च मित्रा-वरुणयोर् मनुः पुत्र-कामश् चकार। ७. तत्रापहुते होतुर् अपचाराद् इला नाम कन्या बभूव। ८. सैव मित्र-वरुण-प्रसादात् सुद्युम्नो नाम मनोः पुत्रो मैत्रेयासीत्। पुनश् च ईश्वर-कोपात् स्त्री सती सोम-सूनोर् बुधस्य आश्रय-समीपे बभ्राम। ९. सानुरागश् च तस्याम् बुधः पुरूरवसम् आत्मजम् उत्पादयामास। १०. जाते च तस्मिन्न् अमित-तेजोभिः परमर्षिभिर् इष्टिमयः ऋङ्मयो यजुर्मयः साममयोऽथर्वमयः सर्वमयो मनोमयो ज्ञानमयोऽकिञ्चिन्मयो भगवान् यज्ञ-पुरुष-स्वरूपी सुद्युम्नस्य पुंस्त्वम् अभिलषद्भिर् यथावद् इष्टः। तत्प्रसादाद् इला पुनर् अपि सुद्युम्नोऽभवत्।

"ब्रह्माण्ड के पूर्व सभी लोगों के नित्य स्रष्टा भगवान् ब्रह्मा हिरण्यगर्भ थे जो ब्रह्मा के रूप एवं तत्त्व से युक्त हैं, जो भगवान् विष्णुमय हैं और जो ऋक्-यजुस्-साम और अथर्वेद के रूप हैं। ब्रह्मा के दाहिने अँगूठे से [७२]प्रजापति दक्ष उत्पन्न हुए, दक्ष की एक पुत्री थी अदिति; उससे विवस्वत् उत्पन्न हुए, और उनसे मनु हुए। मनु के इक्ष्वाकु, नृग, धृष्ट, शर्याति, नरिष्यन्त, प्रांशु, नाभाग-नेदिष्ट, करूष तथा पृषध्र नामके पुत्र थे[७३]। पुत्र की इच्छा से मनु ने मित्र और वरुण के लिये इष्टि की, किन्तु होतृ-पुरोहित की असावधानी से एक दोषपूर्ण आह्वान के फलस्वरूप इला नाम की पुत्री उत्पन्न हुई। तब मित्र और वरुण की कृपा से यह मनु का सुद्युम्न नाम का पुत्र हुआ। किन्तु ईश्वर (महादेव) के क्रोध से पुनः स्त्री रूप में आकर वह सोम (चन्द्रमा) के पुत्र, बुध के आश्रम के निकट भ्रमण करने लगी, जिन्होंने उससे अनुरक्त होकर

---

[७२] देखिए ऊपर पृ० ८३ आदि।

[७३] इसके साथ महाभारत आदि पर्व से ऊपर पृ० १४१ पर उद्धृत अंश में मनु के पुत्रों की सूची की तुलना कीजिए। नाभानेदिष्ट (न कि नाभागनेदिष्ट) का उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय संहिता (देखिए ऊपर पृ० २१८) में हुआ है, और शर्यात का श० ब्रा० ४ १, ५, १ में, देखिये ज० ए० सो० १८६६ का, पृ० ११ आदि। मार्कण्डेय पु० १११, ३ और आगे, तथा भाग० पु० ९ १, ११ आदि में मनु के पुत्रों एवं इला के जन्म का वर्णन है। देखिए विल्सन का विष्णु पु० ४ पेजी सं० पृ० ३४८-५८ तथा बरनोफ का भाग० पु० भाग ३, आमुख पृ० ७०।

उससे पुरूरवस् नाम का पुत्र उत्पन्न किया। उसके जन्म के उपरान्त यज्ञमय, ऋग्-यजुस्-साम एवं अथर्व-मय, सभी प्राणियों के रूप, मनोमय, असद्‌मय[७४] एवं यज्ञ पुरुष के रूप में स्थित भगवान् की, अपरिमित तेज वाले ऋषियों ने सुद्युम्न के पुरुषत्व की प्राप्ति की इच्छा से अर्चना की। इस देवता की कृपा से इला पुनः सुद्युम्न बन गई।"

मनु के विभिन्न पुत्रों के विषय में पुराण निम्नलिखित विवरण प्रस्तुत करते है :—

(१) पृषध्र—विष्णु पुराण का कथन है—

पृषध्रस् तु गुरु-गो-बधाच् छूद्रत्वम् आगमत्।

"अपने गुरु की गो का वध करने के फलस्वरूप पृषध्र शूद्र हो गया।"

इसी विषय पर हरिवंश में कहा गया है, श्लोक ६५९ :

पृषध्रो हिंसयित्वा तु गुरोर् गाम् जनमेजय। शापाच् छूद्रत्वम् आपन्नः।

"अपने गुरु की गाय की हत्या करने के, फलस्वरूप उनके शाप के कारण पृषध्र शूद्र हो गया।"

इसको विस्तृत रूप में भिन्न प्रकार से मार्कण्डेयपुराण, खण्ड ११२, तथा भागवत पुराण ९ २, ३, १४ में दिया गया है। देखिए प्रोफेसर विलसन की टिप्पणी, विष्णु पुराण, चारपेजी सं०, पृ० ३५१, जहाँ लेखक का यह कथन है : "इस आख्यान का तथा आगे आने वाले कुछ आख्यानों का स्पष्ट अभिप्राय एक ही पूर्वपुरुष से भिन्न वर्णों की उत्पत्ति का कारण बताना है।"

२. करूष—विष्णुपुराण ४. १, १३ का कथन है.

करूषात् कारूषा महाबलाः क्षत्रिया बभूवुः।

"करूष से कारूष नाम के महाबली क्षत्रिय उत्पन्न हुए।"

भागवत पुराण ९. २ :—

करूषाद् मानवाद् आसन् कारूषाः क्षत्रिय-जातयः। उत्तरापथ-गोप्तारो ब्रह्मण्या धर्म-वत्सलाः।

"मनु के पुत्र करूष से क्षत्रियों, कारूषों, की जाति उत्पन्न हुई, जो उत्तरापथ के रक्षक, ईश्वरभक्त एवं धार्मिक थे।"

३. नाभाग—विष्णु पुराण का कथन है.

नाभागो नेदिष्ट—पुत्रस् तु वैश्यताम् अगमत्।

"नेदिष्ट का पुत्र नाभाग वैश्य हो गया।"

---

[७४] 'अकिञ्चिन्मय' "किसी भी वस्तु से युक्त नही।'

मार्कण्डेय पुराण का कथन है कि वह दिष्ट का पुत्र था और यह पुराण उस कथा का वर्णन करता है कि किस प्रकार शूद्रवर्ण के पुरुष की पुत्री के साथ विवाह करके वह वैश्य हो गया (खण्ड ११३, तथा विल्सन, पृ० ३[illegible]२, टिप्पणी)। भागवत पुराण ९. २, २३ के अनुसार वह अपने कर्म के कारण वैश्य हो गया था (नाभागो दिष्ट-पुत्रोऽन्यः कर्मभिर् वैश्यताम् गतः)। फिर भी उसके वंशजों की एक लम्बी सूची दी गई है और उस सूची में मरुत्त का भी नाम आता है, जो एक चक्रवर्ती या सार्वभौम सम्राट् थे (विष्णु पु० ४. १, १५–१७; भाग० पु० ९. २, २३–२८; मार्क० पु० १२८– ३२)। उसका दम नाम का एक पौत्र था, जिसके विषय में मार्कण्डेय पुराण में यह कथा कही गई है कि दशार्ण के राजा की पुत्री ने स्वयंवर में उसको पतिरूप में वरण किया था (१३४. ८) और जब उसके तीन असफल प्रतिद्वन्द्वियों ने वधू को पकड़ लिया (श्लोक १६) तो उसने एक का वध करके तथा दूसरे को पराजित करके (श्लोक ५३) उसे छुड़ा लिया। कुछ कालोपरान्त किसी पराजित प्रतिद्वन्द्वी ने दम के पिता का वध कर डाला जो वन में वानप्रस्थजीवन व्यतीत कर रहे थे (१३५. १८)। पुराण का एक पाठ इस विलक्षण वर्णन के साथ समाप्त होता है :—

ततश् चकार तातस्य रक्तेनैवोदक-क्रियाम्। आनृण्यम् प्राप्य स पितुः पुनः प्रायात् स्व-मन्दिरम्। वपुष्मतश् च मांसेन पिण्ड-दानं चकार ह। ब्राह्मणान् भोजयामास रक्षः-कुल-समुद्भवान्। एवंविधा हि राजानो बभूवुः सूर्य-वंश-जाः। अन्येऽपि सुधियः शूरा यज्वानः शास्त्र-कोविदाः। वेदान्तम् पठमानाम् तान् न संख्यातुम् इहोत्सहे।

तब दम ने (वपुष्मत् के हृदय को विदीर्ण कर) रक्त द्वारा अपने पिता के लिये पितृ-तर्पण-क्रिया की और इस प्रकार अपने पिता का ऋण चुका कर वह निज भवन में लौटा। वपुष्मत् के मांस से उसने पिण्ड दान-कर्म किया तथा राक्षसों के वंश के ब्राह्मणों को भोजन कराया। सूर्यवंशी राजा ऐसे थे। अन्य राजा भी थे, जो बुद्धिमान्, वीर, यज्ञ करने वाले और शास्त्रों के ज्ञाता थे। मैं यहाँ उनमें से उन राजाओं का वर्णन करने में असमर्थ हूँ जिन्होंने वेदान्त का भी अध्ययन किया था।"

[illegible] प्रोफेसर विल्सन के पृ० ३५३ की टिप्पणी में [illegible] द्वारा एक वैदिक [illegible] ने सम्पादित [illegible] एक [illegible] किया गया है। वैदिक [illegible] ने लिखा रखा है (देखिये

हरिवंश (खण्ड ११. श्लोक ६५८) में कहा गया है : "नाभागारिष्ट के दो पुत्र, जो वैश्य थे, ब्राह्मण हो गये (नाभागारिष्ट-पुत्रौ द्वौ वैश्यौ ब्राह्मणतां गतौ) ।"

(४) धृष्ट—इस के विषय में विष्णुपुराण ४. २-२ में यह कहा गया है :

धृष्टस्यापि धार्ष्टकम् क्षत्रं समभवत ।

"धृष्ट से धार्ष्टक क्षत्रिय उत्पन्न हुए ।"

भागवत पुराण ९. २, १७ का यह कथन है :—

धृष्टाद् धार्ष्टम् अभूत् क्षत्रम् ब्रह्म-भूयम् गतम् क्षितौ ।

"धृष्ट से धार्ष्ट क्षत्रिय उत्पन्न हुए जिन्होंने पृथ्वी पर ब्राह्मणत्व[७३] प्राप्त किया ।"

(५) भागवतपुराण उसी खण्ड के श्लोक १९ और आगे के श्लोकों में नरिष्यन्त के वंशजों का वर्णन करता है, जिनमें अग्निवेश्य भी थे, श्लोक २१ :

ततोऽग्निवेश्यो भगवान् अग्निः स्वयम् अभूत् सुतः । कानीन इति विख्यातो जातूकर्ण्यो महान् ऋषिः । ततो ब्रह्म-कुलं जातम् आग्नि-वेश्यायनं नृप । नरिष्यन्तान्वयः प्रोक्तः ।

"उस (देवदत्त) से अग्निवेश्य पुत्र हुआ जो स्वयं अग्नि का स्वामी था, और जो कनीन और जातूकर्ण्य महर्षि नाम से भी विख्यात हुआ । उससे ब्राह्मणों का अग्निवेश्यायन वंश उत्पन्न हुआ । ये नरिष्यन्त के वंशज हैं ।" इसके उपरान्त दिष्ट का वर्णन किया गया है ।

मनु के कुछ पुत्रों के नामों की आवृत्ति आगे के वर्णन में की गई है । इस प्रकार हम नाभाग के वंशजों में एक दूसरे, प्रांशु के नाम का उल्लेख पाते हैं

उनका आमुख पृ० ३०) । प्रोफेसर बनर्जी के संस्करण के खण्ड १३६ के ६ ठें और आगे के श्लोको मे यम कुछ उसी प्रकार का कार्य करने की घोषणा करता है, जैसा कि अन्य संस्करणो मे उसके करने का वर्णन दिया गया है ६ यद् अहम् तस्य रक्तेन देहोत्थेन वपुष्मत । न करोमि गुरोस् तृप्ति तत् प्रवेक्ष्ये हुताशनम् । ७ तच्छोणितेनोदक-कर्म तस्य तातस्य सख्ये विनिपातितस्य । मासेन सम्यग् द्विज-भोजन च न चेत् प्रवेक्ष्यामि हुताशन तत् । "६. यदि मैं अग्नि मे प्रवेश कर जाऊँगा । ७ यदि मै उसके रक्त से युद्ध मे मारे गये अपने पिता का तर्पण नही करता और (उसके) मास से ब्राह्मणो को भोजन नही कराता तो मै अग्नि मे प्रवेश कर जाऊँगा ।"

[७३] भाष्यकार 'ब्रह्म-भूयम्' की व्याख्या 'ब्राह्मणत्वम्' अर्थात् 'ब्राह्मण की गति' द्वारा करता है ।

(विलसन, ३५२), और विष्णुपुराण ४.२. २ में दूसरे नाभाग का इस प्रकार वर्णन किया गया है :

नभागस्यात्मजो नाभागस् तस्य अम्बरीपः। अम्बरीपस्यापि विरूपोऽभवत् विरूपात् पृषदश्वो जज्ञे ततश् च रथीतरः। तत्रायं श्लोकः। "एते क्षत्र-प्रसूता वै पुनश् चाङ्गिरस स्मृताः। रथीतराणाम् प्रवराः क्षत्रोपेता द्विजातयः"।

"नभाग का पुत्र नाभाग हुआ; उसका पुत्र अम्बरीप था। उससे विरूप उत्पन्न हुआ; विरूप से पृषदश्व, और उससे रथीतर हुआ, जिसके विषय में यह श्लोक प्रचलित है : ये क्षत्रियों से उत्पन्न और बाद में अङ्गिरस् कहलाने वाले व्यक्ति क्षत्रिय-जाति के द्विजों (ब्राह्मणों) में प्रमुख रथीतर थे।"[७७]

भागवत इस स्थिति की व्याख्या इस प्रकार करता है : ९. ६, २ : रथीतरस्याप्रजस्य भार्यायां तन्तवेऽर्थितः। अङ्गिरा जनयामास ब्रह्मवर्चसिनः सुतान्। एते क्षेत्रे प्रसूता वै पुनस् त्व् आङ्गिरसाः स्मृता। रथीतराणाम् प्रवराः क्षत्रोपेता द्विजातयः।

"पुत्र उत्पन्न करने के लिये प्रार्थित अङ्गिरस् ने सन्तानहीन रथीतर की पत्नी द्वारा ब्राह्मणीय तेज से युक्त पुत्रों को उत्पन्न किया। ये पुत्र (क्षत्रिय की) पत्नी से उत्पन्न हुए थे, किन्तु आगे चलकर अङ्गिरस् के वंशज कहलाये और ये क्षत्रिय जाति के द्विजों (ब्राह्मणों) मे प्रमुख रथीतर हुए।"

यह द्रष्टव्य है कि अन्तिम श्लोक में भागवत 'क्षत्र-प्रसूताः' अर्थात् क्षत्रिय से उत्पन्न के स्थान पर "क्षेत्रे प्रसूताः" अर्थात् क्षत्रिय की पत्नी से उत्पन्न, पाठ है, और इस प्रकार यह श्लोक पूर्वश्लोक के अधिक निकट आ जाता है। प्रोफेसर विलसन (पृ० ३५९) का विचार है कि भागवत मे इस आख्यान को दिया गया रूप "बाद की कल्पना है, जो हमारे ग्रन्थ में उद्धृत स्मरणीय श्लोक द्वारा प्रमाणित नहीं है।" यह जाने बिना कि इस श्लोक के पाठों मे कौन मौलिक है यह निश्चित करना कठिन है कि उपर्युक्त स्थिति हो सकती है या नहीं।

(६) इसके उपरान्त विष्णु पुराण मनु के पुत्र इक्ष्वाकु के वंशजों का वर्णन करता है। उनके वंश की पच्चीसवीं पीढ़ी के प्रतिनिधि हरित थे, जिनके विषय में ४. ३, ५ में कहा गया है :

अम्बरीपस्य मान्धातुस् तनयस्य युवनाश्वः पुत्रोऽभूत्। तस्माद् हरितो यतोऽङ्गिरस हारिताः।

[७७] देखिये इस अंश पर प्रो० विलसन की टिप्पणी, पृ० ३५९।

"मान्धातृ के पुत्र अम्बरीप का पुत्र युवनाश्व था। उससे हरित हुआ, और हरित से हरित अङ्गिरस उत्पन्न हुए।"

इन शब्दों को टीकाकार ने इस प्रकार स्पष्ट किया है: उससे हरित अङ्गिरस उत्पन्न हुए, जो ब्राह्मण थे और हरित के वंश में प्रमुख थे (तस्माद् हरिता अङ्गिरसो द्विजाः हरित-गोत्र-प्रवराः)।

लिङ्ग पुराण भी, जिसका प्रोफेसर विलसन ने उद्धरण दिया है, यही वात कहता है:

हरितो युवनाश्वस्य हारिता यत आत्मजाः। एते ह्य् अङ्गिरसः पक्षे क्षत्रोपेताः द्विजातयः।

"युवानाश्व का पुत्र हरित था, जिसके हारित पुत्र थे। वे अङ्गिरस के पक्ष के थे और क्षत्रिय वंश के द्विज (ब्राह्मण) थे।

वायु पुराण में भी कुछ अन्तर के साथ कहा है:

हरितो युवनाश्वस्य हारीता भूरयः स्मृताः। एते ह्य् अङ्गिरसः पुत्राः क्षत्रोपेता द्विजातयः।

"हरित युवनाश्व का पुत्र था (जिसके) अनेक पुरुप हारित कहलाये। ये अङ्गिरस के पुत्र और क्षत्रिय जाति के द्विज (ब्राह्मण) थे।"

इसका अर्थ यह हो सकता है कि उन्हें अङ्गिरस् ने उत्पन्न किया था, जैसा कि भागवत में रथीतर के पुत्रों के विषय में कहा गया है। इस दशा में भी यतः नाभाग और रथीतर भाई थे और रथीतर नाभाग की पाँचवी पीढ़ी में ही हुआ था जब कि हरित इक्ष्वाकु से इक्कीसवीं पीढी में हुए थे, अतः अङ्गिरस् (यदि इन दोनों स्थितियों में उन्हें एक ही व्यक्ति माना जाय तो) सोलह पीढ़ियों तक जीवत रहे होंगे।

सूर्यवंशी राजाओं के वंश के आख्यानात्मक आदिपुरुष मनु वैवस्वत के कतिपय पुत्रों के वंशजों में विभिन्न वर्णों के उद्भव के विषय में पुराणों में भी इसी प्रकार के उल्लेखनीय विवरण दिये गये है। अब मै चन्द्रवंश के संबन्ध में भी कुछ इसी प्रकार के विवरण प्रस्तुत करूँगा।

विष्णुपुराण (४. ६, २ आदि) के अनुसार अत्रि ब्रह्मा के पुत्र और सोम (चन्द्रमा) के पिता थे, जिसे ब्रह्मा ने वनस्पतियों, ब्राह्मणों एवं नक्षत्रों[७९]

---

[७८] इस नाम का नाभाग का पुत्र था, यह हम पहले ही देख चुके हैं। देखिये ऊपर।

[७९] देखिए ज० ए० सो० १८६५, पृ० १३५ आदि।

का राजा बनाया था (अशेषौपधि-द्विज-नक्षत्राणाम् आधिपत्येऽभ्यसेचयत्)। राजसूय यज्ञ करने के उपरान्त सोम गर्व से मत्त हो गया तथा देवताओं के गुरु बृहस्पति की पत्नी तारा (नक्षत्र) को उठा ले गया और ब्रह्मा, देवताओं और ऋषियों द्वारा भर्त्सना एवं प्रार्थना किये जाने पर भी उसे नहीं छोड़ा। सोम का पक्ष उशनस् ने लिया, और रुद्र ने जिसने अङ्गिरस् से शिक्षा प्राप्त की थी बृहस्पति की सहायता की (अङ्गिरसश्च सकाशोपलब्धविद्यो भगवान् रुद्रो बृहस्पतेः साहाय्यम् अकरोत्)।[80] दोनों दलों में भीषण संघर्ष हुआ और इनका समर्थन क्रमशः देवता और दैत्य इत्यादि कर रहे थे। ब्रह्मा ने मध्यस्थता की और सोम को तारा को उसके पति को लौटा देने के लिये बाध्य किया। वह इसी बीच गर्भवती हो गयी थी और बुध (बुध ग्रह) को जन्म दिया। अधिक आग्रह करने पर उसने उसका पिता सोम को बताया। जैसा कि पहले कहा जा चुका है पुरूरवस् इसी बुध और मनु की पुत्री इला से उत्पन्न पुत्र थे। पुरूरवस और अप्सरा उर्वशी की प्रेम कथा शतपथ ब्राह्मण ११ ५, १, १,[81] विष्णु पुराण ४. ६, १९ आदि, भागवत पुराण ९. १४,[82] तथा हरिवंश, खण्ड २६ में कही गयी है। महाभारत, आदिपर्व, अध्याय ७५ में पुरूरवस् के ब्राह्मणों के साथ संघर्षरत होने का उल्लेख किया गया है। वह अंश इसके उपरान्त उद्धृत किया जायगा। विष्णु पुराण ६. ७, १ के अनुसार पुरूरवस् के छः पुत्र थे जिनमें सबसे बड़ा आयु था। आयु के पाँच पुत्र हुए : नहुष, क्षत्रवृद्ध, रम्भ, रजि, तथा अनेनस्। वर्णन आगे इस प्रकार है (४. ८, १) :

क्षत्रवृद्धात् सुनहोत्रः[83] पुत्रोऽभवत्। काश-लेश-गृत्समदास् त्रयोऽस्याभवन्। गृत्समदस्य शौनकश् चातुर्वर्ण्य-प्रवर्त्तयिताऽभूत्। काशस्य काशिराजस् ततो दीर्घतमाः पुत्रोऽभवत्। धन्वन्तरिस् दीर्घतमसोऽभूत्।

---

[80] महादेव की शिक्षा प्राप्त करने का अब तक मैंने यही एक उल्लेख पाया है।

[81] इस अंश का अनुवाद प्रोफेसर मूलर ने १८५६ के 'आक्सफोर्ड ऐसेज' में किया है, पृ० ६२ आदि, और इस कथा की रचना ऋग्वेद १०-९५ के शूद्र सूक्त के आधार पर की गई है, जिसमे पुरूरवा और उर्वशी के नाम सवाद मे वक्ता और प्रतिवक्ता के रूप मे आये है।

[82] इस कथा से एक लघु उद्धरण पहले ही दिया जा चुका है, पृ० १७९ देखिए।

[83] मेरी दोनो हस्तप्रतियो मे 'सुनहोत्र' पाठ है। प्रोफेसर विल्सन के सस्करण मे 'सुहोत्र' है।

"क्षत्रवृद्ध का पुत्र सुनहोत्र हुआ। इसके तीन पुत्र थे, काश, लेश, और गृत्समद। गृत्समद से शौनक हुए, जिन्होंने चार वर्णों की व्यवस्था को जन्म दिया। काश का पुत्र काशिराज था जिसका पुत्र दीर्घतमस् हुआ, और दीर्घतमस् का पुत्र धन्वन्तरि।"

वायु पुराण, जिसका उद्धरण प्रोफेसर विलसन ने दिया है (वि० पु० ४ पेजी सं०, पृ० ४०६), इस विषय को भिन्न रूप मे वर्णित करता है; यथा :

पुत्रो गृत्समदस्य च शुनको यस्य शौनकः। ब्राह्मणाः क्षत्रियाश् चैव वैश्याः शूद्रास् तथैव च। एतस्य वंशे समुद्भूता विचित्रैः कर्मभिर् द्विजाः।

"गृत्समद का पुत्र शुनक था जिससे शौनक उत्पन्न हुआ। उसके वंश में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र उत्पन्न हुए जिनमें द्विज अनेक प्रकार के कर्म करने वाले थे।"[८५]

इसी प्रकार हरिवंश, खण्ड २९, श्लोक १५२० मे कहता है :

पुत्रो गृत्समदस्यापि सुनको यस्य सौनकाः। ब्राह्मणाः क्षत्रियाश् चैव वैश्याः शूद्रास् तथैव च।

"गृत्समद का पुत्र शुनक था जिससे शौनक, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र उत्पन्न हुए।"

उसी ग्रन्थ के आगे वाले खण्ड ३२, श्लोक १७ ३२ मे गृत्समद के विषय में कुछ इस प्रकार की बात ही कही गई है (जो सुनहोत्र का पुत्र था, यद्यपि क्षत्रवृद्ध का पौत्र नहीं था) :

स चापि वितथः पुत्रान् जनयामास पञ्च वै। सुहोत्रं च सुहोतारम् गयं गर्गं तथैव च। कपिलं च महात्मानम् सुहोत्रस्य सुत-द्वयम्। काश-

[८४] भाष्यकार "चातुर्वर्ण्य-प्रवर्त्तयिता" की व्याख्या यह कह कर करता है कि चारो वर्णों की उत्पत्ति उसके वंशजो मे हुई (तद्-वंशे चत्वारो वर्णा अभवन्)। यह व्याख्या ग्रन्थ मे दी गयी वायु पुराण की उक्ति से साम्य रखती है।

[८५] इस पर प्रोफेसर विलसन का कथन है (पृ० ४०६ पर टिप्पणी) 'पवित्रता के युग मे केवल एक वर्ण की स्थिति, चाहे वह चार वर्णों की ब्रह्मा से उत्पत्ति बनाने वाली कथा से कितनी भी असंगत क्यों न हो, सर्वत्र मानी गई है। उनके भेद का प्रवर्त्तक विभिन्न व्यक्तियों को बताया गया है, निश्चित रूप मे किसी एक को बताया गया हो, इसमें सन्देह है, किन्तु इस धारणा से यह परिलक्षित होता है कि इस भेद का स्वरूप सामाजिक या राजनीतिक था।"

काश् च महासत्त्वस् तथा गृत्समतिर् नृपः। तथा गृत्समतेः पुत्रा ब्राह्मणाः क्षत्रियाः विशः।

"वितथ पाँच पुत्रों के पिता थे, सुहोत्र, सुहोतृ, गय, गर्ग तथा महान् कपिल। सुहोत्र के दो पुत्र थे, महात्मा काशक और राजा गृत्समति। गृत्समति के पुत्र ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य थे।"

भागवत पुराण ९. १७, २ आदि में क्षत्रवृद्ध के वंशजों का निम्नलिखित वर्णन पाया जाता है :

क्षत्रवृद्ध-सुतस्यासन् सुहोत्रस्यामजास् त्रयः। काश्यः कुशो गृत्स-मदः इति गृत्समदाद् अभून्। शुनको शौनको यस्य बह्वृचः प्रवरो मुनिः।

"क्षत्रवृद्ध के पुत्र सुहोत्र के तीन पुत्र थे, काश्य, कुश तथा गृत्समद। गृत्समद से शुनक हुए और शुनक से शौनक जो ऋग्वेद में प्रख्यात पारगत मुनि थे।"

यह यहाँ द्रष्टव्य है कि जिस गृत्समद को यहाँ पुरूरवस् के राजवंश से संबद्ध बताया गया है, वे ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल के कई सूक्तों के प्रख्यात ऋषि हैं। उनके विषय में भाष्यकार सायण ने उस मण्डल की भूमिका में ये वाक्य कहे हैं :—

मण्डल-द्रष्टा गृत्समदः ऋषिः। स च पूर्वम् आङ्गिरस-कुले शुनहोत्रस्य पुत्रः सन् यज्ञ-कालेऽसुरैर् गृहीतः इन्द्रेण मोचितः। पश्चात् तद्-वचनेनैव भृगु-कुले शुनक-पुत्रो गृत्समद-नामाऽभूत्। तथा चानुक्रमणिका "यः आङ्गिरसः शौनहोत्रो भूत्वा भार्गवः शौनकोऽभवत् स गृत्स-मदो द्वितीयम् मण्डलम् अपश्यद्" इति। तथा तस्यैव शौनकस्य वच-नम् ऋष्य-अनुक्रमणे "त्वम् अग्ने" इति। "गृत्समदः शौनको भृगुतां गतः। शौनोहोत्रो प्रकृत्या तु यः आङ्गिरस उच्यते" इति। तस्माद् मण्डल-द्रष्टा शौनको गृत्समदः ऋषिः।

"इस मण्डल के द्रष्टा (प्रकाशित वचन ग्रहण करनेवाला) ऋषि गृत्समद थे। पूर्वकाल में अङ्गिरसों के वंश में शुनहोत्र के पुत्र, इस ऋषि को, यज्ञ के समय असुरों ने पकड़ लिया और इन्द्र ने इन्हें मुक्त किया। बाद में उस देवता के आदेश से वे भृगुवंश में शुनक के पुत्र गृत्समद हुए। इसी प्रकार अनुक्रमणिका (ऋग्वेद की अनुक्रमणी) उनके विषय में यह कहती है : 'गृत्समद ने, जो आङ्गिरस और शुनहोत्र के पुत्र होकर भार्गव और शौनक के पुत्र बन गये थे, द्वितीय मण्डल का दर्शन किया'। इसी प्रकार वे ही शौनक

'त्वम् अग्ने' से प्रारम्भ होने वाले मण्डल के सम्बन्ध में अपने ऋषि-अनुक्रमण में कहते हैं :—'शुनक के पुत्र गृत्समद, जिन्हें स्वाभाविक रूप में आङ्गिरस और शुनहोत्र कहा गया है, एक भृगु हो गये थे।' अतएव इस मण्डल के द्रष्टा शुनक के पुत्र गृत्समद ऋषि है।"

इस पर ध्यान दिया जायगा कि (जब तक हम यह न मान लें कि यहाँ प्रत्येक दशा में एक भिन्न गृत्समद अभिप्रेत है) एक ओर तो पुराणों में और दूसरी ओर सायण तथा अनुक्रमणिका में असङ्गति है, कारण, पुराण गृत्समद को शुनहोत्र या सुनहोत्र के पुत्र और शुनक का पिता बताते हैं, जब कि अनुक्रमणिका, जिसका सायण ने अनुसरण किया है, उसी व्यक्ति के मूल रूप में अङ्गिरस् वंश के शुनहोत्र का पुत्र होने और बाद में किसी अज्ञात क्रिया द्वारा भृगु वंश में शुनक का पुत्र हो जाने का वर्णन करती है।

अपने ऋग्वेद (२. २०७ आदि) के अनुवाद में प्रोफेसर विलसन महाभारत के अनुशासनपर्व (अध्याय ३०) में आई हुई राजा वीतहव्य की एक कथा का निर्देश करते हैं जो गृत्समद के पूर्वजों का भिन्न विवरण प्रस्तुत करती है। यह इस प्रकार प्रारम्भ होती है : शृणु राजन् यथा राजा वीतहव्यो महायशा। राजर्षिर् दुर्लभम् प्राप्तो ब्राह्मण्यं लोक-सत्कृतम्। "हे राजन्! अब सुनिये कि किस प्रकार प्रख्यात राजर्षि वीतहव्य ने मनुष्यों के लिये श्रद्धास्पद एव दुर्लभ ब्राह्मणपद प्राप्त किया।" ऐसा हुआ कि काशी (बनारस) के राजा दिवोदास पर वीतहव्य के पुत्रों ने आक्रमण किया और उसके सम्पूर्ण वश को युद्ध मे नष्ट कर डाला। दु:खी राजा महर्षि भरद्वाज के निकट पहुँचा, जिन्होंने उसके लिए एक यज्ञ किया; यज्ञ के प्रभाव से उसे प्रतर्दन नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। प्रतर्दन के श्रेष्ठ वीर हो जाने पर उसके पिता ने उसे वीतहव्यों से प्रतिशोध लेने के लिये भेजा। वीतहव्यों ने उसके ऊपर बाणों एवं अन्य आयुधों की इस प्रकार वृष्टि की "जिस प्रकार मेघ हिमालय पर बरसते हैं"[८६] (अभ्यवर्षन्त राजानम् हिमवतम् इवाम्बुदा:), किन्तु उसने उन सबको नष्ट कर दिया और वे कटे हुए किंशुक-वृक्ष के समान[८७] रुधिर से लिप्त शरीरवाले होकर भूलुण्ठित हो गये (अपतन् रुधिरार्द्राङ्गा निकृत्ता इव किंशुका:)। स्वय वीतहव्य को अब दूसरे ऋषि भृगु के निकट भागकर जाना पडा, जिन्होंने उसकी

---

[८६] इस उपमा मे मेघों के जल ग्रहण करने एव हिमालय के उपान्त भागों मे वृष्टि करने की क्रिया का ज्ञान परिलक्षित होता है।

[८७] किंशुक एक वृक्ष है जिसपर लाल रग के फूल होते हैं (ब्यूटिआ फ्रोण्डोसा)।

रक्षा करने का वचन दिया। प्रतिशोध लेने वाले प्रतर्दन ने उसका पीछा किया और कहा कि शरणागत को छोड दिया जाय :

अस्येदानीम् वधाद् अद्य भविष्याम्य् अनृणः पितुः। तम् उवाच कृपाविष्टो भृगुर् धर्म-भृतां वरः। "नेहास्ति क्षत्रियः कश्चित् सर्वे हीमे द्विजातयः।" एतत् तु वचनं श्रुत्वा भृगोस् तथ्यम् प्रतर्दनः पादाव् उपस्पृश्य शनैः प्रहृष्टो वाक्यम् अब्रवीत्। एवम् अप्य् अस्मि भगवन् कृतकृत्यो न संशयः।......त्याजितो हि मया जातिम् एष राजा भृगूद्वह। ततस् तेनाभ्यनुज्ञातो ययौ राजा प्रतर्दनः। यथा-गतम् महाराजा मुक्त्वा विषम् इवोरगः। भृगोर् वचन-मात्रेण स च ब्रह्मर्षितां गतः वीतहव्यो महाराज ब्रह्मवादित्वम् एव च। तस्य गृत्समदः पुत्रो रूपेणेन्द्र इवापरः। "शक्रस् त्वम्" इति यो दैत्यैर् निगृहीतः किलाभवत् ऋग्वेदे वर्त्तते चाग्र्या श्रुतिर् यस्य महात्मनः। यत्र गृत्समदो "ब्रह्मन्" ब्राह्मणैः स महीयते। स ब्रह्मचारी विप्रर्षिः श्रीमान् गृत्समदोऽभवत्।

"प्रतर्दन ने कहा : 'इस (वीतहव्य) के वध से आज मैं अपने पिता के ऋण से मुक्त हो जाऊँगा।' पुण्यात्माओं में श्रेष्ठ भृगु ने दया से भर कर उत्तर दिया। 'यहाँ कोई क्षत्रिय नहीं है, यहाँ सभी ब्राह्मण हैं' भृगु के सत्य वचन को सुन कर प्रतर्दन प्रसन्न हुआ और मुनि के चरणों का स्पर्श करके बोला : 'हे महर्षि ! इस प्रकार भी मुझे अपना लक्ष्य प्राप्त हो गया, क्योंकि मैंने इस राजा (अर्थात् राजन्य) को अपना वर्ण त्याग देने के लिये बाध्य कर दिया।' तब मुनि का आशीर्वाद प्राप्त कर राजा प्रतर्दन लौट गया मानों वह विष निकाल देने वाले सर्प के समान चला आया। उधर भृगु के शब्द मात्र से वीतहव्य ब्रह्मर्षि और वेदमन्त्र का पाठ करने वाला हो गया। दूसरे इन्द्र जैसे रूपवाले गृत्समद उसके पुत्र हुए : गृत्समद को दैत्यों ने पकड लिया और कहा "तुम शक्र (इन्द्र) हो।' ऋग्वेद में उस महर्षि के सूक्त (श्रुति) सर्वप्रथम आते हैं।[६६] उसमें ब्राह्मणों ने गृत्समद का 'ब्रह्मन्' उपाधि द्वारा सत्कार किया है। ये प्रसिद्ध पुरुष एक ब्रह्मचारी और ब्रह्मर्षि थे।"

गृत्समद की वंशावली के अनुसार, जो यहाँ आगे आती है, शुनक उनकी बारहवीं पीढ़ी में हुए थे और शौनक तेरहवीं में। क्या इन शब्दों के साथ समाप्त होती है'—

[६६] यदि मैंने इस श्लोक का अर्थ ठीक समझा है और यदि "प्रथम" से इस से प्रथम स्थान का तात्पर्य लिया जाय, तो यह यथार्थ स्थिति को नहीं प्रस्तुत करता क्योंकि गृत्समद के सूक्त द्वितीय मण्डल में ही आते हैं।

एवं विप्रत्वम् अगमद् वीतहव्यो नराधिपः भृगोः प्रसादाद् राजेन्द्र क्षत्रियः क्षत्रियर्षभ।

"इस प्रकार एक क्षत्रिय राजा वीतहव्य ने भृगु की कृपा से ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया।"

अगले अध्याय में उन क्षत्रियों के अन्तर्गत जिन्हें परम्परा से वैदिक सूक्तों का रचयिता कहा गया है, हम पुन वीतहव्य के विषय मे विचार करेंगे।

राजा दिवोदास गृत्समद के भ्राता काश के वंश में छठवीं पीढ़ी में हुए थे। उनके विषय में हरिवंश, खण्ड ३२, श्लोक ७८९ आदि इस प्रकार कहता है :—

दिवोदासस्य दायादो ब्रह्मर्षिर् मित्रयुर् नृपः। मैत्रायणस् ततः सोमो मैत्रेयास् तु ततः स्मृताः। एते वै संश्रिताः पक्षम् क्षत्रोपेतास् तु भार्गवाः।

'दिवोदास के पुत्र राजा मित्रयु थे, जो एक ब्रह्मचारी थे। उनसे सोम मैत्रायण उत्पन्न हुए, जिनसे मैत्रेय कहलाये। क्षत्रियवंश के होने के कारण उन्होंने भार्गवों के पक्ष का आश्रय लिया।"

गृत्समद के भ्राता उसी कश्यप के वंश में बाईसवीं पीढ़ी मे भार्गभूमि हुए जिनके विषय मे विष्णुपुराण ४ ८, ९ मे निम्नलिखित वर्णन है :—

भार्गस्य भार्गभूमिः। ततश् चातुर्वर्ण्य-प्रवृत्तिः। इत्य् एते काशयो भूपतयः कथिताः।

"भार्ग के पुत्र भार्गभूमि थे, जिनसे चार वर्ण उत्पन्न हुए। इस प्रकार काशि नाम के राजाओं का वर्णन समाप्त हुआ।"

हरिवंश के दो वृत्तों में इसके अनुरूप या प्रायः ऐसे ही नाम उपलब्ध होते हैं, किन्तु प्रत्येक स्थिति में एक भिन्न पूर्वपुरुष है, जिसके विषय मे तदनुरूप उल्लेख है। प्रथम खण्ड २९ में श्लोक १५९६ :

वेणुहोत्र-सुतश् चापि भर्गो नाम प्रजेश्वरः। वत्सस्य वत्सभूमिस् तु भृगुभूमिस् तु भार्गवात्। एते ह्य् अङ्गिरसः पुत्रा जाता वंशेऽथ भार्गवे। ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्यास् त्रयः पुत्रा[८९] सहस्रशः।

"वेणुहोत्र का पुत्र राजा भर्ग था। वत्स से वत्सभूमि हुआ और भार्गव से भृगुभूमि। तब अङ्गिरस् के ये वंशज भृगु के वंश में उत्पन्न हुए थे, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीन वर्ण सहस्रों की सख्या मे उत्पन्न हुए।"

---

[८९] प्रोफेसर विलसन ने (पृ० ४१०) टिप्पणी) 'त्रय' पुत्रा' के स्थान पर 'तेजोयुक्ता.' अर्थात् तेजस्वी, रखा है जो ब्राह्म पुराण या हरिवंश का पाठ है, या दोनो का पाठ हो सकता है।

दूसरा अंश ३२ वें खण्ड में है, श्लोक १७५२.

सुकुमारस्य पुत्रस् तु सत्यकेतुर् महारथः। सुतोऽभवद् महातेजा राजा परम-धार्मिकः। वत्सस्य वत्सभूमिस् तु भार्गभूमिस् तु भार्गवात्। एते ह्य् अङ्गिरसः पुत्रा जाता वंशेऽथ भार्गवे। ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश् च भरतर्षभ।

"वीर श्वेतकेतु सुकुमार का पुत्र और महान् तेजस्वी एवं धार्मिक था। वत्स से वत्सभूमि हुआ और भार्गव से भार्गभूमि। तब भृगु के वंश में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये अङ्गिरस् के वंशज उत्पन्न हुए।"

वायु पुराण में आये हुए समानान्तर अंश में, जिसे प्रोफेसर विल्सन (पृ० ४०९) ने उद्धृत किया है, अधिकांशतः भिन्न नाम आये हैं।

वेणुहोत्र-सुतश् चापि गार्ग्यो वै नाम विश्रुतः। गार्ग्यस्य गर्गभूमिस् तु वत्सो वत्सस्य धीमतः। ब्राह्मणाः क्षत्रियाश् चैव तयोः पुत्राः सुधार्मिकाः।

"वेणुहोत्र का पुत्र प्रसिद्ध गार्ग्य था। गर्गभूमि गार्ग्य का पुत्र था और वत्स बुद्धिमान् वत्स का पुत्र था। ब्राह्मण और क्षत्रिय इन दोनों के धार्मिक पुत्र हुए।"[१०]

आयुस् (पुरूरवस के पुत्र) का दूसरा पुत्र रम्भ था, जिसके सम्बन्ध में भागवतपुराण ९. १७, १० में यह कथन है :—

---

[१०] इन उद्धरणों के सम्बन्ध में पाठक प्रोफेसर विल्सन का विचार पृ० ४०९, टि० १६ पर देख सकते हैं, जिस स्थल पर (ब्राह्मपुराण या हरिवंश के) एक भाष्यकार का उद्धरण दिया गया है जिसका कथन है कि इन रचनाओं के अंश में "अलर्क के पिता वत्स के दूसरे पुत्र, अर्थात् वत्सभूमि का नाम आया है, जबकि भार्गव वत्स के भाई हैं, और (उल्लिखित व्यक्ति) अङ्गिरस थे, क्योंकि गालव इस वंश के थे और भृगु (के वंश में उत्पन्न हुए थे)। क्योंकि विश्वामित्र इस वंश के थे। (वत्सस्य अलर्क-पितु. पुत्रान्तरम् आह "वत्सभूमिर्" इति। "भार्गवाद्" वत्स-भ्रातुः। "अङ्गिरसो" गालवस्य अङ्गिरसत्वात्। "भार्गवे" विश्वामित्रस्य भार्गवत्वात्)। विष्णुपुराण ४ ८, ६ का कथन है कि वत्स काश के वंशज तथा भार्गभूमि के दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन का ही एक नाम था। प्रोफेसर विल्सन की टिप्पणी १३ पृ० ४०८ देखें। यह सम्भव है कि भार्ग शब्द की भार्गव से साम्य होने के कारण ही भार्ग के वंशजों का सम्बन्ध भृगु के वंश से जोड दिया गया हो।

रम्भस्य रभसः पुत्रो गभीरश् चाक्रियस् ततः। तस्य क्षेत्रे ब्रह्म जज्ञे श्रणु वंशम् अनेनसः।

"रम्भ का पुत्र रभस था, जिससे गभीर और अक्रिय उत्पन्न हुए। उसकी पत्नी से ब्राह्मण उत्पन्न हुए : अब अनेनस् का वंश सुनो।" (अनेनस, आयुस् का दूसरा पुत्र)।

उसी रम्भ के विषय में विष्णु पुराण (४. ९, ८) का कहना है : रम्भस् त्व् अनपत्योऽभवत्। "रम्भ सन्तानहीन था।"

जैसा कि हम देख चुके है (विष्णुपुराण ४ ८, १) आयुस् का दूसरा पुत्र नहुप था। उसके छः पुत्र हुए (वि० पु० ४ १०, १) जिनमे एक ययाति थे, और उनके पुत्र यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु, अनु तथा पूरू हुये (वही ४. १०, २)।[११] जैसा कि कहा गया है इन पांच में से एक अनु की बारहवीं पीढी में वलि नाम का पुत्र हुआ जिसके विषय में विष्णु पुराण ४ १८, १ में इस प्रकार कहा गया है :

हेमात् सुतपास् तस्माद् बलिर् यस्य क्षेत्रे दीर्घतमसा अङ्ग-वङ्ग-कलिङ्ग—सुह्म-पुण्ड्राख्यम् बालेयं क्षत्रम् अजन्यत।

"हेम से सुतपस् हुआ, और उससे वलि हुआ, जिसकी स्त्री से दीर्घतमस् ने अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, सुह्म और पुण्ड्र नामक वालेय क्षत्रियों (बलि के वंश के क्षत्रियों) को उत्पन्न किया।"

प्रोफेसर विलसन (पृ० ४४५, टि० १२) वायुपुराण से इस व्यक्ति के विषय में एक उक्ति को उद्धृत करते हैं कि उसके ऐसे "पुत्र हुए जिन्होंने चारों वर्णों की स्थापना की" (पुत्रान् चातुर्वर्ण्य-करान्)। वे मत्स्य पुराण के एक अंश का भी निर्देश करते है जिसमें वलि के ब्रह्मा से यह वर प्राप्त करने का वर्णन किया गया है कि वह चार वर्णों की स्थापना कर सके" (चतुरो नियतान् वर्णास् त्वं स्थापयेति)।

हरिवंश में वलि के विषय मे निम्नलिखित वर्णन दिया गया है, जिसमे उपर्युक्त तथ्य का भी उल्लेख है : खण्ड ३१, श्लोक १६८२ आदि।

फेनात् तु सुतपा जज्ञेः सुतः सुतपसो बलिः। जातो मानुष-योनौ तु स राजा काञ्चनेषुधिः। महायोगी स तु बलिर् बभूव नृपतिः पुरा।

---

[११] ऋग्वेद १ १०८ के एक मन्त्र मे, जो पृ० २०४ पर उद्धृत है, पाँचो नाम एक साथ वहुवचन मे आते है।

[१२] 'क्षेत्रे भार्याया जातत्वाद् वालेया' "वे वलि के वशज कहलाये क्योंकि वे उसकी पत्नी से उत्पन्न हुए थे।"

पुत्रान् उत्पादयामास पञ्च वंश-करान् भुवि। अङ्गः प्रथमतो जज्ञे वङ्गः सुह्मस् तथैव च। पुण्ड्रः कलिङ्गश् च तथा बालेयं क्षत्रम् उच्यते। बालेया ब्राह्मणाश् चैव तस्य वंशकरा भुवि। बलेस् तु ब्रह्मणा दत्तो वरः प्रीतेन भारत। महायोगित्वम् आयुश् च कल्पस्य परिमाणतः। सङ्ग्रामे चाप्य् अजेयत्वं धर्मे चैव प्रधानता। त्रैलोक्य-दर्शनं चापि प्राधान्यम् प्रसवे तथा। बले चाप्रतिमत्वं वै धर्म-तत्त्वार्थ-दर्शनम्। चतुरो नियतान् वर्णास् त्वं च स्थापयितेति च। इत्य् उक्तो विभुना राजा बलिः शान्तिम् परां ययौ। तस्यैते तनयाः सर्वे क्षेत्रजा मुनि-पुङ्गवात्। सम्भूता दीर्घतपसः सुदेष्णायाम् महौजसः।

"फेन से सुतपस् हुए और सुतपस् के पुत्र बलि थे। वे मनुष्य-योनि की माता मे उत्पन्न स्वर्णिम तूणीर वाले राजकुमार थे। किन्तु राजा बलि प्राचीन काल में एक महायोगी हुए। उन्होंने पाँच पुत्रों को उत्पन्न किया जो पृथ्वी की जातियों के अग्रणी थे। सर्वप्रथम अङ्ग उत्पन्न हुआ, तब वङ्ग, सुह्म, पुण्ड्र और कलिङ्ग उत्पन्न हुए, ये बलि से उत्पन्न हुए क्षत्रियों (बालेया.) के नाम हैं। बालेय ब्राह्मण भी थे जिन्होंने उसके वंश की पृथ्वी पर स्थापना की। प्रसन्न हुए ब्रह्मा ने बलि को यह वरदान दिया कि वह एक महायोगी होगा, पूरे कल्प तक जीवित रहेगा, युद्ध में अजेय होगा, धर्म मे प्रधानता प्राप्त करेगा, तीनों लोकों को देखने की शक्ति से युक्त होगा, सन्तान उत्पन्न करने में श्रेष्ठ होगा, बल में अद्वितीय होगा, और धर्म के तत्त्व का ज्ञाता होगा। और इस प्रकार भगवान् का यह आदेश पाकर कि "तुम चार नियत वर्णों की व्यवस्था करो" राजा बलि ने परम शान्ति प्राप्त की। इन सभी पुत्रों को, जो उसकी पत्नी की सन्तान हैं, तेजस्वी दीर्घतमस् मुनि ने सुदेष्णा से उत्पन्न किया।"[९३]

---

[९३] एम० लैंगलेइस की हस्तप्रति मे अन्तिम पक्ति का भिन्न पाठ रहा होगा, क्योंकि वे इसका अनुवाद दूसरे ढग से करते है। प्रोफेसर विलसन का कथन है (वि० पु० ४४४ टि० १२) मत्स्य बलि को विरोचन का पुत्र और 'आयु-कल्प-प्रमाणिक' अर्थात् सम्पूर्ण कल्प तक रहनेवाला कहना है, और इस प्रकार उसे केवल भिन्न समय एवं रूप मे वामनावतार के बलि से अभिन्न ठहराता है।" (देखिए विलसन का विष्णु पु० पृ० २६५ टिप्पणी तथा भागवत पु०, ९, खण्ड १५—२३ और इस कृति के भाग ४, मे उद्धृत अन्य रचनाएँ)।

अप्रतिरथ को पूरु (ययाति के दूसरे पुत्र) का वंशज बताया गया है, जो उनकी तेरहवीं पीढी में हुए थे (विल्सन, पृ० ४४८)। उनके विषय में विष्णुपुराण ४. १९, २ में इस प्रकार कहा गया है :

ऋतेयोः रन्तिनारः पुत्रोऽभूत्। तंसुम् अप्रतिरथं ध्रुवं च रन्तिनारः पुत्रान् अवाप। अप्रतिरथात् कण्वः तस्यापि मेधातिथिः। यतः कण्वायना द्विजा बभूवुः। तंसोर् अनिलस् ततो दुष्यन्ताद्याश् चत्वारः पुत्रा बभूवुः। दुष्यन्ताच् चक्रवर्ती भरतोऽभवत्।

"ऋतेयु का पुत्र रन्तिनार था जिसके तंसु, अप्रतिरथ और ध्रुव नामक पुत्र हुए। अप्रतिरथ से कण्व हुआ। उसका पुत्र मेधातिथि था, जिससे काण्वायन ब्राह्मण उत्पन्न हुए। तंसु से अनिल हुआ, जिसके चार दुष्यन्त आदि हुए। दुष्यन्त का पुत्र चक्रवर्ती भरत हुआ।"

कुछ अन्तर के साथ भागवत पुराण ९. २०, १ में यह कहा गया है :—

पूरोर् वंशम् प्रवक्ष्यामि यत्र जातोऽसि भारत। यत्र राजर्षयो वंश्या ब्रह्म-वंश्यश् च जज्ञिरे।.. .....६. ऋतेयोः रन्तिभारोऽभूत् त्रयस् तस्यात्मजा नृप। सुमतिर् ध्रुवोऽप्रतिरथः कण्वोऽप्रतिरथात्मजः। तस्य मेधातिथिस् तस्मात् प्रस्कण्वाद्या द्विजातयः। पुत्रोऽभूत् सुमतेर् रैभ्यो दुष्यन्तस् तत्-सुतो मतः।

"हे भारत, मैं अब पूरु के वंश का वर्णन करूँगा, जिसमें आप उत्पन्न हुए हैं, जिस वंश में राजर्षि और ब्राह्मण वंश के मनुष्य उत्पन्न हुए.. ...६. ऋतेयु से रन्तिभार हुए, जिसके तीन पुत्र थे सुमति, ध्रुव और अप्रतिरथ। अप्रतिरथ के पुत्र कण्व थे और कण्व के पुत्र मेधातिथि हुए जिनसे प्रस्कण्व और अन्य ब्राह्मणों की उत्पत्ति हुई।"

कुछ और आगे चलकर अभी उद्धृत विष्णु पुराण के इस अध्याय (४. १९, १०) में कण्व तथा मेधातिथि की पहले बताई हुई वंशावली से भिन्न वंशावली बताई गई है, अर्थात् वे अजमीढ के पुत्र और पौत्र थे, जो अप्रतिरथ के भ्राता तंसु के वंश में नवीं पीढ़ी में हुए थे।

अजमीढात् कण्वः। कण्वाद् मेधातिथिर् यतः काण्वायना द्विजा'। अजमीढस्यान्यः पुत्रो बृहदिषुः।

"अजमीढ से कण्व हुए, कण्व से मेधातिथि हुए जिनके वंशज काण्वायन ब्राह्मण हुए। अजमीढ का दूसरा पुत्र बृहदिषु था।"[१४]

---

[१४] 'इस पर टीकाकार का कथन है : अजमीढस्य कण्वादिर् एको वशो बृहदिष्व्-आदिर् अपरो वशो नीलादिर् अपर. ऋक्षादिश् चापर।' "अजमीढ के

इस अन्तिम अंश के विषय में प्रोफेसर विलसन का यह कथन है, पृ० ४५२ टिप्पणी : "सभी प्रतियों में यह पाठ पाया जाता है, तथापि यह शुद्ध नहीं हो सकता। कण्व को पहले ही अप्रतिरथ का पुत्र कहा जा चुका है।" किन्तु पुराण के संकलनकर्ता ने केवल उन विभिन्न विवरणों की आवृत्ति की है, जिन्हें उसने अपने सम्मुख विद्यमान प्राचीन ग्रंथों में पाया था।

अजमीढ के विषय में भागवत ९. २१, २१ में यह कथन है :

अजमीढस्य वंश्याः स्युः प्रियमेधादयो द्विजाः। अजमीढाद् बृहद्दिपुः।

"प्रियमेध और अन्य ब्राह्मण अजमीढ के वंशज थे और अजमीढ से बृहद्दिपु हुए।"

विष्णुपुराण (४ १९, १६) मुद्गल के विषय में निम्नलिखित वर्णन प्रस्तुत करता है, जो अजमीढ की सातवीं पीढ़ी में हुए थे :

मुद्गलाच् च मौद्गल्याः क्षत्रोपेता द्विजातयो बभूवु। मुद्गलाद् वह्रश्वो वह्रश्वाद् दिवोदासोऽहल्या च मिथुनम् अभूत्। शरद्वतोऽहल्यायां शतानन्दोऽभवत्।

"मुद्गल से क्षत्रियवंश के मौद्गल्य ब्राह्मण उत्पन्न हुए। मुद्गल से वह्रश्व हुआ, वह्रश्व से दिवोदास और अहल्या जुड़वे हुए। अहल्या से शरद्वत[15] ने शतानन्द पुत्र उत्पन्न किया।"

इसी प्रकार भागवत पुराण ४. २१, ३३ आदि भी कहता है :—

मुद्गलाद् ब्रह्म निर्वृत्तं गोत्रम् मौद्गल्य-संज्ञितम्। मिथुनम् मुद्गलाद् भार्म्याद् दिवोदासः पुमान् अभूत्। अहल्या कन्यका यस्यां शतानन्दस् तु गौतमात्।

"मुद्गल से मौद्गल्य नाम के ब्राह्मणों का वंश उत्पन्न हुआ। उसी पिता से जो भर्म्यश्व के पुत्र थे, जुड़वा सन्तान उत्पन्न हुई जिसमें दिवोदास पुत्र हुआ और अहल्या वह कन्या जिसने गौतम द्वारा शतानन्द पुत्र को जन्म दिया।"

एक प्रकार के वंशज कण्व आदि थे, दूसरे प्रकार के वंशज बृहद्दिपु इत्यादि थे, तीसरे प्रकार के वंशज नील इत्यादि थे, तथा चौथे वंशज ऋक्ष आदि थे।" अजमीढ के अन्तिम दो पुत्रों का उल्लेख आगे भी विष्णु पुराण के उसी अध्याय में किया गया है तथा नील का श्लोक १५ में और ऋक्ष का श्लोक १८ में।

[15] टीकाकार का कथन है कि यह गौतम का नाम है। अहल्या और गौतम के सम्बन्ध में रामायण से पृ० १३७ पर उद्धृत कथा देखिए।

इसी विषय पर मत्स्य पुराण के शब्द, जिन्हें प्रोफेसर विलसन ने (पृ० ४५४ टि० ५०) उद्धृत किया है, इस प्रकार है :—

मुद्गलस्यापि मौद्गल्या क्षत्रोपेत्रा द्विजातयः। एते ह्य् अङ्गिरसः पक्षे सस्थिताः कण्व-मुद्गलाः।

"मुद्गल से क्षत्रिय वंश के मौद्गल्य ब्राह्मण उत्पन्न हुए। इन कण्व और मुद्गलों ने अङ्गिरस् का पक्ष ग्रहण किया।"

हरिवंश, खण्ड तीन, श्लोक १७८१ उसी वंश का इस प्रकार वर्णन करता है :—

मुद्गलस्य तु दायादो मौद्गल्यः सुमहायशाः। एते सर्वे महात्मानो क्षत्रोपेता द्विजातयः। एते ह्य् अङ्गिरसः पक्षं संश्रिताः कण्व-मुद्गलाः मौद्गल्यस्य सुतो ज्येष्ठो ब्रह्मर्षिः सुमहायशाः।

"प्रख्यात मौद्गल्य मुद्गल के पुत्र थे। ये सभी महात्मा क्षत्रिय वंश के ब्राह्मण थे। इन कण्वों और मुद्गलों ने अङ्गिरस का पक्ष ग्रहण किया। मौद्गल्य का ज्येष्ठ पुत्र प्रख्यात ब्रह्मर्षि था।"

अजमीढ की २१ वीं पीढी में होनेवाले भावी वंशज क्षेमक के विषय में विष्णुपुराण ४. २१, ४ इस प्रकार कहता है :—

ततो निरमित्रस् तस्माच् च क्षेमकः। तत्रायं श्लोकः "ब्रह्म-क्षत्रस्य यो योनिर्[96] वंशो राजर्षि सत्कृतः क्षेमकम् प्राप्य राजानं स संस्थाम् प्राप्स्यते कलौ।"

"उस (खण्डपाणि) से निरमित्र उत्पन्न होंगे, और उनसे क्षेमक होंगे; जिनके विषय में यह श्लोक (प्रचलित है). 'राजर्षियों द्वारा पवित्र किया गया एवं ब्राह्मणों और क्षत्रियों को उत्पन्न करने वाला वंश कलियुग में क्षेमक राजा के उपरान्त समाप्त हो जायगा'।"

मत्स्य एव वायु पुराणों के इसके श्लोक में, जिसका प्रोफेसर विलसन ने (पृ० ४६२. टि० २) उद्धरण दिया है, विष्णुपुराण के राजर्षि के स्थान पर "देवर्षि" दिव्य ऋषि या देवता और ऋषि, शब्द है। इस श्लोक को वहाँ अनुवंश-श्लोकोऽयं गीतो विप्रैः पुरातनैः, "अर्थात् प्राचीन ब्राह्मणों द्वारा गाया हुआ अनुवंश श्लोक, कहा गया है।"

---

[96] इस शब्द पर टीकाकर का कथन है 'ब्रह्मण' ब्राह्मणस्य क्षत्रस्य क्षत्रियस्य च योनि कारणम् पूव यथोक्तत्वात्।' "ब्रह्म" और "क्षत्र" ब्राह्मण और क्षत्रिय के लिये प्रयुक्त किये गये है। यह जाति (इसका) स्रोत या कारण है जैसा कि पहले कहा जा चुका है।"

इस खण्ड में पुराणों से दिये गये वर्णनों के अनुसार अनेक व्यक्ति गृत्समद, कण्व, मेधातिथि तथा प्रियमेध, जिन्हें भारतीय परम्परा सूक्तों का रचयिता ऋषि बतलाती है, क्षत्रिय वंश के थे।

अप्रतिरथ के भ्राता उसी तंसु के वंश में छठी पीढ़ी में हम गर्ग नाम का व्यक्ति पाते हैं, जिसके विषय में विष्णुराण ४. १९, ९ में यह कहा गया है.—

गर्गात् शिनिः ततो गार्ग्याः शैन्याः क्षत्रोपेता द्विजातयो बभूवुः !

"गर्ग से शिनि हुए, और उनसे गार्ग्य और शैन्य नाम के क्षत्रिय वंशी ब्राह्मण उत्पन्न हुए।" [९७]

इसी प्रकार भागवत पुराण ९. २१, १९ कहता है :—

गर्गात् शिनिस् ततो गार्ग्यः क्षत्राद् ब्रह्म ह्य् अवर्त्तत।

"गर्ग से शिनि हुए; और उनसे गार्ग्य हुए जो क्षत्रिय से ब्राह्मण हो गये थे।" [९८]

विष्णुपुराण में गर्ग के भ्राता महावीर्य के विषय में भी इसी प्रकार का वर्णन है (४ १९, १०) :—

महावीर्य्याद् उरुक्षयो नाम पुत्रोऽभूत्। तस्य त्रय्यरुण-पुष्करिणौ कपिश् च पुत्र-त्रयम् अभूत्। तच् च त्रितयम् अपि पश्चाद् विप्रताम् उपजगाम।

"महावीर्य्य का उरुक्षय नाम का एक पुत्र था, जिसके तीन पुत्र त्रय्यरुण, पुस्करिन तथा कपि हुए, और इन तीनों ने आगे चलकर ब्राह्मणत्व प्राप्त किया (अर्थात् ब्राह्मण हो गये)।"

भागवत ९. २१, १९ आदि का कथन है :—

दुरितक्षयो महावीर्य्यात् तस्य त्रय्यारुणिः कविः। पुष्करारुणिर् इत्य् अत्र ये ब्राह्मण-गतिं गताः।

---

[९७] इस पर भाष्यकार केवल यही कहता है: 'ततम् ताभ्या गार्ग्या शैन्याश् च गर्ग-वश्यत्वात् शिनि-वश्यत्वाच् च समाख्यात क्षत्रिया एव केनचित् कारणेन ब्राह्मणाश् च बभूवु।' "वे गार्ग्य और शैन्य कहलाये क्योंकि वे गार्ग और शनि के वंश के थे। क्षत्रिय होते हुए भी वे किसी कारणवश ब्राह्मण हो गये।"

[९८] भाष्यकार यह नहीं बताता कि यह कैसे घटित हुआ।

[९९] जब तक कि प्रोफेसर विलसन की ह० प्र० मे मेरी हस्तप्रति से भिन्न पाठ 'ण' हो, तो यह असावधानी से ही उन्होंने इसका अनुवाद "जिनमें अन्तिम ब्राह्मण हो गया" किया होगा।

"महावीर्य्य से दुरितक्षय हुए। उससे कवि और पुष्करारुणि हुए जिन्होंने ब्राह्मण का पद प्राप्त किया।" [100]

मत्स्य पुराण के अनुसार भी, जिसका प्रोफेसर विलसन ने उद्धरण दिया है (पृ० ४५१ टि० २२) "उरुक्ष (सिच्) के इन सभी पुत्रों ने ब्राह्मणत्व प्राप्त किया" (उरुक्षतः सुता ह्य् एते सर्वे ब्राह्मणतां गताः), और उसी पुराण के दूसरे श्लोक मे जो उसी टिप्पणी में उद्धृत है, आगे यह कहा गया है : काव्यानां तु वरा ह्य् एते त्रयः प्रोक्ता महर्षयः। गर्गाः सङ्कृतयः काव्या क्षत्रोपेता द्विजातयः। "महर्षियों के ये तीन वर्ग, गर्ग, संकृति तथा काव्य, जो क्षत्रिय वंश के ब्राह्मण है, काव्यों अर्थात् कवि के वंशजों में श्रेष्ठ बताये गये है।" जैसा कि हम देख चुके हैं, मूल गर्ग, कवि या कवि के पिता महावीर्य्य के भ्राता थे, जबकि विष्णु पुराण (४. १९, ९) तथा भागवत पुराण (९. २१, १) के अनुसार संकृति महावीर्य्य के दूसरे भाई नर के पुत्र थे।

अभी उद्धृत किये अंशों की श्रृंखला यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि भारत की प्राचीन आख्यानात्मक इतिहास के सकलनकर्त्ताओं द्वारा गृहीत परम्पराओं के अनुसार (जो परम्परायें इतनी सामान्य एवं निर्विवाद है कि उनके कठोर शास्त्रविहित आधिपत्यों के ऊपर भी व्याप्त है), ब्राह्मण, क्षत्रिय, और यहाँ तक कि वैश्य एवं शूद्र भी, कम-से-कम कई स्थितियों मे मूलतः एक ही वंश से उत्पन्न हुए थे। योरोपीय आलोचक को इन गूढ वर्णनों को शब्दशः सत्य मानने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती, यद्यपि स्पष्ट ऐतिहासिक तथ्यों के अभाव के कारण उस क्रिया का निर्धारण करने में उसकी कल्पना के अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु सहायक नहीं हो सकती, जिस क्रिया द्वारा मौलिक रूप में प्राय. एक समान तत्त्व से निर्मित समाज ऐसे विभिन्न वर्गों एवं व्यवसाओं मे विभक्त हो गया जो एक दूसरे से अलङ्घ्य सीमाओं से पृथक् हो गये। दूसरी ओर विभिन्न वर्णों की समान उत्पत्ति की सम्भावना, यद्यपि परम्पराओं पर दृढ़तापूर्वक आधृत है, तथापि आगे चलकर पुराणों के कतिपय संकलनकर्त्ताओं को इतनी अविश्वसनीय या अरुचिकर प्रतीत हुई कि हम प्रायः उन्हें वर्णित तथ्यों की ऐसी उक्तियों द्वारा व्याख्या करते हुए पाते

---

[100] इस प्रकार भाष्यकार की टीका है : 'ये अत्र क्षत्र-वशे ब्राह्मण-गतिम् ब्राह्मण-रूपता गतास् ते।' "जिन्होंने इस क्षत्रिय वश मे ब्राह्मण की गति—ब्राह्मण का रूप प्राप्त किया।"

है, जैसी उक्तियाँ हमने राजा रथीतर और बलि के सम्बन्ध में देखी है कि उनके पुत्र उनकी पत्नियों से ऋषि अङ्गिरस् और दीर्घतमस् या दीर्घतपस् द्वारा उत्पन्न किये गये थे, अथवा उनकी व्याख्या वे कथा में अलौकिक तत्त्व के समावेश द्वारा करते हैं, जैसा कि हम गृत्समद से सबद्ध एक आख्यान में देख चुके है और आगे आने वाले एक अध्याय में विश्वामित्र के वर्णन में देखेंगे।



अध्याय ३

ऋग्वेद एवं अथर्ववेद के सूक्तों के अनुसार भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों का पारस्परिक सम्बन्ध

पिछले अध्याय में मैंने यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है कि सामान्यतः ऋग्वेद के सूक्तों के रचयिता सम्पूर्ण आर्य जाति को, जिसके अन्तर्गत न केवल पुरोहित और प्रमुख योद्धा आते थे अपितु मध्यम वर्ग के भी लोग सम्मिलित थे, एक समान पिता या पूर्वज से उत्पन्न मानते थे, जिसे उन्होंने मनु नाम से पुकारा। एक पूर्वपुरुष के उल्लेख मे निःसन्देह यह धारणा नहीं आती कि जिन लेखकों ने उसका उल्लेख किया है वे उस कथा मे कोई विश्वास रखते थे जो आगे चलकर उनके देशवासियों में प्रचलित हुई और जिसके अनुसार उनकी जाति ऐसे चार वर्णों में विभक्त हुई जो परस्पर प्रतिष्ठा की दृष्टि से भेद रखते थे और ब्रह्मा द्वारा पृथक्-पृथक् रचे गये थे।

उस अध्याय में मैंने ऋग्वेद में इसकी रचना के समय के समाज के विभिन्न वर्णों के विषय में आने वाले विशिष्ट विवरणों को आगे विवेचन करने के लिए छोड़ देने का विचार किया था। अब मै इसी का विवेचन करता हूँ। यतः सूक्तों के उस बृहत् संग्रह मे स्वयं रचयिताओं और दैवी पूजा के सम्पादन मे अन्य व्यक्तियों के अनेक उल्लेख आते हैं, अत' इसमे सामयिक या अप्रत्यक्ष रूप से उस विचारधारा से सम्बद्ध कुछ सूचनाएँ प्राप्त करने की आशा की जा सकती है जो ये धर्म प्रवक्ता अपने विषय मे तथा समाज के अन्य वर्गों के साथ अपने याज्ञिक एवं नागरिक सम्बन्धों के विषय में रखते थे। अब मै यह दिखाने का प्रयत्न करूँगा कि ऋग्वेद की छान-बीन करने पर हमारी यह आशा कहाँ तक उचित ठहरती है।

ऋग्वेद के उस सूक्त के, जिसमे चार वर्णों का स्पष्टत. उल्लेख किया गया है अर्थात् पुरुषसूक्त के विषय मे मैने जो कुछ लिखा है (पृ० ९ तथा पृ० १२ और आगे) उससे यह समझा जा सकता है कि जो अनुसन्धान मै यहाँ करने जा रहा हूँ उसमे प्रथमत. मै उन्हीं सूक्तों तक अपने विवेचन को सीमित रखूँगा जो उन सभी रचनाओं को छोड़ कर जो अभी उल्लिखित सूक्त के समान परवर्ती रचनायें हैं, किसी कारणवश (देखिए ऊपर पृ० ६) नितान्त प्राचीन प्रतीत होते हैं।

मैं सोचता हूँ कि खोज करने पर यह निष्कर्ष निकलेगा कि न केवल अधिक प्राचीन सूक्तों, अपितु सूक्तों के एक बहुत बड़े भाग मे उनकी रचना के समय किसी स्पष्ट एवं विकसित वर्णव्यवस्था की स्थिति का कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता।

खण्ड १—'ब्रह्मन्' और 'ब्राह्मण' आदि शब्दों का ऋग्वेद में अर्थ

यत. प्रायः सम्पूर्ण ऋग्वेद संहिता मे देवताओं की प्रशस्तियाँ हैं अतः यह आशा नहीं की जा सकती कि यह हमारे अनुसन्धान के विषयों पर कोई व्यवस्थित और विस्तृत व्याख्याएँ प्रस्तुत करेगा। किन्तु जैसा कि इस प्रकार की आरम्भिक एवं सरल युग की रचनाओं के लिए स्वाभाविक था, ये सदैव अपने मुख्य विषय से कठोरतापूर्वक संबद्ध विषयों तक ही सीमित नहीं रहतीं, वरन् समय-समय पर अपने रचयिता कवियों के अथवा उनके यजमानों या अन्य समकालीन व्यक्तियों या उनके पूर्वजों के नामों, वंशों, व्यक्तिगत गुणों, योग्यताओं, सम्बन्धों, अवस्थाओं तथा परिस्थितिओं के उल्लेख मे लग जाती है।

इस कृति के एक दूसरे भाग में[1] मैंने उन मतों की छानबीन की है जो इन सूक्तों के रचयिता स्वयं अपने कर्तृत्व के विषय में रखते प्रतीत होते हैं। जिस निष्कर्ष पर मैं पहुँचा वह यह है कि वे सामान्यत. अपनी रचनाओं को अलौकिक प्रेरणा से उद्भूत नहीं मानते थे क्योंकि प्रायः उन्हें स्वयं अपने मस्तिष्क की उपज बताते है (भाग ३ पृ० १३७–१४८)। यद्यपि सामान्यत. (और विशेपतः जैसा कि हम अनुमान कर सकते है अधिक प्राचीन सूक्तों के विषय मे) यही स्थिति पायी जाती है, इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने अभी इन रचनाओं को बड़ा महत्व प्रदान किया, तथापि इन्हे उन्होंने उन देवताओं के लिए स्वीकार्य बताया (ऋग्वेद ५ ४५, ४, ५ ८५, १; ७. २६, १. २, १० २३, ६, १०. ५४, ६, १० १०५, ३), जिनकी क्रिया को ये कार्यान्वित करते थे (३. ३४, १, ७. १९. ११) और जिनकी कृपा ये प्रदान करते थे। कुछ सूक्तों में ऋषियों के अतिमानवीय स्वरूप या अन्तर्दृष्टि का भी वर्णन किया गया है (१. १७९, २, ७. ७६, ४, ३. ५३, ९, ७. ३३, ११ और आगे, ७. ८७, ४, ७. ८८, ३ आदि, १०. १४, १५, १०. १४, १५, १०. ६२, ४. ५) और उनकी रचनाओं को एक रहस्यमय

[1] मूल सस्कृत उद्धरण (हिन्दी सस्करण), भाग ३ पृ० १२५–१६८.

माहात्म्य से युक्त कर दिया गया है (भाग ३, हिन्दी सं०, पृ० १८० और आगे)। ऋषि अपने सूक्तों का विभिन्न नामों द्वारा उल्लेख करते थे, यथा अर्क, उक्थ ऋच्, गिर्, धी, नीथ, निविद, मन्त्र, मति, सूक्त, स्तोम, वाच, वचस् इत्यादि-इत्यादि, और अनेक अंशों में उन्होंने उन्हे 'ब्रह्म' का भी नाम दिया है।[२] विचार्यमाण अंशों मे ब्रह्म का अर्थ सामान्यतः सूक्त या प्रार्थना है, ऐसा उनमे से कतिपय अशों के सन्दर्भ से (यथा १. ३७, ४, ८. ३२, २७ में जिसमें इस शब्द का सम्बन्ध 'गायत' क्रिया से है और ६ ६९, ७ में जिसमें देवताओ से ब्रह्म को सुनने की प्रार्थना की गई है) तथा इस तथ्य से स्पष्ट है कि कवियों की (१. ६२, १३, ५. ७३, १०; ७. २२, ९, ७. ३१, ११, १०. ८०, ७ मे) प्रार्थना का उसी रूप में निर्माण या सृजन करने का उल्लेख किया गया है जिस रूप में उनके ऐसे अन्य पाठों मे सूक्तों की रचना करने की वात कही गई (यथा १ १०९, १, ५. २, ११; ७. १५, ४, ८ ७७, ४; १०. २३, ६, १०. २३, ६; १०. ३९, १४) जिनमें अर्थ निर्विवाद है, जबकि दूसरे स्थलों पर (४. १६, २१, ५. २९, १५, ६ १७, १३, ६. ५०, ६, ७. ६१, ६, १०. ८३, ३) कवियों की नई रचनाओं को 'ब्रह्म' का नाम दिया गया है।

ब्रह्म का अर्थ सूक्त या प्रार्थना है यह वात निम्नलिखित उद्धरणों से भी प्रदर्शित होती है। ७ २६, १ मे कहा गया है :—न सोमः इन्द्रम् असुतो ममाद न अब्रह्माणो मघवानं सुतासः। तस्मै उक्थ जनये यज् जुजोपद् नृवद् नवीयः शृणवद् यथा नः। २. उक्थे उक्थे सोमः इन्द्रम् ममाद नीथे नीथे मघवान सुतासः यद् ईं सबाधः पितरं न पुत्राः समान-दक्षाः अवसे हवन्ते। "जब तक सोम का सवन नहीं होता तब तक वह इन्द्र को उत्तेजित नहीं करता और न विना सूक्त का (अब्राह्मण.) सवन ही उसे मत्त बनाता है। मैं उसके लिए एक सूक्त (उक्थ) की रचना करता हूँ जो उसके अनुकूल होगा, जिससे वह एक मनुष्य के समान हमारी नई (रचनाओं) को सुनेगा। २. प्रत्येक उक्थ पर सोम इन्द्र को आनन्दित करता है, प्रत्येक नीथ पर सवन मघवा को मत्त बनाते है, जब कि स्तुति करने वाले एक

[२] इन उद्धरणो एव अन्य वर्णनो की एक सूची के लिये, जिन्हे यहाँ छोड दिया गया है, मैं अपने लेख 'आन द रिलेशन्स आफ द प्रीस्ट्स टु द अदर क्लासेज आफ इण्डियन सोसाइटी इन द वेदिक एज' का निर्देश करता हूँ जो १८६६ के जर्नल आफ द रायल एशियाटिक सोसाइटी मे प्रकाशित है (जिससे यह खण्ड अधिकाशत लिया गया है)।

समान संयुक्त होकर "इस प्रकार उसका आह्वान करते हैं।"[3] पुन १०. १०५, मे यह कहा गया है '—अव नो वृजिना शिशीहि ऋचा वनेम अनृचः। न अब्रह्मा यज्ञः ऋधग् जोषति त्वे। "हमारी विपत्तियों को दूर करो। ऋचा के द्वारा हम उन व्यक्तियों का नाश करें जो बिना ऋचावाले (अनृच.) हैं। बिना प्रार्थना (अब्रह्मा) के यज्ञ तुम्हें भलीभाँति प्रसन्न नहीं करता।"

मैं कह चुका हूँ कि समय-समय पर कवियों ने अपने सूक्तों एवं प्रार्थनाओं को अधिक महत्वपूर्ण ठहराया है और यह बात उन पवित्र पाठों के विषय में और भी खरी उतरती है जब उन्हें ब्रह्म का नाम दिया जाता है, या जब वे मन्त्र जैसे अभिधानों से उल्लिखित होते हैं। उदाहरणार्थ यह कहा है ३. ५३, १२ : विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्म इदम् भारत जनम्। "विश्वामित्र की यह प्रार्थना (ब्रह्म) भरत के जन की रक्षा करती है।" ५. ४०, ६: गूळ्हम् सूर्यं तमसा अपव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणा अविन्दद् अत्रि'। "अत्रि ने चौथी प्रार्थना (ब्रह्म) से अपवित्र अन्धकार से आच्छन्न सूर्य को ढूँढ निकाला।" ६. ७५, १९ ब्रह्म वर्म मम अन्तरम्। प्रार्थना (ब्रह्म) मेरी रक्षा करने वाला कवच है।" ७. ३३, ३ एव इद् नु कम् दाशराज्ञे सुदासम् प्रावद् इन्द्रो ब्रह्मणा वो वसिष्ठा'। "हे वसिष्ठो, तुम्हारी प्रार्थना से इन्द्र ने दस राजाओं के युद्ध में सुदास की रक्षा की।" २ २३, १ में ब्रह्मणस्पति को प्रार्थनाओं का श्रेष्ठ राजा (ज्येष्ठराजम् ब्रह्मणाम्) कहा गया है (तुलना ७ ९७, ३), और मन्त्र २ में प्रार्थनाओं का रचयिता (जनिता ब्रह्मणाम्) कहा गया है, जब कि १०. ६१, ७ में प्रार्थनाओं को देवताओं द्वारा निर्मित कहा गया है (स्वाध्यो अजनयन् ब्रह्मदेवाः) तुलना ७. ३५, ७।

---

[3] इस अश के सन्दर्भ से यह स्पष्ट है कि 'अब्रह्माण' का अर्थ है 'सूक्तो से रहित' न कि 'विना पुरोहित के'। यह कहने के उपरान्त कि विना मन्त्रो के सोम का सवन इन्द्र को ग्राह्य नही होता, कवि यह नही कहता कि वह स्वय एक पुरोहित है अथवा पुरोहित उसका सहयोगी है, किन्तु यह कहता है कि वह एक सूक्त की रचना करता है, और आगे के मन्त्र मे जो बात आती है उससे भी यही अर्थ निकलता है। सायण 'अब्रह्माण' का अर्थ 'स्तोत्र-हीनाः' सूक्तो से हीन मानते हैं। वही अर्थ समान रूप से दूसरे अश १० १०५, ८ मे भी ठीक जचता है, जो उद्धृत किया गया है। ४ १६, ९ के भाष्य मे, जिसमे अब्रह्मा दस्यु का विशेषण है। सायण इसका अर्थ 'पुरोहित से हीन' करते हैं किन्तु "विना भक्ति या प्रार्थना के" ऐसा अर्थ करना भी समान रूप से ठीक ही रहेगा।

पुल्लिग शब्द 'ब्रह्मन्' निःसन्देह उसी धातु से व्युत्पन्न है जिस धातु से नपुंसकलिग "ब्रह्मन्' शब्द; और यद्यपि यह स्वर एवं लिङ्ग की दृष्टि से भेद रखता है, फिर भी, इसे अर्थ की दृष्टि से इस शब्द के साथ घनिष्ट रूप में संबद्ध मानना होगा। यदि इस शब्द का दूसरे अर्थ में प्रयोग होता तो यह भी अॅग्रेजी का आवेदन के अर्थ में आनेवाले 'प्रेयर' (प्रार्थना) शब्द की भॉति 'प्रेयर' अर्थात् आवेदक अर्थवाले शब्द के समान प्रयुक्त होता। यतः नपुसकलिङ्ग में 'ब्रह्मन्' शब्द का अर्थ 'सूक्त' या प्रार्थना है अतएव पुलिङ्ग ब्रह्मन् से स्वभावतः उस व्यक्ति का अर्थ लेना होगा जो किसी सूक्त या प्रार्थना की रचना करता है या उनका पाठ करता है। तथापि हम ऐसा नहीं पाते कि सूक्तों के रचयिताओं को सामान्यतः ब्रह्मन् नाम से अभिहित किया है जो नाम उनके ऋषि होने के कारण प्रायः उन्हें दिया जाता है, यद्यपि उन्हें विप्र, वेधस्, कवि इत्यादि भी कहा जाता है (इस कृति के हिन्दी सं० का भाग ३ पृ० १२५ आदि)। कुछ ऐसे भी अंश हैं जैसे १. ८०, १, १. १६४, ३५; २, १२, ६; २. ३९, १; ५. ३१, ४, ५. ४०, ८, ९. ११३, ६ इत्यादि, जिनमें 'ब्रह्मन्' को सूक्तके रचयिता के लिए उसकेद्वारा उक्त सूक्तके सन्दर्भ में उल्लिखित समझा जा सकता है या समझना चाहिए। इसी प्रकार २. २०, ४ में तथा ६. २१, ८ में सूक्तों के एक नये रचयिता का 'नूतानस्य ब्रह्मण्यन्तः' नाम से उल्लेख किया गया प्रतीत होता है और २. १९, ८ में गृत्समदों को नये सूक्त (मन्म नवीयः) का रचयिता और तपस्या करने वाला (ब्रह्मण्वन्तः) दोनों ही कहा गया है।[5] तीन अंशों ७. २८, २; ७. ७०, ५; तथा १०. ८९, १६ में ऋषियोंके 'ब्रह्म' और 'ब्रह्माणि', अर्थात् 'प्रार्थना' तथा 'प्रार्थनाओं', या 'सूक्त' तथा 'सूक्तों' का उल्लेख किया गया है और ७ २२, ९ में यह कहा गया है कि "प्राचीन तथा अर्वाचीन दोनों ही प्रकार के ऋषियों ने प्रार्थनाओं की रचना की है" (ये च पूर्वे ऋषयो ये च नूतनाः इन्द्र ब्रह्माणि जनयन्त विप्राः)। १. १७७, ५ में हम 'ब्रह्माणि कारोः' अर्थात् 'कवि की प्रार्थनाएँ' पाते हैं। अनेक सूक्तों में रचयिताओं ने अपने यजमान

---

[4] ब्रह्मन् नपुंसक लिंग मे प्रथम स्वर उदात्त है, ब्रह्मन् पुल्लिग मे अन्तिम स्वर उदात्त है

[5] दूसरे स्थल पर (१० ९६, ५) यह कहा गया है कि इन्द्र की स्तुति पहले के पूजको द्वारा 'पूर्वेभिर् यज्वभिः' की गई है, यह शक्ति प्राय· (चूँकि ब्रह्मन् का प्रयोग बहुश· होता था) बाद के समय मे केवल यज्ञ करनेवाले के लिये ही प्रयुक्त होने लगी।

राजाओं से महान् दान प्राप्त करने का वर्णन किया है तथा वे ऐसे स्थलों पर अपने से भिन्न किसी यज्ञकर्म कराने वाले पुरोहित वर्ग का निर्देश न करने के तथ्य से उस समय कवि एवं पुरोहित का तादात्म्य झलकता प्रतीत होता है।

अतएव, जैसा कि हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं, 'ब्रह्मन्' पद का मूलरूप में प्रयोग (१) उन्हीं व्यक्तियों के लिए हुआ है, जिन्हें सूक्तों में अन्यत्र ऋषि, कवि इत्यादि नामों से पुकारा गया है तथा जो उन श्रद्धालु पूजकों एवं ध्यानरत मुनियों को स्थापित करते हैं, जिन्होंने प्रार्थनाओं और सूक्तों की रचना की और स्वय देवताओं की स्तुति में उनका गान किया। आगे चलकर जब यज्ञक्रियाएँ अधिक गूढ़ हो गईं और धार्मिक कृत्यों का एक विभाजन हो गया तो इस शब्द का अधिक सामान्यरूप में (२) सामाजिक देवपूजन के अधीक्षक के लिए प्रयोग होने लगा और अन्ततोगत्वा यह (३) विशिष्ट कर्मों वाले विशिष्ट पुरोहित वर्ग का अर्थ देने लगा। मैं यहाँ ऐसे विभिन्न अंशों का अनुवाद देता हूँ जिनमें यह शब्द ऋग्वेद में आया हुआ है, और मैंने उन्हें प्रत्येक के सम्बन्ध में उपर्युक्त, प्रथम, द्वितीय या तृतीय अर्थ में प्रयुक्त होने के आधार पर इन अंशों को वर्गों में विभक्त करने का प्रयत्न किया है। यह सदैव एक सरल कार्य नहीं है, क्योंकि इनमें से अनेक उद्धरणों में इस पद का निश्चित रूप से अर्थ नियत करने का कोई आधार नहीं है और एक अर्थ सरलता से दूसरे अर्थ में जा पहुँचता है अथवा एक ही व्यक्ति एक साथ सूक्त का रचयिता और गान करनेवाला दोनों ही हो सकता है।

१. वे अंश जिनमें 'ब्रह्मन्' का अर्थ "विचारक, यति या कवि" हो सकता है :—

(इन सभी उद्धरणों में मैं इस शब्द का अनुवाद नहीं करूँगा)

१. ८०, १ इत्था हि सोमे इद् मदे ब्रह्मा चकार वर्धनम्।

"इस प्रकार सोमरस से उत्पन्न मद से युक्त होकर 'ब्रह्मन्' ने एक वृद्धिकारी[6] (सूक्त) रचा है (या गाया है)।"

१. १६४, ३४ : पृच्छामि त्वा परम् अन्तम् पृथिव्या पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः। पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः पृच्छामि वाचः परमं व्योम। ३५. इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मा अयम् वाचः परमं व्योम।

---

[6] वर्द्धनम् = वृद्धि-कर स्तोत्रम् (सायण)।

"मै तुम से पूछता हूँ कि पृथ्वी का अन्तिम छोर क्या है, मैं पूछता हूँ कि संसार की नाभि कहाँ है ? मैं तुम से पूछता हूँ कि अश्व का रेतस् क्या है ? मै पूछता हूँ कि वाणी का परम स्वर्ग क्या है ? ३५. यह वेदि पृथ्वी का अन्तिम छोर है, यह यज्ञ संसार की नाभि है; यह सोम शक्तिशाली अश्व का रेतस् है और ब्रह्मन् वाणी का परम स्वर्ग है।[८]

२. १२, ६. यो रध्रस्य चोदिता यः कृशस्य यो ब्रह्मणो नाधमानस्य कीरेः।

"वह (इन्द्र) जो कृश व्यक्तियों को प्रेरित करने वाला है, दुर्बलों का प्रेरक है और विनीत ब्रह्मन् का प्रेरक है जो उसकी स्तुति करता है।" इत्यादि

६ ४५, ७ ब्रह्माणम् ब्रह्म-वाहसं गीर्भिः सखायम् ऋग्मियम् गां न दोहसे हुवे।

"जिस प्रकार दुही जाने वाली गौ को लोग पुकारते है उसी प्रकार मैं सूक्तों द्वारा इन्द्र का आह्वान करता हूँ, जो ब्रह्मन् है, ब्रह्मन् को ले जानेवाला (ब्रह्मवाहसम्) है, प्रशसा के योग्य मित्र है।"

७ ३३, ११. उत असि मैत्रावरुणो वसिष्ठ उर्वश्याः ब्रह्मन् मनसोऽधि जात। द्रप्स स्कन्नम् ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवाः पुष्करे त्वाऽददन्त।

"और हे वसिष्ठ, तुम मित्र और वरुण (अथवा मित्रावरुण पुरोहित) के पुत्र हो, हे ब्रह्मन् तुम उर्वशी के मन से उत्पन्न हुए हो, सभी देवताओं ने तुम्हें पात्र में रखा, तुम अध्यात्मचिन्तन से प्रसूत विन्दु हो।"

८. १६, ७. इन्द्रो ब्रह्मा इन्द्रः ऋषिर् इन्द्रः पुरु पुरुहूतः। महान् महीभिः शचीभिः।

"इन्द्र 'ब्रह्मन्' है, इन्द्र एक ऋषि है,[९] इन्द्र का अनेकश. और प्रायः आह्वान किया जाता है, वह बड़ी शक्तियों के कारण महान् है।"

१०. ७१, ११. (नीचे पूरे सूक्त का अनुवाद देखिए। ११ वें मन्त्र में ब्रह्मन् का अर्थ 'जातविद्या' को दिये गये अर्थ पर आधृत है)।

---

[७] तुलना ऋ० वे० ३ ३२, १०, १० १०९, ४ नीचे और "परम व्योम अन्वेषण" शब्द।

[८] तुलना ऋ० वे० १० ७१ और १० १२५

[९] विभिन्न देवताओ का ऋषि, कवि इत्यादि नामो से ५ २९, १, ६ १४, २, ८ ६, ४१, ९ ९६, १८, ९ १०७, ७, १० २७, २२, १० ११२, ९ अशो मे उल्लिखित किया गया है।

१०. ७७, १, (इस अंश में, जिसका अर्थ अधिक स्पष्ट नहीं है, ब्रह्मन् शब्द मरुतों के गण का विशेषण प्रतीत होता है)।

१०. ८५, ३ : सोमम् मन्यते पपिवान् यत् सम्पिषन्ति ओषधिम्। सोमं यम् ब्रह्माणो विदुर् न तस्य अश्नाति कश्चन। १६. द्वे ते चक्रे सूर्ये ब्रह्माणो ऋतुथा विदुः। अथ एक चक्र यद् गुहा तद् अद्धातयः इद् विदुः। ३४ .... सूर्यां यो ब्रह्मा विद्यात् स इद् वाधूयम् अर्हति।

"जब लोग (सोम नाम की) ओषधि का सेवन करते हैं तो मनुष्य सोचता है कि उसने सोम का पान किया है। किन्तु कोई उसका पान नहीं करता जिसे 'ब्रह्मन्' सोम (चन्द्रमा) के नाम से जानते हैं। १६. हे सूर्या, ब्रह्मन् यह उचित रूप से जानते हैं कि तुम्हारे दो चक्र हैं; किन्तु केवल ऋषि (अद्धातयः) ही उस चक्र को जानते हैं जो गूढ़ है। ३४ जो ब्रह्मन् सूर्या को जानता है वह वधू के वस्त्र का भागी होता है।"[10]

१. १०७, ६. तम् एव ऋषिं तम् उ ब्रह्माणम्, आहुर् यज्ञन्यं सामगाम् उक्थ-शासम्। स शुक्रस्य तन्वो वेद तिस्र' य' प्रथमो दक्षिणया रराध।

"वे उसे ऋषि कहते हैं, ब्रह्मन्, पूज्य, साम का गान करने वाला (साम-गाम्) तथा उक्थों का गान करने वाला बताते हैं—वह प्रकाशमान (अग्नि) के तीनों रूपों को जानता है—वह सर्वप्रथम दक्षिणा के साथ यज्ञ करनेवाला व्यक्ति है।"

परवर्ती समयों में भी क्षत्रिय और वैश्य वर्णों का व्यक्ति भी सभी वैदिक कर्मों का सम्पादन कर सकता है। अतएव, इस प्रकार का कोई भी व्यक्ति और ऐसा व्यक्ति जो ब्राह्मण नहीं है इस मन्त्र के अनुसार पुरोहित (ब्रह्मा) कहा जाता होगा, यद्यपि निश्चय ही यह लाक्षणिक प्रयोग रहा होगा।

१०. ११७, ७ ..वदन् ब्रह्मा अवदतो वनीयान् पृणन्न् आपिर् अपृणन्तम् अभि स्यात्।

"बोलनेवाला ब्रह्मन्[11] न बोलनेवाले की अपेक्षा अधिक वरणीय होता है, दानी मित्र अनुदार मित्र से श्रेष्ठ होता है।"

१०. १२५, ५ : यं कामये तं तम् उग्रं कृणोमि तम् ब्रह्माणं तम् ऋषिं तं सुमेधाम्।

---

[10] देखिए डॉ० हाग का ऐत० ब्रा० भाग १ भूमिका, पृ० २०

[11] यह शब्द यहाँ स्पष्टत व्यवस्था या व्यवसाय के अर्थ सूचित करता है, क्योंकि न बोलने वाला पुरोहित भी पुरोहित ही है।

"मै (वाणी), जिसे मैं चाहती हूँ उसे उग्र बनाती हूँ, ब्रह्मन् , ऋषि और महात्मा बना देती हूँ ।"

इससे यह सिद्ध होता लगता है कि कम-से-कम, किसी समय कोई जन्म या स्वभाव से ब्रह्मन् नहीं होता था, अपितु इस देवी की विशेष कृपा तथा प्रेरणा से ही यह पद प्राप्त करता था। अतएव, इस अंश में इस शब्द का अर्थ किसी एक ऐसे जाति विशेष का सदस्य नही हो सकता, जो इस पद के लिए वाच की कृपा पर आश्रित न रहता हो।

२ आगे आनेवाले अंशों में ब्रह्मन् का अर्थ उतना "कवि या ऋषि" नही प्रतीत होता है, जितना "पूजक या पुरोहित।"

१. १०, १ गायन्ति त्वा गायत्रिणो अर्चन्ति अर्कम् अर्किणः। ब्रह्माणस् त्वा शतक्रतो उद् वंशम् इव येमिरे।

"गान करनेवाले तुम्हारा गान करते है, सूक्त रचनेवाले सूक्त का उच्चारण करते है, हे शतक्रतु, ब्रह्मणों ने तुम्हें एक बाँस के समान ऊपर उठाया है।"[13]

१. ३३, ६ : अमन्यमानान् अभि मन्यमानैर् निर् ब्रह्मभिर् अधमो दस्युम् इन्द्र।

"हे इन्द्र तुमने अपने श्रद्धालुओं के साथ अश्रद्धालुओं को दूर भगाया, ब्रह्मणों के साथ दस्युओं को दूर भगाया।"[14]

१. १०१, ५ : यो विश्वस्य जगतः प्राणतस् पतिर् यो ब्रह्मणे प्रथमो गाः अविन्दत्। इन्द्रो यो दस्यून् अधरान् अवातिरत् ..।

"इन्द्र, जो सभी चर और प्राणवान् जीवों का स्वामी है, जिसने सर्वप्रथम 'ब्रह्मन्' के लिए गायों को ढूंढ निकाला, जिसने दस्यु को मार गिराया।"

१. १०८, ७ : यद् इन्द्राग्नी मदथः स्वे दुरोने यद् ब्रह्मणि राजनि

---

[13] इस मन्त्र पर डॉ० हाग का मत देखे, ऐत० ब्रा० भूमिका पृ० २०, अन्तिम दो अशो के सन्दर्भ मेरे लेख "मिस्सेलेनस हिम्स फ्राम द ऋ० एण्ड अ० वेदान्त" पृ० ३२ आदि मे दिये गये हैं।

[14] तुलना कीजिये १ ५, ८, १ ७, १, ८ १६, ९। देखिए इस मत्र पर डॉ० हाग की उक्ति ऐत० ब्रा० भूमिका पृ० २०

[15] इस मन्त्र पर एम० ब्रिअल के विचार देखे . हेरकूले एट काकस, आदि पृ० १५२।

वा यजत्रा। अतः वृष्णाव् आ हि यातम् अथा सोमस्य पिवतं सुतस्य।

"हे पूज्य इन्द्र और अग्नि, जब तुम अपने निवासस्थान में मत्त होते हो अथवा ब्रह्मन् या राजन्[९५] के साथ आनन्दयुक्त होते हो, तब हे शक्तिशाली (देवताओ) तुम वहाँ से आओ और इस अर्पित किये गये सोम का पान करो।"[९६]

१. १५८, ७. दीर्घतमाः मामतेयो जुजुर्वान् दशमे युगे। अपाम् अर्थं यतीनाम् ब्रह्मा भवति सारथिः।

"ममता के पुत्र दीर्घतमस् अपने दसवें युग में क्षीण होकर ब्रह्मन् होते हुए भी अपने गन्तव्य की ओर शीघ्रता से जाने वाले जलों के सारथि होते हैं (या उनके द्वारा ले जाये जाते हैं)।"

(प्रोफेसर ऑफरेख्त इसका अर्थ यह लगाते हैं कि दीर्घतमस् अपने अन्त के निकट पहुँच गये हैं और उनका विचार है कि यहाँ 'सारथि' शब्द पर श्लेष है, जो एक पुरोहित के लिए अयोग्य कर्म है)।

---

[९५] यहाँ व्यवस्थाओं और व्यवसायों का भेद दिखाई पड़ता है। किन्तु ५ ५४, ७, में ऋषि और 'राजन्' में उसी प्रकार का भेद किया है जैसा ब्रह्मन् और राजन् में १ १०८, ७ में "स न जीयते मरुतो न हन्यते न स्रेधति न व्यथते न रिष्यति। न अस्य राय उप दस्यन्ति न ऊतयः ऋषिम् वा य राजान वा सुषूदथ।" "हे मरुतो! वह मनुष्य चाहे वह ऋषि हो या राजा जिसकी तुम सहायता करते हो वह न जीता जाता है और न मारा जाता है, वह न तो नष्ट होता है न दुःख पाता है, न चोट पाता है, उसका धन न तो नष्ट होता है और न इसका आश्रय समाप्त होता है।" ५. १४ से तुलना कीजिए यूयं रयिम् मरुत स्पार्हवीर यूयम् ऋषिम् अवथ साम-विप्रम्। यूयम् अर्वन्तम् भरताय वाज यूय धत्थ राजन श्रुष्टिमन्तम्। "हे मरुतो, तुम स्पृहणीय व्यक्तियों को धन देते हो, तुम उस ऋषि की रक्षा करते हो जो सूक्तों में दक्ष है, तुम भरत के लिए अश्व और अन्न देते हो, तुम राजा को समृद्धिशाली बनाते हो।" ३ ४३, ५ में विश्वामित्र या रचयिता के इन्द्र द्वारा राजा और ऋषि बनाये जाने का उल्लेख किया गया है (कुविद् मा गोपा करसे जनस्य कुविद् राजानम् मघवन्न् ऋजीषिन्। कुविद् मा ऋषिम् पपिवास सुतस्य)।

[९६] इस मन्त्र पर प्रोफेसर बेनफे की उक्ति देखिए, ओरिएण्ट उण्ड ओक्सिडेण्ट ३, १४२।

२.३६, १...गृध्रा इव वृक्षं निधिमन्तम् अच्छ। ब्रह्माणा इव विदथे उक्थशासा.. ।

"हे (अश्विन्) दो गृध्रों के समान शब्द करो, जो उस वृक्ष पर रहते है जिनमें उनका आवासस्थान है, यज्ञ के समय सूक्त का गान करने वाले दो 'ब्रह्मणों' के समान शब्द करो।"

४.५०, ७. स इद् राजा प्रतिजन्यानि विश्वा शुष्मेण तस्थाव् अभि वीर्येण। बृहस्पतिं यः सुभृतम्। बिभर्त्ति वल्गूयति वन्दते पूर्वभाजम्। ८. स इत् क्षेति सुधितः ओकसि स्वे तस्मै इला पिन्वते विश्वदानीम्। तस्मै विशः स्वयम् एव नमन्ते यस्मिन् ब्रह्मा राजनि पूर्वः एति। ९. अप्रतीतो जयति सं धनानि प्रतिजन्यानि उत या सजन्या। अवस्यवे यो वरिवः कृणोति ब्रह्मणे राजा तम् अवन्ति देवाः।

"वह राजा शक्ति और वीरता मे सभी अनिष्टकारी शक्तियों को पराभूत करता है, जो बृहस्पति का प्रचुर रूप में पोषण करता है, जो उसकी प्रथम पूजा के योग्य देवता के रूप में प्रशंसा और प्रार्थना करता है। ८. वह अपने स्थान में समृद्धिशाली बना रहता है, पृथ्वी सदैव उसे वृद्धि[17] प्रदान करती है—मनुष्य स्वयं ही उस राजा को प्रणाम करते हैं, जिसके घर में 'ब्रह्मन्' पहले प्रवेश करता है।[18]

९. अद्वितीय होकर वह अपने शत्रुओं और स्वजनों की सम्पत्ति को जीत लेता है, देवता उस राजा की रक्षा करते हैं जो आश्रय चाहनेवाले ब्रह्मन् को धन प्रदान करता है।"[19]

४.५८, २. वयं नाम प्र ब्रवाम घृतस्य अस्मिन् यज्ञे धारयाम नमोभिः। उप ब्रह्मा शृणवत् शस्यमानं चतुःशृङ्गो अवमीद् गौरः एतत्।

---

[17] तुलना ऋ० वे० ५ ३७, ४ आदि 'न स राजा व्यथते यस्मिन्न् इन्द्रस् तीव्रम् सोमम् पिबति गो-सख्यायम्।' "उस राजा को कोई कष्ट नही होता जिसके घर मे इन्द्र दुग्धमिश्रित तीव्र सोम का पान करते है।"

[18] तुलना कीजिए ८ ६९, ४, १० ३९, ११, १० १०७, ५ तथा 'पुरोहित' शब्द जो 'आगे रखे हुए' व्यक्ति के रूप मे यज्ञ कराने वाले पुरोहित के लिये प्रयुक्त होता है। प्रोफेसर ऑफरेख्त अन्तिम शब्दो का अनुवाद करेगे "जिसके शासन मे पुरोहित प्रथम या प्रमुख अश प्राप्त करता है।"

[19] इस अश पर रॉथ का लेख देखिए "आन ब्रह्म एण्ड द ब्राह्मन्स" जर्नल जेर्म० ओ० सो० १ ७७ आदि। देखिए ऐत० ब्राह्मण ८ २६

"हम घृत के नाम का उच्चारण करें, इस यज्ञ में इसे हम नमन के साथ मन में धारण करें। ब्रह्मन् (अग्नि ?) इस गाई हुई प्रार्थना को सुनें। चार सींगोंवाले, प्रकाशपूर्ण वर्णवाले (देवता) ने इसे प्रचारित किया है।"

५. २९, ३. उत ब्रह्माणो मरुतो मे अस्य इन्द्रः सोमस्य सुषुतस्य पेयाः।

"और हे मरुतो ! हे ब्रह्मणो, ! इन्द्र हमारे इस सोम का पान करें जिसका सवन किया गया है।" इत्यादि।

५. ३१, ४ अवनम् ते रथम् अश्वाय तक्षण् त्वष्टा वज्रम् पुरुहूत द्युमन्तम्। ब्रह्माण इन्द्रम् महयन्तो अर्कैर् अवर्द्धयन्न् अहये हन्तवै उ।

"मनुष्यों ने तुम्हारे (इन्द्र के) घोड़े के लिए एक रथ बनाया है और हे अत्यन्त आहूत देवता, त्वष्टा ने तुम्हारे लिये तेजयुक्त वज्र बनाया है। इन्द्र की स्तुति करते हुए ब्रह्मणों ने उसे अहि के वध के निमित्त पुष्ट बनाया है।"

५. ३२, १२ : एवा हि त्वाम् ऋतुथा यातयन्तम् मघा विप्रेभ्यो ददत् शृणोमि। किं ते ब्रह्माणो गृहते सखायो ये त्वायाः निदधुः कामम् इन्द्र।

"मैं तुम्हारे विषय में सुनता हूँ कि तुम नियमपूर्वक समृद्धिशाली हो रहे हो और ऋषियों (विप्रेभ्यः) को धन प्रदान कर रहे हो। हे इन्द्र, तुम्हारे मित्र ब्रह्मन् क्या पाते हैं, जिन्होंने अपनी मनोकामना तुम्हारे ऊपर लगा रखी है ?"

५. ४०, ८ ग्राव्णो ब्रह्मा युयुजानः सपर्यन् कीरिणा देवान् नमसा उपशिक्षन्। अत्रि सूर्यस्य दिवि चक्षुर् आ अधात् स्वर्भानोर् अप माया अघुक्षत्।

(सोम पीसने के लिए) प्रस्तरखण्डों का प्रयोग करते हुए, यज्ञ करते हुए, स्तुति एवं प्रणाम द्वारा देवताओं की अर्चना करके ब्रह्मन् अत्रि ने सूर्य के नेत्र को आकाश में रखा और स्वर्भानु की अभिचारीय कला को दूर कर दिया।"

७. ७, ५ असादि वृतो वह्निर् आजगन्वान् अग्निर् ब्रह्मा नृषदने विधर्त्ता।

"(हवि का) प्रमुख वाहक ब्रह्मन् अग्नि, जो सबको धारण करने वाला है, आकर मनुष्यों के घरों में बैठा है।"

[20] क्या ऋभु अभिप्रेत हैं ?

७. ४२, १ प्र ब्रह्माणो अङ्गिरसो नक्षन्त ।

"ब्रह्मन्, अङ्गिरस् आये हुए हैं।" इत्यादि ।

८. ७, २० क्व नूनं सुदानवो मदथ वृक्त-बर्हिषः । ब्रह्मा को वः सपर्यति ।

"हे दानशील (मरुतों) जिनके नीचे बर्हि घास बिछाई गई है, तुम कहाँ आनन्द मना रहे हो ? कौन ब्रह्मन् तुम्हारी पूजा कर रहा है ?"

८. १७, २ आ त्वा ब्रह्म-युजा हरी वहताम् इन्द्र केशिना । उप ब्रह्माणि नः शृणु । ३. ब्रह्माणस् त्वा वयं युजा सोमपाम् इन्द्र सोमिनः । सुतावन्तो हवामहे ।

"हे इन्द्र, तुम्हारे हरितवर्ण के अश्व, जिनके केश लहरा रहे है और जो प्रार्थना द्वारा जोते गये है (ब्रह्म—युजा),[२१] तुम्हे यहाँ ले आते है, हमारी प्रार्थनाओं (ब्रह्माणि) को सुनो। ३ हम सोम अर्पित करनेवाले ब्रह्मन् हवि लेकर निरन्तर सोम पान करने वाले का आह्वान करते है।"

८. ३१, १ यो यजाति यजाते इत् सुनवच् च पचाति च । ब्रह्मा इद् इन्द्रस्य चाकनत् ।

"वह ब्रह्मन् इन्द्र को प्रिय होता है जो पूजा करता है, यज्ञ करता है, हवन करता है, और चरु पकाता है।"

८. ३२, १६ : न नूनम् ब्रह्मणाम् ऋणम् प्राशूनाम् अस्ति सुन्वताम् । न सोमो अप्रता पपे ।

"अब उन क्रियाशील ब्रह्मणों से कोई ऋण शेष नही है, जो सवन करते हैं। बिना प्रतिद्वन्द्वी के सोम का पान नहीं किया गया है।"

८. ३३, १९ अधः पश्यस्व मा उपरि सन्तरम् पादकौ हर । मा ते कशा-प्लकौ दृशन् स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ ।

"नीचे देखो, ऊपर मत देखो; अपने पैरों को एक साथ मिलाकर रखो, वे उन अगों को न देख सकें, जिन्हें आवृत्त रखना चाहिए, तुम ब्रह्मन् एक स्त्री बन गये हो।"

८. ४५, ३९. आ ते एता वचो-युजा हरी गृभ्णे सुमद्रथा । यद् ईम् ब्रह्मभ्यः इद् ददः ।

"मै तेरे इन हरितवर्ण के अश्वों को पकडता हूँ, जो हमारे द्वारा एक

---

[२१] तुलना कीजिए ८ ४५, ३९ नीचे ब्रह्म-युज् १. १७७, २, ३ ३५, ४, ८ १, २४, ८ २, २७ मे भी आता है।

सुन्दर रथ में जोते गये हैं (वचो-युजा), क्योंकि तुमने 'ब्रह्मन्' को धन प्रदान किया।

८. ५३, ७. क्व स्य वृषभो युवा तुवी-ग्रीवो अनानतः। ब्रह्मा कस् त सपर्यति।

"वह वीर युवक, लम्बी ग्रीवावाला, अजेय (इन्द्र) कहाँ है? कौन ब्रह्मन् उसकी सेवा करता है?"

८. ६६, ५ अभि गन्धर्वम् अतृणद् अबुध्नेषु रजस्सु आ। इन्द्रो ब्रह्मभ्यः इद् वृधे।

"इन्द्र ने गन्धर्वों को ब्रह्मनों की समृद्धि के लिए बिना तली वाले कुहरे में भगा दिया।

८. ८१, ३० मो सु ब्रह्मा इव तन्द्रयुर् भुवो वाजानाम् पते। मत्स्व सुतस्य गोमत.।

"हे धनों के स्वामी (इन्द्र) एक ब्रह्मन्[23] के समान तन्द्रायुक्त मत होओ। दुग्ध के साथ युक्त इस सवन से आनन्दित होओ।"

८. ८५, ५ आ यद् वज्रम् बाह्वोर् इन्द्र धत्से मद-च्युतम् अहये हन्तवै उ। प्र पर्वताः अनवन्त प्र ब्रह्माणो अभिनक्षन्त इन्द्रम्।

"हे इन्द्र, जब तुम अभिमान को चूर करनेवाला अपना अस्त्र, वज्र अहि के वध के लिए धारण करते हो तो (आकाशवर्ती) पर्वत और गौएँ शब्द करने लगती हैं और ब्रह्मन् तुम्हारे निकट आ जाते हैं।"

९. ९६, ६ ब्रह्मा देवनाम् पदवी कवीनाम् ऋषिर् विप्राणाम् महिषो मृगाणाम्। श्येनो गृध्राणा स्वधितिर् वनानां सोमः पवित्रम् अति एति रेभन्।

"सोम शब्द करता हुआ छलनी से निकलता है; वह देवताओं में ब्रह्मन् है, कवियों का नेता है, बुद्धिमानों में ऋषि है, अरण्य पशुओं में महिष है, गृध्रों में श्येन है, और वन में कुल्हाडी है।"

---

[22] तुलना कीजिए ८. ८७, ९ युञ्जन्ति हरी इषिरस्य गाथया उरौ रथे उरुयुगे। इन्द्र-वाहा वचोयुजा, १ ७, २ वचोयुजा, १ १४, ६ मनोयुजा, ६ ४९, ५, मनसा युजान रथो ' ।

[23] डॉ० हाग (ऐत० ब्रा० की भूमिका, पृ० २०) इस दृष्टिकोण के उदाहरणार्थ ऐत० ब्रा० ५ ३४ का निर्देश करते हैं। देखिए उनके अनुवाद का पृ० ३७६। इस मन्त्र में यह स्पष्ट लक्षित होता है कि पुरोहित की एक व्यावसायिक ईकाई थी।

६. ११२, १. नानानां वै उ नो धियो वि व्रतानि जनानाम्। तक्षा रिष्टं रुतम् भिषग् ब्रह्मा सुन्वन्तम् इच्छति।

"हम भिन्न प्रकार के मनुष्यों के विचार एवं प्रयत्न अनेक रूप वाले हैं। बढ़ई किसी टूटी हुई वस्तु को ढूँढता है, चिकित्सक किसी रोगी को ढूँढता है, और ब्रह्मन् किसी सवन करनेवाले को ढूँढता है।"

६. ११३, ६ यत्र ब्रह्मा पवमान छन्दस्यां वाचं वदन्। ग्राव्णा सोमे महीयते सोमेन आनन्दं जनयन्न् इन्द्राय इन्दो परि स्रव।

"हे पवित्र सोम! जिस स्थान पर छन्दमय सूक्त का गान करते हुए ब्रह्मन् सोमयज्ञ में सवन के प्रस्तरों के घर्षण (के शब्द) द्वारा महानता प्राप्त करता है, उस स्थान पर हे इन्दु (सोम) सोम के साथ आनन्द उत्पन्न करते हुए इन्द्र के लिए प्रवाहित होओ।"

१०. २८, ११: तेभ्यो गोधा अयथं कर्षद् एतद् ये ब्रह्मणः प्रतिपीयन्ति अन्नैः। सिमे उक्षणः अवसृष्टान् अदन्ति स्वयम् बलानि तन्वः शृणानाः। (इस मन्त्र में 'ब्रह्मणः' शब्द आता है, किन्तु मैं इसका कोई अनुवाद देने में असमर्थ हूँ कारण इसका अर्थ स्पष्ट नहीं है)।

१०. ७१, ११ (इस मन्त्र का अनुवाद नीचे देखिए, जहाँ सम्पूर्ण सूक्त दिया गया है)।

१०. ८५, २९ परा देहि शामूल्यम् ब्रह्मभ्यो वि भज वसु। . . . ३५. सूर्यायाः पश्य रूपाणि तानि ब्रह्मा तु शुन्धति।

"उसे दूर रखो जिसमें प्रायश्चित्त की आवश्यकता होती है (?) 'ब्रह्मन्' में धन बाँटो। . . ३५. सूर्या के रूपों का दर्शन करो। किन्तु ब्रह्मन् उनकी शुद्धि करता है।"

१०. १४१, ३ सोमं राजानम् अवसे अग्निं गीर्भिर् हवामहे। आदित्यान् विष्णुं सूर्यम् ब्रह्माणं च बृहस्पतिम्।

"सूक्तों द्वारा हम अपनी सहायता के लिए राजा सोम, अग्नि, आदित्यों, विष्णु, सूर्य तथा ब्रह्मन् बृहस्पति का आह्वान करते हैं।

---

[२४] यह मन्त्र भी यह स्पष्टतः सिद्ध करता है कि पौरोहित्य पहले से ही व्यवसाय बन चुका था। उसी सूक्त का मन्त्र ३ इस प्रकार है, 'मैं एक कवि हूँ मेरे पिता एक वैद्य हैं, मेरी मा अनाज पीसनेवाली है" (कारुर् अहं ततो भिषग् उपल-प्रक्षिणी नना)। दुर्भाग्यवश और कुछ नहीं कहा गया है जिससे सम्बन्धों पर प्रकाश पड सके जिसमें विभिन्न व्यवसाय एवं वर्ग परस्पर संबद्ध थे।

३. आगे आनेवाले उद्धरणों में ब्रह्मन् पुरोहितों के इस नाम के विशिष्ट वर्ग का अर्थ रखता है, जिसका होतृ, उद्गातृ और अध्वर्यु के साथ विपर्यास है।

२. १, २ (= १०. ६१, १०) तव अग्ने होत्रं तव पोत्रम् ऋत्वियं तव नेष्ट्रं त्वम् इद् अग्निद् ऋतायतः। तव प्रशास्त्रं त्वम् अध्वरीयसि ब्रह्मा च असि गृहपतिश् च नो दमे। ३. त्वम् अग्ने इन्द्रो वृषभः सताम् असि त्वं विष्णुर् उरुगायो नमस्यः। त्वम्-ब्रह्मा रयिविद् ब्रह्मणस्पते त्व विधर्त्त सचसे पुरन्ध्या।

"हे अग्नि, तुम्हीं होतृ का पद ग्रहण करते हो, पोतृ के नियमित कर्म भी तुम्हारे ही हैं, नेष्ट्र का पद तुम्हारा है, तुम्ही धार्मिक मनुष्यों के अग्निध हो, प्रशास्तृ के कर्म भी तुम्हारे हैं, तुम अध्वर्यु के रूप में कार्य करते हो, तुम ब्रह्मन् हो और हमारे घर में गृहपति हो। ३. हे अग्नि, तुम इन्द्र हो, पूतात्माओं मे प्रधान हो, तुम विस्तृत पद डालनेवाले और पूज्य विष्णु हो; हे ब्रह्मणस्पति! तुम ब्रह्मन् हो, धन के स्वामी हो। हे धारण करनेवाले, तुम यज्ञ से सबद्ध हो।"

४. ९, ३. स सद्म परि नीयते होता मन्द्रो दिविष्टिषु। उत पोता निषीदति। ४. उत ग्ना अग्निर् अध्वरे उत गृहपतिर् दमे। उत ब्रह्मा निषीदति।

"उस (अग्नि) को घर के चारों ओर ले जाया जाता है, वह यज्ञों में एक प्रसन्न रहनेवाला होता है, और पोतृ को बैठाता है। ४. और अग्नि यज्ञ मे एक पत्नी (अर्थात् गृह की स्वामिनी) होती है और हमारे गृहों में गृहपति होता है जो ब्रह्मन् को बैठाता है।"

१०. ५२, २ अहं होता नि असीदं यजीयान् विश्वे देवाः मरुतो मा जुनन्ति। अहर् अहर् अश्विना आध्वर्यवं वाम् ब्रह्मा समिद् भवति सा आहुतिर् वाम्।

(अग्नि कहता है) "मैं एक पूज्य होतृ बनकर बैठा हूँ, सभी देवता और मरुत मुझे शक्ति प्रदान करते हैं। हे अश्विनो, प्रतिदिन मैंने तुम्हारे अध्वर्यु के रूप में कार्य किया है; ब्रह्मन् वह है जो अग्नि प्रज्वलित करता है; यही तुम्हारी आहुति है।"

अब मैं उस अंश को पूर्णतः उद्धृत करूँगा जिसमें ब्रह्मण शब्द ऋग्वेद में

आया हुआ है, जिसका मौलिक अर्थ निःसन्देह ब्रह्मन् का पुत्र या वशज है।[२५] वे निम्नलिखित हैं :—

१. १६४, ४५ : चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर् ब्राह्मणाः ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता न इङ्गयन्ति तुरीयम् वाचो मनुष्याः वदन्ति।

"वाणी के अन्तर्गत चार नियत पद होते हैं। उसे वे ब्राह्मण जानते है जो विद्वान् हैं। वे उन तीन पदों को स्पष्ट नहीं करते जो गूढ होते हैं। चौथी प्रकार की वाणी मनुष्य बोलते है।"

इस अंश को निरुक्त १३. ९ में उद्धृत किया गया है, और इस पर टिप्पणी दी गई है।

६. ७५, १० ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः शिवे नो द्यावा-पृथिवी अनेहसा। पूषा नः पातु दुरिताद् ऋतावृधः. ।

सोमपान करनेवाले ब्राह्मण पिता, कल्याणकारी और पापरहित स्वर्ग और पृथ्वी तथा पूषन् हमारी जो धर्म से वृद्धि प्राप्त करते है, विपत्ति से रक्षा करें।"

७. १०३, १ (= निरुक्त ६, ६) संवत्सर शशयाना ब्राह्मणाः व्रत-चारिणः। वाचम् पर्जन्य-जिन्विताम् प्र मण्डूकाः अवादिपुः . । ७. ब्राह्मणासो अतिरात्रे न सोमे सरो न पूर्णम् अभितो वदन्तः। संवत्सरस्य तद् अहः परि ष्ठ यद् मण्डूकाः प्रावृषीणम् बभूव। ८. ब्राह्मणासः सोमिनो वाचम् अक्रत ब्रह्म कृण्वन्तः परिवत्सरीणम्। अध्वर्यवो घर्मिणः सिष्विदानाः आविर् भवन्ति गुह्या न के चित्।

---

[२५] दो और अश है, जिनमे ब्राह्मण शब्द पाया जाता है, वेद १ १५, ५ और २ ३६, ५ जिस पर नीचे की उक्ति देखिए। 'ब्रह्मपुत्र' (तुलना अश्व० श्रौ० सू० २ १८, १३) "ब्रह्मन् का पुत्र" शब्द २ ४३, २ मे पाया जाता है 'उद्गाता इव शकुने साम गायसि ब्रह्म-पुत्र- इव सवनेसु शंससि।' "हे पक्षी, तुम उद्गातृ के समान साम का गान करते हो, तुम सवन के समय ब्रह्मन् के पुत्र के समान स्तुतियो का गान करते हो" (इण्ड० स्टू० ९. ३४२ आदि) परवर्ती सस्कृत मे ब्राह्मन् के पर्यायवाची रूप मे प्रयुक्त विप्र शब्द का ऋग्वेद मे "बुद्धिमान्" "मुनि" का अर्थ निघण्टु ३ १५ (= मेधावि-नाम) तथा निरु० १०, १९ = मेधाविन. किया गया है। प्राय इसका प्रयोग देवताओ के विशेषण रूप मे किया गया है।

"एक वर्ष तक शान्त रहने के उपरान्त इन कर्म पूर्ण करनेवाले ब्राह्मण[26] मण्डूकों ने (अपने) शब्द का उच्चारण किया है... ७ अतिरात्र यज्ञ में ब्राह्मणों के समान, उन ब्राह्मणों के समान जो भरे हुए पात्र (या सोम-पात्र[27]) के चारों ओर बोलते हैं तुम मण्डूकों ने (सरोवर को) इस दिन चारों ओर से घेर लिया है जो ग्रीष्म की वर्षा का दिन है। ८. इन सोम का सवन करने वाले ब्राह्मणों (मण्डूकों) ने अपनी सांवत्सरिक पूजा (ब्रह्म) करते हुए अपनी ध्वनि का उच्चारण किया है, ये अपने पकाये गये चरु के साथ घर्म से युक्त (या ग्रीष्म ऋतु में) अध्वर्युगण अपने गुप्त स्थानों से छिपे हुए व्यक्तियों के समान बाहर निकल रहे हैं।"

१०. १६, ६ यत् ते कृष्णः शकुनः आतुतोद पिपीलः सर्पः उत वा श्वापदः। अग्निस् तद् विश्वाद् अगदं कृणोतु सोमश् च यो ब्राह्मणान् आविवेश।

"तुम्हारे जिस किसी भी अंश को किसी कृष्ण वर्ण के पक्षी ने चींटी, सर्प,

---

[26] निघन्टु ३ १३ मे 'ब्राह्मणा' व्रत-चारिणः' शब्दो का उपमा का अर्थ बताया गया है यद्यपि इनमे उपमावाचक शब्द नहीं है। अपने 'इलस्ट्रेशन्स आफ द निरुक्त' पृ० १२६ पर रॉथ इस अंश के विषय मे कहते हैं ऋग्वेद के प्रथम नौ मण्डलो मे यह एकमात्र ऐसा स्थल है, जिसमे ब्राह्मण शब्द परवर्ती अर्थ मे पाया जाता है, जबकि दसवे मण्डल मे कई उदाहरण हैं। यह इसका एक प्रमाण है कि इस मण्डल के अनेक सूक्तो की रचना (ऋग्वेद के शेष भागो से) बाद के समय मे हुई है। १ १५, ५, ३. ३६, ५, तथा ६ ७५, १० मे ब्राह्मण शब्द का दूसरा अर्थ है (इनमे प्रथम मन्त्र मे रॉथ इस शब्द का अर्थ ब्राह्मण का सोम-पात्र करते हैं)। देखिए उनके लेक्सिकन मे यह शब्द, यह प्रतीत नहीं होता कि ६ ७५, १० मे वे इस शब्द का क्या अर्थ करते। इस अंश मे ऋग्वेद १. १६४, ४५ को वे भूल गये हैं जो उनके लेक्सिकन मे उद्धृत है। इस सूक्त का विलसन का अनुवाद देखिए, और मुलर का अनुवाद भी ऐ० स० लिट० पृ० ४९४ आदि मे देखिए।

[27] सरस्, देखिए ऋग्वेद ८ ६६, ४ जो निरुक्त ५ ११ में उद्धृत है। इस स्थल पर यास्क का कथन है "याज्ञिको के अनुसार माध्यदिन सवन मे तीस उक्थ कपाल एक देवता के लिये होते है, जो एक घूँट मे पिए जाते हैं। इन्हें यहाँ 'सरस्' कहा गया है (तुलना इस पर रॉथ का इल्लस्ट्रेशन्स। देखिए ऋग्वेद ६ १७, ११ तथा ८ ७, १० तथा तीनो अंशो पर सायण की व्याख्या।

या अरण्यचारी पशु ने काट लिया है उन सबको अग्नि और ब्राह्मणों में प्रविष्ट सोम स्वस्थ करें।"[२८]

१०. ७१, १[२९] बृहस्पते प्रथमम् वाचो अग्रं यत् प्रैरत नामधेयं दधानाः। यद् एषां श्रेष्ठं यद् अरिप्रम् आसीत् प्रेणा तद् एषां निहितं गुहा आविः। २. (= निरुक्त ४. १०) सक्तुम् इव तितउना पुनन्तो यत्र धीराः मनसा वाचम् अक्रत। अत्र सखायः सख्यानि जानते भद्रा एषां लक्ष्मीर् निहिता अधि वाचि। ३. यज्ञेन वाचः पदवीयम् आयन् ताम् अन्व् अविन्दन्न् ऋषिषु प्रविष्टाम्। ताम् आभृत्या वि अदधुः पुरुत्रा तां सप्त रेभाः अभि सं नवन्ते। ४. (= निरु० १. १६) उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचम् उत त्वः शृण्वन् न शृणोति एनाम्। उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जाया इव पत्ये उशती सुवासाः। ५. (= निरु० १. २०) उत त्वं सख्ये स्थिरपीतम् आहुर् न एनं हिन्वन्त्य् अपि वाजिनेषु। अधेन्वा चरति मायया एष वाचम् शुश्रुवान् अफलाम् अपुष्पाम्। ६. यस् तित्याज सचि-विदं सखायं न तस्य वाचि अपि भागो। अस्ति। यद् ईं शृणोति अलकं शृणोति न हि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्। ७. अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेषु असमाः बभूवुः। आदघ्नासः उपकक्षासः उ त्वे ह्रदाः इव स्नात्वाः उ त्वे ददृश्रे। ८. (=निरु० १३. १३) हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद् ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः। अत्र अह त्वं वि जहुर् वेद्याभिर् ओहब्रह्माणो वि चरन्ति उ त्वे। ६. इमे ये न अर्वाङ् न परश् चरन्ति न ब्राह्मणासो न सुते-करासः। ते एते वाचम् अभिपद्य पापया सिरीस् तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः। १० सर्वे नन्दन्ति यशसा आगतेन सभा-सहेन सख्या सखायः। किल्विष-स्पृत् पितु-षणिर् हि एषाम् अरं हितो भवति वाजिनाय। ११. (= निरु० १. ८) ऋचाम् त्वः पोषम् आस्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु। ब्रह्मा त्वो वदति जात-विद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीते उ त्वः।

---

[२८] तुलना अ० वे० ७ ११५, १ आदि, १२ ५, ६

[२९] मैं यह नही कह सकता कि इस अत्यन्त कठिन सूक्त के अनुवाद के कुछ अशो से मैं सन्तुष्ट हूँ, किन्तु जैसा भी है वैसा मैं इसे प्रस्तुत करता हूँ कारण वैदिक काव्यो की व्याख्या वहुत कुछ सन्दिग्ध रहती है। मन्त्र ४ और ५ की व्याख्या सायण ने अपनी भूमिका मे की है, मूलर के सस्करण का पृ० ३०। यहाँ और अन्य स्थलो पर मैं प्रोफेसर आफरेख्त का उनके सुझावो के लिये ऋणी हूँ।

"हे बृहस्पति ! जब मनुष्यों ने (वस्तुओं का) नाम रखकर सर्वप्रथम वाणी का उच्चारण किया तो उनके भीतर जो कुछ निधि उत्तम एवं पवित्र थी वह प्रेम द्वारा प्रकट हुई। २. जहाँ कहीं बुद्धिमानों ने छलनी से सत्तु छानने के समान—बुद्धिमत्ता के साथ वाणी का उच्चारण किया है वहाँ मित्र मित्रता के कर्म देखते हैं; उनकी वाणी सौभाग्य से युक्त होती है।[30] ३. यज्ञ द्वारा वे वाणी के मार्ग पर आये और उसे ऋषियों में प्रविष्ट पाया। उसे लेकर उन्होंने अनेक भागों में बाँट दिया,[31] सात कवियों ने गान द्वारा उसकी स्तुति की। ४. एक व्यक्ति देखता हुआ भी वाणी को नहीं देखता; दूसरा व्यक्ति सुनता हुआ भी उसे नहीं सुनता;[32] जबकि तीसरे के सम्मुख वह अपना रूप उसी प्रकार प्रकट करती है जिस प्रकार एक प्रिय और

---

[30] इस सूक्त से कुछ मिलता जुलता दूसरे सूक्त अ० वे० ६. १०८ को उद्धृत करता हूँ जो बुद्धि या प्रतिभा की प्राप्ति के लिये प्रार्थना है। १ त्व नो मेधे प्रथमा गोभिर् अश्वेभिर् आ गहि। त्व नूर्यस्य रश्मिभिस् त्वं नो असि यज्ञिया। २ मेधाम् अहम् प्रथमाम् ब्रह्मण्वतीम् ब्रह्म-जूताम् ऋषिष्टुताम्। प्रपीताम् ब्रह्मचारिभिर् देवानाम् अवसे हुवे। ३ याम् मेधाम् ऋभवो विदुर् याम् मेधाम् असुरा. विदुः। ऋषयो भद्राम् मेधा या विदुस् ताम् मय्य् आ वेशयामसि। ४ याम् ऋषयो भूत-कृतो मेधाम् मेधाविनो विदु। तया माम् अद्य मेधया अग्ने मेधाविन कृणु। ५. मेधा सायम् मेधाम् प्रातर् मेधाम् मध्यन्दिनम् परि। मेधा सूर्यस्य रश्मिभिर् वचसाऽऽवेशयामहे। १ "हे प्रथम बुद्धि ! तुम मेरे पास गायो" आर अश्वो के साथ आओ, (तुम) सूर्य की किरणो के साथ आओ, तुम हमारे लिये पूज्य हो। २ देवताओ की कृपा प्राप्त करने के लिये मैं सर्वप्रथम मेधा का आह्वान करता हूँ जो प्रार्थनाओ से प्रेरित है, ऋषियो से प्रशसित है, जिसे ब्रह्मचारी धारण करते है। ३ हम वह मेधा धारण करते है जिसे ऋभु जानते है, जिसे दैवी व्यक्ति (असुरा) जानते हैं, जिस श्रेष्ठ मेधा को ऋषि जानते है। ४ हे अग्नि ! मुझे आज उस मेधा के साथ विद्वान् बनाओ—जिसे बुद्धिमान ऋषि—जीवित वस्तुओ के जानते हैं। ५ हम साय मेधा का प्रवेश करते हैं, प्रात. और मध्याह्न मे मेधा का प्रवेश करते हैं—हम सूर्य की किरणो एवं वाणी के साथ (वचसा) मेधा का प्रवेश करते है।" ऋषयो भूतकृत के विषय मे ऊपर पृ० ४३ पर टिप्पणी देखिए।

[31] तुलना १० १२५, ३, १ १६४, ४५; (१०. ९०, ११) तथा अ० वे० १२ १, ४५।

[32] तुलना 'इसिआह' (Isaiah) ६ ९, १०, तथा सेट मैथ्यू १३. १४. १५।

सुन्दर वस्त्र धारण करनेवाली पत्नी अपने पति के समक्ष अपने रूप को अनावृत्त करती है। ५. लोग कहते हैं कि एक व्यक्ति का (उसकी)[33] मित्रता का स्थिर संबन्ध होता है; वह (विवाद) के संघर्षों में पराभूत नहीं होता। किन्तु जिस व्यक्ति ने विना फल या पुष्प वाली वाणी का श्रवण कर लिया है वह भ्रम में भटकता रहता है। ६. जो व्यक्ति मित्रता की प्रशंसा करने वाले मित्र का परित्याग करता है उसे वाणी में कोई अंश नहीं प्राप्त होता। जो कुछ भी वह सुनता है वह सब व्यर्थ सुनता है, क्योंकि वह धर्म के मार्ग को नहीं जानता। ७. नेत्रों और श्रोत्रों दोनों से युक्त मित्र मानसिक प्रयत्न में अद्वितीय सिद्ध होते हैं। कुछ के बाहुकक्ष तक जल भरा हुआ लगता है जबकि दूसरे ऐसे सरोवरों के समान देखे जाते हैं जिनमें स्नान किया जा सकता है। ८. जब मित्र होने वाले ब्राह्मण मन से उत्पन्न मस्तिष्क के कर्म में एक साथ प्रयत्न करते हैं (?)[34] तो वे अपनी उपलब्धियों द्वारा एक पुरुष को पीछे छोड़ जाते हैं जब कि दूसरे 'ब्रह्मन्' होने का गर्व करते हुए विचरण करते हैं (प्रोफेसर आफरेख्त ने 'ओहब्रह्माणः' का यही अर्थ सुझाया है। प्रोफेसर रॉथ इस शीर्षक के अन्तर्गत इसका अर्थ "वास्तविक ऋत्विज्" लगाते है।" निरुक्त १३. १३ के रचयिता ने इसका अर्थ "तर्क करने वाला पुरोहित" या "वे जिनमें तर्क शास्त्र माना जाता है" लगाया है)। जो मनुष्य न निकट रहते हैं और न दूर रहते हैं; जो न तो (ध्यानलीन) ब्राह्मण है और न सवन में यज्ञ कराने वाले हैं—वे वाणी को प्राप्त कर अपना जाल अपूर्ण रूप से बनाते हैं, जिस प्रकार कौशलहीन बुननेवाली स्त्री।[35] १०. सभी मित्र एक प्रख्यात मित्र के आगमन पर प्रसन्न होते हैं जो सभा का स्वामी होता है; क्योंकि इस प्रकार का मित्र विपत्ति को दूर कर, सबकी पुष्टि करते हुए (विवाद में) सघर्ष के लिये उद्यत रहता है। ११. एक व्यक्ति ऋचाओं का ज्ञान रखता है (ऋचाम्), दूसरा शक्करियों के गान के समय सूक्त का उच्चारण करता है (गायत्र), एक जो ब्रह्मन् होता है वह जातविद्या का प्रवचन करता है, जबकि दूसरा यज्ञ की मात्रा का निर्धारण करता है।"[36]

---

[33] वाक्—सख्ये—यास्क।

[34] तुलना १ १७१, २, २ ३५ २, ६ १६, ४७।

[35] प्रोफेसर आफरेख्त के मतानुसार यही अर्थ सभवतः 'सिरीस' शब्द का हो सकता हे, जो केवल एक बार यही आता है।

[36] यास्क (निरु० १ ८) के अनुसार ये चार व्यक्ति क्रमश होतृ, उद्गातृ, ब्रह्मन् और अध्वर्यु ऋत्विज् हैं। उनका कथन है कि ब्रह्मन् को सभी शास्त्रो का

ऋ० वे० १०. ८८, १९ (= निरु० ७. ३१) यावन्-मात्रम् उषसो न प्रतीकं सुपर्ण्यो वसते मातरिश्व । तावद् दधाति उप यज्ञम् आयन् ब्राह्मणो होतुर् अवरो निषीदन् ।

"जब तक शुभ्र पंखवाली उषाएँ स्वयं को ज्योति से सजाती नहीं हैं तब तक, हे मातरिश्वन् ! यज्ञ को आनेवाला ब्राह्मन् होतृ-ऋत्विज् के नीचे बैठकर अग्नि को प्रज्वलित रखता है।"

(इस मन्त्र का अनुवाद प्रोफेसर रॉथ के इलस्ट्रेशन्स आफ द निरुक्त, पृ० ११३ में देखिए)।

१०. ९०, ११ = (अ० वे० १९, ५, ६, वाज० स० ३१) देखिए ऊपर पृ० १०-१८.

१०. ९७, २२ ओषधयः सवदन्ते सोमेन सह राज्ञा । यस्मै कृणोति ब्राह्मणस् तं राजन् पारयामसि ।

"ओषधियाँ राजा सोम के साथ संलाप करती हैं[३७] (और कहती हैं कि) हे राजा जिस व्यक्ति के लिए ब्राह्मन् कर्म करता है (कृणोति—यज्ञ कराता है) उसे हम मुक्त करती हैं।"

१०. १०९, १ तेऽवदन् प्रथमाः ब्रह्म-किल्बिषे अकूपारः सलिलो मातरिश्वा । वीळुहरास् तप उग्रो मयोभूर आपो देवीर् प्रथमजा• ऋतेन । सोम राजा प्रथमो ब्रह्म-जायाम् पुनः प्रायच्छद् अहृणीयमानः अन्वर्तिता वरुणो मित्रः आसीद् अग्निर् होता हस्तगृह्य निनाय । ३. हस्तेन एव ग्राह्यः आधिर् अस्या. "ब्रह्म-जाया इयम्" इति च इद् अवोचन् न दूताय प्रह्ये तस्थे एषा तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य ४. देवाः एतस्याम् अवदन्त पूर्वे सप्त ऋषयस् तपसे• ये निषेदुः । भीमा जाया ब्राह्मणस्य उपनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन् । ५. ब्रह्मचारी चरति वेविषद् विषः स देवानाम् भवति एकम् अङ्गम् । तेन जायाम् अन्व् अविन्दद् बृहस्पतिः सोमेन नीतां जुह्वं न देवाः । ६. पुनर् वै देवाः अददुः पुनर् मनुष्याः उत । राजानः सत्यं कृण्वानाः ब्रह्म-जायाम् पुनर्

ज्ञान प्राप्त कर सर्वज्ञ होना चाहिए, वह अवसर आने पर (जाते जाते) अपनी विद्या का उच्चारण करता है । इस मन्त्र पर डॉ० हॉग की उक्ति देखिए ऐत० ब्रा० भूमिका पृ० २० ।

[३७] तुलना कीजिए 'ओषधीः सोम-राज्ञी.', 'वे वनस्पतियाँ जिनके स्वामी राजा सोम हैं', जो इस सूक्त के मन्त्र १८ और १९ में आया है ।

ददुः । ७. पुनर्दाय ब्रह्मजायां कृत्वी देवैर् निकिल्बिषम् । ऊर्जम् पृथिव्याः भक्त्वाय उरुगायम् उपासते ।

असीम, सलिल, मातरिश्वन् (वायु) उग्र दाह वाले, तीव्र जलने वाले, कृपा करने वाले (अग्नि) अपार्थिव एव आद्य जल तथा धर्म से प्रथम उत्पन्न होने वाले इन (देवताओं) ने ब्रह्मन् के प्रति द्रोह का विरोध किया । २. ईर्ष्यारहित राजा सोम ने[३८] सर्वप्रथम ब्रह्मन् की पत्नी को लौटाया । वरुण और मित्र आमन्त्रित करने वाले थे; आह्वान करने वाला अग्नि उसका हाथ पकड कर ले आया । ३. जब वह ले आई गई तो उसे हाथ पकड़कर स्वीकार किया गया और तब उन्होंने उच्च स्वर से घोषणा की 'यह ब्रह्मन् की पत्नी है;' उसे पहुँचाने के लिए किसी दूत को नहीं सौंपा गया—इस कारण ही शासक (या क्षत्रिय) का राज्य उसके लिये सुरक्षित रहता है ।[३९] वे प्राचीन देवता ऋषिगण जो तपस्या करने के लिए बैठे, उसके विषय में इस प्रकार बोले 'निकट जाने पर ब्रह्मन् की स्त्री भयंकर हो जाती है, वह परम आकाश में[४०] संघर्ष का बीज बोती है ।[४१] ५. ब्रह्मचारी (धर्मशास्त्र का अध्येता) निरन्तर तपस्याएँ करता है । वह देवताओं में एक हो जाता है ।[४२] उसके द्वारा बृहस्पति ने अपनी पत्नी प्राप्त की, जैसे देवताओं ने सोम द्वारा लाये गये जुह्व को प्राप्त किया । ६. उसे देवताओं ने लौटाया और मनुष्यों ने उसे

[३८] तुलना ऋ० वे० १० ८५, ३९ आदि (=अ० वे० १४. २, २ आदि) 'पुन' पत्नीम् अग्निर् अदाद् आयुषा सह वर्चसा। दीर्घायुर् अस्याः यः पतिर् जीवाति शरदः शतम् । ४० सोमा प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविदे उत्तरः (अ० वे० सोमस्य जाया प्रथमं गन्धर्वस् तेऽपर पतिः) । तृतीयो अग्निष् टे पतिस् तुरीयस् ते मनुष्यजा '। सोमो ददद् गन्धर्वाय गन्धर्वो ददद् अग्नये । रयिं च पुत्राश् चादाद् अग्निर् मध्यम् अथो इमाम् ।' "अग्नि ने पत्नी को जीवन और तेज के साथ लौटाया, उसका पति सौ वर्ष की आयु तक जीवित रहे । सोम तेरा प्रथम पति था, गन्धर्व दूसरा और अग्नि तीसरा, तुम्हारा चौथा पति मनुष्य है । सोम ने गन्धर्व को दिया, गन्धर्व ने तुझे अग्नि को दिया, अग्नि ने मुझे धन और पुत्र दिया, और तब इस स्त्री को प्रदान किया ।" इस अश मे आये हुए विचार का सभंवत इस मन्त्र (१० १०९, २) से सम्बन्ध हो सकता है ।

[३९] इस मत्र की व्याख्या के लिए मैं प्रो० आफरेख्त का ऋणी हूँ ।

[४०] देखिए ऋ० वे० १ १६४, ३४, ३५, ऊपर ।

[४१] जर्नल आफ द रायल एशियाटिक सोसाइटी १८६५ पृ० ३७४ आदि मे 'प्रोग्रेस आफ द वेदिक रिलिजन' पर मेरा लेख देखिए ।

[४२] देखिए अ० वे० १० ७, १ आदि, ९, २६ ।

लौटाया, राजाओं ने धर्म का आचरण करते हुए ब्रह्मन् की पत्नी को लौटाया। ७. ब्रह्मन् की पत्नी को लौटाकर अपने को देवताओं के विपरीत पाप से मुक्त करके, (ये राजा) प्रचुर पृथ्वी का उपभोग करते हैं और निर्बाध विचरण करते हैं।"

इस सूक्त की आवृत्ति दस और अधिक मन्त्रों के साथ, जिन्हें मैं अगले खण्ड में उद्धृत करूँगा, अथर्ववेद में की गई है।

मैं यहाँ संक्षेप में अभी प्रस्तुत किये गये उद्धरणों के अनुशीलन से प्राप्त हुए विवरणों को तथा ऋग्वेद के प्राचीनतम सूक्तों के रचनकाल में वैदिक कवियों और पुरोहितों के भारतीय समाज के अन्य वर्गों के सबन्ध के विषय में इनके द्वारा प्रमाणित निष्कर्षों का विवेचन करूँगा।

प्रथम : पुरुषसूक्त (जिसका ऊपर पृ० ११ आदि पर अनुवाद किया गया है) के अतिरिक्त सूक्तों में चार वर्णों की मान्य व्यवस्था का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है।

दूसरे : एक अंश में (३. ३४, ९. देखिए पृ० २००) जिसमें आर्य "वर्ण" या "जाति" का वर्णन किया गया है, भारतीय समाज के सभी उच्च-वर्गों को एक नाम से अभिहित किया है, क्योंकि क्षत्रियों, वैश्यों तथा ब्राह्मणों को परवर्ती समय में सदैव आर्य समझा जाता था (देखिए ऊपर, पृ० २००)।

तीसरे : ऋग्वेद में 'ब्राह्मण' शब्द पुरुषसूक्त को छोड़कर केवल आठ सूक्तों में आता है जबकि ब्रह्मन् छियालीस सूक्तों में आता है। अतएव सूक्तों के बृहत भाग की रचना के समय इन दोनों शब्दों में प्रथम शब्द सामान्य प्रयोग में नहीं रहा होगा। राजन्य पद केवल पुरुषसूक्त में पाया जाता है; और राजपरिवार के व्यक्ति या सभ्य जन के अर्थ में 'क्षत्रिय' शब्द कुछ थोड़े से स्थलों पर आया है, जैसे १०. १०९, ३।[४३] वैश्य और शूद्र पद केवल पुरुष सूक्त में पाये जाते हैं यद्यपि 'विश्' शब्द, जिससे 'वैश्य' शब्द बना है, 'जन' के अर्थ में प्रायः आता है (देखिए ऊपर पृ० १७)।

चौथे : जैसा कि हम देख चुके हैं 'ब्रह्मन्' शब्द का अर्थ सर्वप्रथम "ऋषि" "कवि" का, और बाद में "यज्ञ कराने वाले ऋत्विज्" का, तथा अन्त में "विशेष प्रकार के ऋत्विज" रहा प्रतीत होता है।

---

[४३] इस अंश को ऊपर उद्धृत किया गया है। ८ १०४, १३ में क्षत्रिय कदाचित् नपुंसकलिंग शब्द है. न वै उ सोमो वृजिनम् हिनोति न क्षत्रियम् मिथुया धारयन्तम्। "सोम पापि को समृद्धिशाली नहीं बनाता और न उस व्यक्ति की वृद्धि करता है जो छलपूर्वक राजशक्ति धारण करता है।"

पाँचवे : उद्धृत किये गये कुछ अंशों (विशेषतः १. १०८, ७; ४. ५०, ८ आदि; ८. ७, २०; ८. ४५, ३९; ८. ५३, ७, ८. ८१, ३०; ९. ११२, १; १०. ८५, २९) में 'ब्रह्मन्' पुरोहित का व्यवसाय करने वाले पुरुष का वाचक प्रतीत होता है।

छठवें : अन्य स्थलों पर यह शब्द व्यक्तिविशेष के लक्षण का बोधक प्रतीत होता है और ऐसे व्यक्ति का अर्थ देता है जो असाधारण मेधा या गुणों से संपन्न हो (१०. १०७, ६) अथवा विशिष्ट दैवी कृपा से प्रेरणा का उपहार प्राप्त करने का अधिकारी बनाया गया हो (१०. १२५, ५)।

सातवें : ब्राह्मण ब्रह्म-पुत्र या ब्रह्मन् के पुत्र का पर्यायवाची प्रतीत होता है (जो, जैसा कि हम देख चुके है २. ४३, २ में आया है) और इस प्रकार के शब्द का प्रयोग अनिवार्यतः इस बात की पूर्वकल्पना करता है कि जिस समय इसका व्यवहार आरम्भ हुआ उस समय तक ब्रह्मन् का कर्म पैरोहित्य व्यवसाय बन चुका था।

ऋग्वेद संहिता में ऐसे अनेक अंश हैं जिनमें विभिन्न राजाओं द्वारा सूक्तों के रचयिताओं को दी गई बडी दक्षिणा का उल्लेख किया गया है और दान के इन कर्मों की स्तुति की गई है।

इन अंशों में ऋग्वेद १. १२५, १. १२६; ५. २७; ५. ३०, १२ आदि; ५. ६१, १०, ६. २७, ८; ६. ४५, ३१ आदि; ६. ४७, २२ आदि को प्रोफेसर विलसन के अनुवाद में देखा जा सकता है और ऋग्वेद १०. १०७ का एक रूपान्तर,जो दान की सामान्य स्तुति है। "मिस्सेलेनिअस हिम्स फ्राम द ऋग्— एण्ड अथर्ववेदाज्" शीर्षक लेख में पाया जा सकता है जो जर्नल आफ द रायल एशियाटिक सोसाइटी, १८६६ पृ० ३२ आदि में प्रकाशित हुआ है। निम्न-लिखित अन्य अंश जो विभिन्न राजाओं द्वारा ऋषियों को दिये गये उपहारों का वर्णन करते हैं, ७. १८, २२ आदि, ८. ३. २१ आदि; ८. ४, १९ आदि; ८. ५, ३७ आदि, ८. ६, ४६ आदि, ८. १९, ३६ और आगे; ८. २१, १७ और आगे, ८. २४, २९ और आगे, ८. ४६, २१ आदि; ८. ५४, १० आदि, ८. ५७, १४ आदि, १०. ३३, ४ आदि; १०. ६२, ६ आदि; १०. ९३, १४ आदि, का अनुवाद "आन द रिलेशन्स आफ द प्रीस्ट्स टु दि अदर क्लासेज् आफ इण्डियन सोसाइटी इन द वेदिक एज" शीर्षक लेख में दिया गया है, जो उसी जर्नल के १८६६ के अंक के पृ० २७२ आदि पर प्रकाशित हुआ है,जिसका निर्देश मैं यहाँ करता हूँ।

दूसरी ओर, ऋग्वेद के सूक्तों में ऐसे व्यक्तियों के अनेक उल्लेख हैं जो यदि ऋषियों द्वारा प्रतिपादित एवं आचरित पूजनपद्धति के विरोधी नहीं तो

उसके प्रति उदासीन अवश्य थे, और देवताओं के प्रति उनके उपहार और पुरोहितों को दिये गये दान के प्रति अनुदार है। जिस लेख का मैंने अभी निर्देश किया है उसमें (पृ० २८६ आदि) ऐसे अंशों की एक लम्बी सूची है, जिससे मैं निम्नलिखित अंशों को उद्धृत करता हूँ :—

१. ८४, ७. यः एकः इद् विद्यते वसु मर्त्ताय दाशुषे। ईशानो अप्रतिष्कतः इन्द्रो अङ्ग। ८. कदा मर्त्यम् अराधसम् पदा क्षुम्पम् इव स्फुरत्। कदा नः शुश्रुवद् गिरः इन्द्रो अङ्ग।

"इन्द्र जो अकेले यज्ञ करने वाले मनुष्यों को धन प्रदान करता है, स्वामी और अजेय है। ८. कब इन्द्र कृपण व्यक्ति को अपने पैरों से लघुवृक्ष के समान कुचल डालेगा? वह हमारे सूक्तों को कब सुनेगा?

१. १०१, ४ वीळोश् चिद् इन्द्रो यो असुन्वतो वधः··· ।

"इन्द्र, जो उसका वध करने वाला है जो सेवन नहीं करता, चाहे वह कितना भी शक्तिशाली क्यों न हो।"

१, १२२, ९. जनो यो मित्रा वरुणाव् अभिध्रुग् ओप न वां सुनोति अक्ष्णयाध्रुक्। स्वयं स यक्ष्मं हृदये नि धत्ते आप यद् ईं होत्राभिर् ऋतावा।

"हे मित्र और वरुण जो द्रोही व्यक्ति और दुष्ट शत्रु तुम्हारे लिए सवन नहीं करता वह अपने ही हृदय में ज्वर का रोपण करता है जबकि धार्मिक पुरुष ने अपने होत्रों से (तुम्हारी कृपा) प्राप्त कर ली है।"

१. १२५, ७, मा पृणन्तो दुरितम् एनः आ अरन् मा जारिषुः सूर्यः सुव्रतासः। अन्यस् तेषाम् परिधिर् अस्तु कश् चिद् अपृणन्तम् अभि सं यन्तु शोकाः।

"दानशील व्यक्ति को दुःख या विपत्ति न आवे; श्रद्धालु ऋषि का नाश न होवे, उनका जीवन कुछ और अधिक होवे, अनुदान (अपृणन्तम्) व्यक्ति शोक प्राप्त करे।

१. १८२, ३ किम् अत्र दस्रा कृणुथः किम् आसाथे जनो यः, कश्चिद् अहविर् महीयते। अति क्रमिष्टम् जुरतम् पणेर् असुम् ज्योतिर् विप्राय कृणुतं वचस्यवे।

"हे शक्तिशाली (अश्विनों) तुम यहाँ क्या करते हो? तुम ऐसे व्यक्ति के घर में क्यों बैठते हो, जो हवि नहीं प्रदान करता और फिर भी आहृत होता है? कृपण व्यक्ति के प्राण पर आघात करो, उसे नष्ट करो और उस ऋषि के लिए ज्योति की रचना करो, जो तुम्हारी स्तुति करने की इच्छा करता है।"

२. २३, ४ सुनीतिभिर् नयसि त्रायसे जनं यस् तुभ्यं दाशद् न तम् अंहो अश्नवत्। ब्रह्म-द्विषस् तपनो मन्युमीर् असि बृहस्पते महि तत् ते महित्वनम्।

"अपने बुद्धिमत्तापूर्ण नेतृत्व से तुम उस व्यक्ति का नेतृत्व करते हो और रक्षा करते हो, जो तुम्हारी पूजा करता है, उसे कोई विपत्ति आघात नहीं पहुँचा सकती। तुम उस व्यक्ति को बाधा पहुँचाते हो जो भक्ति से द्वेष रखता है (ब्रह्म-द्विषः), और हे बृहस्पति! तुम्हारा गौरव उसके क्रोध को शान्त करने वाला है।"

४. २५, ६......न असुष्वेर् आपिर् न सखा न जामिर् दुष्प्राव्यो अवहन्ता इद् अवाचः। ७. न रेवता पणिना सख्यम् इन्द्रो असुन्वता सुतपाः सं गृणीते। आ अस्य वेदः खिदति हन्ति नग्नं वि सुष्वये पक्तये केवलोऽभूत्।

"इन्द्र उस व्यक्ति का सम्बन्धी, मित्र, या स्वजन नहीं है जो सवन नहीं करता; वह नीच विधर्मी का नाश करने वाला है। ७. सोमपान करने वाला इन्द्र धनवान कृपण के साथ मित्रता नहीं रखता जो सोम का सवन नहीं करता; किन्तु उसके धन को लूटता है; और उसे नग्न करके उसका वध करता है, जब कि वह उस व्यक्ति का एक मात्र स्वामी होता है, जो सोम का सवन करता है और चरु का पाक करता है।"

६. ४४, ११.. जहि असुष्वीन् प्र वृह अपृणतः।

"(हे इन्द्र) उनका वध करो जो सवन नहीं करते, कृपण व्यक्तियों को निर्मूल करो।"

८. ५३, १ उत् त्वा मन्दन्तु स्तोमाः कृणुष्व राधो अद्रिवः। अव ब्रह्म-द्विषो जहि। पादा पणीन् अराधसो नि वधस्व महान् असि। न हि त्वा कश्चन प्रति।

"हे वज्र धारण करनेवाले! हमारे सूक्त तुम्हें प्रसन्न करें। ब्रह्म द्वेषी का नाश करो। २. अपने पैरों से उन अकृपणों को कुचलो जो कुछ भी दान नहीं देते। तुम महान् हो, कोई भी तुम्हारे समान नही है।"

तब इन उद्धरणों से (और इसी प्रकार के अनेक अंश भी है) यह स्पष्ट है कि अधार्मिक मनुष्य वैदिक युग के आर्यों में कोई अनोखा व्यक्ति नहीं होता था और प्रायः अपने समकालीन लोगों की उदारता को याज्ञिक क्रियाओं की ओर प्रवाहित करने में कम कठिनाई नहीं होती थी और दूसरी ओर, यदि हम यह विचार करें कि विभिन्न राजाओं की कवियों के प्रति सामान्य उदारता की स्तुतियाँ, जो उपयुक्त अंशों में पाई जाती है, उस वर्ग की रचनायें हैं जिनके

दम्भ का वे प्रतिनिधित्व करते हैं और जिनके गौरव का वे गान करते हैं, तो हम निःसन्देह यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि दिये गये दानों की मात्रा का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया गया है और उस प्रभाव से कुछ परिणाम निकाल सकते हैं जो ये अंश इनकी रचना के समय पुरोहितों के प्रति भावना के विषय में डालते हैं। किन्तु इस प्रकार की धारणाओं और जिस अधार्मिकता और कृपणता की निन्दा के उदाहरण मैंने प्रस्तुत किये हैं उनके द्वारा व्यक्त भावनाओं पर विचार करने के उपरान्त यह निश्चित दिखाई पड़ेगा कि ब्रह्मन् को चाहे हम ऋषि और कवि मानें अथवा यज्ञ कराने वाला पुरोहित, या दोनों ही मानें, उसे आदर और सम्मान प्राप्त था और यहाँ तक कि उसका उपस्थित होना याज्ञिक क्रिया की फलवत्ता के लिए आवश्यक समझा जाता था। जैसा कि हम १. १६४, ३५ में देख चुके हैं, ब्रह्मन् को "वाणी" का परम व्योम कहा गया है, १०. १०७, ८ में दानशील यजमान को ऋषि और ब्रह्मन् कहा गया है, जो उत्कृष्ट प्रशस्ति को अभिव्यक्त करनेवाले विशेषण हैं; १०. १२५, ५ में वाच् देवी के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह उस व्यक्ति को, जो उसका प्रिय पात्र होता है, ब्रह्मन् और ऋषि बनाती है, ६, ४५, ७; ७, ५, ८. १६, ७; तथा ९ ९६, ६ में 'ब्रह्मन्' शब्द आदर के साथ इन्द्र, अग्नि और सोम के लिये प्रयुक्त किया गया है, ४. ५०, ८, ९ में उस राजा के अधिक समृद्धि प्राप्त करने का वर्णन किया गया है जो ब्रह्मन् को नियुक्त करता है उसका आदर करता है और उसकी रक्षा करता है, तथा ३. ५३, ९, १२; ५. २. ६, ७. ३३, २. ३. ५, एवं ७ ८३, ४ में इस वर्ग के कर्म करनेवालों की मध्यस्थता एवं निर्देशन को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है।

पुनः, राजवंशीय यजमानों की दानशीलता की प्रशंसा करनेवाले उद्धरणों में दान में दी जाने वाली वास्तुओं के मूल्य में चाहे जितनी भी अतिशयोक्ति हो, इसमें सन्देह करने का कोई कारण नहीं है कि सामान्य पूजन कराने वाले पुरोहित, जिन्हें अभिव्यक्त और काव्य की देन मिली थी, जो सभी धर्मशास्त्रों के आगार थे और जिन्हें देवताओं तक पहुँचने का माध्यम माना जाता था, अधिक धनधान्य से पुरस्कृत और सम्मानित किये जाते थे।"[४५]

---

[४४] यह द्रष्टव्य है कि इन दानस्तुतियों में ब्राह्मणों के दक्षिणा लेने का कहीं उल्लेख नहीं किया गया है। दो स्थलों ८. ४, २० तथा १० ३३, ४ में एक ऋषि को दान लेने वाला बताया गया है। परवर्ती रचनाओं में, यथा शतपथ ब्राह्मण, इसके विपरीत दक्षिणाओं का स्पष्ट सम्बन्ध ब्राह्मणों के साथ जोड़ा गया है। उस ग्रन्थ में २. २ २ ६ कहा गया है · द्वया वै देवा देवा अह एव

ऊपर उद्धृत किये गये अंशों (२. १, २; ४. ९, ३; १०. ५२, २) से तथा १. १६२, ५ और २. ३६; २.३७; २. ४३; और १०. १२४, १[४५] के वर्णनों

देवाः अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवासोऽनूचानास् ते मनुष्य-देवाः। तेषा द्वेधा विभक्तः एव यज्ञ. आहुतय. एव देवाना दक्षिणा मनुष्य-देवानाम् ब्राह्मणानाम् शुश्रुवुषाम् अनूचानानाम्। आहुतिभिर् एव देवान् प्रीणाति दक्षिणाभिर् मनुष्यदेवान् ब्राह्मणान् शुश्रुवुषोऽनूचानान्। ते एनम् उभये देवा प्रीता. सुधाया दधति। "दो प्रकार के देवता देवता होते है, वे हैं वस्तुत रूप मे देवता और वे ब्राह्मण जो वैदिक परम्परा का निर्वाह करते हैं, विद्वान् है मनुष्य रूप मे देवता होते हैं। इनका यज्ञ दो प्रकार का होता है। आहुति के अन्तर्गत देवताओ को अर्पित की गई पूजा और मानव देव ब्राह्मणो को दक्षिणा दान जो वैदिक परम्परा का निर्वाह करते है और विद्वान् है। आहुतियो से ही मनुष्य देवता को सन्तुष्ट करता है। दक्षिणा से मानव देव ब्राह्मणो को सन्तुष्ट करता है जो वैदिक परम्परा का निर्वाह करते है और विद्वान् होते हैं। जब ये दोनो प्रकार के देवता प्रसन्न होते हैं तो उसे आनन्द के स्थान मे (सुधायाम्) आरोपित करते है, (या उसे स्वर्ग प्रदान करते हैं, जैसा कि यह उक्ति उसी ग्रथ मे दूसरे स्थल पर भेद रखती है, ४ ३, ४ ४)। तैत्ति० स० १ ७, ३ १ मे भी कहा गया है 'परोक्ष वै अन्ये देवा इज्यन्ते प्रत्यक्षम् अन्ये। यद् यजते ये एव देवा परोक्षम् इज्यन्ते तान् एव तद् यजति। यद् अन्वाहार्यम् आहरत्य एते वै देवा. प्रत्यक्षम् यद् ब्राह्मणास् तान् एव तेन प्रीणाति। अथो दक्षिणा एव अस्य एषा। अथो यज्ञस्य एव छिद्रम् अपि दधाति यद् वै यज्ञस्य क्रूरम् यद् विलिष्टम् तद् अन्वाहार्येण अन्वाहरति। तद् अन्वाहार्यस्य अन्वाहार्यत्वम्। देवदूताः वै एते यद् ऋत्विजो यद् अन्वाहार्यम् आहरति देवदूतान् एव प्रीणाति। "कुछ देवताओ की अनुपस्थिति मे पूजा होती है और कुछ की उपस्थिति मे। जिन देवताओ की अनुपस्थिति मे पूजा होती है उन्ही के लिये यज्ञ कर्त्ता आहुतियाँ देता है। और इन दृश्य देवो अर्थात् ब्राह्मणो को वह अन्वाहार्य (पके हुए चावल) से सन्तुष्ट करता है। जिसे वह बाद मे ले आता है। यह अन्वाहार्य इस (यज्ञ) के साथ सयुक्त दक्षिणा है। तब वह यज्ञ के दोषो को आवृत्त करता है। इसमे जो कुछ अधिक या न्यून होता है उसे वह अन्वाहार्य द्वारा दूर करता है। यही उस अन्वाहार्य का स्वरूप है। ये पुरोहित देवताओ के दूत हैं, और देवताओ के दूत को ही यज्ञ कर्त्ता अन्वाहार्य प्रदान कर सन्तुष्ट करता है।"

[४५] १ ९४, ६ भी देखिए जिसमे कहा गया है "हे अग्नि तुम अध्वर्यु हो, तुम आदि होतृ, प्रशास्तृ, पोतृ और स्वभाव से पुरोहित हो। सभी पौरोहित्य के

से यह भी स्पष्ट है कि वैदिक युग के परवर्ती काल में, जिस काल की ये रचनाएँ हैं, देवयजन की क्रियायें अधिक विकसित और गूढ़ हो गई थीं और उनके सम्पादन के लिए विभिन्न वर्ग के पुरोहितों की आवश्यकता पड़ती थी।[४६] यह स्पष्ट है कि इन विविध कर्मों को सम्पादित करने के लिए पर्याप्त दक्षता प्राप्त की गई होगी, और यतः इस प्रकार की दक्षता केवल आरम्भिक शिक्षण एवं अभ्यास से प्राप्त हो सकती थी अतः इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं हो सकता कि उस समय पौरोहित्य एक नियमित व्यवसाय बन चुका होगा।[४७] राजा या सभ्यजन और पुरोहित का भेद १. १०८, ७ तथा ४. ५०, ८, ९ में स्वीकृत किया गया लगता है, जबकि ५. ४७, ७. १४ में राजा और ऋषि में इसी प्रकार का भेद किया गया है और यह ध्यानार्ह है कि उस मन्त्र का जो अन्य दृष्टियों से समान ही है और जिससे आठवें मण्डल के क्रमशः ३६वें और ३७वें सूत्र का उपसहार होता है, एक सूक्त में इन शब्दों के साथ अन्त होता है "हे इन्द्र, तुमने अकेले ही प्रार्थनाओं की वृद्धि करते हुए (ब्रह्माणि वर्धयन्) मनुष्यों के संघर्ष मे त्रसदस्यु की रक्षा की, जब कि दूसरे में अन्तिम शब्द है : "(राजा की) शक्तियों की वृद्धि करते हुए (क्षत्राणि वर्धयन्) जैसे कि प्रथम में पुरोहित के कर्मों का और दूसरे में राजा के कर्मों का उल्लेख किया गया हो (तुलना ८ ३५, १६. १७)।

तथापि, एक ओर जब यह मानने के लिए प्रत्येक कारण विद्यमान है कि वैदिक युग के अन्तिम काल में पौरोहित्य एक व्यवसाय बन चुका था, दूसरी ओर पुरुष सूक्त (१०. ९०, १२) को छोड़कर जिन अंशों को उद्धृत किया गया है उनमें कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिससे यह अनिवार्यतः अर्थ निकलता हो कि पुरोहितों का एक पृथक् वर्ण था या कम-से-कम एक ऐसा वर्ण था जो परवर्ती समय के समान दूसरे वर्णों से अनुलंघनीय अवरोधों द्वारा अलग कर

कर्मों का ज्ञान रखकर (आर्त्विज्या) विद्वान् तुम हमारा पालन करते हो" इत्यादि (त्वम् अध्वर्युर् उत होताऽसि पूर्व्यः प्रशास्ता पोता जनुषा पुरोहितः। विश्वा विद्वान् आर्त्विज्या धीर पुष्यस्य् अग्ने इत्य् आदि)।

[४६] इस विषय पर प्रोफेसर म्यूल्लेर का विचार देखिए, ऐशि० स० लिट्० पृ० ४८५ आदि, तथा इसी विषय पर डॉ हॉग का थोडा भिन्न विचार उनके ऐत० ब्रा० की भूमिका पृ० ११ आदि।

[४७] पुरोहित के अधिक महत्त्व और प्रभाव के विषय मे देखिए मूलर का एशि० स० लिट्० पृ० ४८५ आदि।

दिया गया था। व्यवसाय या परंपरागत व्यवस्था तथा ब्राह्मणीय अर्थ के अनुसार पूर्ण विकसित वर्ण में महान् अन्तर है।

उन देशों में भी जहाँ पौरोहित्य के सम्मान एवं विशेषाधिकारों को नितान्त पूर्ण रूप में मान्यता दी गई है (यथा रोमन कैथोलिक योरोप में) पादरी केवल एक व्यवसाय-वर्ग में आते हैं और उनके पद के लिए समाज के सभी वर्गों से व्यक्तियों को चुना जा सकता है। अधिकांश ऐसी देशों में भी यही बात है जहाँ परम्परागत उच्चवर्ग की व्यवस्था है। सम्राट की इच्छा से प्लेबियनों को भी समाज में सभ्यजनों का स्थान दिया जा सकता है। अतएव यह मानने में कोई कठिनाई नहीं है कि वैदिक युग में भारतीय पुरोहित वर्ग ने—यदि हम इसके सदस्यों में अधिकांश को पुरोहितों के परिवार में उत्पन्न मान लें तब भी प्रायः अपने देशवासियों में अन्य वर्गों के अभ्यर्थियों को भी पुरोहित पद से विभूषित किया होगा। ऋग्वेद में 'ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग भी इसका खण्डन नहीं करता। इस शब्द का, जो ब्रह्मन् अर्थात् "पुरोहित" से व्युत्पन्न है, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पुरोहित के पुत्र या वंशज के अतिरिक्त और कोई अर्थ निकालने की आवश्यकता नहीं है ('ब्रह्मपुत्र', पुरोहित का पुत्र, शब्द, जैसा कि हम देख चुके हैं, वस्तुतः एक स्थल पर प्रयुक्त हुआ है)—जिस प्रकार 'राजन्य' का राजा या प्रमुख (राजन्), जो राजपरिवार का सदस्य होता था, अथवा सभ्यजन के वंशज के अतिरिक्त और कोई अर्थ नहीं है।

उन उद्धरणों (और वे भी सम्भवतः अपेक्षतया अर्वाचीन युग के है) की अल्पता का, जिनमें ब्राह्मण शब्द आया है, जब उन अंशों की, जिनमें ब्रह्मन् शब्द पाया जाता है, बड़ी संख्या के साथ विपर्यास दिखाये जाने पर जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, यह निश्चित रूप से सिद्ध करती है कि वैदिक युग के आरम्भिक काल में ब्राह्मण शब्द का स्वल्प प्रयोग होता था और यह शब्द इस युग के अन्तिम काल में ही सामान्य प्रचलन में आया। इनमें से कुछ अंशों में (यथा ७. १०३, १. ७. ८, १०. ८८, १९ में) कोई भी वस्तु यह प्रदर्शित नहीं करती कि ब्राह्मण का व्यवसायी पुरोहित के अतिरिक्त किसी अन्य रूप में उल्लेख किया गया है; और ७. १०३ में मण्डूकों की ब्राह्मणों से तुलना से ब्राह्मणों एवं उनके कर्मों के प्रति अनादर का भी आभास मिल सकता है।[४८] दूसरे स्थलों में (१. १६४, ४५ तथा १०. ७१, ८. ९) बुद्धि-

[४८] इस सूक्त पर मूलर की उक्ति उनके ऐशि० संस्कृ० लिट्० पृ० ४९४ पर देखिए।

मान तथा बुद्धिहीन ब्राह्मणों में भेद किया गया प्रतीत होता है तथा ऐसे ब्राह्मणों में जो विचारवान् थे, और उन ब्राह्मणों में अन्तर दिखाया गया है जो देवयजन की क्रिया के, जो इस प्रकार के पुरोहित वर्ग के अस्तित्व का संकेत करती है, सम्पादन में यन्त्रवत् कर्त्तामात्र थे।[४१] दूसरे अंश (१०. ९७, २२) में धार्मिक कर्मों के यथोचित सम्पादन के लिए ब्राह्मण के महत्व को स्पष्टतः व्यक्त किया गया है। १०, १०९ में, जिसमें ब्रह्मन् तथा ब्राह्मण (मन्त्र २) शब्दों का पर्यायवाची रूप में प्रयोग किया गया है—ब्राह्मण की पत्नियों की अगम्यता, उनके साथ अनुचित सम्बन्ध के दारुण परिणाम और, उनके विपरीत किये गये किसी दोष के प्रायश्चित्त से उत्पन्न होने वाले कल्याण का इस प्रकार उल्लेख किया गया है जो स्वयः ब्राह्मणों द्वारा अपने आप किये गये दावे की महानता को प्रदर्शित करता है और यह सिद्ध करता है कि इन विशेपाधिकारों का सभ्यजन प्रायः उल्लंघन करते थे। १०, १६, ६ में ब्राह्मण को सोम द्वारा प्रेरित बताया गया है तथा ६. ७५, १० में पूर्वकाल के ब्राह्मणों के प्रेतों की उन दैवी प्राणियों में गणना की गई है जो भक्त की रक्षा करते हैं। किन्तु इनमें से किसी भी अंश में न तो ब्राह्मणों के किसी पृथक् वर्ण या जाति होने का कोई उल्लेख किया गया है और न उनके अपने देशवासियों में अन्य वर्गों के पूर्वजों से भिन्न किसी पूर्वज से उत्पन्न होने के विषय में कि कुछ ही संकेत किया गया है।

खं० २—यह प्रदर्शित करने के लिए कि प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार पुरोहित-परिवार के न होनेवाले व्यक्ति भी वैदिक सूक्तों के रचयिता थे और पुरोहित के कर्म करते थे, ऋग्वेद, निरुक्त तथा महाभारत के उद्धरण।

पिछले अध्याय में इस विषय में दिये गये विरोधी प्रमाणों के अतिरिक्त कि ऋग्वेद के सूक्तों में अधिकाश के रचना-काल में वर्णों की व्यवस्था कम से कम पूर्ण रूप से विकसित नहीं हुई थी, हम स्वयं सूक्तों में, अथवा

[४१] ऋ० वे० ८ ५०, ९ मे कहा गया है : "हे इन्द्र! चाहे बुद्धिमान या बुद्धिहीन मनुष्य ने तुम्हे एक सूक्त प्रदान किया है, उसने अपनी भक्ति द्वारा तुम्हे प्रसन्न किया है (अविप्रो वा यद् अविधद् विप्रो वा इन्द्र ते वचः। स प्र ममन्दत् त्वाया इत्यु आदि)।"

परवर्ती रचनाओं में, या दोनों की तुलना से इस बात का पर्याप्त प्रमाण पाते हैं कि अनेक सूक्त या तो पुरोहित वर्ग से भिन्न वर्ग की रचना थे या उन्हें बहुत प्राचीन काल से ऐसा माना जाता था, और इन रचयिताओं में से कुछ ने पुरोहितों का भी कर्म किया था। इस प्रकार का सर्वाधिक उल्लेखनीय उदाहरण विश्वामित्र का है, किन्तु इसके प्रदर्शन के लिए विद्यमान सामग्रियों के प्राचुर्य के कारण मैं इस विषय को अगले अध्याय के लिए छोड़ देता हूँ जिसमें मैं ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों की प्रतिस्पर्धाओं का वर्णन करूँगा।

परवर्ती समयों में जब केवल ब्राह्मण ही पुरोहित होते थे, यह अकारण तथा—ब्राह्मणों के एकान्तिक पौरोहित्य के विशेषाधिकारों के विपरीत—असुविधाजनक अवस्था प्रतीत होती थी कि पुरोहितों के कर्मों के ऐसे व्यक्तियों द्वारा सम्पादित किये जाने का वर्णन किया जाय जिन्हें परम्परा राजन्य के रूप में प्रस्तुत करती है; और इस कारण ऐतिहासिक तथ्यों की ऐसी कथाओं को गढ़कर व्याख्या करनी आवश्यक हो गई जिनसे यह भान होने लगता है कि राजाओं से संबद्ध वर्ण के मनुष्यों को उनके उच्च मानवीय गुणों एवं तपस्याओं के कारण वस्तुतः ब्राह्मण रूप में परिवर्तित कर दिया गया था—यह एक ऐसी कल्पना थी जिसके विविध उदाहरण हम आगे पायेंगे। तथापि 'राजर्षि' जैसे शब्द का होना ही यह सिद्ध करता है कि भारतीय परम्परा ने ऐसे व्यक्तियों को भी ऋषि या वैदिक सूक्तों का रचयिता माना है जो राजन्य परिवारों के माने जाते थे। ऐसे कुछ व्यक्तियों का नामोल्लेख (यद्यपि 'राजर्षि विशेषण' के साथ) ऋग्वेद की अनुक्रमणी में किया गया है; किन्तु सायण ने, जिन्होंने इस प्राचीन ग्रन्थ से उद्धरण लिये हैं, उन्हें यह पदवी प्रदान की है। इस प्रकार सूक्त १. १०० की भूमिका में वे कहते हैं —अत्र अनुक्रम्यते "स यो वृषाऽएकोना वार्षागिराः ऋज्राश्वाम्बरीप-सहदेव-भयमान-सुराधसः" इति। वृषागिरो महाराजस्य पुत्रभूताः ऋज्राश्वादयः पञ्च राजर्षयः सदेहं सूक्तं ददृशुः। अतस् ते अस्य सूक्तस्य ऋषयः। उक्तं ह्य् आर्षानुक्रमण्याम् "सूक्तं स यो वृषेत्य् एतत् पञ्च वार्षागिराः विदुः। नियुक्ताः नामधेयैः स्वैर् अपि "चैतत् त्यद्'इति ऋषि" इति। "अनुक्रमणिका में कहा गया है: 'इस सूक्त के ऋषि ऋज्राश्व, अम्बरीप, सहदेव, भयमान और सुराधस् हैं जो वृषागिर् के पुत्र हैं। राजा वृषागिर् के पुत्र ऋज्राश्व और अन्य सभी पाँच ऋषियों ने इस सूक्त को शरीर रूप में देखा। अतएव वे इसके ऋषि (द्रष्टा) हैं। क्योंकि आर्ष अनुक्रमणी में यह कहा गया है: "वृषागिर के पाँच पुत्र जिनके नाम का उल्लेख 'एतत् त्यत्' से प्रारम्भ होनेवाले (१७वें) सूक्त में किया गया है, इस सूक्त का ज्ञान रखते हैं।" सत्रहवाँ सूक्त इस प्रकार है:—

एतत् त्यत् ते इन्द्र वृष्णे उक्थं वार्षगिराः अभि गृणाति राधः। ऋज्राश्व, प्रष्टिभिर् अम्बरीषः सहदेवो भयमानः सुराधाः।" हे इन्द्र ! इस सूक्त का गान तुम्हारी प्रार्थना के रूप में वार्षागिर ऋज्राश्व ने अपने सहयोगियों, अम्बरीष, सहदेव, भयमान और सुधारस् के साथ किया।" इस पर सायण इस उक्ति को दुहराते हैं कि ये व्यक्ति राजर्षि हैं (एतद् उक्थं स्तोत्रं राधः संराधक त्वत्-प्रीति-हेतुं वार्षागिराः वृषागिरो रातः पुत्रा. ऋज्राश्वाद्-योऽभि गृणाति आभिमुखेन वर्द्धन्ति।.. ऋज्राश्वः एतत्-सञ्ज्ञो राजर्षिः प्रष्टिभिः पार्श्व-स्थैर् अन्यैर् ऋषिभिः सह इन्द्रम् अस्तौत। के ते पार्श्व-स्थाः। अम्बरीषादयश् चत्वारो राजर्षयः)। अम्बरीष को ९. ९८ का भी ऋषि कहा गया है। पुनः ऋग्वेद ४. ४२ के भाष्य में सायण ने पुरुकुत्स के पुत्र त्रसदस्यु को, जो एक राजर्षि थे, उस सूक्त का ऋषि बनाया है (पुरुकुत्सस्य पुत्रस् त्रसदस्यु राजर्षिः।... अत्रानुक्रमणिकाऽमम द्विताऽदश त्रसदस्युः पौरुकुत्स्य.)। ८वें और ९वें मन्त्रों में त्रसदस्यु का इस प्रकार उल्लेख किया गया है :—अस्माकम् अत्र पितरस् ते आसन् सप्त ऋषयो दौर्गहे बध्यमाने। ते आ अयजन्त त्रसदस्युम् अस्या॰ इन्द्र वृत्रतुरम् अर्द्धदेवम्। ९. पुरुकुत्सानी हि वाम् अदाशद् हव्येभिर् इन्द्रा-वरुणा नमोभिः। अथ राजान त्रसदस्युम् अस्याः वृत्रहण ददथुर् अर्द्धदे-वम्। ८ ये सात ऋषि हमारे पूर्वज थे। जब दुर्गह का पुत्र बाँधा गया तो उन्होंने उस (पुरुकुत्सानी) के लिए त्रसदस्यु को यज्ञ द्वारा प्राप्त किया जो इन्द्र के समान शत्रुओं का नाश करने वाला था और अर्द्धदेव था। ९. हे इन्द्र और वरुण, जब पुरुकुत्सानी ने नमस्कार और हवि द्वारा तुम्हारा वर्द्धन किया, तब तुमने उसे राजा त्रयदस्यु को प्रदान किया जो शत्रुओं का नाश करने वाला और एक अर्द्धदेव था।" मैं इन मन्त्रों पर सायण की टिप्पणी प्रस्तुत करता हूँ : "पुरुकुत्सस्य महिषी दौर्गहे बन्धन-स्थिते। पत्याव अराजकं दृष्ट्वा राष्ट्रम् पुत्रस्य लिप्सया। यदृच्छया समायातान् सप्तर्षीन् पर्यपूजयत्। ते च प्रीताः पुनः प्रोचुर् "यजेन्द्रा-वरुणौ भृशम्"। सा चेन्द्र-वरुणाव् इष्ट्वा त्रसदस्युम् अजीजनत्। इतिहासम् इमं जानन्न् ऋषिर् ब्रूते ऋचाव् इह"। अथ अस्माकम् अत्र अस्मिन्न् अराजके देशे अस्याम् पृथिव्यां वा पितरः पालयितारः उत्पादकास् ते आसन्न् अभवन्। एते सप्तर्षयः प्रसिद्धाः दौर्गहे दुर्गहस्य पुत्रे पुरुकुत्से बध्यमाने दृढम् पाशैर् यस्माद् अस्याः अस्यै पुरुकुत्सान्यै त्रसदस्युम् आयजन्त प्रादुर् इन्द्रा-वरुणयोर् अनुग्रहात्। "जब पुरुकुत्स की रानी के पति दुर्गह का पुत्र बन्दी बना दिया गया तब उसने राज्य को राजा से शून्य देखकर पुत्र की इच्छा से आए हुए

सात ऋषियों की स्वयं सेवा की, और उन्होंने प्रसन्न होकर उससे इन्द्र और वरुण के लिए यज्ञ करने को कहा। ऐसा करके उसने त्रयदस्यु को जन्म दिया। इस कथा को जानकर ऋषि इन दो मन्त्रों का उच्चारण करते हैं।" इसके उपरान्त सायण इन दोनों मन्त्रों की व्याख्या करते है। इसी प्रकार ५. २७ के भाष्य मे सायण कहते हैं: "त्रिवृष्ण के पुत्र त्र्यरुण, पुरुकुत्स के पुत्र त्रसदस्यु, और भरत के पुत्र अश्वमेध, ये तीनों ऋषि मिलकर इस सूक्त के ऋषि हैं, अथवा अत्रि ऋषि है। (अत्रानुक्रमणिका। "अनस्वन्ता पट् त्रैवृष्ण-पौरुकुत्स्यौ द्वौ त्र्यरुण-त्रसदस्यू राजानौ भारतश् च अश्वमेधः।... 'न आत्मा आत्मने दद्याद्' इति सर्वास्व् अत्रिम् केचित्"... त्रिवृष्णस्य पुत्रस् त्र्यरुणः पुरुकुत्सस्य पुत्रस् त्रसदस्युर् भरतस्य पुत्रोऽश्वमेधः एते त्रयोऽपि राजानः सम्भूय अस्य सूक्तस्य ऋषयः। यद्वा अत्रिर् एव ऋषिः)। तथापि कुछ लोगों के अनुसार अनुक्रमणिका में इतना और कहा गया है कि यतः "कोई व्यक्ति स्वयं को दान नहीं दे सकता अतः दानदाता-रूप में वर्णित कोई भी राजा रचयिता नहीं हो सकता, किन्तु अत्रि अवश्य ही ऋषि होंगे।" यतः इस सूक्त का उच्चारण एक चौथे व्यक्ति ने इन राजाओं की दानशीलता की प्रशंसा में किया है अतएव यह स्पष्ट है कि वे उसके रचयिता नहीं हो सकते। और इसी प्रकार की बात ४. ४२, ८ आदि के संबन्ध में भी है। तथापि, जिस प्रकार की हिन्दू परम्परा है वह इस बात का उत्तम प्रमाण है कि प्राचीन विचारधाराओं के प्रतिकूल न होकर राजा भी ऋषि हो सकते थे। त्रसदस्यु और त्र्यरुण को ९. ११०,[५०] का भी ऋषि कहा गया है। सायण और अनुक्रमणिका के अनुसार ४ ४३ तथा ४ ४४ के ऋषि पुरुमीळ्ह तथा आजमीळ्ह है जो सुहोत्र के पुत्र या वंशज हैं (४. ४३ अत्रानुक्रमणिका 'कः उ श्रवत्' सप्त पुरुमीळ्हाजमीळ्हौ सौहोत्रैत्व् आश्विनं हि। ४ ४४ पुरुमीळ्हाजमीळ्हाव् एव ऋषी)। यद्यपि इन दोनों में किसी ने इन व्यक्तियों को राजा नहीं बताया है, तथापि विष्णु और भागवत पुराणों मे द्वितीय को राजवंशीय कहा और उनसे ब्राह्मणों की एक जाति के उत्पन्न होने का वर्णन किया गया है (देखिए ऊपर पृ० २५८)। ४ ४४ के छठवें मन्त्र में अजमीळ्ह के वंशजों को अश्विनों

[५०] विष्णु पुराण मे, जैसा कि हम ऊपर देख चुके है, पृ० २६८, त्र्यरुण, पुष्करिन् और कपि को उरुक्षप का पुत्र कहा गया है और उनमे सभी के ब्राह्मण होने की बात कही गई है, भागवत पुराण मे त्र्यरुणि, पुष्करारुणि, और कपि इन सभी के ब्राह्मण हो जाने का वर्णन किया गया है।

की पूजा के लिये उपस्थित बताया गया है (नरो यद् वाम् अश्विना स्तोमम् आवन् अधस्तुतिम् अजमीळ्हासो अग्मन्)। निम्नलिखित सूक्तों का भी परम्परया जिन राजाओं को ऋषि बताया गया है, वे ये हैं: ६. १५, वीतहव्य (या भरद्वाज), १०. ९. अम्बरीष के पुत्र सिन्धुद्वीप (या त्रिशिरस्, त्वष्टृ के पुत्र), १०. ७५. प्रियमेध के पुत्र सिन्धुक्षित; १०. १३३. पिजवन के पुत्र सुदास्, १०. १३४. युवनाश्व के पुत्र मान्धातृ (देखिए ऊपर पृ० २२५), १०. १७९ उशीनर के पुत्र शिबि, दिवोदास के पुत्र तथा काशी के राजा प्रतर्दन (देखिए ऊपर पृ० २५९), और रोहिदश्व के पुत्र वसुमनस्, तथा १०. १४८ का ऋषि पृथ्वी वैन्य[51] को बताया गया है। उस सूक्त के पाँचवें मन्त्र में कहा गया है: श्रुधि हवम् इन्द्र शूर पृथ्याः उत स्तवसे वेन्यस्य अर्कैः। "हे वीर इन्द्र! पृथी की प्रार्थना सुनो, तुम्हारी प्रशंसा वेन्य के सूक्त द्वारा की जाती है।" ८ ९, १० में पृथी वैन्य का तीन ऋषियों के साथ उल्लेख किया गया है: यद् वां कक्षीवान् उत यद् व्यश्वः ऋषिर् यद् वां दीर्घतमाः जुहाव। पृथी यद् वां वैन्यः सदनेषु एव इद् अतो अश्विना चेतयेथाम्। "हे अश्विनौ, कक्षीवत् ने या ऋषी व्यश्व ने या दीर्घतमस् ने अथवा वेन के पुत्र पृथी ने यज्ञ में तुम्हारे लिये जो हवियाँ प्रदान की हैं, तुम उन पर ध्यान दो। यहाँ सायण ने पृथी का उल्लेख "इस नाम के राजर्षि" के रूप में किया है।

जो विस्तृत वर्णन मैंने दिये हैं उनसे यह स्पष्ट है कि अनेक स्थितियों में इस विचारधारा के विरुद्ध यह प्रमाण मिलता है कि जिन राजाओं के नाम के साथ सूक्तों को जोड़ा गया है, वे वस्तुतः उन सूक्तों के रचयिता थे। एक मात्र उदाहरण, जिसमें रचयिता होना स्वयं सूक्तों की शैली से पुष्ट है, वार्षगिरस् के अथवा निःसन्देह पृथी के सूक्त हैं। किन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है, यह तथ्य कि प्राचीन भारतीय परम्परा राजर्षियों को सूक्तों का रचयिता मानती है यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि इस प्रकार के

---

[51] शत० ब्रा० ५ २, ५, ४, पृथी का उल्लेख "राजा के रूप मे अभिषिक्त किये जाने वाले प्रथम व्यक्ति के रूप मे करता है (पृथी ह वै वैन्यो मनुष्याणाम् प्रथमोऽभिषिषिचे)। मै प्रोफेसर विलसन के विष्णुपुराण के डॉ० हाल के सस्करण भाग ३ से निम्नलिखित मन्त्र देता हूँ, जिसे सपादक ने वायु पुराण से राजर्षियो के विषय मे उद्धृत किया है - मानवे वैनवे (?) वशे ऐडे वशे च ये नृपा। ऐडा ऐक्ष्वाका नाभागा ज्ञेया राजर्षयस् तु ते। "मनुवंश के राजा, वेन (?) इड और इड के वंशज, इक्ष्वाकु और नाभाग ये सभी राजर्षि जाने जाते हैं।"

उदाहरण अज्ञात नहीं थे। यदि हम यह भी मान लें कि इन परम्पराओं की रचना में चाटुकारिता का भी कुछ हाथ है, तब भी निःसन्देह यह उन लोगों के जिन्होंने इन्हें प्रचारित किया, इस विश्वास से उत्पन्न हुआ कि आरम्भिक कालों में पुरोहित और अन्य वर्गों में भेद उतना स्पष्ट नहीं था, जितना स्वयं उनके समय में हो गया था।

अब मैं देवापि के उदाहरण पर आता हूँ जिसमें एक निर्णय देने के लिए तथा यह सिद्ध करने के लिए कि वह केवल ऋषि ही नहीं अपितु पुरोहित भी थे, उचित एवं सन्तोषप्रद सामग्री उपलब्ध होती है।

अनुक्रमणिका में उनको ऋग्वेद १०. ९८ का ऋषि बताया गया है और निरुक्त २. १० में यास्क इस प्रकार कहते हैं :—

तत्र इतिहासम् आचक्षते। देवापिश् च आर्ष्टिषेणः शन्तनुस् च कौरव्यो भ्रातरौ बभूवतुः। स शन्तनुः कनीयान् अभिषेचयाञ्चक्रे। देवापिस् तपः प्रतिपेदे। ततः शन्तनोः राज्ये द्वादश वर्षाणि देवो न ववर्ष। तम् ऊचुर् ब्राह्मणाः "अधर्मस् त्वया चरितो ज्येष्ठम् भ्रातरम् अन्तरित्य अभिषेचितम्। तस्मात् ते देवो न वर्षति" इति। स् शन्तनुर् देवापि शिशिक्ष राज्येन। तम् उवाच देवापिः "पुरोहितस् तेऽसानि याजयानि च त्वा" इति। तस्य एतद् वर्ष-कामसूक्तम्। तस्य एषा भवति।

"इस सम्बन्ध मे एक कथा कही जाती है। ऋष्टिषेण के पुत्र देवापि तथा शन्तनु कुरुवंशी और भाई थे। शन्तनु, जो छोटे थे, स्वयं राजा बन बैठे जब कि देवापि कठोर तपस्या करने लगे। तब शन्तनु के राज्य में देवता ने बारह वर्ष तक वर्षा नहीं की ब्राह्मणों ने उनसे कहा : 'तुमने इस कर्म से अधर्म का आचरण किया है कि अपने अग्रज को ठुकराकर तुम स्वयं राजा बन बैठे हो। इस कारण से ही देवता वृष्टि नहीं करते।' शन्तनु ने तब देवापि को सम्राट् बनाने के लिए ढूँढा किन्तु देवापि ने उससे कहा 'मैं तुम्हारा पुरोहित बनूँगा और तुम्हारे लिये यज्ञ करूँगा। वर्षा की इच्छा को व्यक्त करने वाला यह सूक्त उन्हीं का है। निम्नलिखित मन्त्र उसी का एक अंश है।"

इसके उपरान्त यास्क ने ऋग्वेद १०. ९८ का एक मन्त्र उद्धृत किया है। सम्पूर्ण सुक्त इस प्रकार है :

बृहस्पते प्रति मे देवताम् इहि मित्रो वा यद् वरुणो वा असि पूषा। आदित्यैर् वा यद् वसुभिर् मरुत्वान् स पर्जन्यं शन्तनवे वृषाय।
२. आ देवो दूतो अजिरश् चिकित्वान् त्वद् देवापे अभि माम् अगच्छत्। प्रतीचीनः प्रति माम् आ ववृत्स्व दधामि ते द्युमतीं वाचम्

आसन्। ३. अस्मे धेहि द्युमतीं वाचम् आसन् बृहस्पते अनमीवाम् इषिराम्। यया वृष्टिं शन्तनवे वनाव दिवो द्रप्सो मधुमान् आ विवेश। ४ आ नो द्रप्साः मधुमन्तो विशन्तु इन्द्र देहि अधिरथं सहस्रम। निषीद होत्रम्[52] ऋतुथा यजस्व देवान् देवापे हविषा सपर्य। ५. आर्ष्टिषेणो होत्रम् ऋषिर् निषीदन् देवापिर् देव-सुमतिं चिकित्वान्। स उत्तरस्माद् अधरं समुद्रम् अपो दिव्याः असृजद् वर्ष्याः अभि। ६. अस्मिन् समुद्रे अधि उत्तरस्मिन् आपो देवेभिर् निवृताः अतिष्ठन्। ता. अद्रवन्न् आर्ष्टिषेणेन सृष्टाः देवापिना प्रेषिताः मृक्षिणीषु। ७. यद् देवापिः शन्तनवे पुरोहितो होत्राय वृतः कृपयन्न् अदीधेत्। देव-श्रुतं वृष्टि-वनि रराणो बृहस्पतिर् वाचम् अस्मै अयच्छत्। ८. य त्वा देवापिः शुशुचानो अग्ने आर्ष्टिषेणो मनुष्यः समीधे। विश्वेभिर् देवैर् अनुमद्यमानः प्र पर्जन्यम् ईरय वृष्टिमन्तम्। ९. त्वाम् पूर्वे ऋषयो गीर्भिर् आयन् त्वाम् अध्वरेषु पुरुहूत विश्वे। सहस्राणि अधिरथानि अस्मे आ नो यज्ञ रोहिदश्व उप याहि। १०. एतानि अग्ने नवतिर् नव त्वे आहुतानि अधिरथा सहस्रा। तेभिर् वर्धस्व तन्वः शूर पूर्वीर् दिवो नो वृष्टिम् इषितो रिरीहि। ११. एतानि अग्ने नवतिं सहस्रा सम प्र यच्छ वृष्णे इन्द्राय भागम्। विद्वान् पथः ऋतुशो देवयानान् अप्य् औलानं दिवि देवेषु धेहि। १२. अग्ने बाधस्व वि मृधो वि दुर्गहा अप अमीवाम् अप रक्षांसि सेध। अस्मात् समुद्राद् बृहतो दिवो नो अपाम् भूमानम् उप नः सृज इह।

"हे बृहस्पति,[53] तुम मेरी देवताओं की पूजा मे आओ, चाहे तुम मित्र, वरुण, पूषन् हो या आदित्यों, वसुओं या मरुतों द्वारा पूजित हो, शन्तनु के लिये पर्जन्य को वृष्टि हेतु प्रेरित करो। २. तीव्रगामी दूत देवता ने इसे जान लिया है, और हे देवापि, वह तुम्हारे निकट से मेरे समीप यह कहते हुए आया है कि 'मेरी ओर आओ, मे तेरे मुख मे एक तेजयुक्त सूक्त रखूँगा ?' ३. हे, बृहस्पति! हमारे मुख में तेजयुक्त, शक्तिशाली तथा ओजस्वी सूक्त रक्खो जिसके द्वारा हम दोनों शन्तनु के लिए वर्षा की प्रार्थना कर सकें। मधुरता से युक्त विन्दु आकाश से हमारे ऊपर गिरी है। ४ मधुरता से युक्त विन्दु

---

[52] तुलना ऋग्वेद २ १, २।

[53] ऐसा प्रतीत होता है मानो अग्नि से यहा बृहस्पति का अर्थ है, देखिए मत्र ९-१२। ऋग्वेद २ १, ४ आदि मे अग्नि का तादात्म्य वरुण, मित्र, अर्यमन्, अश, त्वष्ट्र, रुद्र, पूषन्, सवितृ, भग के साथ दिखाया गया है।

हमारे ऊपर पड़े : हे इन्द्र हमें सहस्रों रथों में आने योग्य (बूँदें) प्रदान करो। होतृ का कर्म करो, उचित रूप से यज्ञ करो; हे देवापि, हवि से देवों का यजन करो। ५. ऋष्टिषेण के पुत्र ऋषि देवापि ने होतृ का कर्म करते हुए और यह जानकर कि किस प्रकार देवताओं की कृपा प्राप्त की जाय, ऊपर के समुद्रों से नीचे के समुद्र में वह जल गिराया है जो वृष्टि में गिरता है। ६. देवताओं ने ऊपर के समुद्र में जल को बन्द कर रक्खा; ऋष्टिषेण के पुत्र द्वारा खोले जाने पर वे धाराओं के रूप में देवापि द्वारा मुक्त किये जाने पर दौड़ने लगे।[५४] ७. जब देवापि ने शन्तनु के समक्ष (उसके पुरोहित रूप में) होतृ पद को वरण करके अपने कर्म को करते हुए (अग्नि को) प्रज्वलित किया—तब वर्षा के लिये प्रार्थना को स्वीकार करते हुए, जिसे देवताओं ने सुना, बृहस्पति ने उन्हें एक सूक्त प्रदान किया। ८. हे अग्नि, तुम, जिसे ऋष्टिषेण के पुत्र पुरुष[५५] देवापि ने प्रज्वलित किया है और जलाया है—प्रसन्न होकर, सभी देवताओं के साथ यहाँ वर्षा को ले आने वाले पर्जन्य को भेजो। ९. पहले के ऋषि अपने सूक्तों सहित तुम्हारे पास पहुँचे हैं; और हे अत्यन्त आहूत देवता सभी अपने यज्ञों में तुम्हारे निकट पहुँचते हैं, हमें सहस्रों रथों का बोझ दो। लाल घोड़ों द्वारा ढोये जाने वाले तुम हमारे यज्ञ में आओ : १०. हे अग्नि ये (काष्ठ और घृत के) निन्यानवे सहस्र अधिरथ तुममें हवि के रूप में डाल दिये गये हैं। हे वीर, उनके द्वारा तुम अपने पूर्व के शरीरों को धारण करो।[५७] और प्रज्वलित होकर हमें आकाश से वृष्टि प्रदान करो। ११. हे अग्नि ! इन निन्यानवे सहस्र में तेजस्वी इन्द्र को एक अंश दो। उस मार्ग को जानते हुए, जो सीधे देवताओं के निकट पहुँचाता है, हवि को आकाश में स्थित देवताओं के पास ले जाओ। १२. हे अग्नि ! हमारे शत्रुओं को और हमारी विपत्तियों को जीत लो, रोग और राक्षसों को दूर भगाओ। इस आकाश के विशाल समुद्र से हमारे ऊपर प्रचुर जल की वर्षा कराओ।"

देवापि के इस सूक्त का रचयिता होने तथा अपने भाई का पुरोहित तथा होतृ होने के तथ्य से पुराकथाकार उसके ब्राह्मण होने की कथा का

---

[५४] मृक्षिणी शब्द की व्याख्या बौटलिंक और रॉथ के लेक्सिकन में इसी प्रकार की गयी है।

[५५] या 'मनुष् के वंशज' (मनुष्य)।

[५६] यह अग्नि का सामान्य विशेषण है।

[५७] मैं समझता हूँ कि इसका अर्थ="विस्तृत ज्वालाओं में प्रज्वलित" है।

आविष्कार करने के लिये प्रेरित दिखाई देते हैं, जो (जैसा प्रोफेसर वेबर ने इण्डिशे स्टूडियन १. पृ० २०३ में बताया है) महाभारत के शल्यपर्व, ३९, ३६ आदि में दी गई है, इस स्थल पर उनके विषय में कहा गया है कि इसके उपरान्त उन्होंने यह गौरव पृथूदक नाम के तीर्थस्थान में प्राप्त किया, जिस स्थान पर सिन्धुद्वीप और विश्वामित्र ने भी उच्च वर्ण प्राप्त किया था :

तत्रार्ष्टिषेणः कौरव्य ब्राह्मण्यं संशित-व्रतः। तपसा महता राजन् प्राप्तवान् ऋषि-सत्तमः। सिन्धुद्वीपश् च राजर्षिर् देवापिश् च महा-तपाः। ब्राह्मण्यं लब्धवान् यत्र विश्वामित्रस् तथा मुनिः। महातपस्वी भगवान् उग्र-तेजाः महातपाः।.. ४०, ३; पुरा कृतयुगे राजन्न् आर्ष्टि-षेणो द्विजोत्तमः। वसन् गुरु-कुले नित्य नित्यम् अध्ययने रत। तस्य राजन् गुरु-कुले वसतो नित्यम् एव च। समाप्तिं नागमद् विद्या नापि वेदाः विशाम्पते। स निर्विण्णस् ततो राजस् तपस् तेपे महातपाः। ततो वै तपसा तेन प्राप्य वेदान् अनुत्तमनान्। स विद्वान् वेद-युक्तश् च सिद्धश् चाप्य ऋपि सत्तम्।..एवम् सिद्धः स भगवान् आर्ष्टिषेणः प्रतापवान्। तस्मिन्न् एव तदा तीर्थे सिन्धुद्वीपः प्रतापवान्। देवापिश् च महाराज ब्राह्मण्यम् प्रापतुर् महत्।

९.३९,३६ : "वहाँ नितान्त तेजस्वी ऋषि आर्ष्टिषेण ने, जो अपनी तपस्या में निरन्तर लीन रहते थे, महान् तपस्या के द्वारा ब्राह्मणत्व प्राप्त किया जिस प्रकार महातपस्वी राजर्षि सिन्धुद्वीप[५८] और देवापि ने प्राप्त किया था, और जिस प्रकार महातपस्वी एवं उग्र शक्तिवाले तेजस्वी मुनि विश्वामित्र ने प्राप्त किया था।" आर्ष्टिषेण का कुछ और वर्णन आगे दिया गया है। ४०, ३. "पहले कृत युग में सर्वोत्तम ब्राह्मण आर्ष्टिषेण निरन्तर अपने गुरु के आश्रम में निवास करते थे और अपने अध्ययन में अनवरत लीन रहते थे, किन्तु वे शास्त्रों या वेदों का अपना अध्ययन पूर्ण न कर सके।[५९] उत्साहीन होकर उन्होंने घोर तपस्या करनी प्रारम्भ कर दी। इस माध्यम से उन्होंने अद्वितीय वेदों को प्राप्त किया और विद्वान् तथा पारङ्गत हो गये 'उसी तीर्थस्थान

[५८] जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं इस राजा का भी उन राजाओं में उल्लेख किया गया है, जिन्होने वैदिक सूक्तों की रचना की है।

[५९] यहाँ वेदो का बहुवचन मे उल्लेख किया गया है, यद्यपि आर्ष्टिषेण के कलियुग मे होने का वर्णन किया गया है। किन्तु अन्यत्र (देखिए ऊपर पृ० १६५) स्वय महाभारत मे कहा गया है कि उस समय केवल एक ही वेद था।

पर प्रतापी सिन्धुद्वीप और देवापि ने ब्राह्मणत्व का महान् गौरव प्राप्त किया।"

यह द्रष्टव्य है कि यहाँ आर्ष्टिषेण, निरुक्त के वचन के विपरीत, देवापि से भिन्न व्यक्ति बताये गये हैं।

ऋग्वेद के अपने (फ्रांसीसी) अनुवाद को एक टिपण्णी में एम० लांगलोइस (भाग ४, पृ० ५०२) का विचार है कि ऊपर अनूदित सूक्त (१०. ९८) पुरुष सूक्त के समान ही इस संग्रह के अन्य सूक्तों की अपेक्षा अधिक बाद के समय का है। उनका विचार है, कि देवापि और शान्तनु के नाम यह संकेत करते हैं कि इसकी रचना का समय महाभारत के युद्ध के समय से बहुत पहले का नहीं है। दूसरी ओर प्रोफेसर वेबर (इण्डि० स्टू० १. २०३) सोचते हैं कि इस ग्रन्थ में उल्लिखित शान्तनु और देवापि (आदि पर्व ९४, ६१ आदि) वे ही व्यक्ति नहीं हो सकते जिन के नाम ऋग्वेद में आये हैं, क्योंकि उनके पिता प्रतीप थे ऋष्टिषेण नहीं, और वे इसे सन्देहपूर्ण मानते हैं कि पाण्डवों से केवल दो पीढ़ी पहले होने वाले एक राजा का नाम ऋग्वेद में लिया जाय एवं वह सूक्तों के रचयिता के रूप में सम्मुख आवे।

अभी निर्दिष्ट आदिपर्व के श्लोक इस प्रकार हैं :—

प्रतीपस्य त्रयः पुत्राः जज्ञिरे भरतर्षभ। देवापिः शान्तनुश् चैव वाह्लीकश् महारथः। देवापिश् च प्रवव्राज तेषां धर्महितेप्सया। शान्तनुश् च महीं लेभे वाह्लीकश् च महारथः।

"प्रतीप के तीन पुत्र हुए, देवापि, शान्तनु और महारथी[1] वाह्लीक ...इनमें देवापि ने धर्म से कल्याण-प्राप्ति के उद्देश्य से परिव्राजक का जीवन ग्रहण किया, और शान्तनु तथा वाह्लीक ने पृथ्वी का राज्य प्राप्त किया।"

हरिवंश उसी देवापि के विषय में दूसरी कथा देता है, श्लोक १८१९ :

प्रतीपो भीमसेनात् तु प्रतीपस्य तु शान्तनुः। देवापिर् वाह्लीकश् चैव त्रयः एव महारथाः। ..१८२२ उपाध्यायस् तु देवाना देवापिर् अभवद् मुनिः। च्यवनस्य कृतः पुत्रः इष्टश् चासीद् महात्मनः।

"प्रतीप भीमसेन से उत्पन्न हुए, शान्तनु, देवापि तथा वाह्लीक, ये तीनों प्रतीप के महारथी पुत्र थे.. १८२२ देवापि एक मुनि और देवताओं के गुरु हो गये; वे च्यवन के दत्तक पुत्र थे और उन्हें बहुत प्रिय थे।"

विष्णुपुराण (४. २२, ७ आदि) पूर्वोल्लिखित ग्रन्थों के समान ही देवापि और शान्तनु को प्रतीप का पुत्र तथा कुरु और उनके पुत्र जह्नु का

वंशज बताता है। यह शान्तनु के अपने बड़े भाई के जीवन काल में राजा बन बैठने के परिणामस्वरूप उनके राज्य में बारह वर्ष तक अवर्षण होने की निरुक्त में वर्णित कथा को दुहराता है। और यद्यपि, जैसा कि आगे देखा जायगा, कथा का आगे का रूप निरुक्त में दी गई कथा से पर्याप्त भिन्न है, तथापि दोनों वर्णनों की आरम्भिक घटनाएँ इतनी अनुरूप हैं कि ऐसा प्रतीत होता है कि पौराणिक लेखक का मन्तव्य देवापि और शान्तनु को अभिन्न प्रदर्शित करना था, जिनका इतिहास वह उसी नाम के किन्तु यास्क के निरुक्त में निर्दिष्ट पितृनाम से भिन्न पितृनाम के साथ वर्णित करता है। सम्भवतः उसने एक अधिक प्राचीन आख्यान को अपेक्षतया बाद के व्यक्तियों का नाम जोड़कर परवर्तित कर दिया हो। विष्णुपुराण का अंश इस प्रकार है :—

ऋक्षाद् भीमसेनस् ततश् च दिलीपः। दिलीपात् प्रतीपस् तस्यापि देवापि शान्तनु-बाह्लीक-संज्ञास् त्रयः पुत्राः बभूवुः। देवापिर् बालः एव अरण्य विवेश। शान्तनुर् अवनीपतिर् अभवत्। अयं च तस्य श्लोकः पृथिव्यां गीयते "यं कराभ्यां स्पृशति जीर्णं यौवनम् एति सः। शान्तिं चाप्नोति येनाग्र्यां कर्मणा तेन शान्तनुः।" तस्य शान्तनोः राष्ट्रे द्वादश वर्षाणि देवो न ववर्ष। ततश्च अशेष-राष्ट्र-विनाशम् अवेक्ष्य असौ राजा ब्राह्मणान् अपृच्छद् "भोः कस्माद् अस्मिन् राष्ट्रे देवो न वर्षति। को मम अपराधः" इति। ते तम् ऊचुर् "अग्रजस्य तेऽर्हा इयम् अवनिस् त्वया भुज्यते परिवेत्ता त्वम्"। इत्य् उक्तः स पुनस् तान् अपृच्छत् "किम् मया विधेयम्" इति। तेन तम् ऊचुर् "यावद् देवापिर् न पतना-दिभिर् दोषैर् अभिभूयते तावत् तस्य अर्हं राज्यम्। तद् अलम् एतेन तस्मै दीयताम्। इत्य् उक्ते तस्य मन्त्रि-प्रवरेण अश्मसारिणा तत्र अरण्ये तपस्विनो वेद-वाद-विरोध-वक्तारः प्रयोजिताः तैर् अति-ऋजुमतेर् मही-पति-पुत्रस्य बुद्धिर् वेद-विरोध-मार्गानुसारिण्य् अक्रियत। राजा च शान्त-नुर् द्विजवचनोत्पन्न-परिवेदन-शोकस् तान् ब्राह्मणान् अग्रणीकृत्य अग्रज-राज्य-प्रदानाय अरण्यं जगाम। तद्-आश्रमम् उपगताश् च तम् अवनीपतिपुत्र देवापिम् उपतस्थु। ते ब्राह्मणा वेद-वादानुबद्धानि वचांसि "राज्यम् अग्रजेन कर्त्तव्यम्" इत्य् अर्थवन्ति तम् ऊचुः। असाव् अपि वेद-वाद-विरोध-युक्ति-दूषितम् अनेक-प्रकारम् तान् आह। ततस् ते ब्राह्मणाः शान्तनुम् ऊचुर् "आगच्छ भो राजन् अलम् अत्रअतिनिर्ब-न्धेन। प्रशान्तः एव असाव् अनावृष्टि-दोषः। पतितोऽयम् अनादिकाल-महित-वेद-वचन-दूषणोच्चारणात्। पतिते च अग्रजे नैव वारिवेत्र्यम्

भवति"। इत्य् उक्तः शान्तनुः स्व-पुरम् आगत्य राज्यम् अकरोत् । वेद-वाद-विरोधि-वचनोच्चारण-दूषिते च ज्येष्ठेऽस्मिन् भ्रातरि तिष्ठत्य् अपि देवापाव् अखिल-सस्य-निष्पत्तये ववर्ष भगवान् पर्जन्यः ।

"ऋच्च से भीमसेन हुए और उनसे दिलीप । दिलीप से प्रतीप हुए, जिनके तीन पुत्र थे : देवापि, शान्तनु और वाह्लीक । बाल्यावस्था में ही देवापि वन को चले गये और शान्तनु राजा हो गये । उनके विषय मे यह श्लोक लोक मे प्रसिद्ध है : 'जिस किसी जीर्ण व्यक्ति को वह हाथों से छूता है वह युवक बन जाता है, उसे इसी कर्म के कारण शान्तनु कहा जाता है जिसके द्वारा वह नितान्त शान्ति प्राप्त करता है' । इस 'शान्तनु के राज्य में देव ने बारह वर्ष तक वृष्टि नहीं की । तब अपने सम्पूर्ण राज्य का विनाश देखकर राजा ने ब्राह्मणों से पूछा : 'मेरे राज्य में देव क्यों नहीं बरसता ? मेरा क्या अपराध है ?' ब्राह्मणों ने उत्तर दिया : 'यह पृथ्वी जो आपके भाई का भाग है आप द्वारा भोगी जा रही है : आप एक परिवेतृ (जो अपने बड़े भाई के पहले विवाहित हो) है ।'[६०] यह उत्तर पाकर उसने पुनः ब्राह्मणों से पूछा : 'मैं क्या करूँ ?' तब उन्होंने उत्तर दिया : 'जब तक देवापि वेद-विहित मार्ग की भ्रष्टता का दोषी नहीं होता तब तक राज्य पर उसका न्यायसम्मत अधिकार है, अतएव बिना पूछे उन्हें यह राज्य दे दिया जाय ।' जब उन्होंने इस प्रकार कहा तो राजा के प्रमुख अमात्य अश्मसारिन् ने कुछ ऐसे ब्रह्मचारियों को वन मे जाने को कहा जो वेदोक्त विधान के विपरीत सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते थे और जिनके द्वारा सरलमति (देवापि) की बुद्धि शास्त्रों के विपरीत दिशा की ओर की जानेवाली थी । ब्राह्मणों ने राजा शान्तनु से जिस अपराध की बात कही थी उससे दुःखित होकर वे राज्य अपने अग्रज को सौंपने के लिए इन ब्राह्मणों के उपरान्त वन में गये । आश्रम से पहुँच कर वे राजा

---

[६०] इसे मनु ३ १७१ आदि मे स्पष्ट किया गया है : दाराग्निहोत्र-सयोग कुरुते योऽग्रजे स्थिते । परिवेत्ता स विज्ञेय. परिवित्तिस् तु पूर्वज. । १७२ परिवृत्ति परीवेत्ता यया च परिविद्यते । सर्वे ते नरक यान्ति दातृ-याजक-पञ्चमाः । वह व्यक्ति जो अपने बड़े भाई के अविवाहित होने पर भी दाराग्निहोत्र द्वारा पत्नी ग्रहण करता है, वह परिवेतृ तथा उसका अग्रज 'परिवित्ति' कहे जाते ह । १७२ परिवित्ति, परिवेत्तृ और इस दोष का कारणभूत स्त्री, उस स्त्री को विवाह मे देनेवाला और पाँचवे पुरोहित, ये सभी नरक को जाते है ।"

भारतीय लेखक राजा के राज्य के साथ सम्बन्ध को पति और पत्नी के सम्बन्ध के तुल्य समझते है। पृथ्वी राजा की वधू होती है ।

देवापि के पास आये। ब्राह्मणों ने वेद पर आश्रृत इस आशय के वचन उनसे कहे कि बड़े भाई को ही राज्य कार्य देखना चाहिए। उन्होंने अपने उत्तर में उनसे ऐसी अनेक बातें कहीं जो वेद की शिक्षा के विपरीत थीं। तब ब्राह्मणों ने शान्तनु से कहा : 'हे राजा, आइए, अब इस विषय में संकोच करने का अवसर नहीं है। अवर्षण उत्पन्न करने वाला अपराध दूर हो गया। आपके अग्रज अनादि काल से पूजित वेद के वचनों के विपरीत वचन का उच्चारण करने से पतित हो गये हैं और जब बड़ा भाई पतित हो गया है तो छोटे को पारिवेद्य (अर्थात् बड़े भाई के पूर्व विवाह करने का) दोष नहीं लगता।' इस प्रकार कहे जाने पर शान्तनु अपनी राजधानी को लौट आये और राज्यकर्म करने लगे और यद्यपि उनके अग्रज देवापि वेदविरोधी वचन के उच्चारण करने से पतित हो गये तथापि देवपर्जन्य ने वृष्टि की जिससे सभी प्रकार के पेड़-पौधे और अन्न उत्पन्न हुए।"

क्या निरुक्त में पाये जाने वाले इस इतिहास के उपसंहार से पुराण के संकलनकर्ता ने भिन्न मार्ग अपनाया और इसे नया मोड़ दिया होगा जिससे इस उपसंहार से बच सके कि एक राजन्य भी यज्ञ का ऋत्विज् हो सकता है?

वही कथा संक्षेप में भागवत पुराण ९. २२, १४–१७ में कही गई है।

इसके विपरीत महाभारत के उद्योगपर्व में देवापि के गुणों एवं शास्त्रानुगमन की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है, और उनके सिंहासनच्युत होने का एक मात्र कारण उनका कुष्ट रोग बताया गया है, ५ १४९, १७।

देवापिस् तु महातेजास् त्वग्-दोषी राज-सत्तमः। धार्मिकः सत्य-वादी च पितुः शुश्रूषणे रतः। पौर-जानपदानां च सम्मतः साधुसत्कृतः। सर्वेषाम् बाल-वृद्धानां देवापिर् हृदयंगमः। वदान्यः सत्यसन्धश् च सर्व-भूत-हिते रतः वर्तमानः पितुः शास्त्रे ब्राह्मणाना तथैव च। ·· ··। तम् ब्राह्मणाश् च वृद्धाश् च पौर-जानपदैः सह। सर्वे निवारयामासुर् देवापेर् अभिसेचनम्। तच्छ्रुत्वा तु नृपतिर् अभिषेक-निवारणम्। अश्रु-कण्ठोऽभवद् राजा पर्यशोचत चात्मजम्। एव वदान्यो धर्मज्ञः सत्यसन्धश् च सोऽभवत्। प्रियः प्रजानाम् अपि स त्वग्-दोषेण प्रदूषितः। "हीनाङ्गम् पृथिवीपालं नाभिनन्दन्ति देवताः" इति कृत्वा नृप-श्रेष्ठम् प्रत्यषेधन् द्विजर्षभाः। ·· · निवारितं नृपं दृष्ट्वा देवापिः संश्रितो वनम्।

"किन्तु महातेजस्वी देवापि, जो एक उत्तम राजा, धर्मात्मा, पिता के भक्त थे, चर्मरोग के दोषी थे। वे नगर और ग्राम दोनों ही के निवासियों से सम्मानित थे, सज्जनों से आदृत थे, युवक और वृद्ध सभी के प्रिय थे, वदान्य, सत्यसंध

प्राणियों के हित में रत, तथा अपने पिता एवं ब्राह्मणों के आज्ञाकारी थे।" [उसके पिता वृद्ध हो गये थे और अपने उत्तराधिकारी को अभिषिक्त करने की तैयारी कर रहे थे, किन्तु जनमत चर्मरोगी को राज्य देने के विपरीत था, चाहे वह कितना भी गुणी क्यों न हो]। "ब्राह्मण और वृद्ध मनुष्य, तथा नगर एवं ग्रामों के निवासियों ने देवापि के राज्याभिषेक का विरोध किया। उनके विरोध की बात जानकर राजा का कण्ठ आँसुओं से भर गया और वे अपने पुत्र के दुर्भाग्य पर दुखित हुए। देवापि वदान्य थे, धर्मज्ञ, सत्यप्रतिज्ञ एवं लोगों को प्रिय थे, किन्तु चर्मरोग के दोष से युक्त थे। ब्राह्मणों ने राजा को (देवापि को उत्तराधिकारी बनाने से) मना किया और कहा 'देवता ऐसे राजा को नहीं स्वीकार करते जो किसी शारीरिक दोष से युक्त होता है' ·· ··यह देखकर कि राजा (उनके पिता) अपनी इच्छा को पूरी करने में बाधा का अनुभव कर रहे हैं देवापि वन को चले गये।"

इसी विषय पर मत्स्य पुराण ४९, श्लोक ३९ आदि का यह कहना है ·

दिलीपस्य प्रतीपस्तु तस्य पुत्रास् त्रयः स्मृताः। देवापिः शन्तनुश् चैव बाह्लीकश् चैव ते त्रयः। बाह्लीकस्य तु दायादाः सप्त बाह्लीश्वराः नृपाः। देवापिस् तु अपध्वस्तः प्रजाभिर् अभवद् मुनिः। ऋषयः ऊचुः। प्रजाभिस् तु किमर्थं वै अपध्वस्तो जनेश्वरः के दोषाः राजपुत्रस्य प्रजाभिः समुदाहृताः। सूत उवाच। किलासीद् राजपुत्रस् तु कुष्ठी तं नाभ्यपूजयन्। कोऽर्थान् वै अत्र (? वेत्त्य् अत्र) देवानां क्षत्रम् प्रति द्विजोत्तमाः।

"दीलीप के पुत्र प्रतीप थे, जिनके तीन पुत्र कहे जाते हैं : देवापि, शन्तनु और बाह्लीक। अन्तिम के पुत्र सात बाह्लीश्वर राजा थे। किन्तु मुनि देवापि को लोगों ने अस्वीकार कर दिया। ऋषियों ने पूछा · 'उस राजकुमार को जनता ने क्यों अस्वीकार कर दिया ? उसके विपरीत कौन सा दोष है ?' सूत ने उत्तर दिया : 'वह राजकुमार कोढ़ी था और जनता उसका आदर नहीं करती थी। क्षत्रिय जाति के लिये विधाता का विधान कौन जानता है ?'

इस अंश में देवापि के विषय में और कुछ भी नहीं कहा गया है।[६१] विष्णु पुराण ने उसके विषय में निम्नलिखित भविष्यत्कालीन वर्णन दिये हैं ४ २४, ४४ आदि :—

देवापिः पौरवो राजा मरुश् चेक्ष्वाकु-वंशजः। महायोग- बलोपेतौ कलाप-ग्राम-सश्रयौ। कृते युगे इहागत्य क्षत्र-प्रावर्त्तकौ हि तौ।

[६१] देखिए प्रोफेसर विलसन की टिप्पणी ४ पेजी स० पृ० ४५८।

भविष्यतो मनोर् वंशे बीज-भूतौ व्यवस्थितौ। एतेन क्रम-योगेन मनु-पुत्रैर् वसुन्धरा। कृत-त्रेतादि संज्ञानि युगानि त्रीणि भुज्यते। कलौ तु बीज-भूतास् ते केचित् तिष्ठन्ति भूतले। यथैव देवापि-मरू साम्प्रत समवस्थितौ।

पुरु वंश[63] के राजा देवापि और इक्ष्वाकु वंश के मरु कठोर महायोगकारी शक्ति से पूर्ण मनु के वंश में बीज-रूप में स्थित होकर कलाप ग्राम में निवास कर रहे हैं। वे यहाँ (अगले) कृतयुग में आवेंगे और पुनः क्षत्रिय जाति की स्थापना करेंगे। व्यवस्था के अनुसार पृथ्वी का भोग मनु के पुत्र, कृत, त्रेता और द्वापर नाम के तीनों युगों में करते हैं। किन्तु कलि में कुछ व्यक्ति पृथिवी पर (भविष्यत्कालीन जाति के) ही बीज रूप में शेष रह जाते हैं, जैसे देवापि और मरु सम्प्रति विद्यमान हैं।"

भागवतपुराण ९. २२, १७ के अनुसार चन्द्रवंश का ही कलियुग में नाश हुआ था और उसकी पुनः स्थापना देवापि अगले कृत युग में करनेवाले हैं (सोम-वंशे कलौ नष्टे कृतादौ स्थापयिष्यति)।

मैं यहाँ मत्स्यपुराण के १३२ वें खण्ड से जिसे, 'मन्वन्तरवर्णनम्' (मन्वन्तरों का वर्णन) कहा जाता है, इसके उपसंहार में आनेवाले कतिपय ऋषियों के वर्णन का उद्धरण दूँगा।

९८. भृगुः काश्यः प्रचेताश् च दधीचो ह्य् आत्मवान् अपि। ९९. और्वोऽथ जमदग्निश् च कृपः शारद्वतस् तथा। आर्ष्टिषेणो युधाजिच् च वीतहव्य-सुवर्चसौ। १०० वेणः पृथुर् दिवोदासो ब्रह्माश्वो गृत्स-शौनकौ। एकोनविंशतिर् ह्य् एते भृगवो मन्त्रकृत्तमाः। १०१. अङ्गिरा वेधसश् चैव भरद्वाजो भलन्दनः। ऋतवाधस् ततो गर्गः सितिः सङ्कृतिर् एव च। १०२ गुरुधीरश् च मान्धाता अम्बरीषस् तथैव च। युवनाश्वः पुरुः कुत्सः प्रद्युम्नः श्रवनस्य च। १०३. अजमीढोऽथ हर्यश्वस् तक्षपः कविर् एव च। पृषदश्वो विरूपश् च कण्वश् चैवाथ मुद्गलः। १०४. उतथ्यश् च शरद्वाश् च तथा वाजश्रवा इति। अपस्योऽथ सुवित्तश् च वामदेवस् तथैव च। १०५. अजितो बृहदुक्थश् च ऋषिर् दीर्घतमा अपि। कक्षीवाश् च त्रयस्त्रिंशत् स्मृता ह्य अङ्गिरसो वराः। १०६. एते मन्त्र-कृतः सर्वे कश्यपास् तु निबोधत।.. १११. विश्वामित्रश् च गाधेयो देवराजस् तथावलः। तथा विद्वान् मधुच्छन्दाः

---

[63] बीसवें अध्याय में, जैसा कि हम देख चुके हैं, उसे कुरु वंश का बताया गया है।

ऋषभश् चाघमर्षणः । ११२. अष्टको लोहितश् चैव भृतकीलश् च ताव् उभौ । वेदाश्रवाः देवरातः पुराणाश्वो धनञ्जयः । ११३. मिथिलश् च महातेजाः सालंकायन एवं च । त्रयोदशैते विज्ञेयाः ब्रह्मिष्ठाः कौशिकाः वराः । . . . । ११५. मनुर् वैवस्वतश् चैव इडो राजा पुरूरवाः । क्षत्रियाणां वराः ह्य् एते विज्ञेयाः मन्त्रवादिनः । ११६. भलन्दश् चैव वन्द्यश् च संकीर्त्तिश्[६३] चैव ते त्रयः । एते मन्त्र-कृतो ज्ञेयाः वैश्यानाम् प्रवराः सदा । ११७. इत्य् एक-नवतिः प्रोक्ताः मन्त्राः यैश् च वहिः कृतः । ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्याः ऋषिपुत्रान् निबोधत । ११८. ऋषीकाणां सुताः ह्य् एते ऋषि-पुत्राः श्रुतर्षयः ।[६४]

९८, भृगु, काश्य, प्रचेतस्, दधीच, आत्मवत्, (९९) और्व, जमदग्नि, कृप, शारद्वत, आर्ष्टिषेण, युधाजित्, वीतहव्य, सुवर्चस् (१००) वैण, पृथु, दिवोदास, ब्रह्माश्व, गृत्स, शौनक, ये उन्नीस[६५] भृगु सूक्तों के रचयिता है । १०१. अङ्गिरस्, वेधस, भरद्वाज, भलन्दन,[६६] ऋतवाध, गर्ग, सिति, संकृति, गुरुधीर,[६७] मान्धातृ, अम्वरीष, युवनाश्व, पुरुकुत्स,[६८] प्रद्युम्न, श्रवणस्य,[६९] अजमीढ, हर्यश्व, तक्षप, कवि, पृषदश्व, विरूप, कण्व, मुद्गल, उतथ्य, शरद्वत्, वाजश्रवस्, अपस्य, सुवित्त, वामदेव, अजित, बृहदुक्थ, दीर्घतमस्, कक्षीवत्, ये तैंतीस प्रमुख अङ्गिरस कहे गये है । ये सभी सूक्तों के रचयिता थे । अब कश्यपों को जान लो.. । १११. गाधि के पुत्र विश्वामित्र, देवराज, वल, बुद्धिमान मधुच्छन्दस्, ऋषभ, अघमर्षण, (११२) अष्टक, लोहित, भृतकील, वेदश्रवस्, देवराज, पुराणाश्व, धनञ्जय, तेजस्वी (११३) मिथिल, सालङ्कयन,

---

[६३] अनेक पाठ है—भलन्दकश् च वासाश्च सङ्कालश्च ।

[६४] मत्स्यपुराण के इस खण्ड की एक अतिरिक्त प्रति के लिए (जिसका कुछ विवरण प्रोफेसर आफरेख्त ने अपने केटलाग पृ० ४१ पर दिया है) क्वीस कालेज वनारस के प्रिंसपल ग्रिफिथ महोदय का आभारी हूँ, जिन्होंने मेरे अनुरोध पर वनारस की अन्य हस्तप्रतियो के साथ इसका मिलान कराया है । जिस अंश का मैंने उद्धरण दिया है उसके सभी विभिन्न पाठो को प्रदर्शित करना मैंने आवश्यक नही समझा है ।

[६५] वैण और पृथु को दो पृथक् व्यक्ति मानने पर ही उन्नीस सख्या होती है ।

[६६] इस शब्द के स्थान पर बनारस की एक हस्तप्रति मे 'लक्ष्मण' है ।

[६७] दो हस्तप्रतियो मे 'तुरवीत' है ।

[६८] हस्तप्रति मे यह शब्द दो भागो मे वटे है ।

[६९] दो हस्तप्रतियो मे इसके स्थान पर 'स्वश्रवस्' और 'तमस्यवत्' है ।

ये तेरह धर्मात्मा और प्रसिद्ध कुशिक[७०] कहे गये हैं।... ११५. मनु वैवस्वत, इड, राजा पुरूरवस्, ये क्षत्रियों में प्रमुख सूक्त रचयिता कहे गये हैं। ११६. भलन्द, वन्द्य और संकीर्त्ति[७१] इन्हें सदैव उन तीन प्रमुख वैश्यों के रूप में जाना जाता है जिन्होंने सूक्तों की रचना की। ११७. इस प्रकार इक्यानवे[७२] व्यक्तियों का उल्लेख किया गया है, जिन्होंने सूक्तों की रचना की और जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों के थे। अब ऋषियों के पुत्रों को जानो। ११८ ये ऋषीकों के पुत्र हैं, जो ऋषियों के पुत्र और श्रुतर्षि थे।

यह खण्ड यहीं समाप्त होता है।

इस उद्धरण की पहले दिये गये विस्तृत वर्णनों के साथ तुलना करने पर यह पाया जायगा कि कुछ राजर्षियों या राजवंशियों में आर्ष्टिषेण, वीतहव्य और पृथु (पृथी से अभिन्न) जैसे व्यक्तियों को भृगु के वंश का बताया गया है, जब कि उसी वर्ग के दूसरों, जैसे मान्धातृ, अम्बरीष, युवनाश्व, और पुरुकुत्स को अंगिरसों में गिनाया गया है। विश्वामित्र और उनके वंशजों को केवल कुशिक कहा गया है और उनके राजन्य वंश का कोई उल्लेख नहीं किया गया है, किन्तु मनु, इड और पुरूरवस् को स्पष्टत सूक्तों का रचयिता और क्षत्रिय स्वीकार किया गया है। और इससे भी अधिक उल्लेखनीय यह है कि तीन वैश्यों को आर्ष कवि कहा गया है। यद्यपि आरम्भिक युग की ये परम्पराएँ अल्प हैं, तथापि यह प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त हैं कि वैदिक युग में काव्य रचना की क्षमता, और देवताओं के पूजन में पौरोहित्य कर्म का विशेषाधिकार केवल पुरोहितों के वंश तक ही सीमित नहीं माना जाता था।

ख० ३—ब्राह्मणीय आत्माभिमान पर प्रकाश डालनेवाले अथर्ववेद के अंश

मैं पहले ही (पृ० २५ तथा २६) ब्राह्मण एवं क्षत्रियों की उत्पत्ति के विषय में अथर्ववेद से तीन छोटे अंश उद्धृत कर चुका हूँ। अब मैं उसी संकलन से कुछ और ऐसे अंश प्रस्तुत करूँगा जिनमें पुरोहितों के आत्माभिमानों का

---

[७०] जब तक कि इनमे कुछ शब्द, जिन्हे मैंने नाम के रूप मे लिया है, विशेषण न हो तो यहाँ पन्द्रह व्यक्तियो को गिनाया गया है।

[७१] कुछ हस्तप्रतियो मे भलन्दक, वन्ध या वासस् तथा सकाल या सकीर्ण है।

[७२] यह कई सूत्रियो का योग है, जिसमे से कुछ को मैंने छोड दिया है।

उसकी अपेक्षा अधिक पवित्र और अनतिक्रमणीय स्वरूप में विकास हुआ है, जितना हम यदि दशम मण्डल के १०९वें सूक्त (ऊपर उद्धृत) को छोड़कर ऋग्वेद के किसी भी भाग में पाते हैं।

सर्वप्रथम मैं पाँचवें काण्ड का १७वाँ सूक्त उद्धृत करूंगा, जिसके ऋग्वेद १०. १०९ का एक विस्तृत रूप होने का उल्लेख मैं पहले कर चुका हूँ :—

अथर्ववेद ५. १७ (मन्त्र १–३ अल्प पाठभेद के साथ ऋग्वेद १०. १०९ के मन्त्र १–३ के समान हैं) ४. याम् आहुस् "तारका एषा विकेशी" इति दुच्छुनां ग्रामम् अवपद्यमानाम्। सा ब्रह्म-जाया वि दुनोति राष्ट्रं यत्र प्रापादि शशः उल्कुषीमान्। (मन्त्र ५ और ६ = ऋ० वे १०. १९९ के मन्त्र ५ और ४)। ७. ये गर्भाः अवपद्यन्ते जगद् यच् चापलुप्यते। वीराः ये तृह्यन्ते मिथो ब्रह्म–जाया हिनस्ति तान्। ८. उत यत् पतयो दश स्त्रियाः पूर्वे अब्राह्मणाः। ब्रह्मा चेद् हस्तम् अग्रहीत् स एव पतिर् एकधा। ९. ब्राह्मणः एव पतिर् न राजन्यो न वैश्यः। तत् सूर्यः प्रब्रुवन्न् एति पञ्चभ्यो मानवेभ्यः। (मन्त्र १० और ११ = ऋ० वे० १०. १०६ के मन्त्र ६ और ७)। १२. नास्य जाया शतवाही कल्याणी तल्पम् आ शये। यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्म-जाया अचित्त्या। १३. न विकरणः पृथुशिरास् तस्मिन् वेश्मनि जायते। यस्मिन्न् इत्यादि। १४. नास्य क्षत्ता निष्क-ग्रीवः सूनानाम् एति अग्रतः। यस्मिन्न् इत्यादि। १५. नास्य श्वेतः कृष्ण-कर्णो धुरि युक्तो महीयते। यस्मिन्न् इत्यादि। १६. नास्य क्षेत्रे पुष्करणी नाण्डीकं जायते विसम्। यस्मिन्न् इत्यादि। १७. नास्मै पृश्णिं वि दुहन्ति येऽस्याः दोहम् उपासते। यस्मिन्न् इत्यादि। १८. नास्य धेनुः कल्याणी नानड्वान् सहते युगम्। विजानिर् यत्र ब्राह्मणो रात्रिं वसति पापया।

"..... ४. वह विपत्ति जो किसी गाँव पर गिरती है और जिसके विषय में कहा जाता है कि 'यह बिखरे हुए केश वाला तारका' है, वस्तुतः ब्रह्मन् की पत्नी होती है, जो उस राज्य का नाश कर देती है। और यही बात उस देश के विषय में होती है, जहाँ एक शश उल्कासहित पहुँचता है... ७. जब कभी गर्भपात होते हैं या किसी चल वस्तु का नाश होता है, जब कभी मनुष्य एक दूसरे का वध करते हैं, तो ब्राह्मण की पत्नी ही उन्हें मारती है। ८. जब किसी स्त्री के पहले दस पति हो चुके रहते हैं जो ब्राह्मण नहीं रहते, तो ब्रह्मन् के पाणिग्रहण (विवाह) करने पर ब्राह्मण ही उसका पति होता है। ९. केवल ब्राह्मण ही पति होता है, राजन्य या वैश्य नहीं। इसी (सत्य) की घोषणा सूर्य पाँच वर्ण के मनुष्यों (पञ्चभ्यो मानवेभ्यः) में

करता हुआ भ्रमण करता है.. । '१२. उस (राजा की) पत्नी अपनी शय्या पर इस राज्य में शान्ति और वृद्धि (शतवाही) नहीं प्राप्त करती जिस राज्य में ब्रह्मन् की पत्नी को मूर्खतापूर्वक वन्दिनी बनाया जाता है। १३ उस राज्य में लम्बे कानों (विकर्णः) और बड़े मस्तकवाला पुत्र नहीं उत्पन्न होता। १४. राजा की सेना[७३] के आगे सोने का हार धारण करने वाला महारथी नहीं चलता। १५. काले कानों वाला श्वेत वर्ण का अश्व उस राज्य में (राजा के) रथ में जुता हुआ नहीं दिखाई पड़ता, इत्यादि। १६ उस राज्य में उस (राजा) के उपवन में खिले हुए कमलों वाला कोई सरोवर नहीं होता, जहाँ । १७. उस (राजा) की गाय को उसके गोपालक उस राज्य में नहीं दुहते । १८. उस (राजा) की गौ पुष्ट नहीं होती और न उसके बैल जुए को धारण करते हैं, जिस राज्य में ब्राह्मण बिना पत्नी के कष्टपूर्वक रात्रि व्यतीत करता है।"

यह सूक्त यह प्रदर्शित करता है कि अन्य दृष्टियों से ब्राह्मणों का आत्माभिमान चाहे कितना भी निराधार क्यों न हो इनकी रचना के अपेक्षतया अधिक बाद के समय में भी वे पुरोहितों की रक्त-शुद्धता का अत्यल्प ध्यान रखते थे, क्योंकि वे न केवल अपने जाति की स्त्रियों के साथ या ऐसी स्त्रियों के साथ भी अन्तर्विवाह करते थे जो पहले अकेले रह चुकी थी, अपितु वे यदि राजन्यों और वैश्यों[७५] की स्त्रियों को उनके पतियों के जीवन काल में नहीं तो उनके मरने के उपरान्त उनके साथ सम्बन्ध रखने के अभ्यस्त हो गये थे।[७६] यदि हम इन स्त्रियों को पुरोहितों के परिवारों

[७३] यहाँ मूल मे 'सूनानाम्' शब्द है, जिसके साथ कोई अर्थ लगाना कठिन है। क्या हम इसे 'सेनानाम्' नही पढ सकते ?

[७४] तुलना ऋग्वेद १० १०७, १०।

[७५] उस समय के हिन्दुओ मे स्त्रियो का पुनर्विवाह प्रचलित था यह अथर्ववेद ९ ५, २७ आदि से प्रदर्शित है जो ज० ए० सो० १८६५ पृ० २९९ मे प्रकाशित यम विषयक मेरे लेख मे उद्धृत है।

[७६] दूसरी कल्पना को इस बात से कुछ बल मिलता है कि ये दोनो मंत्र (अ० वे० ५ १७, ८ २) यह कहते हैं कि ब्राह्मण ही केवल वास्तविक पति था। जिससे यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि राजन्य और वैश्य पति जीवित नही थे, और अपनी पत्नियो को पुन प्राप्त करने के लिये उद्यत नही थे तो क्या इसीलिये इस जोरदार और पुनरावृत्त कथन की आवश्यकता पड़ी ? 'इन मन्त्रो की व्याख्या बिना इस धारण के भी हो सकती है।

का भी मान लें तो इससे यही प्रकट होगा कि उस वर्ण की स्त्रियों के लिए राजन्यों या वैश्यों से विवाह करना अजीब नहीं था, यह एक ऐसा तथ्य है जिसका निःसन्देह यह अर्थ निकल सकता है कि वर्ण-व्यवस्था का या तो शिथिलता के साथ पालन किया जाता था या उसका आरम्भिक वैदिक युग के भारतीयों में अभी श्रीगणेश ही हो रहा था। इस युग में भारतीय परम्परा के विपरीत गये बिना, ब्राह्मण राजन्य स्त्रियों से विवाह करते थे यह बात भी ऋषि च्यवन और राजा शर्यात की पुत्री सुकन्या की कथा से स्पष्टत परिलक्षित होती है, जो शतपथ ब्राह्मण में कही गई है, और १८६६ के जर्नल

यह द्रष्टव्य है कि यहा शूद्रो का एक ऐसे वर्ण के रूप मे जिसमे ब्राह्मणो का अन्तर्विवाह होता था, कोई उल्लेख नही किया गया है। तीन उच्च वर्णों के समान शूद्र आर्य नही थे। यह भेद अथर्ववेद १९ ६२, १ के निम्निलिखित मन्त्र मे स्वीकार किया गया है "मुझे देवताओ का प्रिय बनाओ, राजाओ का प्रिय बनाओ, और मुझे देखने वाले प्रत्येक व्यक्ति का प्रिय बनाओ, शूद्र और आर्य दोनो का प्रिय बनाओ।" (जब तक कि हम यह न मान ले कि यहाँ और १९ ३२, ८ मे अर्य=वैश्य, आर्य नही, शब्द है)। शतपथ ब्राह्मण, काव्य शाखा (अश्व काण्ड १ ६) मे वही बात इन शब्दो मे कही गई है (जो अशत पृ० १७६ मे उद्धृत है) जिसकी एक प्रति के लिए मै प्रो० मूलर का अनुगृहीत हूँ तन् न सर्व एव प्रपद्येत न हि देवा सर्वेणैव सङ्गच्छते। आर्य एव ब्राह्मणो वा क्षत्रियो वा वैश्यो वा ते हि यज्ञियाः। नो एव सर्वेणैव सम्वदेत न हि देवा· सर्वेणैव सम्वदन्ते आर्येणैव ब्राह्मणेन वा क्षत्रियेण वा वैश्येन वा ते हि यज्ञिया। यत्र एनम् शूद्रेण सम्वादो विन्देत् "इत्थम् एनम् निचक्ष्व" इत्य् अन्यम् ब्रूयाद् एप दीक्षितस्योपचार.। "प्रत्येक व्यक्ति इसे नही प्राप्त कर सकता (क्योकि देवता प्रत्येक व्यक्ति से सम्पर्क नही रखते) केवल आर्य, ब्राह्मण या क्षत्रिय या वैश्य ही प्राप्त करते हैं, क्योकि ये ही यज्ञ करते है। किसी को प्रत्येक व्यक्ति से सलाप नही करना चाहिए (क्योकि देवता सभी से सताप नही करते) किन्तु केवल एक आर्य, ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य से ही सलाप करते है, क्योकि ये ही यज्ञ करते है। यदि किसी को शूद्र से बोलना पडे तो वह दूसरे व्यक्ति से इस प्रकार कहे 'उस व्यक्ति से ऐसा कहो,' यही दीक्षित व्यक्ति का नियम है।

माध्यन्दिन शाखा के समान अश मे (वेवरे के सस्करण का पृ० २२४) यह अश कुछ भिन्न रूप मे दिया गया है।

मनु (९ १४९–१५७, १० ७ आदि) से यह स्पष्ट है कि ब्राह्मणो के शूद्रो के साथ अन्तर्विवाह होते थे, यद्यपि इनकी सन्तान पतित होती ह।

आफ द रायल एशियाटिक सोसाइटी, पृ० ११, आदि में प्रकाशित मेरे निबन्ध "कन्ट्रीब्यूशन्स टु ए नालेज आफ वेदिक माइथोलाजी" में उद्धृत है। ऋषि श्यावाश्व की भी कथाएँ देखिए जिन्होंने राजा रथवीति की पुत्री से विवाह किया। यह कथा ऋग्वेद ५. ६१ के भाष्य में भाष्यकार ने कही है और प्रोफेसर विलसन के अनुवाद, भाग ३, पृ० ३५४ में दी गई है।

उसी ग्रंथ से दूसरा सूक्त अधिक सजीवता और उत्साह के साथ पुरोहित की नियुक्ति से राजा को प्राप्त होनेवाले शुभ फलों का वर्णन करता है।

अथर्व-वेद ३. १९, १. संशितम् मे इदम् ब्रह्म संशितम् वीर्यम् बलम्। संशितम् क्षत्रम् अजरम् अस्तु जिष्णुर् (? जिष्णु) येषाम् अस्मि पुरोहितः। २. सम् अहम् एषाम् राष्ट्रं स्यामि सम् ओजो वीर्यम् बलम्। वृश्चामि शत्रूणाम् बाहून् अनेन हविषा अहम्। ३. नीचैः पद्यन्ताम् अधरे भवन्तु ये नः सूरिम् मघवानम् पृतन्यान्। क्षिणामि ब्रह्मणाऽमित्रान् उन्नयामि स्वान् अहम्। ४. तीक्ष्णीयांसः परशोर् अग्नेस् तीक्ष्णतरा उत। इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसो येषाम् अस्मि पुरोहितः। ५. एषाम् अहम् आयुधा सं स्यामि एषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि। एषां क्षत्रम् अजरम् अस्तु जिष्णु एषां चित्तं विश्वे अवन्तु देवाः। ६. उद्धर्षताम् मघवन् वाजिनानि उद् वीराणां जयताम् एतु घोषः। पृथग्घोषाः उलुलयः केतुमन्तः उदीरताम्। देवा इन्द्र-ज्येष्ठा मरुतो यन्तु सेनया। ७. प्रेत जयत नरः उग्राः वः सन्तु बाहवः। तीक्ष्णेषवो अबल-धन्वानो हत उग्रायुधाः अबलान् उग्रबाहवः। ८. अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्म-संशिते। जयामित्रान् प्र पद्यस्व जह्येषाम् वरं वरम् माऽमीषाम् मोचि कश्चन।

"१ मेरी यह प्रार्थना सफल होवे, उनका ओज और शक्ति पूर्ण होवे, बलपूर्ण अक्षय और विजयी होवे, जिनका मैं पुरोहित हूँ। २ मैं उनके राज्य को सुरक्षित बनाता हूँ, उनकी शक्ति, तेज और बल को बढ़ाता हूँ। मैं उनके शत्रुओं की भुजाओं को इस हवि द्वारा तोड़ता हूँ। ३. ये सभी, जो मेरे बुद्धिमान् और समृद्धिशाली राजा के विपरीत युद्ध करते हैं, नीचे गिर जाँय और पददलित हो जाँय। अपनी प्रार्थनाओं के द्वारा मैं उसके शत्रुओं का नाश करता हूँ और मित्रों की उन्नति करता हूँ। ४. मैं जिनका पुरोहित हूँ वे परशु से भी अधिक तेज, अग्नि से भी अधिक तेज और वज्र से भी अधिक तीक्ष्ण होवें। ५ मैं उनके अस्त्रों को शक्तिशाली बनाता हूँ, मैं उनके राज्य को वीरों से भरपूर बनाता हूँ। उनकी शक्ति अक्षय और विजयिनी होवे। सभी देवता उनकी इच्छा को पूरा करें। हे मघवन्, उनके वीरता के कार्य फूटें, विजय करने वाले वीरों का जयघोष उठे, उनकी स्पष्ट ध्वनि, उनका हुंकार

ऊपर उठे; देवता और इन्द्र के प्राधान्य में मरुत उनकी सेना के साथ प्रयाण करें। योद्धाओं! जाओ, जीतो, तुम्हारे अस्त्र तीव्र होंवे। तुम तीक्ष्ण बाणों से उनका नाश करो जिनके धनुषों में शक्ति नहीं है। तुम, जिसके अस्त्र भयंकर हैं, दुर्बलों को मार गिराओ। ८. हे बाण, छोड़े जाने पर प्रार्थना की शक्ति से प्रेरित होकर आगे बढ़ो। शत्रुओं को पराजित करो, उन पर आक्रमण करो, उनमें चुने हुओं को मार डालो, उनमे एक भी बचने न पावे।"

उसी संहिता से नीचे दिये गये दो सूक्त ब्राह्मण को सताने एवं उनका धन छीनने से होने वाले अपराध, भय एवं भयकर परिणामों का वर्णन करते है। उग्र पुरोहित वर्ग के दम्भ का प्रदर्शन शायद ही इससे अधिक जोर-शोर के साथ किया जा सकता है।

अथर्व-वेद ५. १८, १. नैतां ते देवाः अददुस् तुभ्यं नृपते अत्तवे। मा ब्राह्मणस्य राजन्य गां जिघत्सो अनाद्याम्। २. अक्षद्रुग्धो राजन्यो पापः आत्म-पराजितः। स ब्राह्मणस्य गाम् अद्याद् "अद्य जीवानि मा श्व."। ३. आविष्टिता अघ-विषा पृदाकूर् इव चर्मणा मा ब्राह्मणस्य राजन्य तृष्टा एषा गौर् अनाद्या। ४. निर् वै क्षत्रं नयति हन्ति वर्चो अग्निर् आरब्धो वि दुनोति सर्वन्। यो ब्राह्मणम् मन्यते अन्नम् एव स विषस्य पिबति तैमातस्य। ५. यः एनं हन्ति मृदुम् मान्यमानो देव-पीयुर् धन-कामो न चित्तात्। सं तस्य इन्द्रो हृदये अग्निम् इन्धे उभे एनं द्विष्टो नभसी चरन्त। ६. न ब्राह्मणो हिंसितव्यो अग्निः प्रियतनोर् इव। सोमो हि अस्य दायादः इन्द्रो अस्याभिशस्तिपाः। ७. शतापाष्ठाम् नि गिरति तां न शक्नोति नि'खिदम्। अन्न यो ब्राह्मणाम् मल्वः स्वादु अद्मीति मन्यते। ८. जिह्वा ज्या भवति कुल्मलं वाङ् नाडीकाः दन्तास् तपसाऽभिदग्धाः तेभिर् ब्रह्मा विध्यति देव-पीयून् हृद् बलैर् धनुर्भिर् देव-जूतैः। ९, तीक्ष्णेषवो ब्राह्मणाः हेतिमन्तो याम् अस्यन्ति शरव्यां न सा मृषा। अनुहाय तपसा मन्युना च उत दूराद् अव भिन्दन्ति एनम्। १०. ये सहस्रन् अराजन्न आसन् दश-शता उत। ते ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा वैतहव्याः पराभवन्। ११. गौर् एव तान् हन्यमाना वैतहव्यान् अवातिरत्। ये केसरप्रावन्धायाश् चरमाजाम् अपेचिरन्। १२. एक-शतं ताः जनताः या' भूमिर् व्यधूनुत। प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीम् असंभव्यम् पराभवन्। १३. देव-पीयुश् चरति मर्त्येषु गर-गीर्णो भवति अस्थि-भूयान्। यो ब्राह्मण देव-बन्धुम् हिनस्ति न स पितृयाणम् अप्येति लोकम्। १४. अग्निर् वै नः पदवाय' सोमो दायाद उच्यते। हन्ता-

भिशस्ता इन्द्रस् तथा तद् वेधसो विदुः। १५. इपुर् इव दिग्धा नृपते पृदाकूर् इव गोपते। सा ब्राह्मणस्य इपुर् घोरा तया विध्यति पीयतः।

"१. हे राजा, देवताओं ने तुम्हें यह (गाय) भक्षण करने के लिए नहीं दिया है। हे राजन्य (राजवंश के पुरुष) इस ब्राह्मण की गाय को खाने की इच्छा मत करो जो अभक्ष्य है। २. दुष्ट राजन्य जुए में हार कर और स्वयं नष्ट होकर ब्राह्मण की गाय का यह कहकर भक्षण करेगा 'यदि कल मैं जीवित नहीं रहता तो आज ही जीवित रहूँ।' ३. चर्म से आवृत्त गौ सर्प के समान विष से भरी होती है। हे राजन्य, इस ब्राह्मण की गौ से सावधान रहो, वह अशुभ करने वाली है और उसका भक्षण नहीं करना चाहिए। ४. वह उसकी राज्यसत्ता का नाश करती है, उसके तेज का नाश करती है, और प्रज्वलित अग्नि के समान उसे समूचा जला डालती है। जो व्यक्ति ब्राह्मण को भक्ष्य अन्न मात्र के समान समझता है वह सर्प के विष का पान करता है। ५. देवताओं की निन्दा करने वाले उस व्यक्ति के हृदय में इन्द्र अग्नि जलाता है जो ब्राह्मण को दुर्बल जान कर आघात पहुँचाता है और उसकी सम्पत्ति छीनना चाहता है। ऐसा करने वाले व्यक्ति से आकाश और पृथ्वी घृणा करती है। ब्राह्मण को सताना नहीं चाहिए जैसे जिसे अपना शरीर प्रिय है उस व्यक्ति को अग्नि के निकट नहीं जाना चाहिए। सोम उस (ब्राह्मण) का स्वजन होता है और इन्द्र विपत्तियों से उसकी रक्षा करता है। ७. जो दुष्ट व्यक्ति पुरोहित का अन्न खाते समय उसके सुस्वादु होने की बात सोचता है वह सैकड़ों तीक्ष्ण नोकों से युक्त गौ का भक्षण करता है किन्तु उसे पचा नहीं सकता। ८. पुरोहित की जिह्वा धनुष की डोरी होती है, उसके शब्द शूल के अग्रभाग, और उसकी श्वासनलिका अग्नि से युक्त बाणों का अग्रभाग होती है। इन देवताओं से चलाये गये और हृदय को विद्ध करने वाले धनुषों से पुरोहित, देवता की निन्दा करनेवाले व्यक्ति को बींधता है। तीक्ष्ण बाणों से युक्त एवं आयुधों से युक्त ब्राह्मण जन बाण छोड़ते हैं तो वह अमोघ होता है। उग्र शक्ति एवं क्रोध के साथ बाण छोड़कर वे दूर से ही (शत्रु का) नाश कर देते हैं। १०. वीतहव्य के वंशज, जिन्होंने सहस्रों मनुष्यों पर शासन किया और जो संख्या में दस सौ थे, ब्राह्मण की गाय का भक्षण करने पर पराजित हुए।[८७] ११. वध किये जाने पर स्वयं गौ ने उन लोगों का नाश कर दिया— जिन मनुष्यों ने केसरप्राबन्धा की अन्तिम अजा को भी पका डाला। १२.

---

[८७] मुझे ज्ञात नहीं कि इस कथा के कोई चिह्न पुराणों या महाभारत में प्राप्य हैं या नहीं। आगे उद्धृत किये गये सूक्त का प्रथम मन्त्र देखिए।

सैकड़ों व्यक्ति, जिन्हें पृथ्वी ने पुरोहित जाति का अपमान करने के दण्ड स्वरूप दूर फेंक दिया, अचिन्तनीय रूप से पराभूत हुए। १३. वह मनुष्यों में देवद्रोही के रूप में निवास करता है। विष से प्रभावित होकर उसका अस्थिपंजर मात्र शेष रह जाता है; जो देवताओं के स्वजन, ब्राह्मण के साथ दुर्व्यवहार करता है, वह पूर्वजों के स्वर्ग को नहीं प्राप्त कर पाता। १४. अग्नि हमारा नेता कहा गया है, सोम हमारा स्वजन है। इन्द्र हम पर आये हुई विपत्तियों को शान्त करता है, इसे बुद्धिमान लोग समझते हैं। १५. हे राजा! तीक्ष्ण बाण के समान, हे गौओं के स्वामी एक सर्प के समान—उस ब्राह्मण का तीर होता है, जिससे वह अपने शत्रुओं को बींधता है।

अथर्व-वेद ५. १९, १. अतिमात्रम् अवर्धन्त नोद् इव दिवम् अस्पृशन् भृगुन् हिंसित्वा सृञ्जयाः वैतहव्याः पराभवन्। २. बृहत्सामानम् अङ्गिरसम् आर्पयन् ब्राह्मणं जना। पेत्वश् तेपाम् उभयादम् अविस् तोकान्य् आवयत्। ३ ये ब्राह्मणम् प्रत्यष्ठीवन् ये वाऽस्मिन् शुल्कम् ईपिरे। अस्नस् ते मध्ये कुल्यायाः केशान् खादन्त आसते। ४. ब्रह्मगवी पच्यमाना यावत् साऽभि विजङ्गहे। तेजो राष्ट्रस्य निर्हन्ति न वीरो जायते वृषा। ५. क्रूरम् अस्याः आशसनं तृष्टम् पिशितम् अस्यते। क्षीरं यद् अस्याः पीयते तद् वै पितृषु किल्बिषम्। ६. उग्रो राजा मन्यमानो ब्राह्मणं यज् जिघत्सति। परा तत् सिच्यते राष्ट्रम् ब्राह्मणो यत्र जीयते। ७. अष्टापदी चतुरक्षी चतुःश्रोता चतुर्हनुः। द्वास्या द्विजिह्वा भूत्वा सा राष्ट्रम् अवधूनुते ब्रह्मज्यस्य। ८. तद् वै राष्ट्रम् आस्रवति नावम् भिन्नाम् इवोदकम्। ब्रह्माणं यत्र हिंसन्ति तद् राष्ट्रम् हन्ति दुच्छुना। ९. तं वृक्षाः अपसेधन्ति "छायां नो मोप गाः" इति। यो ब्राह्मणस्य सद्धनम् अभि नारद मन्युते। १०. विषम् एतद् देव-कृतं राजा वरुणो अब्रवीत्। न ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा राष्ट्रे जागार कश्चन। ११. नवैव ताः नवतयो याः भूमिर् व्यधूनुत। प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीम् असम्भव्यम् पराभवन्। १२ याम् मृतायानुबध्नन्ति कूद्यम् पदयोपनीम्। तद् वै ब्रह्मज्य ते देवाः उपस्तरणम् अब्रुवन्। १३. अश्रूणि कृपमाणस्य यानि जीतस्य वावृतुः तं वै ब्रह्मज्य ते देवाः अपाम् भागम् अधारयन्। १४. येन मृतं स्नपयन्ति श्मश्रूणि येन उन्दते। तं वै ब्रह्मज्य ते देवाः अपाम् भागम् अधारयन्। १५. न वर्ष मैत्रावरुणम् ब्रह्मज्यम् अभि वर्षति। नास्मै समितिः कल्पते न मित्रं नयते वशम्।

"१. वीतहव्य के वंशज सृञ्जयों की बहुत वृद्धि हुई, उन्होंने प्रायः आकाश को छू दिया, किन्तु भृगु को आघात पहुँचने के उपरान्त वे पराभूत हो गये।

२. जब लोगों ने अङ्गिरस के एक वंशज, ब्राह्मण बृहत्सामन् को विद्ध किया तो दो दन्तपंक्ति वाले मेष ने उनके बच्चों को निगल लिया। ३. जो ब्राह्मण पर थूकते हैं या उस पर गन्दी वस्तुएँ फेंकते हैं वे रुधिर की धारा में बैठकर केशों का भक्षण करते हैं। ४. जितनी दूर तक इस ब्राह्मण की गाय काटी गई है और पकाई गई है उतनी दूर तक वह राज्य के गौरव को नष्ट करती है, उसमें कोई वीर जन्म नहीं लेता। ५ उसे मारना निर्दयतापूर्ण है, उसका अप्रिय मास फेंक दिया जाता है' उसका दूध पीने पर वह पूर्वजों में पाप समझा जाता है। ६. जब कभी कोई राजा अपने को शक्तिशाली मानकर ब्राह्मण का भक्षण करना चाहता है, तो उस राज्य के टुकड़े हो जाते हैं जिस राज्य में ब्राह्मण को सताया जाता है। चार पैरों, चार आँखों, चार कानों चार जबड़ों, दो मुख, दो जीभ से युक्त होकर वह (गौ) ब्राह्मण को सताने वाले के राज्य को छिन्न-भिन्न कर देती है। ८. उस राज्य में वृष्टि से बाढ़ आती है जैसे जल छेदवाली नाव मे भर जाता है, और विपत्ति उस राज्य पर घहराती है जिस राज्य में पुरोहित के साथ दुर्व्यवहार होता है। ९. हे नारद, वृक्ष भी उस व्यक्ति को छाया नहीं देते और छाया से दूर कर देते है जो ब्राह्मण की सम्पत्ति में अंश पाने का अधिकार दिखाता है। यह सम्पत्ति, जैसा कि राजा वरुण ने कहा है, देवताओं द्वारा विष बना दी गई है। कोई भी व्यक्ति, जिसने ब्राह्मण की गौ का भक्षण किया है, किसी राज्य पर अधीक्षण (शासन) नहीं कर सकता। ११. वे नौ गुने निन्यानवे (मनुष्य) जिन्हें पृथ्वी ने उस समम दूर फेंका, जब, उन्होंने पुरोहित-वर्ग के साथ दुर्व्यवहार किया अचिन्तनीय रूप मे पराजित हुए थे (पूर्ववर्ती सूक्त का मन्त्र १२ देखिए)। १२. देवताओं ने यह घोषणा की है कि जिस वस्त्र से मृत व्यक्ति के पैरों को बाँधा जाता है वही तुम पुरोहितों के सतानेवाले का आस्तरण होगा। १३ शूली पर चढ़ाये जाने वाले मनुष्य के रोने से जो अश्रु बहते हैं—वही जल तुम पुरोहितों को सताने वाले के लिए देवताओं ने निर्धारित किया है। १४. देवताओं ने तेरे लिए वही जल निर्धारित किया है, जिससे मृत व्यक्ति को धोया जाता है और उसकी दाढ़ी को भिगोया जाता है। १५ पुरोहितों के सताने वाले के लिए मित्र और वरुण की वर्षा नहीं होती। उसको युद्ध में कभी सफलता नहीं मिलती और न उसके मित्र उसके वश मे रहते हैं।"

पाठक का ध्यान उस घृणा और भर्त्सना की उग्रता की ओर आकृष्ट किया जाता है, जो इस अन्तिम सूक्त के मन्त्र ३ और १२–१४ द्वारा व्यक्त किया गया है।

उसी वेद का एक दूसरा खण्ड १२. ५ है जिसमें इन अन्तिम दो सूक्तों में आए हुए अभिशापों के समान शाप ब्राह्मणों को सताने वाले को दिये गये है। नीचे उदाहरण दिये जाते हैं :

अथर्व-वेद १२. ५, ४. ब्रह्म पद्वायम् ब्राह्मणोऽधिपतिः। ५. ताम् आददानस्य ब्रह्म-गवीं जिनतो ब्राह्मणान् क्षत्रियस्य। ६. आप क्रामन्ति सूनुता वीर्यम् पुण्या लक्ष्मीः। ७. ओजश्च तेजश् च सहश् च बल च वाक् च इन्द्रियं च श्रीश् च धर्मश् च। ८. ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश् च त्विषिश् च यशश् च वर्चश् च द्रविणं च। ९ आयुश् च रूपं च नाम च कीर्त्तिश् च प्राणश् च अपानश् च चक्षुश् च श्रोत्रं च। १०. पयश् च रसश् च अन्नं च अन्नाद्यं च ऋतं च सत्यं च इष्टं च पूर्त्तं च प्रजा च पशवश् च। ११. तानि सर्वाणि—अप क्रामन्ति ब्रह्म-गवीम् आददानस्य जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य। १२. सा एषा भीमा ब्रह्मगवी अघ-विषा..। १३. सर्वाण्य् अस्यां घोराणि सर्वे च मृत्यवः। १४. सर्वाण्य् अस्या क्रूराणि सर्वे पुरुष-वधाः। १६. सा ब्रह्म-ज्य देव-पीयुम् ब्रह्मगवी आदीयमाना मृत्योः पड्वीशे आ द्यति।

"४ प्रार्थना (ब्रह्मन्) प्रधान (वस्तु) है, ब्राह्मम् स्वामी (अधिपति) है। ५. जो क्षत्रिय पुरोहित की गौ को छीन लेता है और ब्राह्मण को सताता है उससे दया, वीर्य, पुण्य, लक्ष्मी, ओज, तेज साहस, बल, वाणी इन्द्रिय, शोभा, धर्म, प्रार्थना (ब्रह्मन्), क्षत्र, राष्ट्र, वैश्य, गौरव, यश, वर्चस्, धन, आयु, रूप, नाम, कीर्त्ति, प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, पय, रस, अन्न, अन्नाद्य, ऋत, सत्य, इष्ट, पूर्त्त, प्रजा, पशु—(११) ये सभी वस्तुएँ उस क्षत्रिय से दूर हो जाती है जो पुरोहित की गौ का हरण करता है। १२. ब्राह्मण की गौ भयंकर होती है और विष से पूर्ण होती है। १३. उसमें सभी भयंकर वस्तुएँ होती है और सभी प्रकार की मृत्युएं १४. सभी क्रूर वस्तुएँ और सभी प्रकार के पुरुषवध होते है। १५. हरण की जाने पर वह पुरोहितों को सताने वाले एव देवताओं को अवमानना करने वाले व्यक्ति को मृत्यु के बन्धनों से बाँधती है।"

इसी विषय पर और भी बहुत सी बातें आगे कही गई है, जिन्हें उद्धृत करना व्यर्थ होगा।

मैं कुछ और अशों को उद्धृत करता हूँ जिनमें ब्रह्मन् का उल्लेख किया गया है।

१९ २२, २१ (= १९. २३, ३०) में कहा गया है :

ब्रह्म-ज्येष्ठा सम्भृता वीर्याणि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवम् आततान। भूतानाम् ब्रह्मा प्रथमो ह जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्द्धितुं कः ।

"शक्तियाँ संगृहीत की जाती है, जिनमें प्रार्थना (या शास्त्र 'ब्रह्मन्') प्रधान है। प्रधानभूत प्रार्थना ने आरम्भ में आकाश का विस्तार किया। पुरोहित (ब्रह्मन्) प्राणियों में सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ। तब ब्रह्मन् से किसे ईर्ष्या रखनी चाहिए।

निम्नलिखित अंशों में ब्रह्मन को अतिमानवीय शक्ति से युक्त बनाया गया है, यदि ब्रह्मन् का अर्थ बृहस्पति न माना जाय :

१९. ९, १२. ब्रह्म प्रजापतिर धाता लोकाः वेदा' सप्त-ऋषयोऽग्नयः। तैर् मे कृतं स्वस्त्ययनम् इन्द्रो मे शर्म यच्छतु ब्रह्मा मे शर्म यच्छतु ।

"मन्त्र, प्रजापति, धातृ, लोक, वेद, सप्तर्षि और अग्नि मुझे समृद्धिशाली यात्रा प्रदान करें, इन्द्र मुझे सुख प्रदान करें, ब्रह्मन् मुझे सुख प्रदान करे।"

१९. ४३, ८ : यत्र ब्रह्म-विदो यान्ति दीक्षया तपसा सह। ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा-ब्रह्म दधातु मे। ब्रह्मणे स्वाहा।

"ब्रह्मन् मुझे उस स्थान को ले जावें जहाँ ब्रह्म (या शास्त्र) का जानने वाले तपस्या से युक्त दीक्षा द्वारा पहुँचते हैं। ब्रह्मन् मुझे शास्त्र का उपदेश दें। ब्रह्मन् के लिए स्वाहा।"

ब्रह्मचारिन् या शास्त्र के विद्यार्थी की अद्भुत शक्तियों का वर्णन एक सूक्त (अ० वे० ११ ५) में किया गया है, जिसके कुछ अंशों का अनुवाद मैंने वैदिक धर्म के विकास विषयक निबन्ध, पृ० ३७७, आदि में किया है।

चरित्र की इन सभी पवित्रताओं के होते हुए भी यदि पुरोहित शत्रु के हितार्थ अपनी क्रियाओं से यजमान का नाश करना चाहता है तो उसका वह वध कर देने योग्य होता है।

५. ८, ५ यम् अमी पुरो दधिरे ब्रह्माणम् अपभूतये। इन्द्र स ते अधस्पदं तम् प्रत्यस्यामि मृत्यवे।

'हे इन्द्र, वह ब्रह्मन् जिसे मनुष्यों ने अपने सम्मुख (एक पुरोहित के रूप में) रखा है हमारे विनाश के लिये नियुक्त किया है, मेरे पैरों के नीचे गिर पड़े। मैं उसे मृत्यु के अधीन करता हूँ (तुलना अ० वे० ७. ७०, १ आदि)।

खण्ड ४—हिन्दुओं में वर्ण की उत्पत्ति के विषय में प्रोफेसर आर० रॉथ और डॉ० एम० हॉग के मत।

मैं इस खण्ड में भारतीयों में वर्णों की व्यवस्था की उत्पत्ति की प्रक्रिया के विषय में प्रोफेसर आर० रॉथ और डॉ० एम० हॉग जो विचार रखते है उन्ही का कुछ विवेचन प्रस्तुत करूँगा।

प्रोफेसर रॉथ के जिन कथनों को मैं यहाँ प्रस्तुत करूँगा वे अंशतः उनके तीसरे "डिसर्टेशन आन द लिटरेचर एण्ड हिस्ट्री आफ द वेद" पृ० ११७ से, और अंशतः उनके "ब्रह्म एण्ड ब्राह्मन्स" शीर्षक लेख से, जो जर्नल आफ द जर्मन ओरियन्टल सोसाइटी भाग १ में प्रकाशित है, लिये गये हैं।[७८] दूसरे निबन्ध में वे कहते हैं: "भारत का धार्मिक विकास तीन सहस्र वर्षो से 'ब्रह्म' शब्द के साथ जुडा हुआ है। इस विचारणा को अलौकिक वस्तुओं के प्रति लगाये गये विचार की प्रगति के आकलन के लिए मानदण्ड माना जा सकता है, क्योंकि उन्नति के प्रत्येक पग पर, इसने एक नया स्वरूप धारण किया है, जबकि साथ ही साथ इसमें एक राष्ट्र की सर्वोच्च आध्यात्मिक उपलब्धि भी निहित रही है...। ब्रह्म शब्द का मौलिक अर्थ, जैसा कि हम वैदिक सूक्तों में सरलता से पाते है, प्रार्थना है। प्रशंसा या धन्यवाद प्रकाशन नही है अपितु उस आह्वान का अर्थ है, जो ईश्वर के प्रति प्रेषित इच्छा की शक्ति से उसे स्वयं अपने पास खींचना और उससे सन्तोष प्राप्त करना चाहता है। ब्रह्म (नपुंसक) के इस प्राचीनतम अर्थ और स्वरूप से पुल्लिङ्ग संज्ञा शब्द 'ब्रह्मा' बना जो उन व्यक्तियों का अभिधान था जो प्रार्थनाओं का उच्चारण या पवित्र क्रियाओं का सम्पादन करते थे, और ऋग्वेद के प्रायः सभी अंशों में, जिनमें इस शब्द के ब्राह्मणीय वर्ण का निर्देश करने का विचार रक्खा गया था, इस अधिक विस्तृत अर्थ को दूसरे संकुचित अर्थ के स्थान पर रखना चाहिए..। 'ब्रह्मा' शब्द के इस अर्थ से इससे अधिक कोई स्वाभाविक बात नही हो सकती थी कि प्रार्थना करने वाले को विशिष्ट प्रकार के यज्ञिय पुरोहितों का रूप दे दिया जाय, ज्यों ही यज्ञकर्मों का निर्धारण होने लगा, तो जो कर्म पहले एक ही व्यक्ति को करने होते थे, जो देवताओं की प्रार्थना करता था उनके लिये बलि भी अर्पित करता था, अब पृथक् हो गये और पुरोहित वर्ग मनुष्य और देवता के बीच आ बैठा।"[७९]

---

[७८] जर्मन से अनभिज्ञ पाठक इस लेख का विस्तृत विवरण अक्टूबर १८५१ की बनारस मैगनीज पृ० ८२३ आदि मे पायेंगे।

[७९] वेद के साहित्य और इतिहास विषयक अपने तीसरे प्रबन्ध मे प्रोफेसर

इसके आगे ऋग्वेद ४. ५०, ७ आदि (देखिए ऊपर पृ० २८१) का उद्धरण देकर प्रो० रॉथ कहते हैं : "इस प्रकार यहाँ और कर्मकाण्ड तथा विधि-विषयक ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर राजा द्वारा पुरोहित के नियुक्त किये जाने पर प्रत्येक प्रकार के सुख उत्पन्न होते बताये गये हैं। यतः वह पुरोहित का भरण और सम्मान करता है, अतः पुरोहित उसे देवताओं की कृपा दिलवाता है। इस प्रकार ब्राह्मणों के वर्ण का उद्भव हुआ और उसने शक्ति और महत्त्व प्राप्त किया, प्रथमतः वे राजाओं के केवल पारिवारिक पुरोहित मात्र थे, उसके बाद यह पद कुछ परिवारों में वंशानुगत हो गया; अन्ततः हितों की समानता के फलस्वरूप इन परिवारों का एक विस्तृत समूह में संघटन हुआ, और ये सभी बातें अध्यात्म एवं धार्मिक पूजन द्वारा दूसरी दृष्टियों से हुई प्रगति के साथ-साथ पारस्परिक प्रतिक्रिया के रूप में घटित हुईं। तथापि इस पुरोहित-वर्ग की शक्ति का जो विकास हुआ वह केवल इस व्याख्या से पूर्णतः बोधगम्य नहीं हो सकता। जिस आध्यात्मिक श्रेष्ठता के द्वारा पुरोहितों का राजाओं के साथ गठबन्धन हुआ उसमें अन्य ऐतिहासिक प्रतिक्रियाएँ भी सहायक थीं।"

प्रोफेसर रॉथ आगे कहते हैं : "जब—ऋग्वेद के अधिकांश सूक्तों की रचना से अधिक अर्वाचीन समय में—वैदिक जनता किसी राजनीतिक धक्के से विचलित होकर अपने पंजाब के निवासस्थानों से उत्तरोत्तर दक्षिण की ओर बढ़ी और उसने आदिम जातियों को पर्वतों की ओर खदेड़ दिया और गंगा, यमुना तथा विन्ध्य की श्रेणियों के बीच के विस्तृत भूभाग पर अधिकार कर लिया, तब वह समय आ गया था कि शक्ति का विभाजन, राजा और पुरोहित का सम्बन्ध नितान्त तीव्र और स्पष्ट रूप में परिवर्तित हो सकता

रॉथ कहते हैं "वैदिक युग में, प्रार्थना और यज्ञ के द्वारा देवता तक पहुँचने का मार्ग समाज के सभी वर्गों के लिए खुला था, और यह एक विधि में भक्ति प्रकाशन की शक्ति मात्र थी जो विधि देवता के लिये ग्राह्य मान ली गई थी या काव्यीय शैली की तत्परता थी जो किसी व्यक्ति या परिवार को जनसमूह से पृथक् करती थी और उन्हें दूसरों के यज्ञ का निर्देशन करने के लिये नियुक्त होने की स्थिति तक पहुँचाती थी। ऐसे व्यक्तियों को दिया गया नाम "पुरोहित" था अर्थात् "आगे रखा हुआ" वह एक ऐसा व्यक्ति था जिसकी मध्यस्थता से देवता अर्पित किये गये उपहार स्वीकार करते। किन्तु इन पुरोहित को इस समय तक कोई विशिष्ट मान्यता या ऐकान्तिक विशेषाधिकार नहीं प्राप्त थे जिससे उनकी नियुक्ति अनिवार्य हो सकती।"

था। इस प्रकार विविध रूपों में प्रदेशों का विभाजन, और उस प्रकार का विभाजन जैसा पंजाब में था, अब यहाँ सम्भव नही था, जहाँ प्रकृति ने एक ऐसे विस्तृत और अनवच्छिन्न भूभाग का निर्माण किया था जिसमें एक प्रदेश को दूसरे प्रदेश से पृथक् करने वाली सीमाएँ नही थीं। उत्तर से अपने गणों के साथ नीचे की ओर आने वाले अनेक छोटे राजा यहाँ आकर अवश्य ही लुप्त हो गये, उनकी जातियाँ विलीन हो गईं और सार्वभौम सत्ता के लिए संघर्ष प्रारम्भ हो गये। कदाचित् इस युग का चित्रण महाभारत के मुख्य विषय पाण्डु और कुरु के वंशजों के संघर्ष में किया गया है। इस अशान्ति और संघर्ष की अवस्था में शक्ति स्वभावतः उन लोगों के हाथों में पहुँच गई जिनको प्रत्यक्षत. कोई अधिकार प्राप्त नहीं था; वे थे पुरोहित वर्ग और उनके नेता जो अब तक राजाओं के अनुयायियो के रूप में थे किन्तु अब उच्च पद पर आसीन हो गये। यह सरलता से सोचा जा सकता है कि वे और उनके परिवार, जो पहले से ही राजाओं के विश्वस्त अनुयायियों के रूप मे आदृत थे, प्राय· एक निर्णयात्मक चोट करते थे, जिससे राजा को विजयश्री प्राप्त हो जाती थी। यदि हम इस वर्ग को प्राप्त या इसके द्वारा अपहृत विशेषाधिकारों के फलस्वरूप इनके बौद्धिक तथा नैतिक प्रभाव पर तथा जनता की धार्मिक भावना पर विचार करें, तो यह समझने में कठिनाई नही होगी कि किस प्रकार इस संक्रमण काल में छोटे राजाओं और उनके परिवार के पुरोहितों के बीच एक शक्तिशाली वर्ग उठ खड़ा हुआ, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सर्वाधिक महत्व का अधिकारी बना, और एक ऐसे वर्ण के रूप में विकसित हुआ जो ईसाई धर्म के मध्ययुग के पुरोहित वर्ग के समान राजशक्ति को अपनी शक्ति की पूर्णता से निकला हुआ एक प्रवाह मानने लगा, जो उनकी इच्छानुसार प्रदान की जाती थी, साथ ही यह समझना भी कठिन नहीं कि किस प्रकार दूसरी ओर अनेक राजपरिवार सभ्यजनों के उस स्तर तक गिर पड़े, जिसे निःसन्देह प्रभुता के गौरव के सभी अधिकार प्राप्त थे, किन्तु साथ ही साथ जब जनता उनका निर्वाचन करती थी तो उनकी राजशक्ति को प्रमाणित करने के लिए पुरोहित द्वारा उनके अभिषेक की आवश्यकता पडती थी और उन्हे केवल ब्राह्मणों को ही अपना मन्त्री नियुक्त करना पडता था।"

इस सिद्धान्त की सम्भावना को और भी अधिक स्पष्ट करने के लिए प्रोफेसर रॉथ अन्य वर्णों के ब्राह्मणों के साथ सम्बन्धों का भी निर्देश करते हैं। ब्राह्मणीय व्यवस्था के विकास में इन तीन श्रेष्ठ वर्णों ने जो स्थान प्राप्त किया था वह श्रेणी का था, क्योंकि वे केवल अपने धार्मिक एवं नागरिक

विशेषाधिकारों के कारण परस्पर भेद रखते थे, क्षत्रिय कुछ दृष्टियों में ब्राह्मण से कम लाभान्वित थे और वैश्य क्षत्रियों से अल्प विशेषाधिकार रखते थे। इसके विपरीत शूद्रों के साथ बात बिलकुल दूसरी थी। उन्हें यज्ञ, वेदाध्ययन और यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकार नहीं दिया गया था। इससे प्रोफेसर रॉथ निष्कर्ष निकालते हैं कि तीन उच्च वर्णों का पारस्परिक सम्बन्ध चौथे की अपेक्षा अधिक घनिष्ट था, चाहे वह वंश का हो या संस्कृति का। अपरञ्च भारतीय राजनीति इकाई शूद्रों के अभाव में भी पूर्ण थी। ब्राह्मण और क्षत्रिय शासक थे जब कि वैश्य शासित जनवर्ग। इनमें वैश्यों के मूलतः अलग वर्ग न होने के तथ्य की पुष्टि उनके लिये निर्धारित व्यवसाय और उन्हें दिये गये विश् शब्द से व्युत्पन्न वैश्य नाम से पुष्ट होता है। विश्' शब्द वेद में सामान्य जनसमूह के लिये आया है जो पवित्र आर्य पूजा और सभ्यता से युक्त था और इस दृष्टि में सभी असभ्य जातियों के साथ विपर्यास रखता था। इस जनवर्ग से ही ऊपर वर्णित ढंग से पुरोहित वर्ग का उदय हुआ जबकि क्षत्रिय पूर्ववर्ती युगों के राजाओं से उत्पन्न सभ्यजन थे। चौथा वर्ग शूद्र, प्रो० रॉथ के अनुसार, एक ऐसा वर्ण था जो ब्राह्मणीय विजेताओं से दलित था, चाहे वह जाति पूर्वकाल में भारत में आने वाले जाति परिवार की हो या भारत की एक मूल जाति रही हो।

ब्राह्मण संस्कृति के विकास विषयक अपने लेख में, जिससे मैंने पहले ही उद्धरण दिये हैं (देखिए ऊपर पृ० १३ और १७) डा० हॉग इस प्रश्न पर अपने विचार इस प्रकार प्रकट करते हैं : हाल में ही इस विषय पर बल दिया गया है कि वेदों के मौलिक भागों में वर्ण के चिह्न नहीं हैं। किन्तु यह निष्कर्ष प्रमाण की पर्याप्त छानबीन से निकाला गया था। यह सत्य है कि वर्ण व्यवस्था इतने विकसित रूप में नहीं पाई जाती, विभिन्न वर्णों के कर्मों का उतना स्पष्टता के साथ निर्देश नहीं किया गया है जितना कि धर्मशास्त्रों और पुराणों में है किन्तु यह सब होते हुए भी यह व्यवस्था वेदों के आरम्भिक अंशों में भी परिलक्षित है किंवा पूर्वकल्पित है। केवल उसके घेरे उतने अनुलङ्घनीय नहीं थे जितने वे परवर्ती समय में हो गये।" (पृ० ८)। इस मत का समर्थन वे जेण्ड अवेस्ता के उल्लेख द्वारा करते हैं जिनमें वे अहुर मज्द के अनुयायियों के अथर्वस्, रथेस्थम् तथा वस्त्र्य फशुयनस् नाम के तीन वर्गों के विभाजन का प्रमाण पाते हैं जिसे वे यथार्थतः भारत के ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों से मिलता हुए मानते हैं। अथर्वस् या पुरोहित विशेषतया एक वर्ग या वर्ण भी हो गये थे, उनकी गोपनीय बातें थीं जिन्हें प्रकट करने का निषेध था, वे अपने राष्ट्र के आध्यात्मिक पथप्रदर्शक थे, और

केवल पुरोहित का पुत्र ही पुत्र हो सकता था—इस नियम का निर्वाह अब भी पारसी लोग करते है। इन तथ्यों से डॉ० हॉग ने यह निष्कर्ष निकाला है कि जिस देश के इण्डो-एरियन और पेरसो-एरियन दोनों ही मूलतः एक भाग थे वह भारतीयों के ईरानियों से अलग होने के पूर्व तीन वर्गों में बँटा हुआ था, और वे आगे कहते है (पृ० ७): "हम जो कुछ जानते है उससे वर्ण की वास्तविक उत्पत्ति वैदिक सूक्तों की रचना के पूर्वकाल की ठहरती है यद्यपि इसका नियमित व्यवस्था रूप में और अनुलङ्घनीय सीमाओं के साथ विकास वैदिक युग के परवर्ती काल का ही कहा जा सकता है।"

मै डॉ० हाग के रोचक लेख के कुछ अन्य अंशो का एक सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत करूँगा। वे (पृ० ७) ब्राह्मण शब्द की व्युत्पत्ति 'ब्रह्मन्' (नपुसक) से बताते है जिसका मौलिक अर्थ "एक पवित्र गीत या प्रार्थना है जो भक्ति की भावनाओं के उद्‌गार रूप मे होती थी। 'ब्रह्म' यज्ञ मे पवित्र तत्त्व था और यह "प्रकृति की आत्मा, प्रजनन शक्ति," का द्योतक था। ब्राह्मणीय यज्ञों का लक्ष्य प्रजावृद्धि है और इनमें कुछ ऐसी क्रियाएँ भी आती थीं जो यज्ञकर्त्ता को एक नवीन आध्यात्मिक शरीर प्रदान करने के लिये की जाती थी जिनसे वह स्वर्ग को जा सकता था, और दूसरी क्रियाएँ उसे पशु एव पुत्र प्रदान कराने के लिये की जाती थीं (पृ० ८)। इस ब्रह्म या प्रजननात्मक शक्ति का प्रतीक, जो यज्ञ मे सदैव विद्यमान रहना चाहिए, कुश घास का गुच्छा था, जिसे सामान्यतः वेद कहा जाता है (इस शब्द के स्थान पर 'ब्रह्म' का भी प्रयोग होता है) जो यज्ञ में एक पुरोहित से दूसरे पुरोहित के पास जाता था और अन्त में यजमान की पत्नी को दे दिया जाता था। पारसियों द्वारा प्रयोग मे लाये जाने वाले इसके अनुरूप ही लघु शाखाओं के प्रतीक को जेण्ड मे 'बरेस्म' कहा जाता था जिसे डॉ० हॉग मौलिक रूप में 'ब्रह्म' ही मानते है (पृ० ९)। यतः इन यज्ञों की सफलता के लिये यह आवश्यक था कि गूढ कर्मकाण्ड के प्रत्येक अंश का यथार्थत अनुष्ठान हो और यत. दोषों से बचा नहीं जा सकता, इसलिए प्रायश्चित द्वारा उस दुष्परिणाम या पाप को दूर करना आवश्यक हो गया जो ऐसा न करने पर हो सकता था। और इस प्रकार के दोषों के विपरीत या उनके प्रायश्चित्त के लिए जो पुरोहित रखा जाता था—जो अन्य पुरोहितों होतृ, अध्वर्यु और उद्गातृ द्वारा किये जाते थे—"बहुत प्राचीन काल से" ब्रह्मन् (पुल्लिग) कहा जाता था, जो कार्य की दृष्टि से ब्रह्म या धर्म ज्ञान से पूर्ण था और इस कारण "प्रकृति की आत्मा, और सभी विकास के कारण से संबद्ध था जो सभी याज्ञिक कर्मों का अन्तिम लक्ष्य था" (पृ० १०)। ब्रह्म का पद ऐसा नहीं

था जिस पर जन्म के कारण ही अधिकार होता हो, किन्तु उसे योग्यता और अध्ययन द्वारा प्राप्त किया जाता था। इन ब्रह्मन् पुरोहितों के वंशज ब्राह्मण थे और नितान्त प्रमुख ब्रह्मन् पुरोहितों के दैवी विषय सम्बन्धी चिन्तन, और विशेषतः याज्ञिक क्रियाओं के अवसर के चिन्तन ब्राह्मण नाम के ग्रन्थों में निहित हैं (पृ० .२)। डॉ० हॉग का विचार है कि ब्रह्मन् पुरोहितों का कोई वर्ग उस आरम्भिक काल में नहीं था जब हिन्दुओं के पूर्वज धार्मिक भेदों के परिणामस्वरूप पारसियों के पूर्वज से पृथक् हुए। नितान्त प्राचीन काल के पारसियों की यज्ञ क्रियाओं के अवशेष ब्राह्मणों की क्रियाओं के अनुरूप हैं। डॉ० हॉग यह पाते हैं कि पारसियों की होम क्रियाओं में (जो ब्राह्मणों के सोम यज्ञ के अनुरूप है) जोता और रस्पी या रथ्वी नाम के केवल दो पुरोहितों की आवश्यकता पड़ती है, जिन्हें वे ब्राह्मणों के होतृ और अध्वर्यु के समरूप मानते हैं। जहाँ तक ये क्रियाएँ सरल थीं किसी ब्रह्मन् पुरोहित की अवश्यकता नहीं थी किन्तु जब वे गूढ़ और बहुविध हो गईं तो इस प्रकार का कर्म करने वाले की आवश्यकता उत्पन्न हुई। उस समय ही ब्रह्मनों के पुत्र अर्थात् ब्राह्मण अपने पिताओं से प्राप्त पवित्र-ज्ञान के कारण महान् शक्ति प्राप्त कर सके और मिलकर एक नियमित वर्ण हो गये। इन क्रियाओं की आरम्भिक सरलता से गूढ़ता और उस बहुरूपता में विकास, जिसमें अन्तोगत्वा वे जा पहुँची, डॉ० हॉग के विचार से, अनेक शताब्दियों का कार्य रहा होगा। यह परिवर्तन सरस्वती के निकट के प्रदेशों में हुआ होगा, जहाँ ब्राह्मणीय व्यवस्था का विकास तथा ब्राह्मणों की पूर्ण आध्यत्मिक श्रेष्ठता में उत्कर्ष इण्डो-योरोपीयों के दक्षिण की ओर मुख्य हिन्दुस्तान में अग्रसर होने के पूर्व देखी जा सकती है (पृ० १३)। ब्राह्मणों को राजाओं के प्रतिरोध के बिना ही प्राधान्य प्राप्त नहीं हुआ। (पृ० १८)। विश्वामित्र के ब्राह्मणों की व्यवस्था स्वीकार करने का वर्णन देखकर और ऋषियों तथा उनके अनेक वर्गों का कुछ विवरण देकर डॉ० हॉग उपसंहार करते हैं।

जैसा कि डॉ० हॉग ने पृ० ६ और १२ आदि में इस प्रश्न का सामान्यतः वर्णन किया है उनमें और अन्य योरोपीय विद्वानों में अन्तर केवल युग का है सिद्धान्त का नहीं, क्योंकि दोनों में कोई भी तीन उच्च वर्णों या वर्गों में जाति या वंश का कोई भेद नहीं स्वीकार करता।



अध्याय ४

ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों में आरम्भिक प्रतिद्वन्द्विताएँ

अब मैं उस संघर्ष के कुछ आख्यानात्मक वर्णन प्रस्तुत करूँगा जो हिन्दू इतिहास में ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच उस समय हुए थे, जब ब्राह्मणों का पौरोहित्य कर्म करने वाला समुदाय बन गया था, किन्तु दोनों वर्गों के विशिष्ट क्षेत्र ठीक-ठीक प्रथाओं द्वारा निर्धारित नहीं किये गये थे और इनमें से प्रत्येक वर्ग के सदस्य किसी ऐसे विशेषाधिकार के लिए संघर्ष करने के लिए प्रस्तुत रहते थे, जिसे दूसरा अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानता था।

खण्ड १—अविनेय और विनीत राजाओं के विषय में मनु के वर्णन

मैं निम्नलिखित अंश के साथ प्रारम्भ करूँगा जो मनुस्मृति ७. ३८ आदि में पुरोहितों के न्यायसंगत अधिकारों तथा अन्य पुरुषों के धर्मविहित आचरण के विरुद्ध कतिपय राजाओं के स्मृतिकार के शब्दों में, पापपूर्ण प्रतिरोध के विषय में आया है।

३८. वृद्धांश् च नित्यं सेवेत विप्रान् वेद-विदः शुचीन्। वृद्ध-सेवी हि सततं रक्षोभिर् अपि पूज्यते। ३९. तेभ्योऽधिगच्छेद् विनय विनीतात्माऽपि नित्यशः। विनीतात्मा हि नृपतिर् न विनश्यति कर्हिचित्। ४०. बहवोऽविनयाद् नष्टाः राजानः स-परिच्छदाः। वनस्थाः अपि राज्यानि विनयात् प्रतिपेदिरे। ४१. वेणो विनष्टोऽविनयाद् नहुषश् चैव पार्थिवः। सुदा पैजवनश्[८०] चैव सुमुखो निमिर् एव च। ४२. पृथुस् तु विनयाद् राज्यम् प्राप्तवान् मनुर् एव च। कुबेरश् च धनैश्वर्य्यम् ब्राह्मण्य चैव गाधिजः।

"राजा वेद का ज्ञान रखने वाले एवं पवित्र आचरण वाले वृद्ध ब्राह्मणों की नित्य सेवा करे, क्योंकि जो व्यक्ति वृद्ध जनों का सदैव आदर करना है, उनका सम्मान रक्षस भी करते हैं। ३९. विनीतमन होकर भी वह उनसे

---

[८०] इस पाठ के समर्थन मे एम० लोसेलोर देसूलोगशाम्प्स् की तथा सर जी० सी० हागटन की इस अश पर दी गई टिप्पणी देखिए।

नित्य विनम्रता की शिक्षा ले, क्योंकि विनीत राजा का कभी नाश नहीं होता। ४ इस चरित्र के अभाव के कारण अनेक राजा अपने राज्यसहित नष्ट हो गये हैं, और विनम्रता से भिक्षुओं ने भी राज्य प्राप्त किया है। ४१. वेण नम्रता के अभाव के कारण नष्ट हो गये, और इसी प्रकार राजा नहुष, पिजवन के पुत्र सुदास्, सुमुख और निमि का भी नाश हो गया। ४२. किन्तु विनम्रता द्वारा पृथु और मनु ने राज्यपद प्राप्त किया, कुबेर धनपति हुए और गाधि के पुत्र (विश्वामित्र) ने ब्राह्मण पद पाया।"[८१]

मनु ९ ६६ आदि में वेण का पुन. उल्लेख किया गया है :—

अयं द्विजैर् हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः। मनुष्याणाम् अपि प्रोक्तो वेणे राज्यम् प्रशासति। ६७. स महीम् अखिलाम् भुञ्जन् राजर्षि-प्रवर. पुरा। वर्णाना सङ्करं चक्रे कामोपहत-चेतनः।

"यह (नियोग की प्रथा), जो पशुओं के योग्य है, वेण के राज्य मे मनुष्यों के लिये भी विहित थी। इस प्रमुख राजर्षि ने जिसने प्राचीन काल में पृथ्वी पर शासन किया, काम के प्रभाव स्वरूप विवेक का नाश होने पर वर्णों में अस्तव्यस्तता उत्पन्न कर दी।"

इस प्रकार ख्यात प्राय. सभी राजाओं का आख्यानात्मक इतिहास पुराणों एवं भारतीय साहित्य के अन्य भागों में पाये जा सकते हैं। मैं उद्धृत राजाओं के ऐसे विवरण प्रस्तुत करूँगा जो मुझे उपलब्ध हो सके हैं।

यह द्रष्टव्य है कि मनु को एक साधारण राजा कहा गया है और धन के देवता कुबेर के भी इस पद को उन व्यक्तियों के पद से ही पहुँचा हुआ बताया है, जिनकी प्रशंसा लेखक ने की है। मुझे ज्ञात नहीं कि इस सम्बन्ध में कोई आख्यान है या नहीं। इस देवता के विषय में कुछ इसके विरोधी

---

[८१] इस अंग पर कुल्लूक का यह कथन है . गाधि-पुत्रो विश्वमित्रश् च क्षत्रियस् तेनैव देहेन ब्राह्मण्यम् प्राप्तवान्। राज्य-लाभावसरे ब्राह्मण्य-प्राप्तिर् अप्रस्तुताऽपि विनयोत्कर्षार्थम् उक्ता। ईदृशोऽस्य शास्त्रानुष्ठान-निषिद्ध-वर्जन-रूप-विनयोदयेन क्षत्रियोऽपि दुर्लभम् ब्राह्मण्यम् लेभे। "गाधि के पुत्र विश्वामित्र ने क्षत्रिय होकर भी उसी शरीर से (अर्थात् पुन दूसरे शरीर मे उत्पन्न हुए विना) ब्राह्मणत्व प्राप्त किया। ऐसे व्यक्ति का ब्राह्मणत्व प्राप्त करना जो कभी राजा था, यद्यपि असामान्य घटना थी तथापि नम्रता का गुण-प्रदर्शित करने के लिये वर्णित है। उस गुण से जैसा कि शास्त्र के वचनों के पालन मे प्रदर्शित है और निषिद्ध वस्तुओं से दूर रहकर उन्होंने क्षत्रिय होकर भी दुर्लभ ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया।"

वर्णन महाभारत में मिलते है, जिसका एक अंश ऊपर पृ० १५९, टि० २४९ में उद्धृत है।

सुमुख के ब्राह्मणों के साथ संघर्ष की कोई कथा मुझे नहीं मिली है। कुछ हस्तप्रतियों में सुमुख के स्थान पर सुरथ पाठ है।

पिजवन के पुत्र सुदास् का नाम ऋग्वेद के विविध भागों में आता है। मै सुदास् के विषय में, वसिष्ठ और विश्वामित्र की प्रतिद्वन्द्विता का वर्णन करते समय, विचार करूँगा। यहाँ मैं वेण की कथा से प्रारम्भ करता हूँ।

खंड २—वेण का आख्यान

विष्णु पुराण १. १३ के अनुसार वेण अङ्ग के पुत्र थे और प्रथम मनु स्वायंभुव के वंश में नवीं पीढ़ी में हुए थे। स्वयंभुव से वंश का अनुक्रम इस प्रकार है: उत्तानपाद, ध्रुव, शिलष्टि, ऋपु, चक्षुष जिन्हें छठाँ चाक्षुष मनु कहते हैं, उरु, अङ्ग (देखिये विलसन का वि० पु० भाग १)। इस प्रकार वेण एक पुराकथाशास्त्रीय युग के हैं जो पिछले अध्याय में वर्णित मनु वैवस्वत के वंशजों के युग से बहुत पूर्व हुए थे। वर्तमान कल्प में स्वायम्भुव मन्वन्तर के अन्त और इस वैवस्वत मन्वन्तर के बीच प्रत्येक ३०८,५७१ वर्षों के पाँच मन्वन्तर आ चुके है।

विष्णु पुराण १. १३, ७: पराशर उवाच। सुनीथा नाम या कन्या मृत्योः प्रथम-जाऽभवत्। अङ्गस्य भार्य्या स दत्ता तस्यां वेणस् त्व् अजायत। ८. स मातामह-दोषेण तेन मृत्योः सुतात्मजः। निसर्गाद् इव मैत्रेय दुष्टः एव व्यजायत। ९. अभिषिक्तो यदा राज्ये स वेणः परमर्षिभिः। घोषयामास स तदा पृथिव्याम् पृथिवीपतिः। "न यष्टव्यं न दातव्य होतव्य न कदाचन। भोक्ता यज्ञस्य कस् त्व् अन्यो ह्य् अहं यज्ञ-पतिः सदा। १०. ततस् तम् ऋषयः सर्वे सम्पूज्य पृथिवीपतिम्। ऊचु सामकलं संयड् मैत्रेय समुपस्थिताः। ऋषयः ऊचु। ११. "भो भो राजन् शृणुष्व त्वं यद् वदामस् तव प्रभो। राज्य-देहोपकारे यः प्रजाना च हितम् परम्। १२. दीर्घसत्रेण देवेशं सर्व-यज्ञेश्वरं हरिम्। पूजयिष्यामो भद्रं ते तत्रांशस् ते भविष्यति। १३. यज्ञेन यज्ञ-पुरुषो विष्णुः सम्प्रीणितो विभुः। अस्माभिर् भवतः कामान् सर्वान् एव प्रदास्यति। यज्ञैर् यज्ञेश्वरो येषा राष्ट्रे सम्पूज्यते हरिः तेषा सर्वेप्सि-

तावाप्तिं ददाति नृप भूभुजाम्" । वेणः उवाच । "मत्तः कोऽभ्यधिको
न्योऽस्ति कश् चाराध्यो ममापरः कोऽयं हरिर् इति ख्यातो यो वो यज्ञे
श्वरो मतः । ब्रह्मा जनार्दनो रुद्रः इन्द्रो वायुर् यमो रविः । हुतभु
वरुणो धाता पूषा भूमिर् निशाकरः । एते चान्ये च ये देवाः शापानुग्रह
कारिणः । नृपस्य ते शरीर-स्थाः सर्व-देवमयो नृपः । एतज् ज्ञात्वा मय
ऽऽज्ञप्तं यद् यथा क्रियतां तथा । न दातव्यं न होतव्यं न यष्टव्यं च
द्विजाः' । १४. भर्तुः शुश्रूषणम् धर्मो यथा स्त्रीणाम् परो मतः । ममाज्ञा
पालनं धर्मो भवतां च तथा द्विजाः" । ऋषयः ऊचुः । "देह्य् अनुज्ञा
महाराज मा धर्मो यातु सङ्क्षयम् । सविपाम् परिणामोऽयं यद् एत
अखिलं जगत् । १५. धर्मे च सङ्क्षय याते क्षीयते चाखिलं जगत् ।
पराशरः उवाच । इति विज्ञाप्यमानोऽपि स वेणः परमर्षिभिः । य
ददाति नानुज्ञाम् प्रोक्तः प्रोक्तः पुनः पुनः । ततस् ते मुनयः सर्वे कोपाम
समन्विताः । "हन्यत हन्यताम् पापः" इत्य् ऊचुस् ते परस्परम् । १६.
यज्ञ-पुरुषं देवम् अनादि-निधनम् प्रभुम् । विनिन्दत्य् अधमाचारो न
योग्यो भुवः पतिः" । इत्य् उक्त्वा मन्त्र-पूतैस् ते कुशैर् मुनि-गण
नृपम् । निर्जघ्नुर् निहतम् पूर्वम् भगवन्-निन्दनादिना । ततश् च मुन
रेणुं ददृशुः सर्वतो द्विज । "किम् एतद्" इति चासन्नम् पप्रच्छुस्
जनं तदा १७. आख्यात च जनैस् तेषाम् "चौरीभूतैर् अराजके । राष्ट्रे
लोकैर् आरब्धम् पर-स्वादान आतुरैः । १८. तेषाम् उदीर्ण-वेगा
चौराणां मुनि-सत्तमाः । सुमहान् दृश्यते रेणुः पर-वित्तापहारिणाम्'
तत सम्मन्त्र्य ते सर्वे मुनयस् तस्य भूभृतः । ममन्थुर् ऊरुम् पुत्रार्थ
अनपत्यस्य यत्नतः । मथ्यतश् च समुत्तस्थौ तस्योरोः पुरुषः किल
दग्ध-स्थूणाप्रतीकाशः खर्वाटास्यो ऽतिह्रस्वकः । १९. किं करोमीति ता
सर्वान् विप्रान् आह स चातुरः । निषीदेति तम् ऊचुस् ते निषादस् त
सोऽभवत् । २०. ततस् तत्-सम्भवाः जाताः विन्ध्य-शैल-निवासिनः
निषादाः मुनिशार्दूल पाप-कर्मोपलक्षणाः २१. तेन द्वारेण निष्क्रान्त
तत् पापं तस्य भूपतेः । निषादास् ते तथा जाताः वेण-कल्मष-सम्भवाः
२२. ततोऽस्य दक्षिणं हस्तम् ममन्थुस् ते तदा द्विजाः । मथ्यमाने
तत्राभूत् पृथुर् वैण्य. प्रतापवान् । दीप्यमानः स्व-वपुषा साक्षाद् अग्नि
इवोज्ज्वलन् । २३. आद्यम् आजगवं नाम खात् पपात ततो धनु
शराश् च दिव्याः नभसः कवचं च पपात ह । तस्मिन् जाते
भूतानि सम्प्रहृष्टानि सर्वशः । सत्पुत्रेण च जातेन वेणोऽपि त्रिदि
ययौ । पुन्-नाम्नो नरकात् त्रातः स तेन सुमहात्मना ।

"७. सुनीथा नाम की कन्या, जो मृत्यु[८२] की प्रथम पुत्री थी, अङ्ग को भार्या के रूप में प्रदान की गई थी जिससे वेण उत्पन्न हुआ। ८. मृत्यु की पुत्री का यह पुत्र अपने नाना के दोष से युक्त होकर स्वभाव से ही दुष्ट उत्पन्न हुआ। ९. जब श्रेष्ठ ऋषियों ने वेण को राजपद पर अभिषिक्त किया तो उसने पृथ्वी पर यह घोषणा प्रचारित करवा दी : 'मनुष्य यज्ञ न करें, दक्षिणा न दें, हवन न करें। मेरे अतिरिक्त यज्ञ के अंश को ग्रहण करने वाला और कौन है? मैं ही यज्ञपति हूँ।' १०. तब सभी ऋषियों ने उस राजा का सम्मानपूर्वक पूजन करके उसके निकट जाकर कोमल एवं प्रेमयुक्त वाणी से कहा। ११. 'हे राजा! हम जो कहते हैं उसे सुनो। १२. हम देवताओं के स्वामी तथा यज्ञों के अधिष्ठाता विष्णु का दीर्घसत्र (दीर्घकालीन यज्ञ) द्वारा पूजन करेंगे जिससे आपके राज्य को, आपको, और प्रजा को सर्वोत्तम कल्याण की प्राप्ति होगी। तुम्हारा कल्याण हो। यज्ञ में तुम्हें अंश मिलेगा। १३ यज्ञपुरुष भगवान् विष्णु हमारी यज्ञ-क्रियाओं से प्रसन्न होकर तुम्हारी सभी इच्छायें पूरी करेंगे। यज्ञों के स्वामी हरि उस राजा को, जिसके राज्य में हवि द्वारा उनका पूजन होता है, उनकी इच्छित सभी वस्तुयें प्रदान करते हैं।' वेण ने उत्तर दिया : 'मुझसे बढ़कर दूसरा कौन है? मेरे अतिरिक्त पूज्य और कौन है? यह हरि कौन है जिसे तुम यज्ञ का स्वामी बताते हो? ब्रह्मा, जनार्दन, रुद्र, इन्द्र, वायु, यम, रवि (सूर्य), अग्नि, वरुण, धातृ, पूषन्, पृथ्वी, चन्द्रमा—ये और दूसरे देवता जो हित या अहित करने वाले हैं, सभी राजा के शरीर में होते हैं, कारण वह सभी देवताओं से युक्त होता है।[८३] यह जानकर तुम्हे मेरे आदेश के अनुसार

---

[८२] देखिए ऊपर पृ० १४० तथा टिप्पणी २३०।

[८३] शास्त्रीय सिद्धान्त, जो मनु ७ ३ इत्यादि मे प्रतिपादित है, वेण की स्वोक्ति से बहुत कुछ मिलता है, यद्यपि मनु ने उससे वही निष्कर्ष नही निकाला है। ३ रक्षार्थम् अस्य सर्वस्य राजानम् असृजत् प्रभु। ४ इन्द्रानिलयमार्काणाम् अग्नेश् च वरुणस्य च। चन्द्र-वित्तेशयोश् चैव मात्राः निर्हृत्य शाश्वती.। ५ यस्माद् एषाम् सुरेन्द्राणाम् मात्राभ्यो निर्मितो नृप'। तस्माद् अभिभवत्य् एष सर्व-भूतानि तेजसा। ६ तपत्य् आदित्य-वच् चैष चक्षूंषि च मनासि च। न चैनम् भुवि शक्नोति कश्चिद् अप्य् अभिवीक्षितुम्। ७ सोऽग्निर् भवति वायुश् च सोऽर्क सोम स धर्मराट्। स कुवेर स वरुण. स महेन्द्र प्रभावत। ८ बालोऽपि नावमन्तव्यो "मनुष्य" इति भूमिप। महती देवता ह्य् एषा नर-रूपेण तिष्ठति। ३ "भगवान् ने सम्पूर्ण विश्व की रक्षा के लिए (४) इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि,

कार्य करना चाहिए। ब्राह्मण दान न दें, न हवन करें और न यज्ञ। १४. जिस प्रकार पति-सेवा को स्त्रियों का सर्वश्रेष्ठ धर्म कहा गया है, उसी प्रकार मेरे वचनों का पालन करना तुम लोगों का धर्म है।' ऋषियों ने कहा 'हे राजा आज्ञा दें, धर्म का नाश न होवे। यह सम्पूर्ण संसार तो हवि का ही परिवर्तित रूप है। धर्म के नाश होने पर तो यह सम्पूर्ण राज्य ही नष्ट हो जायगा।' इस प्रकार ऋषियों द्वारा निन्दित होकर और बार-बार आज्ञा देने के लिए कहे जाने पर भी जब वेण ने अपनी आज्ञा नहीं दी तब सभी ऋषि क्रोध और अमर्ष से भरकर चिल्लाने लगे 'मारो, इस पापी को मार डालो। यह अधम पुरुष 'जो यज्ञ-पुरुष, अनादि और अनन्त विष्णु की निन्दा करता है, पृथ्वी का स्वामी होने योग्य नहीं है।' इस प्रकार कहकर मुनियों ने मन्त्र-पूत कुशों से इस राजा को मार डाला जो पहले ही भगवान् की निन्दा और अन्य अपराधों द्वारा निहत था। इसके उपरान्त मुनियों ने चारों ओर धूलि-कण देखे और निकट खड़े लोगों से पूछा कि वह कौन सी वस्तु थी। उन्हें बताया गया 'इस देश में, जिसमें राजा नहीं है, लोग दुःखित होकर लुटेरे हो गये हैं, और दूसरों के धनों को लूटने वाले लुटेरों के कारण यह अधिक धूल दिखाई पड़ रही है। तब सभी मुनियों ने परस्पर विचार करके उस सन्तान-हीन राजा के जंघाओं का पुत्र उत्पन्न करने के लिये घर्षण किया। उसके जंघाओं के घर्षण होने पर जले हुए काष्ठ के समान चपटे मुख और नितान्त छोटे आकार का एक पुरुष निकला। १९. उस पुरुष ने ब्राह्मणों से कहा 'मैं क्या करूं?' उन्होंने उससे कहा 'बैठो (निषाद)' और उससे वह निषाद हुआ। २०. उससे विन्ध्य पर्वतों में निवास करने वाले निषाद उत्पन्न

वरुण, चन्द्र और कुबेर के तत्त्वो को लेकर राजा की सृष्टि की। ५ यतः राजा की सृष्टि इन सभी देवताओ के तत्त्व से की गई है, वह सभी जीवो से श्रेष्ठ होता है। ६ सूर्य के समान वह मनुष्यो के नेत्रो और मनो दोनो को तपाता है, पृथ्वी पर कोई भी उसकी ओर देख नही सकता। ७ वह प्रताप मे अग्नि, वायु, सूर्य, सोम, यम, कुबेर, वरुण और इन्द्र है। ८ बालक होने पर भी राजा को मनुष्य समझ कर आहत नही करना चाहिए, कारण वह मनुष्य रूप मे एक महान देवता होता है।"

दूसरे श्लोक ९ ३०३ मे इसकी पुष्टि यह कह कर की गई है कि राजा को विभिन्न देवताओ के कर्मो का अनुकरण करना चाहिए - इन्द्रस्यार्कस्य वायोश्च यमस्य वरुणस्य च। चन्द्रस्याग्ने· पृथिव्याश् च तेजो वृत्तं नृपश् चरेत्। अगले श्लोक मे इसका विस्तार किया गया है।

हुए जो दुष्कर्म करने वाले होते हैं। २१. इस प्रकार उस राजा का पाप उससे निकल गया, और इस प्रकार वेण के पाप से निषाद उत्पन्न हुए। २२. तब ब्राह्मणों ने उसके दाहिने हाथ का मन्थन किया, इसके मन्थन करने पर वेण का पुत्र, प्रतापी पृथु, प्रकट हुआ जो प्रकाशवान शरीरवाला और अग्नि के समान तेजयुक्त था। २३. तब आजगव नाम का आदि धनुष दिव्य बाणों और कवच के साथ पृथ्वी पर गिरा। पृथु के जन्म पर सभी प्राणी आनन्दित हुए। और इस सद्गुणी पुत्र के जन्म द्वारा पुत्[८४] नामक नरक से मुक्ति पाकर वेण ने स्वर्गारोहण किया।"

विष्णुपुराण से अल्प अन्तर रखती हुई ही कथा हरिवंश (खण्ड ५) में भी आयी है :

उवाच। आसीद् धर्मस्य गोप्ता वै पूर्वम् अत्रि-सम : अत्रि-वंश-समुत्पन्नस् त्व् अङ्गो नाम प्रजापतिः। तस्य पुत्रोऽभवद् वेनो नात्यर्थं धर्म-कोविदः। जातो मृत्यु-सुतायां वै सुनीथायाम् प्रजापतिः। स मातामह-दोषेण तेन कालात्मजात्मजः। स्व-धर्मान् पृष्ठतः कृत्वा कामाल् लोभेष्व् अवर्त्तत। मर्यादां स्थापयामास धर्मापेतां स पार्थिवः। वेद-धर्मान् अतिक्रम्य सोऽधर्म-निरतोऽभवत्। निः-स्वाध्याय-वषट्कारास् तस्मिन् राजनि शासति। प्रावर्त्तन् न पपुः सोमं हुतं यज्ञेषु देवताः। "न यष्टव्यं न होतव्यम्" इति तस्य प्रजापतेः। आसीत् प्रतिज्ञा क्रूरेयं विनाशे समुपस्थिते। अहम् इज्यश् च यष्टा च यज्ञश् चेति कुरूद्वह! "मयि यज्ञाः विधातव्याः मयि होतव्यम्" इत्य् अपि। तम् अतिक्रान्तमर्यादम् आददानम् असाम्प्रतम्। ऊचुर् महर्षयः सर्वे मरीचिप्रमुखास् तदा। "वयं दीक्षां प्रवेक्ष्यामः संवत्सर-गणान् बहून्। अधर्मं कुरु मा वेन नैष धर्मः सनातनः। अन्वयेऽत्रेः प्रसूतम् त्वम् प्रजापतिर् असंशयम्। 'प्रजाश् च पालयिष्येऽहम्' इति ते समयः कृतः।" तांस् तथा ब्रुवतः सर्वान् महर्षीन् अब्रवीत् तदा। वेनः प्रहस्य दुर्बुद्धिर् इमम् अर्थम् अनर्थ-वित्। वेनः उवाच। "स्रष्टा धर्मस्य कश् चान्यः श्रोतव्यं कस्य वा मया। श्रुत-वीर्य-तपः सत्यैर् मया वा कः समो भुवि। प्रभवं सर्व-भूताना धर्माणा च विशेषतः। सम्मूढाः न विदुर् नूनम् भवन्तो माम अचेतसः। इच्छन् दहेयम् पृथिवीम् प्लावयेयं जलैस् तथा। द्याम् भुव चैव रुन्धेय नात्र कार्या विचारणा।" यदा न शक्यते मोहाद्

[८४] यह 'पुत्र' के 'पुत्=त्र' इस काल्पनिक व्युत्पत्ति की ओर संकेत करता है।

अवलेपाच् च पार्थिवः। अनुनेतुम् तदा वेनस् ततः क्रुद्धाः महर्षयः। निगृह्य तम् महात्मानो विस्फुरन्तम् महाबलम्। ततोऽस्य सव्यम् ऊरुम् ते ममन्थुर् ज्ञात-मन्यवः। तस्मिंस् तु मथ्यमाने वै राज्ञः ऊरौ विजज्ञिवान्। ह्रस्वोऽतिमात्रः पुरुषः कृष्णश् चापि बभूव ह। स भीतः प्राञ्जलिर् भूत्वा स्थितवान् जनमेजय। तम् अत्रिर् विह्वलं दृष्ट्वा निषीदेत्य् अब्रवीत् तदा। निषाद-वंश-कर्त्ताऽसौ बभूव वदतां वर। धीवरान् असृजच् चापि वेन-कल्मष-सम्भवान्। ये चान्ये विन्ध्य-निलयास् तुखारास् तुम्बुरास् तथा। अधर्म-रुचयस् तात विद्धि तान् वेन-सम्भवान्। ततः पुनर् महात्मानः पाणिं वेनस्य दक्षिणम्। अरणीम् इव संरब्धाः ममन्थुर् जात-मन्यवः। पृथुस् तस्मात् समुत्तस्थौ कराज् ज्वलन-सन्निभः। दीप्यमानः स्व-वपुषा साक्षाद् अग्निर् इव ज्वलन्।

"पूर्वकाल में एक प्रजापति थे, जो धर्म की रक्षा करने वाले थे, उनका नाम अङ्ग था, वे अत्रिवंश में उत्पन्न हुए थे और शक्ति में अत्रि के समान ही थे। उनका पुत्र, प्रजापति वेन था जो धर्म में अल्प आस्था रखता था और मृत्यु की पुत्री सुनीथा से उत्पन्न हुआ था। काल के इस पुत्र ने अपने नाना के दोष के कारण धर्म की ओर से मुँह मोड़ लिया और स्वच्छन्द होकर लोभपूर्ण जीवन व्यतीत करने लगा। इस राजा ने एक धर्महीन व्यवस्था की स्थापना की और वेद के आदेशों का उल्लङ्घन करके अधर्म में रत हो गया। उसके राज्य में लोग शास्त्रों के अध्ययन तथा वषट्कार के बिना ही जीवन व्यतीत करते थे, और देवताओं को यज्ञों में पान करने के लिए सोम नहीं प्राप्त होता था। 'कोई यज्ञ या हवन न किया जाय'—इस प्रकार की उस प्रजापति की क्रूर प्रतिज्ञा थी, क्योंकि उसका विनाश निकट आ गया था। उसने घोषणा की 'मैं ही यज्ञ का लक्ष्य हूँ, मैं ही कर्त्ता हूँ, और मैं ही स्वयं यज्ञ हूँ? मेरे लिये यज्ञ किया जाना चाहिए, मेरे लिये आहुतियाँ दी जानी चाहिए।' इस धर्म के उल्लंघन करने वाले से, जिसने अनुचित अधिकार का दम्भ प्रदर्शित किया था, मरीचि आदि सभी ऋषियों ने कहा: 'हम लोग एक ऐसे यज्ञ के लिए दीक्षित होने वाले हैं जो अनेक वर्षों तक चलेगा, हे वेन, अधर्म मत करो, यह धर्म का सनातन नियम नहीं है। तुम निःसन्देह अत्रि के वंश में उत्पन्न हुए एक प्रजापति हो, और तुम अपनी प्रजाओं के पालन में रत हो।' उचित का ज्ञान न रखने वाले दुर्बुद्धि वेन ने इस प्रकार कहने वाले महर्षियों को हँसते हुए उत्तर दिया. 'धर्म की रचना करने वाला मेरे अतिरिक्त दूसरा कौन है? अथवा मैं किस की आज्ञा का पालन करूँ? इस पृथ्वी पर शास्त्र के ज्ञान में, शक्ति में, तप में, और

सत्य में मेरी समता कौन कर सकता है? मोह में पड़े हुए और मूर्ख, तुम लोग यह नहीं जानते कि मैं सभी प्राणियों और धर्मों का स्रोत हूँ। यह मानने में संकोच मत करो कि यदि मै चाहता तो पृथ्वी को जला देता, जल-प्लावन कर देता या आकाश और पृथ्वी को बन्द कर देता।' जब अपने मोह और अज्ञान के कारण वेन ने एक बात न मानी तब प्रतापी महर्षियों ने क्रुद्ध होकर, शक्तिशाली तथा छुड़ाने का प्रयत्न करते हुए राजा को, पकड़ लिया और उसकी बाँयी जाँघ का मन्थन किया। इस प्रकार मन्थन किये जाने पर इस जाँघ से एक कृष्ण वर्ण और छोटे आकार का व्यक्ति निकला जो भयभीत होने से हाथ जोड़ कर खड़ा हो गया। उसे क्षुब्ध देखकर अत्रि ने कहा 'बैठ जाओ' (निषीद)। वह निषादों की जाति का आदि पुरुष बना और धीवरों का भी पूर्वज हुआ जो वेन के पाप से उत्पन्न हुए थे। इसी प्रकार उससे विन्ध्यपर्वतों पर निवास करने वाले तुखार और तुम्बुर जाति के लोग उत्पन्न हुए जो अधर्म में प्रवृत्त रहते है। तब महर्षियों ने क्रुद्ध होकर पुनः वेन के दाहिने हाथ का उस प्रकार मंथन किया, जैसे लोग अरणियों का मन्थन करते हैं। इससे तेजयुक्त शरीरवाले एव अग्नि के समान जाज्वल्यमान पृथु उत्पन्न हुए।"

यद्यपि हरिवंश वेन को अत्रि का वंशज बताता है, तथापि, जैसा इसके पूर्व के एक खण्ड में प्रजापति अत्रि द्वारा उत्तानपाद को जो वेन के पूर्वज थे, दत्तक पुत्र बनाने का उल्लेख किया गया है (हरि० खण्ड २, श्लोक ६० उत्तानपादं जग्राह पुत्रम् अत्रिः प्रजापतिः), यहाँ और विष्णुपुराण में दी गयी वंशावली में कोई विरोध नहीं है।

महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ५९ में वेन की कथा इसी प्रकार किन्तु अधिक संक्षेप में कही गई है। पृथु के जन्म का वर्णन करके लेखक आगे वर्णन करता है: १२. ५९, १००:

ततस् तु प्राञ्जलिर् वैन्यो महर्षींस् तान् उवाच ह। "सुसूक्ष्मा मे समुत्पन्ना बुद्धिर् धर्मार्थ-दर्शिनी। अनया किम् मया कार्यं तद् मे तत्त्वेन शंसत। यद् माम् भवन्तो वक्ष्यन्ति कार्यम् अर्थसमन्वितम्। तद् अहं वै करिष्यामि नात्र कार्या विचारणा।" तम् ऊचुस् तत्र देवास् ते ते चैव परमर्षयः। "नियतो यत्र धर्मो वै त्वम् अशङ्कः समाचर। प्रियाप्रिये परित्यज्य समः सर्वेषु जन्तुषु। काम-क्रोधौ च लोभं च मानं चोत्सृज्य दूरतः। यश् च धर्मात् प्रविचलेल् लोके कश्चन मानवः। निग्राह्यास् ते स्व-बाहुभ्यां शश्वद् धर्मम् अवेक्षता। प्रतिज्ञां चाधिरोहस्व मनसा कर्मणा गिरा। 'पालयिष्याम्य् अहम् भौमम् ब्रह्मऽ इत्य् एव

चासकृन्। "अदण्ड्याः मे द्विजाश् चेति प्रतिजानीहि हे विभो। लोकं च मद्धरान् कृत्स्नं त्रातास्मीति परन्तप"। वैन्यस् ततस् तान् उवाच देवान् ऋषि-पुरोगमान्। "ब्राह्मणाः मे महाभागाः नमस्याः पुरुषर्षभाः"। "एवम् अस्तु" इति वैन्यस् तु तैर् उक्तो ब्रह्मवादिभिः। पुरोधाश् चाभवत् तस्य शुक्रो ब्रह्ममयो निधिः। मन्त्रिणो वालखिल्याश् च सारस्वत्यो गणस् तथा। महर्षिर् भगवान् गर्गस् तस्य सवत्सरोऽभवत्।

"वेन के पुत्र ने हाथ जोड़कर महर्षियों से कहा : 'स्वभाव से ही धर्म-दर्शन के लिये मेरी बुद्धि अत्यन्त सूक्ष्म है, मुझे तत्त्वतः बतावें कि मैं इस बुद्धि का किस प्रकार प्रयोग करूँ। इसमें आप सन्देह न करें कि मैं वही करूँगा जिसे आप मेरा धर्म और उसका अर्थ आप बतावेंगे।' तब उन देवताओं और महर्षियों ने उससे कहा—'अपनी इच्छा अनिच्छा का ध्यान न रखकर सभी प्राणियों पर समदृष्टि रखकर और स्वयं को काम, क्रोध, लोभ और मान से दूर करके जो भी धर्म विहित है उसका आचरण करो। धर्म के प्रति निरन्तर आस्था रखते हुए अपनी बाहुओं के बल से उनका निग्रह करो जो सन्मार्ग से विचलित होते हैं। और मन, वाणी, तथा कर्म से लौकिक ब्रह्मन् (वेद या ब्राह्मण?) की रक्षा के कार्य में लगे रहने की प्रतिज्ञा निभाते रहो और उसे नित्य दुहराते रहो।...यह प्रतिज्ञा करो कि तुम ब्राह्मणों को दण्ड से मुक्त रखोगे और समाज को वर्णों के संकर से बचाओगे।' वेन के पुत्र ने तब ऋषियों सहित देवताओं को उत्तर दिया : 'मनुष्यो, मैं उत्तम श्रेष्ठ ब्राह्मण, मेरे पूज्य होंगे।' वेद का उच्चारण करने वाले ऋषियों ने कहा—'ऐसा ही हो।' ब्रह्मज्ञान के आगार शुक्र उसके पुरोहित हुए; बालखिल्य और सारस्वत उसके मन्त्री हुए, और पूज्य महर्षि गर्ग उसके ज्योतिषी हुए।"

अन्तिम अंश में चित्रित पृथु का चरित्र और आचरण, उस पौरोहित्य अधिकार के विरुद्ध घृणा तथा वैदिक कर्मों की उपेक्षा के साथ जिसे उसके पूर्वज ने प्रदर्शित किया था, एक जोरदार और ब्राह्मणीय दृष्टिकोण से विचार करने पर महत्त्वपूर्ण विपर्यास उपस्थित करता है।

मेरा विचार है कि वेन के आख्यान जैसे आख्यानों में हम उन प्रश्नों का एक प्रतिबिम्ब देखते हैं जो उस समय के धार्मिक जगत में क्षोभ उत्पन्न कर रहे थे जब उन पुराणों का, जिनमें ये कथायें आई हैं, सङ्कलन हुआ था; अर्थात् वे प्रश्न जिनपर वेद के अनुयायियों और उनके विविध वर्ग वाले विरोधियों,

यथा बौद्ध, जैन, चार्वाक आदि के बीच विवाद चल रहे थे। इसमें सन्देह नहीं कि ये कथायें एक प्रयोजन लेकर रची गयी थीं। ये लेखकों के समकालीन शासकों को उन शास्त्रविरोधी सिद्धान्तों के समर्थन से जो प्रचलित हो चुकी थीं या हो रही थी, दण्ड के उदाहरण द्वारा विरत करने के ध्येय से लिखी गई थीं, जो दण्ड, उनकी कल्पनानुसार उन राजाओं को मिले थे जिन्होंने प्राचीन काल में शास्त्रसम्मत मार्ग का उल्लङ्घन करने का दुःसाहस किया था। विष्णुपुराण (प्रोफेसर विलसन के अनुवाद का डॉ० हाल का संस्करण भाग, ३ पृ० २०९ आदि) में नास्तिक विचारों के उदय के वर्णन से तुलना कीजिये, जिसे लेखक ने ऐतिहासिक रुचि की वस्तु से अधिक महत्व देना चाहा है।

वेन का आख्यान अधिक विस्तृत रूप में भागवत पुराण, खण्ड ४ १३-१५ में कहा गया है किन्तु मूल कथा में कोई विशेष अन्तर नहीं है। प्रोफेसर विलसन की, विष्णु पुराण भाग १ में, इस स्थल पर टिप्पणी देखिए।

वेन को धर्मभ्रष्ट चरित्र तथा पुरोहितों के प्रति घृणा के भाव से सम्बद्ध करने मे पुराण ऋग्वेद १०. ९३, १३ मन्त्र का विरोध करते है, जिसमे (यदि हम वहाँ किसी अन्य व्यक्ति को अभिप्रेत न मानें तो) वेन की स्तुति दु.सीम, पृथवान तथा राम के साथ सूक्त के रचयितों को प्रचुर दान देने के लिए की गई है (प्र तद् दुःसीमे पृथवाने वेने प्र रामे वोचम् असुरे मघवत्सु। ये युक्त्वाय पञ्च शता अस्मयु पथा विश्रावि एषाम)। दो अन्य अश, ८. ९, १० तथा १०. १४८, ५, जिनमें उसका उल्लेख पृथु के पिता के रूप में किया गया है, ऊपर उद्धृत है (पृ० ३०६)।

मै यहाँ यह कह देता हूँ कि भार्गव (या भृगु के वंशज) नाम के एक वेन का उल्लेख सूक्तों के परम्परागत रचयिताओं की एक सूची में, जो प्रोफेसर आफरेख्त के ऋग्वेद भाग २ के अन्त में दी गई है, ऋग्वेद ९ ८५ तथा १०. के १२३ के ऋषि रूप में किया गया है।

खंड ३—पुरूरवस् का आख्यान

पुरूरवस् का उल्लेख पहले ही (पृ० १७९, २५१, २५६ तथा ३१८ आदि) इड (इडा) के पुत्र तथा मनु वैवस्वत के पौत्र के रूप में याज्ञिक अग्नि के तीन प्रकार के विभाजन करने वाले तथा राजर्षि के रूप में किया जा चुका है। हम यह भी देख चुके है (पृ० १९५) कि ऋग्वेद १. ३१, ४ में उसे 'सुकृते' अर्थात् उदार, या पवित्र राजा कहा गया है। ऋग्वेद १०. ९५ को उसके और अप्सरा उर्वशी (देखिये उपर पृ० २५६) के बीच

हुआ संवाद माना जाता है। उस सूक्त के ७वें मन्त्र में कहा गया है कि देवताओं ने पुरूरवस् को एक महायुद्ध में दस्युओं के वध के लिए शक्ति प्रदान की (महे यत् त्वा पुरूरवो रणाय अवर्द्धयन् दस्यु-हत्याय देवाः) और १८वें मन्त्र में उसे इस प्रकार पैतृक नाम से सम्बोधित किया गया है : इति त्वा देवा' इमे आहुर् ऐल यथा ईम् एतद् भवसि मृत्युबन्धुः। प्रजा ते देवान् हविषा यजाति स्वर्ग उ त्वम् अपि मादयासे। "हे इल के पुत्र, ये देवता तुम से कहते हैं कि तुम मृत्यु के बन्धु से बढ़कर नहीं हो : (तथापि) तुम्हारे पुत्र देवताओं का हवन द्वारा पूजन करें और तुम स्वर्ग का उपभोग करोगे।"

ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक सूक्तों में और अन्यत्र पुरूरवस् को एक धर्मनिष्ठ राजा माना गया है और मनु भी उसे उन राजाओं में नहीं गिनाते जिन्होंने ब्राह्मणों का विरोध किया था। किन्तु महाभारत, आदिपर्व ७५, १८ में उसके विषय में इस प्रकार कहा गया है :

पुरूरवास् ततो विद्वान् इलायां समपद्यत। सा वै तस्याभवद् माता पिता चैवेति नः श्रुतम्। त्रयोदश समुद्रस्य द्वीपान् अश्नन् पुरूरवाः। अमानुषैर् वृतः सर्वैर् मानुषः सन् महायशाः। विप्रैः स विग्रहं चक्रे वीर्योन्मत्तः पुरूरवा'। जहार च स विप्राणाम् रत्नान्य् उत्क्रोशताम् अपि। सनत्कुमारस् त राजन् ब्रह्म-लोकाद् उपेत्य ह। अनुदर्शं ततश् चक्रे प्रत्यगृह्णाद् न चाप्य् असौ। ततो महर्षिभिः क्रुद्धैः सद्य" शप्तो व्यनश्यत। लोभान्वितो बल-मदाद् नष्ट-संज्ञो नराधिप'। स हि गन्धर्व-लोकस्थान् उर्वश्या सहितो विराट्। आनिनाय क्रियार्थेऽग्नीन् यथावद् विहितास् त्रिधा।

"इसके उपरान्त विद्वान् पुरूरवस् इला से उत्पन्न हुआ, जो जैसा कि हमने सुना है, उसका पिता और उसकी माता दोनों ही थी। समुद्र के तेरह द्वीपों पर राज्य करते हुए और अतिमानवीय जीवों से परिवृत्त होकर स्वय महान् कीर्तिवाले पुरूरवस् ने शक्ति के मद में चूर होकर ब्राह्मणों के साथ विरोध कर लिया और उनके आर्त्तनाद करने पर भी उसने उनके रत्नों को लूट लिया। सनत्कुमार ब्रह्मलोक से आये और उन्होंने उसकी भर्त्सना की जिसे उसने सुनी-अनसुनी कर दी। क्रुद्ध ऋषि के शाप से तब वह लोभी राजा तत्काल नष्ट हो गया, जिसकी बुद्धि बलाभिमान के कारण नष्ट हो गयी थी। यह तेजपूर्ण 'विराट्' उर्वशी के साथ युक्त होकर गन्धर्वों के लोक में स्थित अग्नि को यज्ञकर्मादि के सम्पादन के लिये पृथ्वी पर ले आया और उसने उचित रूप से उसके तीन विभाग किये।" (देखिए विलसन का

विष्णुपुराण, चार पेजी सं० पृ० ३५० तथा ३९४ आदि टिप्पणी सहित पृ० ३९७)।

मैं हरिवंश से पुरूरवस् के सम्बन्ध मे एक दूसरा अंश उद्धृत करता हूँ, यद्यपि इसमें उसके ब्राह्मणों के साथ प्रतिद्वन्द्विता का कोई उल्लेख नहीं है :

हरिवंश ८८११. पिता बुधस्योत्तम-वीर्य-कर्मा पुरूरवाः यस्य सुतो नृ-देवः । प्राणाग्निर् ईड्योऽग्निं अजीजनद् यो नष्टं शमी-गर्भ-भवम् भवात्मा । तथैव पश्चाच् चकमे महात्मा पुरोर्वशीम् अप्सरसां वरिष्ठाम् । पितः पुरा योऽमृत-सर्व-देहो मुनि-प्रवीरैर् वर-गात्रि-घोरैः । नृपः कुशाग्रैः पुनर् एव यश् च धीमान् कृतोऽग्निर् दिवि पूज्यते च ।

"वह (चन्द्रमा) बुध के पिता थे, बुध का पुत्र पुरूरवस् था जो मनुष्यों में देवता था, वीरकर्म करने वाला, प्राणाग्नि, पूज्य, तथा स्रष्टा था, जिसने खोयी हुई अग्नि को उत्पन्न किया जो शमी से उत्पन्न हुई। वह महात्मा था जिसने पश्चिम में रखा जाकर अप्सराओं में श्रेष्ठ उर्वशी से प्रेम किया जो पूर्व की ओर रखी गई थी। यह राजा अपने सम्पूर्ण मानव शरीर के साथ कुश के अग्रभाग के साथ मुनियों द्वारा निगल लिया गया था जो अपने तीव्र शरीर से भयंकर थे, किन्तु पुनः विद्वान् बना दिया गया था और स्वर्ग में उसकी पूजा अग्नि के समान होती है।"

खण्ड ४—नहुष की कथा

पुरूरवस् के पौत्र नहुष[८५] का (देखिए ऊपर, पृ० २५६) जिसे मनु ने ब्राह्मणों के संघर्ष में आने वाला दूसरा राजा बताया है, महाभारत के विभिन्न भागों में तथा पुराणों में अल्पाधिक विस्तार के साथ वर्णन है। निम्नलिखित अंश महाभारत, आदिपर्व, पृ० ७५, २६ से है·

आयुषो नहुषः पुत्रो धीमान् सत्य-पराक्रमः। राज्य शशास सुमहद् धर्मेण पृथिवीपते। पितॄन् देवान् ऋषीन् विप्रान् गन्धर्वोरग-राक्षसान्। नहुषः पालयामास ब्रह्म क्षत्रम् अथो विशः। स हत्वा दस्यु-संघातान् ऋषीन् करम् अदापयत्। पशुवच् चैव तान् पृष्ठे वाहयामास वीर्य्यवान्।

---

[८५] नहुष का नाम इस वश के सस्थापक के रूप मे ऋग्वेद मे आता है। देखिए ऊपर पृ० १८७, टिप्पणी ७ तथा पृ० २०५ आदि। नहुप मानव ऋग्वेद ९ १०१ मन्त्र ७ ९ के तथा ययाति नहुप उसी सूक्त के मन्त्र के ४–६ के ऋषि हैं प्रोफेसर आफरेख्त के ऋग्वेद २ ४६४ आदि मे ऋषियो की सूची देखिए।

कारयामास चेन्द्रत्वम् अभिभूय दिवौकसः। तेजसा तपसा चैव विक्रमेणौजसा तथा।

"विद्वान् और सत्य-पराक्रमी नहुष ने, जो आयुस् का पुत्र था, न्याय के साथ विशाल राज्य पर शासन किया। उन्होंने पितरों, देवताओं, ऋषियों, विद्वानों, गन्धर्वों, सर्पों (उरग) तथा राक्षसों और ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्यों की रक्षा की। उस शक्तिशाली राजा ने दस्युओं के समूह का नाश करने के उपरान्त ऋषियों को अपनी पूजा करने के लिए बाध्य किया और पशु के समान पीठ पर ले चलने को कहा। देवताओं को पराभूत करके उसने अपनी शक्ति, तपस्या, तथा विक्रम से इन्द्र का पद प्राप्त कर लिया।"

इसी ग्रन्थ के दूसरे भाग, वनपर्व, १८०, ११ में यह कथा इस प्रकार आरम्भ की गई है। युधिष्ठिर ने अपने भाई भीम को एक वन में एक सर्प द्वारा पकड़ा हुआ देखा (देखिये ऊपर पृ० १५१)। यह सर्प कोई और नहीं अपितु राजा नहुष था जिसने पूछने पर अपनी कथा इस प्रकार सुनाई :

नहुषो नाम राजाऽहम् आसम् पूर्वस् तवानघ। प्रथितः पञ्चमः सोमाद् आयोः पुत्रो नराधिप। क्रतुभिस् तपसा चैव स्वाध्यायेन दमेन च। त्रैलोक्यैश्वर्यम् अव्यग्रम् प्राप्तोऽहं विक्रमेण च। तद् ऐश्वर्यं समासाद्य दर्पो माम् अगमत् तदा। सहस्रं हि द्विजातीनाम् उवाह शिबिकाम् मम। ऐश्वर्य-मद-मत्तोऽहम् अवमन्य ततो द्विजान्। इमाम् अगस्त्येन दशाम् आनीतः पृथिवीपते।.. अहं हि दिवि दिव्येन विमानेन चरन् पुरा। अभिमानेन मत्तः सन् कञ्चिद् नान्यम् अचिन्तयम्। ब्रह्मर्षि-देव-गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-पन्नगाः। करान् मम प्रयच्छन्ति सर्वे त्रैलोक्य-वासिनः। चक्षुषा यम् प्रपश्यामि प्राणिनम् पृथिवीपते। तस्य तेजो हराम्य् आशु तद् हि दृष्टेर् बलम् मम। महर्षीणाम् सहस्रं हि उवाह शिबिकाम् मम। स माम् अपनयो राजन् भ्रंशयामास वै श्रियः। तत्र ह्य् अगस्त्य-पादेन वहन् स्पृष्टो मया मुनिः। अगस्त्येन ततोऽस्म्य् उक्तो ध्वस् सर्पेति वै रुषा। ततस् तस्माद् विमानाग्र्यात् प्रच्युतश् च्युत-लक्षणः। प्रपतन् बुबुधेऽऽत्मानं व्यालीभूतम् अधोमुखम्। उवाचम् तम् अहं विप्रं "शापस्यान्तो भवेद्" इति। "प्रमादात् सम्प्रमूढस्य भगवन् क्षन्तुम् अर्हसि"। ततः स माम् उवाचेदम् प्रपतन्त कृपान्वितः। 'युधिष्ठिरो धर्म-राजः शापात् त्वाम् मोचयिष्यति"।···इत्य् उक्त्वाऽऽजगरं देहम् मुक्त्वा न नहुषो नृपः। दिव्यं वपुः समास्थाय गतस् त्रिदिवम् एव च।

"मैं आप से बहुत पहले नहुष नाम का राजा था; मैं आयु का पुत्र और सोम से पाँचवी पीढ़ी में हुआ था। अपने यज्ञों, तपस्याओं, धर्म, दम और शक्ति द्वारा मैंने तीनों लोकों पर एक छत्र आधिपत्य प्राप्त कर लिया। जब मैंने वह राज्य प्राप्त कर लिया तो मेरी आत्मा में अभिमान बैठ गया: एक सहस्र ब्राह्मण मेरी शिविका को ढोते थे। अपनी राजशक्ति के मद से मत्त होने पर और ब्राह्मणों को अपमानित करने पर मैं अगस्त्य द्वारा इस दशा में डाल दिया गया।" तब सर्प यह वचन देता है कि यदि युधिष्ठिर उसके कुछ प्रश्नों का उत्तर देंगे तो वह भीमसेन को छोड़ देगा (ऊपर पृ० १५१ पर निर्दिष्ट)। इसके उपरान्त युधिष्ठिर ने पूछा कि ऐसे विद्वान् व्यक्ति पर अज्ञान ने अधिकार कैसे प्राप्त कर लिया, क्योंकि वार्तालाप से वह अत्यन्त विद्वान प्रतीत हुआ। सर्प ने उत्तर दिया कि वह शक्ति के अभिमान से उन्मत्त हो गया था और तब वह आगे कहता है: पहले, जब मैं दिव्य रथ पर आकाश मार्ग से चलता था तो आत्माभिमान से उन्मत्त होकर मैं किसी को कुछ समझता नहीं था। तीनों लोकों के निवासी, ब्राह्मण, ऋषि, देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पन्नग, सभी मेरा सम्मान करते थे। मेरी दृष्टि में इतनी शक्ति थी कि जिस किसी जीव पर मैं दृष्टि गड़ाता था उसकी शक्ति मैं तत्काल ले लेता था। सहस्र महर्षि मेरी पालकी ले चलते थे। हे राजन! इसी दुर्व्यवहार ने मुझे उस उच्च स्थान से गिरा दिया। मैंने उस समय अपने पैर से मुनि अगस्त्य को ठोकर मारा जो मेरी पालकी ढो रहे थे। अगस्त्य ने क्रोध से कहा 'सर्प, तुम नीचे जा गिरो'। उस भव्य शिविका से गिरकर और अपने वैभव से च्युत होकर मैं सीधा नीचे गिरा और मैंने अनुभव किया कि मैं सर्प हो गया हूँ। मैंने ब्राह्मण (अगस्त्य) से प्रार्थना की: 'इस शाप की अवधि बता दीजिए, हे ऋषि, आप मुझ अविवेक से मूढ़ व्यक्ति को क्षमा करें।' तब दया करके उन्होंने गिरते हुए मुझसे कहा, 'धर्मराज युधिष्ठिर तुम्हें इस शाप से मुक्त करेंगे'। कहा जाता है कि युधिष्ठिर और सर्प के बीच हुए वार्तालाप के अन्त में राजा नहुष ने अपना विशाल अजगर शरीर छोड़कर दिव्य शरीर धारण किया और स्वर्ग लोक को चले गये।"

यही कथा और विस्तृत रूप में उद्योगपर्व, अध्याय १०–१६ में इस प्रकार कही गई है:

वृत्र दैत्य का वध करने के उपरान्त इन्द्र ब्रह्महत्या के भय से शंकित हो गये (क्योंकि वृत्र को ब्राह्मण माना जाता था) और जल में जाकर छिप रहे। देवराज के लुप्त हो जाने से सभी स्वर्ग लोक तथा पृथ्वी के कार्य अस्तव्यस्त हो गये। तब ऋषियों और देवताओं ने नहुष से राजा बनने की प्रार्थना की।

पहले शक्ति के अभाव का बहाना करके अन्त में नहुष ने उनकी प्रार्थनाओंके उत्तर मे यह उच्च पद स्वीकार कर लिया। इस उच्चपद की प्राप्ति के समय तक उसने एक धार्मिक जीवन व्यतीत किया था किन्तु अब वह आनन्दोपभोग तथा ऐन्द्रिक सुखों मे लिप्त हो गया और स्वयं इन्द्र की पत्नी इन्द्राणी को भी प्राप्त करने की इच्छा रखने लगा, जिसे उसने संयोगवश देख लिया था। रानी देवताओं के रक्षक अङ्गिरस् बृहस्पति के पास पहुँची जिन्होंने उसकी रक्षा का भार लिया। इस मध्यस्थता की बात सुनकर नहुष बहुत क्रुद्ध हुआ; किन्तु देवताओं ने उसे शान्त करने का प्रयत्न तथा परस्त्री के अपहरण की अनैतिकता की ओर संकेत किया। किन्तु नहुष किसी प्रकार का उपदेश नहीं सुन सकता था और इस बात पर अड़ा रहा कि परस्त्रीगमन जैसे कार्य मे वह स्वं इन्द्र से अधिक पतित नहीं है : १२, ६. अहल्या धर्षिता पूर्वम् ऋषि-पत्नी यशस्विनी। जीवतो भर्त्तुर् इन्द्रेण स व : किं न निवारित। ७. बहूनि च नृशंसानि कृतानीन्द्रेण वै पुरा। वैधर्म्याण्य् उपदाश् चैव स व किं न निवारितः। "६. पूर्वकाल में इन्द्र ने प्रसिद्ध अहल्या को, जो एक ऋषि की पत्नी थी, पति के जीवन काल में ही भ्रष्ट कर दिया (दे० पृ० १३७ आदि) : उसे तुम लोगों ने मना क्यों नहीं किया ? ७. बहुत से नृशंस तथा अधर्म के कर्म तथा प्रवञ्चनायें इन्द्र निरन्तर करता रहता था : उसे तुम लोगों ने क्यों नहीं मना किया ?" नहुष की आज्ञा पाकर देवतागण इन्द्राणी को ले आने गये, किन्तु बृहस्पति ने उसे जाने नहीं दिया। उसके कहने पर इन्द्राणी ने नहुष से कुछ दिन और प्रतीक्षा करने की प्रार्थना की जब तक कि वह अपने पति के विषय में निश्चित समाचार नहीं जान लेती। यह प्रार्थना स्वीकार कर ली गई। देवताओं ने तब इन्द्र का पक्ष लेकर विष्णु से प्रार्थना की और विष्णु ने यह वचन दिया कि यदि इन्द्र उनके लिये यज्ञ करे तो वह अपने पाप से मुक्त हो जायगा, अपना राज्य पुनः प्राप्त कर लेगा, तथा नहुष का भी नाश हो जायगा। इन्द्र ने यज्ञ किया और उसका परिणाम इस प्रकार बताया गया है : १३, १९ : विभज्य ब्रह्म-हत्याम् तु वृक्षेषु च नदीषु च। पर्वतेषु पृथिव्या च स्त्रीषु चैव युधिष्ठिर। स विभज्य च भूतेषु विसृज्य च सुरेश्वरः। विज्वरो भूत-पाप्मा च वासवोऽभवद् आत्मवान्। "ब्रह्महत्या के पाप को वृक्षों, नदियों, पर्वतों, पृथ्वी, स्त्रियों एवं तत्त्वों में बाँटकर, देवताओं के स्वामी वासव (इन्द्र) पाप और कष्ट से मुक्त होकर शक्तिशाली हो गये।" इस प्रकार नहुष अपने स्थान से च्युत हो गया। किन्तु (जब तक ऐसा न मान लिया जाय कि इस कथन मे पूर्वादान

हो है, या कथा में अस्तव्यस्तता है) उसने शीघ्र ही अपना पद पुनः प्राप्त कर लिया होगा क्योंकि यह कहा गया है कि इन्द्र पुनः नष्ट होकर और अदृश्य हो गये। इन्द्राणी अब अपने पति की खोज में निकली, और उपश्रुति (रात्रि तथा रहस्यों का उद्‌घाटन करने वाली देवी) की सहायता से उसे एक कमल के डण्ठल में, जो हिमालय के उत्तर में एक समुद्र के मध्य में स्थित द्वीप के एक सरोवर में उगा हुआ था, अत्यन्त सूक्ष्म रूप में प्रच्छन्न पाया। उसने उससे नहुष की दुरेच्छा की सूचना दी और उससे अपनी शक्ति लगाकर विपत्ति से मुक्त करने तथा पुनः राज्य पर अधिकार करने की प्रार्थना की। इन्द्र ने नहुष की महान् शक्ति की बात कह कर तत्काल कोई कार्य करना अस्वीकार कर दिया; किन्तु उसने अपनी पत्नी को एक युक्ति बताई जिसके द्वारा अपहरण करने वाला अपने पद से भ्रष्ट हो सकता था। उसे नहुष से यह कहने का आदेश दिया कि यदि वह ऋषियों द्वारा ढोई जाने वाली पालकी पर चढ़ कर आवे तो वह सहर्ष उसे अपने को अर्पित कर देगी" (१५, ४. ऋषि-यानेन दिव्येन माम उपाहि जगत्पते। एवं तव वशे प्रीता भविष्यामि तं वद)। देवताओं की रानी तब नहुष के पास गयी, जिसने बड़े आनन्द के साथ उसका स्वागत किया, और इन्द्राणी ने यह प्रस्ताव रखा : १५, १२. इच्छाम्य् अहम् अथापूर्वं वाहनं ते सुराधिप। यद् न विष्णोर् न रुद्रस्य नासुराणान् न रक्षसाम्। वहन्तु त्वाम् महाभागाः ऋषयः सङ्गताः विभो। सर्वे शिविकया राजन्न् एतद् हि मम रोचते। "हे देवताओं के राजा ! मैं आपकी पालकी ऐसी चाहती हूँ जो अब तक अज्ञात हो, जिसे न विष्णु, न रुद्र, न असुर और न राक्षस प्रयोग में लाते हों। सभी प्रमुख ऋषिगण एक साथ तुम्हें शिविका में उठाकर ले चलें, यही मुझे अच्छा लगता है।" नहुष ने इस प्रार्थना को अपने अभिमान के अनुकूल पाया और उसका उत्तर उसकी आत्मश्लाघा प्रकट करता है : १५, १७. न ह्य् अल्प-वीर्यो भवति यो वाहान् कुरुते मुनीन्। अहं तपस्वी बलवान् भूत-भव्य-भवत्-प्रभुः। मयि क्रुद्धे जगद् न स्याद् मयि सर्वम् प्रतिष्ठितम्। ·· तस्मात् ते वचन देवि करिष्यामि न सशयः। सप्तर्षयो मा वक्ष्यन्ति सर्वे ब्रह्मर्षयस् तथा। पश्य माहात्म्यम् अस्माकं ऋद्धिं च वरवर्णिनि। ·· १५, २२. विमाने योजयित्वा स ऋषीन् नियमम् आस्थितान्। अब्रह्मण्यो बलोपेतो मत्तो मद-बलेन च। काम-वृत्तः स दुष्टात्मा वाहयामास तान् ऋषीन्। "जो मुनियों को अपना वाहक बनाता है वह अल्प शक्ति वाला व्यक्ति नहीं होता। मैं तपस्वी, बलवान, तथा भूत, भविष्यत् और वर्तमान का स्वामी हूँ। यदि मैं क्रुद्ध हो जाऊँ तो संसार टिक नहीं सकता। मुझ पर सभी वस्तुयें

आश्रित है।' "अतएव, हे देवि, तुम जो कहोगी उसे मैं बिना विलम्ब के पूरा करूँगा। सात ऋषि, जो सभी ब्रह्मर्षि हैं, मुझे ढोयेंगे। हे सुन्दर देवि! मेरी शक्ति और मेरे वैभव को देखो।" कथा में आगे कहा गया है, "इसके उपरान्त इस अधर्मी और क्रूर, दुष्टात्मा ने बलाभिमान के मद से उन्मत्त और स्वच्छेचारी होकर, अपनी शिविका में ऋषियों को लगाया, जिन्होंने उसकी बात मान ली और उनसे शिविका ढोने को बाध्य किया।" इन्द्राणी तब पुन. बृहस्पति के निकट जाती है, जो उसे विश्वास दिलाता है कि शीघ्र ही नहुष को अभिमान का प्रतिफल मिल जायगा और यह वचन देते हैं कि वे स्वय ही उसके नाश के लिए तथा इन्द्र के गुप्त स्थान का पता लगाने के लिए यज्ञ करेंगे। तब अग्नि इन्द्र के आने पर बृहस्पति की अनुपस्थिति में हुई घटनायें बताते हैं। जब इन्द्र कुबेर, यम, सोम और वरुण के साथ नहुष के नाश के लिए योजना बना रहे थे तभी महर्षि अगस्त्य आये। उन्होंने इन्द्र को उसके शत्रु के नाश पर बधाई दी और यह कथा सुनाई की यह सब कैसे घटित हुआ :—१७, ८. श्रमार्त्तांश्च वहन्तस् तम् नहुषम् पापकारिणम्। देवर्षयो महाभागस् तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः। प्रपच्छुर् नहुषम् देवम् संशयं जयतां वर। ये इमे ब्राह्मणाः प्रोक्ताः मन्त्रा वै प्रोक्षणे गवाम्। एते प्रमाणं भवतः उताहो नेति वासव। नहुषो नेति तान् आह तमसा मूढ-चेतनः। ऋषयः ऊचुः। अधर्मे सम्प्रवृत्तस् त्वं धर्मं न प्रतिपद्यसे। प्रमाणम् एतद् अस्माकम् पूर्वम् प्रोक्तम् महर्षिभिः। अगस्त्यः उवाच। ततो विवदमानः स मुनिभिः सह वासव। अथ माम् अस्पृशद् मूर्ध्नि पादेनाधर्म-योजितः। तेनाभूद् हत-तेजाश् च निःश्रीकश् च महीपतिः। ततस् त सहसा विग्नम् अवोचम् भय-पीडितम्। "यस्मात् पूर्वे. कृतम् ब्रह्म ब्रह्मर्षिभिर् अनुष्ठितम्। अदुष्टं दूषयसि वै यच् च मूर्ध्न्य अस्पृश पदा। यच् चापि त्वम् ऋषीन् मूढ ब्रह्म-कल्पान् दुरासदान्। वाहान् कृत्वा वाहयसि तेन स्वर्गाद् हत-प्रभुः। ध्वंस पाप परिभ्रष्ट. क्षीण-पुण्यो महीतलम्। दश-वर्ष-सहस्राणिः सर्प-रूप धरो महान्। विचरिष्यसि पूर्णेषु पुनः स्वर्गम् अवाप्स्यसि।" एव भ्रष्टो दुरात्मा स देव-राज्याद् अरिन्दम। दिष्ट्या वर्द्धामहे शक्र हतो ब्राह्मण-कण्टकः। त्रिपिष्टपम् प्रपद्यस्व पाहि लोकान् शचीपते। जितेन्द्रियो जितामित्रः स्तूयमानो महर्षिभिः। "पापी नहुष को ढोने से थके हुए प्रमुख देवर्षियों तथा दोषरहित ब्रह्मर्षियों ने नहुष देव से एक प्रश्न का उत्तर देने को कहा: 'हे विजेताओं में सर्वश्रेष्ठ वासव, तुम उन ब्राह्मण मन्त्रों को जो गो के वध के समय पढ़े जाते हैं, प्रमाणिक मानते हो या नहीं?' नहुष ने, जिसकी बुद्धि कुण्ठित

हो गयी थी उत्तर दिया 'नहीं'। ऋषियों ने कहा—'अधर्म में रत हो कर तुम धर्म को नहीं प्राप्त करते हो : इन मन्त्रों को, जिसे पहले महर्षियों ने कहा है, हम प्रामाणिक मानते है।' तब (अगस्त्य आगे कहते है) मुनियों के साथ विवाद करते हुए, नहुष ने अधर्म से प्रेरित होकर मेरे सिर पर अपना पैर रख दिया। इसके परिणामस्वरूप उस राजा का तेज नष्ट और वैभव समाप्त हो गया। जब वह तत्काल कुपित और भयभीत हो गया तो मैंने उससे कहा, 'हे मूर्ख यतः तुम उन सदा से समादृत मन्त्रों की अवहेलना करते हो जिनकी रचना प्राचीन महर्षियों ने की है, और जिसका प्रयोग महर्षि करते रहे हैं, तूने मेरे सिर को चरण से स्पर्श किया है तथा ब्रह्मा के समान दुर्धर्ष ऋषियों को अपनी शिविका ढोने के लिये नियुक्त किया है—अत' अपने तेज से विमुक्त होकर, सभी पुण्यों के नष्ट हो जाने से तुम पापात्मा स्वर्ग से पृथ्वी को चले जाओ। दस सहस्र वर्ष तक तुम विशाल सर्प के रूप में पृथ्वी पर रहोगे। उस समय के पूर्ण हो जाने पर तुम पुनः स्वर्ग आ जाओगे।' इस प्रकार वह दुष्ट देवताओं के स्वामित्व से च्युत हो गया। हे इन्द्र, अब हम समृद्ध होंगे क्योंकि ब्राह्मणों का शत्रु अब नष्ट हो गया। तीनों लोकों के स्वामी बनो। हे शचीपति ! अपनी इन्द्रियों को वश में रखकर शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर और महर्षियों द्वारा प्रशंसित होकर तुम तीनों लोकों के निवासियों का पालन करो।"[८६]

जैसा कि हम ऊपर देख चुके है, इन्द्र अपने अनैतिक चरित्र के लिये कुख्यात था। अगस्त्य द्वारा अन्तिम वाक्य में उसके लिये "इन्द्रियों को वश में करके" विशेषण उसकी इस अपकीर्ति के साथ मेल नहीं खाता। क्या इसे चाटुकारिता समझा जाय या इस बात का संकेत कि भविष्य मे चारित्रिक पवित्रता एवं नैतिकता के आचरण से उसका कल्याण होगा ?

कुछ अन्य आख्यानों के समान यह आख्यान भी महाभारत के सकलन-कर्त्ताओं का प्रिय आख्यान प्रतीत होता है, कारण इसे हम एक बार और कुछ सूक्ष्म विस्तार के अन्तर के साथ (जो संक्षिप्त रूप में आवृत्त होने को उचित ठहराता है) अनुशासन पर्व, ९९, ३ से १००, ४० मे पाते है। इस स्थल पर बताया गया है कि नहुष को अपने सत्कर्मो के पुरस्कारस्वरूप स्वर्ग प्राप्त हुआ। स्वर्ग में भी वह सभी दैव एव मानव यज्ञकर्म करता रहा और देवताओं की पूजा पूर्ववत् करता रहा। अन्ततः वह इस अभिमान से फूल

---

[८६] आगे श्लोक ५५६ मे नहुष को पतित, ब्राह्मणद्वेषी और पापात्मा कहा गया है (दुराचारश् च नहुषो ब्रह्म-द्विट् पापचेतन)।

उठा कि वह इन्द्र है और फलस्वरूप उसके सत्कर्मों का फल समाप्त हो गया। दीर्घकाल तक उसने ऋषियों को अपने को ढोने के लिए बाध्य किया। अन्ततोगत्वा सेवक का कार्य करने की अगस्त्य की बारी आई। तब भृगु आये और उन्होंने अगस्त्य से कहा 'हम देवताओं के इस दुष्ट राजा के अपमान को सहते है?' अगस्त्य ने उत्तर दिया कि किसी भी ऋषि ने नहुष को शाप देने का साहस नहीं किया है, कारण वह जिस किसी व्यक्ति पर दृष्टि स्थिर करता है उसे वशीभूत करने की शक्ति रखता है, और वह अमृत का पान करता है। तथापि अगस्त्य ने भृगु से कहा कि वे जो कुछ कहेंगे उसे वे करने के लिए उद्यत हैं। भृगु ने कहा कि ब्रह्मा ने उन्हें नहुष का प्रतिकार करने के लिये भेजा था, जो उस दिन अगस्त्य को अपनी शिविका में लगायेगा और उनपर चरण से आघात करेगा। वे स्वयं (भृगु) "इस अपमान पर क्रुद्ध होकर ब्राह्मणों पर अत्याचार करने वाले और उनसे घृणा रखने वाले नहुष को सर्प हो जाने का शाप दे देंगे।" (व्युत्क्रान्त-धर्मं तम् अहं धर्पणामर्पितो भृशम्। अहिर् भवस्वेति रुषा शप्स्ये पापं द्विज-द्रुहम्)। यह सब इस प्रकार घटित हुआ :—

अथागस्त्यम् ऋषि-श्रेष्ठम् वाहनायाजुहाव ह। द्रुतं सरस्वतीकूलात् स्मयन् इव महाबलः। ततो भृगुर् महातेजाः मैत्रावरुणिम् अब्रवीत्। "निमीलयस्व नयने जटां यावद् विशामि ते।" स्थाणुभूतस्य तस्याथ जटाम् प्राविशद् अच्युतः। भृगुः स सुमहातेजाः पातनाय नृपस्य च। ततः स देव-राट् प्राप्तस् तम् ऋषिं वाहनाय वै। ततोऽगस्त्यः सुरपतिं वाक्यम् आह विशाम्पते। "योजयस्वेति मां क्षिप्रं कं च देशं वहामि ते। यत्र वक्ष्यसि तत्र त्वां नयिष्यामि सुराधिप"। इत्य् उक्तो नहुषस् तेन योजयामास तम् मुनिम्। भृगुस् तस्य जटान्तः-स्थो बभूव हृषितो भृशम्। न चापि दर्शनं तस्य चकार स भृगुस् तदा। वर-दान-प्रभाव-ज्ञो नहुषस्य महात्मनः। न चुकोप तदाऽगस्त्यो युक्तोऽपि नहुषेण वै। तं तु राज प्रतोदेन चोदयामास भारत। न चुकोप स धर्मात्मा ततः पादेन देव-राट्। अगस्त्यस्य तदा क्रुद्धो वामेनाभ्यहनच् छिरः। तस्मिन् शिरस्य् अभिहते स जटान्तर्गतो भृगुः। शशाप बलवत् क्रुद्धो नहुषम् पापचेतसम्। "यस्मात् पदाऽहनः क्रोधात् शिरसीमम् महामुनिम्। तस्माद् आशु महीम् गच्छ सर्पो भूत्वा सुदुर्मते"। इत्य् उक्तः स तदा तेन सर्पो भूत्वा पपात ह। अदृष्टेनाथ भृगुणा भूतले भरतर्षभः। भृगु हि यदि सोऽद्रक्ष्यद् नहुषः पृथिवीपते। स न शक्तोऽभविष्यद् वै पातने तस्य तेजसा।

"महाबली नहुष ने मुस्कुराते हुए महर्षि अगस्त्य को सरस्वती के किनारे से उसे ढोने के लिए बुलवाया। तेजस्वी भृगु ने मैत्रावरुणि (अगस्त्य) से कहा, 'अपनी आँखों को बन्द कर लो और तब तक मै तुम्हारी जटा में प्रवेश करता हूँ।' राजा का नाश करने के ध्येय से भृगु ने अगस्त्य के केशों मे प्रवेश किया जो जडवत् निश्चल खड़े थे। तब नहुष अगस्त्य के निकट उन्हे वाहन बनाने के लिये आया। अगस्त्य ने वाहन में लगना तुरन्त स्वीकार कर लिया और देवों के राजा की जहाँ कहीं जाने की इच्छा थी वहाँ ले चलने के लिये सहमत हो गये। अगस्त्य की जटा में बैठे हुए भृगु अत्यन्त प्रसन्न हुए, किन्तु उन्होंने उसकी ओर देखने का साहस नहीं किया क्योंकि वे उस वरदान की शक्ति से परिचित थे (कि वह जिस पर अपने नेत्र स्थिर करेगा उसी को अपनी इच्छा के वशीभूत कर लेगा)। उसके वाहन से युक्त होने पर अगस्त्य कुपित नहीं हुए और कोड़े से मारकर हाँकने पर भी वे धर्मात्मा स्थिर खडे रहे। देवताओं के राजा ने क्रुद्ध होकर उस ऋषि के सिर में पैर से ठोकर मारा, तब उनकी जटा में छिपे हुए भृगु क्रुद्ध हुए और उन्होंने उस दुष्ट नहुष को शाप दिया: 'हे मूर्ख, यतः तूने क्रोध में आकर इस महामुनि के सिर पर चरणाघात किया है, अतः तू एक सर्प हो जा और शीघ्र पृथ्वी पर गिर पड़।' ऐसा कहते ही नहुष के माध्यम से, जो अदृश्य बने रहे, नहुष सर्प हो गया और शीघ्र पृथ्वी पर आ गिरा। यदि भृगु नहुष द्वारा देख लिये गये होते तो उस दुष्ट की शक्ति के कारण ऋषि उसे पृथ्वी पर फेंकने में असमर्थ रहते।"

नहुष की प्रार्थना तथा अगस्त्य की मध्यस्थता से भृगु ने शाप की एक अवधि निश्चित कर दी जिसे, जैसा कि इस कथा के अन्य रूपान्तरों में कहा गया है, युधिष्ठिर ही दूर करने के साधन हुए।

उद्योग पर्व में दिये गये इस आख्यान के पाठ से जो अनेक वाक्य मैंने उद्धृत किये हैं उनसे तथा सम्पूर्ण कथा की शैली से लेखक का उद्देश्य नहुष के वर्णन को उस दण्ड के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करना ही प्रतीत होता है, जो दण्ड न केवल पाखण्ड-प्रदर्शन के लिये होता है अपितु पुरोहितों के अधिकारों में प्रतिरोध डालने तथा उनके शरीर या श्रेष्ठता की अवमानना के लिये भी प्राप्त होता है।

खंड ५—निमि की कथा

निमि (इक्ष्वाकु के पुत्रों में एक) दूसरे राजा हैं जिन्हें मनु ने ऊपर उद्धृत अंश में ब्राह्मणों का विरोधी बताया है। विष्णु पु० (विलसन, ४

पेजी, पृ० ३८८) में यह कथा इस प्रकार कही गयी है : निमि ने ब्रह्मर्षि वसिष्ठ से ऐसे यज्ञ में ऋत्विज् होने की प्रार्थना की जो सहस्र वर्षों तक चलने वाला था। उत्तर में वसिष्ठ ने पहले से इन्द्र के यज्ञ में पाँच सौ वर्षों का कार्य ले रखने की बात बताई किन्तु इस अवधि के उपरान्त लौट आने का आश्वासन दिया। राजा ने कुछ भी नहीं कहा और वसिष्ठ यह समझ कर चले गये कि वह इस व्यवस्था से सहमत हो गया। लौटने पर पुरोहित वसिष्ठ ने पाया कि निमि ने गौतम को (जो वसिष्ठ के समान ही ब्रह्मर्षि थे) तथा दूसरों को यज्ञ सम्पादन के लिये रख लिया है; और इस अपमान से क्रुद्ध होकर उसकी दुर्भावना का फल देने के लिए राजा को, जो सोया हुआ था, भौतिक शरीर से वियुक्त हो जाने का शाप दे दिया। जब निमि जगा और उसे ज्ञात हुआ कि बिना पूर्वसूचना के उसे शाप दे दिया गया है तो उसने इसके समान ही शाप वसिष्ठ को देकर प्रतिकार किया और मर गया। "इस शाप के प्रभाव से" (विष्णुपुराण ४. ५, ६ में आगे कहा गया है) वसिष्ठ का तेज मित्र और वरुण के तेज में मिल गया। वसिष्ठ को उनसे उस समय दूसरा शरीर प्राप्त हुआ जब उर्वशी के दर्शन से इन दोनों देवताओं का वीर्य-स्खलित हुआ।" (तच्-छापाच् च मित्रा-वरुणयोस् तेजसि वशिष्ठ-तेज' प्रविष्टम्। उर्वशी-दर्शनाद् उद्भूत-वीर्य्य-प्रपातयोः सकाशाद् वशिष्ठो देहम् अपरं लेभे)।[८७] निमि के शरीर में लेपन कर दिया गया। उस यज्ञ की समाप्ति पर, जिसे उसने प्रारम्भ किया था, पुरोहितों की मध्यस्थता से देवता उसे पुनः जीवित करने वाले थे, किन्तु उसने इसे अस्वीकार कर दिया, और उसकी इच्छानुसार देवताओं ने उसे सभी प्राणियों के नेत्रों में स्थापित कर दिया। इस कारण ही नेत्र सदैव खुलते और बन्द होते रहते हैं" (निमिष का अर्थ है पलकों का गिरना)।

भागवतपुराण ९. १३, १-१३ में यह कथा इसी प्रकार कही गई है। उस अंश का एक भाग यह है :—

३. निमिश् चलम् इदं विद्वान् सत्रम् आरभतात्मवान्। ऋत्विग्भिर् अपरैस् तावद् नागमद् यावता गुरुः। शिष्य-व्यतिक्रमं वीक्ष्य निर्वर्त्य गुरुर् आगत.। अशपत् "पतताद् देहो निमेः पण्डित-मानिनः।" निमिः प्रतिददौ शापं गुरवेऽधर्मवर्त्तिने। "तवापि पतताद् देहो लोभाद् धर्मम्

---

[८७] इस-कथा का अगले खण्ड में और विवेचन किया जायगा।

अजानतः" । इत्य् उत्ससर्ज स्वं देहं निमिर् अध्यात्म-कोविदः । मित्रा-वरुणयोर् जज्ञे उर्वश्याम् प्रपितामहः ।

"संयमी निमि ने, जो संसार की नश्वरता का ज्ञान रखता था, अपने गुरु के आने तक दूसरे पुरोहितों की सहायता से यज्ञ प्रारम्भ किया । लौटने पर गुरु ने शिष्य द्वारा अवहेलना जानकर उसे इस प्रकार शाप दिया : 'अपने को विद्वान् समझने वाले निमि का शरीर उससे अलग हो जावे ।' निमि ने यह शाप अपने गुरु पर लौटा दिया जो अधर्म कर रहे थे । 'आपका शरीर भी छूट जावे क्योंकि आप लोभवश धर्म को भूल रहे हैं ।' इस प्रकार कहकर आध्यात्म तत्त्व के ज्ञानी निमि ने अपना शरीर त्याग दिया और प्रपितामह (वसिष्ठ) मित्र तथा वरुण द्वारा उर्वशी से उत्पन्न हुआ ।"[८८]

निमि का अपराध, जो इन अंशों में बताया गया है, सामान्य पौरोहित्य व्यवस्था के उल्लंघन का या उनके कर्म के अनधिकार सम्पादन का नहीं है; अपितु अपनी सुविधामात्र का ध्यान रखकर दूसरे ब्राह्मण (क्योंकि गौतम भी पुरोहित-वर्ग के थे) की सहायता से अपने गुरु को, जो दूसरे यज्ञ में लगे थे अपने अभिप्राय की सूचना दिये विना यज्ञ प्रारम्भ करना ही उसका अपराध था । जैसा कि हम देख चुके हैं, भागवत् निष्पक्ष होकर दोनों पर ही दोप रखता है और (विष्णु पुराण के समान ही) यह वर्णन करता है कि राजा के शाप का प्रभाव ब्राह्मण पर पड़ा और ब्राह्मण के शाप का प्रभाव राजा पर ।

खंड ६—वसिष्ठ

भारत के आख्यानात्मक इतिहास में होने वाले ब्राह्मणों और क्षत्रियों के प्रसिद्ध संघर्षों में एक नितान्त महत्त्वपूर्ण संघर्ष वह है जो वसिष्ठ और विश्वामित्र के बीच हुआ बताया जाता है । मैं इस संघर्ष का काल्पनिक वर्णनों के सहित पूर्ण विस्तृत विवरण रामायण से, जो पर्याप्त विस्तृत रूप में इसका

---

[८८] अन्तिम श्लोक पर टीकाकार श्रीधर ने निम्नलिखित टिप्पणी की है : उर्वशी-दर्शनात् स्कन्न रेतस् ताभ्या कुम्भे निपिक्तम् । तस्मात् प्रपितामहो वशिष्ठो जज्ञे । तथा च श्रुति "कुम्भे रेत सिपिचितु समानम्" इति । "उर्वशी को देखकर उनका वीर्य स्खलित हो गया और घट मे जा गिरा, इससे प्रजापति वसिष्ठ उत्पन्न हुए और श्रुति का ऐसा ही कथन है ।" (ऋ० वे० ७ ३३, १३ जो अगले खण्ड मे उद्धृत किया जायगा ।

वर्णन करता है, तथा महाभारत से प्रस्तुत करूँगा, जिसमें इसका अनेकशः प्रवेश कराया गया है। किन्तु ऐसा करने के पूर्व मैं ऋग्वेद से उन अंशों को उद्धृत करूँगा जो इन दोनों प्रतिद्वन्द्वियों के वास्तविक इतिहास पर थोड़ा प्रकाश डालते हैं। इस भाग की भूमिका पृ० १-६ में जो कुछ कहा गया है उससे तथा पृ० १५८ आदि पर दिये गये मेरे कथन से यह स्पष्ट है कि वैदिक सूक्त, महाकाव्यों एवं पुराणों के संकलनों से बहुत प्राचीनकाल के भारत के ज्ञान के लिए अधिक विश्वसनीय पथप्रदर्शक हैं। दूसरी ओर महाकाव्यों और पुराणों में प्राचीन परम्पराओं का अन्तर्भाव निःसन्देह हुआ है, तथापि परवर्ती लेखकों के स्वेच्छाचारी तथा रूढिवादी विचारों के अनुसार इनमें स्वतन्त्र रूप से परिवर्तन हुए हैं और अनेक विशुद्ध काल्पनिक अंश भी जुड़ गये हैं। इसके विपरीत, वैदिक सूक्त बहुत प्राचीन काल से अपरिवर्तित रूप में सुरक्षित रहे हैं और वे अपने रचनाकाल के युग की सामाजिक, धार्मिक और कर्मकाण्डीय दशा का एवं समकालीन घटनाओं का यथार्थ प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करते हैं। अब तक तथ्यों का कोई साभिप्राय विवरण या रूपपरिवर्तन किसी समुदायविशेष के हित को ध्यान में रखकर नहीं किया था, और इन सरल रचनाओं से हमें जो सूचनाएँ प्राप्त होती हैं उनमें अधिकांश इसलिये अधिक विश्वनीय हैं कि वे निर्देशों, उल्लेखों तथा विकीर्ण विवरणों की तुलना से प्राप्त होती हैं न कि प्रत्यक्ष और सम्बद्ध कथनों या वर्णनों से। अतएव यदि वसिष्ठ और विश्वामित्र के वास्तविक सम्बन्धों पर कुछ प्रकाश की किरण पायी जा सकती है तो वह यहीं पायी जा सकती है। इन दो व्यक्तियों से सम्बद्ध सूक्तों का उद्धरण देने के उपरान्त मैं ब्राह्मणों या अन्य परवर्ती रचनाओं से उनके जन्म तथा इतिहास के सम्बन्ध में उन विवरणों को प्रस्तुत करूँगा, जो मुझे उपलब्ध हुए हैं। वसिष्ठ और विश्वामित्र के संघर्ष का विस्तृत विवेचन पहले ही डॉ० रूडाल्फ रॉथ के "डिसर्टेशन्स ऑन दि लिटरेचर एण्ड हिस्ट्री आफ द वेद"[८१] के भाग ३ में हो चुका है, जिसमें इस विषय से संबद्ध सूक्तों के नितान्त महत्वपूर्ण अंशों का अनुवाद भी किया गया है। जिस प्रथम सूक्त को मैं यहाँ उद्धृत करूँगा उसमें वसिष्ठ और उनके वंश की कीर्ति का गान किया गया है। परार्द्ध में ऋषि के जन्म का वर्णन है जब कि पूर्वार्द्ध के मन्त्रों में राजा सुदास के साथ उनके सम्बन्ध का उल्लेख है। इस सूक्त का अधिकांश दुरूह है।

ऋ० वे० ७. ३३, १. श्वित्यञ्चो मा दक्षिणतस्—कपर्दाः धियंजिन्वासो

---

[८१]त्सुर लिटेराट्टुर उण्डगेशिष्ट डेस् वेद, स्टटगार्ट १८४६

अभि हि प्रमन्दुः। उत्तिष्ठन् वोचे परि बर्हिषो नॄन् न मे दूराद् अवितवे वसिष्ठाः। २. दूराद् इन्द्रम् अनयन्न् आ सुतेन तिरो वैशन्तम् अति पान्तम् उग्रम्। पाशद्युम्नस्य वायतस्य सोमात् सुताद् इन्द्रो अवृणीत वसिष्ठान्। ३. एव इन् नु कं सिन्धुम् एभिस् ततार एव इन् नु कम् भेदम् एभिर् जघान। एव इन् नु क दाशराज्ञे सुदासम् प्रावद् इन्द्रो ब्राह्मणा वो वसिष्ठाः। ४. जुष्टी नरो ब्रह्मणा व. पितॄणाम् अक्षम् अव्यय न किल रिपाथ। यत् शक्करीषु बृहता रवेण इन्द्रे शुष्मम् अदधात वसिष्ठाः। ५. उद् द्याम् इव इत् तृष्णाजो नाथितासो अदीधयुर् दाशराज्ञे वृतासः। वसिष्ठस्य स्तुवतः इन्द्रो अश्रोद् उरुं तृत्सुभ्यो अकृणोद् उ लोकम्। ६. दण्डा इव गो अजनासः आसन् परिच्छिन्नाः भरताः अर्भकासः। अभवच् च पुर-एता वसिष्ठः आद् इत् तृत्सूनां विशो अप्रथन्त। ७. त्रयः कृण्वन्ति भुवनेषु रेतस् तिस्रः प्रजाः आर्याः ज्योतिर्-अग्राः। त्रयो घर्मासः उपसं सचन्ते सर्वान् इत् तान् अनु विदुर् वसिष्ठाः। ८. सूर्यस्य इव वक्षथो ज्योतिर् एषाम् समुद्रस्य इव महिमा गभीरः। वातस्य इव प्रजवो न अन्येन स्तोमो वसिष्ठाः अनु एतवे वः। ९. ते इन् निण्यं हृदयस्य प्रकेतैः सहस्र-वल्शम् अभि सं चरन्ति। यमेन ततम् परिधिं वयन्तो अप्सरसः उप सेदुर् वसिष्ठाः। १०. विद्युतो ज्योतिः परि सं जिहानम् मित्रा-वरुणा यद् अपश्यताम् त्वा। तत् ते जन्म उत एकं वसिष्ठ अगस्त्यो यत् त्वा विशः आजभार। ११. उत असि मैत्रावरुणो वसिष्ठ उर्वश्याः ब्रह्मन् मनसोऽधि जातः। द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवाः पुष्करे त्वाऽददन्त। १२. स प्रकेत. उभयस्य प्रविद्वान् सहस्रदानः उत वा सदानः। यमेन ततम् परिधि वयिष्यन्न् अप्सरसः परि जज्ञे वसिष्ठः। १३. सत्रे ह जाताव् इषिता नमोभिः कुम्भे रेतः सिषिचतुः समानम्। ततो ह मानः उद् इयाय मध्यात् ततो जातम् ऋषिम् आहुर् वसिष्ठम्।

"१. श्वेत वस्त्रधारी (ऋत्विजों) ने दाहिनी ओर जटा किये हुए, भक्ति को प्रेरित करते हुए मुझे आनन्द से भर दिया है। वर्हि से उठकर मैं मनुष्यों से कहता हूँ 'वसिष्ठ हमसे इतनी दूर न रहें कि मेरी रक्षा न कर सकें (या आनन्दित न कर सकें)'[९०] २. अपने हवन से वे इन्द्र को वैशन्त

---

[९०] सायण का विचार है कि वसिष्ठ वक्ता है और वे अपने ही पुत्रों का उल्लेख करते हैं। प्रोफेसर रॉथ (अव् शब्द के अन्तर्गत) इन्द्र को वक्ता मानते हैं। क्या यह सुदास् नहीं हो सकते?

के उस पार से उग्र से यहाँ ले आये।[९१] इन्द्र ने चयत के पुत्र पाशद्युम्न[९२] द्वारा सुत सोम को छोड़कर वसिष्ठों का वरण किया। ३. उनके साथ उसने नदी पार की, उन्हे साथ लेकर उसने भेद का वध किया। हे वसिष्ठों ! दस राजाओं[९३] के युद्ध मे भी इन्द्र ने सुदास् को तुम्हारी प्रार्थना द्वारा ही मुक्त किया। ४. हे मनुष्यों, तुम्हारे पिताओं की प्रार्थनाओं से उत्पन्न तृप्ति के कारण तुम अव्यय धुरी को नहीं रोकते, क्योंकि हे वसिष्ठो ! उच्च स्वर से शकरी मन्त्रों[९४] के पाठ के समय तुमने इन्द्र को शक्ति से पूर्ण कर दिया है। ५. दाशराज्ञ युद्ध मे चारों ओर से घिर जाने पर प्यासे मनुष्यों के समान उन्होंने ऊपर आकाश की ओर देखा। इन्द्र ने वसिष्ठ की प्रार्थना सुनी और तृत्सुओं के लिये विस्तृत स्थान खोल दिया।[९५] ६. पशुओं को हाँकने वाले डण्डे के समान दुष्ट भरत सभी ओर से काट दिये गये। वसिष्ठ ने आगे प्रयाण किया और तब तृत्सु जनों की सेनायें फैल गई। ७. तीन देवता लोकों में रेतस् उत्पन्न करते हैं। तीन उत्तम जीव हैं जिनके पूर्व ज्योति होती है। उषा के साथ तीन अग्नियाँ होती हैं।[९६] इन सबको वसिष्ठ जानते हैं। ८. उनकी

[९१] प्रोफेसर आफरेस्त ने, जो नदी का नाम वैशन्त मानते है, इस वाक्य का ऐसा ही अर्थ सुझाया है।

[९२] सायण के अनुसार दूसरा राजा जो सुदास् के साथ ही यज्ञ कर रहा है।

[९३] देखिए मन्त्र ६ ऋग्वेद ७ ८३ का मन्त्र ६-८ जो आगे उद्धृत किया जायगा।

[९४] देखिए ऋ० वे० १० ७१, ११ ऊपर पृ० २५६

[९५] स्पष्टत. यह उस जन का नाम है जिसका पक्ष वसिष्ठों ने लिया था और जिस जन के वे स्वय भी रहे होंगे। देखिए ७ ८३, ४ अगले मन्त्र मे भरत एक युद्धप्रिय जन प्रतीत होते हैं।

[९६] इसकी व्याख्या मे सायण शाट्यायन ब्राह्मण मे एक अंश उद्धृत करते है, जो इस प्रकार है. "त्रय कृण्वन्ति भुवनेषु रेत" इत्य् अग्नि पृथिव्याम् रेत कृणोति वायुर् अन्तरिक्षे आदित्यो दिवि। "तिस्रः प्रजा' आर्य्या. ज्योतिर्-अग्रा" इति वसवो रुद्रा आदित्यास् तासा ज्योतिर् यद् असाव् आदित्य। "त्रयो घर्मास उषस सचन्ते" इत्य् अग्निर् उषस सचते वायुर् उषस उचते आदित्य उषस सचते। (१) अग्नि पृथ्वी पर रेतस् उत्पन्न करता है, वायु अन्तरिक्ष मे और सूर्य आकाश मे (२) तीन "उच्च प्राणी हैं" वसु, रुद्र और आदित्य। सूर्य उनकी ज्योति है (३) अग्नि, वायु और सूर्य प्रत्येक उषा के साथ रहते हैं।

ज्योति सूर्य के पूर्ण प्रकाश के समान है; उनकी महानता समुद्र की गम्भीरता के समान है। वसिष्ठों, वायु के वेग के समान तुम्हारे सूक्त का कोई अनुगमन नहीं कर सकता। ९. अपने हृदयों की इच्छा से वे सहस्रों शाखाओं सहित रहस्य का अन्वेषण करते हैं। यम द्वारा फैलाये गये जाल को बुनते हुए वसिष्ठगण अप्सराओं के साथ बैठे। १० जब मित्र और वरुण ने तुम्हें विद्युत् की शिखा छोड़ते हुए देखा, तो वह तुम्हारा जन्म था; और हे वसिष्ठों! तुम्हारा एक (और भी) जन्म हुआ जब अगस्त्य ने तुम्हें उत्पन्न किया। ११. हे वसिष्ठ! तुम मित्र और वरुण के भी पुत्र हो। हे ऋत्विज्, तुम उर्वशी से उत्पन्न हुए हो। तुझ दैव्य चिन्तन से गिरे हुए विन्दु को—सभी देवताओं ने पात्र में रखा। १२. वह विद्वान् और दोनों (लोकों) को जानने वाला, सहस्र दान वाला—जो यम द्वारा फैलाये गये जाल को बुनने वाला था—वह वसिष्ठ अप्सरा से उत्पन्न हुआ। १३ यज्ञ से उत्पन्न हुए तथा प्रार्थनाओं से प्रेरित किये गये उन दोनों (मित्र और वरुण ?) ने घट में उतना ही वीर्य छोड़ा। उनसे उसके मध्य से मान (अगस्त्य ?) उत्पन्न हुए, और लोग कहते हैं कि उससे ऋषि वसिष्ठ निकले।"[१७]

---

[१७] मन्त्र ११ और १३ का तात्पर्य चाहे जो कुछ भी हो, निरुक्त ५।१३ मे स्पष्ट कहा गया है : तस्याः दर्शनाद् मित्र-वरुणयो. रेतश् चस्कन्द। तद्-अभिवादिन्य् एषा ऋग् भवति। "उस (उर्वशी) को देखकर मित्र और वरुण का वीर्य स्खलित हो गया। इसका निर्देश आगे का (ऋग्वेद ७ ३३, ११) मन्त्र करता है।" सायण ने इसी मन्त्र के भाष्य मे बृहद्देवता से एक अश उद्धृत किया है : तयोर् आदित्ययो सत्रे दृष्ट्वाऽप्सरसम् उर्वशीम्। रेतश् चस्कन्द तत् कुम्भे न्यपतद् वासतीवरे। तेनैव तु मुहूर्त्तेन वीर्यवन्तौ तपस्विनौ। अगस्त्यश् च वसिष्ठश् च तत्रर्षी सम्बभूवतु.। वहुधा पतित रेतः कलशे च जले स्थले। स्थले वसिष्ठस् तु मुनिः सम्बभूवर्षि-सत्तमः। कुम्भे त्व् अगस्त्य सम्भूतो जले मत्स्यो महाद्युति। उदियाय ततोऽगस्त्यो शम्या-मात्रो महातपा.। मानेन सम्मितो यस्मात् तस्माद् मान्य. इहोच्यते। यद्वा कुम्भाद् ऋषिर् जात कुम्भेनापि हि मीयते। कुम्भः इत्य् अभिधान च परिमाणस्य लक्ष्यते। ततोऽप्सु गृह्यमानासु वसिष्ठ. पुष्करे स्थित। सर्वत पुष्करे त हि विश्वे देवा अधारयन्। "जब इन दो अदित्यो (मित्र और वरुण) ने यज्ञ के अवसर पर अप्सरा उर्वशी को देखा तो उनका वीर्य 'वासतीवर' नामक घट मे स्खलित हो गया। उसी समय दो श्रेष्ठ और तपस्वी ऋषि अगस्त्य तथा विश्वामित्र उत्पन्न हुए। वह वीर्य घट मे, जल मे और पृथ्वी मे अनेक स्थल पर गिरा।

एक दूसरा सूक्त (ऋग्वेद ७ १८) वसिष्ठ और सुदास के सम्बन्धों (मंत्र ४, ५, २१–२५) तथा सुदास और तृत्सुओं के अपने शत्रुओं के साथ युद्ध (मंत्र ६–१८) का वर्णन करता है। किन्तु यतः यह लम्बा और दुरूह है अत. मैं केवल कुछ मन्त्रों को ही उद्धृत करूँगा।[१८]

ऋ० वे० ७ १८, ४. धेनुं न त्वा सुयवसे दुधुक्षन् उप ब्रह्माणि ससृजे वसिष्ठ'। त्वाम् इद् मे गोपति विश्वः आह आ नः इन्द्रः सुमतिं गन्तु अच्छ। ५. अर्णांसि चित् पप्रथाना सुदासे इन्द्रो गाधानि अकृणोत् सुपारा।' २१. प्र ये गृहाद् अममदुम् त्वाया पराशरः शतयातुर् वसिष्ठ.। न ते भोजस्य सख्यम् मृषन्त अध सूरिभ्यः सुदिना वि उच्छान। २२. द्वे नप्तुर देववत. शते गोर् द्वा रथा वधूमन्ता सुदासः। अर्हन्न् अग्ने पैजवनस्य दानम् होतेव सद्म परि एमि रेभन्। २३. चत्वारो मा पैजवनस्य दाना' स्मद्दिष्टयः कृशनिनो निरेके। ऋज्रासो मा पृथिविष्ठाः सुदासस् तोकं तोकाय श्रवसे वहन्ति। २४. यस्य श्रवो

ऋषियों में श्रेष्ठ वसिष्ठ मुनि पृथ्वी पर उत्पन्न हुए, अगस्त्य घट से हुए। जल में महाद्युति मत्स्य हुआ। तपस्वी अगस्त्य शम्या (रथ के जुए की कीली, देखिए विल्सन, इस शब्द के अन्तर्गत तथा प्रोफेसर राथ मान के अन्तर्गत) के आकार के प्रकट हुए। यतः उनकी नाप एक 'मान' से की गई अतः उन्हे 'मान्य' कहते हैं। घडे (कुम्भ) से उत्पन्न होने से उस ऋषि की नाप घट द्वारा भी की जाती है, क्योंकि कुम्भ भी मापक का नाम है। जब जल लिया गया तो वसिष्ठ पात्र मे रह गये (पुष्कर), क्योंकि सभी देवता उन्हे घट में रोके हुए थे।" अपने इलस्ट्रेशन्स आफ द निरुक्त पृ० ६४ पर प्रो० राथ उस सूक्त के मन्त्रो को जो वसिष्ठ की उत्पत्ति का वर्णन करते हैं एक अधिक प्राचीन रचना के साथ अर्वाचीन क्षेपक बताते ह और यह कहते हैं कि ये मन्त्र महाकाव्यीय पुराकथा शास्त्र की शैली मे ऋषि के चमत्कारपूर्ण जन्म का वर्णन करते हैं। प्रोफेसर मैक्स मूलर (१८५६ के आक्सफोर्ड एसेज, पृ० ६१ आदि) कहते हैं कि वसिष्ठ सूर्य का एक नाम है और यत. सूर्य को प्राय उषा का पुत्र कहा गया है कवि वसिष्ठ को भी उर्वशी से उत्पन्न बताया गया है।" (जिसका तादात्म्य मूलर उषस् से स्थापित करते हैं)। इस अश पर एम० लागलो इस के विचार के लिए उनके फ्रांसीसी ऋग्वेद भाग ३, पृ० ७९ आदि तथा पृ० २३४ की टिप्पणी देखें।

[१८] देखिए राथ का लिट्० उ० गेश्० डेस् वेद पृ० ८७ जहाँ इसका अनुवाद जर्मन मे किया गया है।

रोदसी अन्तर् उर्वी शीर्ष्णे शीर्ष्णे विबभाज्ञ विभक्ता। सप्त इदु इन्द्रं न स्रवतो गृणान्ति नि युध्यामधिम् अशिशादु अभीके। इमां नरो मरुतः सश्चतानु दिवोदासं न पितरं सुदासः। अविष्टन पैजवनस्य केतं दूणाशं क्षत्रम् अजरं दुवोयु।

"४. हे इन्द्र! तुम्हे एक गौ के समान धनपूर्ण क्षेत्र में दुहने की इच्छा से वसिष्ठ ने अपनी प्रार्थनायें तुम्हारे निकट प्रेपित की, क्योंकि सभी मुझसे कहते है कि तुम गौओं के स्वामी हो। इन्द्र हमारी प्रार्थना को आवे। ५. जल चाहे कितना भी अधिक क्यों नही बढ़ा था, इन्द्र ने उसे छिछला और सुदास् के लिए सुतर बना दिया। ' २१. पराशर[99] शतयातु तथा वसिष्ठ जो तुम्हारे भक्त हैं और जिन्होंने वैराग्यवश अपने गृहों का त्याग कर दिया है, तुझ उदार दाता की मित्रता को नहीं भूले है—अतएव इन ऋषियों को समृद्धि के दिन दिखलाओ। २२. पिजवन के पुत्र और देववत[100] के पौत्र सुदास के दान रूप में दो सौ गौयें, घोडियों सहित दो रथ प्राप्त कर, हे अग्नि, एक होतृ के समान स्तुति करता हुआ मै घर के चारों ओर घूमता हूँ। २३ पिजवन के पुत्र सुदास द्वारा दिये गये, शीघ्रगामी, रत्नों से सुसज्जित, पृथ्वी पर खड़े हुए चार कपिश वर्ण के अश्व मुझे प्रत्येक वंश में यश प्रदान करते हुए ले चलते है। २४. उस दाता ने, जिसकी कीर्ति दोनों लोकों मे फैली है, प्रत्येक व्यक्ति को दान दिया है। वे उसकी उस प्रकार प्रसंशा करते हैं, जिस प्रकार सात ऋषि[101] इन्द्र की स्तुति करते है। उसने युद्ध में युध्यामधि

[99] निरुक्त ६।३० मे जो इस अश का निर्देश करता है, पराशर को वसिष्ठ की उनकी वृद्धावस्था मे उत्पन्न पुत्र कहा गया है (पराशरः पराशीर्णस्य वसिष्ठस्य स्थविरस्य जज्ञे) या वे शक्ति के पुत्र और वसिष्ठ के पौत्र थे (राथ, इस शब्द पर)।

[100] सायण ने देववत एक व्यक्ति का नाम बताया है। मन्त्र २५ मे दिवोदास से अभिन्न होगे। अथवा दिवोदास सुदास् के पिता और पिजवन तथा देववत् उसके पूर्वज रहे होंगे। विष्णुपुराण मे सर्वकाम को सुदास का पिता और ऋतुपर्ण को पितामह बताया गया है। विल्सन का वि० पु० ४ पेजी स० पृ० ३८०। पृ० ४५४ आदि पर एक ऐसे सुदास का वर्णन है जो च्यवन का पुत्र, मित्रयु का पौत्र और दिवोदास का प्रपौत्र था।

[101] प्रो० रॉथ (लिट्० उ० गेश० डेस् वेद, पृ० १००) ऋ० वे० १ १०२ की तुलना करते हैं: अस्य श्रवो नद्य सप्त विभर्ति "सात नदियां उस (इन्द्र) की कीर्त्ति का विस्तार करती है।" जैसा रॉथ ने बताया है ये नदियाँ इन्द्र द्वारा वृत्र के बन्धन से मुक्त की गई नदियाँ हैं।

रोदसी अन्तर् उर्वी शीर्ष्णे शीर्ष्णे विबभाज विभक्ता। सप्त इद् इन्द्रं न स्रवतो गृणान्ति नि युध्यामधिम् अशिशाद् अभीके। इमां नरो मरुतः सश्चतानु दिवोदासं न पितरं सुदासः। अविष्टन पैजवनस्य केतं दूणाशं क्षत्रम् अजरं दुवोयु।

"४. हे इन्द्र! तुम्हें एक गौ के समान धनपूर्ण क्षेत्र में दुहने की इच्छा से वसिष्ठ ने अपनी प्रार्थनायें तुम्हारे निकट प्रेषित कीं, क्योंकि सभी मुझसे कहते है कि तुम गौओं के स्वामी हो। इन्द्र हमारी प्रार्थना को आवे। ५. जल चाहे कितना भी अधिक क्यों नहीं बढ़ा था, इन्द्र ने उसे छिछला और सुदास् के लिए सुतर बना दिया। २१. पराशर[99] शतयातु तथा वसिष्ठ जो तुम्हारे भक्त हैं और जिन्होंने वैराग्यवश अपने गृहों का त्याग कर दिया है, तुझ उदार दाता की मित्रता को नहीं भूले है—अतएव इन ऋषियों को समृद्धि के दिन दिखलाओ। २२. पिजवन के पुत्र और देववत[100] के पौत्र सुदास के दान रूप में दो सौ गौयें, घोड़ियों सहित दो रथ प्राप्त कर, हे अग्नि, एक होतृ के समान स्तुति करता हुआ मैं घर के चारों ओर घूमता हूँ। २३. पिजवन के पुत्र सुदास द्वारा दिये गये, शीघ्रगामी, रत्नों से सुसज्जित, पृथ्वी पर खड़े हुए चार कपिश वर्ण के अश्व मुझे प्रत्येक वंश में यश प्रदान करते हुए ले चलते है। २४. उस दाता ने, जिसकी कीर्ति दोनों लोकों मे फैली है, प्रत्येक व्यक्ति को दान दिया है। वे उसकी उस प्रकार प्रसंशा करते हैं, जिस प्रकार सात ऋषि[101] इन्द्र की स्तुति करते है। उसने युद्ध में युध्यामधि

[99] निरुक्त ६।३० मे जो इस अश का निर्देश करता है, पराशर को वसिष्ठ की उनकी वृद्धावस्था मे उत्पन्न पुत्र कहा गया है (पराशर' पराशीर्णस्य वसिष्ठस्य स्थविरस्य जज्ञे) या वे शक्ति के पुत्र और वसिष्ठ के पौत्र थे (राथ, इस शब्द पर)।

[100] सायण ने देववत एक व्यक्ति का नाम बताया है। मन्त्र २५ मे दिवोदास से अभिन्न होगे। अथवा दिवोदास सुदास् के पिता और पिजवन तथा देववत् उसके पूर्वज रहे होगे। विष्णुपुराण मे सर्वकाम को सुदास का पिता और ऋतुपर्ण को पितामह बताया गया है। विल्सन का वि० पु० ४ पेजी स० पृ० ३८०। पृ० ४५४ आदि पर एक ऐसे सुदास का वर्णन है जो च्यवन का पुत्र, मित्रयु का पौत्र और दिवोदास का प्रपौत्र था।

[101] प्रो० रॉथ (लिट्० उ० गेश० डेस् वेद, पृ० १००) ऋ० वे० १ १०२ की तुलना करते हैं' अस्य श्रवो नद्य सप्त बिभर्ति "सात नदियाँ उस (इन्द्र) की कीर्त्ति का विस्तार करती है।" जैसा रॉथ ने बताया है ये नदियाँ इन्द्र द्वारा वृत्र के बन्धन से मुक्त की गई नदियाँ हैं।

का वध किया है। २५. हे वीर मरुतो! उग्र (सुदास) को मित्र बनाओ, जिस प्रकार तुमने सुदास् के (पूर्वज) दिवोदास को बनाया था। पिजवन के पुत्र को अक्षय, अनश्वर, तथा सम्माननीय शक्ति प्रदान कर उसकी इच्छा पूरी करो।"

यद्यपि अगले सूक्त में वसिष्ठों का नामोल्लेख नहीं किया गया है, तथापि इसका निर्देश उसी व्यक्ति तथा अवस्थाओं की ओर है, जिन्हें ऊपर उद्धृत ऋग्वेद ७. ३३ के प्रथम भाग में निर्दिष्ट किया गया गया है।

ऋ० वे० ७. ८३, १. युवां नरा पश्यमानासः आप्यम् प्राचा गव्यन्तः पृथु-पर्शवो ययुः। दासा च वृत्रा हतम् आर्याणि च सुदासम् इन्द्रा-वरुणाऽवसाऽवतम्। २. यत्र नरः समयन्ते कृत-ध्वजो यस्मिन्न् आजा भवति किञ्चन प्रियम्। यत्र भयन्ते भुवना स्वर्दृशस् तत्र नः इन्द्रावरुणाऽधि वोचतम्। ३. सम् भूम्याः अन्ताः ध्वसिराः अदृक्षत इन्द्रा-वरुणा दिवि घोषः आरुहत्। अस्थुर् जनानाम् उप माम् अरातयो अर्वाग् अवसा हवन-श्रुता आगतम्। ४. इन्द्रा-वरुणा वधनाभिर् अप्रति भेदं वन्वन्ता प्र सुदासम् आवतम्। ब्रह्माणि एषां शृणुतं हवीमनि सत्या तृत्सूनाम् अभवत् पुरोहितिः। ५. इन्द्रावरुणाव् अभि आ तपन्ति मा अघानि अर्यो वनुषाम् अरातयः। युवं हि वस्वः उभयस्य राजथो अध स्म नो अवतम् पार्ये दिवि। ६. युवां हवन्ते उभयासः आजिषु इन्द्रं च वस्वो वरुणं च सातये। यत्र राजभिर् दशभिर् निबाधितम् प्र सुदासम् आवतं तृत्सुभिः सह। ७. दश राजानः समिता अयज्यवः सुदासम् इन्द्रा-वरुणा न युयुधुः। सत्या नृणाम् अद्म-सदाम् उपस्तुतिर् देवाः एषाम् अभवन् देव-हूतिषु। ८. दाशराज्ञे परियत्ताय विश्वतः सुदासे इन्द्र-वरुणाव् अशिक्षतम्। श्वित्यञ्चो यत्र नमसा कपर्दिनो धिया धीवन्तो असपन्त तृत्सवः।

"हे वीरों, तुम्हारी और तुम्हारी मित्रता की आस लगाकर चौड़े परशु लेकर मनुष्यों ने आगे प्रस्थान किया। हमारे दास और आर्य शत्रुओं का वध करो। हे इन्द्र और वरुण, अपनी कृपा से सुदास् को दुःख से मुक्त करो। २. जहाँ दोनों पक्ष उन्नत ध्वजों के साथ संग्राम करते हैं, जहाँ हमें हमारी वाञ्छित[102] वस्तु प्राप्त होती है, जहाँ समस्त प्राणी और जीव भयभीत

---

[102] सायण पद-पाठ के किञ्चन को किञ्च न मे विभक्त करते है जिससे "जहाँ किसी वस्तु की इच्छा न की जाय, किन्तु प्रत्येक वस्तु कठिन है" का अर्थ होगा।

होते हैं, वहाँ हे इन्द्र और वरुण ! तुम हमारा पक्ष ग्रहण करो। ३. हे इन्द्र और वरुण, पृथ्वी के अन्त अन्धकार से पूर्ण दिखाई पड़ते थे, एक ध्वनि आकाश में पहुँची, मेरे योद्धाओं के शत्रु मेरे निकट आ गये; हमारी प्रार्थनाओं को सुननेवाले तुम लोग यहाँ सहायतार्थ आओ। ४. हे इन्द्र और वरुण, अपने शस्त्रों के साथ अद्वितीय तुमने भेद का वध और सुदास् को मुक्त किया है। तुमने इन व्यक्तियों के आह्वान करने पर इनकी प्रार्थनायें सुनी है, तृत्सुओं[103] के लिए पुरोहितों की मध्यस्थता कल्याणकारी हुई। ५ हे इन्द्र और वरुण ! शत्रु के घातक कर्म और हत्यारों के विरोध मेरे चारों ओर फैले हैं ! तुम लोग दोनों लोकों के साधनों के स्वामी हो; अतएव हमारी उस दूरस्थ द्युलोक में (जहाँ तुम निवास करते हो) रक्षा करो। ६. दोनों दलों ने[104] तुम्हारा आह्वान किया, इन्द्र और वरुण दोनों ने ही धन प्राप्ति के लिए युद्ध में तुम्हें पुकारा। (उन्होंने ऐसा उस युद्ध में किया), जिसमें तुमने सुदास् को मुक्त किया,—जब वह तृत्सुओं सहित दश राजाओं द्वारा पीड़ित किया गया था। ७. हे इन्द्र और वरुण ! दस राजाओं ने, जो यज्ञ करने वाले नहीं थे, मिलकर भी सुदास् को नहीं हराया। यज्ञ के ऋत्विजों की प्रार्थनाये अमोघ थीं और उनके आह्वान पर देवता उपस्थित हुए। ८. हे इन्द्र और वरुण, तुमने सुदास् को सहायता दी जो युद्ध में चारों ओर दस राजाओं के के बीच घिरा था,[105] और जहाँ श्वेतवस्त्र धारण करने वाले तथा जटाओं

---

[103] मन्त्र ७ और ८ की तुलना कीजिए। सायण ने इस वाक्य का अर्थ भिन्न रूप से किया है "तृत्सु के कर्म, जिसके लिये मैंने यज्ञ किया है, और जिसने मुझे पुरोहित रूप मे नियुक्त किया है, सफल रहे। उनके लिए मेरा पौरोहित्य कर्म सफलतापूर्ण रहा।" (तृत्सूनाम् एतत्-सञ्ज्ञानाम् मम याज्यानाम् पुरोहितिर् मम पुरोधानम् सत्या सत्य-फलम् अभवत्। तेपु यद् मम पौरोहित्य तत् सफल जातम्।

[104] सायण के अनुसार दो दलो मे एक सुदास् थे और दूसरे तृत्सुगण और उनके मित्र (उभय–विधा सुदा-सञ्ज्ञो राजा तत्-सहायभूतास् तृत्सवश् च एव द्वि-प्रकारा' जना.)। यह माना गया हो सकता है कि इनमे से एक दल आक्रामक रहा होगा, किन्तु बाद के मन्त्र मे ही इन्हे "अयज्यव.", अर्थात् 'वह लोग जो देवो का यज्ञ नही करते' कहा गया है।

[105] 'दशराज्ञे'। ७ ३३, ३ पर अपने भाष्य मे सायण ने इस शब्द की इस प्रकार व्याख्या की है 'दशमी राजभि सह युद्धे प्रवृत्ते', अर्थात् "युद्ध मे दस राजा प्रवृत्त हुये।" प्रस्तुत मन्त्र के सम्बन्ध मे सायण का कथन है कि

वाले तृत्सुओं[१०६] ने श्रद्धा के साथ प्रार्थना करते हुये सूक्त द्वारा तुम्हारी स्तुति की।"

इन सूक्तों से यह प्रतीत होता है कि वसिष्ठ या एक वसिष्ठ और उसके वंश के लोग राजा सुदास् के पुरोहित थे (७. १८, ४ आदि, २१ आदि, ७. ३३, ३ आदि), उनके विचार में ये पुरोहित इन्द्र के प्रियपात्र थे (७. ३३, २) और अपनी मध्यस्था से दशराज युद्ध में सुदास् द्वारा अपने शत्रुओं पर विजय पाने में साधन बने थे। कुछ मन्त्रों से यह भी निष्कर्ष निकलता है (७. ३३, ६; ७. ८३, ४. ६, तथा ७. ३३, १ की ७. ८३, ८ से तुलना करने पर) कि राजा और पुरोहित दोनों तृत्सुओं की जाति के थे।[१०७] प्रोफेसर रॉथ का कथन है कि जिन सूत्रों का उन्होंने उद्धरण दिया है उनमें किसी में भी वसिष्ठों के किसी विशिष्ट वर्ण के सदस्य होने का कोई उल्लेख नहीं किया गया है। उनके सुदास् के साथ सम्बन्ध का कारण उनका देवताओं का ज्ञान तथा उनको आह्वान करने की अद्वितीय शक्ति बताया गया है (७. ३३, ७ आदि)।

ऐतरेय ब्राह्मण ८. २१ में वसिष्ठ और सुदास् के सम्बन्ध का हम दूसरा प्रमाण पाते हैं, क्योंकि उनमें उसे "पिजवन के पुत्र सुदास् को इन्द्र के समान महाभिषेक से अभिषिक्त करने का वर्णन किया गया है,[१०८] जिसके परिणामस्वरूप अश्वमेध यज्ञ करके सुदास् ने पृथ्वी के चारों ओर विजय यात्रायें कीं।" (एतेन ह वै ऐन्द्रेण महाभिषेकेण वसिष्ठ सुदासम् पैजवनम् अभिषिषेच। तस्माद् उ सुदाः पैजवनः समन्तं सर्वतः पृथिवीं जयन् परीयाय अश्वेन च मेध्येन ईजे)।

निम्नलिखित अंश में वसिष्ठ के वरुण देवता से ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करके या उस देवता की विशिष्ट कृपा का पात्र होने का निर्देश किया गया है :

"प्रथम शब्द को दीर्घ कर देना एक वैदिक विशेषता है, और विभक्ति को परिवर्तित कर दिया गया है, तथा इस शब्द का अर्थ केवल 'दस राजाओं द्वारा' मात्र है" (दश-शब्दस्य छान्दसो दीर्घः। विभक्ति-व्यत्ययः। दशभी राजभिः परिवेष्टिताय)।

[१०६] यहाँ सायण का कथन है कि तृत्सुगण "वह पुरोहित थे जो वसिष्ठ के शिष्य थे" (तृत्सवो वसिष्ठ-शिष्याः एतत्-संज्ञा ऋत्विजः)।

[१०७] देखिये रॉथ लिट० गेस० देस वेद, पृ० १२०।

[१०८] कोल० मिस० ए०, १ ४०।

७. ८७, ४. उवाच मे वरुणो मेधिराय त्रिः सप्त नाम अघ्न्या बिभर्त्ति। विद्वान् पदस्य गुह्या न वोचद् युगाय विप्रः उपराय शिक्षन्।

"मुझ विद्वान् से वरुण ने यह बताया है कि[109] 'गौ के सत्ताइस नाम हैं।[110] यद्यपि विद्वान् देवता उनका ज्ञान रखता है किन्तु उसने उसके स्थान का रहस्य नहीं बताया है, जिसे वह भविष्य में उद्घाटित करेगा।"

ऋग्वेद ७. ८८, ३. आ यद् रुहाव वरुणश् च नावम् प्र यत् समुद्रम् ईरयाव मध्यम्। अधि यद् अपां स्नुभिश् चराव प्र प्र ईङ्खे ईखयावहे शुभे कम्। ४. वसिष्ठं ह वरुणो नावि आ अधाद् ऋषि चकार स्वपाः महोभिः। स्तोतारं विप्रः सुदिनत्वे अह्नां याद् नु द्यावस् ततनन् याद् उषसः ५. क्व त्यानि नौ सख्या बभूवुः सचावहे यद् अवृकम् पुरा चित्। बृहन्तम् मानम् वरुण स्वधावः सहस्र-द्वारं जगमा गृहं ते। ६. यः आपिर् नित्यो वरुण प्रियः सन् त्वाम् आगांसि कृणवत् सखा ते। मा ते एनस्वन्तो यक्षिन् भुजेम यन्धि स्म विप्रः स्तुवते वरूथम्।

"जब वरुण और मैं नौका पर चढ़ते है, जब हम इसे समुद्र में चलाते हैं, जब हम जल के ऊपर आगे बढ़ते है, तब हम प्रकाशमान होने तक उस नौका रूपी झूले के ऊपर आश्रय प्राप्त करें। ४. वरुण ने वसिष्ठ को नौका में लिया, अपने शक्तिशाली कर्म से दक्षतापूर्वक कार्य करके उस (वरुण) ने उन्हे ऋषि बनाया है, उस विद्वान् (देवता) ने उन्हें शुभ काल में स्तुतियों का गान

---

[109] यद्यपि इस सूक्त मे वसिष्ठ का नाम नही है, तथपि वही इसके परम्परागत महर्षि हैं।

[110] सायण का कथन है कि या तो (१) यहाँ वाच् को गाय कहा गया है, जिसके वक्ष, कण्ठ सिर से गायत्री इत्यादि २१ छन्दो के नाम सम्बद्ध है, अथवा (२) वेद के रूप मे वाच् २१ यज्ञो के नाम धारण करती हैं, किन्तु (३) एक अन्य अधिकारी का कथन है कि यहाँ पृथिवी से तात्पर्य है जिसके (निघण्टु १ १) यह २१ नाम हैं: गो, ग्मा, ज्मा, इत्यादि। (वाग् अत्र गौर् उच्यते। साच उरसि कण्ठे शिरसिच बद्धानि गायत्र्य्-आदीनि सप्त छन्दसा नामानि बिर्भात। यद्वा वेदात्मिका वाग् एकविंशति-सस्थाना यज्ञाना नामानि बिर्भात्ति। धारयति। अपर' आह "गौः पृथिवी। तस्याश् च 'गौर् ग्मा ज्मा' इति पठितान्य् एक विंशति-नामानि" इति)। मन्त्र के द्वितीय पाद के अनुवाद मे मैंने अधिकाशत. प्रोफेसर आफरेख्त के अनुवाद का ही अनुसरण किया है।

करने वाला बनाया है, जिससे उनके दिन और उषाएँ लम्बी हों।[१३१]
५ हमारी मित्रताएँ कहाँ हैं ? वह पहले की शान्ति कहाँ है ? हे मनस्वी वरुण ! हम तुम्हारे विस्तृत निवास स्थान, तुम्हारे सहस्त्रों द्वारों वाले घर में आये हैं। तुम्हारा जो कोई मित्र, सतत प्रिय-बन्धु होकर तुम्हारे विरुद्ध अपराध करे,—हम पापपूर्ण होते हुए भी, हम दण्ड न भोगें। हे पूज्य देवता ! हे विद्वान् देवता ! हमारी रक्षा करो।"

ऋग्वेद ७.८६ एक प्रकार का प्रायश्चित्त-सूक्त है जिसमें वसिष्ठ अपने वृद्ध मित्र के विपरीत वरुण के क्रोध का निर्देश (मन्त्र ४) और उसके अपराधों के लिए क्षमा याचना करते हैं। इस सूक्त का, जो नैसर्गिक भावनाओं का सहज और यथार्थ उद्गार है, अनुवाद प्रो० मूलर ने एंश० सं० लिट्०, पृ० ५४० में किया है।

आगे आने वाला उद्धरण एक बड़े सूक्त का अंश है। जो मुख्यतः रक्षसों और यातुधानों के विपरीत शापों से युक्त है। बृहद्देवता में (जो सायण द्वारा इसकी भूमिका में उद्धृत है) कहा गया है कि ऋषि वसिष्ठ ने अपने सौ पुत्रों का सुदास् के पुत्रों द्वारा वध किये जाने पर इस मन्त्र का दर्शन किया।" (ऋषिर् ददर्श रक्षोघ्नम् पुत्र-शोक परिप्लुता हते पुत्र-शते क्रुद्ध सुदासैव् दुःखितस् तदा)। मैं केवल उन्हीं मन्त्रों को उद्धृत करूँगा जिनमें वसिष्ठ यह आरोप लगाते हैं कि (जिस किसी ने ऐसा कार्य किया) वह राक्षस या यातुधान था।

ऋग्वेद ७. १०४, १२. सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच् स असच् च वचसी पस्पृधाते। तयोर् यत् सत्य यतरद् ऋजीयस् तद् इत् सोमो अवति हन्ति असत्। १३. न वै उ सोमो वृजिनं हिनोति न क्षत्रियम् मिथुया धारयन्तम्। हन्ति रक्षो हन्ति असद् वदन्तम् अभाव् इन्द्रस्य प्रसितौ शयाते। १४. यदि वा अहम् अनृत-देवः आस मोघं वा देवान् अपि ऊहे अग्ने। किम् अस्मभ्यं जातवेदो हृणीषे द्रोघवाचस् ते निर्ऋथ सचन्ताम्। १५. अद्य मुरीय यदि यातुधानो अस्मि यदि वा आयुस् ततप पूरुषस्य। अध स वीरैर् दशभिर् वि युया' यो मा मोघं "यातुधान" इत्य् आह। १६. यो मा अयातुं "यातुधान" इत्य् आह यो वा रक्षाः "शुचिर् अस्मि" इत्य् आह। इन्द्रस् तं हन्तु महता वधेन विश्वस्य जन्तोर् अधमस् पदीष्ट।

[१३१] प्रोफेसर आफरेख्त अन्तिम वाक्य का अनुवाद इस प्रकार करते हैं : "जब तक दिन और उषाएँ रहेंगी।"

"सत्य और असत्य वचन के परस्पर विरोध होने पर विद्वान् व्यक्ति र्णय करने में समर्थ होता है। सोम उसी का पक्ष लेता है जो सत्य और ायपूर्ण रहता है तथा असत्य का नाश करता है। १३. सोम दुष्ट व्यक्ति को मृद्धि नहीं प्रदान करता है। वह रक्षस् का वध करता है, असत्यवादी का ध करता है; वे दोनों इन्द्र के पास में बद्ध होते है। १४ हे अग्नि! यदि मैं मिथ्या देवों का अनुयायी होऊँ या मै देवताओं के विषय में भ्रान्तपूर्ण विचार खूँ—तो हे जातवेदस्! क्या तुम मुझ पर क्रुद्ध हो ओगे? द्रोहपूर्ण वचन बोलने वाला तुम्हारे विनाशकर्म का पात्र बने। १५ यदि मैं यातुधान होऊँ ा मैंने किसी व्यक्ति के प्राण लिये हों तो मै आज ही मृत्यु प्राप्त करूँ। वह अपने दसों पुत्रों से वियुक्त हो जाये जो मुझे मिथ्या ही यातुधान! कहकर पुकारता है। १६. मुझको, जो यातु नहीं हूँ, यातुधान कहने वाले या रक्षस् होते हुए भी अपने को 'मै पवित्र हूँ' ऐसा कहने वाले को इन्द्र अपने महान् अस्त्र से मारे, वह व्यक्ति जीवों में सबसे निकृष्ट जीव की दशा में जा पहुँचे।"

हत्वा पुत्र-शतम् पूर्व वसिष्ठस्य महात्मनः। वसिष्ठं "राक्षसोऽसि व" वासिष्ठं रूपम् आस्थित। "अहम् वसिष्ठः" इत्य् एवं जिघांसुः राक्षसोऽब्रवीत्। अत्रोत्तराः ऋचो दृष्टाः वसिष्ठेनेति नः श्रुतम्।

"महर्षि वसिष्ठ के सौ पुत्रों का वध करके एक नृशंस राक्षस ने एक ऋषि का वेश धारण कर पूर्वकाल में उनसे कहा: 'तुम राक्षस हो और मैं वसिष्ठ।' इसके सम्बन्ध में वसिष्ठ ने बाद के मन्त्रों का दर्शन किया, ऐसा हमने सुना है।"

हम इस व्याख्या को कपोलकल्पित आधार पर आश्रित होने के कारण अलग रख सकते है।

जैसा प्रोफेसर मैक्समूलर[११२] का विचार है, ये मन्त्र वसिष्ठ और विश्वामित्र के संघर्ष के आधार पर रचे गये है और सम्भवत. विश्वामित्र ने अपने प्रति-

[११२] "स्वय वसिष्ठ को, जो एरियन् ब्रह्मन् के प्रतीक है, विश्वामित्र के साथ सघर्ष मे, न केवल शत्रु कहा गया है, अपितु 'यातुधान' भी कहा गया है और उनको अनेक ऐसे नाम दिये गये है जो असभ्य जातियो एव दुष्टात्माओ के लिये प्रयुक्त होते हैं।" हमारे सम्मुख आज भी वही सूक्त है, जिसमे वसिष्ठ ने इस प्रकार के आरोप निन्दापूर्वक व्यक्त किये है।" प्रो० मूलर तब इस सूक्त के मन्त्र १४–१६ का उद्धरण देते है (बुन्सेन के आउटलाइन्स आफ द फिलासाफी आफ युनि० हिस्ट्री" मे "लास्ट रेजल्ट्स आफ द तूरानियन रिसर्चेज" भाग १, पृ० ३४४)।

इन्हीं पर अधार्मिकता तथा नृशंस और राक्षसी स्वभाव का दोषारोपण किया होगा।[११३]

तैत्तिरीय संहिता और कौषीतकि ब्राह्मण दोनों में ही सुदास के पुत्रों द्वारा वसिष्ठ के एक पुत्र का वध होने का उल्लेख किया गया है। इनमें प्रथम ग्रन्थ अष्टक ७-८ (इण्डिया आफिस हस्तप्रति सं० १७०२ का पृ० ४७) में कहा गया है :—

वसिष्ठो हतपुत्रोऽकामयत "विन्देय प्रजाम् अभि सौदासान् भवेयम्" इति। स एतम् एकस्मान्नपञ्चाशम् अपश्यत् तम् आहरत् तेनायजत। ततो वै सोऽविन्दत प्रजाम् अभि सौदासान् अभवत्।

"अपने पुत्र के वध हो जाने पर वसिष्ठ ने इच्छा की "मैं सन्तान प्राप्त करूँ, मैं सुदासों पर विजय प्राप्त करूँ।' उन्होंने इस 'एकस्मान्नपञ्चाश' का दर्शन किया, इसे ग्रहण किया और इससे यज्ञ किया। फलस्वरूप उन्होंने पुत्र प्राप्त किया और सुदासों को जीत लिया।"

कौषीतकी ब्राह्मण, चतुर्थ अध्याय का अंश, जिसे प्रोफेसर वेबर ने (इण्ड० स्टू० २।२९९) उद्धृत किया है बहुत मिलता-जुलता है :—

वसिष्ठोऽकामयत हत-पुत्रः "प्रजायेय प्रजया पशुभिर् अभि सौदासान् भवेयम्" इति। स एतं यज्ञ-क्रतुम् अपश्यद् वसिष्ठ-यज्ञम्.. तेन इष्ट्वा.. अभि सौदासान् अभवत्।

जब वसिष्ठ के पुत्र का वध हो गया तो उन्होंने इच्छा की "मैं प्रजा और पशु प्राप्त करूँ और सौदासों पर विजय प्राप्त करूँ।' इन्होंने इस वसिष्ठ-यज्ञ का दर्शन किया; और यह यज्ञ करके उन्होंने सौदासों पर विजय प्राप्त कर ली।"

ऋग्वेद ७. ३५ की भूमिका में सायण ने अनुक्रमणिका मे निम्नलिखित टिप्पणी दी है :—

"सौदासैर् अग्नौ प्रक्षिप्यमाणः शक्तिर् अन्त्यम् प्रगाथम् आलेभे सोऽर्धर्चे उक्तेऽदह्यत। तम् पुत्रोक्तं वसिष्ठः समापयत" इति सात्यायनकम्। "वसिष्ठस्य एव हत-पुत्रस्य आर्षम्" इति ताण्डकम्।

"सात्यायन् ब्राह्मण का कथन है कि सौदासों द्वारा अग्नि में फेंके जाने पर शक्ति (वसिष्ठ के पुत्र) ने (प्रेरणाद्वारा) सूक्त के अन्तिम प्रगाथ का

[११३] ज० अ० ए० सो० १८६६ पृ० २९५ आदि पर मेरा लेख आन द रिलेशन्स आफ द प्रीस्ट्स टु द अदर क्लासेज आफ इण्डियन सोसाइटी इन द वैदिक एज"।

दर्शन किया। आधे ऋच् का उच्चारण करते ही जल गये और वसिष्ट ने अपने पुत्र के वचन को पूरा किया। ताण्डक के अनुसार "वसिष्ट ने ही अपने पुत्र के वध पर सम्पूर्ण सूक्त का उच्चारण किया।"

शक्ति द्वारा कहे गये शब्द "हे इन्द्र हमें शक्ति प्रदान करो जैसा पिता पुत्रों को शक्ति देता है" (इन्द्र क्रतु न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा) जिस स्थिति में उन्हें पढा हुआ बताया गया है उसके साथ संगत नहीं जान पड़ते, और इस सूक्त मे कुछ भी इन ब्राह्मणों में कल्पित परिस्थिति की ओर संकेत करता नहीं प्रतीत होता।

वसिष्ठ के विषय में मनु (८. ११०) कहते हैं : महर्षिभिश् च देवैश् च कार्यार्थं शपथाः कृताः। वसिष्ठश् चापि शपथं शेपे पैयवने नृपे। "महर्षियों और देवताओं ने भी विशिष्ट उद्देश्य से शपथ ग्रहण किया है। वसिष्ठ ने राजा पैयवन के लिए शपथ ग्रहण किया।' जिस अवसर पर यह हुआ था उसका वर्णन टीकाकार कुल्लूक ने किया है : वसिष्ठोऽप्य् अनेन पुत्र-शतम् भक्षितम् इति विश्वामित्रेण आक्रुष्टो स्व-परिशुद्धये पियवनापत्ये सुदाम्नि राजनि शपथं चकार। "विश्वामित्र द्वारा क्रोध से वसिष्ठ पर (उनके) सौ पुत्रों के खा जाने का आरोप लगाने पर, वसिष्ठ ने पियवन के पुत्र राधा सुदामन् (निश्चय ही यहाँ सुदास् अभिप्रेत है) के सम्मुख अपने को निष्पाप सिद्ध करने के लिए शपथ ली।" यह उसी कथा का निर्देश करता प्रतीत होता है जो ऋग्वेद ७. १०४, १२ के भाष्य में भाष्याकार द्वारा उद्धृत अंश में उल्लिखित है।

रामायण १. ५५, ५ आदि में कहा गया है कि जब विश्वामित्र के सौ पुत्र विविध शस्त्रों को धारण कर वसिष्ठ की ओर दौडे तो वे सभी उनके मुख से निकली हुङ्कार से भस्म हो गये। (विश्वामित्र-सुताना तु शत नाना-विधा-युधम् अभ्यधावत् सुसंक्रुद्धं वसिष्ठम् जपतां वरम्। हुङ्कारेणैव तान् सर्वान् निर्ददाह महान् ऋषिः)।

ऋग्वेद १. ११२, ९ वसिष्ठ के अश्विनों के कृपा प्राप्त करने का वर्णन है। (वसिष्ठं याभिर् अजराव् अजिन्वतम्)।

ऋग्वेद के सातवें मण्डल के निम्नलिखित मंत्रों में भी वसिष्ठ का नामोल्लेख किया गया है . ७, ७, ९, ६, १२, ३; २२, १. ६, २६, ५, ३७, ४, ३९, ७; ४२, ६; ५९, ३, ७०, ६, ७३, ३; ७६, ६. ७, ७७, ६; ८, १; ९०, ७, ९५, ६, ९६, १. ३ . किन्तु चूंकि इसके अतिरिक्त कि इनमें उल्लिखित

व्यक्ति सूक्तों के गायक थे, इन मंत्रों मे कोई और सूचना नहीं प्राप्त होती, अतः इनका उद्धरण देना आवश्यक नहीं है।"[११४]

अथर्ववेद ४-२९, ३ तथा ५ वसिष्ठ तथा विश्वामित्र का उल्लेख अङ्गिरस्, अगस्ति, जमदग्नि, अत्रि, कश्यप, भरद्वाज, गविष्ठिर तथा कुत्स के साथ मित्र और वरुण के कृपापात्र के रूप में किया गया है ("'याव अङ्गिरसम् अवथो याव् अगस्तिम् मित्रा-वरुणा जमदग्निम् अत्रिम्। यौ कश्यपम् अवथो यौ वसिष्ठम् ' यौ भरद्वाजम् अवथो यौ गविष्ठिरं विश्वामित्रं वरुण मित्र कुत्सम्)। और उसी वेद (१८. ३, १५ और बाद) में इनका रक्षकों के रूप में आवाहन किया गया है : विश्वामित्रोऽयं जमदग्निर् अत्रिर् अवन्तु नः कश्यपो वामदेवः। विश्वामित्र जमदग्ने वशिष्ठ भरद्वाज गोतम वामदेव ''। १५ "यह विश्वामित्र जमदग्नि, अत्रि, कश्यप और वामदेव हमारी रक्षा करें। १६. हे विश्वामित्र! हे जमदग्नि! हे वसिष्ठ! हे भरद्वाज! हे गोतम! हे वामदेव।" कम से कम दूसरा अंश ऋग्वेद के अधिकांश सूक्तों से अधिक अर्वाचीन होना चाहिए।

ऋग्वेद के अन्य भागों मे सुदास् का उल्लेख वसिष्ठ या विश्वामित्र का निर्देश किये बिना किया गया है। कुछ स्थलों पर उसका नाम दूसरे राजाओं या ऋषियों के नाम के साथ आया है, जिससे यह प्रकट होता है कि कम से कम इनमें से कुछ स्थलों में 'सुदास्' से एक व्यक्ति अभिप्रेत है न कि केवल "एक दानशील व्यक्ति।"

---

[११४] एक दूसरे सूक्त का, जिसमे रचयिता का नाम नही दिया गया है, एक मन्त्र इस प्रकार है ' आ नो देवेभिर् उप यातम् अर्वाक् सजोषसा नासत्या रथेन। युवोर् हि न सख्या पित्र्याणि समानो बन्धुर् उत तस्य वित्तम्। "अश्विनो! हमारे निकट एक ही रथपर देवताओ के साथ आओ, क्योंकि तुम्हारे साथ हमारा पैतृक सम्बन्ध है, एक सामान्य सम्बन्ध है, क्या तुम इसे पहचानते हो।" यद्यपि इसका कोई पुराकथाशास्त्रीय सन्दर्भ नही है, सायण ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है : विवस्वान् वरुणश् च उभाव् अपि कश्यपाद् अदितेर् जातौ। विवस्वान् अश्विनोर् जनको वरुणो वसिष्ठस्य इत्य् एवम् समान-बन्धुत्वम्। "विवस्वत् और वरुण दोनो ही कश्यप और अदिति के पुत्र थे। विवस्वत् अश्विनो के पुत्र थे और वरुण वसिष्ठ के। इस प्रकार उनका सम्बन्ध है।" सायण ने तब विवस्वत् से अश्विनो के उत्पन्न हुए होने के सम्बन्ध को प्रमाणित करने के लिये बृहद्देवता से उद्धरण दिया है। तुलना ऋग्वेद १० १७, १ २ तथा निरुक्त १२ १०, ११।

ऋग्वेद १. ४७, ६ (परम्परानुसार प्रस्कण्व ऋषि है) सुदासे दस्रा वसु बिभ्रता रथे पृक्षो वहतन् अश्विना। रयिं समुद्राद् उत या दिव परि अस्मे धत्तम् पुरु-स्पृहम्।

"हे तेजस्वी अश्विनों! अपने रथ में धन लेकर सुदास् को पुष्टि प्रदान करो। (आकाशस्थ) समूह से या हमें अभिलषित सम्पत्ति प्रदान करो।

सायण का कथन है कि यहाँ "पिजवन के पुत्र राजा सुदास्" अभिप्रेत है (सुदासे...राज्ञे पिजवन-पुत्राय)।

१. ६३, ७ (ऋषि गोतम वंश के नोधस् है) त्व ह त्यद् इन्द्र सप्त युध्यन् पुरो वज्रिन् पुरुकुत्साय दर्दः। बर्हिर् न यत् सुदासे वृथा वर्ग अन्हो राजन् वरिवः पूरवे कः।

"हे वज्र की गर्जना करने वाले इन्द्र! तुमने उस समय पुरुकुत्स के लिए युद्ध किया और सात नगरों का नाश किया, जब, हे राजा! तुमने अनायास सुदास की विपत्ति को घास के गट्ठर के समान फेंक दिया और पुरु[११५] को धन प्रदान किया।"

१. ११२, १९ (ऋषिकुत्स) याभिर् सुदासे ऊहथुः सुदेव्यं ताभिर् उ षु ऊतिभिर् अश्विना गतम्।

'हे अश्विनों! उन रक्षाओं के साथ आओ जिनके द्वारा तुम सुदास् के लिए गौरवपूर्ण शक्ति ले आए" ['पिजवन के पुत्र'-सायण]।[११६]

आगे आने वाले सभी उद्धरण सातवें मण्डल से है जिसके ऋषि बिना किसी अपवाद के वसिष्ठ और उनके वशज कहे गये है :—

७. १९, ३ त्व धृष्णो धृषता वीतहव्यम् प्रावो विश्वाभिर् ऊतिभिः सुदासम्। प्रपौरुकुत्सि त्रसदस्युम् आवः क्षेत्रसाता वृत्रहत्येषु पूरुम्।

---

[११५] प्रोफेसर रॉथ अपने लिट० उ० गेश्, देस् वेद, पृ० १३२ पर इसका अर्थ कुछ और ही लगाते है और प्रो० बेनफे भी ओरिएण्ट उण्ड ओक्सिडेण्ट, १, पृ० ५९० मे ऐसा ही करते है।

[११६] ऋग्वेद १ १८५, ९ मे सुदास् शब्द 'सुदास्तर' इस तुलनात्रोधक रूप मे आया है जिसका अर्थ "अत्यन्त दानशील" होना चाहिए 'भूरि चिद् अर्यं सुदास्तराय। "शत्रु के धन को, यद्यपि वहु प्रचुर है, मुझ अत्यन्त दानशील व्यक्ति को प्रदान करो।" ५ ५३, २ मे 'सुदास्' शब्द विशेषण रूप मे आया है: आ एतान् रथेषु तस्थुष क शुश्राव कथा ययु। कस्मै सस्रु सुदासे अनु इलाभिर् वृष्टय सह। "किसने उन (मरुतो) को रथपर चढते हुए सुना है, वे कैसे चले गये हैं? किस दानशील व्यक्ति के निकट वे मित्र वनकर सुख की वृष्टि के रूप मे गये हैं?"

"हे उग्र इन्द्र ! तुमने वेग के साथ प्रत्येक सहायता द्वारा सुदास् की रक्षा की है, जिसने आहुति प्रदान की। तुमने पुरुकुत्स के पुत्र त्रसदस्यु की रक्षा की है, तथा पुरु को राज्य जीतने तथा शत्रुओं के संहार में सहायता प्रदान की है।"

७. २०, २. हन्ता वृत्रम् इन्द्रः शूशुवानः प्रावीद् नु वीरो जरितारम् ऊती। कर्त्ता सुदासे अह वै उ लोकं दाता वसु मुहुर् उ दाशुषे भूत्।

"शक्ति वृद्धि से युक्त इन्द्र, वृत्र का वध करता है, वह वीर उनकी रक्षा करता है जो उसकी स्तुति करता है, वह सुदास् (या दानी यज्ञकर्ता-'कल्याण-दानाय यजमानाय') के लिए स्थान बनाता है, वह पुनः-पुनः अपने पूजकों को धन देता है।"

७. २५, ३ शतं ते शिप्रिन् ऊतयः सुदासे सहस्रं शंसाः उत रातिर् अस्तु। जहि वधर् वनुषो मर्त्यस्य अस्मे द्युम्नम् अधि रत्नं च धेहि।

"सुदास् को एक सौ सहायताएं, एक सहस्र प्रशंसनीय (दान) और समृद्धि प्राप्त हो। हत्यारों के अस्त्रों का नाश करो। हमें यश और धन प्रदान करो।"

(यहाँ और आगे के सभी उद्धरणों में सायण ने सुदास् का अर्थ "दानशील व्यक्ति" लगाया है।)

७. ३२, १०. नकिः सुदासो रथम् परि आस न रीरमत्। इन्द्रो यस्य अविता यस्य मरुतो गमत् स गमति व्रजे।

"सुदास् के रथ को न कोई रोक सकता है और न उसका सामना कर सकता है जिसकी इन्द्र और मरुद्गण रक्षा करते हैं, वह पशुओं से युक्त गोचर में विचरण करता है।"

७. ५३, ३ : उतो हि वं रत्नधेयानि सन्ति पुरूणि द्यावा-पृथिवी सुदासे।

"हे द्यौ और पृथ्वी ! सुदास् (या दानशील व्यक्ति) को तुम अनेक रत्नों का दान देते हो।"

७. ६०, ८ : यद् गोपावद् अदितिः शर्म भद्रम् मित्रो यच्छन्ति वरुणः सुदासे। तस्मिन्न् आ तोकं तनयं दधानाः मा कर्म देवहेलनं तुरासः। ९ ..परि द्वेषोभिर् अर्यमा वृणक्तु उरुं सुदासे वृषणौ उ लोकम्।

"यत. अदिति, मित्र, और वरुण सुदास् (दानशील व्यक्ति) को सन्तान प्रदान करते हुए उनकी रक्षा करते हैं—हे शक्तिशाली देवताओ हम देवताओं

का कोईअपराध न करें। ९ 'अर्यमन् हमें शत्रुओं से मुक्त करें। हे तेजस्वी देवताओं ! सुदास् को विस्तृत लोक प्रदान करो।"

एक दूसरा अंश ७. ६४, ३ भी है (अवद् यथा नः आद् अरि. सुदासे) जिसका उचित अर्थ लगाना मेरे लिए कठिन है।

ब्राह्मणों के निम्नलिखित अंशों में वसिष्ठ का उल्लेख किया गया है।

काठक ३७, १७[११७] ऋषयो वै इन्द्रम् प्रत्यक्षं न अपश्यंस् तं वसिष्ठः एव प्रत्यक्षम् अपश्यत्। सोऽबिभेद् "इतरेभ्यो मा ऋषिभ्य' प्रवक्ष्यति" इति।[११८] सोऽब्रवीद् "ब्राह्मणं ते वक्ष्यामि यथा त्वत्-पुरोहिताः प्रजाः प्रजनिष्यन्ते। अथ मा इतरेभ्यः ऋषिभ्यो मा प्रवोचः" इति। तस्मै एतान् स्तोम-भागान् अब्रवीत् ततो वसिष्ठ-पुरोहिताः प्रजाः प्रजायन्त।

"ऋषियों ने इन्द्र का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं किया। केवल वसिष्ठ ने ही उनको सशरीर देखा। वह (इन्द्र) भयभीत था कि कहीं इन्द्र दूसरे ऋषियों से उसका रहस्योद्घाटन न कर दे, और उसने उनसे कहा, 'मै तुम्हें एक ब्राह्मण घोषित करूँगा जिससे जो मनुष्य उत्पन्न होंवे वे तुम्हें अपना पुरोहित बनाये। मुझे दूसरे ऋषियों को प्रकट मत करो।' फलत. उसने उन्हें सूक्त के इस अंश का ज्ञान दिया। ऐसे मनुष्य उत्पन्न हुए जिन्होंने वसिष्ठ को अपना पुरोहित बनाया।"

उसी स्थान पर प्रोफेसर वेबर शतपथ ब्राह्मण के उस अंश का निर्देश करते है जिसमें प्राचीनकाल में शास्त्रज्ञान तथा पौरोहित्यकर्म में वसिष्ठ के वंश की श्रेष्ठता का वर्णन किया गया है :

१२. ६, १. ३८ : वसिष्ठो ह विराजम् विदाञ्चकार तां ह इन्द्रोऽभिदध्यौ। स ह उवाच "ऋषे विराजन् ह वै वेत्थ ताम् मे ब्रूहि" इति। स क उवाच "किम् मम ततः स्याद्" इति। "सर्वस्य च ते यज्ञस्य प्रायश्चित्तिम् ब्रूयां रूपं च त्वा दर्शयेय" इति। स ह उवाच "यद् नु मे सर्वस्य यज्ञस्य प्रायश्चित्तिम् ब्रूयाः किम् उ स स्याद् यं त्वं रूपं दर्शयेथाः" इति। जीव-स्वर्ग एव अस्माल्-लोकात् प्रेयाद्" इति। ततो

[११७] प्रोफेसर वेबर द्वारा इण्डिशे स्टूडिएन ३ ४७८ मे उद्धृत।

[११८] 'सोऽबिभेत्' से 'इति' तक तैत्ति० सं० ३ ५, २, २ मे नही है, जहाँ यह अश भी पाया जाता है। वेबर ने इण्ड० स्टू० २ मे काठक २ ९ के एक दूसरे भाग का निर्देश किया है जहाँ वसिष्ठ के इस अवर्पण के समय 'पुरोवात' से प्रारम्भ होने वाले मन्त्र के "दर्शन" करने का वर्णन है ("पुरोवात" इति वृष्ट्य-अपेते भूत-ग्रामे वसिष्ठो ददर्श)।

ह एताम् ऋषिर् इन्द्राय विराजम् उवाच "इयं वै विराड्" इति। तस्माद् योऽस्यै भूयिष्ठं लभते स एव श्रेष्ठो भवति। अथ ह एताम् इन्द्रः ऋषये प्रायश्चितिम् उवाच अग्निहोत्राद् अग्रे आ महतः उक्थात्। ताः ह स्म एताः पुरा व्याहृतीर् वसिष्ठाः एव विदुः। तस्माद् ह स्म पुरा वसिष्ठः एव ब्रह्मा भवति।

"वसिष्ठ को विराज् (एक विशिष्ट वैदिक छन्द!) का ज्ञान था, इन्द्र ने इसे जानने की इच्छा की, और कहा, हे ऋषि आपको विराज् का ज्ञान है, मुझे इसका उपदेश दीजिए।' वसिष्ठ ने पूछा—'ऐसा करने से मुझे क्या लाभ होगा?' (इन्द्र ने उत्तर दिया) 'मैं आपसे सम्पूर्ण यज्ञ में हुए दोष के प्रायश्चित[११९] की व्याख्या करूंगा और उसका स्वरूप दिखाऊंगा।' वसिष्ठ ने पुनः प्रश्न किया। 'यदि मुझे सम्पूर्ण यज्ञ के प्रायश्चित का ज्ञान प्रदान करेंगे वह क्या बनेगा?' (इन्द्र ने उत्तर दिया) 'वह इस लोक में जीव-स्वर्ग में पहुँच जायगा।' तब ऋषि ने यह कह कर कि 'यह विराज् है', विराज का ज्ञान कराया। अतएव विराज् को प्राप्त करने वाला व्यक्ति ही सर्वश्रेष्ठ होता है। तब इन्द्र ने उन्हें अग्निहोत्र से लेकर महान् उक्थ तक इस प्रायश्चित मन्त्र का उपदेश दिया। पूर्वकाल में केवल वसिष्ठ को ही इन व्याहृतियों का ज्ञान था। अतएव प्राचीनकाल में केवल एक वसिष्ठ ही 'ब्रह्मन्' नाम का पुरोहित होता था।"

प्रोफेसर वेबर ने काठक ३२, २ से निम्नलिखित को भी उद्धृत किया है: याम् अब्राह्मणः प्राश्नाति सा स्कन्ना आहुतिस्। तस्या वै वसिष्ठ एव प्रायश्चित्तं विदाञ्चकार। "जिस आहुति से ब्राह्मणेतर व्यक्ति अंश ग्रहण करता है वह दूषित हो जाती है। ऐसी स्थिति में प्रायश्चित का ज्ञान केवल वसिष्ठ ही रखते हैं।"

सामवेद के षड्विंश ब्राह्मण में, जिसे उसी लेखक ने उद्धृत किया है (वही १ ३९ तथा जिसे पृ० ३७ पर एक सुस्पष्ट ब्राह्मणीय व्यवस्था से युक्त वर्णित किया गया है, जो इसके अधिक प्राचीनकाल का होने का संकेत नहीं देता), निम्नलिखित अंश आया है:

१.५ इन्द्रो ह विश्वामित्राय उक्थम् उवाच वसिष्ठाय ब्रह्म वाग् उक्थम् इत्य् एव विश्वामित्राय मनो ब्रह्म वसिष्ठाय। तद् वै एतद् वासिष्ठम् ब्रह्म। अपि ह एवंविध वा वसिष्ठ वा ब्रह्माण कुर्वीत।

---

[११९] देखिए ऊपर पृ० २३३।

"इन्द्र ने विश्वामित्र को उक्त (सूक्त) का ज्ञान दिया तथा वसिष्ठ को ब्रह्म वाणी का ज्ञान दिया। उक्थ वाणी (वाक्) है, जिसका ज्ञान उन्होंने वसिष्ठ को कराया। अतएव यह ब्रह्मन् वसिष्ठों का है। अपरच, इस प्रकार के व्यक्ति को या वसिष्ठ के वश के व्यक्ति को ब्रह्मन् ऋत्विज् पद पर नियुक्त करना चाहिए।"

यहाँ विश्वामित्र से वसिष्ठ की श्रेष्ठता पर स्पष्टत: बल दिया गया है।[१२०]

महाभारत शान्तिपर्व ३०२, ८, आदि में वसिष्ठ द्वारा जनक को अध्यात्म ज्ञान प्रदान करने तथा सांख्य और योग दर्शनों का उल्लेख करने (दे० १२.३०२, १९, ३०५, १९, ३०६, ४२, ३०७, १.४४ आदि) का वर्णन किया गया। इस ऋषि का चरित्र इस प्रकार बताया गया है :

१२.३०२, ८ वसिष्ठ श्रेष्ठम् आसीनम् ऋषीणाम् भास्कर-द्युतिम् पप्रच्छ जनको राजा ज्ञानं नैश्श्रेयसम् परम्। परम् अध्यात्मकुशलम् अधात्म-गति-निश्चयम्। मैत्रावरुणिम् आसीनम् अभिवाद्य कृताञ्जलिः।

"राजा जनक ने अञ्जलि बाँधकर मित्र और वरुण के पुत्र, ऋषियों में सर्वश्रेष्ठ और सर्वाधिक द्युतिमान, सूर्य के समान प्रकाश वाले वसिष्ठ को प्रणाम किया, जिन्हें परमात्मा का ज्ञान प्राप्त था, जिन्होंने परमात्मा की प्राप्ति के साधनों का उपदेश दिया था, और उनसे उन्होंने वह परक ज्ञान पूछा जो मोक्ष का साधन है।"

जिस ज्ञान का उपदेश ऋषि ने दिया है उसे वे हिरण्यगर्भ अर्थात् ब्रह्मन् से प्राप्त बताते हैं (अवाप्तम् एतद् हि मया सनातनाद् हिरण्यगर्भाद् गदतो नराधिप)।

इस भाग के पहले के अंशों में मैंने मनु, विष्णुपुराण तथा महाभारत से वसिष्ठ की उत्पत्ति के सम्बद्ध अंशों को उद्धृत किया है मनुस्मृति (देखिए ऊपर पृ० ४२) तो उन्हें प्रथम (या स्वायम्भुव) मन्वन्तर में मनु स्वायम्भुव द्वारा रचे गये दस महर्षियों में एक बताता है। विष्णुपुराण (पृ० ७९) उन्हें उपर्युक्त मन्वन्तर में ब्रह्म द्वारा उत्पन्न किये गये नौ मानस पुत्रों या ब्रह्माओं मे एक कहा गया है। उसी पुराण ३, १. १४ मे उन्हे वर्त्तमान वैवस्वत मन्वन्तर के सात ऋषियों में एक बताया है, जिनमें विवस्वत के पुत्र श्राद्धदेव[१२१] मनु हैं (विवस्वतः सुतो विप्र श्राद्धदेवो महाद्युतिः। मनुः

---

[१२०] प्रोफेसर वेवर (इण्ड० स्टू० १ ५३) ने यह उल्लेख किया है कि पारस्कर गृह्य सूत्र पर रामकृष्ण की टीका मे "वसिष्ठ वश के सूत्रो का अनुगमन करने वाले छन्दोगो" का वर्णन किया गया है (वासिष्ठ-सूत्रानुचारिणश् छन्दोगा)।

[१२१] देखिए ऊपर पृ० २३७ टिप्पणी ६६, तथा पृ० २१४ आदि।

संवर्त्तते धीमान् साम्प्रतं सप्तमेऽन्तरे' 'वसिष्ठः काश्यपोऽथात्रिर् जमदग्निः स-गौतम. विश्वामित्र-भरद्वाजौ सप्त सप्तर्षयोऽभवन्)। महाभारत (देखिए पृ० १३८) का वर्णन कुछ अन्तर रखता है, कारण एक स्थान पर इसमें वसिष्ठ को ब्रह्मा के छ. मानस-पुत्रों में सम्मिलित नहीं किया गया है, जब कि दूसरे अंश मे उन्हें इस संख्या में जोडकर यह संख्या सात कर दी गई है।[122] और तीसरे अंश में उन्हें इक्कीस प्रजापतियों में एक बताया गया है।

विष्णुपुराण १ १०, १० के अनुसार "वसिष्ठ के अपनी पत्नी ऊर्ज्जा (दक्ष की एक पुत्री और एक प्रतीकात्मक चरित्र, देखिए विष्णुपु० १. ७, १८) से सात पुत्र हुए जिनके नाम रजस् , गात्र, ऊर्ध्ववाहु, सवन, अनघ, सुतपस्, तथा शुक्र और वे सभी पवित्र ऋषि थे" ऊर्ज्जायां च वसिष्ठस्य सप्ताजायन्त वै सुता'। रजोगात्रोर्ध्ववाहुश्च सवनश् चानघस् तथा। सुतपाः शुक्र' इत्य् एते सर्वे सप्तर्पयोऽमला)। इसे स्वायम्भुव मन्वन्तर से संबद्ध मानना चाहिए। भाष्यकार का कथन है कि ये पुत्र तीसरे मन्वन्तर में सात (सप्तर्पयस् तृतीयमन्वन्तरे)। इस युग के वर्णन में विष्णुपुराण में उनका नामोल्लेख किये बिना केवल इतना ही कहा गया है (३. १, ९) कि वसिष्ठ के सात पुत्र ऋषि थे।" (वसिष्ठ-तनयास् तत्र सप्त सप्तर्पयोऽभवन्)[123] भागवतपुराण (४ १, ४० आदि) में वसिष्ठ के पुत्रों के नाम भिन्न रूप में दिये गये है, तथा शक्तृ तथा अन्य व्यक्तियों को विभिन्न विवाहों से उत्पन्न सन्तान बताया गया है। विष्णुपुराण के इन अंशों पर प्रोफेसर विलसन की टिप्पणी से तुलना कीजिए)।

मनु ९ २२ आदि में कहा गया है कि "एक पत्नी अपने उस पति के गुणों को प्राप्त कर लेती है, जिसके साथ उसका विधिवत् संयोग होता है जिस प्रकार एक नदी समुद्र के साथ मिल जाती है। २३. यद्यपि अक्षमाला निकृष्ट

[122] दूसरे श्लोक मे भी (आदि पर्व, १७४, ५ जिसे आगे एक खण्ड मे उद्धृत किया जायगा) उन्हे ब्रह्मा का मानस-पुत्र कहा गया है।

[123] ऊर्ज्ज, जिन्हे विष्णु पु० २ १, ६ मे दूसरे या स्वारोचिप मन्वन्तर का एक ऋपि बताया गया है, वायु पु० मे वसिष्ठ के पुत्र कहे गये हैं। प्रोफेसर विल्सन की विष्णु द्वारा २ १, ६ पर टिप्पणी (भाग ३ पृ०)। वायु पुराण मे भी कहा गया है कि चौथे और पाँचवे मन्वन्तर के एक-एक ऋषि वसिष्ठ के पुत्र थे (देखिए प्रोफेसर विल्सन की विष्णु पुराण ३ १ पर टिप्पणियाँ (भाग ३ पृ० ८ तथा ११)।

जन्म की थी किन्तु वसिष्ठ के साथ संयुक्त होकर पूजनीया हो गई जिस प्रकार मदनपाल से विवाह करके शारङ्गी ने आदर प्राप्त किया" यादृग्-गुणेन भर्त्त्रा स्त्री संयुज्यते यथाविधि। तादृग्-गुणा सा भवति समुद्रेणेव निम्नगा। २३. अक्षमाला वसिष्ठेण संयुक्ताऽधम-योनि- जा शारङ्गी मन्दापलेन जगामाभ्यर्हणीयताम्)।

महाभारत के एक श्लोक (उद्योगपर्व ११७, ११)[१२४] वसिष्ठ की पत्नी को वही नाम दिया गया है, किन्तु उसी रचना के दो अन्य अंशों में, जिन्हें आगे उद्धृत किया जायगा उसे अरुन्धती कहा गया है।[१२५]

विष्णुपुराण (२. १०, ८) के अनुसार वसिष्ठ उन अध्यक्षों में एक हैं जो आषाढ मास में सूर्य के रथ में निवास करते है, अन्य अध्यक्ष हैं, वरुण रम्भा, सहजन्या, हुहु, वुध और रथ चरित्र (वसिष्ठो वरुणो रम्भा सहजन्या-हुहुर् वुधः रथचित्रस् तथा शुक्रे वसन्त्य् आपढ-संज्ञिते); जब कि फल्गुन महीने में (वही ५ १६) उनके प्रतिद्वन्द्वी ऋषि विश्वामित्र वही कार्य विष्णु, अश्वतर, रम्भा, सत्यजित् तथा राक्षस यज्ञापेत के साथ करते है श्रूयतां चापरे सूर्ये फाल्गुने निवसन्ति ये विष्णुर् अश्वतरो रम्भा सूर्य-वर्चाश् च सत्यजित्। विश्वामित्रस् तथा रक्षो यज्ञापेतो महात्मन')।

वायुपुराण के प्रारभ में वसिष्ठ को सभी ऋषियों में श्रेष्ठ कहा गया है (ऋषिणां च वरिष्ठाय वसिष्ठाय महात्मने)।

विष्णुपुराण ३. ३, ९ में कहा गया है कि वर्तमान या वैवस्वत मन्वन्तर में वेदों का अठाइस वार विभाजन किया जा चुका है और यह विभाजन प्रत्येक चार युगों के क्रम में द्वापर युग में सदैव से होता रहा है प्रथम द्वापर में ब्रह्मा स्वयंभू ने स्वयं उनका विभाजन किया, छठें मे मृत्यु (या यम) ने; और आठवें द्वापर में वसिष्ठ या व्यास विभाजनकर्त्ता थे अष्टाविंशतिकृत्वो वै वेदा' व्यस्ताः महर्षिभिः वैवस्वतेऽन्तरे तस्मिन् द्वापरेषु पुनः पुनः। ··१०. द्वापरे प्रथमे व्यस्ताः स्वय वेदाः स्वम्भुवा। ११···मृत्युः षष्ठे स्मृतः प्रभुः। वसिष्ठश् चाष्टमे स्मृतः)।

जैसा कि हम ऊपर देख चुके है वसिष्ठ इक्ष्वाकु के पुत्र निमि के पुरोहित थे, इक्ष्वाकु मनु वैवस्वत के पुत्र थे और सूर्य वंश के राजाओं मे प्रथम थे,

---

[१२४] दो 'पक्ति' वाद मे हैमवती को विश्वामित्र की पत्नी वताया गया है (हैमवत्या च कौशिक)।

[१२५] सेंट पीटर्सवर्ग लेक्सिकन मे 'अक्षमाला' को अरुन्धती का विशेपण वताया गया है।

और महाभारत आदि पर्व (१७४, १० आदि) में, जो आगे खण्ड में उद्धृत किया जायगा, उन्हें उस वंश के सभी राजाओं का पुरोहित कहा गया है। विष्णुपुराण ४. ३, १८ में उन्हें सगर का गुरु बताया गया है, जो इक्ष्वाकु से मैंतिसवें थे (तत्कुल-गुरुं वसिष्ठम् शरणं जग्मुः); और उन्हें सौदास या मित्रसह का जो उसी राजा की पचासवीं पीढ़ी में थे, यज्ञ करने वाला बताया गया है (विष्णु पु० ५. ४, २५ कालेन गच्छता स सौदसो यज्ञम् अयजत् । परिनिष्ठित-यज्ञे च आचार्य्ये वसिष्ठे निष्क्रान्ते इत्यादि)।

रामायण २. ११०, १ में (ऊपर पृ० १३१) भी वसिष्ठ का उल्लेख किया गया है, और दूसरे स्थान (२. १११, १ आदि) में उन्हें राम का पुरोहित कहा गया है जो विष्णु पुराण (४. ४, ४०) तथा पहले के वर्णन मे) इक्ष्वाकु के वंश में एकसठवीं पीढ़ी में हुए प्रतीत होते हैं।[१२६]

इन सभी वर्णनों के अनुसार वसिष्ठ एक नितान्त अतिमानवीय शक्ति से युक्त रहे होंगे; क्योंकि ऐसा कहीं प्रतीत नहीं होता कि मैंने जिन वर्णनों का निर्देश किया है उनमें कोई भी वसिष्ठ नाम के इस वंश के किसी व्यक्ति मात्र को लक्षित करता है, किन्तु वे इस प्रकार स्वयं इस वंश के संस्थापक को निर्दिष्ट करते हैं जो अनेक आनुक्रमिक युगों के कार्यों में भाग लेते हैं।

यह स्पष्ट है कि यद्यपि जैसा कि हम आगे देखेंगे वसिष्ठ को वैदिकोत्तर रचनाओं में प्रायशः ब्राह्मण बताया है, तथापि कुछ अन्य प्रमाणों के अनुसार जिन्हें मैंने उद्धृत किया है, वे वस्तुतः किसी भी सगत अर्थ में ब्राह्मण नहीं थे, कारण उनके जन्म के विषय में दिये गये वर्णनों में उन्हें या तो ब्रह्मा का मानस-पुत्र कहा गया है या मित्र, वरुण या अप्सरा उर्वशी का पुत्र कहा गया है, या किसी अन्य अतिमानवीय उत्पत्ति का बताया गया है।

खण्ड. ७—विश्वामित्र

अनुक्रमणिका में, जिसे सायण ने ऋग्वेद के तृतीय मण्डल के आरम्भ में उद्धृत किया है, इस संकलन के उस मण्डल का ऋषि या द्रष्टा कहा गया है : अस्य मण्डल-द्रष्टा विश्वामित्र- ऋषिः । "इस (प्रथम सूक्त) के ऋषि या द्रष्टा विश्वामित्र हैं।" तथापि इसका कुछ अपवाद भी हो सकता है, कारण कुछ अन्य व्यक्तियों को जो प्राय पूर्णतः उसके वंशज हैं, कुछ सूक्तों को ऋषि कहा गया है।

---

[१२६] राम की वंशावली रामायण १ ७० तथा २ ११०, ६ मे भी दी गई है जहाँ उन्हे इक्ष्वाकु की ३३ वी या ३४ वी पीढ़ी मे उत्पन्न कहा गया है।

मैं ऐसे अंशों को उद्धृत करूंगा जो विश्वामित्र या उनके वंश का निर्देश करते हैं या परम्परया उनसे संबद्ध बताये गये हैं।

पैंतीसवें सूक्त के सन्दर्भ में निरुक्त में इस प्रकार कहा गया है :

२. २४. तत्र इतिहासम् आचक्षते। विश्वामित्र ऋषिः सुदासः पैजवनस्य पुरोहितो बभूव...। स वित्तं गृहीत्वा विपात्-छुतुद्र्योः सम्भेदम् आययौ। अनुययुर इतरे। स विश्वामित्रो नदीस् तुष्टाव "गाधाः भवत" इति।

"यहाँ एक कथा कही जाती है। ऋषि विश्वामित्र पिजवन के पुत्र सुदास के पुत्र थे (यहाँ विश्वामित्र, सुदास् और पिजवन नामों की व्युत्पत्ति दी गई है)। अपनी सम्पत्ति लेकर वे विपाश् और शुतुद्री (सतजल) के संगम पर आये, दूसरे लोग भी उनके पीछे थे। विश्वामित्र ने उन नदियों को सुतर होने की प्रार्थना की।"

सायण ने इस कथा को इस प्रकार थोडा और विस्तृत कर दिया है :

पुरा किल विश्वामित्र पैजवनस्य सुदासो राज्ञः पुरोहितो बभूव। स च पौरोहित्येन लब्ध-धनः सर्वम् धनम् आदाय विपात्-छुतुद्र्योः सम्भेदम् आययौ। अनुययुर् इतरे। अथोत्तितीर्षुर् विश्वामित्रोऽगाध-जले ते नद्यौ दृष्ट्वा उत्तरणार्थम् आद्याभिस् तिसृभिस् तुष्टाव।

"पूर्वकाल में विश्वामित्र पिजवन के पुत्र राजा सुदास् के पुरोहित थे। अपने पुरोहित कर्म द्वारा उन्होंने धन प्राप्त कर सम्पूर्ण धन साथ लिया और विपाश् तथा शुतुद्री के संगम पर आये। दूसरे भी उनके पीछे थे। नदियों को पार करने की इच्छा से, किन्तु उनमें अगाध जल देख कर, विश्वामित्र ने उसे पार करने लिए इस सूक्त के प्रथम तीन मन्त्रों से स्तुति की।"

सूक्त सुदास् का कोई उल्लेख नहीं करता किन्तु कुशिक के पुत्र (विश्वामित्र) तथा भरतों का वर्णन करता है। यह काव्यीय सौन्दर्य से शून्य नहीं है और इस प्रकार है :

ऋग्वेद ३. ३३, १ (=निरुक्त ६. ३९) प्र पर्वतानाम् उशती उपस्थाद् अश्वे इव विषिते हासमाने। गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे विपाट् शुतुद्री पयसा जवेते। २. इन्द्रेषिते प्रसवम् भिक्षमाणे अच्छ समुद्रं रथ्या इव याथ। समाराणे ऊर्मिभिः पिन्वमाने अन्या वाम् अन्याम् अपि एति शुभ्रे। ३. अच्छ सिन्धुम् मातृतमाम् अयासम् विपाशम् ऊर्वीं सुभगाम् अगन्म। वत्सम् इव मातरा संरिहाणे समानं योनिम् अनु संचरन्ती। ४. एना वयम् पयसा पिन्वमाना अनु योनिं देव-कृतं चरन्तीः।

न वर्त्तवे प्रसवः सर्ग- तक्तः किंयुर् विप्रो नद्यो जोहवीति । ५ (= निरुक्त २. २५) रमध्वम् मे वचसे सोम्याय ऋतावरीर् उप मुहूर्त्तम् एवैः । प्रसिन्धुम् अच्छ बृहती मनीषा अवस्युर् अह्वे कुशिकस्य सूनुः । ६ (= निरु० २, २६) इन्द्रो अस्मान् अरदत् वज्र-बाहुर् अपाहन् वृत्रम् परिधिं नदी-नाम् । देवोऽनयत् सविता सुपाणिस् तस्य वयम् प्रसवे यामः ऊर्वीः । ७. प्रवाच्यं शश्वधा वीर्यं तद् इन्द्रस्य कर्म यद् अहिं विवृश्चत् । वि वज्रेण परिषदो जघान आयन्न् आपो अयनम् इच्छमानाः । ८. एतद् वचो जरितर माऽपि मृष्टाः आ यत् ते घोषान् उत्तरा युगानि । उक्थेषु कारो प्रति नो जुषस्व मानो निकः पुरुषत्र नमस् ते । ९. ओ सु स्वसारः कारवे शृणोत ययौ यो दूराद् अनसा रथेन । नि सु नमध्वम् भवत सुपारा अधो अक्षः सिन्धवः स्रोत्याभिः । १०. (=निरुक्त २. २७) आ ते कारो शृणवाम वचांसि ययाथ दुराद् अनसा रथेन । नि ते नंसै पीप्याना इव योषा मर्याय इव कन्या शश्वचै ते । ११. यद् अङ्ग त्वा भरताः सन्तरेयुर् गव्यन् ग्रामः इषितः इन्द्र-जूतः । अर्षाद् अह प्रसवः सर्ग-तक्तः आ वो वृणे सुमतिं यज्ञियानाम् । १२. अतारिषुर् भरताः गव्यवः सम् अभक्त विप्रः सुमतिं नदीनाम् । प्र पिन्वध्वम् इषयन्तीः सुराधाः आ वक्षणाः प्रिणध्वं यात शीभम् ।

"(विश्वामित्र कहते हैं) . पर्वतों के मध्य से निकल कर वेग से वहती हुई, खुली छूटी हुई दो परस्पर होड़ करती हुई घोडियों के समान, (अपने-अपने वछड़ों को) चाटती हुई दो शुभ्र गायों के समान[१२७] विपाश् और शुतुद्री अपने जल के साथ भागी जा रही हैं । २. इन्द्र द्वारा प्रेषित की गई और शीघ्रता से मार्ग ढूँढती हुई तुम मानो एक रथ पर चढ़ कर समुद्र की ओर जा रही हो । साथ-साथ दौड़ती हुई और लहरों से बढ़ती हुई, हे शुभ्र नदियों तुम एक दूसरे से मिलती हो । ३. मैं माता तुल्य नदी के समीप आया हूँ, हम विस्तृत और सुन्दर विपाश् के निकट आये हैं; ये दोनों अपने-अपने वछड़ों को चाटती हुई दो गायों के साथ एक ही स्थान को जा रही है । ४. (नदियाँ उत्तर देती है) : अपने जलों से उमड़ती हुई हम देवताओं द्वारा निर्मित योनि (समुद्र) की ओर जा रही है, हमारा आगे का मार्ग अवरुद्ध नहीं हो सकता । ऋषि को क्या चाहिए जो वे नदियों की स्तुति करते हैं ? ५ (विश्वामित्र कहते हैं) हे पवित्र नदियों ! अपनी धारा थोड़े समय के लिए

---

[१२७] प्रो० रॉथ (इल० आफ निरुक्त, पृ० १३३) ७ २, ५ (पूर्वी शिशुं न मातरा रिहाणे) को समानान्तर अश वताते हैं ।

रोको मेरे सुखमय वचनों को मान लो।[128] कुशिक[129] का पुत्र मैं कृपा की इच्छा करता हुआ नदी की प्रार्थना करता हूँ। ६. (नदियों ने उत्तर दिया) वज्रधारी इन्द्र ने हमारे मार्ग को खोदा है, उसने धाराओं को रोककर पड़े हुए अहि का वध किया है। दक्ष हाथों वाला सवितृ हमें यहाँ ले आया है, उसकी प्रेरणा से हम अपनी चौड़ाई में आगे-बढ़ती जा रही हैं। ७. इन्द्र के वीरतापूर्ण कर्म सदैव ही स्तुत्य हैं क्योंकि उसने वृत्र को टुकड़े-टुकड़े कर दिया। उसने अपने वज्र से अवरोधों को मार गिराया और नदियाँ निकलने का मार्ग ढूँढ़ती हुई अपने मार्ग पर बढ़ चलीं। ८. हे स्तुतियों का गान करने वाले! इस शब्द को न भूलो, जिसे भावी युग प्रतिध्वनित करेंगे। हे कवि, अपने सूक्तों में हमारे प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित करो; मनुष्यों के समक्ष हमें गौरवहीन मत बनाओ, तुम्हें सम्मान मिलेगा। ९. (विश्वामित्र कहते है) बहनों, उस कवि की प्रार्थना सुनो जो तुम्हारे निकट दूर से गाड़ी और रथ लेकर आया है। नीचे चली जाओ; सुतर बनो, हमारे रथ की धुरी तक अपनी धारा न उठाओ। १०. (नदियाँ उत्तर देती हैं): हे कवि! हम तुम्हारी बात सुनेंगी; तुम दूर से गाड़ी और रथ लेकर आये हो, (अपने शिशु को दूध पिलाने वाली पूर्ण विकसित स्तनों वाली[130] स्त्री के समान, मैं तुम्हारा नमन

---

[128] प्रो० रॉथ (लिट्० उ० गेश्० देस् वेद पृ० १०३) इसका अनुवाद इस प्रकार करते है "एक क्षण के लिए मेरी मित्रतापूर्ण वाणी को सुनो, हे जल से पूर्ण नदियो, अपनी गति को रोको।" और एक टिप्पणी मे कहते हैं मैं 'उप' को 'रमध्वम्' के साथ नही जोडता, जैसा निरुक्त और सायण ने किया है, इस तथ्य की कि 'उप' दूसरे पाद मे है दूसरी व्याख्या करने की आवश्यकता है। भाष्यकार की उन व्याख्याओ मे, इस जो अर्थ का खण्डन करते है, अधिकाश का अन्तिम आधार यह है कि वे मन्त्र के विभिन्न भागो के शब्दो को एक साथ सबद्ध करते हैं; और कोई भी व्यक्ति यह विश्वास कर सकता है कि प्रत्येक पाद का एक भिन्न अर्थ है और परवर्ती काल के श्लोको की अपेक्षा ये पाद एक दूसरे से अधिक स्वतन्त्र है। अपने लेक्सिकन मे रॉथ ने इस अंश के ऋतावरी का अनुवाद "नियमित" 'समान रूप से प्रवहमान' किया है।

[129] कुशिक एक राजा थे (कुशिको राजा बभूव, निरुक्त २।२५) सायण उन्हे राजर्षि बताते है)।

[130] यह अर्थ प्रो० रॉथ ने लगाया है 'पि' से 'पीप्याना' के अन्तर्गत। यास्क २।२७ के आधार पर सायण ने इसका अर्थ "अपने बच्चे को दूध पिलाते हुए" किया है। प्रो०आफरेख्त का विचार है कि इस शब्द का अर्थ है "गर्भिणी।"

करूँगी किंवा पुरुष के सम्मुख स्वयं को प्रकट करने वाली युवती के समान मैं अपने को तुम्हारे लिए प्रकट कर दूँगी। ११. (विश्वामित्र कहते हैं) जब युद्ध प्रेमी जन भरत[12] आगे भेजे जाने पर इन्द्र द्वारा प्रेरित होकर तुम्हें पार कर लेंगे तब तुम्हारी धारा अपने मार्ग पर आगे बढ़ेगी। मैं तुम श्लाघनीया की कृपा चाहता हूँ। १२. युद्ध-प्रेमी भरतों ने पार कर लिया है, ऋषियों ने नदियों की कृपा प्राप्त कर ली है, तीव्र एवं प्रवर्त्तिनी होकर भर जाओ, अपने मार्ग को आपूरित करो; तीव्र गति से बहो।"

आगे का उद्धरण उसी तृतीय मण्डल के तिरपनवें सूक्त से है, मन्त्र ६. आदि ६. अपा' सोमम् अस्तम् इन्द्र प्र याहि कल्याणीर् जाया सुरणं गृहे ते। यत्र रथस्य बृहतो निधानं विमोचनं वाजिनो दक्षिणावत्। ७. इमे भोजाः अङ्गिरसो विरूपा' दिवस् पुत्रासो असुरस्य वीराः विश्वामित्राय ददतो मघानि सहस्र-सावे प्रतिरन्ते आयुः। ८ रूपं रूपम् मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस् तन्वम् परि स्वाम्। त्रिर यद् दिव' परि मुहूर्तम् आगात् स्वैर् मन्त्रैर् अनृतुपाः ऋतावा। महान् ऋषिर् देव-जा' देव-जूतो अस्तभ्नात् सिन्धुम् अर्णवं नृचक्षा। विश्वामित्रो यद् अवहत् सुदासम् अप्रियायत कुशिकेभिर् इन्द्र'। १०. हंसा इव कृणुथ श्लोकम् अद्रिभिर् मदन्तो गीर्भिर् अध्वरे सुते सचा। देवेभिर् विप्रा ऋषयो नृचक्षसो वि पिबध्वं कुशिकाः सोम्यम्, मधु। ११. उप प्रेत कुशिकाश् चेतयध्वम् अश्वं राये प्र मुञ्चत सुदासः। राजा वृत्रं जङ्घनत् प्राग् अपाग् उदग् अथ यजाते वर आ पृथिव्या'। १२. यः इमे रोदसी उभे अहम् इन्द्रम् अतुष्टवम्। विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्म इदम् भारतं जनम्। १३. विश्वामित्राः अरासत ब्रह्म इन्द्राय वज्रिणे। करद् इन् नः सुराधसः। १४. (= निरुक्त ६।३२) किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो नाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मम्। आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदो नैचाशाखम् मघवन् रन्धय नः। १५. स सर्पीर् अमतिम् बाधमाना बृहद् मिमाय जमदग्नि दत्ता। आ सूर्यस्य दुहिता ततान श्रवो देवेषु अमृतम् अजुर्यम्। १६. ससर्परीर् अभरत् तूयम् एभ्यो अधि श्रवः पाञ्चजन्यासु कृष्टिषु। सा पक्ष्या नव्यम् आयुर् दधाना याम् मे पलस्ति-जमदग्नयो ददुः।...२१, इन्द्र

आगे के वाक्य में "शश्वचै" का अनुवाद प्रो० आफरेख्त द्वारा सुझाये गये ढंग पर किया गया है, जो ऋग्वेद १० १८, ११ १२ की तुलना करते हैं।

[12] "भरत कुल के मनुष्य, मेरे लोग" (भरत-कुल-जा मदीया. सर्वे- सायण)।

ऊतिभिर् वहुलाभिर नो अद्य आच्छेष्टाभिर् मघवन् शूर जिन्व। यो नो द्वेष्टि अधर' सस पदीष्ट यम् उ द्विष्मस तम् उ प्राणो जहातु। २२. परशुं चिद् वि तपति शिम्वलं चिद् वि वृश्चति। उखा चिद् इन्द्र येषन्ती प्रयस्ता फेनम् अस्यति। २३. न सायकस्य चिकिते जनासो लोधं नयन्ति पशु मन्यमानाः। ना वाजिनं वाजिना' हासयन्ति न गर्दभम् पुरो अश्वान् नयन्ति। २४. इमे इन्द्र भरतस्य पुत्राः अपपित्व चिकितुर न प्रपित्वम्। हिन्वति अश्वम् अरणं न नित्यं ज्यावाजम् परि नयन्ति आजौ।

"६ तुमने सोम का पान किया है, हे इन्द्र! अपने स्थान को जाओ। तुम्हारी पत्नी है और तुम्हें अपने निवास स्थान में प्रत्येक सुख प्राप्त है। तुम्हारा रथ जिस किसी स्थान पर रक्खा हो अश्वों को रथ से मुक्त कर देना उचित है। ७. ये अङ्गिरस जाति[132] के सुन्दर विरूप, जो द्यौ के वीर पुत्र है, विश्वामित्र को सहस्रों आहुतियों के साथ यज्ञ के अवसर पर धन प्रदान कर अपने जीवन को दीर्घ बनाते है। ८. समृद्धिशाली देवता (इन्द्र) निरन्तर विविध रूप धारण करते है और अपने शरीर से मायावी रूप प्रकट करते हैं क्योंकि वे द्युलोक से प्रतिक्षण तीन बार आते हैं, अपनी इच्छानुसार उल्लिखित मौसमों के अतिरिक्त अन्य अवसरों पर सोम का पान करते है और यज्ञ कर्म का संपादन करते है। ९.[133] देवता से उत्पन्न, देवप्रेरित, तथा मनुष्यों के नेता महर्षि ने जल की धारा में स्तम्भन किया, जब विश्वामित्र ने सुदास का निर्देशन किया, तो इन्द्र कुशिकों द्वारा प्रसन्न हुए। १० सोम सवन के समय सूक्तों द्वारा आनन्दित होकर तुमने सोम पीसनेवाले प्रस्तर खण्डों के द्वारा हंसों के समान ध्वनि की। हे कुशिकों! मनुष्यों के नायक ऋषिगण देवों के साथ मधुमिश्रित सोम का पान करते हैं।[134] ११. हे कुशिकों! आओ, सावधान होओ; धन जीतने के लिए सुदास्

---

[132] सायण का कथन है कि दानशील व्यक्ति सुदास् का पुत्र क्षत्रिय है; 'विरूपा.' का अर्थ है अङ्गिरस् और मेघातिथि इत्यादि वंशो के उनके विभिन्न पुरोहितो से है, और द्यौ के पुत्र मरुत है जो रुद्र के भी पुत्र हैं (इमे यागं कुर्वाणा भोजा सौदासा क्षत्रिया. तेषा याजका विरूपा नानारूपा मेधातिथि-प्रभृतयोऽङ्गिरसश् च दिवोऽसुरस्य देवोभ्योऽपि वलवतो रुद्रस्य पुत्रासो मरुत)। विरूपो को ऋग्वेद १० ६२, ५ मे अङ्गिरस् के साथ सवद्ध किया गया है और १ ४५, ३, तथा ८ ६४, ६ मे एक विरुप का उल्लेख किया गया है।

[133] मन्त्र ९–१३ का अनुवाद प्रो० रॉथ ने लिट्० उ० गेश० डेस् वेद पृ० १०६ आदि मे किया है।

[134] महाभारत, आदिपर्व, १७५, ४८ से तुलना कीजिए: अपिवच् च ततः सोमम् इन्द्रेण सह कौशिक। "और तब कौशिक ने इन्द्र के साथ सोमपान किया।

के घोड़ों को मुक्त करो, राजा पूर्व, पश्चिम, तथा उत्तर में अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करे, और तब पृथ्वी के पवित्रतम स्थान पर यज्ञ करें।[१२५] १२. मुझ विश्वामित्र ने द्युलोक और पृथ्वी दोनों को इन्द्र[१२६] की स्तुति करने लिए प्रेरित किया है, और मेरी प्रार्थना भरतों के जन की रक्षा करती है। १३. विश्वामित्र ने वज्र धारण करनेवाले इन्द्र की प्रार्थना की है। वह हमें समृद्धिशाली बनावे। १४. तुम्हारी गौएँ कीकटों[१२७] में क्या कर रही हैं, जो न तो उनसे दूध लेते हैं (जो सोम में मिलाया जाता है) और न यज्ञिय पात्र को तपाते हैं। हमें प्रमगन्द का धन प्रदान करो, नीचशाख के पुत्र को हमारे वश में करो। १५. वेग से बढ़ते हुए, दरिद्रता को दूर करते हुए, जमदग्नियों द्वारा लाया जाकर उसने अपनी वाणी उच्चरित की है। सूर्य की इस पुत्री ने हमारी अक्षय और अनश्वर कीर्ति देवताओं तक पहुँचाई है। १६. वेग से चलते हुए उसने हमारी कीर्ति उनसे लाकर पञ्चजनों में फैलाई है, इस पक्षधारी[१२८] देवी ने, जिसे प्राचीन जमदग्नि हमारे निकट ले आये हैं, हमें नया जीवन प्रदान किया है।" मन्त्र १७--२० को छोड़कर आगे इस प्रकार आता है: २१. हे समृद्धिशाली इन्द्र! हमें अनेक श्रेष्ठ कृपाओं द्वारा समृद्धिशाली बनावें। हमसे द्रोह रखनेवाला पतित होवे; जिससे हम द्रोह रखते हैं वह प्राण-हीन हो जाय।" इसके उपरान्त तीन दुरुह मन्त्र आते हैं जिनका अनुवाद करने का प्रयत्न आगे किया जायगा।

सायण मन्त्र १५ और १६ के भाष्य के आरम्भ में षड्गुरुशिष्य की अनुक्रमणिका के भाष्य से एक उद्धरण देते हैं, जो कुछ और परिवर्द्धित रूप में वेबर के इण्डि० स्टू० १ ११९ आदि में इस प्रकार दिया गया है:
ससर्परीद्-ऋचे प्राहुर् इतिहासम् पुराविदः। सौदास-नृपतेर् यज्ञे वशिष्ठात्मज-शक्तिना। विश्वामित्रस्याभिभूतम् बल वाक् च समन्ततः।

---

[१२५] तुलना, ऋग्वेद ३ २३, ४ से जो आगे उद्धृत किया जायगा।

[१२६] तुलना, ऋग्वेद ४ १७, १।

[१२७] कीकटा नाम देशोऽनार्य्य-निवास। कीटक एक देश है जिसमें अनार्य व्यक्ति निवास करते हैं। इस कृति का दूसरा भाग पृ० ३६२ तथा जर्नल आफ रायल एशि० सो० १८६६ पृ० ३४० देखिए।

[१२८] 'पक्या' इस शब्द का अर्थ सायण ने यह किया है "सूर्य की पुत्री जो चन्द्रमा का शुक्ल और कृष्णपक्ष का कारण है" (पक्षस्य पक्षादि-निर्वाहकस्य सूर्यस्य दुहिता)। प्रो० रॉथ ने इस शब्द के अन्तर्गत, इस शब्द का अर्थ "वह जो पक्षों से साथ-साथ परिवर्तित होती है" लगाया है।

वसिष्ठेनाभिभूतः स ह्य् अवासीदच् च गाधि-जः। तस्मै ब्राह्मी तु सौरीं वा नाम्ना वाचं ससर्परीम्। सूर्य-वेश्मन आहृत्य ददुर् वै जमदग्नय। कुशिकानां ततः सा वाङ् मनाक् चिन्ताम् अथानुदत्। उपप्रेतेति कुशिकान् विश्वामित्रोऽन्वचोदयत्। लब्ध्वा वाच च हृष्टात्मा जमदग्नीन् अपूजयत्। "ससर्परीर्" इति द्वाभ्यां ऋग्भ्या वाचम् स्तुवम् स्वयम्।" "ससर्परी." से प्रारम्भ होने वाले दो मन्त्रों के विषय में पुराविद् लोग एक कथा कहते हैं। राजा सौदास[139] के एक यज्ञ के अवसर पर विश्वामित्र की शक्ति और वाणी को वसिष्ठ के पुत्र, शक्ति, ने पूर्णत. पराभूत कर दिया, और गाधि के पुत्र (विश्वामित्र) इस प्रकार पराजित होकर बहुत दुःखित हुए। जमदग्नियों ने सूर्य के स्थान से "ससर्परी" नामक वाणी निकाली, जो ब्रह्मा या सूर्य की पुत्री है, और उसे उन्हें प्रदान किया। तव उस वाणी ने जमदग्नियों (या सायण द्वारा दिये गये इस पंक्ति के पाठ "कुशिकानाम् मतिः सा वाग् असति ताम् अपानुदत्" के अनुसार बुद्धि रूपी उस वाणी ने कुशिकों की मूढता को दूर कर दिया। तव विश्वामित्र ने कुशिकों को "उपप्रेत" अर्थात् निकट आओ इन शब्दों से उत्तेजित किया (देखिए मन्त्र ११)। वाणी प्राप्त करने से प्रसन्न होकर उन्होंने जमदग्नियों की पूजा की, और "ससर्परीर्" से प्रारम्भ होने वाले दो मन्त्रों द्वारा उनकी स्तुति की।"

मन्त्र २१-२४ के विषय में सायण ने निम्नलिखित टिप्पणी दी है · इन्द्र ऊतिभिर् इत्य् आद्याश् चतस्रो वसिष्ठ-द्वेषिण्यः। पुरा खलु विश्वामित्र-शिष्यः सुदाः नाम राजर्षिर् आसीत्। स च केनचित् कारणेन वसिष्ठ-द्वेष्योऽभूत्। विश्वामित्रस् तु शिष्यस्य रक्षार्थम् आभिर् ऋग्भिर् वसिष्ठम् अशपत्। इमा अभिशाप-रूपाः। ताः ऋचो वसिष्ठाः न शृन्वन्ति। "इन्द्रा ऊतिभिर्" से प्रारम्भ होने वाले चार मन्त्र वसिष्ठ के प्रति द्रोह व्यक्त करते हैं। प्राचीन काल में विश्वामित्र के शिष्य सुदास् नाम के एक राजा थे, जो किसी कारण वश वसिष्ठ के कोपभाजन वन गये। अपने शिष्य की रक्षा के लिए विश्वामित्र ने वसिष्ठ को तीन मन्त्रों में शाप दिया। अत वे शाप से युक्त हैं और वसिष्ठ उन्हें नहीं सुनते।"

इसी अंश के सन्दर्भ में बृहद्देवता ४. २३ में, जैसा कि इण्ड० स्टू० १. १२० में इसका उद्धरण दिया गया है, निम्नलिखित पंक्तियाँ आती है :

---

[139] बृहद्देवता में, जिसमे जैसी पंक्तियाँ मैंने उद्धृत की हैं, वैसी ही कुछ पंक्तियाँ मिलती है, (इण्ड० स्टू० १।११९) 'सौदास' के स्थान पर 'सुदास' दिया गया है।

परश् चतस्रो यास् तत्र वसिष्ठ-द्वेषिणीर् विदुः विश्वामित्रेण ताः प्रोक्ताः अभिशापाः इति स्मृताः। द्वेष-द्वेषास् तु ताः प्रोक्ताः विद्याच् चैवाभिचारिकाः वसिष्ठास् तु न शृण्वन्ति तद् आचार्यक-सम्मतम्। कीर्तनाच् छ्रवणाद् वाऽपि महान् दोषः प्रजायते। शतधा भिद्यते मूर्धा कीर्तितेन श्रुतेन वा। तेषाम् बालाः प्रमीयन्ते तस्मात् तास् तु न कीर्तयेत्। "इस सूक्त के अन्य चार मन्त्र, जो वसिष्ठ के प्रति द्रोह व्यक्त करने वाले माने जाते हैं, विश्वामित्र द्वारा उक्त हैं और परम्परया उन्हें शाप से युक्त कहा जाता है। वे शाप के बदले शाप व्यक्त करते हैं और उन्हें अभिचार भी समझना चाहिए। वसिष्ठ के वंशज उन्हें नहीं सुनते, क्योंकि ऐसा उनके गुरु का आदेश है। उनका पाठ करने से या उन्हें सुनने से घोर पाप होता है। जो ऐसा करते हैं उनके सिर के सैकड़ों खण्ड हो जाते हैं और उनकी सन्तान मर जाती है। अतएव किसी को उनका पाठ नहीं करना चाहिए।"

इस आदेश और चेतावनी के अनुसार निरुक्त के टीकाकार दुर्ग[१४०] मन्त्र २३ के संबन्ध में कहते हैं यस्मिन् निगमे एष शब्दः (लोधः) सा वसिष्ठ-द्वेषिणी ऋक्। अहं च कापिष्ठलो वासिष्ठः। अतस् तां न निर्ब्रवीमि। "जिस मन्त्र में यह ('लोध' शब्द आया है, वह वसिष्ठ के प्रति द्वेष व्यक्त करने वाला मन्त्र है किन्तु मैं वसिष्ठ-वंश का कापिष्ठल हूँ, अतएव इसकी व्याख्या नहीं कर रहा हूँ।"

निम्नलिखित उद्धरण भी विश्वामित्र के व्यक्तिगत चरित से सम्बद्ध हो सकता है। ऋग्वेद ३. ४३, ४: आ च त्वाम् एता वृषणा वहातो हरी सखाया सुधुरा स्वङ्गा। धानावद् इन्द्रः सवनं जुषाणः सखा सख्युः शृणवद् वन्दनानि। ५. कुविद् मा गोपं करसे जनस्य कुविद् राजानम् मघवन्न् ऋजीषिन्। कुविद् मा ऋषिम् पपिवांस सुतस्य कुविद् मे वस्वो अमृतस्य शिक्षाः। "४. ये दोनों हरि वर्णों के मित्रवत्, सुयुक्त, दृढ अंगों वाले घोड़े तुम्हें यहाँ ले आते हैं। हमारे अन्न से युक्त आहुति से प्रसन्न होकर इन्द्र एक मित्र के समान मित्र की स्तुति सुने। ५. क्या तुम मुझे जन-प्रमुख बनाओगे? हे रत्नों के प्रतापी स्वामी क्या हमें राजा बनाओगे? क्या हमें सोम का पान करने वाला ऋषि बनाओगे? क्या हमें अक्षय धन प्रदान करोगे?"

---

[१४०] जैसा कि प्रो० रॉथ ने लिट्० उ० गेश् देस वेद, पृ० १०८ टिप्पणी में, तथा प्रो० मूलर ने ऋग्वेद, भाग २ के प्राक्कथन, पृ० ५६ पर उद्धृत किया है।

अगला अंश भरत जाति के देवश्रवस् तथा देववात का उल्लेख करता है, जिन्हें अनुक्रमणिका में, जिसका सायण ने उद्धरण दिया है, "भरत के पुत्र" (भरतस्य पुत्रौ) कहा गया है। किन्तु जैसा कि हम देखेंगे, कम से कम उनमें एक को अन्यत्र विश्वामित्र का पुत्र कहा गया है : ऋग्वेद ३. २३, २ . अमन्थिष्टाम् भारता रेवद् अग्निम् देवश्रवाः देववातः सुदक्षम् । अग्ने वि पश्य बृहताऽभि राया इषा नो नेता भवताद् अनु द्यून् । ३ दश क्षिपः पूर्व्यं सीम् अजीजनन् सुजातम् मातृषु प्रियम् । अग्निं स्तुहि देववातं देवश्रवो यो जनानाम् असद् वशी । ४. नि त्वा दधे वरे आ पृथिव्याः इलायास् पदे सुदिनत्वे अह्नाम् । दृषद्वत्याम् मानुषे आपयायां सरस्वत्यां रेवद् अग्ने दिदीहि । "२. देवश्रवस् और देववात दोनों भारतों ने घर्षण द्वारा तीव्र अग्नि प्रज्वलित की है। हे अग्नि ! स्वयं को अत्यधिक धन के साथ प्रकट करते हुए हम पर दृष्टिपात करो, प्रति दिन हमारे लिए पुष्टि का वहन करो। (देववात की) दसों अङ्गुलियों ने प्राचीन देवता को उत्पन्न किया है . जो सुखपूर्वक उत्पन्न हुआ है और अपनी माता को प्रिय है। हे देवश्रवस् ! देववात के पुत्र अग्नि की स्तुति करो जो मनुष्यों का स्वामी है। ४. मैंने (या उसने) तुझे पृथ्वी के सर्वोत्तम स्थान, यज्ञभूमि में[141] शुभ समय में स्थापित किया है। हे अग्नि ! दृषद्वती (के तट पर) मनुष्यों के लिए शुभ (स्थान) पर, आपया और सरस्वती के तट पर प्रकाशित होओ।"

दसवें मण्डल के १६७ वे सूक्त के चौथे मन्त्र में, जो विश्वमित्र और जमदग्नि द्वारा रचे गये कहे जाते हैं, विश्वामित्र का उल्लेख जमदग्नि के साथ किया गया है प्रसूतो भक्षम् अकरम चराव् अपि स्तोमं चेदम् प्रथमः सूरिर् उन मृजे । सुते सातेन यदि आगमं वाम् प्रति विश्वामित्र-जमदग्नी दमे । "प्रेरित होकर मैंने चरु के उपस्थित करने के समय इस सोम का भक्ष बनाया है, मैं प्रथम कवि, इस सूक्त की रचना करता हूँ, हे विश्वामित्र और जमदग्नि ! मैं तुम्हारे निकट निवास स्थान में आहुति के रूप में अर्पित की गई वस्तुओं के साथ आया हूँ।"

जैसा कि हमने देखा है, विश्वामित्र के वंश का उल्लेख ऋग्वेद ३. ५३, १३ में किया गया है। निम्नलिखित अंशों में भी उनका नामोल्लेख हुआ है .

३. १, २१. जन्मन् जन्मन् निहितो जातवेदाः विश्वामित्रेभिर् इध्यते अजस्रः ।

---

[141] तुलना, ऋग्वेद ३ २९, ३ ४

"(कुण्ड में) स्थापित किये गये अनश्वर जातवेदस् प्रत्येक पीढ़ी में विश्वामित्रों द्वारा प्रज्वलित किये जाते हैं।"

३. १८, ४ उच् छोचिषा सहसस् पुत्र स्तुतो बृहद् वयः शशमानेषु धेहि । रेवद् अग्ने विश्वामित्रेषु शं योर् मर्मृज्म ते तन्वम् भूरि कृत्वः ।

"हे शक्ति के पुत्र ! पूजे जाने पर अपनी ऊर्ध्वगामी शिखाओं द्वारा पूजकों में तेजमय जीवन स्फुरित करो; हे अग्नि ! विश्वामित्रों को श्रेष्ठ सौभाग्य प्रदान करो, अनेक बार हमने तुम्हारे शरीर को प्रकाश प्रदान किया है।"

१०. ८९, १७. एवा ते वयम् इन्द्र भुञ्जतीनां विद्याम सुमतीनाम् नवानाम् । विद्याम वस्तोर् अवसा गृणन्तो विश्वामित्रा उत त इन्द्र नूनम् ।

"हम तुमसे नई कृपा प्राप्त करें जिससे हम आनन्दित होवें; हे इन्द्र ! तुम्हारी प्रशंसा करने वाले हम विश्वामित्र तुम्हारी सहायता से धन प्राप्त करें।"

अनुक्रमणी में यह सूक्त विश्वामित्र के पुत्र या वंशज रेणु का बनाया गया है, तथा १८ वां मन्त्र तीसरे मण्डल के ३० वें सूक्त के मन्त्र २२ के अनुरूप है, जिसे विश्वामित्र की रचना कहा गया है।

पहले उद्धृत किये गये एक मन्त्र (ऋग्वेद ३. ३३, ११) में विश्वामित्र को कुशिक का पुत्र कहा गया है। कम से कम निरुक्त इस अंश को उन्हीं से संबद्ध मानता है, और कुशिक जो निःसन्देह विश्वामित्र के वंश के थे, दूसरे सूक्त में उल्लिखित हैं जिसे मैंने उद्धृत किया है (३. ५३, ९. १०)। निम्नलिखित उद्धरणों में भी उनका निर्देश किया गया है :

ऋग्वेद ३. २६, १ : वैश्वानरम् मनसाऽग्निं निचाय्य हविष्मन्तो अनुपत्यं स्वर्विदम् । सुदानुं देवं रथिरं वसूयवो गीर्भिः रण्वं कुशिकासो हवामहे ।" ३. अश्वो न क्रन्दन् जनिभिः सम् इध्यते वैश्वानरः कुशिकेभिर् युगे-युगे । स नो अग्निः सुवीर्यं स्वश्व्यं दधातु रत्नम् अमृतेषु जागृविः ।

"हम कुशिक, हवि प्रदान करते हुए, धन की अभिलाषा रख कर उचित रूप से[१४२] अग्नि वैश्वानर देवता का, जो दानशील, रथी तथा आनन्दयुक्त हैं, आह्वान करते हैं। ३. हिनहिनाते हुए घोड़े के समान चटखनेवाले वैश्वानर को कुशिक माताओं (अर्थात अपनी अङ्गुलियों) द्वारा प्रत्येक युग

---

[१४२] प्रो० आफरेख्त के अनुसार 'अनुपत्यम्' का यही अर्थ है। सायण इसे अग्नि का विशेषण मानते हैं "वह जो कर्मों के अनुसार फल देने में सत्यप्रतिज्ञ है (सत्येनानुगत कर्मानुरूप-फल-प्रदाने सत्य-प्रतिज्ञम्)।

में प्रज्वलित करते है। यह अग्नि, जो मनुष्यों में सदैव ही प्रज्वलित रहते हैं, हम पर बल और अश्वों सहित धन प्रदान करे।"

३ २६, १५. अमित्रायुधो मरुताम् इव प्रयाः प्रथमजा' ब्रह्मणो विश्वम् इद् विदुः। द्युम्नवद् ब्रह्म कुशिकासः आ ईरिरे एकः एको दमे अग्निं सम् ईधिरे।

"अपने शत्रुओं से मरुतों के समूह के समान युद्ध करते हुए ब्रह्म[143] से प्रथम उत्पन्न हुए ऋषि सभी ज्ञान रखते हैं, कुशिकों ने एक उत्साहपूर्ण प्रार्थना की है, उनमें प्रत्येक ने अपने घर में अग्नि प्रज्वलित किया है।"

३. ३०, २० : इम कामम् मन्दय गोभिर् अश्वैश् चन्द्रावता राधसा पप्रथश् च। स्वर्यवो मतिभिस् तुभ्यम् विप्रा' इन्द्राय वाहः कुशिकासो अक्रन्।

"हमारी इस इच्छा को गौओं और अश्वों द्वारा पूर्ण करो, और प्रकाशमय धन द्वारा हमें समृद्धिशाली बनाओ। बुद्धिमान् कुशिकों ने स्वर्ग की इच्छा से अपने मन द्वारा तुम्हारे लिये एक सूक्त की रचना की।"

३. ४२, ६ त्वां सुतस्य पीतये प्रत्नम् इन्द्र हवामहे। कुशिकसो अवस्यवः।

"हम कुशिक, कृपा प्राप्त करने की इच्छा से, तुझ प्राचीन इन्द्र का सोमपान करने के लिए आह्वान करते हैं।"

इन अंशों में यह देखा जा सकता है कि विश्वामित्र और कुशिक स्वयं को अग्नि का प्राचीन पूजक, सूक्तों के रचयिता, और अध्यात्म ज्ञानी कहते हैं।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के दसवें सूक्त के मन्त्र ११ में, जिसके परम्परया प्रचलित ऋषि विश्वामित्र वंशीय मधुच्छन्दस् हैं, इन्द्र के लिए कौशिक विशेषण का प्रयोग किया गया है : आ तु नः इन्द्र कौशिक मन्दसानः सुतम् पिब। नव्यम् आयुः प्र सुतिर कृधि सहस्र-साम् ऋषिम्। "इन्द्र कौशिक! आओ आनन्दपूर्वक सोम का पान करो। मुझे नवीन और दीर्घ जीवन प्रदान करो, ऋषि को सहस्र वरदानों से युक्त करो।"

सायण इस विशेषण की व्याख्या इस प्रकार करते हैं : कौशिक कुशिकस्य पुत्र ''यद्यपि विश्वामित्रो कुशिकस्य पुत्रस् तथापि तद्रूपेण इन्द्रस्य एव उत्पन्नत्वात् कुशिक-पुत्रत्वम् अविरुद्धम्। अयं वृत्तान्तोऽनुक्रमणि-

---

[143] ३ ५३ इसे विश्वामित्र के लिये प्रयुक्त देवजाः "देवता से उत्पन्न" विशेषण (ऊपर ३४२) से तुलना कीजिए; तथा ७ ३३, ७ मे वसिष्ठ के ज्ञान के दावे (ऊपर पृ० ३२०) से तुलना कीजिए।

कायाम् उक्त'। "कुशिकस् त्व् ऐषीरथिर् इन्द्र-तुल्यम् पुत्रम् इच्छन् ब्रह्मचर्य चचार। तस्य इन्द्रः एव गाथी पुत्रो जज्ञे" इति। "कौशिक का अर्थ है कुशिक का पुत्र 'यद्यपि विश्वामित्र कुशिक के पुत्र थे तथापि, यतः इन्द्र ही उनके रूप में उत्पन्न हुआ था अत. इन्द्र के कुशिक का पुत्र होने में कोई बाधा नहीं है। यह कथा अनुक्रमणिका में इस प्रकार कही गई है : इषीरथ के पुत्र कुशिक इन्द्र के समान पुत्र की इच्छा करते हुए ब्रह्मचर्याश्रम में बने रहे। इन्द्र ही उनके पुत्र गाथिन् के रूप में उत्पन्न हुए।" इसके साथ अनुक्रमणी (जैसा कि प्रो० मूलर ने ऋग्वेद, भाग २ प्राक्कथन, पृ० ४० में उद्धृत किया है, निम्नलिखित शब्द और जोडती है : गाथिनो विश्वामित्र'। स तृतीयम् मण्डलम् अपश्यन्। "गाथिन् के पुत्र विश्वामित्र थे जो तीसरे मण्डल के द्रष्टा हैं।" इस अंश को उद्धृत करके प्रोफेसर मूलर कहते हैं : षड्गुरुशिष्य के अनुसार यह कथा विश्वामित्र गोत्र का ऋषित्व प्रदर्शित करने के लिए रची गई है।[144] सत्य अपवादे स्वयम् ऋषित्वम् अनुभवतो विश्वामित्र गोत्रस्य विवक्षया इतिहासम् आह। "विश्वामित्र वंश के ऋषित्व का, जो विवादास्पद था, यहाँ वे कथा कहते हैं यद्यपि वे स्वयं इससे भिन्न थे।"

"प्रोफेसर रॉथ का (लेक्सिकन 'कौशिक' के अन्तर्गत) यह विचार है कि मौलिक रूप में इन्द्र के लिए व्यवहृत शब्द का अर्थ यह था कि वह देवता कुशिका था या उनसे अनुरक्त था', और प्रोफेसर बेनफे ने अपने ऋग्वेद १. १०, ११[145] के अनुवाद की एक टिप्पणी में कहा है कि इस गोत्रनाम से इन्द्र को इस जाति का प्रमुख देवता बनाया गया है।"

---

[144] प्रो० मूलर का कथन है कि सायण (अनुक्रमणी के रचयिता) कात्यायन के विश्वामित्र के वंश-विषयक वर्णन का ध्यान नहीं रखते। "और आगे कहते हैं यह (अर्थात् इस कथा के विश्वामित्र वंश के ऋषित्व की गौरववृद्धि के लिये अभिप्रेत होने का तथ्य) ही शायद वह कारण था जिससे कि सायण ने इसे छोड दिया।" यह सत्य है कि सायण तृतीय मण्डल के अपने आरम्भिक वक्तव्यों में अनुक्रमणी के शब्दों को उद्धृत नहीं करते, किन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं, उन्होंने पहले ही उनका अधिकांश १ १०, ११ की टिप्पणी में उद्धृत कर दिया है।

[145] ओरिएण्ट उण्ड ओक्सिडेण्ट भाग १, पृ० १८ टि० ५०। हम ऊपर पृ० ३४५ पर देख चुके हैं कि ऋ० वे० ३ २३, ३ में दूसरे देवता अग्नि को देवता ऋषि के नाम पर, जिन्होंने उसे प्रज्वलित किया था, 'दैववात' कहा गया है। ऋ० वे० ८ ९२, २ में 'दैवदासो अग्नि' शब्द से तुलना कीजिए जिसकी

विष्णु पुराण (पृ० ३९८–४०० विल्सन, ४ पेजी सं०) के अनुसार विश्वामित्र पुरूरवस् बारहवें थे, इनके मध्यवर्त्ती राजा ये थे : (१) अमावसु, (२) भीम, (३) काञ्चन, (४) सुहोत्र, (५) जह्नु, (६) सुमन्तु, (७) अजक, (८) बलाकाश्व, (९) कुश, (१०) कुशाम्ब, और (११) गाधि। विश्वामित्र के पिता की मृत्यु का इस प्रकार वर्णन किया गया है, वि० पु० ४. ७, ४. तेपा कुशाम्बः "शक्र-तुल्यो मे पुत्रो भवेद्" इति तपश् चचार। त च उग्र-तपसम् अवलोक्य "मा भवत्व् अन्योऽस्मत्-तुल्य-

---

व्याख्या सायण ने 'दिवोदासेन आहूयमानोऽग्नि' अर्थात् "दिवोदास द्वारा आहूत अग्नि" की है। प्रो० रॉथ ने इस शब्द के अन्तर्गत इसका अर्थ इस प्रकार लगाया है "अग्नि जो दिवोदास से सबद्ध है।" ऋ० वे० ६ १६, १५ मे अग्नि को 'दिवोदासस्य सत्पति' अर्थात् "दिवोदास के उत्तम स्वामी।" ऋ० वे० २ ७, १ ५, ४ २५, ४, ६ १६, १९ मे अग्नि को भारत भी कहा गया है। प्रथम अश (२ ७, १) पर सायण का कथन है : भरता ऋत्विज । तेषा सम्बन्धी भारत "भरत ऋत्विज् है। भारत वह है जो उनसे सबद्ध है।" २ ७, ५ मे वह इस शब्द की व्याख्या करते है, 'ऋत्विजाम् पुत्र-स्थानीय' "तुम जो ऋत्विजो के लिए पुत्र के समान हैं।" दूसरे अश (४ २५, ४) तस्मै अग्निर् भारत शर्म यसत् ("अग्नि भारत उसका भरण करे") सायण भारत का अर्थ 'हवि को वहन करने वाला' (हविसो भर्त्ता) करते हैं किन्तु शतब्रा० १ ४ २, २ का भी उल्लेख करते हैं, जिसमे कहा गया है "अथवा अग्नि को 'भारत' इसलिये कहते हैं कि प्राण बनकर जीवो का भरण करता है (एष उ वै इमा प्रजा प्राणो भूत्वा बिभर्त्ति तस्माद् वा इव आह "भारत" इति)। इसके पूर्व एक और व्याख्या दी गई है कि 'भरत' शब्द का अर्थ है "वह जो देवताओ को हवि ले जाता है।" तीसरे अश (६ १६, १९) पर सायण ने इस शब्द का वैसा ही अर्थ लगाया है। रॉथ का इस शब्द के अन्तर्गत, विचार है कि इसका अर्थ है "युद्ध प्रिय"। ऋग्वेद ७ ८, ४ (वा० स० १२, ३४) मे हम "प्र प्र अयम् अग्निर् भरतस्य शृण्वे" शब्द पाते है जिसका अर्थ है "यह अग्नि, भारत का (पुत्र) बडी ख्याति वाला है।" सायण भरतस्य का अर्थ करते हैं 'यजमानस्य' अर्थात् यजमान का, तथा प्र प्र शृण्वे = प्रथितो भवति, प्रसिद्ध है। वा० स० के भाष्यकार ने इसका अनुवाद किया है "अग्नि यजमान के आह्वान को सुनता है" (शृण्वे शृणुते आह्वानम्)। श० ब्रा० ६ ८, १ १४ मे यह मन्त्र उद्धृत है और वहाँ इसका अर्थ किया गया है "विश्व को धारण करने वाले प्रजापति" (प्रजापतिर् वै भरत. स हि इद सर्वम् बिभर्त्ति)।

वीर्य्य'' इत्य् आत्मना एव अस्य इन्द्र' पुत्रत्वम् अगच्छत । गाधिर् नाम स कौशिकोऽभवत् । "(कुश के चार पुत्रों में एक) कुशाम्ब ने इन्द्र के समान पुत्र प्राप्त करने की इच्छा से उग्र तप किया । उन्हें तपस्या में अत्यन्त कठोर देखकर और इस भय से कि कहीं उसके समान प्रतापी कोई दूसरा व्यक्ति उत्पन्न न हो जाय इन्द्र स्वयं ही गाधि कौशिक नाम से कुशाम्ब का पुत्र हो गया ।" स्वयं विश्वामित्र के जन्म के सम्बन्ध में विष्णुपुराण में यह कथा कही गई है गाधि की पुत्री सत्यवती का विवाह भृगुवंश के ऋचीक नामक ब्राह्मण से हुआ था । इस विचार से कि उनकी पत्नी ब्राह्मण के गुणों से युक्त पुत्र उत्पन्न करे, ऋचीक ने उसके खाने के लिए चरु (चावल, जौ तथा दाल, घृत और दूध के साथ) बनाया था, और उसी प्रकार का चरु उसकी माता के लिए भी बनाया जो क्षत्रिय के गुणों से युक्त पुत्र उत्पन्न करने वाला था । सत्यवती की माता ने उससे चरु बदल लेने के लिए आग्रह किया । उसके पति जब लौटे तो उन्होंने इस कार्य के लिए उसकी भर्त्सना की । मैं मूल पाठ को यहाँ उद्धृत करता हूँ :—

वि० पु० ४. ७, १४. "अति पापे किम् इदम् अकार्य्यम् भवत्या कृतम् । अतिरौद्रं ते वपुर् आलक्ष्यते । नूनं त्वया त्वन्-मातृ-सत्कृतश् चरुर् उपयुक्त' (? उपभुक्त') न युक्तम् एतत । १५. मया हि तत्र चरौ सकला एव शौर्य्य-वीर्य्य-बल-सम्पद् आरोपिता त्वदीये चराव् अप्य् अखिल-शान्ति-ज्ञान-तितिक्षादिका ब्राह्मण-सम्पत । एतच् च विपरीतं कुर्वत्यास् तव अतिरौद्रास्त्र-धारण-मारण-निष्ठ-क्षत्रियाचार पुत्रो भविष्यत्य् अस्याश् च उपशम-रुचिर् ब्राह्मणाचार. ।" इत्य् आकर्ण्य एव सा तस्य पादौ जग्राह प्रणिपत्य च एनम् आह 'भगवन् मया एतद् अज्ञानाद् अनुष्ठितम् । प्रसादं मे कुरु । मा एवंविधः पुत्रो भवतु । कामम् एवंविध' पौत्रो भवतु ।" इत्य् उक्तो मुनिर् अप्य् आह "एवम् अस्त्व्" इति । १६. अनन्तर च सा जमदग्निम् अजीजनत् तन्माता च विश्वामित्र जनयामास । सत्यवती च कौशिकी नाम नद्य् अभवत् । जमदग्निर् इक्ष्वाकु-वंशोद्भवस्य रेणोस् तनया रेणुकाम् उपयेमे तस्यां च अशेष-क्षत्र-वश-हन्तारम् परशुराम सज्ञम भगवतः सकल-लोक-गुरोर् नारायणस्य अंश जमदग्निर् अजीजनत् । विश्वामित्र-पुत्रस् तु भार्गवः एव शुनःशेपो नाम देवैर् दत्तः । ततश् च देवरात-नामाऽभवत् । ततश् च अन्ये मधुच्छन्द-जयकृत-देवदेव-अष्टक-कच्छप-हारीतकाख्याः विश्वामित्र-पुत्राः बभूवुः । १७. तेषां च बहूनि कौशिक-गोत्राणि ऋष्यन्तरेषु वैवाह्यानि भवन्ति ।

"'पापिनि, तूने यह कौन अपराध कर डाला? मै तेरे शरीर को उग्र रूप वाला देखता हूँ। तूने निश्चय ही अपनी माता के लिए वनाया गया चरु खा लिया है। यह अनुचित हुआ। क्योंकि उस चरु में मैने वीरता, शौर्य और वल के गुण आरोपित किये थे और तेरे चरु में शान्ति, ज्ञान, धैर्य आदि ब्राह्मण के गुण निहित किये थे। यतः तूने मेरी योजना के विपरीत कार्य किया है अतः तुझे इस प्रकार का पुत्र उत्पन्न होगा, जो एक क्षत्रिय का भीषण, युद्ध और हिंसा का जीवन व्यतीत करेगा, और तेरी माता का पुत्र एक ब्राह्मण का शान्तिमय स्वभाव प्रदर्शित करेगा।' यह सुनते ही सत्यवती गिर पडी और उसने अपने पति के चरणों को पकड कर कहा: 'मेरे स्वामी! मैने अज्ञानवश ऐसा किया है, मुझ पर कृपा करें, इस प्रकार का पुत्र मुझे न हो, यदि आप प्रसन्न हों तो इस प्रकार का पौत्र ही मुझे दें।' यह सुन कर मुनि ने उत्तर दिया 'ऐसा ही हो।' परिणाम स्वरूप उसने जमदग्नि को जन्म दिया और उसकी माता ने विश्वामित्र को। सत्यवती कौशिकी नाम की नदी हुई। जमदग्नि ने इक्ष्वाकुवंशीय रेणु की पुत्री रेणुका से विवाह किया और उससे परशुराम नाम का पुत्र उत्पन्न किया जो सम्पूर्ण क्षत्रिय जाति के संहारक, और विश्व के स्वामी भगवान् नारायण के अंश थे।[१४६] विश्वामित्र को देवताओं ने भृगु-वंश का शुनःशेप नाम का पुत्र दिया, जिसका नाम उपर्युक्त कारण वश देवरात (देवों द्वारा दिया गया) पडा। तव मधुच्छन्दस्, जयकृत, देवदेव, अष्टक, कच्छप, हारीतक इत्यादि विश्वामित्र के पुत्र उत्पन्न हुए। उनसे कौशिकों का वंश हुआ, जिनमें और अन्य ऋषियों मे अन्तर्विवाह होते थे।"

हरिवंश, श्लोक १४२५ आदि में, इसी प्रकार का वर्णन दिया गया है, किन्तु उसमें विश्वामित्र के पितामह कुशिक वताए गये है कुशाम्ब नहीं:

कुश-पुत्राः बभूवुर् हि चत्वारो देव-वर्चसः। कुशिकः कुशनाभश् च कुशाम्बो मूर्तिमास् तथा। पह्लवैः सह संवृद्धो राजा वन-चरैस् तदा। कुशिकस् तु तपस् तेपे पुत्रम् इन्द्र-समं विभुः। लभेयम् इति तं शक्रस् त्रासाद् अभ्येत्य जज्ञिवान्। पूर्णे वर्ष-सहस्रे वै तं तु शक्रोह्य् अपश्यत।

[१४६] भागवत पुराण १ ३, २० के अनुसार परशुराम विष्णु के सोलहवें अवतार थे अवतारे षोडशमे पश्यन् ब्रह्म-द्रुहो नृपान्। त्रिस्सप्तकृत्व कुपितो निःक्षत्राम् अकरोद् महीम्। "अपने सोलहवे अवतार मे यह देखकर राजा ब्राह्मणो पर अत्याचार करते थे, उन्होने क्रुद्ध होकर पृथिवी को इक्कीस वार क्षत्रियो से शून्य कर दिया।"

अत्य उग्रे-तपसं दृष्ट्वा सहस्राक्षः पुरन्दरः। समर्थः पुत्र-जनने स्वम् एवांशम् अवासयत्। पुत्रत्वे कल्पयामास स देवेन्द्रः सुरोत्तमः। स गाधिर् अभवद् राजा मघवान् कौशिकः स्वयम्। पौरुकुत्स्य् अभवद् भार्या गाधिस् तस्याम् अजायत।

"कुश के देवताओं के समान तेजवाले चार पुत्र थे : कुशिक, कुशनाभ, कुशाम्ब और मूर्तिमत्। वनों मे निवास करनेवाले पह्लवों में बढ़कर तेजस्वी राजा ने इन्द्र के समान पुत्र प्राप्त करने की इच्छा से उग्र तप किया, भय से इन्द्र आये और उत्पन्न हुए। एक सहस्र वर्ष व्यतीत होने पर शक्र (इन्द्र) ने उन्हें देखा। उनके उग्र तप की महानता को देखकर सहस्र नेत्रोंवाले, पुरों का नाश करनेवाले, देवों के देवता, देवताओं मे सर्वश्रेष्ठ, और प्रजा-उत्पत्ति मे समर्थ इन्द्र ने अपने एक अंश को प्रविष्ट किया और उसे पुत्र का रूप दे दिया, और इस प्रकार स्वयं मघवा कुशिक के पुत्र गाधि हुए। पौरुकुत्सी कुशिक की पत्नी थी और उससे गाधि उत्पन्न हुए।" तब हरिवंश में जमदग्नि और विश्वामित्र के जन्म सम्बन्धी ऊपर विष्णु पुराण से उद्धृत की गई कथा के समान कथा कही गई है। तदनन्तर आगे श्लोक १४५६ आदि में इस प्रकार कहा गया है :—

और्वस्यैवम् ऋचीकस्य सत्यवत्याम् महायशाः। जमदग्निस् तपोवीर्य्याज् जज्ञे ब्रह्म-विदां वरः। मध्यमश् च शुनश्शेफः शुनः-पुच्छः कनिष्ठकः। विश्वामित्रं तु दायादम् गाधिः कुशिक-नन्दनः। जनयामास पुत्रं तु तपो-विद्या-समात्मकम्। प्राप्य ब्रह्मर्षि-समतां योऽयम् सप्तर्षितां गतः। विश्वामित्रस् तु धर्मात्मा नाम्ना विश्वरथः स्मृतः। जज्ञे भृगु-प्रसादेन कौशिकाद् वंश-वर्द्धनः। विश्वामित्रस्य च सुताः देवरातादयः स्मृताः। विख्यातास् त्रिषु लोकेषु तेषां नामानि वै शृणु। देवश्रवाः कतिश् चैव यस्मात् कात्यायनाः स्मृताः। शालावत्यां हिरण्याक्षो रेणोर् जज्ञेऽथ रेणुमान्। साङ्कृतिर् गालवश् चैव मुद्गलश् चेति विश्रुताः। मधुच्छन्दो जयश् चैव देवलश् च तथाऽष्टकः। कच्छपो हारितश् चैव विश्वामित्रस्य ते सुताः। तेषां ख्यातानि गोत्राणि कौशिकानाम् महात्मानाम्। पाणिनो बभ्रवश् चैव ध्यानजप्यास् तथैव च। पार्थिवाः देवरानाश् च शालङ्कायन-वास्कलाः। लोहिताः यामदूताश् च तथा कारीषयः स्मृताः। सौश्रुताः कौशिकाः राजंस् तथाऽन्ये सैन्धवायनाः। देवलाः रेणवश् चैव याज्ञवल्क्याघमर्षणाः। औदुम्बरा ह्य् अभिष्णातास् तारकायण-चुञ्चुलाः। शालावत्याः हिरण्याक्षाः साङ्कृत्याः गालवास्

अनेक ऐसे कौशिकों का भी वर्णन मिलता है जिन्होंने अन्य ऋषियों के वंश मे विवाह संबन्ध जोडे। पौरव तथा कौशिक ब्रह्मर्षियों के इस वंश में ब्राह्मणों एव क्षत्रियों के बीच सम्बन्ध होना सुविदित है। शुन.शेप, जो भृगु के वंशज थे और जिन्होंने कौशिक का पद प्राप्त किया, विश्वामित्र के पुत्रों मे ज्येष्ठ कहे गये है।"

यह द्रष्टव्य है कि इस अंश मे देवश्रवस् को विश्वामित्र का एक पुत्र बताया गया है। जैसा कि हम पहले देख चुके है, एक देवश्रवस् का उल्लेख ऋग्वेद ३. २३, २ मे देववात के साथ एक भरत रूप मे किया गया है। हरिवश मे देववात तो नही है किन्तु देवरात है जिन्हे शुन.शेप से अभिन्न दर्शाया गया है। जैसा कि हम देखेंगे, ऐतरेय ब्राह्मण मे भी यही बात है।

ऊपर क्रमशः विष्णुपुराण तथा हरिवंश के २७वें अध्याय से उद्धृत किये गये दोनों अशों मे दी गई वंशावली मे विश्वामित्र को पुरुरवस् के तीसरे पुत्र अमावसु का वंशज कहा गया है। हरिवंश के ३२ वें अध्याय मे हम एक भिन्न वर्णन पाते है। उसमे पहले के समान ही विश्वामित्र का वंशक्रम जह्नु तक बताया गया है, किन्तु जह्नु को पुरुरवस् के तीसरे पुत्र, अमावसु, का वंशज नहीं दर्शाया गया है। परन्तु (जैसा कि पहले के वर्णन से प्रकट होता है) उसे राजा के ज्येष्ठ पुत्र आयुस् का तथा आयुस् के प्रपौत्र पुरु का वंशज बताया गया है। प्रोफेसर विलसन (विष्णु पुराण, ४ पेजी, पृ० ४५१ टिप्पणी २३) का विचार है कि यह भ्रम सुहोत्र नाम के विभिन्न वशावलियों मे पुन. पुन. आने और इस नाम के एक राजा को, जो वस्तुतः दूसरे वश से उत्पन्न हुआ था, इस वश का मान लेने से उठ खड़ा हुआ है। फिर भी यह स्पष्ट नहीं है कि विष्णु पुराण में दी गई वशावली सही है। कारण, जैसा कि हम देख चुके है, ऋग्वेद में उन्हें भरतों से सबद्ध किया गया है और ऐतरेय ब्राह्मण से जो अंश उद्धृत किया जायगा उसमे उन्हें भरत और उनके पुत्रों को कुशिक कहा गया है। और विष्णुपुराण (विलसन, वि० पु०, ४ पेजी, पृ० ४४९) तथा हरिवंश (खण्ड ३२ श्लोक १७२३ तथा पहले आया हुआ वर्णन) दोनों में भरत को आयु और पुरु का वशज कहा गया है। इसके अनुसार हम देख चुके है कि हरिवश मे विश्वामित्र को एक साथ ही पौरव और कौशिक भी कहा गया है।

हरिवश के ३२वें खण्ड मे आई हुई वंशावली के समान ही एक वशावली

उनके मौलिक सस्थापक मे धर्म की शिक्षा देने और शास्त्र रचना करने के ब्राह्मणीय एकाधिकार मे क्षत्रियो का हस्तक्षेप अन्तर्निहित है।"

महाभारत, अनुशासनपर्व ४, २ आदि मे दी गई है, जहाँ विश्वामित्र एक पुरोहित से (भरतस्यान्वये चैवाजमीढो नाम पार्थिवः वभूव भरत-श्रेष्ठ यज्वा धर्म-भृतां वरः) (१) जह्नु (२) सिन्धुद्वीप (३) वलाकश्व, (४) कुशिक (५) गाधि के वाद उत्पन्न हुए थे।

जैसा कि मैने अभी दर्शाया है, विश्वामित्र और उनके वंश के लिये प्रयुक्त एक नाम भरत[550] है। ऋग्वेद के तृतीय मण्डल के ५३वें सूक्त के अन्तिम चार मन्त्र, जिन्हें वसिष्ठ के विरुद्ध विश्वामित्र द्वारा उक्त निन्दा वचन से युक्त कहा जाता है, इस प्रकार हैं : ३. ५३, २४. इमे इन्द्र भरतस्य पुत्राः अपपित्वा चिकितुर् न प्रपित्वम्। "हे इन्द्र! ये भरत के पुत्र (वसिष्ठों) से दूर रहना चाहते है उनके निकट जाना नहीं चाहते।" सायण ने इन शब्दों की इस प्रकार व्याख्या की है : भरतस्य पुत्राः भरत-वंश्या' इमे विश्वामित्राः अपपित्वम् अपगमन वसिष्ठेभ्यश् चिकितुर् न प्रपित्वम्। (व) सिष्ठैः सह तेषां सङ्गतिर् नास्ति। ब्राह्मणाः एव इत्य् अर्हतः। "भरत के ये पुत्र, उनके वश के पुरुष वसिष्ठों से दूर रहना और उनके निकट न जाना जानते है। वे वसिष्ठों से सम्पर्क नहीं रखते। इसका अर्थ यह है कि वे ब्राह्मण है।"

जैसा कि हम ऊपर देख चुके है विश्वामित्र ने जब विपाश् और शुतुद्री को पार करने की इच्छा की तो उनके साथ भरत नाम के ही लोग थे और ऋग्वेद ३. २३, २ में देवश्रवस् और देववात को भरत कहा गया है। दूसरी ओर वसिष्ठ द्वारा रचित कहे गये एक सूक्त (ऋग्वेद ७ ३३, ६) में भरतों को तृत्सुओं का, जिस जाति के वसिष्ठ थे, शत्रु कहा गया है।

ऐतरेय ब्राह्मण ७. १३-१८[551] में कही गई शुनःशेप की कथा में विश्वामित्र को राजा हरिश्चन्द्र का होतृ-ऋत्विक और भरतों की जाति का कहा गया है। उन्हें 'राजपुत्र' कहकर सम्बोधित किया गया है और उनके

---

[550] देखिए रॉथ का लेक्सिकन, भरत के अन्तर्गत (७) "उस जाति के पूर्वज, एक नायक का नाम। उनके पुत्रो को विश्वामित्र और उसके कुल के व्यक्तियो को भरत कहते है।"

[551] इस आख्यान का जर्मन मे अनुवाद प्रो० रॉथ ने वेवर के इण्ड०स्टू० १ ४५७ आदि मे किया है, अंग्रेजी मे प्रो० विल्सन ने ज० रा० ए० सो० भाग १३ वर्ष १८५१ पृ० ९६ पर डॉ० हाग ने अपने ऐत० ब्रा० भाग २ पृ० ४६० आदि पर, प्रो० डालर ने अपने एश० स० लिट् पृ० ४०८ आदि पर और लैटिन मे टॉ० स्ट्राइटर ने अपने "डिस्स०डे सुन शेयो" मे किया है।

पुत्रों को कुशिक कहा गया है। कथा की रूपरेखा इस प्रकार है : इक्ष्वाकुवंश के नि.सन्तान राजा हरिश्चन्द्र ने नारद की सम्मति से, वरुण के लिये यह वचन दिया कि यदि उन्हें पुत्र उत्पन्न हुआ तो वे उसे उस देवता के लिए बलि दे देंगे। फलत. राजा के एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम रोहित पड़ा। किन्तु समय-समय पर वरुण के स्मरण दिलाने पर भी हरिश्चन्द्र अपने वचन को पूर्ण करना टालते रहे। जब अन्त मे पिता सहमत हुए तो पुत्र ने बलि चढ़ना अस्वीकार कर दिया और वन में चला गया। वहाँ छः वर्ष व्यतीत करने के उपरान्त वह अजीगर्त नाम के एक दरिद्र ब्राह्मण से मिला, जिसके तीन पुत्र थे, उनमे दूसरे पुत्र शुनश्शेप को उसने सौ गायों पर रोहित के हाथ बेच दिया, जो उस ब्राह्मण बालक को अपने स्थान पर बलि देने के लिए ले आया। वरुण ने इस बलि को स्वीकार कर लिया और उसका वध करने का आयोजन हो गया। "विश्वामित्र होता थे, जमदग्नि अध्वर्यु, वसिष्ठ ब्रह्मन् और अयास्य उद्गाता थे (तस्य ह विश्वामित्रो होता आसीज् जमदग्निर् अध्वर्युर् वसिष्ठो। ब्रह्मा अयास्य' उद्गाता)"। किन्तु यह यज्ञ पूरा नहीं हुआ यद्यपि पिता को अपने पुत्र को यूप से बाँधने के लिए एक सौ और गायें तथा उसका वध करने के लिए एक गायें और दी गई। अनेक देवताओं की स्तुति मे मन्त्रों का उच्चारण करने से शुनश्शेप मुक्त हो गया, और ऋत्विजों के कहने से उस दिन के यज्ञ मे भाग लिया। कथा का शेष भाग में विस्तृत रूप में उद्धृत करता हूँ :

१७. अथ ह शुनःशेपो विश्वामित्रस्याङ्कम् आससाद। स ह उवाच अजीगर्त्त' सौयवसिर् "ऋषे पुनर् मे पुत्र देहि" इति। "न" इति ह उवाच विश्वामित्रो "देवाः वै इमम् मह्यम् अरासत" इति। स ह देवरातो वैश्वामित्र' आस। तस्य एते कापिलेयो-बाभ्रवाः। स ह उवाच अजीगर्त्तः सौयवसिस् "त्वं वेहि विह्वयावहै" इति। स ह उवाच अजीगर्त्त। सौयवसिर् "आङ्गिरसो जन्मनाऽस्य् आजीगर्त्तिः श्रुत' कवि'। ऋषे पैतामहात् तन्तोर् माऽपगाः पुनर् एहि माम्" इति। स ह उवाच शुन' शेप' "अदर्शुस् त्वा शासहस्तं न यच् छूद्रेष्व् अलप्सत। गवां त्रीणि शतानि त्वम् अवृणीथाः मद् अङ्गिरः" इति। स ह उवाच अजीगर्त्तः सौयवसिस् "तद् वै मा तात तपति पाप कर्म मया कृतम्। तद् अहं निह्नवे तुभ्यम् प्रतियन्तु शता गवाम्" इति। स ह उवाच शुनःशेपः "य. सकृत् पापकं कुर्यात् कुर्याद् एनत् ततोऽपरम्। नापगाः शौद्रान्यायाद् असन्धेयं त्वया कृतम्" इति। "असन्धेयम्" इति ह विश्वामित्रः उपपपाद। स ह उवाच विश्वामित्रः "भीम' एव सौयवसिः

शासेन विशिशासिषुः। अस्थाद् मैतस्य पुत्रो भूर् ममैवोपेहि पुत्रताम्" इति। स ह उवाच शुनःशेपः "स वै यथा नो ज्ञापया राजपुत्र तथ ावद। यथैवाङ्गिरसः सन्न उपेयां तव पुत्रताम्" इति। स ह उवाच विश्वामित्रो "ज्येष्ठो मे त्वम् पुत्राणां स्यास तव श्रेष्ठा प्रजा स्यात्। उपेयाः दैवम् मे दायं तेन वै त्वोपमन्त्रये" इति। स ह उवाच शुनःशेपः "संज्ञानानेषु वै ब्रूयात् सौहार्द्याय मे श्रियै। यथाऽहम् भरत-ऋषभ उपेयां तव पुत्रताम्" इति। अथ ह विश्वामित्रः पुत्रान् आमन्त्रयान्नास "मधुच्छन्दाः शृणोतन ऋषभो रेणुर् अष्टकः। ये के च भ्रातराः स्थान अस्मै ज्यैष्ठ्याय कल्पध्वम्" इति। १८. तस्य ह विश्वामित्रस्य एक-शतम् पुत्राः आसुः पञ्चाशद् एव ज्यायांसो मधुच्छन्दसः पञ्चाशत् कनीयांसः। तद् ये ज्यायांसो न ते कुशलम् मेनिरे। तान् अनुव्याजहार "अन्तान् वः प्रजा भक्षीष्ट" इति। ते एतेऽन्ध्राः पुण्ड्राः शबराः पुलिन्दाः मूतिबाः इत्य् उदन्त्या बहवो भवन्ति। वैश्वामित्राः दस्यूनाम् भूयिष्ठाः। स ह उवाच मधुच्छन्दाः पञ्चाशता सार्धम् "यद् नः पिता सजानीते तस्मिस् तिष्ठामहे वयम्। पुरस् त्वा सर्वे कुर्महे त्वाम् अन्वञ्चो वयं स्मसि" इति। अथ ह विश्वामित्रः प्रतीतः पुत्रांस् तुष्टाव "ते वै पुत्राः पशुमन्तो वीरवन्तो भविष्यथ। ये मानम् मेऽनुगृह्णन्तो वीरवन्तम् अकर्त्त मा। पुर-एत्रा वीरवन्तो देवरातेन गाथिनाः। सर्वे राध्याः स्थपुत्राः एष वः सद्-विवाचनम्। एष वः कुशिकाः वीरो देवरातस् तम् अन्वित। युष्मास् दायम् मे उपेता विद्यां याम् उ च विद्मसि। ते सम्यञ्चो वैश्वामित्रा सर्वे साकं सरातयः। देवराताय तस्थिरे धृत्यै श्रैष्ठ्याय गाथिनाः। अधीयत देवरातो ऋक्थयोर् उभयोर् ऋषिः। जह्नूनां चाधिपत्ये दैवे वेदे च गाथिनाम्।

"शुन.शेप विश्वामित्र की ओर आया; सुयवस के पुत्र अजीगर्त्त ने कहा, 'ऋषि ! मेरा पुत्र मुझे लौटा दीजिए।' विश्वामित्र ने कहा 'नहीं, देवताओं ने इसे मुझे दिया है (देवाः अरासत); अतएव वह विश्वामित्र का पुत्र देवरात हो गया।' कापिलेय और बाभ्रव उसके वंशज हैं। अजीगर्त्त ने विश्वामित्र से कहा, 'आएँ, हम दोनों इसे अपने निकट बुलावें।'[152] उसने (तब) अपने

[152] मैंने यहाँ प्रोफ़ेसर वेबर द्वारा इण्डिशे स्टूडिएन ९ ३१६ मे डॉ० हाग के ऐतरेय ब्राह्मण की समीक्षा प्रो० वेबर द्वारा दी गई व्याख्या शैली का (जो शाङ्खायन ब्राह्मण के भाष्यकार की शैली है) अनुकरण किया है। प्रो० वेबर का कथन है कि ब्राह्मणो मे ह्व+वि धातु का दो ऐसे व्यक्तियो के एक दूसरे

पुत्र से कहा : 'तुम एक आङ्गिरस और प्रसिद्ध ऋषि अजीगर्त्त के पुत्र हो, हे ऋषि ! तुम अपने पूर्वजों के वंश को मत छोड़ो; मेरे पास लौट आओ ।' शुन.शेप ने उत्तर दिया . 'उन्होंने आपको हाथ मे बलि देने के लिये शस्त्र लिए हुए देखा है—जो शूद्रों मे भी नहीं दिखाई पड़ता । हे अङ्गिरस् ! आप तीन सौ गायें लेना मेरी अपेक्षा उचित समझते हैं ।' अजीगर्त्त ने कहा · 'मेरे पुत्र ! जो पापकर्म मैंने किया है वह मुझे सन्ताप दे रहा है, मैं उसे त्याग रहा हूँ । मैं ये (तीन) सौ गाएं उसे लौटा रहा हूँ जिसने (मुझे दिया है)' ।[153] शुन शेप ने उत्तर दिया : 'जिसने एक बार पाप किया वह दूसरा पापकर्म भी कर सकता है, आप अभी उसी पापकर्म से मुक्त नहीं हैं जो एक शूद्र के योग्य ही है । आपने ऐसा कर्म किया है जिसका प्रायश्चित नहीं हो सकता।' 'जिसका प्रायश्चित नहीं हो सकता' विश्वामित्र ने भी कहा और वे आगे बोले 'तुम्हारा वध करने के लिए सुयवस् का पुत्र जब छुरा लेकर खड़ा हुआ तो वह भयकर दिखाई पड़ रहा था, उसके पुत्र मत बने रहो, मेरे पुत्र हो जाओ ।' शुनःशेप ने उत्तर दिया : 'हे राजा के पुत्र (राजपुत्र) मैं अङ्गिरस होते हुए भी आपका पुत्र हो जाऊँ इसके लिये आप जो कहना चाहें वह कहें ।' विश्वामित्र ने कहा : 'तुम मेरे ज्येष्ठ पुत्र होओगे और तुम्हारे पुत्र अत्यधिक प्रतापी होंगे । तुम मेरा दैवी उत्तराधिकार प्राप्त करोगे, इस (आमन्त्रण) के साथ मैं तुम्हें बुलाता हूँ ।' शुनःशेप ने उत्तर दिया . 'यदि (आपके पुत्र) सहमत हों, तो मेरे कल्याण के लिए उन्हें सौहार्द्रपूर्ण बनने को कहिए जिससे, हे भरतों में श्रेष्ठ ! मैं आपका पुत्र हो जाऊँ ।' विश्वामित्र ने अपने पुत्रों से कहा : 'मधुच्छन्दस्, ऋषभ, रेणु, अष्टक और सभी भाइयो ! मेरी बात सुनो और उसे ज्येष्ठ मानो ।' १८. विश्वा-

---

के विरोधी आह्वान के लिये प्रयुक्त होता है, जो एक तीसरे व्यक्ति को अपनी ओर ले आने का प्रयत्न करते हैं । इसके प्रमाण मे वे तै० सं० ६ १, ६, ६ तथा श० ब्रा० ३, २, ४, ४ तथा २२ का उद्धरण देते हैं । प्रो० रॉथ, विलसन तथा मूलर एव डॉ० हाग इन शब्दो को शुन.शेप के प्रति उसके पिता द्वारा मानते और यह अर्थ लगाते हैं "हम भी (मैं और तेरी माता तुझे अपने निकट आने के लिये) बुलाते हैं या बुलायेंगे ।" यह द्रष्टव्य है कि आगे अजीगर्त द्वारा कहे गये वचन के पूर्व, जो शुन.शेप के प्रति है, प्रचलित मत्र 'स ह उवाच अजीगर्त' सौयवसि." आता है जिसका अर्थ है "सौयवसि के पुत्र अजीगर्त ने कहा" । यदि दोनो वाक्य एक ही व्यक्ति के प्रति उक्त होते तो ऐसी बात नही होती ।

[153] यहाँ भी मैंने वेवर इण्ड० स्टू० ९ पृ० ३१७ का अनुकरण किया है ।

मित्र के सौ पुत्र थे जिनमें से पचास मधुच्छन्दस् से ज्येष्ठ थे और पचास छोटे। उनमें से जो बड़े थे उन्होंने अपने पिता का प्रस्ताव नहीं स्वीकार किया। उनके प्रति विश्वामित्र ने यह क्रोधपूर्ण वचन कहा. 'तुम्हारी सन्तानें देश के अन्तिम किनारे पर जाँय।' अन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द, मूतिब, ये अनेक सीमा पर निवास करने वाली जातियाँ हैं। अधिकांश दस्यु विश्वामित्र से उत्पन्न हुए हैं।[१५४] मधुच्छन्दस् ने अन्य पचास भाइयों से कहा, 'हमारे पिता जो कहते हैं, हम उसका पालन करेंगे। हम सब तुम्हें अपने सम्मुख रखते हैं, और तुम्हारे पीछे चलते हैं।' तब विश्वामित्र प्रसन्न हुए, और उन्होंने अपने पुत्रों से कहा : 'मेरे पुत्रों! तुमने मेरी आज्ञा मानकर मुझे एक (नया) पुत्र दिया है, अतः पशुओं और प्रजाओं से तुम लोग समृद्धिशाली बनोगे। मेरे पुत्रों, गाथिन् की सन्तानों तुम, जो देवरात को अपना नेता स्वीकार करते हो, सभी समृद्धिशाली होओगे। वह तुम्हारा बुद्धिमान् उपदेशक है। हे कुशिकों, यह देवरात तुम्हारा नेता है, उसका अनुगमन करो। वह तुम लोगों को मेरे उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त करेगा और हमारा सभी ज्ञान उसे मिल जायगा।' विश्वामित्र के इन सभी गाथिवंशी पुत्रों ने सौहार्द और प्रेमपूर्वक देवरात के नियन्त्रण और उसकी श्रेष्ठता को स्वीकार किया। ऋषि देवरात, जह्नु के राज्य तथा गाथियों के वेद-ज्ञान, दोनों से युक्त हुए।'

इस आख्यान पर प्रोफेसर मूलर ने (ऐ०. सं., पृ० ४१५ आदि) अन्य बातों के साथ यह टिप्पणी की है : 'ब्राह्मण में अजीगर्त का वर्णन इतने विरोध-

---

[१५४] देखिए वेबर, इण्ड० स्टू० ९ पृ० ३१७ आदि तथा रॉथ के लेक्सिकन में 'अब्त' तथा 'उदन्त्य' के अन्तर्गत।

[१५५] कदाचित् इस आख्यान का उल्लेख काठक ब्राह्मण १९ ११ में किया गया है, जिसे प्रो० वेबर ने इण्ड० स्टू० ३ ४७८ में उद्धृत किया है, शुन शेपो वै एताम् अजीगर्त्तिर् वरुण-गृहीतोऽपश्यत्। तया स वै वरुण-पाशाद् अमुच्यत।" अजीगर्त के पुत्र शुन शेप, जिसे वरुण ने पाशबद्ध किया था, इस (मन्त्र) के द्रष्टा है, और इसके द्वारा वरुण के पाशो से मुक्त हुए थे। मनु भी इस कथा का वर्णन करते है, १० १०५ ' अजीगर्त्त सुत हन्तुम् उपसर्पद् बुभुक्षित। न चालिप्यत पापेन क्षुत्-प्रतीकारम् आचरन्।" दुर्भिक्षपीडित अजीगर्त अपने ही, पुत्र का वध करने को उद्यत हुआ, और (ऐसा करने पर) उसे पाप न लगा क्योंकि वह क्षुधाशान्ति का साधन ढूँढ रहा था।" इस प्रकार कुल्लूक टीका करते है : ऋषिर् अजीगर्त्ताख्यो बुभुक्षित सन् पुत्रं शुन'शेप-नामान विक्रीतवान् यज्ञे गो-शत-लाभाय यज्ञ-यूपे बद्ध्वा विशसिता भूत्वा हन्तुम् प्रचक्रमे। न च क्षुत्-प्रतीकारार्थ

पूर्ण ढंग से दिया गया है कि हम उनमें भारत की अनार्य जाति का प्रतिरूप देख सकते हैं। इस प्रकार की कल्पना इस आख्यान के अनेक महत्वपूर्ण विषयों, विशेषतः शुनःशेप के विश्वामित्र द्वारा दत्तक पुत्र बनाये जाने के विरुद्ध जा पड़ती है। यद्यपि विश्वामित्र ने ब्राह्मण का पद प्राप्त कर लिया था, तथापि प्रसिद्ध अङ्गिरस ब्राह्मण वंश के शुन.शेप देवरात को दत्तक पुत्र बनाना स्पष्टतः अपने और अपने वंश के लिए गौरवप्रद समझते थे, और निःसन्देह देवरातों का विश्वामित्रों के प्रसिद्ध गोत्र के रूप में उल्लेख किया गया है (विष्णु पु० पृ० ४०५, २३)। शुन.शेप उनके ज्येष्ठ पुत्र और अपने भाइयों के नेता बनाये गये और स्पष्टतः वे उनके ब्राह्मणत्व के रक्षक और निर्वाह करनेवाले बने, जो कुछ ही दिन पूर्व उन्होंने प्राप्त किया होगा, क्योंकि स्वयं विश्वामित्र को शुनःशेप 'राजपुत्र' और 'भरत-ऋषभ' कह कर सबोधित करते है। यह स्मरणीय है कि ब्राह्मण मे यह कथा जिस रूप मे कही गई है वह कदाचित् ही ऐतिहासिक मानी जा सकती है। और यह मनना तर्कविरुद्ध नहीं होगा कि जिन घटनाओं का वर्णन किया गया है, वे यद्यपि तथ्यों पर आश्रित है, तथापि वे कथाकार की ब्राह्मणीय पूर्वाग्रहों द्वारा रञ्जित की गई होंगी। किन्तु यदि ऐसी बात हो तो यह आख्यान उस धारणा का यथार्थ परिचय नहीं दे सकता जो विश्वामित्र के पौरोहित्य-कर्म के विषय में स्वयं वे या उनके समकालीन व्यक्ति रखते थे।'

इन्डिशे स्टूडियन, २. ११२–१२३, में यह कथा प्रोफेसर रॉथ की एक रोचक विवेचना का विषय है जो निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं :—

तथा कुर्वन् पापेन लिप्तः। एतच् च बह्वृच ब्राह्मणे शुनश्शेपाख्यानेषु व्यक्तम् उक्तम्। "अजीगर्त नाम के ऋषि ने बुभुक्षित होने पर एक यज्ञ मे सौ गाएँ प्राप्त करने के लिए अपने शुनःशेप नाम के पुत्र को बेच दिया, उसे यूप से बाँधा और वधिक के रूप मे उसका वध करने को उद्यत हुआ। इस प्रकार भूख से बचने का उपाय करने पर उसे पाप न लगा। इसका स्पष्ट वर्णन शुन शेप के आख्यान के रूप मे बह्वृच (ऐतरेय) ब्राह्मण मे "किया गया है।" ब्राह्मणो के कथाकार अजीगर्त के इस व्यवहार के प्रति उतनी उदारता नही दिखाते जितनी मनु ने दिखाई है। (देखिए मूलर का ऐ० स० लिट्०, पृ० ४१५)। मनुस्मृति का संकलनकर्ता उस युग मे हुआ था जिसमे यह सोचा जाता था कि ऋषि पापकर्म नही कर सकता। भागवत पुराण ९, खण्ड ७, तथा १६, श्लोक ३०–३७ कथा का रूप ऐतरेय ब्राह्मण की कथा के समान ही देता है। किन्तु, जैसा कि हम आगे के खण्ड मे देखेंगे, रामायण मे कुछ घटनाओ का भिन्न रूप से वर्णन किया गया है।

"(१) शुनःशेप के सबसे प्राचीन आख्यान में (जो ऋग्वेद १. २४, ११–३[१५६] तथा ५. २, ७ में उल्लिखित है) मृत्युभय से दैवी सहायता द्वारा मुक्ति प्राप्त होने का वर्णन है।

"(२) यह कथा आगे चल कर शुनःशेप के यज्ञिय पशुरूप में बलपूर्वक वध करने तथा विश्वामित्र द्वारा उसका उद्धार किये जाने के वर्णन के रूप में उभरती है।

"(३) यह वध की कथा दो पाठों में विभक्त हो जाती है जिसका प्राचीनतम रूप क्रमशः ऐतरेय ब्राह्मण और रामायण की कथाओं में मिलता है।

"(४) दूसरा पाठ अन्ततः प्रमुख बन जाता है, किन्तु इसका केन्द्र-विन्दु वध से मुक्ति नहीं है अपितु शुनःशेप का, या (व्यक्तियों के परिवर्तन से) ऋचीक का, कुशिकों के वंश में प्रवेश है। इस प्रकार, अन्त में यह विश्वामित्र के वंश का कुलसंबन्धी आख्यान बन जाता है।

"इस प्रकार, यहाँ कोई ऐतिहासिक और कदाचित वंशावली संबन्धी निष्कर्ष भी नहीं उपलब्ध हो सकता। दूसरी ओर, यह कथा उन कथाओं के चक्र में प्रमुख स्थान प्राप्त करती है जिनमें पौरोहित्य साहित्य ने विश्वामित्र के स्वरूप एवं कर्त्तृत्व के विषय में अपने विचार व्यक्त किये हैं।"

महाभारत के आदिपर्व, ९४.४ और बाद आदि[१५७] के एक अंश में, जिसमें पुरु के वंशजों का उल्लेख है, हम दुष्यन्त के पुत्र भरत (श्लोक १९) को भी पाते हैं, जिससे (१) भुमन्यु, (२) सुहोत्र (३) अजमीढ तथा (४) जह्नु को वंशक्रम से उत्पन्न कहा गया है (श्लोक २३. ३३)। अन्तिम राजा तथा उसके भाई, व्रजन और रूपिन, को कुशिकों का पूर्वज कहा गया है (श्लोक ३४ और बाद : अन्वयाः कुशिका. राजन् जह्नोर् अमित-तेजस.। व्रजन रूपिणोः) जो इस कारण इस अंश के अनुसार भी भरतों के वंशज थे (देखिए ऊपर ३९९)। महाभारत में आगे कहा गया है कि ऋत्त के ज्येष्ठ भ्राता जह्नु के पुत्र संवरण के राज्य में, जिस देश का वह शासक था, वह अनेक विपत्तियों से आपन्न था (श्लोक ३६ और बाद)। कथा आगे इस प्रकार है, ९४. ३७ :

अभ्यघ्नन् भारतांश् चैव सपत्नानाम् बलानि च। चालयन् वसुधां

---

[१५६] शुन शेप के सूक्तो पर रोजेन की टिप्पणी से तुलना कीजिए ऋग्वेद, एन्नोटेशन्स पृ० ५५। उनका विचार है कि उनमे ऐसी कोई बात नही है जिससे यह विश्वास उत्पन्न हो कि उनका रामायण और ऐत० ब्रा० के आख्यान से कोई सबन्ध है।

[१५७] रॉथ. लिट्० शु० गेस्० डेस वेद, पृ० १४२ आदि तथा विलसन . ऋग्वेद ३ पृ० ८६ मे उल्लिखित।

चेमाम् बलेन चतुरङ्गिणा। अभ्यात् तं च पाञ्चाल्यो विजित्य तरसा महीम्। अक्षौहिणीभिर् दशभिः स एवं समरेऽजयत। ततः स-दारः सामात्यः स-पुत्रः स-सुहृज्जन। राजा संवणरस् तस्मात् पलायत महा-भयात्। ३७३० सिन्धोर् नदस्य महतो निकुञ्जे न्यवसत तदा। नदी-विषय-पर्य्यन्ते पर्वतस्य समीपतः। तत्रावसन् बहून् कालान भारताः दुर्गम् आश्रिताः। तेषां निवसतां तत्र सहस्रम् परिवत्सरान्। अथाभ्य-गच्छद् भारतन् वशिष्टो भगवान् ऋषिः। तम् आगतम् प्रयत्नेन प्रत्यु-द्गम्याभिवाद्य च। अर्घ्यम् अभ्याहरंस् तस्मै ते सर्वे भारतास् तदा। निवेद्य सर्वम् ऋषये सत्कारेण सुवर्च्चसे। तम् आसने चोपविष्टं राजा वव्रे स्वयं तदा। "पुरोहितो भवान् नोऽस्तु राज्याय प्रयतेमहि"। ३७३५. "ओम्" इत्य् एवं वशिष्टोऽपि भारतान् प्रत्यपद्यत। अथाभ्य-सिञ्चत् साम्राज्ये सर्व-क्षत्रस्य पौरवम्। विषाण-भूतं सर्वस्याम् पृथिव्याम् इति नः श्रुतन्। भरताध्युषितम् पूर्वं सोऽध्यतिष्ठत् पुरोत्तमम्। पुनर् बलिभृतश् चैव चक्रे सर्व-महीक्षितः।

"और उनके शत्रुओं ने भी भरतों पर प्रहार किया। चतुरङ्गिणी सेना से पृथ्वी को कँपाते हुए पाञ्चाल्य राजा ने उस पर प्रहार किया और शीघ्र ही पृथ्वी को जीत कर उसे दस सेनाओं के साथ पराजित कर दिया। तब राजा सम्वर्ण अपनी पत्नियों, मन्त्रियों, पुत्रों और मित्रों सहित अत्यन्त भय से भाग गये और महानदी सिन्धु के किनारे के प्रदेश में एक पर्वत पर निवास प्रारम्भ कर दिया। वहाँ दुर्गों में छिप कर भरतों ने दीर्घकाल तक निवास किया। जब उनके निवास करते एक सहस्र वर्ष हो गये तो पूज्य ऋषि वसिष्ठ उनके निकट आये। उनके आगमन पर उनके स्वागत के लिये आगे बढ़ कर, उन्हें प्रणाम करके सभी भरतों ने अर्घ्य से उनकी पूजा की और उन प्रतापी ऋषि के प्रति सभी प्रकार का सम्मान प्रदर्शित किया। जब उन्होंने आसन ग्रहण कर लिया तब स्वयं राजा ने उनसे प्रार्थना की: 'आप मेरे पुरोहित बनिये और हम राज्य की पुनर्प्राप्ति का प्रयत्न करें।' वसिष्ठ ने भरतों से सम्बन्ध रखना स्वीकार कर लिया, और जैसा कि हमने सुना है, उन्होंने पुरु के वंशज को सम्पूर्ण क्षत्रिय जाति की सार्वभौमिकता से युक्त किया जिससे वे सम्पूर्ण पृथ्वी पर विषाण के समान (स्वामित्वयुक्त) हो गये। उन्होंने प्राचीनकाल के भरतों के नगर को प्राप्त और सभी राजाओं को पुन. अधीन कर लिया।"

यह उल्लेखनीय है कि इस अंश में भरत, जो, जैसा कि हम देख चुके हैं, अन्यत्र विश्वामित्र से अधिक सम्बद्ध बताये और ऋग्वेद के एक मन्त्र (७.

३३, ९) में वसिष्ठ के मित्रों के शत्रु कहे गये है, यहाँ वसिष्ठ का अपने पुरोहित के रूप में वरण करते हैं। इस वर्णन को ऐतिहासिक या किसी प्राचीन परम्परा पर आधृत मानना आवश्यक नहीं है; और वसिष्ठ का उल्लेख करने वाला अंश उस ऋषि का सम्मान वढाने के लिये या भरतों के गौरव-प्रदर्शन के लिये रचा गया होगा।

सर्वसार उपनिषद् के दूसरे अध्याय के ११ वे तथा १२ वें खण्ड (जैसा कि हम प्रोफेसर वेवर के इण्ड० स्टू० १.३९० के विश्लेषण से जानते हैं) यह वर्णन करते हैं कि विश्वामित्र को प्राण तथा इन्द्र की अभिन्नता का उपदेश स्वयं इन्द्र देवता ने दिया, जिसकी स्तुति ऋषि ने एक यज्ञ के अवसर पर, जिसमें वे स्वयं होतृ ऋत्विज् थे, सौ बृहती मन्त्रों में किया, और परिणामस्वरूप उनके कृपापात्र वने।

इस खण्ड में दिये गये विवरणों से यह नितान्त स्पष्ट है कि विश्वामित्र को, जो भरत और कुशिक वंश के राजन्य थे (ऐत० ब्रा० ७. १७ तथा १८), प्राचीन भारतीय परम्परा अनेक सूक्तों का रचयिता तथा राजा सुदास (निरु० २ ३४) के पुरोहित और राजा हरिश्चन्द्र (ऐत० ब्रा० ७.१६) के यज्ञ में होतृ ऋत्विज् का कार्य करते हुए उपस्थित करती है। जैसा कि हम आगे के एक खण्ड में देखेंगे, रामायण में भी उन्हें हरिश्चन्द्र के पिता त्रिशङ्कु के साथ संवद्ध किया और अम्वरीष का समकालीन भी वताया गया है। उसी काव्य के प्रथम काण्ड में उनके राम के पुत्र राजा दशरथ (वालकाण्ड १. २०, १ आदि) से भेंट करने का वर्णन किया गया है। यतः ये राजा एक दूसरे से दीर्घकाल के व्यवछेद से पृथक है—त्रिशङ्कु इक्ष्वाकु की ३८ वीं पीढ़ी में, अम्वरीष ४४ वीं[१५८], सुदास् ४९ वीं, तथा दशरथ ६० वीं पीढ़ी में हुए थे (देखिए विलसन का विष्णु पुराण भाग ३, पृ० २८४, ३०३. ३०४, ३१३)—अतः यह स्पष्ट है कि इन कथाओं के रचयिताओं ने या तो जानवूझकर या भ्रमवश वसिष्ठ के समान (देखिए ऊपर) ही विश्वामित्र को चिरंजीवी व्यक्ति के रूप मे चित्रित किया है, और इनमें से किसी भी स्थिति में उनके विषय में जो कुछ कहा गया है उसका अधिकांश केवल कल्पित है। सभी ग्रंथों में उन्हें गथिन या गाधि के पुत्र के रूप में वर्णित किया गया है। अनुक्रमणी, विष्णु पुराण, तथा हरिवंश में यह भी कहा गया है कि गथिन् इन्द्र के अवतार थे और इस

---

[१५८] रामायण १. ७०, ४१, २ ११०, ३२ के अनुसार अम्वरीष इक्ष्वाकु से २८ वें थे। तुलना प्रो० विलसन की इन वंशावलियो पर टिप्पणी, वि० पु० ३ ३१३ आदि।

प्रकार विश्वामित्र की उत्पत्ति दैवी बताई गई है। यह स्पष्ट नहीं है कि इस कथा का उल्लेख ऋग्वेद ३.५३, ९ में किया गया है या नहीं जिसमें विश्वामित्र को 'देव-जा.' अर्थात् देवता से उत्पन्न कहा गया है; अथवा इस मन्त्र से इस कथा की उत्पत्ति हुई है या नहीं। किसी भी स्थिति में इस मन्त्र की रचना स्वयं ऋषि ने नहीं की है, किन्तु सम्भव है कि यह उनके किसी वंशज की रचना हो।'[५९]

यह मन्त्र (ऋग्वेद ३. ५३, ९), जो विश्वामित्र की अतिमानवीय उत्पत्ति बताता है तथा उसी सूक्त के आगे का ११-१३वाँ मन्त्र जो उनकी प्रार्थनाओं की सफलता की पुष्टि करता है, ऋग्वेद ७ ३३ के समानान्तर है जिसमें वसिष्ठ के अतिमानवीयज्ञान (मन्त्र १० और आगे), उनकी मध्यस्थता की शक्ति (मन्त्र २-५) और उनके वंशजों के अध्यात्मज्ञान (मन्त्र ७ तथा ८) की प्रशंसा की गई है।

यतः विश्वमित्र और उनके वशजों के सूक्तों को ऋग्वेद सहिता में इतना महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है और उन्हें सम्पूर्ण वेद में पवित्रतम कहे जानेवाले (३, ६२, १०) गायत्री मन्त्र का रचयिता कहा गया है, अतः इसमें सन्देह

---

[५९] 'देवजा.' शब्द की जिसका, रॉथ के अनुसार मैंने "देवता से उत्पन्न" अर्थ किया है, सायण ने इस प्रकार व्याख्या की है. द्योतमानाना तेजसा जनयिता, "प्रकाशमान ज्योतियों का जन्मदाता" और इसे वे विश्वामित्र द्वारा नक्षत्रों की सृष्टि के सन्दर्भ मे मानते हैं, जो रामायण १ ६०, २१ मे वर्णित है। प्रो० विलमन इस शब्द का अनुवाद करते हैं "देवताओ का जन्मदाता" और वे कहते है कि यह समास 'दवजा' अर्थात् 'देवता से उत्पन्न' नही है और न विश्वामित्र ही किसी देवता मे उत्पन्न हुए थे। (ऋग्वेद ३ पृ० ८५ टि० ४)। यह अन्तिम उक्ति ऊपर किये गये उनके पिता गाधि के इन्द्र का अवतार होने के तथ्य का खण्डन करता है, और यह बात कि प्रोफेसर विल्सन ने (सायण के आधार पर) ऋग्वेद ३ २९, १५ के 'प्रथम जा' "ब्राह्मण का जो कुशिको के लिये प्रयुक्त है "ब्रह्मा से प्रथम उत्पन्न" यद्यपि स्वर के अनुसार ब्रह्मन् नपुसकलिग शब्द होना और इस वाक्य का यहाँ 'प्रार्थना से प्रथम उत्पन्न' अर्थ होना चाहिये जैसा कि मैंने ऊपर किया है। निघण्टु में 'जा' 'अपत्य' या सन्तान के अर्थ में दिया गया है, और ऋग्वेद १ १६४, १५, जहाँ 'ऋषय.' के साथ आया है सायण ने 'देवजाः' का अर्थ देवता से उत्पन्न किया है; अर्थात् सूर्य, और प्रो० विलसन ने "देवताओ से उत्पन्न" अर्थ किया है। देखिये ऋग्वेद, ९ ९३, १२ सामवेद १ ५३८ (१८६६ के जराएसो पृ० ३८० आदि से तुलना कीजिए।

करने का कोई कारण नहीं है कि यद्यपि वे एक राजन्य थे तथापि उनके समकालीन व्यक्ति बिना हिचक के उन्हें ऋषि और पुरोहित दोनों ही मानते थे। उनके नाम से एक वास्तविक 'ऋषि' की रचना, रूप में परम्परया संक्रमित सूक्तों की एक समान मान्यता से बढ़कर कोई और वस्तु उनको शास्त्रों में स्थान देने के लिए पर्याप्त नहीं हुई होगी।[६०] यह सत्य है कि इस विषय में हमें प्रमाणिक सूचना प्राप्त नहीं है कि किस क्रिया से विभिन्न वंशों के सूक्तों को यह सम्मान प्रदान किया गया है, किन्तु जहाँ तक मुझे ज्ञात है, कोई ऐसी परम्परा नहीं है कि विश्वामित्र और उनके वंश के सूक्तों को कभी आर्षेतर रूप में भी देखा जाता था। यदि हम यह पाते हैं कि परवर्ती रचनाएँ नितान्त अपवाद स्वरूप उनके पौरोहित्य चरित्र को, जिसकी व्याख्या केवल तपस्या द्वारा प्राप्त अतिमानवीय पुण्य के आधार पर की जा सकती है, प्रस्तुत करना आवश्यक समझते हैं, तो हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि अनेक युगों के बीतने के साथ ही भारतीय समाज में अत्यन्त ठोस परिवर्तन हो चुके थे, पौरोहित्य का कर्म एक विशिष्ट वर्ण के व्यक्तियों तक ही सीमित हो गया था, और इस प्रकार के कर्म का प्राचीन काल में किसी क्षत्रिय या वैश्य वर्णों के व्यक्तियों द्वारा सम्पादन असाधारण तपश्चर्या का फल होने के अतिरिक्त, जैसा कि विश्वामित्र के विषय में कहा जाता है, किसी अन्य प्रकार से व्याख्येय नहीं रह गया था।

यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि ऐतरेय ब्राह्मण (देखिए ऊपर) में कहा गया है कि पुरोहितवंश से सबद्ध होने के कारण शुनःशेप को उनकी मुक्ति के तत्काल बाद ऋत्विज् का कर्म करने को कहा गया था, तथापि आध्यात्मज्ञान के विश्वामित्र तथा गाथियों के अधिकार में होने का भी वर्णन किया गया है, और शुनःशेप इस नयी जाति के, जिसमें वे प्रवेश करते हैं, पवित्र ज्ञान तथा राजशक्ति दोनों को उत्तराधिकार में प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार, जैसा कि हम देख चुके हैं तथा यदि प्राचीन परम्परा पर विश्वास किया जाय तो विश्वामित्र के ऋषि और याज्ञिक ऋत्विज् दोनों होने का तथ्य असन्दिग्ध है। वस्तुतः, यदि हम उनके और उनके वंश के नाम से ख्यात वैदिक सूक्तों की संख्या की और इस तथ्य में अन्तर्निहित इस वंश के दीर्घकालीन पौरोहित्य कर्म के सम्पादन तथा इस बात की स्पष्ट

[६०] किन्तु कम से कम इनमें से अनेक रचनाएँ विश्वामित्र या उनके वंशजों की रचना हैं, यह, जैसा कि हम देख चुके हैं, इस तथ्य से प्रमाणित है कि उनके नामों का उनमें उल्लेख किया गया है।

अवधारणा पर ध्यान दें कि एक व्यक्ति जो स्वयं एक राजा के पद पर आसीन था बाद में पुरोहित हो गया, तो हमें यह सहज विश्वास नहीं हो सकता कि यद्यपि वे राजवंश के अग्रणी थे (जैसा कि वे निःसन्देह थे) तथापि उन्होंने कभी स्वयं राजकार्य किया होगा। प्रोफेसर रॉथ का कथन है (लिट्० उ० गेश्० पृ० १२५) कि ऐतरेय ब्राह्मण या ऋग्वेद के सूक्तों में कोई ऐसी बात नहीं है जो यह प्रदर्शित करे कि वे कभी राजा थे।[63] किन्तु, इसके विपरीत, जैसा कि उसी लेखक ने कहा है (पृ० १२६) और जैसा कि हम आगे देखेंगे, परवर्ती ग्रन्थों में ऐसे अनेक अंश हैं जिनमें उनके राजा होने का तथ्य स्पष्टतः किन्तु सम्भवतः गलत ढंग से उल्लिखित है।

यह इतना सुप्रसिद्ध है कि इस तथ्य के लिये मुझे प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं कि परवर्ती युगों में राजन्य और वैश्य यद्यपि यज्ञ एवं वेदों का अध्ययन करने के अधिकारी थे तथापि दूसरों के लिए ऋत्विज् का कर्म करने के अधिकारी नहीं समझे जाते थे। इस विषय पर मैं कुछ उद्धरण प्रस्तुत कर सकता हूँ। मनु का यह कथन है, १. ८८ :

अध्यापनम् अध्ययनं यजनं याजनं तथा। दानम् प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानाम् अकल्पयत्। ८९. प्रजानां रक्षणं दानम् इज्याऽध्ययनम् एव च। विषयेष्व् अप्रसक्तिं च क्षत्रियस्य समासतः। ९०. पशूनां रक्षणं दानम् इज्याऽध्ययनम् एव च। वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिम् एव च। ९१. एकम् एव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्। एतेषाम् एव वर्णानां शुश्रूषाम् अनसूयया। "८८. उस (ब्रह्मा) ने अध्यापन, अध्ययन, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, तथा दान देना एवं लेना, ब्राह्मणों का कर्म बनाया। ८९. प्रजा की रक्षा, दान, यज्ञ करना, अध्ययन तथा इन्द्रियविषयों में अनासक्त रहना क्षत्रिय के कर्त्तव्य बनाये। ९०. पशुपालन, दान, यज्ञ करना, अध्ययन, वाणिज्य, ब्याज लेना, तथा कृषि, वैश्यों के व्यवसाय विहित किये। ९१. किन्तु भगवान् ने शूद्र के लिए केवल एक कर्म विहित किया और वह है इन तीनों वर्णों की निःस्वार्थ सेवा।"

इसी प्रकार, यज्ञपरिभाषा सूत्र के तीसरे सूत्र में, जिसका अनुवाद प्रोफेसर एम० मूलर ने (जर्नल ऑफ द जर्मन ओरिएण्टल सोसाइटी के नौवें भाग के [illegible] में, पृ० ४३ पर) किया है, यह कहा गया है "कि यज्ञ,

ब्राह्मण, राजन्य तथा वैश्य तीन वर्णों के लिये ही विहित है।''[१६२] प्रोफेसर मूलर कात्यायन श्रौतसूत्र का भी निर्देश करते हैं जिसके १. १, ५ तथा ६ इस प्रकार है।

५. अङ्गहीनाश्रोत्रिय-षण्ड-शूद्र-वर्जम्। ६. ब्राह्मण-राजन्य-वैश्याना श्रुतेः। "विकलाङ्ग व्यक्तियों, वेद का अध्यन न करने वाले, नपुसक तथा शूद्र को छोड़कर अन्य मनुष्यों को [१६३] यज्ञ करने का अधिकार है। ६ वेद

[१६२] प्रो० मूलर ने मूल पाठ वही दिया है।

[१६३] कात्यायन के एक सूत्र (१ १, ४) और उसकी टीका मे एक विलक्षण प्रश्न उठाया गया है जो उन प्रश्नो मे से एक है जिसे उठाना और जिसका समाधान करना अपने विषय के विवेचन को पूर्ण और प्रामाणिक वनाने के लिए भारतीय आचार्य आवश्यक समझते है। प्रश्न यह है निम्नकोटि के पशुओं और देवताओ को वैदिक कर्मों के अनुष्ठान मे कोई स्थान था या नही, या यह केवल मनुष्यो तक सीमित था। निष्कर्ष यह है कि देवता इन कर्मा का अनुष्ठान नही कर सकते क्योकि वे स्वय ही उन कर्मों के साध्य हैं, और उन्होने स्वर्ग और अन्य ऐसी इच्छाओ को प्राप्त कर लिया है, जिनकी इच्छा से इन कर्मों का अनुष्ठान किया जाता है। (तत्र देवाना देवतान्तराभावाद् अनधिकारः। न ह्य् आत्मानम् उद्दिश्य त्याग. सम्भवति। किञ्च। देवाश् च प्राप्त-स्वर्गादि-काम.। न च तेषा किञ्चिद् अवाप्तव्यम् अस्ति यद-अर्थं कर्माणि कुर्वते)। जहाँ तक निम्कोटि के पशुओ के यज्ञ मे भाग लेने का प्रश्न है, यद्यपि "उनके केवल निकटतस्थ वस्तु के देख सकने और भविष्य का ज्ञान रखने के कारण" (ते ह्य् आसन्नम् एव चेतयन्ते न पारलौकिम् फलम्) निर्णय उनके विरुद्ध ही दिया जाता है, तथापि उनकी ओर से यह धारणा वना लेना आवश्यक समझा जाता है कि वे भी सुख का आनन्द लेते है, कष्ट से दूर रहते ह, और कतिपय वैदिक विधानो का आचरण करने जैसा व्यवहार करके दूसरे लोक के सुख की इच्छा करते प्रतीत होते हैं. 'ननु उक्त शुनश् चतुर्दश्याम् उपवास-दर्शनात् श्येनस्य च अष्टम्याम् उपवासदर्शनाच् च तेऽपि पारलौकिके जानन्ति" इति। तत् कथम् अवगम्यते "ते धर्मार्थम् उपवसन्ति" इति। ये हि वेद-स्मृति-पुराणादिकम् पठन्ति ते एव जानन्ति यद् "अनेन कर्मणा इदम् फलम् अमुत्र प्राप्स्यते" इति। न च एते वेदादिकम् पठन्ति नाप्य् अन्येभ्य. आगमयन्ति। तेन शास्त्रार्थम् अविद्वास फलम् आमुष्मिकम् अकामयन्त कथ तत्-साधन कर्म कुर्यु। तस्माद् न धर्मार्थम् उपवसन्ति इति। किमर्थं तर्ह्य् एतेषाम् उपवास। उच्यते। रोगाद अरुचिर् एषाम्। तर्हि नियतकाले कथ रोग। उच्यते। नियत-काला. अपि रोगा भवन्ति यथा तृतीयक-चातुर्थिकादि-ज्वरा। अधनाश् च एते।' किन्तु क्या कुछ लोग

के अनुसार ब्राह्मणों, राजन्यों तथा वैश्यों को ही (यह अधिकार प्राप्त है)।"[१६४]

ऐसा नही कहते हैं कि एक कुत्ता मास मे चतुर्दशी के दिन और एक वाज अष्टमी के दिन उपवास करते देखा गया इससे उन्हे भी भावी जीवन के विषयो का ज्ञान रहता है? किन्तु यह कैसे जाना जा सकता है कि ये कुत्ते और वाज धार्मिक विचार से उपवास करते हैं? क्योकि केवल वेदो, स्मृतियो, पुराणो इत्यादि के अध्ययन करने वाले व्यक्ति ही, यह जानते हैं कि अमुक प्रकार के कर्म का आचरण करने से परलोक मे अमुक फल मिलता है। किन्तु ये पशु न तो स्वय इन शास्त्रो का अध्ययन करते हैं और न दूसरो के पढने पर उनका अर्थ समझते हैं। किस प्रकार शास्त्रो से अनभिज्ञ रखकर भी और भविष्य मे किसी फल की इच्छा विना वे इन कर्मों को कर सकते हैं जो इन फलो की प्राप्ति के साधन हैं? अतएव यह निष्कर्ष निकलता है कि वे धार्मिक ध्येय से तपस्या नही करते। तव वे उपवास क्यो करते हैं? हमारा उत्तर है कि रोग के कारण अच्छे भोजन की इच्छा नही होती। तव क्यो वे किसी निश्चित दिन को ही रुग्ण होते हैं? हमारा उत्तर यह है कि कई रोग निश्चित दिन को ही होते हैं जैसे तीन दिन और चार दिन पर होने वाला ज्वर। निम्नकोटि के पशु यज्ञ नही कर सकते इसका दूसरा कारण यह है कि उनके पास धन नही होता (और इस कारण आवश्यक वस्तुएँ नही जुटा सकते)।"

[१६४] प्रो० मूलर (वही) का कथन है: "फिर भी आरम्भिक काल मे (कुछ अन्य तथा निम्नकोटि के वर्गों को) अधिकार दिया गया था। रथकार एक सुप्रसिद्ध उदाहरण है। निषादस्थपति निषाद होकर और तीन उच्च वर्णों का न होते हुए भी महान् यज्ञो जैसे गवेधुकचरु का अधिकारी माना गया।" शत० ब्रा० मे निम्नलिखित शब्द हैं: 'तानि वै एतानि चत्वारि वाच' "चि" इति ब्राह्मणस्य "आगहि" "आद्रव" वैश्यस्य च राजन्यबन्धोश् च "आधाव" इति शूद्रस्य।' (हविष्कृद एहि 'हे हवि का निर्माण करने वाले, आओ, इस मत्र मे, जो पहले के अनुच्छेद उल्लिखित है, तथा इसके रूपान्तरो मे) इन चार विभिन्न शब्दो का प्रयोग 'आओ' अर्थ के लिए किया गया है: 'एहि' 'आओ' ब्राह्मण के लिए, 'आगहि' "यहाँ आओ" वैश्य के लिए, 'आद्रव' "जल्दी आओ" राजन्य के लिए तथा 'आधाव' "दौडकर आओ" शूद्र के लिए।" इस पर श० ब्रा० के प्रथम काण्ड के प्रथम अध्याय के अनुवाद की एक टिप्पणी मे (जर्नल० जर्मन ओर० सो० ४, पृ० ३०१) प्रो० वेवर कहते हैं. "सम्पूर्ण अंश अत्यधिक महत्वपूर्ण है, क्योकि यह (रॉथ ने इस जर्नल के प्रथम भाग

ऐतरेय ब्राह्मण ७. १९ के अनुसार "चारों वर्णों में केवल ब्राह्मण को ही यज्ञ में अर्पित की गई वस्तुओं के भक्षण का अधिकार है" (एता· वै प्रजाः हुतादो यद् ब्राह्मणाः। अथ एताः अहुतादो यद् राजन्यो वैश्यः शूद्रः)। तथापि, जैसा प्रो० मूलर का कथन है, शतपथ ब्राह्मण ५. ५, ४, ९

पृ० ८३ मे जो कहा है उसके विपरीत) प्रदर्शित करता है कि उस समय शूद्रों को एरियनो के यज्ञ मे स्थान मिला था, और वे उनकी भाषा समझते और बोलते भी थे। दूसरे विषय को निश्चय ही आवश्यक परिणाम के रूप में नहीं माना जा सकता, किन्तु यह बहुत संभव है, और फलस्वरूप मैं उन लोगो के विचार का समर्थन करता हूँ जो शूद्रो को अन्य जातियो के पूर्व ही भारत मे प्रवेश करने वाली एरियन जाति मानते है।" देखिए ऊपर पृ० १६० टि० २५१ तथा इण्ड स्टू० २ १९४ टिप्पणी, जिसमे प्रोफेसर वेवर महाभारत शान्तिप०: ६०, ३७ और बाद आदि का निर्देश करते है जो इस प्रकार है : 'स्वाहाकार-वषट्कारौ मन्त्र शूद्रे न विद्यते। तस्माच् छूद्रः पाकयज्ञैर् यजेताव्रत-वान् स्वयम्। पूर्णपात्रमयीम् आहु· पाकयज्ञस्य दक्षिणाम्। शूद्र पैजवनो नाम साहस्राणा शतं ददौ। ऐन्द्राग्नेयेन विधानेन दक्षिणाम् इति न श्रुतम्।' "स्वाहा-कार, वषट्कार और मन्त्र शूद्रो के नही होते। अतएव इस वर्ग का व्यक्ति पाकयज्ञो से यज्ञ करे क्योकि वह (वैदिक) कर्मों का अधिकारी नही होता (श्रौत-व्रतोपाय-हीन.। भाष्य०) ऐसा कहा गया है कि पाकयज्ञ की दक्षिणा पूर्णपात्र (पूर्णपात्रमयी)। पैजवन नाम के एक शूद्र ने ऐन्द्राग्य विधि के उपरान्त इस प्रकार के एक सहस्र पूर्णपात्र दक्षिणा मे दिये। यहाँ प्रोफेसर वेवर कहते हैं· "यह उल्लेखनीय परम्परा पायी जाती है कि पैजवन, अर्थात् सुदास्., जो अपने यज्ञो के लिए इतना प्रसिद्ध था और जिसे ऋग्वेद मे विश्वामित्र का आश्रयदाता तथा वसिष्ठ का शत्रु वताया गया है, शूद्र था।" भागवत पुराण ७ ११,२४ मे शूद्र का धर्म "नम्रता, पवित्रता, स्वामी की नि स्वार्थ सेवा, विना मन्त्रो के यज्ञ, चोरी न करना, सत्यभाषण तथा गायो एवं ब्राह्मणो की रक्षा" वताया गया है (शूद्रस्य सन्नति· शौच सेवा स्वामिन्य् अमायया अमन्त्रयज्ञो ह्य् अस्तेय सत्य गो-विप्र-रक्षणम्)। अमन्त्रयज्ञ की व्याख्या भाष्यकार ने इस प्रकार की है. 'नमस्कारेणैव पञ्च-यज्ञानुष्ठानम्' "पाँच यज्ञो का भक्तिपूर्वक आचरण," और वह याज्ञवल्क्य का उद्धरण देता है। देखिए विलसन का विष्णु पुराण भाग ३, पृ० ८७ तथा टिप्पणियाँ, मूलर का एस० स० लिट् पृ० २०३, जर्नल जर्म० ओ० सो० के नवे खण्ड के अन्त मे पृ० ७३ पर उसी लेखक का लेख, तथा वौटलिंक एण्ड रॉथ के लेक्सिकन मे पाकयज्ञ के अन्तर्गत।

में यह कहा गया है : चत्वारो वै वर्णाः ब्राह्मणो राजन्यो वैश्यः शूद्रो न ह एतेषां एकश्चन भवति यः सोमं वमति । स यद् ह एतेषाम् एकश्चिन् स्यात् स्याद् ह एव प्रायश्चित्तिः । "चार वर्ण है, ब्राह्मग, राजन्य वैश्य और शूद्र । इनमें कोई ऐसा नहीं है जो सोम का वमन (मेरे विचार से, परहेज) करता है । यदि इनमें कोई भी ऐसा करता है तो उसके लिए प्रायश्चित्त होना चाहिए ।"

प्रोफेसर वेबर, जिन्होंने भी इन शब्दों को उद्धृत किया है (इण्ड० स्टू० १० १२) कहते हैं कि ये राजन्यों, वैश्यों और यहाँ तक कि शूद्रों तक के सोम-पान करने की सम्भावना उत्पन्न कर देते है जिसका एकमात्र यही परिणाम है कि प्रायश्चित्तरूप में इन्हें सौत्रामणी कर्म करना होता है ।"

यज्ञ परिभाषा सूत्र के २१ वें सूत्र में, जिसका मूलर ने अनुवाद किया है (पृ० ४१) यह कहा गया है कि पौरोहित्य पद ब्राह्मग का ही होता है और भारतीय ग्रन्थ में यह कहा गया है कि जब यज्ञ एकमात्र क्षत्रियों के लिए भी अभिप्रेत हो तब भी ऋत्विज् ब्राह्मण ही होना चाहिए, क्षत्रिय नहीं । इसका कारण यही है कि केवल ब्राह्मग वर्ण के व्यक्ति ही यज्ञ के अवशिष्ट अंश का भक्षण कर सकते हैं (देखिए कात्यायन का श्रौ० सूत्र० १. २, ८) : ब्राह्मणा ऋत्विजो भक्ष-प्रतिषेधाद् इतरयोः "केवल ब्राह्मण ही ऋत्विज है, क्योंकि अन्य दो वर्णों के लिये (यज्ञ के अवशिष्ट का) भक्षण करना निषिद्ध है ।" देखिए वेबर का इण्ड० स्टू० १०. पृ० १७ तथा २१, तथा ऐत० ब्रा० ८ २४ तथा २७ के अन्य अंश जिनका निर्देश पृ० ३० तथा ३१ पर किया गया है : २४ न ह वै अपुरोहितस्य राज्ञो देवा अन्नम् अदन्ति । तस्माद् राजाऽयक्ष्यमाणो ब्राह्मणम् पुरो दधीत । "देवता ऐसे राजा द्वारा अर्पित किये गये अन्न का भक्षण नहीं करते, जिसके यहाँ पुरोहित नहीं होता । इस कारण जब यज्ञ न करना हो तब भी राजा एक ब्राह्मण को (पुरोहित के रूप में) नियुक्त रक्खे ।" २७. यो ह वै त्रीन् पुरोहितांस् त्रीन् पुरोधातॄन् वेद स ब्राह्मणः पुरोहितः । स वदेत पुरोधायै । अग्निर् वाव पुरोहितः पृथिवी पुरोधाता वायुर् वाव पुरोहितोऽन्तरिक्षम् पुरोधाता आदित्यो वाव पुरोहितो द्यौः पुरोधाता । एष ह वै पुरोहितो य एवं वेद अथ स तिरोहितो य एवं न वेद । तस्य राजा मित्रं भवति द्विषन्तम् अपबाधते । यस्यैवं विद्वान् ब्राह्मणो राष्ट्र-गोपः पुरोहितः । क्षत्रेण क्षत्रं जयति बलेन बलम् अश्नुते । यस्यैवं विद्वान् ब्राह्मणो राष्ट्र-गोपः पुरोहितः । तस्मै विशः संजानते । सम्मुखाः एकमनसः । यस्यैवं विद्वान् ब्राह्मणो राष्ट्र-गोपः पुरोहितः । "जो

ब्राह्मण तीनों पुरोहितों और उनके उचित नियोजकों को जानता है वह (योग्य) पुरोहित है और उसे इस पद पर नियुक्त करना चाहिए। अग्नि एक पुरोहित है और पृथ्वी उसे नियुक्त करती है; वायु दूसरा है और अन्तरिक्ष उसे नियुक्त करता है; सूर्य पुरोहित है और द्यौ उसे नियुक्त करता है। जो इसे जानता है वही (योग्य) पुरोहित है, और जो इसे नहीं जानता है उसे इस पद से वञ्चित कर देना चाहिए। (दूसरा) राजा उस व्यक्ति का मित्र हो जाता है, जिसके यहाँ पुरोहित और राज्य के रक्षक के रूप में इस प्रकार के ज्ञान से युक्त ब्राह्मण होता है, और वह अपने शत्रुओं को जीत लेता है। जो इस प्रकार का (उपर्युक्त) ज्ञान रखनेवाले ब्राह्मण को पुरोहित बनाता है वह (दूसरे की) राजशक्ति को (अपनी) राजशक्ति द्वारा जीत लेता है और दूसरे का बल (अपने) बल द्वारा प्राप्त कर लेता है। जिसका (ऊपर के समान ही) ब्राह्मण पुरोहित होता है उसके साथ प्रजायें मिली होती है और सौहार्द रखती हैं।"

मैं उसी ब्राह्मण से एक दूसरा अंश देता हूँ जिसे इस कृति के पहले के अध्याय में भी दिया जा सकता था (अध्याय १ खण्ड ३) क्योंकि इसमें चार वर्णों की उत्पत्ति का वर्णन है :

ऐत० ब्रा० ७. १६ : प्रजापतिर् यज्ञम् असृजत। यज्ञ सृष्टम् अनु-ब्रह्म-क्षत्रे असृज्येताम्। ब्रह्म-क्षत्रे अनु द्वय्यः प्रजाः असृज्यन्त हुतादश् च अहुतादश् च ब्रह्म एव अनु हुतादः क्षत्रम् अन्व् अहुतादः। एताः वै प्रजाः हुतादो यद् ब्राह्मणाः। अथ एताः अहुतादो यद् राजन्यो वैश्यः शूद्रः। ताभ्यो यज्ञः उदक्रामत्। तम् ब्रह्मक्षत्रे अन्वेतां यान्य् एव ब्रह्मण' आयुधानि तैर् ब्रह्म अन्वैत् यानि क्षत्रस्य त (? तैः) क्षत्रम्। एतानि वै ब्राह्मणः आयुधानि यद् यज्ञायुधानि। अथ एतानि क्षत्रस्य आयुधानि यद् अश्व-रथः कवचः इषु-धन्व। त क्षत्रम् अनन्वाप्य न्यवर्त्तत। आयुधेभ्यो ह स्म अस्य विजमानः परान् एव एति। अथ एनम् ब्रह्म अन्वैत्। तम् आप्नोत्। तम् आप्त्वा परस्ताद् निरुध्य अतिष्ठत्। स आप्तः परस्ताद् निरुद्धस् तिष्ठन् ज्ञात्वा स्वान्य् आयुधानि ब्रह्म उपावर्त्तत। तस्माद् ह अप्य एतर्हि यज्ञो ब्रह्मण्य् एव ब्राह्मणेषु प्रतिष्ठितः। अथ एनत् क्षत्रम् अन्वगच्छत् तद् अब्रवीद् "उप मा अस्मिन् यज्ञे ह्वयस्व" इति। तत् तथा" इत्य् अब्रवीत् "तद् वै विधाय स्वान्य् आयुधानि ब्रह्मणः एव आयुधैर् ब्रह्मणो रूपेण ब्रह्म भूत्वा यज्ञम् उपवार्त्तस्व" इति। "तथा" इति तत् क्षत्र निधाय स्वान्य् आयुधानि ब्रह्मणः एव आयुधैर् ब्रह्मणो रूपेण ब्रह्म भूत्वा यतम् उपावर्त्तत। तस्माद् ह अप्य्

एतर्हि क्षत्रियो यजमानो निवाय एव स्वान्य् आयुधानि ब्रह्मणः एव आयुधैर् ब्रह्मणो रूपेण ब्रह्म भूत्वा यज्ञम् उपावर्त्तते ।

"प्रजापति ने यज्ञ की सृष्टि की । यज्ञ के उपरान्त ब्रह्मन् (पवित्र ज्ञान) तथा क्षत्र (राजशक्ति)'[१९५] की सृष्टि हुई । इनके उपरान्त, दो प्रकार के जीवों की रचना हुई : एक वे जो यज्ञ के अन्न का भक्षण करते हैं और दूसरे वे जो भक्षण नहीं करते । ब्रह्मन् के उपरान्त आहुति का भक्षण करने वाले और क्षत्र के उपरान्त उसका भक्षण न करने वाले उत्पन्न हुए । ये, अर्थात् ब्राह्मण् , हुत का भक्षण करनेवाले है । उसका भक्षण न करने वाले हैं राजन्य, वैश्य और शूद्र । इन प्राणियों का यज्ञ ने त्याग कर दिया । ब्रह्मन् और क्षत्र ने इसका अनुगमन किया; ब्रह्म ने अपने अनुकूल आयुध लेकर और क्षत्र ने अपने अनुकूल आयुध लेकर पीछा किया । ब्रह्मन् के आयुध वे ही हैं जो यज्ञ के आयुध हैं, जब कि क्षत्र के आयुध हैं अश्वों से युक्त रथ,[१९६] कवच तथा धनुष एवं बाण । यज्ञ को न पाकर क्षत्र लौट आया, यज्ञ क्षत्र के आयुधों से डरकर दूर हट जाता है । ब्रह्मन् ने इसका अन्वेषण किया और इसे प्राप्त किया, और ऐसा करने पर उसने इसके पीछे खड़ा होकर इसे रोक लिया । इस ढूँढे जाने और घेर लिये जाने पर यज्ञ निश्चल खड़ा होकर और अपने आयुधों को पहचान कर ब्रह्मन् के निकट चला आया । इस कारण से भी यज्ञ ब्रह्म पर और ब्राह्मणों पर निर्भर रहता है । क्षत्र ने तब ब्रह्मन् का अनुगमन किया और कहा 'इस यज्ञ में भाग लेने के लिये मुझे निमन्त्रित करो ।'[१९७] ब्रह्मन् ने उत्तर दिया 'ऐसा ही होगा · तब अपने आयुधों को छोड़ कर ब्रह्मन् के आयुधों को धारण कर ब्रह्मन् के वेश में और ब्रह्मन् बनकर यज्ञ के निकट जाओ ।'[१९८] क्षत्र ने कहा 'ऐसा ही

[१९५] क्रमश ब्राह्मणो और क्षत्रियो द्वारा प्रस्तुत किये गये दो सिद्धान्त या कर्म ।

[१९६] देखिए वेबर · इण्ड० स्टू० ९, पृ० ३१८ ।

[१९७] देखिए वेबर उसी पृ० मे जो पहले उद्धृत किया गया है ।

[१९८] इस विचार को प्रोफेसर वेबर द्वारा इण्ड० स्टू० १० १७ मे उद्धृत किये गये अनेक अशो के निर्देश द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है । वेबर का कथन है · "इस कारण प्रत्येक राजन्य और वैश्य दीक्षा ग्रहण करके दीक्षा के समय मे ब्राह्मण रहता है और उसे इस मन्त्र मे बताए अनुसार पुकारना चाहिए" । तदनन्तर वे श० ब्रा० ३ २, १, ३९ आदि का उद्धरण देते है जिसके एक अश का उद्धरण ऊपर पृ० ३६६ की टिप्पणी मे दिया गया है, तथा ऐत० ब्रा० ७ २३का

करूँगा', और अपने आयुधों को अलग रखकर, एक ब्रह्मन् के वेश में ब्रह्मन् के आयुधों को धारण करके तथा ब्रह्मन् होकर यज्ञ के निकट पहुँचा। अतएव यज्ञ करते समय क्षत्रिय अपने आयुधों को अलग रखकर यज्ञ के निकट ब्रह्मन् का आयुध धारण कर, ब्राह्मण के वेश में और ब्रह्मन् बनकर पहुँचता है।"

महाभारत १२. ६०, १३ आदि में यज्ञ एवं पवित्र कर्मों के सन्दर्भ में क्षत्रिय के कर्त्तव्यों का स्पष्ट वर्णन किया गया है : क्षत्रियस्यापि यो धर्मस् तं ते वक्ष्यामि भारत। दद्याद् राजन् न याचेत यजेत न च याजयेत्। नाध्यापयेद् अधीयीत प्रजाश् च परिपालयेत्।

"मैं तुम्हें क्षत्रिय का धर्म भी बताऊँगा। वह दान दे किन्तु दान न ले; यज्ञ करे किन्तु दूसरे के लिये यज्ञ न करावे, वह अध्यापन न करे, किन्तु अध्ययन तथा प्रजा का पालन करे।"

यह स्पष्ट है कि ये उद्धरण, जो यज्ञ में ऋत्विक् कर्म करने का अधिकार केवल ब्राह्मणीय वर्ग[१६१] के व्यक्तियों तक ही सीमित करते है, आरम्भिक वैदिक

भी उद्धरण दिया है "स ह दीक्षमाणः एव ब्राह्मणताम् अभ्युपैति।" वह राजा दीक्षित होने पर ब्राह्मण की दशा मे प्रवेश करता है।" डॉ० हाँग के अनुवाद के इस तथा २४वे तथा २५वे खण्डो को देखिये। शतपथ ब्राह्मण १३ ४, १, ३ मे, कुछ लोगो के मत के विपरीत यह कथन है कि अश्वमेध को, जिसके अनुष्ठान का राजन्यो को ही वास्तविक अधिकार है, ग्रीष्म ऋतु मे आरम्भ करना चाहिये, जो वास्तव मे राजन्यो की ऋतु है 'तद् वै वसन्ते एव अभ्यारभेत। वसन्तो वै ब्राह्मणस्य ऋतु। य उ वै कश् च यजते ब्राह्मणीभूय इव एव यजते।' "वह वसन्त ऋतु मे आरम्भ करे, क्योकि वसन्त ही ब्राह्मणो की ऋतु है। जो इस प्रकार यज्ञ करता है वह मानो ब्राह्मण होकर ही यज्ञ करता है।" इसी प्रकार कात्यायन ने श्रौतसूत्र ७ ४, १२ मे कहा है: "ब्राह्मण शब्द वैश्य और राजन्य के लिये भी प्रयुक्त होना चाहिए।" इस पर भाष्यकार की टीका इस प्रकार है। वैश्यराजन्ययोर् अपि यज्ञे "दीक्षितोऽयम् ब्राह्मण" इत्य् एव वक्तव्यम्। न "दीक्षितोऽयं क्षत्रियो वैश्यो वा" इति।' "ब्राह्मण दीक्षित हो गया" इसका प्रयोग वैश्य और राजन्य के यज्ञ मे भी करना चाहिए 'यह राजन्य या यह वैश्य दीक्षित हो गया' ऐसा नही करना चाहिए।

[१६१] एरियन से यह ज्ञात होता है कि ग्रीसवासी ब्राह्मणो की इस अध्यक्षता से वस्तुत भिज्ञ थे। वह इण्डिका अध्याय ११ मे कहता है :

"जो कोई भी व्यक्तिगतरूप से यज्ञ करता है वह इन पुरोहितो (सोफिस्ट)

युग में, जब कि विश्वामित्र राजन्य होते हुए एवं उनके सम्बन्धी वेद मन्त्रों के रचयिता के रूप में अत्यन्त सम्मानित थे और पौरोहित्य कर्म करने के पूर्ण अधिकारी माने जाते थे, प्रचलित विचार और व्यवहार से एक नितान्त भिन्न स्थिति प्रस्तुत करते हैं।

क्रमश. वसिष्ठ और विश्वामित्र के विरोधी हितों के बीच संघर्ष के परिणाम का वर्णन प्रोफेसर रॉथ ने वैदिक साहित्य और इतिहास विषयक अपने ग्रन्थ के अन्त में, पृ० १४१ पर, जिसे प्रायः उद्धृत किया गया है, इस प्रकार कहा है : 'वसिष्ठ, जिनमें ब्राह्मणों का भविष्य प्रतिबिम्बित है, आगे आने वाली शताब्दियों में अपने प्रतिद्वन्द्वी से अधिक उच्च स्थान के भागी हैं; और उनके प्रतिद्वन्द्वी उस संघर्ष में पराजित हुये जिससे ब्रह्मावर्त्त की पवित्र जाति का उदय होने वाला था। वसिष्ठ नई व्यवस्था के पुरोहितों के नेता हैं। पञ्जाब की चरवाहों-जैसी प्राचीन सैन्य व्यवस्था विश्वामित्र में सदैव के लिये दूर-छूट जाती है। इन दो वैदिक वंशों की प्रतिद्वन्द्विता का यही सामान्य ऐतिहासिक महत्व है, जिसके संस्मरण सम्पूर्ण परवर्ती साहित्य में सुरक्षित हैं।"

को (इस प्रकार उच्च वर्णों को यह नाम दिया गया है और इनकी सख्या सात बताई गई है।) अनुष्ठान के अधीक्षक के रूप मे नियुक्त करता है, कारण अन्य प्रकार से किया गया यज्ञ देवताओ को स्वीकार्य नही हो सकता।" एरियन ने दूसरा वक्तव्य भी दिया है (वही १२) जिसे यदि उसकी रचनाकाल (ई० पू० द्वितीय शताब्दी) से जोडा जाय तो वह सही नही ठहरता। यह कह कर, कि अनेक वर्गों मे अन्तर्विवाह की आज्ञा नही थी और न दो वृत्ति का आचरण करने या एक वर्ग को छोड कर दूसरे वर्ग मे जाने की आज्ञा थी, वह आगे कहता है :—

"उनमे किसी भी वर्ग के व्यक्ति को सन्यासी (सोफिस्ट) बनने की आज्ञा है, क्योकि इस वर्ग का जीवन सुखमय नही है अपितु सभी कष्टो से परिपूर्ण है।" विश्वामित्र के युग मे इस वक्तव्य का प्रथम अंश कितना भी सही क्यो न रहा हो, ऐसी बात एरियन के युग मे अथवा भारत पर सिकन्दर महान् के आक्रमण के समय नही स्वीकार की जा सकती। यह भ्रम बौद्धो और ब्राह्मणों को एक जैसा समझ लेने या यह मान लेने से उत्पन्न हुआ है कि सभी ब्राह्मणीय भारतवासी, जिन्होंने विरक्त जीवन अपनाया था 'सोफिस्ट" समझे जाते थे।

खण्ड ७—क्या पिछले दो खण्डों के वर्णन हमें यह निर्णय देने में सहायता प्रदान करते हैं कि सुदास् के पुरोहितों के रूप में वसिष्ठ और विश्वामित्र का परस्पर कैसा सम्बन्ध था ?

पहले के दो खण्डों में दिये गये वर्णनों से यह ज्ञात होता है कि वसिष्ठ और विश्वामित्र दोनों को सुदास् नाम के राजा के पुरोहित-रूप में वर्णित किया गया है। जहाँ तक वसिष्ठ का सम्बन्ध है, उपर्युक्त तथ्य ऋग्वेद ७. १८, ४. ५ तथा २१-२५, एवं ७. ३३, १–६ से प्रकट है, जिनमें उन्हें देवता को प्रसन्न करने के लिए सुदास् का, जो इन सूक्तों में दूसरे सूक्त के मन्त्र २५ के अनुसार पिजवन का पुत्र था, यज्ञ करने का वर्णन किया गया है। ऋग्वेद ३. ५३, ९-१३ से इसी प्रकार का सम्बन्ध विश्वामित्र और सुदास् में भी (देखिए ऊपर पृ० ३८५) रहा प्रतीत होता है; और यद्यपि उस मन्त्र में सुदास् की उस व्यक्ति से अभिन्नता नहीं दर्शायी गई है जो वसिष्ठ का यजमान था, तथापि निरुक्त २. २४ में उसका गोत्र-नाम जोडकर यह बताया गया है कि वह वही व्यक्ति, अर्थात् पिजवन का पुत्र था। अतएव इसमें कोई सन्देह नहीं है कि प्राचीन परम्परा के अनुसार दोनों ऋषि एक ही राजा के पुरोहित थे। यह भी ज्ञात होता है कि भरत, जिनके साथ, जैसा कि हम देख चुके हैं, विश्वामित्र सम्बद्ध है, ऋग्वेद ७. ३३, ६ में सुदास् और उसके पुरोहित के शत्रु-रूप में वर्णित किये गये हैं। तो क्या हम इससे यह निर्णय करें कि एक प्रकार के तथ्य दूसरे प्रकार के तथ्यों का खण्डन करते हैं—अर्थात दोनों ऋषि सुदास् के पुरोहित नहीं रहे होंगे ?

ऐसा निष्कर्ष निकालने का कोई कारण नहीं है। निश्चय ही वसिष्ठ और विश्वामित्र दोनों एक ही समय में सुदास् के पुरोहित नहीं रहे होंगे। किन्तु विभिन्न समयों पर रहे हो सकते हैं, और एक का स्थान दूसरे ने ग्रहण किया होगा। तथापि जिन अंशों का मैंने उल्लेख किया है उनमें उपलब्ध अपूर्ण सामग्रियों से इन दोनों प्रतिद्वन्द्वियों में हुए संघर्ष के स्वरूप तथा विस्तार के विषय में कोई स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करना, या जिन समयों मे उन्होंने क्रमशः अपने यजमान से सम्मान प्राप्त किया था उसका निर्धारण करना कठिन है। प्रो० रॉथ का विचार है[१७०] कि इस दुरूह विषय पर ऋग्वेद के तृतीय मण्डल के ५३ वें सूक्त के विभिन्न अंशों से प्रकाश पड़ता है। जिस रूप में यह रचना उपलब्ध है उसमें उनके मतानुसार, विश्वामित्र या उनके वंशजों

---

[१७०] देखिए लिट् उण्ड गेश्० डेस् वेद, पृ० १२१ आदि।

द्वारा विभिन्न समयों में रचे गये सूक्तों के अंश हैं; और मन्त्र (९-१३) में जिनमें ऋषि स्वयं को और कौशिकों को सुदास् का पुरोहित बताते हैं, उनके विचार से उन अन्तिम मन्त्रों (२१-२४)[१७१] से अधिक प्राचीन हैं जिनमें वसिष्ठों के विपरीत दुर्वचन है। उनका कथन है कि इन अन्तिम मन्त्रों में क्षोभयुक्त गर्वोक्ति और उस शत्रु के विपरीत प्रतिशोध की शपथ है जिसने पहले विश्वामित्र द्वारा उपभुक्त प्रभाव एवं गौरव का पद प्राप्त कर लिया था। जैसा कि हम इन सूक्तों में से एक (७३ वें) में पाते हैं, उन्होंने और उनके अनुयायियों ने किसी समय सुदास् को विजय दिलाई थी और उसके लिए सम्मान प्राप्त किया था,—जब कि वसिष्ठ के सूक्त से भी यह प्रतीत होता है उन्हें और उनके वंश को उसी प्रकार का पद दिलाने के उपलक्ष में गौरव प्राप्त हुआ था—इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि विश्वामित्र ने वसिष्ठ को इसीलिए शाप दिया कि उनका स्थान वसिष्ठ ने ले लिया था। अपने प्रतिद्वन्द्वी का प्रभाव बढ़ने के साथ विश्वामित्र और कुशिक सुदास द्वारा भरतों की ओर खदेड़ दिये गये, जो उस राजा के और तृत्सुओं के शत्रु थे, और तब उन्होंने अपने शत्रुओं से प्रतिशोध लेने की शपथ ली। रॉथ का कथन है कि यदि यह अनुमान अधिक साहसपूर्ण

---

[१७१] ऊपर (पृ० ३८६) मैंने इन मन्त्रो को दुरुह कह कर इनका अनुवाद नही किया है। नीचे दिए गये अनुवाद मे जो अश ब्रैकेट मे लिखे गये है वे सन्देहास्पद हैं · मन्त्र २२ वह (या यह) कुल्हाडी को भी कुण्ठित कर देता है (उसकी धार मोड देता है) खड्ग को भी तोड देता है, हे इन्द्र जब कडाह खौलने लगता है तो उसमे फेन निकलता है। २३ हे मनुष्यो, बाण दिखाई नही पडता। वे बुद्धिमान् व्यक्तियो को पशु के समान जान कर ले जाते है। परन्तु मनुष्य दौडने वाले के पीछे चलने के लिये घोडो के पीछे गदहो को नही ले जाते। २४ हे इन्द्र। भरत के ये पुत्रविभाजन चाहते हैं एकता नही, वे निरन्तर घोडे को मानो दूर से हाँकते हैं, वे युद्ध मे धनुष लेकर चलते हैं।" पाठक प्रो० विलसन का अनुवाद ऋग्वेद ३ पृ० ९० आदि तथा रॉथ का लिट्० उ० गेश्० देस वेद, पृ० १०९ आदि देख सकते हैं, अपने इलस्ट्रेशन्स आफ द निरुक्त, पृ०४२ मे रॉथ ने यह अनुमान किया है कि मन्त्र २३ मे आए हुए 'लोध' और 'पशु' दोनो ही शब्द विभिन्न स्वभाव के पशुओ के द्योतक हो सकते है और इस वाक्य का अर्थ कुछ ऐसा ही हो सकता है कि "वे भेडिये को खरगोश के समान देखते है।" अपने लेक्सिकन मे 'पशु' के अन्तर्गत वे इस शब्द का तात्पर्य पशु का शिर (आइन स्टयूक वीह) लेते हैं, जो घृणासूचक पद है। मन्त्र २४ के 'ज्यावाज' का अर्थ वे "धनुष की वेगपूर्ण शक्ति से युक्त" (स्नेल-क्राफ्ट) लेते हैं।

हो, जिसे वे मान्यता नहीं देते, तो ऋग्वेद ३. ५३ के मन्त्र ९-११ को प्रक्षिप्त तथा विश्वामित्र को सदैव भरतों से संयुक्त मानने के अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग नहीं रह जाता। किन्तु, जैसा वे कहते है, इस प्रकार के युग में जो वेद के सूक्तों में प्रतिबिम्बित है,—छोटी-छोटी पड़ोसी जातियों में संघर्ष और कलह का ऐसा समय जब कुलों के नेताओं और छोटे-छोटे जन-प्रमुखों की शक्ति असीमित थी, तथा दस राजा सुदास् के विरुद्ध संगठित थे—इस प्रकार के अनेक इकाइयों में विभक्त राज्यसत्ता के काल में परस्पर एक भाषा और व्यवहार के बन्धनों से संबद्ध परिवारों तथा जनों में परस्पर संघर्ष, शत्रुता तथा प्रतिशोध देखने की अपेक्षा इनमें से किसी जनप्रमुख के ऊपर निरन्तर तथा अप्रतिबाधित प्रभाव रखने में विश्वामित्र और वसिष्ठ के वंशों जैसे देवताओं के कृपापात्र जनवर्ग को पाना अधिक आश्चर्यजनक सिद्ध होगा। जैसा कि रॉथ का कथन है परवर्ती परम्परा से यह स्पष्ट है कि वसिष्ठ और उनका वंश सदैव ही सुदास् का कृपापात्र नहीं रहा, इसके विपरीत कभी न कभी उसकी शत्रुता या उसके राजकुल की शत्रुता से आपन्न भी होता रहा। इसके प्रमाण में वे सायण की ऋग्वेद ७. ३२ की टीका से दिये गये एवं उसमें शाट्यायन और ताण्ड्य ब्राह्मणों से उद्धृत अंशों तथा महाभारत के आदि पर्व के १७६ वें अध्याय के श्लोक १ और बाद की ओर निर्देश करते है, जिसे आगे के एक खण्ड में उद्धृत किया जायगा।

रॉथ के विचार के अनुसार (पृ० ११४) सुदास् और वसिष्ठ के बीच गठबन्धन, जिसके लिये विश्वामित्र क्षुब्ध थे, कुछ काल के लिये ही था, अतः हमें यह समझना चाहिए कि उनके विचार के अनुसार, वसिष्ठ और उनका कुल अन्ततोगत्वा अपने और अपने प्रतिद्वन्द्वियों के बीच प्रभाव-प्राप्ति के संघर्ष में विजयी हुआ।

अपने इण्डिशे स्टूडिएन के प्रथम भाग, पृ० १२० पर डॉ० ए० कुन के एक लेख के साथ दी गई टिप्पणी में प्रोफेसर वेबर एक भिन्न विचार व्यक्त करते हैं। उनका यह कथन है : "राथ द्वारा दिये गये प्रमाण (पृ० १२२ आदि) जिनके अनुसार सुदास् महाकाव्यीय युग में ब्राह्मणीय हितों के विरोधी दिखाई पडते हैं, उनके इस कथन के विरोध में जा पड़ता है कि वसिष्ठ के कुल ने अन्ततः विश्वामित्र और कुशिकों को उस राजा के दरबार से बाहर करा दिया। विश्वामित्र और ब्राह्मणत्व के प्रतीक वसिष्ठ में शत्रुता किसी भी प्रकार अल्पकालीन नहीं (रॉथ, पृ० १२४) अपितु इसके विपरीत थी।" रॉथ द्वारा उद्धृत किये गये अंश, जिसे वेबर यहाँ अपने विचार का समर्थक

मानते है, ये है : मनु ७. ४१ (देखिए ऊपर पृ० ३२५) अनुक्रमणी, शाट्यायन और ताण्ड्य ब्राह्मणों सहित, जो पृ० ३७० पर उद्धृत है, और महाभारत के आदिपर्व के १२६ वें और आगे के खण्ड, जिन्हें आगे उद्धृत किया जायगा। इनके साथ कौषीतकि ब्राह्मण का उद्धरण दिया जा सकता है, जो पृ० ३७० पर दिया गया है। यदि सुदास् और वसिष्ठ में अन्ततः सामञ्जस्य स्थापित हो गया और सुदास् ने वसिष्ठ और उनके सम्बन्धियों को पुनः राजपुरोहित के पद पर नियुक्त तथा विश्वामित्र के प्रतिपक्षी कुल को पदच्युत कर दिया, तो प्रोफेसर वेबर के तर्क के अनुसार यह समझना कठिन प्रतीत होगा कि उस राजा का नाम परम्परया ब्राह्मणीय विशेषाधिकारों के समक्ष अविनेय रहने के अधर्म के ज्वलन्त उदाहरण के रूप में कैसे प्रचलित हुआ। यह द्रष्टव्य है कि मनु के उद्धरण के अतिरिक्त वसिष्ठ-कुल के विरुद्ध अत्याचार करने का दोषी सुदास् के वंशजों को ठहराया गया है स्वयं राजा को नहीं, और ऊपर उल्लिखित महाभारत के अंश में (आदिपर्व, २१०, १८ आदि) में सुदास् के पुत्र को अन्ततोगत्वा वसिष्ठ के साथ पुनः सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध से युक्त दर्शाया गया है।[१७२] यदि ऊपर देवताओं द्वारा सुदास्

---

[१७२] यह भी उल्लेखनीय है कि महाभारत के अनुसाशन पर्व मे वसिष्ठ और सौदास (सुदास का पुत्र या वंशज) के बीच गायो की पवित्रता के संवन्ध मे एक परिसंवाद है ७८, १ : 'एतस्मिन्न् एव कालेतु वसिष्ठम् ऋषि-सत्तमम्। इक्ष्वाकु-वशजो राजा सौदासो वदतावर । सर्व-लोकचरं सिद्धम् ब्रह्म-कोशं सनातनम्। पुरोहितम् अभिप्रष्टुम् अभिवाद्योपचक्रमे। सौदास उवाच। त्रैलोक्ये भगवन् किस्वित् पवित्र कथ्यतेऽनघ। यत् कीर्त्तयन् सदा मर्त्य प्राप्नुयात् पुण्यम् उत्तमम्।' "इस समय इक्ष्वाकु वंश मे उत्पन्न वदान्य राजा सौदास प्रणाम करके अपने कुल-पुरोहित, सनातन, सभी लोको मे चिरण करनेवाले ब्रह्म ज्ञान के भण्डार वसिष्ठ के निकट पहुंचे और पूछा 'हे पूज्य एवं पापशून्य मुनि! तीनो लोको मे पवित्रतम वस्तु क्या है, जिसकी पूजा करने से उत्तम पुण्य प्राप्त हो।' उत्तर मे वसिष्ठ विस्तृत रूप मे गौ की पूजा से उत्पन्न होने वाले पुण्य का वर्णन करते हैं और इन पशुओ को कतिपय विशिष्ट गुणो से सबद्ध करते हैं। क्योकि उन्हे सभी पशुओ को धारण करनेवाला कहा गया है (प्रतिष्ठा भूतानाम्—श्लोक ३७३६) "वर्तमान और भविष्य" (गावो भूत च भव्य च—७८, ६) तथा वे गौ को "विश्व को व्याप्त करने वाली, भूत और भविष्यत् काल की माता" कहते है ('यया सर्वम् इद व्याप्तं जगत् स्थावर-जङ्गमम्। ताम् धेनु शिरसा वन्दे भूत-भव्यस्य मातरम्',|८०,१५)। श्लोक ८०,१७मेइस प्रकार कहा गया है . वरम्

की सहायता के सन्दर्भ में ऋग्वेद से उद्धृत अंश (पृ० ३७३ आदि) एक वास्तविक पुरुष और उसी व्यक्ति का उल्लेख करते हैं जिससे हम यहाँ संबद्ध हैं, तो उनका सामञ्जस्य ब्राह्मणों, महाभारत, और पुराणों की इन परम्पराओं के साथ बैठाना कठिन है, क्योंकि उन्हें विश्वामित्र या उनके वंशजों की रचना नहीं बताया गया है, और यतः उनमें अनिवार्यतः यह अर्थ निहित है कि सुदास् एक ऐसा धर्मात्मा राजा था, जिसने उन ऋषियों द्वारा, जिन्होंने उसका वर्णन किया है, प्रतिपादित पद्धति से लोकप्रिय देवताओं की पूजा की, अन्यथा ऋषि अपने सूक्तों में उसे देवताओं के प्रमुख कृपापात्र के रूप में वर्णित नहीं करते। जैसा कि हम देख चुके हैं, (पृ० ३०९) परम्परा सुदास् को एक वैदिक सूक्त का रचयिता भी बताती है। सप्तम-मण्डल के १०४ वें सूक्त के एक मन्त्र, जिन्हें मैं उद्धृत कर चुका हूँ (ऊपर पृ० ३६८) इस प्रश्न के समाधान में कोई और सहायता नही प्रदान करते। यह मानने पर कि उनमें विश्वामित्र को शाप दिया गया है, यह निर्धारित करने का कोई आधार नही है कि यह शाप कब दिया गया था। और वसिष्ठ पर ये आरोप उनके प्रतिद्वन्द्वी के उत्थान के पूर्व लगाये गये थे या बाद में यह भी निश्चित नहीं किया जा सकता।

अतएव वसिष्ठ और विश्वामित्र के सुदास् के साथ सम्बन्धों के प्रश्न के समाधान के लिए हमारे पास इसके अतिरिक्त अन्य पर्याप्त आधार नहीं कि वे दोनों ऋग्वेद के सूक्तों के अनुसार, एक या दूसरे समय पर उसके पुरोहित रहे प्रतीत होते हैं, किन्तु इनमें से किसने राजा की कृपा पहले प्राप्त की और किसने बाद में, यह हर प्रकार से रहस्य ही बना रहेगा।

खंड ८—त्रिशङ्कु की कथा

अब मैं पुराणों, रामायण तथा महाभारत के विभिन्न आख्यानों को उद्धृत करूँगा, जिनमें वसिष्ठ और विश्वामित्र को परस्पर संघर्षरत दिखाया गया है।

इदम् इति भूमिदो (भूमिपो ?) विचिन्त्य प्रवरम् ऋषेर् वचनं ततो महात्मा। व्यसृजत नियतात्मवान् द्विजेभ्यो सुबहु च गो-धनम् आप्तवास् लोकान्। "महान् और सयमी राजा ने ऋषि के इन वचनो को श्रेष्ठ मान कर, ब्राह्मणो को गौ रूप मे प्रचुर धन दिया और सभी लोको को प्राप्त किया"—हम यहाँ सौदास, के पुत्र की एक महात्मा रूप मे प्रशस्ति पाते हैं।

विष्णुपुराण के चतुर्थ अंश के तृतीय अध्याय में (विल्सन, भाग ३, पृ० २८४ आदि) हम राजा सत्यव्रत के सम्बन्ध में एक कथा पाते हैं, जिन्हें त्रिशङ्कु भी कहा गया है और जो इक्ष्वाकु से २६ वें थे। वे चण्डाल की दशा में जा गिरे थे। उनके विषय में कहा गया है ४. ३, १३, द्वादश-वार्षिक्याम् अनावृष्ट्यां विश्वामित्र-कलत्रापत्य—पोषणार्थं चण्डाल-प्रतिग्रह-परिहरणाय च जाह्नवी-तीर-न्यग्रोधे मृग-मांसम् अनुदिनम् बबन्ध। १४. परितुष्टेन च विश्वामित्रेण स-शरीरः स्वर्गम् आरोपितः।

"बारह वर्ष की अनावृष्टि में वे प्रतिदिन विश्वामित्र की पत्नी और बच्चों के भोजन के लिए गङ्गा के तट पर न्यग्रोध वृक्ष पर मृग का मांस इस विचार से लटका देते थे कि इस प्रकार उन्हें चण्डाल से दान लेने की अप्रतिष्ठा से बचा लेंगे, और तब विश्वामित्र ने, जो उनके इस व्यवहार से तुष्ट हुए थे उन्हें स्वर्ग पहुँचा दिया।"[73]

यह कथा अधिक विस्तृत रूप में हरिवंश (खण्ड १२ और १३) में कही गई है जिसमें वसिष्ठ का भी वर्णन है। मैं पहले ही (पृ० ३८०) इस ऋषि के अतिमानवीय दीर्घजीवन के विषय में कह चुका हूँ जिन्हें इक्ष्वाकु और उसकी एकसठवीं पीढ़ी के राजा दोनों ही का समकालीन बताया गया है। किन्तु भारतीय पुराकथाशास्त्र अपनी असीमित अतिमानवीय योजना तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त के द्वारा सभी असंगतियों को संगत बैठा सकता है, और सभी विरोधोक्तियों की आवश्यकता के समय किसी भी अवसर पर दूसरे को उसी ऋषि के रूप में पुनः उपस्थित करके व्याख्या कर सकता है।

हरिवंश में कहा गया है कि सत्यव्रत (त्रिशंकु) को उनके पिता ने एक पुरवासी की युवती पत्नी का वासना के वशीभूत होकर अपहरण करने के अपराध में घर से निकाल दिया था (श्लोक ७१८. येन भार्य्या कृता पूर्वं कृतोद्वाहा परस्य वै। ७२०. जहार कामात् कन्या स कस्यचित् पुर-

[73] महाभा० १२ १४१, १२ आदि (जिसका निर्देश वेबर ने इण्ड० स्टू० १ ४७५ की टिप्पणी में किया है) में विश्वामित्र के विषय में एक कथा है जिसमें वे त्रेतायुग के अन्त और द्वापर के प्रारम्भ में दुर्भिक्ष के समय एक कुत्ते का मांस खाने का निश्चय करते हैं और इस विषय पर एक चण्डाल से उनका वादविवाद होता है। मनु १० १०८ में इस स्थिति का उल्लेख किया गया है: 'क्षुधार्त्तश् चात्तुम् अभ्यागाद् विश्वामित्रः श्व-जाघनीम्। चण्डाल-हस्ताद् आदाय धर्माधर्म-विचक्षणः।' "धर्म और अधर्म को जानने वाले विश्वामित्र ने एक चण्डाल के हाथ से लेकर कुत्ते का मांस खाने का निश्चय किया।"

वासिनः), और वसिष्ठ ने उसके निष्कासन का विरोध नहीं किया। उसके पिता ने वानप्रस्थ जीवन व्यतीत करने के लिए वन का आश्रय लिया। इस दुष्कर्म के फलस्वरूप इन्द्र ने बारह वर्षों तक वृष्टि नहीं की। उस समय विश्वामित्र अपनी पत्नी तथा बच्चों को छोड़कर समुद्रतट पर तपस्या करने गये थे। उनकी पत्नी अभावग्रस्त होकर अपने दूसरे पुत्र को अन्य पुत्रों का पालन करने के विचार से बेचने ही वाली थी, किन्तु सत्यव्रत के बीच में पड़ने से यह व्यवस्था रुक गई, जिन्होंने बाँधे[१७४] हुए पुत्र को मुक्त और वन्य पशुओं का मांस देकर उस परिवार का पालन पोषण किया, तथा अपने पिता की आज्ञा के अनुसार बारह वर्षों तक शान्त होकर तपस्या करने के लिये दीक्षित हो गया (श्लोक ७३२. उपांशु-व्रतम् आस्थाय दीक्षां द्वादश-वार्षिकीन्। पितुर् नियोगाद् अवहत् तस्मिन् वन-गते नृपे)। तथा आगे इस प्रकार है :—

श्लोक ७३३. अयोध्यां चैव राष्ट्रं च तथैवान्तःपुरम् मुनिः। याज्योपाध्याय-सम्बन्धाद् वशिष्ठः पर्यरक्षत। सत्यव्रतस् तु बाल्याद् वै भाविनोऽर्थस्य वा बलात्। वशिष्ठेऽभ्यधिकम् मन्युं धारयामास नित्यदा। ७३५. पित्रा हि त तदा राज्यात् त्यज्यमानं स्वम् आत्मजम्। न वारयामास मुनिर् वशिष्ठः कारणेन ह। पाणि-ग्रहण-मन्त्राणाम् निष्ठा स्यात् सप्तमे पदे। न च सत्यव्रतस् तस्माद् धृतवान् सप्तमे पदे। जानन् धर्मान् वशिष्ठस् तु न मां त्रातीति भारत। सत्यव्रतस् तदा रोषं वशिष्ठे मनसाऽकरोत्। गुण बुद्ध्या तु भगवान् वशिष्ठः कृतवास् तदा। न च सत्यव्रतस् तस्य तम् उपांशुम् अबुध्यत। ७४०. तेन त्व् इदानीं वहता दीक्षां ता दुर्वहाम् भुवि। "कुलस्य निष्कृतिस् तात कृता सा वै भवेद्" इति। न तं वशिष्ठो भगवान् पित्रा त्यक्तं न्यवारयत्। अभिषेक्ष्याम्य् अहम् पुत्रम् अस्येत्य् एवम् मतिर् मुनेः। स तु द्वादश-वर्षाणि तां दीक्षाम् उद्वहन् बली। अविद्यमाने मांसे तु वशिष्ठस्य महात्मनः। सर्वकाम-दुघां

---

[१७४] जिस रूप में प्रोफेसर रॉथ इस कथा को ऐतरेय ब्राह्मण में दी गई शुनःशेप की कथा के साथ संबध देखते हैं उसके विषय में उनके विचारों को इण्ड स्टू० २,१२१ आदि में देखिए। एक आख्यान की अनेक घटनाएँ दूसरे आख्यान की गई घटनाओं के साथ अनेक दृष्टियों से विलक्षण समानान्तर उपस्थित करती है, जिसे वे कथमपि आकस्मिक नहीं मानते, उनका विचार है कि त्रिशंकु के आख्यान का यह रूप शुनःशेप के आख्यान के रूप-परिवर्तन तथा उसकी विकृति से उत्पन्न हुआ होगा।

दोग्ध्री ददर्श स नृपात्मजः। तां वै क्रोधाच् च मोहाच् च श्रमाच् चैव क्षुधार्दितः। दशधर्म-गतो राजा जघान जनमेजय।...७४५ तच् च मांसं स्वयं चैव विश्वामित्रस्य चात्मजान्। भोजया मास तच् छ्रुत्वा वशिष्ठोऽप्य् अस्य चुक्रुधे ।.. ७५०. विश्वामित्रस् तु दाराणां आगतो भरणे कृते। स तु तस्मै वरन् प्रादाद् मुनिः प्रीतस् त्रिशङ्कवे। छन्द्यमानो वरेणाथ वरं वव्रे नृपात्मजः। सशरीरो व्रजे स्वर्गम् इत्य् एव याचितो वरः। अनावृष्टि-भये तस्मिन् गते द्वादश-वार्षिके। पित्र्येऽभिषिच्य राज्ये तु याजयामास तम् मुनिः। मिषटा देवताना च वशिष्ठस्य च कौशिकः। सशरीरं तया तं तु दिवम् आरोपयत् प्रभु'।

७३३ "इस बीच वसिष्ठ ने राजा (सत्यव्रत के पिता) और अपने में शिष्य[७५] और गुरु का सम्बन्ध होने से अयोध्या का राज्य किया, तथा राजप्रासाद के अन्तःपुर की देखभाल की। किन्तु मूर्खतावश या भाग्य के अधीन होकर सत्यव्रत उत्तरोत्तर वसिष्ठ का द्रोही होता गया, जिन्होंने उचित कारण से उसके पिता द्वारा उसके निष्कासन का विरोध नहीं किया। सत्यव्रत ने कहा : 'विवाह-संस्कार की विधि उसी समय पूर्ण होती है जब सप्तपदी हो जाती है[७६] और उस स्त्री का अपहरण करके मैंने ऐसा नहीं किया है; तथापि धर्म के उपदेश को जानने वाले वसिष्ठ मेरी सहायता नहीं कर रहे हैं।' इस प्रकार सत्यव्रत मन-ही-मन वसिष्ठ के विरुद्ध हो गया, जिन्होंने केवल उचित का ध्यान रखकर आचारण किया था। सत्यव्रत ने पिता द्वारा बताई गई उस मौन तपस्या का भी अर्थ नहीं समझा ..७४०. जब उसने यह कठोर कर्म कर लिया तो उसने स्वयं को अपने वश के पद के योग्य समझ लिया। पूज्य मुनि वसिष्ठ ने (जैसा कि पहले कहा जा चुका है) उसके पिता को उसका निष्कासन करने से मना नहीं किया, अपितु उसके पुत्र का अभिषेक करने का निश्चय किया। जब प्रतापी राजकुमार सत्यव्रत ने बारह वर्ष तपस्या पूर्ण कर ली तो आहार के लिये मास न उपलब्ध होने के समय उन्होंने वसिष्ठ की गौ देखी जो सभी इच्छाओं को प्रदान करने वाली थी। क्रोध, अज्ञान तथा क्षुधाजनित दुर्बलता के वशीभूत

---

[७५] शब्दश "वह व्यक्ति जिसके लिये यज्ञ किया जाने वाला था।"

[७६] "इसके आगे का कर्म है कन्या का सात पद चलना। यह सभी वैवाहिक कर्मों मे महत्वपूर्ण है, क्योंकि ज्यो ही वह सात पद पूरा करती है विवाह पूर्ण और अविच्छेद्य हो जाता है उसके पहले नहीं।" कोलब्रूक के मिस० एस० १. २९८, जिसमे और विस्तृत वर्णन पाया गया।

होकर तथा दस धर्मों में च्युत होकर [जिनके विरोधी अधर्मों को यहाँ गिनाया गया है] उसने उसका वध कर डाला। (७४५), उसने स्वयं ही उसके मांस का भक्षण किया और विश्वामित्र के पुत्र को खाने के लिए दिया। वसिष्ठ यह सुनकर उस पर बहुत क्रुद्ध हुए और उन्होंने उसे त्रिशङ्कु नाम दिया क्योंकि उसने तीन पाप किये थे (श्लोक ७४७-७४९)। "७५०. घर लौटने पर विश्वामित्र उस अपनी पत्नी के भरण-पोषण से प्रसन्न हुए और उन्होंने त्रिशङ्कु से एक वर माँगने को कहा। यह प्रस्ताव रखने पर त्रिशङ्कु ने सशरीर स्वर्ग पहुँचने का वर माँगा। बारह वर्ष के अवर्षण से उत्पन्न सभी उत्पातों के समाप्त हो जाने पर मुनि (विश्वामित्र) ने त्रिशङ्कु को उसके पिता के राज्य का अधिकारी बनाया और उसके लिये यज्ञ किया। प्रतापी कौशिक ने देवताओं और वसिष्ठ के बाधा उत्पन्न करने के विपरीत भी उस राजा को स्वर्ग पहुँचा दिया।"

त्रिशङ्कु की कथा रामायण के बालकाण्ड में भी कही गई है, यद्यपि उसमें अन्तर है। किन्तु यतः वहाँ इसे उस ग्रन्थ के ५१ वें और ६५ वें खण्ड में वर्णित वसिष्ठ के साथ विश्वामित्र के अनेक संघर्षों के इतिहास के एक अंश के रूप में प्रस्तुत किया गया है, अतः उस वर्णन पर आने के पूर्व इसका विवेचन मैं नहीं करूँगा।

खण्ड. ९–हरिश्चन्द्र की कथा

पूर्व-विवेचित कथा के नायक त्रिशङ्कु के पुत्र हरिचन्द्र थे जिनके नाम का उल्लेख विष्णुपुराण में किया गया है किन्तु उनके जीवन की घटनाओं का कोई वर्णन नहीं है। मार्कण्डेय पुराण[१७१] के अनुसार उन्होंने विश्वामित्र की धन की माँग पूरी करने के लिए अपना सम्पूर्ण राज्य दे दिया, अपनी पत्नी और पुत्र को बेच दिया और अन्तत स्वयं भी बिक गये। उसमें अध्याय १ खण्ड ७–९ में जो कथा कही गई है उसका संक्षेप इस प्रकार है। कदाचित् हम इसे विवादपूर्ण उक्तियों से युक्त मान सकते है क्योंकि यह ब्राह्मणों के क्षत्रिय प्रतिद्वन्द्वी विश्वामित्र को नितान्त अवाञ्छनीय रूप में उपस्थित करता है। हरिश्चन्द्र, उनकी पत्नी, और पुत्र के कष्टों को बड़े कारुणिक रूप में उपस्थित तथा विभिन्न घटनाओं के प्रभावों को बड़ी कलात्मक दक्षता के साथ

---

[१७१] वही कथा पद्मपुराण में भी कही गई है। देखिए विलसन का वि० पु० भाग ३. पृ० २८७ तथा टिप्पणी। महाभारत २ १२, १० आदि में हरिश्चन्द्र के वैभव का वर्णन किया गया है।

उत्कर्ष प्रदान किया गया है। वस्तुतः यह कथा भारतीय साहित्य में मुझे सर्वाधिक हृदयस्पर्शी प्रतीत होती है। पुराण का कथन है कि हरिचन्द्र त्रेता युग के एक राजर्षि और अपने गुणों तथा अपने राज्य में व्याप्त नैतिक तथा भौतिक सम्पदा के लिये ख्यात थे। एक अवसर पर मृगयारत राजा ने एक स्त्री का आर्तस्वर सुना जो 'महातपस्वी मुनि विश्वामित्र द्वारा अभ्यास की जाती हुई विद्याओं से निकल रहा था, क्योंकि वे पूर्वकाल में किसी भी व्यक्ति के समक्ष प्रकट नहीं हुई थीं, और इस कारण उनकी उग्रता के भय से निरन्तर आर्त्तनाद कर रही थीं। क्षत्रिय होने के नाते दुर्बलों की रक्षा करने के अपने कर्तव्य को पूरा करने के लिए, और गणेश देव द्वारा, जिन्होंने उनके भीतर प्रवेश कर लिया था, प्रेरित होकर हरिचन्द्र ने कहा (१. २, १२) "वह कौन पापी है जो अपने वस्त्र में अग्नि लगा रहा है, जब कि उसका स्वामी मैं तेज और उग्र शक्ति से युक्त होकर यहाँ प्रस्तुत हूँ?' वह आज मेरे बाणों से, जो मेरे धनुष से निकल कर सभी दिशाओं को द्युतिमान् बनाते हैं, छिन्न-भिन्न होकर महानिद्रा में प्रवेश करेगा" १२. कोऽयम् बध्नाति वस्त्रान्ते पावकम् पाप-कृन् नरः। बलोष्ण-तेजसा दीप्ते मयि पत्याव् उपस्थिते। १३. सोऽद्य मत्-कार्मुकाक्षेप-विदीपित-दिगन्तरैः। शरैर् विभिन्न-सर्वाङ्गो दीर्घनिद्राम् प्रवेक्ष्यति। विश्वामित्र इस संबोधन से क्रुद्ध हुए। उनके क्रोध के प्रभाव से उनकी सभी विद्याएँ नष्ट हो गईं और अश्वत्थवृक्ष के पत्ते के समान काँपते हुए हरिश्चन्द्र ने निवेदन किया कि उन्होंने केवल अपने राजा के कर्त्तव्यों का पालन किया था जिसके अनुसार श्रेष्ठ ब्राह्मणों एवं अन्य निर्धनों को धनदान, दुर्बलों की रक्षा, एवं शत्रु से युद्ध करना राजा का धर्म था। इसके उपरान्त विश्वामित्र दान माँगते हैं जिसका एक ब्राह्मण अधिकारी है। राजा उन्हें सब कुछ देने का वचन देते हैं : सोना, पुत्र, पत्नी, शरीर, जीवन, राज्य, समृद्धि जो भी वे माँगने की इच्छा करें। (हिरण्यं वा सुवर्णं वा पुत्रः पत्नी कलेवरम्। प्राणाः राज्यम् पुरं लक्ष्मीर् यद् अभिप्रेतम् आत्मनः।) मुनि सर्वप्रथम राजसूय यज्ञ की दक्षिणा माँगते हैं। इसका वचन देने पर तथा उससे अधिक दक्षिणा प्रदान करने पर वे हरिश्चन्द्र, उनकी पत्नी, पुत्र और गुणों को छोड़कर जो गुणी के साथ ही रहते हैं, अन्य सभी वस्तुओं सहित सम्पूर्ण पृथ्वी का राज्य माँगते हैं[१७८] (१.७.२८, विना भार्य्या च

---

[१७८] मनु के मार्मिक श्लोक ८ १७ तथा ४. २३९ आदि से तुलना कीजिए, जिनका स्वतन्त्र अनुवाद इस प्रकार किया जा सकता है

'हमारा सद्गुण ही एकमात्र मित्र है जो मृत्यु तक साथ देता है, प्राण

पुत्रं च शरीरं च तवानघ। २६. धर्मं च सर्व-धर्म-ज्ञ यो यान्तम् अनुगच्छति)। हरिश्चन्द्र हर्ष के साथ स्वीकार कर लेते है। विश्वामित्र तब उन्हें सम्पूर्ण वस्त्राभूषण निकालकर केवल वल्कल धारण कर पत्नी शैव्या तथा पुत्र के साथ राज्य छोड देने की आज्ञा देते है। जब वे जाने लगते है तो मुनि उन्हें रोकते है और यज्ञ की दक्षिणा माँगते है जिसे वे नहीं दे सके थे। राजा उत्तर देते है कि केवल उनकी पत्नी, पुत्र तथा उनका शरीर बच गया है। विश्वामित्र जिद करते है कि फिर भी दक्षिणा देनी ही होगी और "ब्राह्मण को दक्षिणा देने का वचन देकर उसे पूरा न करने पर नाश हो जाता है" (१. ७. ३५ विशेषतो ब्राह्मणानां हन्त्य् अदत्तम् प्रतिश्रुतम्)। शाप दे देने की धमकी सुनकर बेचारे राजा एक मास मे दक्षिणा चुका देने की प्रतिज्ञा करते है। इस प्रकार परिश्रम के जीवन से अनभिज्ञ पत्नी के साथ वे यात्रा प्रारम्भ करते हैं। सभी प्रजा करुण विलाप करने लगती है। जब वे प्रजा के प्रेमपूर्ण वचनों के लिए थोडी देर ठहर जाते है तब विश्वामित्र आते हैं और इस विलम्ब पर क्रुद्ध होकर तथा राजा की हिचकिचाहट देखकर रानी पर डंडे से प्रहार करते है परन्तु राजा उसे खींच ले जाते है। इन सबको हरिश्चन्द्र बिना प्रतिवाद किये धैर्यपूर्वक सहते है। तब पाँच दयालु विश्वेदेव कहते हैं : "यह पापी विश्वामित्र किस लोक को जायगा, जिसने इतने श्रेष्ठ, यज्ञकर्ता को राजच्युत कर दिया है। अब महायज्ञों मे मन्त्रों के उच्चारण के साथ किसकी श्रद्धा सोमरस को पावन बनावेगी, जिसे हम पी सकेंगे और आनन्दित हो सकेंगे" (१. ७, ६२, अथ विश्वे तदा देवाः पञ्च प्राहुः कृपालवः। विश्वामित्रः सुपापोऽयं लोकान् कान् समवाप्स्यति। ६३. येनायं यज्वना श्रेष्ठः स्व-राज्याद् अवरोपितः।

निकलते ही सभी बन्धन और मित्रताएँ समाप्त हो जाती है। उसके बाद पिता, माता, पत्नी, पुत्र या बन्धु हमारे साथ नही रह सकते—धर्म ही हमारे मार्ग का एकमात्र साथी होता है। प्रत्येक व्यक्ति अकेले ही जन्म लेता है और अकेले ही ससार को छोडकर जाता है। अकेले ही मनुष्य सत्, असद् कर्म का फल प्राप्त करता है। काष्ठखण्ड या मृत्पिण्ड के समान उस प्राणहीन शरीर का बन्धु लोग चिता पर रख देते हैं उसके मित्र मुडकर उस स्थान को छोडकर चल देते है। किन्तु धर्म मनुष्य के साथ रहता है। अतएव मृत्यु के बाद साथ के जाने के लिए धर्म का भण्डार भरो। धर्म के नेतृत्व मे हम भयंकर अन्धकार को पार करते है।"

देखिए जराएसो भाग १९, वर्ष १८६२ पृ० ३०३ आदि।

कस्य वा श्रद्धया पूत सुतं सोमम् महाध्वरे। पीत्वा वयम् प्रयास्यामो मुदम् मन्त्र-पुरस्सरम्)। विश्वामित्र ने उनकी बात सुन ली और उन्हें मनुष्य हो जाने का शाप दिया। किन्तु सन्तान होने, पारिवारिक बन्धनों, तथा मानवीय दुर्बलताओं से मुक्त कर दिया और वचन दिया कि अन्त में वे पुनः अपना देवतापद प्राप्त कर लेंगे। फलतः वे द्रौपदी के पुत्रों के रूप में पाँच पाण्डवों से अज्ञात. उत्पन्न हुए। हरिश्चन्द्र की कथा को पुनः प्रारम्भ करके लेखक बताता है कि तब वे अपनी पत्नी और छोटे से पुत्र के साथ यह विचार करके बनारस चले गये कि शिव के अधिकार में होने से वह नगरी किसी मनुष्य के अधिकार में नहीं हो सकती। यहाँ उन्होंने क्रोधी विश्वामित्र को यज्ञ की दक्षिणा माँगने के लिये प्रस्तुत देखा यद्यपि अभी एक मास पूरा व्यतीत नहीं हुआ था। इस विपत्ति में शव्या ने सिसकते हुए अपने पति से कहा कि वे उसका विक्रय कर दें। यह प्रस्ताव सुनकर हरिश्चन्द्र मूर्च्छित हो जाते हैं। पुनः संज्ञा प्राप्त करने पर विलाप करते हैं और मूर्च्छित हो जाते हैं। उनकी दुःखमय दशा देखकर उनकी पत्नी भी मूर्च्छित हो जाती है। जिस समय वे दोनों अचेत पड़े हुए हैं उनका पुत्र भूख से पीड़ित होकर चिल्लाता है, "पिता जी, मुझे रोटी दो, माँ, भोजन दो: मैं भूख से व्याकुल हूँ, मेरी जीभ सूख रही है।" (१. ८, ३५, तात तात ददस्वान्नन् अम्बाम्ब भोजन दद। क्षुद्र मे बलवती जाता जिह्वाग्रं शुष्यते तथा)। इस समय विश्वामित्र आते हैं और हरिश्चन्द्र पर जल छिड़ककर उन्हें होश में लाकर पुनः दक्षिणा माँगते हैं। राजा पुनः मूर्च्छित होते हैं और पुनः होश में लाये जाते हैं। ऋषि उन्हें शाप देते हैं कि यदि सूर्यास्त तक वे वचन पूरा नहीं करते तो वे शाप दे देंगे। पत्नी के आग्रह पर राजा उसे बेचने को तैयार हो जाते हैं और कहते हैं "यदि मेरी वाणी इस प्रकार का दुर्वचन बोल सके, तो मैं वही करूँगा जिसे नितान्त अधम नृशंस व्यक्ति भी नहीं कर सकता।" (१. ८, ४८ आदि नृशंसैर् अपि यत् कर्त्तुं न शक्यं तत् करोम्य् अहम्। यदि मे शक्यते वाणी वक्तुम् ईदृक् सुदुर्वचः)। तब वे नगर में जाते हैं और स्वनिन्दापरक वचनों द्वारा अपनी पत्नी को दासी के रूप में बेचने लगते हैं। एक धनी वृद्ध ब्राह्मण उसके मूल्य के अनुसार धन पर दासी का कर्म कराने के लिए खरीदने आता है। हरिश्चन्द्र का हृदय विदीर्ण हो गया था, वे उत्तर न दे सके। ब्राह्मण ने रुपये गिने और रानी के केशों को पकड़ कर खींच कर ले जाने लगा। उसके छोटे बच्चे ने अपनी माता को ले जाते देख कर रोना प्रारम्भ कर दिया और उनके आँचल को पकड़ लिया। तब माता ने कहा: १. ८, ५९ "मुञ्चार्य्य मुञ्च मां तावद् यावत् पश्याम्य् अहं

शिशुम्। दुर्लभं दर्शन तात् पुनर् अस्य भविष्यति। ६० पश्यैहि वत्स माम् एवम् मातरं दास्यतां गताम्। माम् मा स्प्राक्षीः राज-पुत्र अस्पृश्याऽहं तवाधुना।" ६१. ततः स बालः सहसा दृष्ट्वा कृष्टां तु मातरम्। समभ्यधावद् अम्बेति रुदन् सास्राविलेक्षणः। ६२. तम् आगत द्विजः क्रेता बालम् अभ्याहनत् पदा। वदांस तथापि सोऽम्वेति मैवामुञ्चत मातरम्। ६३. राजपत्न्य् उवाच। प्रसादं कुरु मे नाथ क्रीणीष्वेमं च बालकम्। क्रीताऽपि नाहम् भवतो विनैनं कार्य-साधिका। ६४. इत्थम् ममाल्प-भाग्यायाः प्रसाद-सुमुखो भव। मां संयोजय बालेन वत्सेनेव पयस्विनीम्"। ६५. ब्राह्मणः उवाच। "गृह्यताम् वित्तम् एतत् ते दीयताम् बालको मम।" "आर्य मुझे जाने दें, तब तक मै अपने पुत्र को देख लूँ। अब मैं शायद ही कभी उसे देख सकूँ। आओ, मेरे बेटे, अपनी माँ को देख लो जो अब दासी हो गई है। मुझे मत छुओ, राजपुत्र, अब मैं तुम्हारे लिये अस्पृश्य हूँ।' अपनी माँ को खींचकर ले जाये जाते देख कर बालक उसके पीछे दौड़ा। उसकी आँखें आँसुओं से भरी हुई थीं और वह 'माता' 'माता' पुकार रहा था। जब वह निकट आया तो ब्राह्मण क्रेता ने उसे ठोकर मार दिया. किन्तु वह अपनी माँ को जाने से रोकता और 'माता, माता' चिल्लाता ही रहा। तब रानी ने ब्राह्मण से कहा, "नाथ! आप प्रसन्न होंवे, इस बालक को भी खरीद लीजिए क्योंकि इसके बिना मेरा क्रय व्यर्थ सिद्ध होगा। ६४. इस विपत्ति के समय मुझ पर दयालु होंवे, मुझे और मेरे पुत्र को एक साथ रखिए जैसे गौ और गौ का बछड़ा साथ रक्खा जाता है।"[१७९] ब्राह्मण सहमत हो गया: "यह धन लो और इस बालक को भी दे दो।" जब पत्नी और पुत्र ले जाये जा रहे थे तब हरिश्चन्द्र फूट पड़े और विलाप करने लगे: १. ८, ६८: यां न वायुर् न चादित्यो नेन्दुर् न च पृथग्-जनः। दृष्टवन्तः पुरा पत्नी सेयं दासीत्वम् आगता। ६६. सूर्य-वंश-प्रसूतोऽय सुकुमार-कराङ्गुलिः। सम्प्राप्तो विक्रय बालो धिङ् माम् अस्तु सुदुर्मतिम्। "वह मेरी पत्नी, जिसे वायु, सूर्य चन्द्रमा और अन्यजनों ने देखा भी नहीं था आज दासी बन कर गयी। यह मेरा पुत्र भी, जो सूर्य-वंश में उत्पन्न हुआ है, जिसकी हाथ और अङ्गुलियां कोमल है, अब बिक गया। मुझ दुर्बुद्धि को धिक्कार है।" जब ब्राह्मण अपनी क्रीत दासी और उसके पुत्र के साथ आँखों से ओझल हो गया तो विश्वामित्र पुनः आये और उन्होंने दक्षिणा माँगी। जब दुःखी हरिश्चन्द्र ने अपनी पत्नी और पुत्र के विक्रय से प्राप्त अल्प धन उन्हें दिया तो उन्होंने क्रोधपूर्वक

---

[१७९] यह सब "अंकिल टामस कैबिन" के एक दृश्य जैसा लगता है।

उत्तर दिया, १. ८, ७४ (क्षत्रबन्धो ममेमां त्वं सदृशीं यज्ञ-दक्षिणाम्। मन्यसे यदि तत् क्षिप्रम् पश्य त्वम् मे बलम् परम्। ७५. तपसोऽत्र सुतप्तस्य ब्राह्मण्यस्यामलस्य च। मत् प्रभावस्य चोग्रस्य शुद्धस्या-ध्ययनस्य च)। "हे अभागे क्षत्रिय, यदि तू इसे मेरे योग्य यज्ञ की दक्षिणा समझता है, तो तू शीघ्र ही मेरी उग्रतपस्या की, मेरे ब्राह्मणत्व की, मेरे घोर प्रताप तथा शास्त्राध्ययन की शक्ति देखेगा।" हरिश्चन्द्र और धन देने की प्रतिज्ञा करते हैं और विश्वामित्र उन्हें दिन के शेष चतुर्थांश में दे देने का अवकाश देते है। जब भयभीत एवं विपन्न राजा नृशंस दक्षिणा की माँग को पूरी करने के लिए स्वयं को बेचने के लिए प्रस्तुत होते है तो धर्म कुरूप और भयंकर चण्डाल के वेश में उपस्थित होते हैं और उन्हे अपनी इच्छा के अनुसार अल्प या अधिक मूल्य पर खरीदने को सहमत हो जाते हैं। हरिश्चन्द्र इस प्रकार की घृणित सेवा करनी अस्वीकार कर देते है और कहते है कि वे शाप से भस्म हो जायेंगे परन्तु ऐसी सेवा नहीं करेंगे। इसी समय विश्वामित्र आते हैं और पूछते हैं कि वे चण्डाल द्वारा दिया गया प्रचुर धन क्यों नहीं लेते। जब वे अपने को सूर्यवंशी बताकर अपनी असमर्थता प्रकट करते है तो विश्वामित्र दक्षिणा चुकाने की इस विधि को न स्वीकार करने के लिए उन्हें शाप देकर भस्म कर देने की धमकी देते हैं। हरिश्चन्द्र प्रार्थना करते है कि इस पतित कर्म में न लगाया जाय और ऋण के बदले विश्वामित्र का दास बनना स्वीकार करते है। किन्तु तब ऋषि कहते है: "यदि तू मेरा दास है, तो मै तुझे शत अयुत द्रव्य पर चण्डाल के हाथ बेचता हूँ" (१. ८, ९५, यदि प्रेष्यो मम भवान् चण्डालाय ततो मया। दास-भावम् अनुप्राप्तो दत्तो वित्तार्बुदेन वै) चाण्डाल प्रसन्न होकर धन दे देता है और हरिश्चन्द्र को लेकर उन्हें बाँधकर मारते हुए अस्तव्यस्त अवस्था में अपने घर ले जाता है। अभागा राजा प्रात. मध्याह्न, और सायंकाल इन शब्दों को दुहराता हुआ कहता है: १. ८, ९९, (बाला दीन-मुखी दृष्ट्वा बालं दीन-मुखम् पुरः। मां स्मरत्य् असुखाविष्टा "मोचयिष्यति नौ नृपः १००. उपात्त-वित्तो विप्राय दत्त्वा वित्तम् अतोऽधिकम्"। न सा माम् मृग-शावाक्षी वेत्ति पापतरं कृतम्। १०१. राज्यनाशः सुहृत्-त्यागो भार्य्या-तनय-विक्रयः। प्राप्ता चण्डालता चेयम् अहो दुःखपरम्परा। "मेरी कोमल और दु:खी पत्नी, मेरे दु:खी पुत्र को देखती हुई, स्मरण आती है, जैसे वह कह रही हो 'धन प्राप्त कर और हमारे विक्रय से प्राप्त धन से भी अधिक धन ब्राह्मण को देकर राजा हमें मुक्त करेंगे।' किन्तु मेरी मृगशावक के समान नेत्रों वाली पत्नी यह नहीं

जानती कि मैं पहले से भी अधिक विपन्न हो गया हूँ। १०१. राज्य का नाश, मित्रों का वियोग, पत्नी और पुत्र का विक्रय और इस चाण्डाल की दशा में प्रवेश—अहो, यह विपत्तियों की कैसी परम्परा है।" चाण्डाल हरिश्चन्द्र को एक श्मशान में (जिसका विस्तार के साथ भयंकर एवं जुगुप्सा-पूर्ण वर्णन किया गया है) शव-वस्त्र लेने के लिए भेजता है और उन्हें मजदूरी के रूप में छः भागों में दो भाग देने का वचन देता है, क्योंकि उसमें तीन षष्ठांश चाण्डाल का और एक षष्ठांश राजा का होता था। इस भयंकर स्थान और इस निम्न व्यवसाय में उन्होंने घोर दुःख के साथ बारह महीने व्यतीत किये जो उन्हें सौ वर्षों के समान लगे (१. ८. १२७ एव द्वादश-मासास् तु नीता शत-समोपमाः)। तब उन्हें नींद आ जाती है और वे अपने जीवन से संबद्ध अनेक स्वप्न देखते हैं (श्मशानाभ्यास-योगेन, श्लोक १२९) जब वे जगते हैं उस समय उनकी पत्नी अपने पुत्र को जो साँप के काटने से मर गया था, दाहसंस्कार करने श्मशान में आती है (श्लोक १७१ आदि)। पहले पति-पत्नी एक दूसरे को नहीं पहचान पाते, क्योंकि विपत्तियों में पड़ने के कारण उनका रूप परिवर्तित हो गया है। उसके विलाप की बातों से हरिश्चन्द्र शीघ्र ही यह जान जाते हैं कि वह उनकी पत्नी है और वे मूर्च्छित हो जाते हैं और रानी भी अपने पति को पहचान कर मूर्च्छित हो जाती है। होश में आने पर वे दोनों विलाप करने लगते हैं, पिता मर्मस्पर्शी शब्दों में पुत्र की मृत्यु पर विलाप करता है और रानी राजा की विपन्नावस्था पर। तब वह उसकी ग्रीवा पकड़कर उसका आलिङ्गन करती है और पूछती है, यह सब स्वप्न है या सत्य है, वह विमूढ़ हो गई है।" राजा कहते हैं कि यदि यह सत्य है तो धर्म का आचरण करने वालों के लिये धर्म व्यर्थ है" (श्लोक २१० राजन् स्वप्नोऽथ तथ्यं वा यद् एतद् मन्यते भवान्। तत् कथ्यताम् महाभाग मनो वै मुह्यते मम। २११. यद्य् एतद् एव धर्मज्ञ नास्ति धर्मे सहायता)। बिना अपने स्वामी की आज्ञा से अपने पुत्र की चिता पर स्वयं को जला देने में राजा हिचकते हैं (क्योंकि ऐसे कर्म से उन्हें नरक की प्राप्ति होगी) (श्लोक २१५ आदि) किन्तु सभी परिणामों को झेलने के लिए तत्पर होकर वे ऐसा करने का निश्चय कर लेते हैं और अपने को इस आशा से धीरज बँधाते हैं : श्लोक २२४ : यदि दत्तं यदि हुतं गुरवो यदि तोषिताः। परत्र सङ्गमो भूयात् पुत्रेण सह च त्वया।" "यदि मैंने दान दिया है, यज्ञ किया है, और गुरु को सन्तुष्ट किया है, तो परलोक में पुत्र से और तुझ (पत्नी) से

पुनः मिलन होगा।"[१८०] रानी भी उसी प्रकार मरने का निश्चय करती है। जब हरिश्चन्द्र अपने पुत्र के शव को चिता पर रख कर विश्वात्मा भगवान हरि नारायण कृष्ण का ध्यान करते हैं उसी समय धर्म आदि सभी देवता विश्वा-

---

१८० अथर्ववेद के निम्नलिखित मन्त्रो मे यह आशा व्यक्त की गई है कि दूसरे लोक मे इन दोनो वशो मे पुनः संयोग होगा. ६ १२०, ३ यत्र सुहार्दः सुहृदो मदन्ति विहाय रोग तन्व स्वायाः। अश्लोना अङ्गैर् अह्रुता स्वर्गे तत्र पश्येम पितरो च पुत्रान्। "स्वर्ग मे जहाँ हमारे मित्र और स्वजन अपने शारीरिक दोषो का परित्याग कर, खञ्जत्व और निकलाङ्गता आदि से मुक्त होकर सुखपूर्वक निवास करते हैं—हम अपने पितरो और पुत्रो को देखें।" ९ ५ २७ या पूर्वम् पति वित्त्वा अथान्य विन्दतेऽपरम्। पञ्चौदन च ताव् अजं ददातो न वि योषतः। २८ समानलोको भवति पुनर्भुवाऽपर. पतिः। योऽजम् पञ्चौदनं दक्षिणज्योतिषं ददाति। "यदि किसी स्त्री का पहले से एक पति हो और वह दूसरा पति ढूँढती हो तो 'अज पञ्चोदन' आहुति करने से वे वियुक्त नहीं होगे। २८ दूसरा पति यदि दक्षिणासहित 'अज पञ्चोदन' यज्ञ करे तो परलोक मे उसी पुनर्विवाहिता पत्नी के साथ निवास करता है।" १२ ३, १७ स्वर्गं लोकम् अभि नो नयासि स जायया सह पुत्रैः स्याम। "तुम हमे स्वर्ग ले चलो, हम अपनी पत्नियो और पुत्रो के साथ रहे।" १८ ३, २३ स्वान् गच्छतु ते मनो अध पितॄन् उप द्रव। "तुम्हारी आत्मा अपने (स्वजनो) तथा पितरो के निकट शीघ्र पहुँचे।" "पतिव्रता हिन्दू विधवा के धर्म के विषय पर कोलब्रुक द्वारा उद्धृत किये गये अशो (मिस्० एसे० ११५ आदि) से यह प्रतीत होता है कि जो विधवा सती हो जाती है (अर्थात् अपने पति के साथ या वाद मे जल जाती है) दूसरे जन्म मे पति को प्राप्त करने तथा उसके साथ स्वर्गीय सुख प्राप्त करने का विश्वास रखती है। इस प्रकार का फल प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक था कि पति और पत्नी दूसरे जन्म मे समान पुण्य प्राप्त करें अथवा पत्नी का पति की चिता पर स्वयं को जला देने का साहसपूर्ण कर्म इतना महान् होता था कि उसके पापो का प्रायश्चित्त हो जाता था और वह उसके साथ ही स्वर्ग प्राप्त करने की भागी बन जाती थी। कोलब्रुक द्वारा उद्धृत किये गये आचार्यों का यही सिद्धन्त है कि पत्नी के आत्म-बलिदान का यही फल होता है। किन्तु दूसरी स्थितियो मे जब एक वंश के विभिन्न व्यक्ति जीवन मे अपने कर्मों से विभिन्न प्रकार के फलो के अधिकारी होते थे, परवर्ती युग मे प्रचलित पुनर्जन्म के सिद्धान्त के अनुसार पुन. विभिन्न पशुओं के रूप मे उत्पन्न होते हैं और इस कारण मृत्यु के उपरान्त उनमे

मित्र के साथ उपस्थित होते हैं।[१८३] धर्म राजा को इस अविवेक पूर्ण कर्म से विरत होने का आग्रह करते हैं और इन्द्र यह घोषणा करते हैं कि राजा, रानी, और उनके पुत्र ने अपने सत्कर्मों से स्वर्ग को जीत लिया है। देवतागण आकाश से मृत्यु को दूर करने वाले अमृत और पुष्प की वृष्टि करते हैं, और राजा का पुत्र जीवित होकर स्वस्थ युवक बन जाता है। दिव्य वस्त्रों एवं मालाओं से विभूषित राजा और उनकी रानी पुत्र का आलिङ्गन करते हैं। हरिश्चन्द्र कहते हैं कि जब तक वे अपने स्वामी चाण्डाल से मिल कर उसे धन देकर सन्तुष्ट नहीं कर लेते तब तक वे स्वर्ग नहीं जा सकते। जब धर्म राजा को बताते हैं कि स्वयं उन्होंने ही चाण्डाल का वेश धारण किया था, तब राजा आपत्ति करते हैं कि वे स्वर्ग तब तक नहीं जा सकते जब तक उनकी प्रिय प्रजा, जो उनके पुण्यों की भागी है, उनके साथ कम से कम एक दिन के लिए भी स्वर्ग नहीं जाती। इन्द्र इस प्रार्थना को स्वीकार कर लेते हैं और जब विश्वामित्र ने राजा के पुत्र, रोहिताश्व, का उनके उत्तराधिकारी रूप में अभिषेक कर दिया तो हरिश्चन्द्र, उनके मित्र, और अनुयायी, सभी स्वर्गलोक चले गये। इस महान् उत्कर्ष के उपरान्त भी हरिश्चन्द्र के कुल-गुरु वसिष्ठ जब गंगा के जल में बारह वर्ष का निवास समाप्त करने के उपरान्त इन सभी घटनाओं का कारण सुनते हैं तो उस श्रेष्ठ राजा की दुर्दशा पर जिसके गुणों एवं ब्राह्मणों तथा देवताओं के प्रति भक्ति का वे गुणगान करते हैं, अत्यन्त क्रुद्ध हो जाते हैं और कहते है कि स्वयं अपने सौ पुत्रों के विश्वामित्र द्वारा वध किये जाने पर भी उनका क्रोध इतना नहीं भड़का था। इन शब्दों में वे विश्वामित्र को बगुला हो जाने का शाप देते हैं। १ ९, ९ 'तस्माद् दुरात्मा ब्रह्म-द्विट् प्राज्ञानाम् अवरोपित'। मच्-छापोपहतो मूढः स बकत्वम् अवाप्स्यति।' "इस कारण, वह दुष्ट ब्राह्मणों का द्वेषी मेरे शाप से

परस्पर सम्बन्ध नही रह जाता। प्राचीनतम भारतीय ग्रन्थो मे पुनर्जन्म सिद्धान्त के उल्लेख के अभाव के विषय पर देखिए प्रोफेसर वेबर का कथन जर्न० आफ द जर्मन ओ० सो० ९ ३२७ आदि मे तथा जराए सो० १८६५ पृ० ३०५ आदि मे उनका एक उद्धरण।

[१८३] यहाँ श्लोक २३४ आदि मे 'विश्वामित्र' की व्युत्पत्ति देने का प्रयत्न किया गया है विश्व-त्रयेण यो मित्रम् कर्तु न शकिताः पुरा। विश्वामित्रस् तु ते मैत्रीम् इष्ट चाहर्तुम् इच्छति। "जिस विश्वामित्र के साथ पूर्वकाल मे तीन विश्व मित्रता करने मे सफल न हो सके, वही तुझ से मित्रता करना चाहता है और जो तुम चाहो वह प्रदान करने के लिये प्रस्तुत है।"

विद्वानों के समाज से बहिष्कृत होगा और विमूढ होकर बक रूप में परिवर्तित हो जायगा।" विश्वामित्र भी शाप देते हुये वसिष्ठ को आड़ि पक्षी बना देते हैं। इस नये रूप में वे दोनों घोर युद्ध करते हैं।[१८२] आड़ि पक्षी सहस्र योजन (= १८००० मील) ऊँचा था, और बक ३०९० योजन। वे दोनों पहले एक दूसरे पर अपने पंख से आक्रमण करते हैं, तब बक अपने प्रतिपक्षी को काटता है और आड़ि भी प्रहार करता है। उनके पंखों की फड़फड़ाहट से उत्पन्न वायु के झोंके से गिरते हुए पर्वत सम्पूर्ण पृथ्वी को कंपा देते हैं, समुद्र का जल ऊपर बहने लगता है, पृथ्वी अपनी धुरी से विचलित होकर पाताल की ओर सरकने लगती है। इन उत्पातों में अनेक प्राणी नष्ट हो जाते हैं। इस भयंकर विप्लव से आकृष्ट होकर सभी देवताओं के साथ ब्रह्मा उस स्थान पर उपस्थित होते हैं, और दोनों को युद्ध से विरत होने का आदेश देते हैं। वे इतने क्रुद्ध थे कि उन्होंने यह आज्ञा नहीं मानी, किन्तु ब्रह्मा ने उन दोनों को स्वाभाविक रूप प्रदान कर इस युद्ध का अन्त कर दिया तथा उनसे मेल कर लेने को कहा। १ ९, २८ 'न चापि कौशिक-श्रेष्ठस् तस्य राज्ञोऽपराध्यते। स्वर्ग-प्राप्तिकरो ब्रह्मन् उपकार-पदे स्थितः। २९. तपो-विघ्नस्य कर्त्तारौ काम-क्रोध-वशं गतौ। परित्यजत भद्रं नो ब्रह्म हि प्रचुरम् बलम्।' "कुशिक के पुत्र ने हरिश्चन्द्र का कोई अपराध नहीं किया है; राजा के स्वर्ग जाने में सहायक होकर वे उपकारी बने हैं। तुम इच्छा और क्रोध के वशीभूत हो

---

[१८२] इस युद्ध के विषय में भागवत पुराण में निम्नलिखित श्लोक है ९ ७ ६. त्रैशङ्कवो हरिश्चन्द्रो विश्वामित्र-वशिष्ठयो। यन्-निमित्तम् अभूद् युद्धम् पक्षिणोर् बहु-वार्षिकम्। "त्रिशङ्कु के पुत्र हरिश्चन्द्र थे, जिसके कारण विश्वामित्र और वसिष्ठ में पक्षी रूप में अनेक वर्षों तक युद्ध हुआ था।" इस पर टीकाकार का कथन है विश्वामित्रो राजसूय-दक्षिणाच्छलेन हरिश्चन्द्रस्य सर्वं-स्वम् अपहृत्य यातयामास। तच् श्रुत्वा कुपितो वशिष्ठोऽपि विश्वामित्र "त्वम् आड़ि भव" इति शशाप। सोऽपि "त्व वकोभव" इति वशिष्ठम् शशाप। तयोश् च युद्धम् अभूद् इति प्रसिद्धम्। "राजसूययज्ञ की दक्षिणा लेने के छल से विश्वामित्र ने हरिश्चन्द्र को निर्धन बना दिया और उन्हें यातना दी। इसे सुनकर वसिष्ठ क्रुद्ध हुए और उन्होंने उन्हें आड़ि बना दिया। विश्वामित्र ने भी शाप का प्रतिकार किया वसिष्ठ को बक बना दिया। तब उनमें एक युद्ध हुआ जो सर्वविदित है।" यहाँ यह द्रष्टव्य है कि टीकाकार ने, ऋषि जिन पक्षियों में परिवर्तित हुए थे, उनका कुछ परिवर्तन करते हुये विश्वामित्र के आड़ि और वशिष्ठ के बक होने का वर्णन किया है।

गये इससे तुम्हारी तपस्या भग हो गई। छोड़ो, तुम्हारा कल्याण हो। ब्रह्म की शक्ति महान् होती है।" दोनों ऋषि शान्त हुए और एक दूसरे का आलिंगन किया।

इस रोचक आख्यान के दो लक्ष्य माने जा सकते हैं . प्रथम तो यह कि यह कथा हरिचन्द्र और उनकी पत्नी द्वारा कष्टों एवं परीक्षाओं की दीर्घ श्रृङ्खला को सहन करने मे वीरतापूर्ण धैर्य तथा कर्त्तव्यपालन की भावना का ज्वलन्त चित्रण, और दूसरा, विश्वामित्र को एक अप्रिय रूप में उपस्थित करना, उन पौरोहित्य के विशेषाधिकारों का उग्र दावेदार प्रदर्शित करना, जिसे उन्होंने अपनी तपस्याओं के प्रभाव से प्राप्त कर लिया था,[१८३] और उन्हें ब्राह्मण वसिष्ठ के ठीक विरोध में स्थापित करते हुये जो अपने प्रतिद्वन्दी के कठोर कर्मों पर क्रोध प्रकट करते है, ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों के उन आरम्भिक संघर्षों का संस्मरण प्रस्तुत करना, जिसका उदाहरण इन दो ऋषियों में मिलता है, जिनमें एक को ब्राह्मणों का स्वामी" (वसिष्ठम् ईशं विप्राणाम् महा० शान्ति ४४९९) तथा दूसरे को प्रस्तुत कथा में 'पुरोहितों का शत्रु' कहा गया है।

खण्ड १०—महाभारत के अनुसार वसिष्ठ और विश्वामित्र का संघर्ष

महाभारत १. १७४, ५ आदि में हम एक दूसरा आख्यान पाते हैं जो ब्राह्मणीय दृष्टि से, इन दोनों व्यक्तियों के सम्बन्ध में ही है और वसिष्ठ की प्रशंसा एव उनके प्रतिद्वन्द्वी ऋषि की निन्दा के साथ प्रारम्भ होता है :

१७४, ५. ब्रह्मणो मानसः पुत्रो वशिष्ठोऽरुन्धती-पतिः। तपसा निर्जितो शश्वद् अजेयाव् अमरैर् अपि। काम-क्रोधाव् उभौ यस्य चरणौ संवाहतु'। यस् तु नोच्छेदनं चक्रे कुशिकानाम् उदार-धी.। विश्वामित्रापराधेन धारयन् मन्युम् उत्तमम्। न. पुत्र-व्यसनसन्तप्त' शक्तिमान् अप्य् अशक्त-वत्। विश्वामित्र-विनाशाय न चक्रे कर्म दारुणम्। मृतांश् च पुनर् आहर्तुम् य. स पुत्रान् यम-क्षयात्। कृतान्त नातिचक्राम वेलाम् इव महोदधिः। यम् प्राप्य विजितात्मान महात्मान नराधिपाः। इक्ष्वाको महीपाला. लेभिरे पृथिवीम् इमाम्। पुरोहितम् इमम् प्राप्य वशिष्ठम् ऋषिसत्तमम्। ईजिरे क्रतुभिश् चैव नृपास् ते कुरु-नन्दन। स हि तान् याज-

---

[१८३] यह सत्य है कि ब्रह्मर्षि दुर्वासा को भी अत्यन्त क्रोधी व्यक्ति बताया गया है। देखिए इस ग्रन्थ का भाग ४, तथा वेबर का इण्ड० स्टू० २ ३९८।

यामास सर्वान् नृपति-सत्तमान्। ब्रह्मर्षिः पाण्डव-श्रेष्ठ बृहस्पतिर् इवामरान्। १३. तस्माद् धर्म-प्रधानात्मा वेद-धर्म-विद् ईप्सितः ब्राह्मणो गुणवान् कश्चित् पुरोधाः परिदृश्यताम्। क्षत्रियेणाभिजातेन पृथिवीं जेतुम् इच्छता। पूर्वम् पुरोहितः कार्य्यः पार्थ राज्याभिसिद्धये। महीम् जिगीषता राज्ञा ब्रह्म कार्यम् परस्सरम्।""""१७५, १८ क्षत्रियोऽहम् भवान् विप्रस् तपः-स्वाध्याय-साधन.। ब्राह्मणेषु कुतो वीर्य्यम् प्रशान्तेषु धृतात्मसु। अर्बुदेन गवां यस् त्वं न ददासि ममेप्सितम्। स्व-धर्मं न प्रहास्यामि नेष्यामि च बलेन गाम्।""२२. "स्थीयताम्" इति तच् छ्रुत्वा वशिष्ठस्य पयस्विनी। उर्द्ध्वाञ्चित-शिरो-ग्रीवा प्रबभौ रौद्र-दर्शना। २३. क्रोधरक्तेक्षणा सा गौर् हम्भा-रव-घन-स्वना। विश्वामित्रस्य तत् सैन्य व्यद्रावयत सर्वशः। कशाग्र-दण्डाभिहता काल्यमाना ततस्ततः। क्रोध-रक्तेक्षणा क्रोधम् भूय एव समादधे। आदित्य इव मध्याह्ने क्रोध-दीप्त-वपुर् बभौ। अङ्गार-वर्षम् मुञ्चन्ती मुहुर् वालधितो महत्। असृजत् पह्लवान् पुच्छात् प्रस्रवाद् द्राविडान् शकान् योनिदेशाच् च यवनान् शकृतः शबरान् बहून्।""४४. दृष्ट्वा तद् महद् आश्चर्यम् ब्रह्म-तेजोभवम् तदा। विश्वामित्रः क्षत्र-भावाद् निर्विण्णो वाक्यम् अब्रवीत्। "धिग् बलं क्षत्रिय-बलम् ब्रह्म-तेजो बलम् बलम्। बलाबलं विनिश्चित्य तपः एव परम् बलम्"। स राज्य स्फीतम् उत्सृज्य तां च दीप्तां नृप-श्रियम्। भोगांश् च पृष्ठतः कृत्वा तपस्य् एव मनो दधे। स गत्वा तपसा सिद्धम् लोकान् विष्टभ्य तेजसा। ४८. तताप सर्वान् दीप्तौजाः ब्राह्मणत्वम् अवाप्तवान्। अपिबच् च ततः सोमम् इन्द्रेण सह कौशिकः।

१७४. ५. एक गन्धर्व अर्जुन को बताता है : "वसिष्ठ ब्रह्मा के मानस-पुत्र और अरुन्धती के पति थे।[१८८] उनकी उग्र तपस्या के फलस्वरूप काम

---

[१८८] महाभारत १ १९९, ५ द्रौपदी के प्रति कही गई इन पंक्तियों में भी अरुन्धती को वसिष्ठ की पत्नी बताया गया है यथेन्द्राणी हरिहये स्वाहा चैव विभावसौ। रोहिणी च यथा सोमे दमयन्ती यथा नले। यथा वैश्रवणे भद्रा वशिष्ठे चाप्य् अरुन्धती। यथा नारायणे लक्ष्मीस् तथा त्वम् भव भर्तृषु। "इन्द्र के लिये जैसे इन्द्राणी है, सूर्य के लिये स्वाहा, चन्द्रमा के लिए रोहिणी, नल के लिये दमयन्ती, कुबेर के लिये भद्रा, वसिष्ठ के लिए अरुन्धती, और नारायण के लिये लक्ष्मी वैसे ही तुम अपने पतियों के लिये होओगी।" पुन श्लोक १ २३३, २७आदि मे कहा गया है - सुव्रता चापि कल्याणी सर्व-भूतेषु विश्रुता। अरुन्धती महात्मान वशिष्ठम् पर्यशङ्कत। विशुद्ध-भावम् अत्यन्त सदा प्रिय-हिते

और क्रोध, जो देवताओं के लिये भी अजेय है, निरन्तर पराभूत होकर उनका चरण दबाते है। विश्वामित्र द्वारा किये गये अत्यचार पर अपने क्रोध को रोक कर उन्होंने कुशिकों का विनाश नहीं किया।[१८५] ८. अपने पुत्रों को खोकर शक्तिशाली होते हुए भी वे दुर्बल के समान आचरण करने लगे, और विश्वामित्र के वध के लिए कोई उग्र कार्य नहीं किया। यम के घर से अपने पुत्रों को पुनः प्राप्त करने के लिए वे भाग्य को नहीं लाँघ सकते थे, जिस

रतम्। सप्तर्षि-मध्यग वीरम् अवमेने च तम् मुनिम्। अपध्यानेन सा तेन धूमारुण-सम-प्रभा। लक्ष्याऽलक्ष्या नाभिरूपा निमित्तम् इव पश्यति। "सभी प्राणियो मे प्रसिद्ध पतिव्रता और सुन्दर अरुन्धती वसिष्ठ के विषय मे शङ्का रखती थी जो शुद्ध भाव वाले तथा प्रियजनो के कल्याण मे रत रहते थे और सप्तर्षियो मे एक तथा वीर थे। इस दुःशङ्का के परिणामस्वरूप वह धूम के समान अरुण वर्ण की हो गई जो देखा भी जा सकता है और नही भी देखा जा सकता और इस प्रकार अपशकुन बन गई" अन्तिम पक्ति का यह अनुवाद प्रो० आफरेख्त ने सुझाया है। भाष्यकार इसकी व्याख्या इस प्रकार करता है: "निमित्तम्" भर्तुर् लक्ष्मणाम् "इव पश्यति" कपटेन। अत एव "नाभिरूपा प्रच्छन्नवेशा। तेन हेतुना "लक्ष्याऽलक्ष्या च"। "अपने पति के लक्षण को कपट के साथ देखती है अतएव उसने प्रच्छन्नवेश प्राप्त किया और दृश्य भी थी तथा अदृश्य भी।"

[१८५] वसिष्ठ का यहाँ जो उदार स्वभाव बताया गया है, उस सम्बन्ध मे मैं विष्णुपुराण से एक अंश १ ९, १५ आदि उद्धृत करता हूँ, जिसमे क्रोधी दुर्वासा (जिसका मैंने अभी निर्देश किया है और जिन्हे शिव के अश का अवतार कहा गया है (शङ्करस्याश) इन्द्र से, जिसने उन्हे अपमानिता किया था उस ऋषि के अपने क्रोधी तथा प्रतिशोधपूर्ण स्वभाव के विपरीत कोमल हृदय होने का उल्लेख किया है [२५] नाह कृपालु-हृदयो न च माम् भजते क्षमा। अन्ये ते मुनयः शक्र दुर्वाससम् अवेहि माम्। गोतमादिभिर् अन्येस् त्व गर्वम् आपादितो मुधा। अक्षान्तिसार-सर्वस्व दुर्वाससम् अवेहि माम्। १७ वशिष्ठाद्यैर् दयासारै स्तोत्रं कुर्वद्भिर् उच्चकैः। गर्व गतोऽसि येनैवम् माम् अथाद्यावमन्यसे। १५ 'मै कोमल-हृयद नही हूँ, मेरे अन्दर धैर्य नही रहता। मुनि और होते है, मुझे दुर्वासा समझो। १६ गौतम और दूसरो ने तुझे व्यर्थ ही गर्वोन्मत्त बनाया है। मुझे दुर्वासा समझो, जिसका सम्पूर्ण-स्वभाव और सार ही क्रोध है। तू वसिष्ठ और अन्य दयालु ऋषियो की प्रशसाओ के फलस्वरूप अभिमानी हो गया है तभी तो तूने आज मेरा अनादर किया है।"

प्रकार समुद्र अपने तटों से बाहर नही जाता। इस महान् आत्म संयमी को प्राप्त कर इक्ष्वाकु वंश के राजा ने सम्पूर्ण पृथ्वी (का राज्य) प्राप्त किया। इस श्रेष्ठ ऋषि को कुल-पुरोहित बनाकर उन्होंने यज्ञ किया। इ ने उन सभी राजाओं के यज्ञ मे ऋत्विज् का कार्य किया जिस प्रकार बृह देवताओं के ऋत्विज् रहते हैं। १३ अतएव ऐसे प्रिय ब्राह्मण का धर्मात्मा तथा वैदिक क्रियाओं मे दक्ष हो, इस पद के लिए वरण चाहिए। जो कुलीन क्षत्रिय पृथ्वी को जीतने की इच्छा करता है, वह प्रथम राज्य का विस्तार करने के लिए एक कुल-पुरोहित नियुक्त पृथ्वी को जीतने की इच्छा रखनेवाला राजा ब्राह्मण को प्राधान्य प्राथमिकता प्रदान करे।" तब गन्धर्व ने अर्जुन के आग्रह पर वसिष्ठ प्राचीन कथा (वशिष्ठम् आख्यानम् पुराणम्) कहते हुये उनमें विश्वामित्र मे शत्रुता का कारण बताया। विश्वामित्र, जो कान्यकुब्ज (कन्नौ के राजा गाधि के पुत्र और कुशिक के पौत्र थे, एक बार शिकार खेलते वसिष्ठ के आश्रम में आए। वहाँ उनका उचित आदर हुआ तथा उनके से को सुस्वादु भोजन और पेय मिला। ऋषि ने अपनी अद्भुतकर्मा गौ का से प्राप्त हुए बहुल्य आभूषण और वस्त्र भी राजा को प्रदान किये। इस गौ को (जिसके सभी गुणों का इस आख्यान में वर्णन किया गया देखकर विश्वामित्र का लोभ भड़क उठता है और उसके लिए उन्होंने वसि एक सहस्र अयुत गौएँ या राज्य ले लेने को कहा। वसिष्ठ ने उत्तर दिय सम्पूर्ण राज्य के बदले में भी वे उसे नहीं दे सकते। विश्वामित्र तब कह कि वे बल का प्रयोग करेंगे, जो अधिक शक्तिशाली होगा गौ उसी की हो १७५, १८ "मै एक क्षत्रिय हूँ, आप ब्राह्मण हैं, जिसके कर्म तपस्या और श ध्ययन हैं। एक ब्राह्मण मे, जो शान्त और संयमी होता है, वीर्य कैसा ? एक सौ अयुत गायों के बदले में भी मेरी इच्छित वस्तु को प्रदान करते, अत. मैं अपने वर्ण का धर्म अपनाऊँगा, मैं गौ को बल ले जाऊँगा।" अपनी शक्ति की महानता का विश्वास रख कर व उनसे तत्काल अपनी इच्छानुसार कर लेने का आह्वान करते हैं। वि मित्र उस अद्भुत कर्म करनेवाली गौ को पकड़ लेते हैं, किन्तु डंडों कोड़ों से मारने और इधर-उधर ढकेलने पर भी वह आश्रम से नहीं हट इसे देख कर वसिष्ठ उससे पूछते हैं कि वे शान्त प्रकृति ब्राह्मण कर सकते हैं। वह कहती है कि वे उस पर की जाती हुई प्रताडना अत्याचार पर ध्यान क्यों नहीं देते। वसिष्ठ उत्तर देते हैं : 'बल क्षत्रिय शक्ति है और धैर्य ब्राह्मण का। अत. मैं धैर्यवान् व्यक्ति हूँ अतः यदि तुम

इच्छा हो तो जाओ' (२९. क्षत्रियाणाम् बलं तेजो ब्राह्मणानां क्षमा बलम् । क्षमा मान् भजते यस्मात् गम्यतां यदि रोचते) । गौ पूछती है कि क्या वे उसे छोड़ देना चाहते हैं : क्योंकि जब तक वे स्वयं उसे त्याग नहीं देते वह बल द्वारा नहीं ले जाई जा सकती । वसिष्ठ उसे विश्वास दिलाते हैं कि वे उसे त्यागना नहीं चाहते और यदि उसमें शक्ति हो तो उसे जाना नहीं चाहिए । "अपने स्वामी के इन वचनों को सुन कर वह अपने सिर को ऊपर उठाती है, और एक भयंकर रूप धारण करती है । (३३), उसकी आँखें क्रोध से लाल हो जाती है । वह घोर हुंकार करती है और विश्वामित्र की सम्पूर्ण सेना को भगा देती है । पुनः कोड़े और डंडे से मारने पर तथा इधर-उधर ढकेले जाने पर वह और भी क्रुद्ध हो जाती है, उसकी आँखें क्रोध से लाल हो जाती है, उसका सम्पूर्ण शरीर क्रोध से प्रदीप्त होकर मध्याह्न के सूर्य जैसा जलने लगता है, वह अपनी पूँछ से अंगारों की वृष्टि करने लगती है, पूँछ से पह्लवों को तथा स्वेद, मूत्र और गोवर आदि से द्राविडों और शकों, यवनों, शवरों, काञ्चियों, शरभों, पौण्ड्रों, किरातों, सिंहलों, वशों और अन्य शस्त्रधारी योद्धाओं की जातियों को उत्पन्न करती है, जो विश्वामित्र की सेना पर आक्रमण करके उसे पूर्णतः परास्त कर देते है । ४५. ब्राह्मणीय शक्ति द्वारा इस महान् चमत्कार को देख कर विश्वामित्र क्षत्रिय की निर्बलता पर लज्जित होकर कहते है, 'क्षत्रिय की शक्ति को धिक्कार है; ब्राह्मण का वल ही वास्तविक वल है ।' क्या वल है क्या वल नहीं इसका परीक्षण करके और इस निर्णय पर पहुँच कर कि तपस्या ही श्रेष्ठ वल है, उन्होंने अपना समृद्धिशाली राज्य और राजसत्ता के गौरव का परित्याग कर दिया तथा सभी सुखोपभोगों को छोड़ कर वे तपस्या में लग गये । इस साधन द्वारा सिद्धि और ब्राह्मणत्व प्राप्त कर उन्होंने सभी लोकों को अपने तेज से अपने वश में कर लिया, और सबको अपने प्रताप के तेज से सन्तप्त करने लगे । अन्त में कौशिक ने इन्द्र के साथ सोम का पान किया ।"[१८६]

यही आख्यान महाभारत ९ ४०, ११ आदि में दुहराया गया है।

तथा च कौशिकस् तात तपो-नित्यो जितेन्द्रियः । तपसा वै सुतप्तेन ब्राह्मणत्वम् अवाप्तवान् । गाधिर् नाम महान् आसीत् क्षत्रियः प्रथितो भुवि । तस्य पुत्रोऽभवद् राजन् विश्वामित्र. प्रतापवान् । स राजा कौशिकस् तात महायोग्य् अभवत् किल । स पुत्रम् अभिषिच्याथ विश्वामित्रम् महा-तपाः । देह-न्यासे मनश् चक्रे तम् ऊचु. प्रणता प्रजा । "न गन्तव्यम्

[१८६] देखिए ऊपर पृ० ३८५ तथा टिप्पणी १३४

महाप्राज्ञ त्राहि चास्मान् महाभयात्"। एवम् उक्तः प्रत्युवाच ततो गाधिः प्रजास् ततः। "विश्वस्य जगतो गोप्ता भविष्यति सुतो मम"। १६ इत्य् उक्त्वा तु ततो गाधिर् विश्वामित्रं निवेश्य च। जगाम त्रिदिवं राजन् विश्वामित्रोऽभवद् नृपः। न स शक्नोति पृथिवीं यत्नवान् अपि रक्षितुम्। ततः शुश्राव राजा स राक्षसेभ्यो महाभयम्। निर्ययौ नगराच् चापि चतुर्-अङ्ग-बलान्वितः। स यात्वा दूरम् अध्वानम् वशिष्ठाश्रमम् अभ्यगात्। तस्य ते सैनिकाः राजंश् चक्रुस तत्रालयान् बहून्। ततस् तु भगवान् विप्रो वशिष्ठो ब्रह्मणः सुतः। ददृशेऽथ ततः सर्वम् भज्यमानम् महावनम्। तस्य क्रुद्धो महाराजा वशिष्ठो मुनिसत्तमः। २१. "सृजस्व शबरान् घोरान्" इति स्वां गाम् उवाच ह। तथोक्ता साऽसृजद् धेनुः पुरुषान् घोर-दर्शनान्। ते च तद् बलन् आसाद्य बभञ्जुः सर्वतो दिशम्। तच् छ्रुत्वा विद्रुतं सैन्यं विश्वामित्रस् तु गाधिजः। तपः परम् मन्यमानस् तपस्य् एव मनो दधे। सोऽस्मिस् तीर्थवरे राजन् सरस्वत्याः समाहितः। नियमैश् चोपवासैश् च कर्षयन् देहम् आत्मनः। जलाहारो वायुभक्षः पर्णाहारश च सोऽभवत्। तथा स्थण्डिल-शायी च ये चान्ये नियमाः पृथक्। असकृत् तस्य देवास् तु व्रत-विघ्नम् प्रचक्रिरे। २६. न चास्य नियमाद् बुद्धिर् अपयाति महात्मनः। ततः परेण यत्नेन तप्त्वा बहु-विधं तपः। तेजसा भास्कराकारो गाधिजः समपद्यत। तपसा तु तथा युक्त विश्वामित्रम् पितामहः। अमन्यत महातेजाः वर-दो वरम् अस्य तत्। स तु वव्रे वरं राजन् "स्याम् अहम् ब्राह्मणस् त्व्" इति। तथेति चाब्रवीद् ब्रह्मा सर्व-लोक-पितामहः। स लब्ध्वा तपसोग्रेण ब्राह्मणत्वम् महायसाः। विचचार महीं कृत्स्नां कृतकामः सुरोपमः।

"४०, ११ इस प्रकार कौशिक ने भी निरन्तर तपस्या करके, अपनी इन्द्रियों को जीत कर उग्र तपों द्वारा ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया। गाधि नाम के एक प्रतापी और लोकविख्यात क्षत्रिय थे, जिनके पुत्र विश्वामित्र हुये। ये कौशिक राजा (गाधि) ध्यान में लीन रहते (महायोगी) थे। इन्होंने अपने पुत्र को सिंहासन पर आसीन करके जब भौतिक शरीर त्याग देने का निश्चय किया तो उनकी प्रजाओं ने विनयपूर्वक उनसे कहा. हे महर्षि! आप मत जाइए, अपितु हमें इस महान् भय से मुक्ति दें।' उन्होंने उत्तर. दिया 'मेरा पुत्र सम्पूर्ण लोक का रक्षक बनेगा।' १६. इस प्रकार विश्वामित्र का अभिषेक करके वे स्वर्ग चले गये और उनके पुत्र राजा हुए। विश्वामित्र शक्तिशाली होते हुए भी पृथ्वी की रक्षा करने में असमर्थ रहे। तब उसने सुना कि राक्षसों के

आक्रमण का भय था। यह सुन कर चतुरङ्गिणी सेना लेकर विश्वामित्र नगर से निकले। लम्बी यात्रा करके वे वशिष्ठ के आश्रम में पहुँचे। वहाँ उनके सैनिकों ने अनेक निवासस्थान बना लिये। इसके उपरान्त ब्रह्मा के पुत्र भगवान् ब्राह्मण वसिष्ठ ने देखा कि सम्पूर्ण वन काटा जा रहा है। क्रुद्ध होकर उन्होंने अपनी गाय से कहा (२१.) 'भयंकर शबरों की सृष्टि करो ?' ऐसा कहने पर कामधेनु ने भयंकर रूप वाले मनुष्यों को उत्पन्न किया, जिन्होंने विश्वामित्र की सेना को तितर-बितर कर दिया। अपनी सेना की पराजय सुन कर गाधि के पुत्र ने तपस्या की जिसे उन्होंने सर्वोत्तम बल माना। सरस्वती के पवित्र तट पर योग में लीन होकर जल, वायु, और पत्तियों की वृत्ति धारण कर, यज्ञवेदि पर ही शयन करके तथा अन्य सभी कर्मों को करते हुए संयम और व्रतों द्वारा अपना शरीर क्षीण कर दिया। अनेक बार देवताओं ने उनके मार्ग में विघ्न उपस्थित किए, (२६.) किन्तु उनका ध्यान तपस्या से कदापि विचलित नहीं हुआ। इस प्रकार अत्यन्त श्रमपूर्वक अनेक तपस्याएँ करके गाधि के पुत्र सूर्य के समान तेजस्वी हो गये और ब्रह्मा ने उनकी सफलता को सर्वश्रेष्ठ माना। विश्वामित्र ने ब्राह्मण बनने का व्रत लिया। ब्रह्मा ने उत्तर दिया 'ऐसा ही हो'। अपनी इच्छित वस्तु, ब्राह्मणत्व, को तपस्याओं द्वारा प्राप्त कर प्रसिद्ध ऋषि ने सम्पूर्ण पृथ्वी पर देवता के समान भ्रमण किया।"

हम पहले देख चुके है कि नहुष के आख्यान में किस प्रकार तपस्या की शक्ति का उदाहरण दिया गया है (ऊपर पृ० ३४८ आदि)। 'तपस्' शब्द के अर्थ एवं इससे द्योतित होनेवाली अभ्यास की शक्ति के विषय में जर्नल आफ द रायल एशियाटिक सोसाइटी, वर्ष १८६५, पृ० ३४८ आदि तथा वर्ष १८६४ पृ० ६३ में प्रकाशित अपने लेखों एवं वर्तमान ग्रन्थ के चतुर्थ भाग आदि तथा वर्तमान भाग के पृ० २६ और ३३ का निर्देश करूँगा। इस विषय को और स्पष्ट करने के लिये मैं मनु ११.२३४ आदि से 'तपस्' का निम्नलिखित वर्णन उद्धृत करता हूँ जिसमें सभी श्लोकों में इस शब्द का एक ही अर्थ नहीं हो सकता :—

तपो-मूलम् इदं सर्वं दैव-मानुषकं सुखम्। तपो मध्यम् बुधैः प्रोक्तं तपोऽन्तं वेद-दर्शिभिः। २३५. ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम्। वैश्यस्य तु तपो वार्त्ता तपः शूद्रस्य सेवनम्। २३६. ऋषयः संयतात्मानः फल-मूलानिलाशनाः। तपसैव प्रपश्यन्ति त्रैलोक्यं स-चराचरम्। २३७. औषधान्य् अगदो विद्या दैवी च विविधा स्थितिः। तपसैव प्रसिद्ध्यन्ति तपस् तेषां हि साधनम्। २३८. यद् दुस्तरं यद् दुरापं यद् दुर्गं यच् च दुष्करम्। सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्। २३९. महापात-

जुनीय की टीका से ये शब्द उद्धृत करते है : अथर्वणस् तु मन्त्रोद्धारो वशिष्ठेन कृतः इत्य् आगमः। "शास्त्र में एक अंश में यह कहा गया है कि अथर्वन के मन्त्रों का चयन वसिष्ठ ने किया।" बॉटलिक और राथ के लेक्सिकन में 'अथर्वन्' के अन्तर्गत कहा गया है कि अथर्ववेद के पचमकाण्ड के ग्यारहवें सूक्त में अर्थवन् और वरुण में वरुण द्वारा अथर्वन् को दी गयी अद्भुत कर्म करनेवाली गौ के विषय में संवाद है। यह भी कहा गया है कि यह स्थिति आगे चलकर अथर्वन् और वसिष्ठ के साथ तादात्म्य को स्पष्ट कर सकती है। प्रो० रॉथ (डिस्० ज्ञानद अ० वे० ट्यूबिगेन १८६५, पृ० ९) का विचार है कि ये दोनों ऋषि भिन्न है। गौ को अथर्ववेद ७ १०४ में 'वरुण द्वारा अथर्वन् को दी गई पृश्नि वर्ण की गौ, जो सदैव सवत्सा थी' कहा गया है (पृश्नि धेनुं वरुणेन दत्ताम् अथर्वणे नित्य-वत्साम्)। इस विषय में उल्लिखित विलक्षण सूक्त यह है :—

अथर्ववेद ५. ११, १ : कथम् महे असुराय अब्रवीर् इह कथम् पित्रे हरये त्वेष—नृम्नः। पृश्निं वरुण दक्षिणां ददावान् पुनर्मघत्वम्[187] मनसाऽचिकित्सीः। २. न कामेन पुनर्मघो भवामि सं चक्षे कम् पृश्निम् एताम् उपाजे। केन नु त्वम् अथर्वन् काव्येन केन जातेन असि जातवेदाः। ३. सत्यस् अहं गभीरः काव्येन सत्यं जातेन अस्मि जात-वेदः। न मे दासो न आर्य्यो महित्वा व्रतम् मीमाय यद् अह धरिष्ये। ४. न त्वद् अन्यः कवितरो न मेधया धीरतरो वरुण स्वधावन्। त्वं ता विश्वा भुवनानि वेत्थ स चिद् नु त्वज् जनो मायी बिभाय। ५. त्वं हि अङ्ग वरुण स्वधावन् विश्वा वेत्थ जनिमा सुप्रणीते। किं रजसः एना परो अन्यद् अस्ति एना किम् परेण अवरम् अमूर। ६. एकं रजस एना परो अन्यद् अस्ति एना परः एकेन दुर्णशं चिद् अर्वाक्। तत् ते विद्वान् वरुण प्र ब्रवीमि अधोवर्चसः पणया भवन्तु। नीचैर् दासाः उप सर्पन्तु भूमिम्। ७. त्वं हि अङ्ग वरुण ब्रवीषि पुनर्मघेषु अवद्यानि भूरि। मो षु पणीर् अभि एतावतो भूर् मा त्वा वोचन्न् अराधस जनासः। मा मा वोचन्न् अराधसं जनासः पुनस् ते पृश्निं ददामि। स्तोत्रम् मे विश्वम् आ याहि शचीभिर् अन्तर् विश्वासु मानुषीषु विक्षु। ९. आ ते स्तोत्राणि उद्यतानि यन्तु अन्तर् विश्वासु मानुषीषु विक्षु। देहि नु मे यद् मे आदत्तो असि युज्यो मे सप्त-पदः सखाऽसि। १०. समानो बन्धुर् वरुण समा

[187] अथर्ववेद के रॉथ तथा ह्विटनी के संस्करण में पाये जाने वाले पाठ 'पुनर्मघ त्वम्' के स्थान पर प्रोफेसर आफरेख्त ने उपर्युक्त पाठ सुझाया है।

दो जिसे तुमने मुझसे लिया है, तुम मेरे लिए सप्त-पद वाले सखा हो। १०. हे वरुण, हम दोनों में समान बन्धन है, हम समान वंशज हैं। मैं जानता हूँ कि हमारा समान वंश क्या है।' (वरुण उत्तर देते हैं) 'मै तुझे वह वस्तु देता हूँ जिसे मैंने तुझसे लिया है। मै तुम्हारा सप्त पद का सखा हूँ जो स्वयं देवता होकर भी तुझ देवता (या पुरोहित, देवाय) को, जो मेरा गुणगान करते हो, जीवन प्रदान करता हूँ। मैं विद्वान् ऋषि तुझ ऋषि को जीवन प्रदान करता हूँ।' कवि कहता है, हे स्वाधीन वरुण! तुमने हमारे पिता अथर्वन् को उत्पन्न किया है जो देवताओं के बन्धु हैं। उन्हें उत्तम धन दो; तुम हमारे मित्र हो और प्रमुख बन्धु हो।"

खण्ड ११—रामायण के अनुसार उपर्युक्त एवं अन्य आख्यान

पिछले खण्ड में कही गई कथा रामायण के प्रथम काण्ड, अर्थात् बालकण्ड, अध्याय ५१–६५[१८९] में विस्तार से वर्णित की गई है, जिसकी रूपरेखा मैं महाभारत में आये हुए वर्णन की तुलना में इस कथा में पाये जाने वाले भेद या अतिरिक्त वर्णनों का निर्देश करते हुए और इस कथा के साथ जुड़ी हुई अन्य कथाओं का संक्षेप देते हुए, प्रस्तुत करूँगा। कहा गया है कि प्राचीन काल में प्रजापति के पुत्र कुश नाम के राजा थे। उनके कुशनाभ नामक पुत्र हुए, जो विश्वामित्र के पिता गाधि के पिता थे। विश्वामित्र ने अनेक सहस्र वर्षों तक पृथ्वी पर शासन किया। एक समय जब वे पृथ्वी पर भ्रमण कर रहे तब वसिष्ठ के आश्रम में आए, जहाँ अनेक महात्मा, ऋषि और धर्मरत भक्तगण निवास करते थे (अध्याय ५१ श्लोक ११-२९)। वहाँ विश्वामित्र ने पहले तो आनाकानी की परन्तु पुनः परिजनों सहित उन्होंने ब्रह्मा के पुत्र का आतिथ्य स्वीकार किया (अध्याय ५२)। विश्वामित्र ने (अ० ५३, उस गौ को प्राप्त करने की इच्छा से जिसने सभी सुस्वादु भोजन उपस्थित किये थे) प्रथमतः उस गौ को सौ सहस्र सामान्य गौओं के बदले में दे देने को कहा और साथ ही यह कहा कि 'वह गौ एक रत्न है और रत्न राजा की सम्पत्ति होते हैं अतः गो पर उनका अधिकार है।' ५३, ९. रत्नं हि भगवन् एतद् रत्न-हारी च पार्थिवः। १०. तस्माद् मे शबलां देहि ममैषा धर्मतो द्विज।) इस मूल्य के अस्वीकार कर दिये

[१८९] श्लेगेल तथा बम्बई के संस्करण में ऐसे अंश हैं जो गोरेसिओ के संस्करण के खण्ड ५२–५७ से मिलते हैं।

पत्नी से श्रेष्ठता की घोषणा की, शान्त किये जाने पर, ऋषि प्रहार करने से विरत हुए : और विश्वामित्र ने आह भरते हुए कहा : (५६, २३) धिग् बलम् क्षत्रिय-बलम् ब्रह्म-तेजो बलम् बलम् । एकेन ब्रह्म-दण्डेन सर्वास्त्राणि हतानि मे । "क्षत्रिय के बल को धिक्कार है। ब्रह्म की शक्ति ही बल है; केवल एक ब्रह्मदण्ड से मेरे सभी अस्त्र नष्ट हो गये हैं।" पराजित राजा के लिए कोई दूसरा मार्ग नहीं रह जाता, अतिरिक्त इसके कि वह असहाय होकर अपनी तुच्छता स्वीकार करे या स्वयं को ब्राह्मण की कोटि में ले आने का कर्म करे। वह दूसरे मार्ग को अपनाता है : (५६, २४) तद् एतत् प्रसमीक्ष्याहम् प्रसन्नेन्द्रिय-मानसः । तपो महत् समास्थास्य यद् वै ब्रह्मत्व-कारणम् । "इस पराजय पर भली भाँति विचार कर मैं एकाग्रचित्त होकर और इन्द्रियों को वश में करके कठोर तपस्या करूँगा, जो मुझे ब्राह्मण-पद प्रदान करायेगा।" नितान्त क्षुब्ध और पीड़ित होकर तथा शत्रु के प्रति द्रोह से भरकर, उन्होंने अपनी रानी के साथ दक्षिण की ओर यात्रा की और अपने निश्चय को सफल बनाया। (अध्याय ५७) और सबसे पहले यह बताया गया है कि उनके तीन पुत्र, हविष्यन्द, मधुस्यन्द तथा दृढ़नेत्र उत्पन्न हुए। एक सहस्र वर्ष पूर्ण होने पर ब्रह्मा प्रकट हुए और उन्होंने घोषणा की कि विश्वामित्र ने राजर्षियों का स्वर्ग और तपस्याओं के प्रभाव से इच्छित पद प्राप्त कर लिया था। विश्वामित्र इस अयुक्त फल पर लज्जित, दुःखित, और क्रुद्ध होकर बोले : "मैंने उग्र तप किया है, और देवता तथा ऋषि मुझे केवल राजर्षि'[१४] मानते हैं। लगता है, मेरी तपस्यायें बिलकुल व्यर्थ हुईं।"

---

[१४] विष्णुपुराण ३ ६, २१ में कहा गया है : ऋषि तीन प्रकार के होते हैं : ब्रह्मर्षि, तदुपरान्त देवर्षि, और उनके बाद राजर्षि" (ज्ञेया. ब्रह्मर्षय· पूर्वं तेभ्यो देवर्षय. पुनः । राजर्षयः पुनस् तेभ्य ऋषि प्रकृतयस् त्रय. ।) बौटलिक और रॉथ ने 'ऋषि' के अन्तर्गत (त्रिकाण्ड शेष नामक शब्द कोश के आधार पर) महर्षि (महान् ऋषि) परमर्षि (परम ऋषि) श्रुतर्षि (गौण ऋषि) तथा काण्डर्षि का उल्लेख किया है। काण्डर्षि वेद के विशिष्ट भाग (काण्ड) के उपदेशक बताये गये हैं। देवर्षि को प्रोफेसर विलसन ने (विष्णु पु० ३, पृ० ६८, विष्णु पुराण के एक अंश का संक्षेप देते हुए) 'ऐसे ऋषियों के अर्थ में लिया है जो देवता भी होते हैं।" ब्रह्मर्षि ब्रह्मा या ब्राह्मण के पुत्र होते है। "राजर्षि" वे राजा कहलाते हैं जो ऋषि का जीवन व्यतीत करते हैं। एक टिप्पणी में उन्होंने कहा है . वायु पुराण मे भी कुछ बढ़ा कर इसी प्रकार की गणना दी गई है · ऋषि की व्युत्पत्ति 'ऋष्' "जाने" या "पहुँचने" से की गई है, ब्रह्मर्षि उन पाँच

(५७, ५) जिताः राजर्षि-लोकस् ते तपसा कुशिकात्मज। ६. अनेन तपसा त्व हि राजर्षिर् इति विद्महे।'''७. विश्वामित्रोऽपि तच् छ्रुत्वा ह्रिया किञ्चिद् अवाङ्-मुखः। दुःखेन महताऽऽविष्टः समन्युर इदम् अब्रवीत्। तपश् च सुमहत् नप्तं राजर्षिर् इति मा विदुः। देवाः सर्षि-गुणाः सर्वे नास्ति मन्ये तपः-फलम्। इस निराशा के होते हुए भी उन्होंने एक पद प्राप्त कर लिया था और उन्होंने पुनः तपस्या का कर्म प्रारम्भ कर दिया।

इस समय उनकी तपस्याओं में निम्नलिखित घटनाओं के कारण विघ्न आ गया : इक्ष्वाकु के वंशजों में एक राजा त्रिशङ्कु ने एक ऐसे यज्ञ का आयोजन करने का विचार किया जिससे वे सशरीर स्वर्ग जा सकें। यतः वसिष्ठ ने निमन्त्रित किये जाने पर यह कहला भेजा कि ऐसी बात असम्भव (अशक्यम्) थी, अतः त्रिशङ्कु दक्षिण की ओर चल पडे, जहाँ वसिष्ठ के सौ पुत्र तपस्या में लगे हुए थे। उन्होंने उनसे वही प्रार्थना की जिसे उनके पिता ने अस्वीकार कर दिया था। यद्यपि उसने उनसे नम्रतापूर्वक और सम्मान प्रदर्शित करते हुए प्रार्थना की और यह भी कहा कि "इक्ष्वाकु वंशी राजा अपने पुरोहितों को ही विपत्ति में सबसे बड़ी शक्ति मानते हैं और उनके पिता के बाद वह उन्हीं को अपना देवता मानता था" (५७, २२ इक्ष्वाकूणां हि सर्वेषाम् पुरोधः परमा गतिः। तस्माद् अनन्तरम् सर्वे भवन्तो दैवतम् मम), उसने उन क्रुद्ध पुरोहित से यह झिडकी पाई : (५८, २) प्रत्याख्यातोऽसि दुर्बुद्धे

प्रजापतियो के वशज कहे गये हैं जो ब्राह्मणो के गोत्र के सस्थापक थे, अर्थात् कश्यप, वसिष्ठ, अङ्गिरस्, अत्रि तथा भृगु। देवर्षि नर और नारायण हैं जो धर्म के पुत्र हैं तथा कद्रु से उत्पन्न बालखिल्य, पुलह के पुत्र कर्दभ, पुलस्त्य के पुत्र कुवेर, प्रत्यूष के पुत्र अचल, कश्यप के पुत्र नारद तथा पर्वत, इक्ष्वाकु तथा अन्य राजा राजर्षि हैं। ब्रह्मर्षि ब्रह्मलोक मे निवास करते हैं, देवर्षि देवलोक मे तथा राजर्षि इन्द्र के स्वर्ग मे।" ब्रह्मर्षि स्पष्टतः वे ऋषि हैं जो पुरोहित थे, राजर्षि राजवश मे उत्पन्न ऋषि थे। यदि ऐसी बात हो तो देवत्व से युक्त देवर्षि को इन दोनो से उच्च मानना चाहिए। प्रोफेसर रॉथ ने स्पष्टत त्रिकाण्डशेष का अनुसरण करते हुए उन्हे 'देवताओ मे निवास करनेवाले ऋषि' बताया है। मुझे यह ज्ञात नही कि ऋषियो का यह वर्गीकरण भारतीय साहित्य मे कितना प्राचीन है। रॉथ ने 'ऋषि' 'ब्रह्मर्षि' और 'देवर्षि' के अन्तर्गत इन शब्दो के ब्राह्मणो मे प्रयुक्त होने का उल्लेख नही किया है वे ऋग्वेद के सूक्तो मे भी नहीं पाये जाते। जिसमे 'सप्त ऋषियो' का उल्लेख आया है। 'राजर्षि' विषय पर देखिये पृ० ३०३ आदि ऊपर।

गुरुणा सत्यवादिना। तं कथं समतिक्रम्य शाखान्तरम् उपेयिवान्। ३. इक्ष्वाकूणाम् हि सर्वेषाम् पुरोधाः परमा गतिः। न चातिक्रमितु शक्यं वचनं सत्यवादिनः। ४. "अशक्यम्" इति चोवाच वशिष्ठो भगवान् ऋषिः। तं वयं वै समाहर्त्तुम् क्रतुं शक्त कथं स तव। ५. वालिशम् त्वं नर-श्रेष्ठ गम्यतां स्व-पुरम् पुनः। याजने भगवान् शक्तस त्रैलोक्यस्यापि पार्थिव। अवमानं कथं कर्तुं तस्य शक्ष्यामहे वयम्। "मूर्ख तेरी प्रार्थना को तेरे सत्यवादी गुरु ने अस्वीकार कर दिया है। उनकी आज्ञा की अवहेलना करके तुम दूसरी शाखा में क्यों आये हो?[१९५] ३ पुरोधा ही इक्ष्वाकु वंश वालों की परम गति होते हैं, और उन सत्यवादी के वचनों का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। ४. देवर्षि वसिष्ठ ने कहा है कि यह कार्य नहीं हो सकता, तब हम तुम्हारे यज्ञ का कार्य कैसे कर सकते हैं? राजा, तू मूर्ख है। राजधानी को जा। भगवान् (वसिष्ठ) ही तीनों लोक के यज्ञ कराने में समर्थ हैं। हम उनकी अवहेलना कैसे कर सकते हैं?' उसने तब उन्हें यह समझाया कि यतः उनके गुरु और उनके शिष्यों ने उसकी प्रार्थना सुनी-असुनी कर दी थी अतः वह दूसरे किसी व्यक्ति के पास जायगा।" अपनी उच्चाभिलाषा व्यक्त करने के कारण उन ऋषियों ने उसे चण्डाल होने का शाप दिया (५८, ७. "प्रत्याख्यातो भगवता गुरुपुत्रैस् तथैव च। अन्यां गतिम् गमिष्यामि स्वस्ति वोऽस्तु तपोधनाः।" ऋषि-पुत्रास् तु तच् छ्रुत्वा वाक्य घोराभिसंहितम्। शेपुः परम-सङ्क्रुद्धाश् "चाण्डालत्व गमिष्यसि"।)। इस शाप का तुरत प्रभाव पड़ा और दुःखी राजा तत्काल ही नीचचाण्डाल के रूप में परिवर्तित हो गया। अपने गुणों और पवित्रता का बखान करते हुए

---

[१९५] यह स्पष्ट नहीं होता कि वसिष्ठ से सहायता की विफल प्रार्थना करने के उपरान्त उनके पुत्रों से सहायता की याचना करते हुए त्रिशङ्कु को दूसरी शाखा का अवलम्बन करना कैसे सभव हो सकता है। जैसा कि शाखा का सामान्य अर्थ है, यह नही माना जा सकता कि पुत्र अपने पिता की शाखा से भिन्न शाखा के रहे होंगे, जिनके हित का वे इतने उत्साह के साथ समर्थन करते हैं। बम्बई सस्करण का टीकाकार 'शाखान्तरम्' की व्याख्या इस प्रकार करता है=याजनादिना रक्षकान्तरम् 'जो तुम्हारे लिये यज्ञ करने के कारण दूसरा गुरु हो जायगा।' गोरेसिओ का गौड पाठ मे, जिसे प्राय प्राचीन पाठ की व्याख्या माना जा सकता है, इन शब्दो का निम्नलिखित अर्थ है, अध्याय ६० ३ 'मूलम् उत्सृज्य कस्मात् त्वं शाखास्व् इच्छसि लम्बितुम्।' 'मूल को छोडकर शाखा का आश्रय लेने की इच्छा तू क्यों करता है।'

और भाग्य पर रोते हुए वह विश्वामित्र के निकट गया (जो, जैसा कि हम देख चुके हैं, उस समय दक्षिण में ही निवास कर रहे थे)। विश्वामित्र ने उसकी दशा पर दया दिखलाई (अध्याय ५९) और उसके लिये यज्ञ करने, और उसी चण्डाल रूप में, जिसमें वह अपने गुरुओं के शाप से पहुँचा था, स्वर्ग भेजने का वचन दिया। "अब स्वर्ग को अपने अधिकार में ही आया समझो क्योंकि तुम कुशिक के पुत्र के निकट आए हो" (५६, ४. गुरु-शाप-कृतं रूपं यद् इदं त्वयि वर्त्तते। अनेन सह रूपेण सशरीरो गमिष्यसि। हस्त-प्राप्तम् अहं मन्ये स्वर्गं तव नराधिप। यस् त्वं कौशिकम् आगम्य शरण्यः शरण गतः।) तब उन्होंने यज्ञ की तैयारी करने का आदेश दिया और वसिष्ठ वंश के ऋषियों सहित सभी ऋषियों को निमन्त्रित करने को कहा। विश्वामित्र के शिष्यों ने, जो यह सन्देश देने गये थे, लौटने पर इन शब्दों में उसका परिणाम सुनाया: (५९. ११) श्रुत्वा ते वचनं सर्वे समायान्ति द्विजातयः। सर्व-देशेषु चागच्छन् वर्जयित्वा महोदयम्। वासिष्ठं तच् छ्रुतं सर्वं क्रोध-पर्याकुलाक्षरम्। यद् उवाच वचो घोरं शृणु त्वम् मुनि-पुङ्गव। "क्षत्रियो याजको यस्य चण्डालस्य विशेषतः। कथ सदसि भोक्तारो हविस् तस्य सुरर्षयः। ब्राह्मणाः वा महात्मानो भुक्त्वा चण्डाल-भोजनम्। कथं स्वर्गं गमिष्यन्ति विश्वामित्रेण पालिताः।" एतद् वचन-नैष्ठुर्य्यम् ऊचुः संरक्त-लोचनाः। वशिष्ठाः मुनि-शार्दूल सर्वे सह-महोदयाः। "आपके सन्देश को सुनकर सभी ब्राह्मण सभी देश में एकत्र हो रहे है और महोदय (वसिष्ठ?) के अतिरिक्त सभी आ गये है। सुनिए क्रोध से स्खलनयुक्त वाणी में उन भयंकर सौ वसिष्ठों ने क्या कहा है. 'उस व्यक्ति के यज्ञ में देवता और ऋषि[११८] हवि का भक्षण कैसे कर सकते हैं, विशेषतः जब वह चण्डाल है और क्षत्रिय उसका यज्ञ करा रहा है? तेजस्वी ब्राह्मण उस चण्डाल का अन्न ग्रहण करके और विश्वामित्र के श्रम से स्वर्ग कैसे प्राप्त कर सकेंगे? महोदय सहित क्रुद्ध वसिष्ठों ने ये शब्द कहे; उनकी आँखें क्रोध से लाल हो रही थीं।" विश्वामित्र ने, जो उन शब्दों को सुनकर बड़े कुपित हुए, वसिष्ठ के सभी पुत्रों के भस्म हो जाने तथा सात सौ जन्मों में अजाति (मृतपा.) होकर जन्म लेने का और महोदय को निषाद हो जाने का शाप दिया। शाप के प्रभाव को जानकर (अध्याय ६०) विश्वामित्र ने त्रिशङ्कु की प्रशंसा करके सभी ऋषियों को बुलवाकर यज्ञ

---

[११८] भाष्यकार के अनुसार ऋत्विक् यज्ञ का अंश ग्रहण करने का अधिकारी होता था।

प्रारम्भ कराने का परामर्श दिया। उस भयंकर ऋषि के क्रोध से भयभीत होकर सभी सहमत हो गये। स्वयं विश्वामित्र ने इस यज्ञ में याजक[११७] का कार्य और अन्य ऋषियों ने ऋत्विज् बनकर अपने-अपने सभी कर्मों का सम्पादन किया। विश्वामित्र ने तब देवताओं को हवि ग्रहण करने के लिए निमन्त्रित किया: (६०, ११) नाभ्यगमन् यदा तत्र भागार्थं सर्व-देवताः। ततः कोप-समाविष्टो विश्वामित्रो महामुनिः। स्रुवम् उद्यम्य सक्रोधस् त्रिशङ्कुम् इदम् अब्रवीत्। "पश्य मे तपसा वीर्यं स्वार्जितस्य नरेश्वर। एष त्वाम् स्वशरीरेण नयामि स्वर्गम् ओजसा। दुष्प्राप्यं स्वशरीरेण स्वर्गं गच्छ नरेश्वर। स्वार्जितं किञ्चिद् अप्य अस्ति मया हि तपसः फलम्। "जब देवता अपना अंश ग्रहण करने नहीं आये तो विश्वामित्र क्रुद्ध हुए, और यज्ञ की स्रुवा को उठाकर त्रिशङ्कु से बोले 'हे राजा, मेरे श्रम से उपार्जित तपस्या की शक्ति देखो, मैं स्वयं ही अपनी शक्ति से तुम्हें स्वर्ग भेजूँगा। उस दुर्लभ स्वर्ग में इस भौतिक शरीर से प्रवेश करो। मैंने अपनी तपस्याओं से कुछ पुण्यफल निश्चय ही प्राप्त किये है।' तत्काल ही त्रिशङ्कु मुनियों के समक्ष स्वर्गारोहण करने लगा। इन्द्र ने उसे जाने के लिये कहा क्योंकि गुरुओं का अपमान करने के कारण वह पापी और स्वर्ग प्राप्त करने का अधिकारी नहीं था और उसे सिर के बल पर पृथ्वी पर जा गिरने का आदेश दिया (६०, १७. त्रिशङ्को गच्छ भूयस् त्वं नासि स्वर्ग-कृतालयः। गुरु-शाप-हतो मूढ पत भूमिम् अवाक्-शिराः)। वह नीचे गिरने और अपने आध्यात्म गुरु की सहायता के लिए आर्त्तनाद करने लगा। विश्वामित्र ने क्रुद्ध होकर उसे रुक जाने को कहा। (६०, २०) ततो ब्रह्म तपो-योगात् प्रजापतिर् इवापरः। ससर्ज्ज दक्षिणो भागे सप्तर्षीन् अपरान् पुनः। दक्षिणा दिशम् आस्थाय ऋषि-मध्ये महायशाः। नक्षत्र-मालाम् अपराम् असृजत् क्रोध-मूर्च्छितः। अन्यम् इन्द्रं करिष्यामि लोको वा स्याद् अनिन्द्रकः। दैवतान्य् अपि स क्रोधात् स्रष्टुं समुपचक्रमे।[११८] "तब अपने ब्रह्म ज्ञान और उग्र तप के प्रभाव से उन्होंने दूसरे प्रजापति के समान आकाश के दक्षिण में दूसरे सप्तर्षियों की सृष्टि की। इस स्वर्गलोक को पहुँच कर प्रख्यात ऋषि ने ऋषियों के मध्य में जाकर क्रोध के वशभूत हो नक्षत्रों की दूसरी माला रची।

---

[११७] भाष्यकार के अनुसार इसका अर्थ 'अध्वर्यु' है।

[११८] मैंने स्लेगेल के पाठ का अनुसरण किया है, जिसमें पाठ भेद है किन्तु बम्बई तथा गोरेसिओ के संस्करण से तात्विक भेद नहीं है।

यह कह कर कि "मैं दूसरे इन्द्र की सृष्टि करूँगा या विश्व में कोई भी इन्द्र नहीं रह जायगा" उन्होंने देवताओं की भी रचना प्रारम्भ कर दी। ऋषि, देवता (सुर) और असुरों को महान् भय हुआ और उन्होंने विश्वामित्र से अनुनयपूर्वक कहा कि त्रिशङ्कु "अपने गुरुओं का शापभाजन होने के कारण सशरीर स्वर्ग में प्रवेश नहीं कर सकता जब तक कि उसकी शुद्धि नहीं हो जाती" (६०, २४ अयं राजा महाभाग गुरु-शाप-परिक्षतः। सशरीरो दिवं यातुं नार्हत्य् अकृत-पावनः।) [१९९]ऋषि ने उत्तर दिया कि उन्होंने त्रिशङ्कु को वचन दिया था और देवताओं से प्रार्थना की कि वे उनके यजमान को स्वर्ग में सशरीर रहने दें और नवनिर्मित नक्षत्र भी बने रहें। देवता इस पर सहमत हो गये कि "ये नक्षत्र बने रहेंगे किन्तु वे सूर्य के मार्ग से बाहर रहेंगे और त्रिशङ्कु नीचे सिर किये हुए उनके बीच देवता के समान चमकेगा और उसका वे अनुगमन करेंगे।" उन्होंने यह भी कहा कि "इस प्रकार उनका कार्य भी सिद्ध हो जायगा, कीर्ति की भी हानि नहीं होगी और वह स्वर्ग में स्वर्गवासी के समान निवास करेगा।" (६०, २६. एवम् भवतु भद्रं ते तिष्ठन्त्व् एतानि सर्वशः। गगने तान्य् अनेकानि वैश्वानर-पथाद् बहिः। नक्षत्राणि मुनि-श्रेष्ठ तेषु ज्योतिष्षु जाज्वलन्। अवाक्-शिरास् त्रिशङ्कुश् च तिष्ठत्व् अमरसन्निभः। अनुयास्यन्ति चैतानि ज्योतींषि नृप-सत्तमम्। कृतार्थं कीर्त्तिमन्तं च स्वर्ग-लोक-गतं यथा)। इस प्रकार यह महान् संघर्ष एक समझौते से समाप्त हुआ जिसे विश्वामित्र ने स्वीकार कर लिया।

यह देखा गया होगा कि त्रिशङ्कु की यह कथा ऊपर (पृ० ४२३ आदि) हरिवंश से उद्धृत कथा से कुछ ठोस अन्तर रखती है। किन्तु यह कथा वसिष्ठ और विश्वामित्र के संघर्ष का स्वरूप और अधिक स्पष्ट कर देती है।

जब यज्ञ समाप्ति पर सभी देवता और ऋषि चले गये तो विश्वामित्र ने अपने साथ के मुनियों से कहा: (६१, २) महान् विघ्नः प्रवृत्तोऽय दक्षिणाम् आस्थितो दिशम्। दिशम् अन्याम् प्रपत्स्यामस् तत्र तपस्यामहे तपः। "यह [हमारी तपस्या के लिए] महान् विघ्न हो गया, जो इस दक्षिण दिशा में उपस्थित हुआ है। अब हम अपनी तपस्या प्रारम्भ करने के लिए दूसरी दिशा में चलें।" तब वे पश्चिम की ओर एक वन में चले गये और वहाँ उन्होंने पुनः तपस्या आरम्भ की। यहाँ एक दूसरी कथा के आ जाने से इस कथा में

---

[१९९] अन्तिम समास शब्द 'अकृतपावनः' स्लेगेल तथा गोरेसियो द्वारा दिया गया है। बम्बई संस्करण में इसके स्थानपर 'एव तपोधन' हे तपस्वी ऋषि' पाठ है।

विघ्न आ पड़ता है। वह दूसरी कथा अयोध्या के राजा अम्बरीष की कथा है, जो रामायण के अनुसार, इक्ष्वाकु से अठाइसवीं और त्रिशङ्कु से बाइसवीं पीढ़ी में हुए थे। (रामायण १. ७०, तथा २. ११०, ६ आदि में आई हुई वंशावली की विल्सन के विष्णु पुराण, भाग ३, पृ० २६० आदि २८०, २८४ आदि तथा ३०३ की वंशावली से तुलना कीजिए जो भिन्न है)। विश्वामित्र को इन दोनों राजाओं के समय में विद्यमान दर्शाया गया है। कथा में कहा गया है कि अम्बरीष यज्ञ कर रहे थे परन्तु इन्द्र ने उनका यज्ञपशु चुरा लिया। पुरोहित ने बताया कि यह अशुभ घटना राजा के बुरे शासन के कारण घटित हुई थी: और जब तक कि किसी पुरुष की बलि नहीं दी जाती, तब तक इसका प्रायश्चित नहीं हो सकता (६१, ८. प्रायश्चित्तम् महद् ह्य एतद् नरं वा पुरुषर्षभ। आनयस्व पशुं शीघ्रं यावत् कर्म प्रवर्त्तते)। बहुत ढूंढने पर राजर्षि (अम्बरीष) भृगु के वंशज ब्रह्मर्षि ऋचीक के निकट आये और उनसे एक पुत्र को सौ सहस्र गायों के मूल्य पर बेचने के लिये कहा। ऋचीक ने कहा कि वे ज्येष्ठ पुत्र को नहीं बेच सकते और उनकी पत्नी ने कनिष्ठ पुत्र को बेचना अस्वीकार करते हुये कहा: "प्रायः ज्येष्ठ पुत्र पिता को प्रिय होते हैं और कनिष्ठ पुत्र माता को।" (६१, १८. प्रायेण हि नर-श्रेष्ठः ज्येष्ठाः पितृषु वल्लभाः। मातॄणां च कनीयांसस् तस्माद् रक्षे कनीयसम्)। दूसरे पुत्र शुनःशेप ने कहा कि इस स्थिति में वही विक्रय योग्य है और उसने राजा के साथ जाने का विचार प्रकट किया। दस अयुत स्वर्ण-मुद्राओं और रत्नों के भण्डार से युक्त सौ सहस्र गौयें दे दी गईं और शुनःशेप को राजा अपने साथ ले गया। जब वे पुष्कर (अ० ६२) से होकर जा रहे थे तो शुनःशेप ने अपने मामा (देखिए रामायण १. ३४, ७[200] तथा ऊपर पृ० ८०६) विश्वामित्र को देखा जो वहाँ अन्य ऋषियों के साथ तपस्या कर रहे थे। वह उनकी गोद में जा गिरा और अपनी अनाथ तथा असहाय अवस्था के कारण अपने को ऋषि की कृपा के योग्य बताते हुए उनसे सहायता माँगी। (६२, ४. न मेऽस्ति माता न पिता ज्ञातयो बान्धवाः कुतः। त्रातुम् अर्हसि मां सौम्य धर्मेण मुनिपुङ्गव। ५. न मे नाथो ह्य अनाथस्य भव भव्येन चेतसा)। विश्वामित्र ने उसे सान्त्वना दी और अपने पुत्रों को शुनःशेप के स्थान पर यज्ञ पशु बनने को कहा। इस आज्ञा पर

[200] पूर्वजा भगिनी चापि मम राघव सुव्रता। नाम्ना सत्यवती नाम ऋचीके प्रतिपादिता। "सत्यवती नामकी धर्मभगिनी भी है जो मुझ से बड़ी और जो ऋचीक से ब्याही गयी थी।"

मधुष्यन्द[201] और उस राजर्षि के अन्य पुत्रों ने कोई ध्यान नहीं दिया अपितु क्रोध और व्यंग्य के साथ उन्होंने उत्तर दिया : (६२, १४) कथं आत्म-सुतान् हित्वा त्रायसेऽन्य-सुतान् विभो। अकार्य्यम् इव पश्यामः स्व-मांसम् इव भोजने। "यह कैसी बात है कि आप अपने पुत्र को बलि देना चाहते हैं और दूसरों के पुत्रों की रक्षा करते हैं ? हम इसे अनुचित समझते हैं और अपना मांस भक्षण करने के तुल्य मानते हैं।"[202] अपनी आज्ञा की अवहेलना पर ऋषि अत्यन्त क्रुद्ध हुए और उन्होंने वसिष्ठ के पुत्रों के समान अपने पुत्रों को भी वर्षों तक निकृष्ट जाति में जन्म लेने और कुत्ते का मांस खाने का शाप दिया।[203] तब उन्होंने शुनःशेप से कहा : (६२, १९) पवित्रपाशैर आबद्धो रक्त-माल्यानुलेपनः। वैष्णवं यूपम् आसाद्य वाग्भिर् अग्निं उदाहर। इमे च गाथे द्वे दिव्ये गायेथाः मुनि-पुत्रक। अम्बरीषस्य यज्ञेऽस्मिंस् ततः सिद्धिम् अवाप्स्यसि। "जब तुम पवित्र पाशों से बद्ध होगे, लाल मालाओं से सजाये जाओगे, तुम्हारा लेपन होगा और विष्णु के यूप से बाँधे जाओगे तब अग्नि का ध्यान करना और इन दोनों मन्त्रों (गाथाओं) का पाठ अम्बरीष के यज्ञ के समय करना; तब [तुम्हारी इच्छा] पूर्ण होगी।" दोनों गाथाओं को लेकर शुनःशेप ने तत्काल राजा अम्बरीष से गन्तव्य की ओर चलने को कहा। जब रक्त वस्त्र से सुसज्जित करके उसे यूप से बाँधकर उसका वध किया जाने वाला था, तब उसने इन्द्र और उसके अनुज (विष्णु) की श्रेष्ठ सूक्तों से प्रार्थना की। सहस्र-नेत्र (इन्द्र) सूक्त से प्रसन्न हुए और उन्होंने शुनःशेप को दीर्घ जीवन प्रदान किया" (६२, २५, स बद्धो वाग्भिर अग्र्याभिर अभितुष्टाव वै सुरौ। इन्द्रम् इन्द्रानुजां चैव यथावद् मुनि-पुत्रकः। तस्मै प्रीत' सहस्राक्षो रहस्य-स्तुति-

---

[201] स्गेगेल और गोरेसिओ के सस्करणो मे यह शब्द इसी प्रकार लिखा गया है। वम्बई सस्करण मे मधुच्छन्द है।

[202] स्लेगेल और गोरेसियो मे 'स्वमासम्' 'अपना मास' पाठ है, जो 'श्व-मासम्' 'कुत्ते के मास' से जो वम्बई सस्करण का पाठ है अधिक सगत लगता है।

[203] गोरेसियो सस्करण मे केवल 'स्व-मास-वृत्तयः' अपने ही मास पर निर्भर रहकर पाठ है, और इसे अभी जो पुत्रो ने कहा है उसका उल्लेख तथा उनकी अज्ञानता का दण्ड बताया गया है (६४, १६ यस्मात् स्व-मासम् उद्दिष्ट युस्माभिर् अवमन्य माम्)।

तोषित। दीर्घम् आयुस् तदा प्रादाच् छुनश्शेपाय वासवः।)[२०४] राजा अम्बरीष ने भी इस यज्ञ से बहुत फल प्राप्त किया। विश्वामित्र ने भी अपनी तपस्या प्रारम्भ की और एक सहस्र वर्ष तक तपस्या करते रहे।

इस समय के अन्त में (अध्याय ६३) देवता उन्हें तपस्या का फल प्रदान करने आये और ब्रह्मा ने घोषणा की कि उन्होंने ऋषि का पद प्राप्त कर लिया और इस प्रकार वे एक श्रेणी और ऊँचे उठ गये। इससे असन्तुष्ट होकर ऋषि ने अपनी तपस्या पुनः प्रारम्भ की। कुछ समय उपरान्त उन्होंने अप्सरा मेनका को देखा जो पुष्कर सरोवर में स्नान करने आई थी। वह उनके विचारों में घुस गई : सौन्दर्य में वह अद्वितीय थी, मानो मेघों के बीच विद्युत हो (६३, ५. रूपेणाप्रतिमा तत्र विद्युत जलदे यथा)। वे उसके सौन्दर्य से विद्ध हो गये। उन्होंने उसे अपने आश्रम में आकर सङ्गिनी बन कर रहने के लिये आमन्त्रित किया और दस वर्ष तक उसके सौन्दर्य के जादू के दास बने रहे, जिससे तपस्याओं को ईर्ष्या थी।[२०५] अन्ततः अपनी इस गर्हित दासता से वे लज्जित हो गये, और इस पर, जिसे उन्होंने देवताओं द्वारा तपस्या में विघ्न डालने का उपाय माना, कुपित हुए, और अप्सरा को कोमल शब्दों से चले जाने को कह कर स्वयं ही उत्तर के पर्वतों पर चले गये, जहाँ उन्होंने कौशिकी नदी के तट पर एक सहस्र वर्ष तक घोर तपस्या की। उनकी इस तपस्या से देवता भयभीत हो गये और उन्होंने निश्चय किया कि उन्हें महर्षि का पद दे दिया जाय। देवताओं की सम्मति मान कर ब्रह्मा ने यह पद ऋषि को प्रदान करने की घोषणा की। अपने हाथों को जोड़ कर और सिर झुका कर विश्वामित्र ने उत्तर दिया कि वे अपनी इन्द्रियों को तभी अपने वश में मानेंगे जब उन्हें ब्रह्मर्षि की अद्वितीय उपाधि प्रदान की जाय (६३, २१. ब्रह्मर्षि-शब्दम् अतुलं स्वार्जितैः कर्मभिः शुभैः। यदि मे भगवान् आह ततोऽहं विजितेन्द्रियः)। ब्रह्मा ने अपने उत्तर में उन्हें बताया कि उन्होंने अभी अपनी इन्द्रियों को पूर्णतः अपने वश में रखने की शक्ति नहीं प्राप्त की है अतः उसके लिये उन्हें और तपस्या करनी होगी। तब उस ऋषि ने अपनी भुजाओं को सीधा ऊपर उठाकर, बिना आश्रय के, वायु पान करके और ग्रीष्म में पञ्चाग्नि (अर्थात् चारों दिशाओं में एक-एक अग्नि और सिर के ऊपर सूर्य) का सेवन करते हुए, वर्षा ऋतु में बिना आश्रय के भींगते हुए, और शरद् में दिवा-रात्रि जल में

[२०४] ऊपर पृ० ४०३ टि० में मैंने शुनःशेप के इस आख्यान तथा ऐतरेय ब्राह्मण में पाये जाने वाले आख्यान का अन्तर प्रदर्शित किया है।

[२०५] तुलना, लेकी का हिस्ट्री ऑफ रेशनलिज्म, भाग १ पृ० ८६,

रह कर उन्होंने और भी कठोर तपस्या आरम्भ की। ऐसी तपस्या वे एक सहस्र वर्ष तक करते रहे। अन्त में इन्द्र और अन्य देवता उनके बढ़ते हुए पुण्य-भण्डार और उसके द्वारा प्राप्त की गई महान् शक्ति के विचार से अत्यधिक व्यग्र हुए। देवों के स्वामी ने रम्भा को उनके निकट जाकर अपने सौन्दर्य से उन्हें मोहित करने की आज्ञा दी। उसने उग्रतपस्वी मुनि के क्रोध के सम्मुख जाने में आनाकानी की किन्तु इन्द्र के पुन-पुनः आज्ञा देने पर तथा यह वचन देने पर कि वे और कन्दर्प (प्रेम के देवता) उसके निकट रहेंगे, वह सहमत हो गयी। उसने ऋषि की जितेन्द्रियता को जीतने के लिये नितान्त आकर्षक रूप धारण किया। उन्हें इस षडयन्त्र का ज्ञान हो गया और अत्यन्त क्रुद्ध होकर उन्होंने उस अप्सरा को शिला हो जाने और उस दशा में एक सहस्र वर्षों तक पड़े रहने का शाप दिया।[२०६] शाप ने तत्काल प्रभाव दिखाया और कन्दर्प तथा इन्द्र निकल भागे। इस प्रकार यद्यपि उन्होंने वासना के आकर्षण को रोक लिया,[२०७] तथापि क्रोध के वशीभूत होकर वे अपनी तपस्या का फल खो बैठे; उन्हें पुन: तपस्या आरम्भ करनी पड़ी। उन्होंने अपने क्रोध को रोकने, मौन रहने और यहाँ तक कि सौ वर्षों तक श्वास न लेने एवं अपने शरीर को सुखा देने का निश्चय किया। उन्होंने ब्राह्मणत्व की प्राप्ति तक उपवास करने एवं श्वास रोक के रखने का संकल्प किया। तब उन्होंने (अध्याय ६५) हिमालय का परित्याग कर दिया और पूर्व की ओर चले गये। वहाँ जाकर उन्होंने भंयकर तपस्याएँ कीं जो तपस्याओं के इतिहास में अति अनुपम है। अपने संकल्प के अनुसार एक सहस्र वर्ष तक मौन रहकर उन्होंने तपस्या की। इस समय के अन्त मे उन्होंने सिद्धि प्राप्त कर ली और यद्यपि उनके मार्ग में अनेक विघ्न आए तथापि वे क्रोध से विचलित नहीं हुए। इस तपश्चर्या के काल की समाप्ति पर उन्होंने अपने लिए भोजन पकाया, जिसे ब्राह्मण के वेश मे आकर इन्द्र ने माँगा। विश्वामित्र ने भोजन उन्हें दे दिया। यद्यपि उनके पास अब कुछ भी नही रह गया और उन्हें भूखों रहना पड़ा तथापि उन्होंने अपने मौन व्रत के कारण उस ब्राह्मण से कुछ भी नहीं कहा. ६५, ८. तस्यानुच्छ्व-

---

[२०६] इस पर टीकाकार का कथन है कि काम की अपेक्षा क्रोध को जीतना अधिक कठिन है (एतेन कामाद् अपि क्रोधो दुर्जेय इति सूचितम्)।

[२०७] भाष्यकार का कथन है कि रम्भा को सहसा देखने से उनके मन मे कुछ इस प्रकार के विचार आये होंगे (आपाततो रम्भा-दर्शन-प्रवृत्या कामेनापि तप.-क्षय')।

समानस्य मूर्ध्नि धूमो व्यजायत। ६. त्रैलोक्यं येन संभ्रान्तम् आतापितम् इवाभवत्। ..११ "वहुभिः कारणैर् देव विश्वामित्रो महामुनिः। लोभितः क्रोधितश् चैव तपसा चाभिवर्द्धते।...१२. न दीयते यदि त्व् अस्य मनसा यद् अभीप्सितम्। १३. विनाशयति त्रैलोक्यं तपसा स-चराचरम्। व्याकुलाश् च दिशः सर्वाः न च किञ्चित् प्रकाशते। १४. सागरः क्षुभिताः सर्वे विशीर्यन्ते च पर्वताः। प्रकम्पते च वसुधा वायुर् वातीह सङ्कुलः। १५. ब्रह्मन् न प्रतिजानीमो नास्तिको जायते जन'।..१६. वुद्धिं न कुरुते यावद् नाशे देव महामुनिः। १७. तावत् प्रसाद्यो भगवान् अग्निरूपो महाद्युतिः।".. १६. ब्रह्मर्षे स्वागतं तेऽस्तु तपसा स्म' सुतोपिताः। २०. ब्राह्मण्यं तपसोग्रेण प्राप्तवान् असि कौशिक। दीर्घम् आयुश् च ते ब्रह्मन् ददामि स-मरुद्-गणः। २१..

स्वस्ति प्राप्नुहि भद्रं ते गच्छ सौम्य यथासुखम्।...२२. ब्राह्मण्यं यदि मे प्राप्तं दीर्घम् आयुस् तथैव च। २३. ओंकारोऽथ वषट्कारो वेदाश् च वरयन्तु माम्। क्षत्र-वेद-विदां श्रेष्ठो ब्रह्म-वेद-विदाम् अपि। २४. ब्रह्म-पुत्रो वशिष्ठो माम् एव वदतु देवताः।.. २५. ततः प्रसादितो देवैर् वशिष्ठो जपतां वरः। सख्यं चकार ब्रह्मर्षिर् "एवम् अस्त्व्" इति चाब्रवीत्। २६. "ब्रह्मर्षित्वं न सन्देहः सर्वम् सम्पद्यते तव।".. २७. विश्वामित्रोऽपि धर्मात्मा लब्ध्वा ब्राह्मण्यम् उत्तमम्। पूजयामास ब्रह्मर्षिं वशिष्ठं जपतां वरम्। "जब उन्होंने अपनी प्राणवायु रोक ली तो उनके सर से धूम निकलने लगा, जिससे तीनों लोकों में महान् भय और उत्पात फैल गया।" देवताओं, ऋषियों इत्यादि ने तब ब्रह्मा से कहा "महामुनि विश्वामित्र को अनेक प्रकार से आकृष्ट और उत्तेजित किया गया है, किन्तु वे अपनी तपस्या करते रहे। यदि उनकी इच्छा पूरी नहीं होगी तो वे अपनी तपस्या की शक्ति से तीनों लोकों को भस्म कर देंगे। विश्व के सभी भाग व्याकुल हो गये हैं; कहीं कोई प्रकाश नहीं है, सभी समुद्र उफन रहे हैं, पर्वत गिर रहे हैं, पृथ्वी काँप रही है और वायु वेग से वह रहा है। १५. हे ब्रह्मा हम यह नहीं विश्वास दिला सकते कि सभी मनुष्य नास्तिक होंगे...१६ यह महान् और श्रेष्ठ ऋषि (सभी वस्तुओं का) नाश करने का विचार करें उसके पूर्व ही उन्हें प्रसन्न कर दिया जाय।"...ब्रह्मा आदि देवताओं ने विश्वामित्र से कहा' "ब्रह्मर्षि प्रसन्न होवें! हम तुम्हारी तपस्याओं से प्रसन्न हैं; हे कौशिक! तुमने उग्र तप से ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया है। हे ब्राह्मण! मरुतों के साथ मैं तुमको दीर्घजीवन प्रदान करता हूँ। तुम्हें प्रत्येक सुख प्राप्त हो; जहाँ चाहो वहाँ जाओ।' प्रसन्न होकर ऋषि ने देवताओं की पूजा की और

कहा : 'यदि मैंने ब्राह्मणत्व और दीर्घ जीवन प्राप्त कर लिया है, तो ओंकार, वषट्कार और वेद मुझे इस रूप में स्वीकार कर लें। ब्रह्मा के पुत्र वसिष्ठ, जो क्षत्र-वेद और ब्राह्म-वेद (क्षत्रिय एवं ब्राह्मण शिष्यों की विद्याओं) में दक्ष व्यक्तियों में प्रमुख है, मुझे उसी प्रकार सम्बोधित करें'....। देवताओं द्वारा प्रसन्न किये जाने पर वसिष्ठ ने विश्वामित्र से मेल कर लिया और उनके ब्रह्मर्षि पद को भी स्वीकार किया...। विश्वामित्र ने भी ब्राह्मण पद प्राप्त कर वसिष्ठ का सम्मान किया।" विश्वामित्र ने अनेक सहस्र वर्ष तक शरीर को कष्ट देकर एवं आत्म-साधना करके इस प्रकार का श्रेष्ठ फल प्राप्त किया। संघर्ष के बीच, जैसा कि कथा में कहा गया है, उन्होंने देवराज इन्द्र से अल्प शक्ति नहीं दिखाई थी; और जैसा कि पहले के आए हुए एक आख्यान में हम वस्तुतः राजा नहुष को उस देवता के आसन पर आसीन देखते हैं, इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि—भारतीय पुराकथाशास्त्र के मान्य सिद्धान्तों के अनुसार—विश्वामित्र को उससे भी ऊँचे पद, देवर्षि के स्थान पर, (यदि यह ब्रह्मर्षि से ऊँचा पद रहा हो) अथवा किसी और ऊँचे पद पर जिसकी वे इच्छा कर सकते थे, पहुँचने के लिये अपनी तपस्या प्रारम्भ करनी थी। किन्तु रामायण में आई हुई कथा के अनुसार वे इसी सफलता से सन्तुष्ट हो गये। वे अपने प्रतिद्वन्द्वी वसिष्ठ के समकक्ष हो गये, किन्तु और अधिक सम्मान प्राप्ति के प्रति उदासीन हो गये। वस्तुतः इस कथा के रचयिताओं का ध्येय उन्हें और ऊँचा उठाने का नहीं था। वे केवल उनके ब्राह्मण का विशिष्ट कर्म करने की योग्यता का कारण बताना चाहते थे; और यह उनके सन्तोष के अनुसार हो भी गया।

शकुन्तला की कथा में, जो महाभारत के आदि पर्व के उनहत्तरवें और आगे के खण्डों में कही गई है, यह बताया गया है कि ब्राह्मण का पद प्राप्त कर लेने के उपरान्त भी विश्वामित्र ने अपनी तपस्या प्रारम्भ रक्खी, जिससे इन्द्र को महान् भय हो गया : १. ७१, २० : तप्यमानः किल पुरा विश्वामित्रो महत्-तपः। सुभृशं तापयामास शक्रं सुर-गणेश्वरम्। तपसा दीप्त-वीर्योऽयं स्थानाद् मां च्यावयेद् इति। "पूर्व काल में विश्वामित्र ने, जो घोर तपस्या कर रहे थे। देवताओं के स्वामी इन्द्र के लिये यह भय उत्पन्न कर दिया कि कहीं उस ऋषि द्वारा प्राप्त किये गये तेज से वे स्वयं ही पदच्युत न हो जाँय।" यह देखकर इन्द्र ने किसी अप्सरा को भेजने का अपना सदैव का जाल रचाया और मेनका को अपनी सम्पूर्ण रमणीयता प्रदर्शित करके तथा हर प्रकार से आकृष्ट करके 'सौन्दर्य, यौवन, मधुरिमा, भाव-भङ्गिमा, और शब्दों से' (श्लोक २६. रूप-यौवन-माधुर्य-चेष्टित-स्मिभाषित-तैः) ऋषि के मन में वासना जगाने, और इस प्रकार उनकी उग्र तपस्या के श्रम को अन्त कर देने

की विधि का दूसरे प्रकार से वर्णन है : अर्थात् उनके प्रतिद्वन्द्वी के रूप में आए हुए धर्म राजा द्वारा दिये जाने पर। महाभारत ५. १०६, ८ : विश्वामित्रं तपस्यन्तन् धर्मो जिज्ञासया पुरा। अभ्यागच्छत् स्वयम् भूत्वा वशिष्ठो भगवान् ऋषि।...१५. अथ वर्ष-शते पूर्णे धर्मः पुनर् उपागमत्। वाशिष्ठं वेशम् आस्थाय कौशिकम् भोजनेप्सया। स दृष्ट्वा शिरसा भक्त ध्रियमाणम् महर्षिणा। तिष्ठता वायुभक्षेण विश्वामित्रेण धीमता। प्रतिगृह्य ततो धर्मस् तथैवोष्णं तथा नवम्। भुक्त्वा "प्रीतोऽस्मि विप्रर्षे" तम् उक्त्वा स मुनिर् गतः। क्षत्र-भावाद् अपगतो ब्राह्मणत्वम् उपागतः। धर्मस्य वचनात् प्रीतो विश्वामित्रस् तथाऽभवत्। "एक बार जब विश्वामित्र तपश्चर्या में लीन थे तो धर्म ऋषि वसिष्ठ का वेश धारण कर उनकी परीक्षा लेने आये, तथा अन्य तपस्वियों द्वारा भोजन कराये जाने पर उन्होंने विश्वामित्र को जो उनके लिये तत्काल पकाया गया, उष्ण चरु ले आये थे, स्थिर खड़ा होने को कहा। विश्वामित्र केवल वायु पर जीवित रहते हुये उष्ण चरु को सिर पर रखकर खड़े रहे। "वही व्यक्ति, धर्म, उसी छद्मवेश में एक सौ वर्ष बाद भोजन की इच्छा करते हुए आये और उस चरु का भक्षण किया (जो अब भी ताजा और उष्ण था) जिसे उन्होंने ऋषि के सिर पर रक्खा हुआ देखा जबकि वे स्थिर होकर केवल वायु पीकर खड़े थे। तब धर्म ने उनसे कहा : 'हे ब्रह्मर्षि, मैं तुमसे प्रसन्न हूँ' और वे चले गये। इस प्रकार धर्म के शब्दों द्वारा क्षत्रिय से ब्राह्मण बनकर विश्वामित्र प्रसन्न हुए।"

महाभारत के अनुशासनपर्व में विश्वामित्र की कथा का एक और उल्लेख है। राजा युधिष्ठिर भीष्म से पूछते हैं कि (१३. ३, १) जब ब्राह्मणत्व प्राप्त करना अन्य तीन वर्णों के लिये इतना दुर्लभ है तो उस महान् क्षत्रिय ने यह पद कैसे प्राप्त कर लिया। तब राजा, विश्वामित्र के प्रमुख कर्मों का वर्णन करते हैं : ३, ३ तेन ह्य् अमित-वीर्येण वशिष्ठस्य महात्मन.। हतम् पुत्र-शतं सद्यस् तपसाऽपि पितामह। यातुधानाश् च बहवो राक्षसास् तिग्म-तेजसः। मन्युनाऽऽविष्ट-देहेन सृष्टाः कालान्तकोपमाः। ५. महान् कुशिक-वंशश् च ब्रह्मर्षि-शत-सङ्कुलः। स्थापितो नरलोकेऽस्मिन् विद्वान् ब्राह्मण-संयुतः। ऋचीकस्यात्मजश् चैव शुनःशेपो महातपाः। विमोक्षितो महासत्रात् पशुताम् अप्य् उपागतः। हरिश्चन्द्रक्रतौ देवांस् तोषयित्वाऽऽत्म-तेजसा। पुत्रताम् अनुसम्प्राप्तो विश्वामित्रस्य धीमतः। नाभिवादयतो ज्येष्ठं देवरात नराधिप। पुत्राः पञ्चाशद्

एवापि शप्ताः श्वपचतां गताः। त्रिशङ्कुर् बन्धुभिर मुक्तः ऐक्ष्वाकुः प्रीतिपूर्वकम्। अवाक्-शिराः दिवं नीतो दक्षिणाम् आश्रितो दिशम्।···ततो विघ्नकरी चैव पञ्चचूडा सुसम्मता। रम्भा नामाप्सराः शापाद् यस्य शैलत्वम् आगता। तथैवास्य भयाद् बध्वा वशिष्ठः सलिले पुरा। आत्मानम् मज्जयन् श्रीमान् विपाश' पुनर् उत्थितः। "क्योंकि उन्होंने वसिष्ट के सौ पुत्रों को तपोवल से नष्ट कर दिया; क्रुद्ध होकर उन्होंने अनेक, भयकर एवं मृत्यु के समान विनाशकारी दानवों की सृष्टि की, उन्होंने (५.) कुशिकों के महान् और विद्वत्तापूर्ण वंश की स्थापना की, जिसमें ब्राह्मण और सैकड़ों ब्रह्मर्षि हुए, उन्होंने ऋचीक के पुत्र शुनःशेप को मुक्त किया, जिसका यज्ञपशु के रूप में वध किया जाने वाला था और हरिश्चन्द्र को यज्ञ सम्प्राप्त होने पर अपनी तपस्या द्वारा देवताओं को प्रसन्न कर उसे पुत्र बना लिया। देवरात को ज्येष्ठ न स्वीकार करने पर उन्होंने अपने पचास पुत्रों को शाप दे दिया जिससे वे अजाति हो गये। प्रेमवश उन्होंने बन्धुओं द्वारा त्यागे गये त्रिशङ्कु को स्वर्ग भेज दिया, जहाँ वह दक्षिण दिशा में अपना सिर नीचे करके लटका रहा। (११.)...उन्होंने पञ्चचूड़ा नामक विघ्न पहुँचाने वाली रम्भा अप्सरा को अपने शाप से शिला बना दिया। उनके भय से ही वसिष्ठ बद्ध होकर जल में जा डूबे यद्यपि उसमें से वे बिना पाश के निकले।" और उन्होंने अन्य विस्मयकारी कर्म किये। अन्त में युधिष्ठिर प्रश्न करते हैं. "ये क्षत्रिय दूसरे शरीर में जन्म पाये बिना ब्राह्मण किस प्रकार हो गये" (१७. देहान्तरम् अनासाद्य कथं स ब्राह्मणोऽभवत्)। इस प्रश्न के उत्तर में भीष्म (१३.४) विश्वामित्र के वंश का भरत वंश के अजमीढ़ से सम्बद्ध बताते है, जो एक यज्ञकर्त्ता, और धर्मात्मा व्यक्ति (यज्वा धर्म-भृतां वरः) जह्नु के पिता थे, जह्नु स्वयं गाधि के पिता कुशिक के जन्मदाता थे, और वे विश्वामित्र के जन्म की उसी कथा को कहते हैं जो ऊपर विष्णु पुराण से उद्धृत की जा चुकी है (दे० ऊपर पृ० ३९२ आदि)। इस कथा का जो निष्कर्ष यहाँ दिया गया है, वह यह है कि ऋचीक की पत्नी ने जमदग्नि को जन्म दिया, जब कि "गाधि की पत्नी ने ऋषि की कृपा से, विश्वामित्र को जन्म दिया, जो ब्रह्मर्षि और ब्रह्मवादी थे, तथा क्षत्रिय होकर ब्राह्मण हुए और आगे चलकर एक ब्राह्मण वंश के आदि पुरुष बने (४, ४७ विश्वामित्रं चाजनयद् गाधि-भार्य्या यशस्विनी। ऋषेः प्रसादाद् राजेन्द्र ब्रह्मर्षिम् ब्रह्मवादिनम्। ततो ब्राह्मणतां यातो विश्वामित्रो महातपः। क्षत्रियः सोऽप्य् अथ तथा ब्रह्म-वंशस्य कारकः) जिनके

सदस्यों का विस्तृत वर्णन[२०८] किया गया है और उसके अन्तर्गत कपिल भी आते हैं। विश्वामित्र के क्षत्रिय से ब्राह्मण बनने की विधि के विषय में, केवल यही कहा गया है कि वे ब्राह्म क्षत्रिय वंश के थे और "ऋचीक ने उन्हें ब्राह्मणत्व से युक्त कर दिया" (६०. तथैव क्षत्रियो राजन् विश्वामित्रो महातपाः। ऋचीकेनाहितम् ब्रह्म परम् एतद् युधिष्ठिर)।

इस कथा का रूप पहले आई हुई सभी कथाओं से भिन्न है जो कुछ विस्तृत वर्णन करती है, क्योंकि इसमें विश्वामित्र के अपनी तपस्या के प्रभाव से देवताओं से ब्राह्मणत्व प्राप्त करने का कोई उल्लेख नहीं है, और इस वर्ण-परिवर्तन को ऋषि ऋचीक द्वारा दिये गये पुण्य का परिणाम बताया गया है।

ऊपर (पृ० २३५ आदि) मैंने विनम्र एवं उद्धत राजाओं के विषय में मनु से एक अंश उद्धृत किया है, जिसमें विश्वामित्र की पदोन्नति का संकेत किया गया है। वसिष्ठ के साथ उनके संघर्ष के विषय में कुछ भी नहीं कहा गया है और न उनके प्रतिद्वन्द्वी की समता प्राप्त करने के लिये किये गये कठोर तपों का ही कोई उल्लेख है। इसके विपरीत अपनी विनम्रता अर्थात् ब्राह्मणों की श्रेष्ठता उचितरूप से स्वीकार कर लेने के कारण ही वे उसके वर्ण में प्रवेश प्राप्त करते हैं। वस्तुतः कुल्लूक विनय शब्द की व्याख्या सद्गुणों से कहते हैं। किन्तु एक ओर पृथु, मनु और विश्वामित्र में और दूसरी ओर वेण, नहुष, सुदास् तथा निमि में जो ब्राह्मणीय श्रेष्ठता के विरोधी थे (जैसा कि ऊपर के सभी आख्यान उन्हें वर्णित करते हैं) प्रदर्शित विपर्यास यह स्पष्ट कर देता है कि मनु विश्वामित्र से जिस सद्गुण का सम्बन्ध जोड़ना चाहते हैं वह ब्राह्मणों की अध्यात्मगरिमा के प्रति विनम्रता है।

खण्ड १३—सौदास का आख्यान

मित्रसह के राज्य में भी, जिन्हें सौदास तथा सुदास का पुत्र कल्माषपाद भी कहते हैं और जो त्रिशंकु की बाईसवीं पीढ़ी में हुए थे (देखिए ऊपर पृ० ३८०), हम आख्यानों में वसिष्ठ को उस राजा के पुरोहित के रूप में पाते हैं और वे उस राजा को अपने शाप से नरभक्षी बना देते हैं क्योंकि अज्ञानवश उसने उन्हें मनुष्य का मांस खाने को दिया था। मैं विष्णु पुराण

[२०८] इस सूची में दिये गये अनेक नाम ऊपर पृ० ३९६ पर हरिवंश से दिये गये नामों से भिन्न हैं।

(विलसन, विष्णु० भाग ३ पृ० ३०४ आदि) में विस्तृत रूप से दी गई इस कथा को उद्धृत नहीं करूँगा, क्योंकि यह किसी प्रकार वसिष्ठ और विश्वामित्र की प्रतिद्वन्द्विता पर प्रकाश नहीं डालती।

महाभारत में इस इतिहास में निम्नलिखित अन्तर पाया जाता है (१. १७६, १-३) : "कल्मापपाद इक्ष्वाकुवंश का राजा था : विश्वामित्र ने उस राजा का ऋत्विज् होने की इच्छा की किन्तु उस राजा ने वसिष्ठ को पुरोहित नियुक्त किया।" (श्लोक ४. अकामयत् तं याज्यार्थे विश्वमित्रः प्रतापवान्। स तु राजा महात्मानं वशिष्ठम् ऋषि-सत्तमम्।) एक बार ऐसा हुआ कि राजा आखेट करने गया। अनेक पशुओं का वध करने के उपरान्त राजा थक गया। उसे भूख और प्यास भी लगी थी। वसिष्ठ के सौ पुत्रों में सबसे ज्येष्ठ, शक्तृ, को मार्ग में आता देखकर उसने मार्ग छोड़ देने की आज्ञा दी। उस पुरोहित ने एक नागरिक के समान उत्तर दिया (श्लोक ८.) : मम पन्थाः महाराज धर्मः एप सनातन। राजा-सर्वेपु धर्मेपु देयः पन्थाः द्विजातये। "हे राजा, यह मार्ग मेरा है; यही सनातन धर्म है; सदैव राजा को ब्राह्मण के लिये मार्ग छोड़ देना चाहिए।" कोई दबने वाला नहीं था। विवाद बढ़ चला और राजा ने मुनि पर कोड़े से प्रहार किया। मुनि ने अपमानित ऋषियों का मार्ग अपनाकर राजा को नर-भक्षी हो जाने का शाप दिया। "उस समय कल्मापपाद के पुरोहित होने की बात को लेकर विश्वामित्र और वसिष्ठ में शत्रुता चल रही थी" (श्लोक १५. ततो याज्य-निमित्तं तु विश्वामित्र-वशिष्ठयोः। वैरम् आसीत् तदा तां तु विश्वामित्रोऽन्वपद्यत। विश्वामित्र राजा के साथ हो लिये थे और जब वह शक्तृ से लड़ रहे थे तो वे वहाँ पहुँच गये। अपने प्रतिद्वन्द्वी वसिष्ठ के पुत्र को देखकर विश्वामित्र अदृश्य हो गये और सुअवसर देखकर आगे बढ़ गये। राजा शक्तृ से दया की भीख माँगने लगा, किन्तु विश्वामित्र ने उनमें मेल न होने देने के विचार से एक राक्षस (नरभक्षी दानव) को राजा में प्रवेश करने की आज्ञा दी। ब्रह्मर्षि के शाप तथा विश्वामित्र की आज्ञा, दोनों के प्रभाव से दानव ने इस आदेश का पालन किया। अपना कार्य सिद्ध देख कर, विश्वामित्र इन सब बातों को चलते रहने के लिये छोड़कर उस राज्य का त्यागकर चले गये। राजा ने एक क्षुधार्त ब्राह्मण से मिलने पर अपने रसोइये के हाथ (जो नरमांस के अतिरिक्त और कुछ नहीं जुटा सकता था) मनुष्य का मांस खाने के लिये दिया और उस ब्राह्मण ने भी शक्तृ के समान ही शाप दिया। शाप का प्रभाव अब बढ़-चला और राजा ने शक्तृ को ही अपना पहला शिकार बनाकर उसका भक्षण कर लिया। तदनन्तर विश्वामित्र के प्रभाव से वसिष्ठ के अन्य सभी

पुत्रों का भी यही हाल हुआ। १७६, ४१ शक्तृम् तं तु मृतं दृष्ट्वा विश्वामित्रः पुनः पुनः। वशिष्ठस्यैव पुत्रेषु तद् रक्षः सन्दिदेश ह। स तान् शक्त्य्-अवरान् पुत्रान् वशिष्ठस्य महात्मनः। भक्षयामास सङ्क्रुद्धः सिंहः क्षुद्र-मृगान् इव। वशिष्ठो घातितान् श्रुत्वा विश्वामित्रेण तान् सुतान्। धारयामास तं शोकम् महाद्रिर् इव मेदिनीम्। चक्रे चात्म-विनाशाय बुद्धिं स मुनि-सत्तमः। न त्व् इव कौशिकोच्छेदम् मेने मतिमतां वरः। ४५. स मेरु-कूटाद् आत्मानम् मुमोच भगवान् ऋषिः। गिरेस् तस्य शिलायां तु तूल-राशाव् इवापतत्। न ममार च पातेन स यदा तेन पाण्डव। तदाऽग्निम् इद्धम् भगवान् संविवेश महावने। तं तदा सुसमिद्धोऽपि न ददाह हुताशनः। दीप्यमानोऽप्य् अमित्र-घ्न शीतोऽग्निर् अभवत् ततः। स समुद्रम् अभिप्रेक्ष्य शोकाविष्टो महामुनिः। बद्ध्वा कण्ठे शिलां गुर्वीं निपपात तदाऽम्भसि स समुद्रोर्मि-वेगेन स्थले न्यस्तो महामुनिः। जगाम स ततः खिन्नः पुनर् एवाश्रमम् प्रति। १७७, १ ततो दृष्ट्वाऽऽश्रम-पदं रहितं तैः सुतैर् मुनिः। निर्जगाम सुदुःखार्त्तः पुनर् अप्य् आश्रमात् ततः। सोऽपश्यत् सरितम् पूर्णाम् प्रावृट्-काले नवाम्भसा। वृक्षान् बहुविधान् पार्थ हरन्तीं तीर-जान् बहून्। अथ चिन्तां समापेदे पुनः कौरव-नन्दन। "अम्भस्य् अस्यां निमज्जेयम्" इति दुःख-समन्वितः। ततः पाशैस् तदाऽत्मानम् गाढम् बद्ध्वा महामुनिः। तस्याः जले महानद्याः निममज्ज सुदुःखितः। अथ छित्त्वा नदी पाशांस् तस्यारि-बल-सूदन। स्थल-स्थं तम् ऋषिम् कृत्वा विपाशं समवासृजत्। ६. उत्ततार ततः पाशैर् विमुक्तः स महान् ऋषिः। विपाशेति च नामास्याः नद्याश् चक्रे महान् ऋषिः।... ८. दृष्ट्वा स पुनर् एवर्षिर् नदीं हैमवतीं तदा। चन्द्रभागवतीम् भीमां तस्याः स्रोतस्य् अपातयत्। सा तम् अग्नि-समं विप्रम् अनुचिन्त्य सरिद् वरा। शतधा विद्रुता यस्माच् शतद्रुर् इति विश्रुता।...३०. सौदासोऽहम् महाभाग याज्यस् ते मुनि-सत्तम। अस्मिन् काले यद् इष्टं ते ब्रूहि किं करवाणि ते। वशिष्ठ उवाच। वृत्तम् एतद् यथाकालं गच्छ राज्यम् प्रशाधि वै। ब्राह्मणांस् तु मनुष्येन्द्र माऽवमंस्थाः कदाचन। राजा उवाच। नावमंस्ये महाभाग कदाचिद् ब्राह्मणर्षभान्। त्वन्-निदेशे स्थितः सम्यक् पूजयिष्याम्य् अहं द्विजान्। इक्ष्वाकूणां च येनाहम् अनृणः स्यां द्विजोत्तम। तत् त्वत्तः प्राप्तुम् इच्छामि सर्व-वेद-विदां वर। अपत्यम् ईप्सितम् मह्यं दातुम् अर्हसि सत्तम। "शक्तृ को मृत देखकर विश्वामित्र ने पुनः पुनः राक्षसों को वसिष्ठ के पुत्रों के विरुद्ध उभाड़ा, और उग्र कर्म करनेवाले दानवों ने शक्तृ के

अनुजों को भी खा डाला, जैसे एक सिंह वन के छोटे पशुओं का भक्षण कर जाता है।[२०९] विश्वामित्र द्वारा अपने पुत्रों का विनाश सुनकर वसिष्ठ ने उस दुःख का इस प्रकार वहन किया जैसे विशाल पर्वत पृथ्वी को धारण करता है। उन्होंने अपना नाश कर देने का विचार किया परन्तु कौशिकों का नाश कर देने की बात कदापि न सोची। ४५. ये देवर्षि मेरु पर्वत के शिखर से कूद पडे किन्तु शिलाओं पर इस प्रकार गिरे जैसे रूई की राशि पर गिरे हों। गिरने से भी जीवित बच जाने पर उन्होंने वन मे दहकती हुई अग्नि में प्रवेश किया, किन्तु अग्नि, जो अत्यन्त प्रज्वलित था, न केवल उन्हें जलाने मे असमर्थ हुआ अपितु नितान्त शीतल प्रतीत हुआ। तब वे अपनी ग्रीवा मे विशाल शिला बाँधकर समुद्र में डूबे किन्तु लहरों ने उन्हें सूखी जमीन पर फेंक दिया। तब वे पुन॰ अपने आश्रम में गये किन्तु उसे निर्जन और सूना देखकर पुनः शोक के वशीभूत हो गये और वहाँ से चल पड़े। विपाशा नदी को देखकर, जो हाल में हुई वृष्टि से उमड रही थी और तट के अनेक वृक्षों को उखाड़कर बहाए लिये जा रही थी, उन्होंने अपने को रस्सियों से कसकर बाँधा और नदी मे कूद पड़े, किन्तु नदी ने उनके बन्धनों को तोड़ कर बन्धन-मुक्त (विपाश) करके सूखी पृथ्वी पर रख दिया, इस कारण ऋषि ने उस नदी का यह नाम रखा।[२५०] १७७, १ तब उन्होंने शतद्रु (सतलज) को देखा, जिसमे घड़ियाल इत्यादि जीव थे और उसमें कूद पड़े। ब्राह्मण को अग्नि के समान तेजस्वी देखकर सौ दिशाओं मे नदी के बहने के कारण इसका शतद्रु

---

[२०९] वसिष्ठ के पुत्रो के वध के सबन्ध मे ऊपर (पृ० ३६९ आदि पर) ब्राह्मणो से उद्धृत अश देखिए। पञ्चविंश ब्राह्मण (प्रोफेसर वेबर द्वारा इण्ड० स्टू० १।३२ मे उद्धृत) मे वसिष्ठ को 'पुत्र-हत' कहा गया है।

[२५०] निरुक्त ९ २६ मे विपाश् शब्द की अन्य व्युत्पत्तियाँ देने के उपरान्त एक श्लोक मे कहा गया है : पाशा अस्या व्यपाश्यन्त वसिष्ठस्य मुमूर्षत । तस्माद् विपाड् उच्यते पूर्वम् आसीद् उरुञ्जिरा। "जब वशिष्ठ मृत्यु के निकट थे तो इसमे उनके बन्धन ढीले हो गये। इसलिये इसे विपाश् कहते है। इसका पहले उरुञ्जिरा नाम था।" यह ज्ञात नही होता कि यह श्लोक महाभारत से पहले का है या बाद का। निरुक्त के इस अश पर दुर्ग (जैसा कि प्रो० मूलर ने ऋग्वेद २ आमुख पृ० ५४ पर उद्धृत किया है) ने इस प्रकार टीका की है . वसिष्ठ किल निममज्ज अस्याम् मुमूर्षुः पुत्र-मरण-शोकार्त्तः पाशैर् आत्मानम् बद्ध्वा। तस्य किल ते पाशा अस्या व्यपाश्यन्त व्यमुच्यन्त उदकेन। "अपने पुत्रो की मृत्यु पर दु:खित होकर वसिष्ठ अपने को पाश बद्ध करके इसमे डूबे। इस (नदी) में उनके बन्धन जल द्वारा खुल गये।"

नाम पड़ा। इससे वे और भी दुःखित हुए और अपने को मरते हुए न देखकर वे अपने आश्रम में चले गये। अनेक पर्वतों और देशों में उनके भ्रमण करने पर उनकी पुत्र-वधू, अदृश्यन्ती, ने उन्हें घर चलने को विवश किया, जिसके गर्भ से उन्होंने वेदमन्त्रों के पाठ का शब्द सुना। वह गर्भवती थी और उसने जब बालक को जन्म दिया तो उसका नाम पराशर पड़ा। ६७९. उससे यह जानकर कि इस प्रकार उनका वंश आगे चलता रहेगा वे अपना जीवन समाप्त करने के प्रयत्नों से विरत हुए।

जब राजा कल्माषपाद, जिससे उनकी वन में भेंट हुई, उन दोनों का भक्षण कर जानेवाला था तभी वसिष्ठ ने अपने मुख की एक फूँक से उसे रोका और उस पर मन्त्रपाठ के साथ जल छिड़कर उक्त शाप से मुक्त कर दिया, जिससे वह बारह वर्ष तक पीड़ित था। तब राजा ने वशिष्ठ से कहाः "हे ऋषियों में श्रेष्ठ ! मैं सौदास हूँ, जिसके आप पुरोहित हैं : मैं क्या करूँ जिससे आप प्रसन्न हों।' वसिष्ठ ने उत्तर दिया : 'यह जो कुछ हुआ है वह सब भाग्य के कारण हुआ है; जाओ और राज्य करो, किन्तु हे राजा ! कभी ब्राह्मणों का अनादर मत करना।' राजा ने उत्तर दिया 'मैं कभी तेजस्वी ब्राह्मणों का अपमान नहीं करूँगा, अपितु आपकी आज्ञा शिरोधार्य कर मैं उन्हें सभी आदर प्रदान करूँगा। और मुझे आपसे इक्ष्वाकुओं का ऋण चुकाने के लिये साधन प्राप्त होना चाहिए, आप मुझे सन्तान दें जिसकी मैं इच्छा करता हूँ।" वसिष्ठ ने उनकी प्रार्थना पूरी करने का वचन दिया। राज्य के उत्तराधिकारी को उत्पन्न करने के लिए राजा द्वारा वसिष्ठ की अभ्यर्थना करने पर[111] (श्लोक ४३. राज्ञस् तस्याज्ञया देवी वशिष्ठम् उपचक्रमे। महर्षि संविदं कृत्वा सम्बभूव तया सह। देव्या दिव्येन विधिना वशिष्ठो भगवान् ऋषिः।) रानी उनसे गर्भवती हुई और बारह वर्षों के उपरान्त पुत्र को जन्म दिया। यह असाधारण कर्म, जो नैतिकता के मान्य नियमों के सर्वथा विपरीत था (१. १८२) इस कारण आवश्यक बताया गया है कि एक ब्राह्मणी ने, जिसके पति को वन में निवास करते समय कल्माषपाद ने खा डाला था, शाप दिया था कि यदि वह पिता बनने का प्रयत्न करेगा तो मृत्यु प्राप्त करेगा, तथा वसिष्ठ ही उसके वंश की वृद्धि करने में साधन होंगे। (१८२, २०. पत्नीम् ऋताव् अनुप्राप्य सद्यसे

---

[111] वही कथा विष्णु पुराण ४ ४. ३८ (विलसन भाग ३ पृ० ३१०) में कही गई हैं।

त्यक्ष्यसि जीवितम् । यस्य चर्षेर् वशिष्ठस्य त्वया पुत्राः विनाशिताः । तेन सङ्गम्य ते भार्य्या तनयं जनयिष्यति)।[२१२]

महाभारत में विश्वामित्र की वसिष्ठ के प्रति ईर्ष्या के सम्बन्ध में एक और आख्यान है जो विश्वामित्र को अभद्र रूप में तथा एक मुनि के योग्य

---

[२१२] इस घटना का उल्लेख महाभारत १ १२२ मे किया गया है। उसमे कहा गया है कि प्राचीन काल पर स्त्रियो पर कोई प्रतिवन्ध नही था और अपने पतियो को छोड देने तथा इच्छानुसार दूसरे पुरुषो के साथ सहवास से उन्हे पाप नही लगता था (१२२, ४ अनावृता· किल पुरा स्त्रिय आसन् वरानने। काम-चार-विहारिण्य स्वतन्त्रताश् चारु-हासिनि । तासा व्युच्छरमाणाना कौमा-रात् सुभगे पतीन् । नाधर्मोऽभूद् वरारोहे स हि धर्म·पुराऽभवत्। तु० की० श्लोक १४) इस प्रथा को उद्दालक श्वेतकेतु ने समाप्त किया जो एक अवसर पर अपनी माता को एक दूसरे ब्राह्मण द्वारा हाथ पकड कर ले जाये जाते देखकर कुद्ध हुए थे, यद्यपि उनके पिता ने जिनके समक्ष यह घटना घटी, यह बताया कि इस पर क्रुद्ध होने का कोई कारण नही था, क्योकि यह प्रथा प्राचीन काल से चली आ रही थी (श्लोक ११ श्वेतकेतो· किल पुरा समक्षम् मातरम् पितु । जग्राह ब्राह्मण पाणौ "गच्छाव" इति चाब्रवीत् । ऋषिस् पुत्रस् तत· कोप चकारामर्ष-चोदित । मातरं ता तथा दृष्ट्वा नियमानाम् वलाद् इव । क्रुद्ध त तु पिता दृष्ट्वा श्वेतकेतुम् उवाच ह । "मा तात कोप कार्षीस् त्वम् एष धर्म सनातन ।")। किन्तु श्वेतकेतु इस प्रथा का सहन न कर सके और उन्होंने वर्तमान प्रथा चलायी (श्लोक १५ ऋषिपुत्रोऽथ त धर्मं श्वेतकेतुर् न चक्षमे । चकार चैव मर्यादाम् इमा स्त्री पुंसयोर् भुवि ।)। अतएव उस दिन से परपुरुष या परस्त्री से सहवास करने वाले स्त्री और पुरुष उस दिन मे पापी समझे जाने लगे। किन्तु यदि कोई पत्नी पति द्वारा सन्तान प्राप्ति के लिए (दूसरे व्यक्ति के साथ) सहवास के निमित्त आज्ञा किये जाने पर अस्वीकार करे तो वह इसी प्रकार पाप का भागी होती है (१९ पत्या नियुक्ता या चैव पत्नी पुत्रार्थम् एव च। करिष्यति तस्याश् च भविष्यति तद् एव हि। इति तेन पुरा भीरु मर्यादा स्थापिता वलात्)। तव कथा कहने वाले पाण्डु सौदास की रानी मदयन्ती का उदाहरण देते है जो अपने पति की आज्ञा से सन्तान के लिये वशिष्ठ के निकट गई थी (२१. सौदासेन च रम्भोरु नियुक्ता पुत्र-जन्मनि । मदयन्ती जगामर्षि वशिष्ठम् इति नः श्रुतम्)। ऊपर पृ० २५४ पर अङ्गिरस् के विषय मे, पृ० २६३ तथा २६४ पर दीर्घतमस् या दीर्घतपस् के विषय मे कही गई उक्ति से तुलना कीजिए।

नैतिक धारणाओं से शून्य प्रस्तुत करता है, जब कि वसिष्ठ वैराग्य और उदारता से पूर्ण दिखाये गये हैं।

९. ४२, ३ : विश्वामित्रस्य विप्रर्षेर् वशिष्ठस्य च भारत। भृशं वैरम् अभूद् राजस् तपः-स्पर्धा कृतम् महत्। आश्रमो वै वशिष्ठस्य स्थाणु-तीर्थेऽभवद् महान्। पूर्वतः पार्श्वतश् चासीद् विश्वामित्रस्य धीमतः।...६. विश्वामित्र-वशिष्ठौ ताव् अहन्य् अहनि भारत। स्पर्धां तपः-कृतां तीव्राम् चक्रतुस् तौ तपोधनौ। तत्राप्य् अधिक-सन्तप्तो विश्वामित्रो महामुनिः। दृष्ट्वा तेजो वशिष्ठस्य चिन्ताम् अति जगाम ह। तस्य बुद्धिर् इयं ह्य् आसीद् धर्म-नित्यस्य भारत। इयं सरस्वती तूर्णम् मत्-समीप तपो-धनम्। आनयिष्यति वेगेन वशिष्ठं जपतां वरम्। इहागतं द्विज-श्रेष्ठं हनिष्यामि न संशयः। १३. एव निश्चित्य भगवान् विश्वामित्रो महामुनिः। सस्मार सरितं श्रेष्ठां क्रोध-संरक्त-लोचनः। स ध्याता मुनिना तेन व्याकुलत्व जगाम ह। जज्ञे चैनम् महावीर्य्यम् महाकोपं च भाविनी। ततः एवं वेपमाना विवर्णा प्राञ्जलिस् तदा। उपतस्थे मुनि-वर विश्वामित्रं सरस्वती। हत-वीरा यथा नारी साऽभवद् दुःखिता भृशम्। ब्रूहि किं करवाणीति प्रोवाच मुनिसत्तमम्। ताम् उवाच मुनिः क्रुद्धो "वशिष्ठं शीघ्रम् आनय। यावद् एनं निहन्म्य अद्य" तच् छ्रुत्वा व्यथिता नदी। १८. प्राञ्जलिं तु ततः कृत्वा पुण्डरीक-निभेक्षणा। प्राकम्पत भृशम् भीता वायुनेवाहता लता।... २०. सा तस्य वचनं श्रुत्वा ज्ञात्वा पाप-चिकीर्षितम्। वशिष्ठस्य प्रभावं च जानन्त्य् अप्रतिमम् भुवि। साऽधिगम्य वशिष्ठं च इमम् अर्थम् अचोदयत्। यद् उक्ता सरिताम् श्रेष्ठा विश्वामित्रेण धीमता। उभयोः शापयोर् भीता वेपमाना पुनः पुनः।...२३. तां कृशां च विवर्णां च दृष्ट्वा चिन्ता-समन्विताम् उवाच राजन् धर्मात्मा वशिष्ठो द्विपदां वरः। वशिष्ठः उवाच। "पाह्य् आत्मानं सरिच्-छ्रेष्ठे वह मां शीघ्र-गामिनि। विश्वामित्रः शपेद् हि त्वाम् मा कृथास् त्वं विचारणम्।" तस्य तद् वचनं श्रुत्वा कृपा-शीलस्य सा सरित्। चिन्तयामास कौरव्य किं कृत्वा सुकृतम् भवेत्। तस्याश् चिन्ता समुत्पन्ना "वशिष्ठो मय्य् अतीव हि। कृतवान् हि दयां नित्यम् तस्य कार्य्यं हितम् मया।" अथ कुले स्वके राजन् जपन्तम् ऋषि-सत्तमम्। जुह्वान कौशिकम् प्रेक्ष्य सरस्वत्य् अभ्यचिन्तयत्। २८. "इदम् अन्तरम्" इत्य् एव ततः सा सरिताम् वरा। कूलापहारम् अकरोत् स्वेन वेगेन सा सरित्। तेन कूलापहारेण मैत्रावरुणिर् औह्यत। ऊह्यमानः स

तुष्टाव तदा राजन् सरस्वतीम्। पितामहस्य सरसः प्रवृत्ताऽसि सरस्वति। व्याप्तं चेदं जगत् सर्वं तवैवम्भोभिर् उत्तमैः। त्वम् एवाकाशगा देवि मेघेषूत्सृजसे पयः। सर्वाश् चापस् त्वम् एवेति त्वत्तो वयम् अधीमहि। पुष्टिर् द्युतिस् तथा कीर्त्तिः सिद्धिर् बुद्धिर् उमा तथा। त्वम् एव वाणी स्वाहा त्वं तवायत्तम् इदं जगत्। ३३. त्वम् एव सर्व-भूतेषु वससीह चतुर्विधा। '३५. तम् आनीत सरस्वत्या दृष्ट्वा कोप-समन्वितः। अथान्वेषत् प्रहरण वशिष्ठान्त-करं तदा। तं तु क्रुद्धम् अभिप्रेक्ष्य ब्रह्म-वध्या-भयाद् नदी। अपोवाह वशिष्ठ तु प्राचीं दिशम् अतन्द्रिता। उभयोः कुर्वती वाक्यं वञ्चयित्वा च गाधिजम् ततोऽपवाहित दृष्ट्वा वशिष्ठम् ऋषिसत्तमम्। ३८. अब्रवीद् दुःख-सङ्क्रुद्धो विश्वामित्रो ह्य् असर्पण। "यस्माद् मां त्वं सरिच्-छ्रेष्ठे वञ्चयित्वा पुनर्गता। सोणितं वह कल्याणि रक्षोऽग्र-मणि-सम्मतम्।" ततः सरस्वती शप्ता विश्वामित्रेण धीमता। अवहच् छोणितोन्मिश्रं तोय संवत्सर तदा।''४३, २. अथाजग्मुस् ततो राजन् राक्षसास् तत्र भारत। तत्र ते शोणितं सर्वे पिबन्तः सुखम् आसते। '३. नृत्यन्तश् च हसन्तश् च यथा स्वर्ग-जितस् तथा।' ८. तान् दृष्ट्वा राक्षसान् राजन् मुनयः सशित-व्रताः। परित्राणे सरस्वत्याः पर यत्नम् प्रचक्रिरे।

"९. ४२, ३. विश्वामित्र और ब्रह्मर्षि वसिष्ठ में तपस्याओं की प्रतिद्वन्द्विता से उत्पन्न घोर शत्रुता थी। वसिष्ठ का बहुत बड़ा आश्रम स्थाणुतीर्थ में था, जिसके दक्षिण में विश्वामित्र का आश्रम था...९. ये दोनों महर्षि प्रतिदिन अपनी तपस्याओं में प्रतिस्पर्धा रखते थे। किन्तु वसिष्ठ की शक्ति देख कर विश्वामित्र अधिक क्षुब्ध थे, और गम्भीर चिन्तन करने लगे। धर्म (!) में रत इस ऋषि ने इस प्रकार विचार किया 'यह नदी, सरस्वती, शीघ्र ही तपस्वी वसिष्ठ को अपनी लहरों पर मेरे निकट ले आयगी, जो मत्रगान करने वालों में श्रेष्ठ है। जब वह तेजस्वी ब्राह्मण आवेगा तो मैं निश्चय ही उसका वध कर डालूँगा।' १२. इस प्रकार विचार कर क्रोध से आरक्त-नेत्रों वाले ऋषि विश्वामित्र ने नदियों में प्रमुख सरस्वती का ध्यान किया। उनके ध्यान करने पर वह बहुत चिन्तित हुई क्योंकि वह जानती थी कि ये महान् शक्तिशाली हैं, और क्रोधी भी। तब कापती हुई, विवर्ण सी सरस्वती हाथ जोड़ कर मुनिश्रेष्ठ के समक्ष पहुँची। वह एक विधवा के समान व्याकुल थी। उसने पूछा 'मैं क्या करूँ!' क्रुद्ध मुनि ने कहा 'शीघ्र वसिष्ठ को यहाँ ले आओ, जिससे मैं उनका वध कर दूँ।' १८. कमल-नयनी देवी हाथों को जोड़कर वायु द्वारा कंपायी जाती हुई लता के समान काँपने

लगी"...विश्वामित्र ने उसकी यह दशा देखकर भी पुनः आदेश दिया। २०. 'सरस्वती यह जानती थी कि ऋषि का विचार पापपूर्ण था और वसिष्ठ की शक्ति भी अनुपम थी। दोनों ऋषियों के शाप का भाजन होने के भय से काँपती हुई वह वसिष्ठ के निकट गई और उनसे वह सब कुछ कह सुनाया जो उनके प्रतिद्वन्द्वी ने कहा था। २३. उसे दुर्बल, भयभीत और चिन्तित देखकर वसिष्ठ ने इस प्रकार कहा: 'हे नदियों में श्रेष्ठ नदी! अपने को बचाओ; मुझे नि.संकोच विश्वामित्र के निकट ले चलो, अन्यथा वह तुम्हें शाप दे देंगे।' दयालु ऋषि के इन वचनों को सुनकर सरस्वती ने यह विचार किया कि क्या करना उचित होगा। उसने सोचा 'वसिष्ठ ने मेरे प्रति सदैव दया दिखाई है; अतः मुझे उनका कल्याण सोचना चाहिए।' तब कौशिक ऋषि को [ऐसा ही अगले अंश में भी है, किन्तु क्या यहाँ अर्थ की पुष्टि से वसिष्ठ नहीं होना चाहिए?] तट पर प्रार्थना एवं यज्ञ करते हुए देखकर, उसे अच्छा (२८) अवसर मानती हुई वह अपनी धारा के वेग से तट को तोड़कर बहा ले चली। इस प्रकार मित्र और वरुण के पुत्र (वसिष्ठ)[२१३] वह चले और बहते-बहते उन्होंने नदी की इस प्रकार प्रशस्ति रची: 'हे सरस्वति!' तुम ब्रह्मा के सरोवर से निकलती हो, अपनी सुन्दर लहरों से सभी लोकों में व्याप्त होती हो। तुम्ही सम्पूर्ण जल की राशि हो। तुम्हीं से हम ज्ञान प्राप्त करते हैं (यहाँ नदी सरस्वती का वाणी की देवी सरस्वती के साथ तादात्म्य दिखाया गया है]।[२१४] तुम पुष्टि, तेज, यश, सिद्धि, बुद्धि और प्रकाश हो। तुम्हीं वाणी हो; तुम्हीं स्वाहा हो, सम्पूर्ण संसार तुम्हारे वश में है। ३३. तुम चार रूपों में सभी प्राणियों में निवास करती हो'' ३५. सरस्वती द्वारा वसिष्ठ को लाये जाते देखकर विश्वामित्र उनका वध करने के लिए अस्त्र ढूंढने लगे। उनका क्रोध देखकर तब ब्रह्महत्या हो जाने के भय से नदी शीघ्र ही वसिष्ठ को पूर्व की ओर बहा ले गई। इस प्रकार उसने दोनों ऋषियों की आज्ञा मान ली परन्तु विश्वामित्र को ठग लिया। वसिष्ठ को इस प्रकार ले जाये जाते देखकर (३७) विश्वामित्र ने धैर्यहीन होकर और चिढ़कर उससे कहा: 'हे नदियों में प्रमुख नदी: तूने मुझे धोखा दिया है और अपनी धारा कम कर ली है। अत रक्त

---

[२१३] देखिए उपर पृ० ३५६ तथा ३६० आदि।

[२१४] सरस्वती के विषय मे १८६६ के ज रा ए सो पृ० १८ आदि पर मेरे लेख "कण्ट्रिब्यूशन्स टु ए नालिज आफ द वेदिक थिओगोनी एण्ड माइथॉलोजी, न० २" मे देखिए।

की धारा बनकर बहो जिसे दानव ही ग्रहण करेंगे (जिनके रक्तपान करने की कथायें कही गई है)।' इस प्रकार शाप दिये जाने पर सरस्वती एक वर्ष तक रक्त की धारा बहाती रही'''४३, २. राक्षस उस तीर्थस्थान पर आते थे जहाँ वसिष्ठ बह गये थे, और इच्छानुकूल रक्तपान कर, और इस प्रकार नाचते-गाते हुए आनन्द मनाते थे, मानों उन्होंने स्वर्ग ही जीत लिया था। कुछ समय के बाद कतिपय ऋषि उस स्थान पर आये और रक्तयुक्त धारा तथा राक्षसों को आनन्द मनाते देखकर बहुत खिन्न हुए और उन्होंने सरस्वती की रक्षा करने का कठोर परिश्रम किया। उससे जल के दूषित होने का कारण जानकर उन्होंने तपस्याओं द्वारा महादेव को प्रसन्न किया और नदी को पुन' निर्मल कर दिया (१४. आदि)।"

सुदास और वसिष्ठ के वंशों के सम्बन्ध का एक दूसरा उल्लेख महाभारत के शान्तिपर्व के ४९ वें अध्याय में क्षत्रियों के संहारक परशुराम[२१५] की कथा में मिलता है। उसमे सुदास् के वंशज सर्वकर्मन् का एक ऐसे क्षत्रिय के रूप में वर्णन किया गया जो वसिष्ठ के पौत्र पराशर द्वारा किये गये नर संहार से अछूता बच गया था: श्लोक ७७. तथाऽनुकम्पमानेन यज्वनाऽमिततेजसा। पराशरेण दायाद' सौदासस्याभिरक्षितः। सर्व-कर्माणि कुरुते शूद्र-वत् तस्य वै द्विजः। सर्वकर्मेत्य् अभिख्यातः स मां रक्षतु पार्थिवः। "सौदास के पुत्र सर्वकर्मन् को कोमल हृदय ब्राह्मण पराशर ने सुरक्षित रखा और एक ब्राह्मण होकर भी शूद्र के समान उनके सभी कर्म किये: इस कारण उस राजा का नाम सर्वकर्मन् पड़ा—वह राजा मेरी (पृथ्वी की) रक्षा करे।" ब्राह्मणों के प्रति किये गये सत्कर्मों का वर्णन करते हुए महाभारत के उसी पर्व में मित्रसह और वसिष्ठ के विषय में निम्नलिखित उल्लेख आया है:

---

[२१५] परशुराम जमदग्नि के पुत्र थे, जिनके जन्म तथा विश्वामित्र के जन्म एव गाधि के इन्द्र का अवतार होने के विषय मे ऊपर पृ० ३९३ आदि पर उद्धृत आख्यान ही इस अश मे उल्लिखित कथा के आरम्भ मे दुहराया गया है। अपनी पत्नी सत्यवती से उसके और उसकी माता के चरुओ के परिवर्तित होने के विषय मे बताते हुए ऋचीक उससे कहते हैं' श्लोक २६. ब्रह्मभूत हि सकलम् पितुस् तव कुलम् भवेत्।" "तुम्हारे पिता (गाधि) के परिवार मे सभी ब्राह्मणत्व से युक्त उत्पन्न होगे। और इस कथा को कहने वाले वासुदेव कहते है, श्लोक ३०: विश्वामित्र च दायाद गधिः कुशिकनन्दन। यम् प्राप ब्रह्मसम्मित विश्वैर् ब्रह्मगुणैर् युतम्। "गाधि के विश्वामित्र नाम का पुत्र हुआ, जो ब्राह्मण के तुल्य था और ब्राह्मणत्व के सभी गुणो से युक्त था।"

१२. २३४, ३० राजा मित्रसहश् चापि वशिष्ठस्य महात्मने। दमयन्ती प्रियाम् दत्त्वा तया सह दिवं गतः। "राजा मित्रसह ने अपनी प्रिय पत्नी वसिष्ठ को दान देकर उसके साथ स्वर्गारोहण किया।"[२१६]

उसी अंश में वसिष्ठ का दो बार उल्लेख आया है, जो यद्यपि इस विषय से असंबद्ध है तथापि यहाँ दिया जा सकता है। श्लोक १७ में कहा गया है: रन्तिदेवश् च साङ्कृत्यो वशिष्ठाय महात्मने। अपः प्रदाय शीतोष्णाः नाक-पृष्ठे महीयते। "सङ्कृति के पुत्र रन्तिदेव ने, जिसने वसिष्ठ को शीतोष्ण जल प्रदान किया था, स्वर्ग प्राप्त किया।" (देखिए भाग० पु० ९, २१, २–१८ जिसमें इस राजा के अनेक आत्मत्याग के कर्मों का वर्णन किया गया है)। श्लोक २७. में वसिष्ठ के विषय में कहा गया है: अवर्षति च पर्जन्ये सर्व भूतानि भूतकृत्। वशिष्ठो जीवयामास प्रजापतिर् इवापरः। "जब पर्जन्य ने जलवृष्टि नहीं की तो वसिष्ठ ने ब्रह्मा के समान सभी जीवों को जीवन प्रदान किया।"

संक्षेप में, वसिष्ठ निरन्तर महाभारत में आते है। यहाँ मै केवल एक और अंश उद्धृत करूंगा। शान्तिपर्व २८१, २१ आदि में कहा गया है: तस्य वृत्रार्दितस्याथ मोहः आसीच् छतक्रतोः। रथन्तरेण तं तत्र वशिष्ठः समबोधयत्। वशिष्ठः उवाच। देव-श्रेष्ठोऽसि देवेन्द्र दैत्यासुर-निबर्हण। त्रैलोक्य-बल-संयुक्त. कस्माच् छक्र निषीदसि। एष ब्रह्मा च विष्णुश् च शिवश् चैव जगत्-पतिः। सोमश् च भगवान् देव. सर्वे च परमर्षयः। मा कार्षीः कश्मलं शक्र कश्चिद् एवेतरो यथा। आर्य्या युद्धे मतिं कृत्वा जहि शत्रून् सुराधिप। "इन्द्र के वृत्र के साथ संघर्ष में उत्साह-हीन और खिन्न हो जाने पर वसिष्ठ ने रथन्तर का गान करते हुए यह कह

---

[२१६] यह ऊपर पृ० ४६६ आदि पर कही गई कल्माषपाद की (जो मित्रसह ही था) कथा की ओर सकेत करता है, कारण, इस राजवश के विस्तार मे वसिष्ठ को ही साधन वताया गया है, क्योकि इसमे (श्लोक १८७, १३) तथा विष्णुपुराण (विल्सन, भाग ३, पृ० ३०८ तथा ३१०) दोनो मे ही रानी का नाम मदयन्ती वताया गया है, जो संभवत· यहाँ शुद्ध पाठ है केवल प्रथम दो अक्षरो का कम परिवर्तित हो गया है। यदि ऐसा हो, दो यह द्रष्टव्य है कि कथा को एक नितान्त भिन्न मोड दिया गया है, जिसमे इसे राजा का पुण्यकर्म तथा वसिष्ठ की कृपा वताई गई है कि रानी उन्हे प्रदान की गई थी जवकि दूसरी कथा के अनुसार, राजा को इस कर्म का एकमात्र ध्येय सन्तान प्राप्त करना था।

कर इन्द्र को उत्साहित किया : 'हे दैत्यों और असुरों का नाश करने वाले! तुम देवताओं के स्वामी हो और तीनों लोकों की शक्ति तुम में है। हे इन्द्र! तुम निराश क्यों हो रहे हो? ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सोम देवता और सभी ऋषि यहाँ उपस्थित हैं। एक साधारण प्राणी के समान थको मत। युद्ध करने के लिए वीर स्वरूप धारण करो और अपने शत्रुओं का नाश करो।" इस प्रकार इन्द्र में शक्ति का संचार हुआ।

एक परवर्ती रचना, राजतरङ्गिनी, अध्याय ४ श्लोक ६१९–६५५. (पृ० १८८ आदि और टिप्पणी, पृ० ५२१ और ५२२, ट्रायर के संस्करण, भाग १ तथा भाग २. १८९, ४६९ टिप्पणी) में इन प्राचीन आख्यानों की प्रतिध्वनि गूँज रही है। उसमें राजा जयापीड की एक कथा कही गई है, जिसने जनता को पीडित किया और ब्राह्मणों को दण्ड दिया था, जिसके कारण उनके द्वारा चमत्कार पूर्ण ढंग से वह मार डाला गया। श्लोक ६२५ में उसकी तुलना सौदास से की गई है : स सौदासः इवानेक-लोक-प्राणापहार कृत्। अस्तुत्य-कृत्य-सौहित्यं स्वप्नेऽपि न समाययौ। "सौदास के समय अनेक व्यक्तियों के प्राण लेकर वह स्वप्न में भी अपने दुष्कर्मों से सन्तुष्ट नहीं होता।" अन्य ब्राह्मणों की ओर से एक ब्राह्मण उसका विरोध करने उठा. आह स्म "विश्वामित्रो वा वशिष्ठो वा तपोनिधिः। त्वम् अगस्त्योऽथवा कि स्थ" इति दर्पेण तं नृपः।···भवान् यत्र हरिश्चन्द्रस त्रिशङ्कुर् नहुषोऽपि वा। विश्वामित्र-मुखेभ्योऽहं तत्रैको भवितुं क्षमः। विहस्योवाच त राजा "विश्वामित्रादि-कोपतः। हरिश्चन्द्राद्यो नष्टास् त्वयि क्रुद्धे तु किम् भवेत्।" पाणिना ताडयन् उर्वीं ततः क्रुद्धोऽभ्यधाद् द्विजः। "मयि क्रुद्धे क्षणाद् एव ब्रह्म-दण्डः पतेद् न किम्"। तच् छ्रुत्वा विहसन् राजा कोपाद् ब्राह्मणम् अब्रवीत्। "पततु ब्रह्म-दण्डोऽसौ किम् अद्यापि विलम्बते।" नन्व् अयम् पतितो जाल्मेत्य् अथ विप्रेण भाषिते। राज्ञ. कनक-दण्डोऽङ्गे-वितान-स्खलितोऽपतत्। "राजा ने कोप के साथ कहा: 'क्या तुम विश्वामित्र हो या महातपस्वी वसिष्ठ या अगस्त्य हो? तुम कौन हो?'···ब्राह्मण ने क्रोध से फूलते हुए कहा. 'जैसे तुम हरिश्चन्द्र, त्रिशङ्कु, या कोई नहुष हो, वैसे ही मैं विश्वामित्र या और कोई ऋषि हूँ।' राजा ने व्यंग्य के साथ मुस्कराते हुए कहा: 'हरिश्चन्द्र आदि, विश्वामित्र आदि के क्रोध से नष्ट हो गये, परन्तु तेरे क्रोध से क्या होगा?' ब्राह्मण ने हाथ से पृथ्वी पर प्रहार करते हुए क्रोधपूर्वक उत्तर दिया: 'जब मैं क्रुद्ध हो जाऊँगा तो क्या ब्रह्म-दण्ड तत्काल नहीं गिर पड़ेगा?' राजा ने क्रोध से हँसते हुए कहा 'गिरने दो, इसके गिरने में विलम्ब क्या है?' ब्राह्मण ने कहा 'अत्याचारी! क्या अभी

वह नहीं गिरा ?' ज्योंही उसने ये शब्द कहे वितान से सोने का दण्ड राजा पर गिरा। कृमियों ने कष्ट दिया और वह तत्काल मर गया। जैसा कि कथा के अन्त में कहा गया है, मृत्यु से उसे नरक मिला।

प्रोफेसर लासेन, जिन्होंने वसिष्ठ और विश्वामित्र की कथा उद्धृत की है, (इण्ड० अल्ट० द्वितीय सं० १. ७१८ आत्रि) कथा के अर्थ के विषय में यह कहते हैं :

"वसिष्ठ और विश्वामित्र के संघर्ष की कथा में दो स्पष्ट तथ्य हैं : उच्च पद प्राप्त करने के लिये ब्राह्मणों और क्षत्रियों में संघर्ष, और दूसरा है इक्ष्वाकु राजाओं का कुल पुरोहितों से कुछ काल के लिये सम्बन्धविच्छेद। वसिष्ठ इस प्रकार के पुरोहित का उदाहरण दिखाये गये है और कल्माषपाद की कथा एक उदाहरण द्वारा यह प्रदर्शित करने के स्पष्ट ध्येय से कही गई है कि जब इक्ष्वाकुओं ने उन्हे पुरोहित नियुक्त किया तो उन्हे विजय मिली और उन्होंने यज्ञ के कर्मों का उचित सम्पादन किया (देखिए ऊपर पृ० ४३९)। वे पुरोहित के पद पर बने रहते हैं और सम्पूर्ण जाति के प्रतिनिधि है। इस आख्यान से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उनके वंशजों ने इक्ष्वाकुओं के कुल-पुरोहित का पद प्राप्त कर लिया था, यद्यपि न तो वे और न उनके पुत्र शक्तृ ही इस पद को प्राप्त कर सके। त्रिशङ्कु पहले राजा है जिन्होंने उन्हें छोड़ दिया और विश्वामित्र की शरण ली। उनके उत्तराधिकारी अम्बरीष ने उनसे तथा भृगु-वंशी ऋचीक से भी सहायता प्राप्त की। भृगुवंश का कुशिकों से सम्बन्ध परशुराम की कथा में दिखाई पड़ता है। इक्ष्वाकुओं और वसिष्ठ के वंश में शत्रुता कल्माष-पाद तक चलती रही। विश्वामित्र को स्वेच्छा से सम्बन्ध विच्छेद करते हुए प्रस्तुत किया गया है, जबकि वसिष्ठ अपने प्रतिद्वन्द्वी का नाश करने में सहि-ष्णुता दिखाते हैं (यद्यपि उनमें ऐसा करने की शक्ति थी)।

इन दोनों प्रतिद्वन्द्वियों का संघर्ष प्रयोजनों और साधनों सहित पूर्ण विकसित महाकाव्यीय रूप में वर्णित किया गया है। काव्य की इस शैली के अन्तर्गत अद्भुत कर्म करने वाली गौ का वर्णन आ सकता है, जो सभी इच्छित वस्तुएँ प्रदान करती है। इन दोनों प्रतिपक्षी दलों में किसी प्रकार के वास्तविक शस्त्र-युद्ध, या संघर्ष में पतित क्षत्रियों या असभ्य जातियों के युद्ध में विश्वास करने के लिए कोई प्रमाण नही है, क्योंकि ये सभी बातें केवल काव्यीय रचनायें है। इसके अतिरिक्त वसिष्ठ ने वास्तविक विजय अस्त्र से नही अपितु अपने दण्ड से प्राप्त की। आख्यान ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को पूर्ण रूप में प्रस्तुत करता है, क्योंकि विश्वामित्र को क्षत्रिय के बल की अपूर्णता

स्वीकार करने के लिये बाध्य किया गया है, और वे विशुद्ध ब्राह्मणीय साधनों द्वारा ही ब्राह्मण का पद प्राप्त करते हैं।

विश्वामित्र से अनेक पुरोहित-वंश उत्पन्न बताये गये हैं जिनका सामान्य नाम कौशिक है। परम्परा में अनेक प्रख्यात ऋषि इसी वंश के हैं। यतः इस वंश मे राजा भी हुए थे, अतः हमें इस तथ्य का उदाहरण मिलता है कि प्राचीन वैदिक जातियों में एक का विभाजन हो गया और वह परवर्ती काल मे दो उच्च वर्णों से संबद्ध हो गई। यह असम्भव प्रतीत होता है कि कोई भी असभ्य जाति विश्वामित्र के पुत्रों के वंश में रही हो, जैसा कि आख्यान मे वर्णन किया गया है। अतएव इस वर्णन का अर्थ यही हो सकता है कि उनके कतिपय पुत्रों तथा उनके वंशजों ने इन जातियों में पुरोहित का पद स्वीकार किया और इस कारण उन्हें शापहत बताया गया है।"[२१७]

खण्ड १४—शतपथ ब्राह्मण मे राजा जनक के ब्राह्मण बनने की कथा

शतपथ ब्राह्मण में विदेह के राजा जनक और कुछ ब्राह्मणों के विवाद की निम्नलिखित कथा आती है .[२१८]

११. ६, २. १. जनको ह वै वैदेहो ब्राह्मणैर् धावयद्भिर् समाजगाम श्वेतकेतुना आरुणेयेन सोमशुष्मेण सात्ययज्ञिना याज्ञवल्क्येन। तान् ह उवाच "कथं कथम् अग्निहोत्रम् जुहुथ" इति। २. स ह उवाच श्वेतकेतुर् आरुणेयो "घर्माव् एव सम्राड् अहम् अजस्रो यशसा विस्यन्दमनाव् अन्योऽन्यस्मिन् जुहोमि" इति। "कथं तद्" इति। आदित्यो वै घर्मस् तं सायम् अग्नौ जुहोमि अग्निर् वै घर्मस् तम् प्रातर् आदित्ये जुहोमि" इति। "किं स भवति यः एवं जुहोति।" "अजस्रः एव श्रिया यशसा भवत्य् एतयोश् च देवतयोः सायुज्यं सलोकतां जयति" इति। ३. अथ ह उवाच सोमशुष्मः सात्ययज्ञिः "तेजः एव सम्राड् अहं तेजसि जुहोमि" इति। "कथं तद्" इति। "आदित्यो वै तेजस् तं सायम् अग्नौ जुहोमि। अग्निर् वै तेजस् तम् प्रातर् आदित्ये जुहोमि" इति। "किं

---

[२१७] देखिए प्रो० मूलर का एश० स० लिट्० पृ० ८० आदि, ३८३ आदि, ४०८, ४१३ आदि ४८५ आदि।

[२१८] इस अंश का उल्लेख तथा अनुवाद प्रो० मूलर ने किया है . एस० स० लिट्० पृ० ४२१ आदि।

स भवति यः एवं जुहोति"। "तेजस्वी यशस्व्य् अन्नादो भवत्य् एतयोश् चैव देवतयोः सायुज्यं सलोकतां जयति" इति। ४. अथ ह उवाच याज्ञवल्क्यः "यद् अहम् अग्निम् उद्धराम्य् अग्निहोत्रम् एव तद् उद्यच्छामि। आदित्यं वै अस्तं यन्तम् सर्वे देवाः अनुयन्ति। ते मे एतम् अग्निम् उद्धृतं दृष्ट्वा उपावर्त्तन्ते अथ अहम् पत्राणि निर्णीज्य उपवाप्य अग्निहोत्री दोहयित्वा पश्यन् पश्यतस् तर्पयामि" इति। त्वं नेदिष्ठं याज्ञवल्क्य अग्निहोत्रस्य अमीमांसिष्ठाः। धेनुशतं ददामि" इति ह उवाच "न त्व् एव एनयोस् त्वम् उत्क्रान्तीं न गतिं न प्रतिष्ठां न तृप्तिं न पुनरावृत्तिं न लोकं प्रत्युथायिनम्"। इत्य् उक्त्वा रथम् आस्थाय प्रधावयान् चकार। ५. ते ह ऊचुर् "अति वै नोऽयं राजन्यबन्धुर् अवादीद् हन्त एनम् ब्रह्मोद्यम् आह्वयामहै" इति। स ह उवाच याज्ञवल्क्यो "ब्राह्मणाः वै वयं स्मो राजन्यबन्धुर् असौ यद्य् अमुं वयं जयेम कम् अजैष्म इति ब्रूयाम अथ यद्य् असाव् अस्मान् जयेद् ब्राह्मणान् राजन्यबन्धुर् अजैषीद् इति नो ब्रूयुः। मा इदम् आदृढ्वम्" इति। तद् ह अस्य जज्ञुः। अथ ह याज्ञवल्क्यो रथम् आस्थाय प्रधावयाञ्चकार तं ह अन्वाजगाम। स ह उवाच "अग्निहोत्रं याज्ञवल्क्य वेदितुम्" इति। "अग्निहोत्रं सम्राड्" इति। ६. ते वै एते आहुती हुते उत्क्रामतस् ते अन्तरिक्षम् आविशतस् ते अन्तरिक्षम् एव आहवनीयं कुर्वाते वायुं समिद्धम् मरीचीर् एव शुक्राम् आहुतिं ते अन्तरिक्षं तर्पयतस् ते ततः उत्क्रामतः। ७. ते दिवम् आविशतस् ते दिवम् एव आहवनीयं कुर्वाते आदित्यं समिद्धं चन्द्रमसम् एव शुक्राम् आहुति ते दिवं तर्पयतस् ते ततः आवर्त्तते। ८. ते इमाम् आविशतस् ते इमाम् एव आहवनीयं कुर्वाते अग्निं समिधम् ओषधीर् एव शुक्राम् आहुति ते इमां तर्पयतस् ते ततः उत्क्रामतः। ९. ते पुरुषम् आविशतस् तस्य मुखम् एव आहवनीयं कुर्वाते जिह्वां समिधम् अन्नम् एव शुक्राम् आहुतिं ते पुरुषं तर्पयतः। स यः एवं विद्वान् अश्नात्य् अग्निहोत्रम् एव अस्य हुतम् भवति। ते ततः उत्क्रामतः। १०. ते स्त्रियम् आविशतस् तस्याः उपस्थम् एव आहवनीयं कुर्वाते धारकां समिधम् (धारका ह वै नाम एषा। एतया ह वै प्रजापतिः प्रजाः धारयाञ्चकार) रेतः एव शुक्राम् आहुतिं ते स्त्रियं तर्पयतः। स यः एवं विद्वान् मिथुनम् उपैत्य् अग्निहोत्रम् एव अस्य हुतम् भवति यस् ततः पुत्रो जायते स लोक-प्रत्युत्थायी। एतद् अग्निहोत्रं याज्ञवल्क्य न अतः परम् अस्ति" इति ह उवाच। तस्मै याज्ञवल्क्यो वर ददौ। स ह उवाच "कामप्रश्नः एव मे त्वयि याज्ञवल्क्य असद्" इति। ततो ब्रह्मा जनकः आस।

"विदेह के जनक की भेंट श्वेतकेतु, आरुणेय, सोम शुष्म सात्ययज्ञि और याज्ञवल्क्य ब्राह्मणों से हुई और उनसे उन्होंने पूछा : 'आप लोग अग्निहोत्र आहुति कैसे कर सकते है ?' २. श्वेतकेतु ने उत्तर दिया, 'हे राजा, मै यज्ञ करते समय दो नित्य धर्मों मे से एक को फेंक देता हूँ, जो अपनी ज्योति मे संसार को व्याप्त कर लेते है।' 'वह कैसे किया जाता है' राजा ने पूछा। (श्वेतकेतु ने उत्तर दिया), 'आदित्य (सूर्य) एक धर्म है; सायंकाल मे उसे अग्नि में छोड़ता हूँ। अग्नि दूसरा धर्म है, प्रातःकाल में उसे आदित्य मे छोडता हूँ।' राजा ने पूछा 'जो ऐसा करता है उसका क्या होता है ?' (श्वे° ने उत्तर दिया) 'वह अक्षय समृद्धि और यश प्राप्त करता है; और इन दोनों देवताओं के साथ सायुज्य प्राप्त करके उन्हीं के लोक मे निवास करता है।' ३. सोमशुष्म ने उत्तर दिया - 'हे राजा ! यज्ञ करते समय मैं ज्योति मे ज्योति ही छोडता हूँ।' राजा ने पूछा 'यह कैसे होता है ?' (सोम ने उत्तर दिया): सूर्य ही ज्योति है; सायकाल में उसे अग्नि में छोड़ता हूँ : और अग्नि ज्योति है, प्रातः काल में उसे सूर्य में छोड़ता हूँ।' (राजा ने पूछा) इस प्रकार, यज्ञ करने वाला व्यक्ति क्या होता है ?' (सोम° ने उत्तर दिया) वह तेजस्वी, कीर्तिमान्, अन्न-ग्रहण करने वाला होता है और इन दोनों देवताओं के साथ सायुज्य प्राप्त करके इनके लोक मे निवास करता है।' ४. तब याज्ञवल्क्य ने कहा 'जब मै अग्नि का आदान करता हूँ तो अग्निहोत्र को उठाता हूँ। जब सूर्य अस्त हो जाता है तो सभी देवता उसका अनुगमन करते है; जब वे मुझे अग्नि उठाते हुए देखते है तो मेरे निकट पुनः चले आते है। तब पात्रों को शुद्ध करके और उन्हें रखकर, अग्निहोत्र गौ का दोहन करके, उनके देखने पर उनकी ओर देखते हुये मै उन्हें (यज्ञ के अन्न से) सन्तुष्ट करता हूँ।' राजा ने उत्तर दिया : 'हे याज्ञवल्क्य ! आप इस प्रश्न के समाधान के बहुत निकट पहुँच गये है। मै आपको सौ गौवें देता हूँ किन्तु आपने दो आहुतियों की उत्क्रान्ति, गति, प्रतिष्ठा, तृप्ति, पुनरावृत्ति या उनके प्रकट होने का (?) लोक नहीं बताया।' यह कहकर जनक अपने रथ पर चढ़कर चले गये। ५. तब ब्राह्मणों ने परस्पर विचार किया 'यह ब्राह्मण वक्तृता में हम लोगों से जीत गया है, आओ, उसे ब्रह्मज्ञान पर विवाद करने के लिये आमन्त्रित किया जाय।' याज्ञवल्क्य ने टोका 'हम ब्राह्मण है और वह राजन्य, यदि हम जीत जाते है तो हम सोचेंगे कि हमने किसे जीता है ? किन्तु यदि वह जीत गया तो लोग कहेंगे कि राजन्य ने ब्राह्मणों को जीत लिया। ऐसा मत करो।' उन्होंने उसकी राय मान ली।' तब याज्ञवल्क्य अपने रथ पर चढ़कर राजा के पीछे चल पड़े और उसके निकट पहुँच गये। जनक ने पूछा : 'क्या आप

अग्निहोत्र का ज्ञान प्राप्त करने आये है ?' याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया, 'राजन् अग्निहोत्र जानने ही आया हूँ ।' ६. राजा ने उत्तर दिया, 'जब वे दो आहुतियाँ दी जाती हैं तो वे उत्क्रमण करती हैं, वे अन्तरिक्ष में प्रवेश करती है और अन्तरिक्ष का आहवनीय अग्नि बनाती हैं जिसमें वायु ईंधन होता है, किरणें उनकी हवि होती हैं, वे आकाश को अन्तरिक्ष बनाकर उससे ऊपर जाती है । ७. वे आकाश में प्रवेश करती हैं, आकाश को आहवनीय अग्नि बनाती है और आदित्य को समिध् तथा चन्द्रमा को हवि बनाती है । वे द्युलोक को सन्तुष्ट कर लौटती है । ८ वे पृथ्वी पर आती है, पृथ्वी को आहवनीय अग्नि बनाती है, अग्नि को समिध् और ओपधियों को हवि बनाती हैं, वे पृथ्वी को सन्तुष्ट कर उससे उत्क्रमण करती है । वे पुरुष में प्रवेश करती हैं : उसके मुख को आहवनीय अग्नि, जिह्वा को समिध् और अन्न को हवि बनाती है । वे पुरुष को सन्तुष्ट करती है (जो ऐसा जानकर अन्न करता है वही अग्निहोत्र करता है) । ९. वे पुरुष से उत्क्रमण कर स्त्री में प्रवेश करती है [इसके आगे के वर्णन का अनुवाद न किया जाय तो अच्छा रहेगा] वे उसे सन्तुष्ट करती है । जो पुरुष ऐसा जानकर मैथुन करता है अग्निहोत्र करता है । जो प्रजा इस प्रकार उत्पन्न होती है वही प्रत्युत्थायी लोक होती है । हे याज्ञवल्क्य, यही अग्निहोत्र है, इससे बढ़कर कुछ नही है ।' याज्ञवल्क्य ने राजा को एक वर माँगने को कहा । उसने उत्तर दिया 'हे याज्ञवल्क्य ! मैं जो चाहूँ वह आपसे पूछूँ' । इसके उपरान्त जनक एक ब्रह्मन् हो गये" ।[२१९]

अन्तिम वाक्य में ब्रह्मन् का अर्थ कदाचित् ब्राह्मण है । यदि हम इससे ब्रह्मन् नाम के ऋत्विज् का भी अर्थ लें तो भी निष्कर्ष वही निकलेगा क्योंकि जिस समय शतपथ ब्राह्मण की रचना हुई थी केवल ब्राह्मण ही ऋत्विज् हो सकते थे ।[२२०]

जनक का नाम महाभारत में प्रायशः आता है । इस काव्य के वनपर्व (८४, ११) में उन्हें राजर्षि कहा गया है । शान्तिपर्व (१७८, १) में यह कहा

---

[२१९] 'ब्रह्मा' का अर्थ भाष्यकार 'ब्रह्मिष्ठ' किया है अर्थात् 'ब्रह्मज्ञान से सर्वाधिक पूर्ण ।"

[२२०] वर्ण्य विषय पर अपने लेख (चिप्स फ्रॉम ए जर्मन वर्कशाप २ ३३८) मे प्रो० मूलर कहते है —विदेह के राजा जनक श्रेष्ठ ज्ञान रखते थे यह बात ब्राह्मणो मे श्रेष्ठ ज्ञानी स्वय याज्ञवल्क्य ने स्वीकार की है और शतपथ ब्राह्मण मे, जिसे याज्ञवल्क्य की रचना कहते हैं, यह कहा गया है कि जनक एक ब्रह्मन् हो गये ।"

गया है : अत्राप्य उदाहरन्तीमम् इतिहासम् पुरातनम्। गीतं विदेह-राजेन जनकेन प्रशाम्यता। "अनन्तं वत मे वित्तं यस्य मे नास्ति किञ्चन। मिथिलायाम् प्रदीप्तायां न मे दह्यति किञ्चन।" यहाँ एक प्राचीन कथा कही जाती है—विदेह के शान्तचित्त राजा जनक के शब्द ये हैं :

"यद्यपि मेरे पास सांसारिक वैभव नहीं है तथापि मेरे पास धन का असीम भण्डार है। यदि मिथिला को अग्नि की लपटें भस्म भी कर दें तो भी मेरी सम्पत्तियाँ उसके प्रभाव से सुरक्षित रहेंगी।"

१२. २१९, ५० में उसी राजर्षि के उन्हीं विचारों का वर्णन किया गया है : अपि च भवति मैथिलेन गीतं नगरम् उपाहितम् अग्निनाऽभिवीक्ष्य। "न खलु मम हि दह्यतेऽत्र किञ्चित्" स्वयम् इदम् आह स्म भूमि-पालः। "जब राजा ने नगर को अग्नि की लपटों से घिरा देखा तो उसने ये शब्द दुहराये 'मेरा कुछ भी भस्म नहीं हो सकता—' इस प्रकार स्वयं राजा ने कहा।"

जनक के विषय में दूसरी पुराकथा उसी पर्व के २१८वें और २१९वें अध्याय में कही गई है। उसमें कहा गया है कि राजा सदैव परलोक के विचारों में लीन रहता था, और धर्म पर शिक्षा देने के लिये उसके एक सौ गुरु थे (श्लोक ११८, ४)। उनके निकट आसुरि (श्लोक १०) के शिष्य ऋषि पञ्चशिख[२२१] (श्लोक ६ और ८) आये, जिन्होंने अपने तर्क से राजा के सौ गुरुओं को इस प्रकार परास्त कर दिया कि उनके शिष्य ने उन्हें छोड़ कर इस नये ऋषि को गुरु बनाया (१८ उपेत्य शतम् आचार्यान् मोहयामास हेतुभिः। २७ जनकम् त्व अभिसंरक्तः कापिलेयानु-दर्शनात्। उत्सृज्य शतम् आचार्य्यान् पृष्ठतोऽनुजगाम तम्)। पञ्चशिख १२. ३१९, ३ में भी उनके गुरु के रूप में आते हैं। १२. २९०, ३ में जनक पराशर से शिक्षा लेते हुए वर्णित किये गये हैं, १२ ३१०–३१८ में याज्ञवल्क्य उन्हें योग और सांख्य दर्शन का उपदेश देते हैं। १२ ३२० में सुलभा नाम की एक भिक्षुणी (भिक्षुकी) के साथ वार्तालाप करने का वर्णन है, जो उनकी परीक्षा लेना चाहती है और जिससे वे बताते हैं कि वे पञ्चशिख के शिष्य हैं (जिन्हें यहाँ पराशर वंश का कहा गया है, १२ ३२०, २४) और ऊपर वर्णित दर्शनों में दक्ष बताते

---

[२२१] देखिए प्रो० विलसन की सांख्य कारिका पृ० १९० डा० हाल का सांख्य प्रवचन भाष्य, आमुख पृ० ९ आदि।

हैं। जिसके प्रति कहने के उसके कार्य के विषय में कटुवचन कहने पर उत्तर से पता चलता है कि वह उन्ही के समान राजन्य वर्ण की और राजर्षि प्रधान के वश की है; तथा उसे योग्य पति नहीं मिल सका अत. भिक्षुणी का जीवन धारण कर मोक्ष प्राप्ति की इच्छा से भ्रमण कर रही है (१२. ३२०, १८३ आदि)।

जनक के सांसारिक विषयों से वैराग्य के विषय में एक कथा आश्वमेधिक पर्व (अध्याय ३२) आदि में कही गई है।

खं० १५—अन्य उदाहरण, जिनमे क्षत्रियो द्वारा ब्राह्मणो को परमार्थज्ञान की शिक्षा दी जाने का उल्लेख है।

जिन अन्य उदाहरणों में ब्राह्मणों के क्षत्रियों से उपदेश प्राप्त करने का उल्लेख है उनका वर्णन प्रोफेसर मूलर ने इस प्रकार किया है.[२२२]

"क्षत्रिय के लिये धर्म का उपदेश देना अपराध (स्व-धर्मातिक्रम) था, और नितान्त कृत्रिम तर्कपद्धति के द्वारा ही मीमांसा दर्शन के शास्त्रानुयायी दार्शनिकों ने इसकी व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। ऐसा लगता है कि ब्राह्मण यह भूल गये है कि उन्ही के उपनिषदों के अनुसार काशी के राजा अजातशत्रु बलाक के पुत्र प्रसिद्ध वेदपाठी गार्ग्य से अधिक ज्ञानी थे और गार्ग्य ने उनका शिष्य बनने की इच्छा प्रकट की, यद्यपि जैसा कि राजा ने स्वयं कहा है, क्षत्रिय के लिए ब्राह्मण को उपदेश देना उचित नहीं। वे यह भी भूल गये होंगे कि पञ्चाल के राजा प्रवाहण जैवलि ने श्वेतकेतु आरुणेय और उनके पिता के मुँह बन्द कर दिये थे और उन्हे उस ज्ञान का उपदेश दिया जिसे पहले केवल क्षत्रिय ही जानते थे, कोई ब्राह्मण नहीं।" मैं इनमें से प्रत्येक कथा के दो रूप यहाँ देता हूँ। प्रथम कथा अजातशत्रु की है.

कौषीतकि ब्राह्मण उपनिषद् ४. १ : अथ ह वै गार्ग्यो बालाकिर् अनूचानः संस्पष्ट आस। सोऽवसद् उशीनरेषु संवसन् मत्स्येषु कुरुपञ्चालेषु काशि-विदेहेष्व् इति। स ह अजातशत्रु काश्यम् आव्रज्य उवाच "ब्रह्म ते ब्रवाणि" इति। त ह उवाच अजातशत्रुः "सहस्रं दद्मः" इति "एतस्यां वाचि। 'जनको जनक.' इति वै उ जना. धावन्ति"

[२२२] चिप्स फ्राम ए जर्मन वर्कशाप, भाग २ पृ० ३३८।

इति। ··१६. ततः उ ह बालाकिस् तूष्णीम् आस। त ह उवाच अजातशत्रुर् "एतावद् नु बालाके" इति। "एतावद्" इति ह उवाच बालाकिः।" तम् ह उवाच अजातशत्रुर् "मृषा वै खलु मा संवादयिष्ठाः "ब्रह्म ते ब्रवाणि" इति। यो वै बालाके एतेषाम् पुरुषाणां कर्त्ता यस्य वै तत् कर्म स वै वेदितव्य." इति। ततः उ ह बालाकिः समित्-पाणिः प्रतिचक्रमे "उपायानि" इति। त ह उवाच अजातशत्रु. "प्रतिलोमरूपम् एव तद् मन्ये यत् क्षत्रियो ब्राह्मणम् उपनयेत एहि व्य् एव त्वा ज्ञपयिष्यामि' इति। त ह पाणाव् अभिपद्य प्रवव्राज।

"गार्ग्य बालाकि वेद में पारङ्गत माने जाते थे। एक स्थान से दूसरे स्थान को भ्रमण करते हुए उन्होंने उशीनरों, मत्स्यों, कुरुओं, पञ्चालों, काशियों और विदेहों में निवास किया था। वे काशि के राजा अजातशत्रु के निकट आये और बोले "मैं तुम्हें अध्यात्मज्ञान का उपदेश दूँगा।" अजातशत्रु ने कहा "इस शब्द के लिये हम आपको एक सहस्र गाएँ देते हैं।" मनुष्य हमारे निकट "जनक-जनक" कह कर आते हैं।" विद्वान् ब्राह्मण अपनी पूजा के विषय में अजातशत्रु से अनेक बातें कहते हैं किन्तु वे राजा द्वारा चुप कर दिये जाते हैं जो प्रत्येक विषय पर अधिक ज्ञानी होने का परिचय देता है।"[२२३] कथा इस प्रकार समाप्त होती है. "१९. तब बलाक के पुत्र चुप हो गये। अजातशत्रु ने उनसे कहा 'बालाकि, क्या आप इतना ही जानते हैं?' उन्होंने उत्तर दिया 'इतना ही'। राजा ने कहा 'आपने व्यर्थ ही मुझसे मुझे शिक्षा देने का अभिमान प्रदर्शन किया।' हे बलाक के पुत्र! जो इन आत्माओं की रचना करने वाला है, जिसकी यह सब सृष्टि है—वही ज्ञेय है।' तब बलाक के पुत्र राजा के निकट हाथ में समिध् लेकर पहुँचे और बोले. 'मुझे शिष्य बना लीजिए।' राजा ने उत्तर दिया कि 'मैं इसे उचित नियम का व्यतिक्रम समझता हूँ कि एक क्षत्रिय ब्राह्मण को शिष्य बनावे। (किन्तु) आइए, मैं आपको शिक्षा दूँगा।' तब उनके हाथ को पकड़कर वे चले गये।"

शतपथ ब्राह्मण १४. ५, १, १ (= बृहदारण्यक उपनिषद् २. १, १ पृ० ३३४ कल० स०) दृप्तबालाकिर् ह अनूचानो गार्ग्य आस। स ह उवाच अजातशत्रु काश्यम् "ब्रह्म ते ब्रवाणि" इति। स उवाच अजातशत्रुः "सहस्रम् एतस्या वाचि दद्मः "जनको जनक." इति वै जनाः धावन्ति" इति।..... १२. स ह तूष्णीम् आस गार्ग्य। १३. स ह उवाच

[२२३] देखिए प्रो० कोवेल का उपनिषद् का अनुवाद, पृ० १६७ और आगे।

अजातशत्रुर् "एतावद् नु" इति। "एतावद् हि" इति। "न एतावता विदितं भवति" इति। स ह उवाच गार्ग्यः "उप त्वा अयानि" इति। १४. स ह उवाच अजातशत्रुः "प्रतिलोमं वै तद् यद् ब्राह्मणः क्षत्रियम् उपेयाद् 'ब्रह्म मे वक्ष्यति' इति। व्य् एव त्वा ज्ञापयिष्यामि" इति। तम् पाणाव् आदाय उत्तस्थौ।

"दृप्तबालाकि गार्ग्य वेद के विद्वान् थे। उन्होंने काश्य अजातशत्रु से कहा 'मै तुम्हें ब्रह्मज्ञान की शिक्षा दूँगा।' अजातशत्रु ने कहा 'हम इस वचन के लिए आपको एक सहस्र (गायें) देते है। मनुष्य मेरे निकट 'जनक जनक' कहते हुए दौडकर आते हैं।" उनके वार्त्तालाप के अन्त में हमें बताया गया है' १२. गार्ग्य चुप हो गये। १३ तव अजातशत्रु ने उनसे पूछा 'क्या आप इतना ही जानते है ? उन्होंने उत्तर दिया 'केवल इतना ही।' किन्तु अजातशत्रु ने कहा 'किन्तु इतना ही तो सम्पूर्ण ज्ञान नही है।' तब गार्ग्य ने कहा 'मैं आपके निकट शिष्य होकर आता हूँ।' अजातशत्रु ने उत्तर दिया कि 'यह उचित नियम का व्यतिक्रम होगा यदि कोई ब्राह्मण अध्यात्मज्ञान प्राप्त करने के लिए क्षत्रिय का शिष्य बने। (किन्तु) मैं आपको उपदेश दूँगा।' उन्होंने उनका हाथ पकड़ा और उठ गये।"

दूसरी कथा प्रवाहण जैवलि की है ·

शतपथ ब्राह्मण १४. ९, १, १ (=बृहदारण्यक उपनिषद् ६ २, १, ०पृ १०३० कल० सं०) श्वेतकेतुर् ह वै आरुणेयः पञ्चालानाम् परिषदम् आजगाम। स आजगाम प्रवाहणं जैवलिम् परिचारयमाणम्। तम् उदीक्ष्य अभ्युवाद "कुमार" इति। स "भोः" इति प्रतिशुश्राव। "अनुशिष्टो न्व् असि पित्रा"। "ओम्" इति ह उवाच। २. "वेत्थ यथा इमाः प्रजाः प्रयत्यो विप्रतिपद्यन्ते" इति। "न" इति ह उवाच। "वेत्थ याथा इमं लोकम् पुनर् आपद्यन्ते" इति। "न" इति ह एव उवाच। "वेत्थ यथाऽसौ लोक' एवम् बहुभिः पुनः पुनः प्रयद्भिर् न सम्पूर्य्यते" इति। "न" इति ह एव उवाच। ३. "वेत्थ यतिथ्याम् आहुत्या हुतायाम् आपः पुरुषो-वाचो भूत्वा समुत्थाय वदन्ति" इति। "न" इति ह एव उवाच। "वेत्थ उ देवयानस्य वा पथ प्रतिपदम् पितृयाणस्य वा यत् कृत्वा देवयान वा पन्थानम् प्रतिपद्यते पितृयाणं वा। ४. अपि हि न. ऋषेर् वचः श्रुतम् (ऋग्वेद १०. ८८, १५=वाज० सं० १९. ४७) 'द्वे सृती अश्रिणवम् पितृणाम् अहं देवानाम् उत मर्त्यानाम्। ताभ्याम् इदं विश्वम् एजत् समेति यद् अन्तरा पितरम् मातरं च" इति। "न अहम् अतः

एकञ्चन वेद" इति ह उवाच । ५. अथ ह एनं वसत्या उपमन्त्रयाञ्चक्रे । अनादृत्य वसतिं कुमारः प्रदद्राव । स आजगाम पितरम् । तं ह उवाच "इति वाव किल नो भवान् पुराऽनुशिष्टान् अवोचः"[२२४] इति । "कथं सुमेध." इति । "पञ्च मा प्रश्नान् राजन्यबन्धुर् अप्राक्षीत् ततो न एकञ्चन वेद" इति ह उवाच । "कतमे ते" इति । 'इमे' इति ह प्रतीकान्य् उदाजहार । ६. स ह उवाच । "तथा नस् त्वं तात जानीथा. यथा यद् अहं किञ्च वेद सर्वम् अहं तत् तुभ्यम् अवोचम् । प्रेहि तु तत्र प्रतीत्य ब्रह्मचर्य्यं वत्स्याव" इति । भवान् एव गच्छत्व' इति । ७. स आजगाम गौतमो यत्र प्रवाहणस्य जैवलेर् आस । तस्मै आसनम् आहार्य्य[२२५] उदकम् आहारयाञ्चकार । अथ ह अरमै अर्घं[२२६] चाकर । ८. स ह उवाच "वरम् भवते गौतमाय दद्मः" इति । स ह उवाच "प्रतिज्ञातो मे एष वरः । यां तु कुमारस्य अन्ते वाचम् अभाषथास् ताम् मे ब्रूहि" इति । ९. स ह उवाच दैवेषु वै गौतम तद् वरेषु । मानुषाणाम् ब्रूहि' इति । १०. स ह उवाच "विज्ञायते ह अस्ति हिरण्यस्य अपात्तं गो-अश्वानां दासीनाम् प्रवराणाम् परिधानानाम् । मा नो भवान् बहोर अनन्तस्य अपर्यन्तस्य अभ्य् अवदान्यो भूद्" इति । "स वै गौतम तीर्थेन इच्छासै" इति । "उपैम्य् अहम भवन्तम्" इति "वाचा ह स्म एव पूर्वे उपयन्ति ।" ११ स ह उपायन-कीर्त्या[२२७] उवाच । "तथा नस् त्वं गौतम माऽपराधास् तव च पितामहा' यथा । इयं विद्या इतः पूर्वं न कस्मिंश्चन ब्राह्मणे उवास । तां त्व् अहं तुभ्यं वक्ष्यामि । को हि त्वा एवम् ब्रुवन्तम् अर्हति प्रत्याख्यातुम्" इति ।

'श्वेतकेतु आरुणेय पञ्चालों की सभा में आये । वे प्रवाहण जैवलि के निकट आये जो अपने सेवकों से सेवा ले रहे थे । श्वेतकेतु को देखकर राजा ने कहा 'युवक !' उसने उत्तर दिया 'श्रीमान् !' (राजा) ' क्या तुम्हारे पिता ने तुम्हें शिक्षा दी है ?' (श्वेतकेतु). मैंने शिक्षा पाई है ।' २. (राजा). क्या तुम जानते हो कि ये जीव यहाँ से जाते समय अनेक दिशाओं में कैसे जाते हैं ?' (श्वे०). 'नहीं' । (राजा): क्या तुम जानते हो कि वे इस लोक को कैसे लौटते हैं ?' (श्वे०). 'नहीं' । (राजा). क्या तुम जानते हो कि परलोक में

---

[२२४] बृहदारण्यक उपनिषद् में 'अवोचत्' पाठ है ।

[२२५] बृ० में 'आहृत्य' है ।

[२२६] बृ० आर० में 'अर्घ्यम्' है ।

[२२७] बृ० आर० उप० में 'कीर्त्या उवास' पाठ है ।

ये जीव क्यों नहीं होते जो निरन्तर संसार का त्याग करते रहते है ?' (श्वे०): 'नहीं'। (राजा): क्या तुम जानते हो कि किस आहुति के उपरान्त जल मनुष्य की वाणी प्राप्त कर बोलने लगता है !' (श्वे०) 'नहीं'। (राजा): 'क्या तुम देवताओं के निकट पहुँचानेवाले अथवा पितरों के निकट ले जाने वाले मार्ग को जानते हो ? उनमें से पहला या दूसरा किस कर्म से प्राप्त होता है ?' ४. हमने ऋषि के ये शब्द सुने हैं (ऋग्वेद १० ८८, १५= वाज० सं० १९. ४७) 'मैंने मनुष्यों के दो मार्ग सुने हैं : एक पितरों को जाता है, दूसरा देवताओं को। इसी मार्ग से पिता और माता (अर्थात् द्यौ और पृथिवी) के बीच रहने वाली प्रत्येक वस्तु चलती है।' श्वेतकेतु ने उत्तर दिया 'मै इनमें से कोई भी बात नहीं जानता।' ५. तब राजा ने उससे रुकने के लिए कहा। बालक ने यह निमन्त्रण नहीं स्वीकार किया और शीघ्र ही अपने पिता के पास पहुँचा और बोला 'आपने पहले मुझे शिक्षित घोषित किया था।' 'तो अब क्या बात हुई, मेरे बुद्धिमान बेटे ?' पिता ने पूछा। पुत्र ने उत्तर दिया "राजन्य ने मुझसे पाँच प्रश्न पूछे जिसमें मैं एक भी नहीं जानता।' 'प्रश्न क्या थे ?' 'वे ये थे' और उसने प्रत्येक प्रश्न का आरम्भिक पद बता दिया। ६. पिता ने कहा 'मेरे पुत्र ! यह विश्वास मानो कि जितना मै स्वय जानता था उतना मैने तुम्हे बता दिया था। किन्तु आओ उसके निकट चलें और उसके शिष्य बनें।' पुत्र ने कहा 'आप स्वय ही जाइए ?' ७. गौतम प्रवाहण जैवलि के निवास स्थान पर पहुँचे। प्रवाहण जैवलि ने आसन, जल और मधुपर्क मँगवाकर कहा 'गौतम ! हम तुम्हें एक वरदान देते हैं।' गौतम ने उत्तर दिया 'आपने मुझे यह वर दिया है तो आप मुझे उन प्रश्नों का उत्तर बताइए जो आपने बालक से पूछे थे।' ९ राजा ने उत्तर दिया 'वह तो एक दैव वर है, कोई मानवीय वर मांगिये।' १०. गौतम ने उत्तर दिया, 'आप जानते है कि मुझे स्वर्ग, गौएँ, घोड़े, दासियाँ, दास, वस्त्र मिल चुके है, अब आप उसके विषय में अनुदार मत होइए, जो महान् अनन्त और असीम है।' राजा ने कहा: 'हे ब्राह्मण ! आपने यह उचित इच्छा की है।' गौतम ने कहा 'मै आपके निकट आपका शिष्य होकर आता हूँ।' प्राचीन काल के लोग (गुरुओं के निकट केवल) शब्दों के साथ जाते थे : अतएव वे भी उनका शिष्य होने केवल अपनी इच्छा को अभिव्यक्त करते हुए पहुँचे।[२२८] राजा ने कहा 'आप मुझ पर कोई अपराध न लगावें जैसा कि आपके पूर्वजों ने नहीं किया है। यह ज्ञान अभी तक

[२२८] या "उनके चरण स्पर्श द्वारा उपगमन की विधि सूचित करके, वैसा आचरण करके नहीं।" भाष्यकार

किसी भी ब्राह्मण को प्राप्त नहीं था; किन्तु मैं इसे आपको बताऊँगा, क्योंकि जब आप ऐसा कहते हैं तो आपका वचन कौन टाल सकता है' ?"

छान्दोग्य उपनिषद् ५. ३, १. श्वेतकेतुर् ह आरुणेयः पञ्चालानां समितिम् एयाय। त ह प्रवाहणो जैवलिर उवाच। "कुमार अनु त्वाऽशिषत् पिता" इति। "अनु हि भगव" इति। २. "वेत्थ यद् इतोऽधि प्रजा प्रयन्ति" इति। "न भगव" इति। "वेत्थ यथा पुनर आवर्त्तन्ते" इति। "न भगव" इति। "वेत्थ पथोर् देव-यानस्य पितृयाणस्य च व्यावर्त्तने" इति। "न भगव" इति। ३. "वेत्थ यथाऽसौ लोकोन सम्पूर्यते'। "न भगव" इति। "वेत्थ यथा पञ्चम्याम् आहुताव आपः पुरुष वचसो भवन्ति" इति। "नैव भगवः" इति। ४ "अथ नु किम् अनुशिष्टोऽवोचथाः। यो हि इमानि न विद्यात् कथ सोऽनुशिष्टो ब्रवीत" इति। स ह आयस्तः पितुर अर्द्धम् एयाय। तं ह उवाच "अननुशिष्य वाव किल मा भगवान् अब्रवीद् 'अनुत्वाऽशिषम्,'" इति। ५. पञ्च मा राजन्यबन्धुः प्रश्नान् अप्राक्षीत् तेषा न एकञ्चन अशकं विवक्तुम्" इति। स ह उवाच "यथा मा त्व तदा एतान् अवदो यथाऽहम् एषा न एकञ्चन वेद यद् अहम् इमान् अवेदिष्य कथं ते न अवक्ष्यम्" इति। ६. स ह गौतमो राज्ञोऽर्द्धम् एयाय। तस्मै ह प्राप्ताय अर्हां चकार। स ह प्रातः सभागः उदेयाय। त ह उवाच 'मानुषस्य भगवन् गौतम वित्तस्य वरं वृणीथा." इति। स ह उवाच "तव एव राजन् मानुषं वित्तम्। याम् एव कुमारस्य अन्ते वाचम् अभाषथास् ताम् एव मे ब्रूहि" इति। ७. स ह कृच्छ्री बभूव। त ह "चिरं वस" इत्य् आज्ञापयाञ्चकार। त ह उवाच "यथा मा त्व गौतम अवदो यथा इय न प्राक् त्वत्त पुरा ब्रह्मणान् गच्छति तस्माद् उ सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्य एव प्रशासनम् अभूद्" इति। तस्मै ह उवाच।

"श्वेतकेतु आरुणेय पञ्चालों की सभा में आए। प्रवाहण जैवलि ने उनसे पूछा, 'बालक! क्या तुम्हारे पिता ने तुम्हें शिक्षा दी है?' श्वेतकेतु ने उत्तर दिया 'हाँ, श्रीमन्! उन्होंने शिक्षा दी है।' २ राजा ने पूछा 'क्या तुम जानते हो कि यहाँ से चल कर जीव कहाँ जाते हैं?' (श्वे०) 'नहीं, श्रीमन्।' (राजा) 'क्या तुम जानते हो कि वे कैसे लौटते हैं?' (श्वे०) 'नहीं, श्रीमन्!' (राजा) 'क्या तुम उन दो मार्गों का भेद जानते हो जिनमें एक देवताओं को जाता है और दूसरा पितरों को?' (श्वे०) 'नहीं, श्रीमन्।' (राजा) 'क्या तुम जानते हो कि परलोक पूर्ण क्यों नहीं होता?' (श्वे०) 'नहीं, श्रीमन्'। (राजा) 'क्या तुम जानते हो कि किस प्रकार

पाँचवी आहुति पर जल में मनुष्य वाणी आ जाती है ?' (श्वे०) 'मैं नहीं जानता, श्रीमन् ?' (४) (राजा) 'तब तुमने कैसे कहा है कि मुझे शिक्षा मिल चुकी है, क्योंकि जो इन प्रश्नों का उत्तर नहीं जानता वह अपने को ज्ञानी कैसे कह सकता है ?' लज्जित होकर बालक अपने पिता के निकट गया और बोला 'आपने मुझसे कहा था कि मैंने तुम्हें शिक्षा दे दी है, जब कि आपने ऐसा नहीं किया है। उस राजन्य ने मुझसे पाँच प्रश्न पूछे जिनमें मैं एक का भी उत्तर न दे सका।' पिता ने उत्तर दिया 'उस समय तुमने मुझसे इन पाँच प्रश्नों के विषय में कहा था कि मैं उनमें से एक भी नहीं जानता,—(तो मैं तुझसे पूछता हूँ) यदि मैं उन्हें जानता होता तो क्या तुझे नहीं बतलाता ?' ६. गौतम राजा के पास गये, जिसने बड़े सम्मान के साथ उनका स्वागत किया। प्रातः काल अवसर प्राप्त कर वे राजा के सम्मुख उपस्थित हुए। राजा ने कहा—'हे श्रद्धेय गौतम! आप मानवीय सम्पत्तियों का दान माँग लें।' उन्होंने उत्तर दिया, 'राजन्। इस प्रकार का धन आपके पास ही रहे। मुझे उन प्रश्नों को समझाइए, जिन्हें आपने बालक से पूछा था।' ७. राजा फेर में पड गये और उनसे दीर्घकाल तक टिकने के लिए कहा, और बोले:, 'हे गौतम, जैसा आपने बताया है कि यह ज्ञान आपके पूर्व होने वाले ब्राह्मणों में किसी को प्राप्त नहीं था, अतः यह सभी लोगों में इस ज्ञान का उपदेश केवल क्षत्रिय ही देते रहे हैं।' तब उन्होंने उन्हें इस ज्ञान का उपदेश दिया।'

ख० १६—राजा विश्वन्तर और श्यापर्ण ब्राह्मणों की कथा

ऐतरेय ब्राह्मण ७. २७: विश्वन्तरो ह सौषद्मनः श्यापर्णान् परिचक्षाणो विश्यापर्णं राज्ञम् आजह्रे। तद् ह अनुबुध्य श्यापर्णास् तं यज्ञम् आजग्मुः। ते ह तद्-अन्तर्वेद्य् आसाञ्चक्रिरे। तान् ह दृष्ट्वा उवाच ''पापस्य वै इमे कर्मण कर्त्तारः आसते अपूतायै वाचो वदितारो यच् छ्यापर्णाः इमान् उत्थापयत इमे मेऽन्तर्वेदिम् आसिपत'' इति। ''तथा'' इति तान् उत्थापयाञ्चक्रुः। ते ह उत्थाप्यमाना रुरुविरे ''ये तेभ्यो भूतवीरेभ्य' असितमृगा' कश्यपानां सोमपीथम् अभिजिग्युः पारिक्षितस्य जनमेजयस्य विकश्यपे यज्ञे तैस् ते तत्र वीरवन्तः आसुः। क. स्वित् सोऽस्माक अस्ति वीरो यः इमं सोमपीथम् अभिजेष्यति'' इति।

"अयम् अहम् अस्मि वो वीरः" इति ह उवाच रामो मार्गवेयः। रामो ह आस मार्गवेयोऽनूचानः श्यापर्णीयः। तेषां ह उत्तिष्ठताम् उवाच "अपि नु राजन्न् इत्थंविदं वेदेर् उत्थापयन्ति" इति। "यस् त्वं कथं वेत्थ ब्रह्मबन्धो" इति। २८. "यत्र इन्द्र देवताः पर्यवृञ्जन् विश्वरूपं त्वाष्ट्रम् अभ्यमस्त वृत्रम् अस्तृत यतीन् सालावृकेभ्यः प्रादाद् अरुर्मघान् अवधीद् बृहस्पतेः प्रत्यवधीद्" इति। "तत्र इन्द्र सोमपीथेन व्यार्ध्यत। इन्द्रस्य अनु व्यृद्धिं क्षत्रम् सोमपीथेन व्यार्ध्यत। अपि इन्द्र सोमपीथेऽभवत त्वष्टुर् आमुष्य सोमम्। तद् व्यृद्धम् एव अद्यापि क्षत्र सोमपीथेन। स यस् तम् भक्ष विद्याद् य. क्षत्रस्य सोमपीथेन व्यृद्धस्य येन क्षत्र समृध्यते कथ तं वेदेर उत्थापयन्ति" इति। "वेत्थ ब्राह्मण त्वं तम् भक्षन्।" "वेद हि" इति। "तं वै नो ब्राह्मण ब्रूहि" इति। "तस्मै वै ते राजन्न" इति ह उवाच। २९. त्रयाणाम् भक्षाणाम् एकम् आहरिष्यन्ति सोमं वा दधि वा अपो वा। स यदि सोमम् ब्राह्मणानां स भक्ष। ब्राह्मणांस् तेन भक्षेण जिन्विष्यसि। ब्राह्मण-कल्पस् ते प्रजायाम् आजनिष्यते आदायी आपायी आवसायी यथा-काम प्रयाप्य'। यदा वै क्षत्रियाय पापम् भवति ब्राह्मण-कल्पोऽस्य प्राजायाम् आजायते ईश्वरो ह अस्माद् द्वितीयो वा तृतीयो वा ब्राह्मणताम् अभ्युपैतोः स ब्रह्मबन्धवेन जिज्यूषतः। अथ यदि दधि वैश्याना स भक्षः। वैश्यास् तेन भक्षेण जिन्विष्यसि। वैश्य-कल्पस् ते प्रजायाम् आजनिष्यतेऽन्यस्य वलि-कृद् अन्यस्य आद्यो यथा-काम-ज्येय'। यदा वै क्षत्रियाय पापम् भवति वैश्य-कल्पोऽस्य प्रजायाम् आजायते ईश्वरो ह अस्माद् द्वितीयो वा तृतीयो वा वैश्यताम् अभ्युपैतो' स वैश्यतया जिज्यूषित'। अथ यद् अपः शूद्राणां स भक्षः। शूद्रास् तेन भक्षेण जिन्विष्यसि। शूद्रस्कल्पस् ते प्रजायाम् आजनिष्यतेऽन्यस्य प्रेष्य कामोत्थाप्यो यथा कामवध्य'। यदा वै क्षत्रियाय पापम् भवति शूद्र-कल्पोऽस्य प्रजायाम् आजायते। ईश्वरो ह अस्माद् द्वितीयो वा तृतीयो वा शूद्रताम् अभ्युपैतो'। स शूद्रतया जिज्यूषित'। ३० एते वै ते त्रयो भक्षा' राजन्न्" इति ह उवाच "येषाम् आशां न इयात् क्षत्रियो यजमान' अथ अस्य एष स्वोऽभक्ष" इत्यादि।

'सुषमन् का पुत्र विश्वन्तर श्यापर्णो को छोड़ कर उनकी सहायता के बिना यज्ञ कर रहा था। इसे सुनकर श्यापर्ण यज्ञ में आए और यज्ञमण्डप में बैठ गये। उन्हें देख कर राजा ने कहा 'इन श्यापर्णों को भगाओ, ये

दुष्कर्म करते हैं, दुर्वचन बोलते हैं[229] और आकर यज्ञमण्डप में बैठ गये हैं।' 'ऐसा ही होगा' कह कर लोगों ने उन्हें भगा दिया। हटाये जाते समय उन्होंने कहा 'कश्यपों ने असितमृगों को वीर पाया, जिन्होंने उनके लिए भूतवीरों से उस यज्ञ में सोमरस छीन लिया जो यज्ञ परिक्षित् के पुत्र जनमेजय उनकी (कश्यपों की) सहायता के बिना कर रहे थे। कौन वीर है जो हमारे लिए इस सोम-रस को प्राप्त करेगा ?' राम भार्गवेय ने कहा 'मैं तुम लोगों का नेता हूँ।' यह राम श्यापर्ण वंश का एक विद्वान् पुरुष था। जब श्यापर्ण जा रहे थे तो उसने कहा 'हे राजा ! क्या वे लोग यज्ञमण्डप से मुझ जैसे ज्ञानी को भी भगा रहे हैं ?' राजाने पूछा 'तुम ज्ञानी कैसे हो ?'
२८ (राम ने उत्तर दिया) 'जब देवताओं ने इन्द्र को निकाल दिया जिसने त्वाष्ट्र[230] का वध किया, वृत्र को पराजित किया था, यतियों को वृकों का

---

[229] प्रो० वेबर (इण्ड० स्टू० १ २१४) का विचार है कि "दुष्कर्म करने वाले" ये शब्द श्यापर्णों की किसी विशिष्ट याज्ञिक क्रिया की ओर सकेत करते हैं और "अपूत वाणी बोलने वाले" उनकी भाषा की विभिन्नता को सूचित करते हैं, वे राम, भार्गवेय के पैतृक नाम भार्गवस् को अधम जाति से व्युत्पन्न मानते है, जिसका उल्लेख मनु १० ३४ मे किया गया है। इस आधार पर ही वे विश्वामित्र द्वारा श्यापर्ण वश की निन्दा की जाने का कारण ढूँढते हैं। इस अंश मे उल्लिखित जनमेजय की कथा के सन्दर्भ मे वेबर का कथन है (इण्ड० स्टू० १ २०४)· "उसी ग्रन्थ (ऐतरेय ब्राह्मण ७२७) मे इस राजा के कश्यपो की एक शाखा भूतवीरो के पुरोहित वश के साथ सघर्ष का उल्लेख किया गया है। यह सघर्ष उसी वश के असितमृगो की मध्यस्थता से शान्त हुआ।" श० ब्रा० १० ४, १, १० मे एक श्यापर्ण का उल्लेख किया गया है (प्रोफ़ेसर द्वारा इण्ड० स्टू० १ २१८ मे उद्धृत) एतद् ह स्म वै तद् विद्वान् श्यापर्ण सायकायन आह 'यद् वै मे इद कर्म समाप्स्यत मम एव प्रजा सल्वान राजानोऽभविष्यन् मम ब्राह्मणा मम वैश्या। यत् तु मे एतावत् कर्मण समापि तेन मे उभयथा सल्वान् प्रजाऽतिरेक्ष्यते" इति। "यह जानकर श्यापर्ण सायकान ने कहा 'यदि मेरा यह कर्म पूरा हो गया हो तो मेरी प्रजा सल्वो के राजा हुए होते, मेरे ही ब्राह्मण होंगे और मेरे ही वैश्य होगे। किन्तु मेरा यज्ञ इतना ही पूरा हुआ है। अत मेरी प्रजा दो प्रकार से सल्वो से बढकर होगी।'

[230] देखिए डॉ० हाग की टिप्पणी, पृ० ४८७, इस स्थल पर उन्होंने यह बताया है कि वे क्यो सायण द्वारा 'अन्यमेस्त' के "हत" अर्थ को नहीं मानते। प्रो० वेबर (इण्ड० स्टू० ९ ३२६) सायण के अर्थ का समर्थन करते हैं।

आहार बनाया अरुर्मघ की हत्या की तथा बृहस्पति का विरोध किया था, तब वह सोमरस से वञ्चित हो गया। उसके सोमरस से वञ्चित होने के फलस्वरूप क्षत्र (क्षत्रिय) भी इससे वञ्चित हो गये। (किन्तु त्वष्टृ के सोम को चुरा कर इन्द्र ने सोमरस में अंश ग्रहण कर लिया)। अतएव इस समय भी क्षत्रिय सोमरस से वञ्चित रहते हैं। यज्ञमण्डप से वे ऐसे व्यक्ति को क्यों भगाते हैं जो उस सोम को जानता है जो सोमपान से बहिष्कृत क्षत्रियों का है और जिससे वे समृद्धिशाली होते हैं?' राजा ने पूछा 'हे ब्राह्मण! क्या तुम उस सोम को जानते हो?' रामने उत्तर दिया 'मैं जानता हूँ?' राजा ने कहा 'तब मुझे बताओ।' उसने कहा, 'हे राजा, मैं तुम्हें बताता हूँ। २९. तीनों बूँदों में से वे सोम या दधि या जल की एक ले आवेंगे। यदि वह (ऋत्विज्) सोम ले आता है तो वह ब्राह्मणों का है और इससे तुम ब्राह्मणों को सन्तुष्ट करोगे। तुम्हारे वंश में एक व्यक्ति ब्राह्मण जैसा उत्पन्न होगा। वह दक्षिणा ग्रहण करने वाला, (सोम) पीने वाला, अन्न माँगने वाला[231] और इच्छानुसार भ्रमण करने वाला होगा। जब कभी ब्राह्मण के सोम का पान[232] करने का अपराध क्षत्रिय करता है, तो उसके वंश में एक ब्राह्मण तुल्य व्यक्ति उत्पन्न होता है जो उससे दूसरी या तीसरी पीढ़ी में ब्राह्मण बनने की शक्ति रखता है और ब्राह्मण जैसा जीवन व्यतीत करता है। यदि (ऋत्विज्) दधि ले आता है तो वह वैश्य का अंश है, इससे तुम वैश्यों को सन्तुष्ट करोगे। तुम्हारे वंश में एक व्यक्ति वैश्य जैसा उत्पन्न होगा जो दूसरों के अधीन होगा, दूसरों द्वारा उपभोग्य होगा और इच्छानुसार पीड़ित किया जायगा। जब कभी क्षत्रिय पर वैश्य का अंश ग्रहण करने का दोष आता है तो उसके वंश में एक वैश्य जैसा उत्पन्न होता है, जो उसकी दूसरी या तीसरी पीढ़ी में वैश्य बनने की क्षमता रखता है और वैश्य जैसा जीवन व्यतीत करने का इच्छुक होता है। यदि (ऋत्विज्) जल ले आता है, तो वह शूद्र का अंश होता है, इससे तुम शूद्रों को सन्तुष्ट करोगे। तुम्हारे वंश में एक पुरुष शूद्र तुल्य उत्पन्न होगा जो दूसरों का सेवक होगा, निष्कासित किये जाने योग्य होगा और इच्छानुसार वध्य होगा। जब क्षत्रिय

---

[231] प्रो० वेबर (इण्ड० स्टू० ९. ३२६) 'आवसयी' का अर्थ (इउबेरअल) वोह्नेण्ड अर्थात् "सर्वत्र निवास करता हुआ" करते है।

[232] डॉ० हॉग इस प्रकार अनुवाद करते हैं "जब कभी क्षत्रिय पर (जो यज्ञ मे ब्राह्मण का भक्ष्य खाता है) कोई दोष होता है" इत्यादि देखिए आगे अनुच्छेद ३० का आरम्भ।

(शूद्र के अंश का पान करने का) अपराधी होता है, तो उसके वंश में एक व्यक्ति शूद्रतुल्य उत्पन्न होता है, जो उसकी दूसरी या तीसरी पीढ़ी में शूद्र बनने की क्षमता रखता है और शूद्र जैसा जीवन व्यतीत करने की इच्छा करता है। ३०. हे राजा, ये ही तीन अंश हैं, जिनकी इच्छा क्षत्रिय को यज्ञ करते समय नहीं करना चाहिए। उसका अपना उचित अंश इस प्रकार है: वह न्यग्रोध वृक्ष की शाखायें निचोड़े, उदुम्बर, अश्वत्थ तथा प्लक्ष वृक्षों का फल तोड़े तथा इनके रस का पान करे। यही उसका अपना अंश है'।"

इसके आगे का अंश डॉ० हॉग के अनुवाद पृ० ४८९ आदि में पढ़ा जा सकता है। पुरोहित राजा को अनेक विषयों का ज्ञान प्रदान करता है जिसका परिणाम ३४ वें अनुच्छेद में इस प्रकार दिया गया है।

तम् एवम् एतम् भक्षम् प्रोवाच रामो मार्गवेयो विश्वन्तराय सौपद्मनाय। तस्मिन् ह उवाच प्रोक्ते "सहस्रम् उ ह ब्राह्मण तुभ्यं दद्मः। स श्यापर्णः उ मे यज्ञ" इति।

"इस भक्ष का उपदेश राममार्गवेय ने सुपद्मन के पुत्र विश्वन्तर को दिया। इसका उपदेश दिये जाने के उपरान्त राजा ने कहा 'हे ब्राह्मण! मैं आपको एक सहस्र (गौवें) देता हूँ, और मेरा यज्ञ श्यापर्णों की सहायता से सम्पादित होगा।"

खं० १७—मतङ्ग की कथा, जिसने ब्राह्मण पद प्राप्त करने का विफल प्रयत्न किया।

मातङ्ग की कथा, जो महाभारत के अनुशासनपर्व २७, ७ आदि में कही गई है, युधिष्ठिर द्वारा भीष्म से पूछे गये एक प्रश्न से प्रारम्भ होती है। १३. २७, ३ : क्षत्रियो यदि वा वैश्यः शूद्रो वा राजसत्तम। ब्राह्मण्यम् प्राप्नुयाद् येन तद् मे व्याख्यातुम् अर्हसि। तपसा वा सुमहता कर्मणा श्रुतेन वा। ब्राह्मण्यं अथ चेद् इच्छेत् तद् मे ब्रूहि समासतः। भीष्मः उवाच। २७, ५ ब्राह्मण्यं तात दुष्प्राप्यं वर्णैः क्षत्रादिभिस् त्रिभिः। परं हि सर्वभूतानां स्थानम् एतद् युधिष्ठिर। बह्वीस् तु संसरन् योनीर् जायमानः पुनः पुनः। पर्याये तात कस्मिंश्चिद् ब्राह्मणो नाम जायते। "मुझे वह साधन बताइए—चाहे वह उग्र तप हो, या यज्ञ या वैदिक ज्ञान—जिससे क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र यदि इच्छा करे, तो ब्राह्मण का पद प्राप्त कर ले। भीष्म उत्तर देते हैं (२७, ३). क्षत्रिय इत्यादि अन्य तीनों वर्णों के लिए

ब्राह्मण का पद दुर्लभ है, क्योंकि सभी प्राणियों में ब्राह्मण का पद सर्वोच्च है। अनेक योनियों में भटकने, और पुन पुनः जन्म लेने के उपरान्त ही मनुष्य ब्राह्मण होता है।" भीष्म इस सिद्धान्त को मतङ्ग के उदाहरण से स्पष्ट करते हैं, जो स्पष्टतः ब्राह्मण का पुत्र था, सद्गुणों के लिए प्रसिद्ध था और अपने पिता वर्ण के समान ही वह सम्मानित था (२७, ८ : द्विजातेः कस्यचित् तात तुल्यवर्णः सुतस् त्व् अभूत्। मतङ्गो नाम नाम्ना वै सर्वैः समुदितो गुणैः।) तथापि उसके निकृष्ट जन्म का ज्ञान इस प्रकार हो गया। उसके पिता ने उसे कहीं यज्ञ कराने के लिए भेजा, और वह गर्दभों द्वारा खींचे जाने वाले रथ पर यात्रा कर रहा था। मार्ग में वह पुन पुनः उस बछेड़े की नासिका पर, जो अपनी माता गर्दभी के साथ-साथ चल रहा था, कोड़े से मारता था। अपने बछड़े पर पड़ती हुए मार को देखकर गर्दभी ने कहा: 'मेरे बेटे, दुःखित मत होओ, रथ पर चाण्डाल बैठा हुआ है, ब्राह्मण में कोई वस्तु भयानक नहीं होती, वह दयालु होता है, सभी प्राणियों को उपदेश देने वाला गुरु होता है; तब वह किसी को चोट कैसे पहुँचा सकता है? यह दुष्ट स्वभाव का पुरुष कोमल बछड़े के प्रति भी दया नहीं दिखा रहा है और इस प्रकार अपना जन्म सूचित कर रहा है, क्योंकि जन्म से ही स्वभाव बनता है" (२७, ११. उवाच मा शुचः पुत्र चण्डालस त्व् अधितिष्ठति। ब्राह्मणे दारुणं नास्ति मैत्रो ब्राह्मण उच्यते। आचार्यः सर्व-भूताना शास्ता किं प्रहरिष्यति। अयं तु पाप-प्रकृतिर् बाले न कुरुते दयाम्। स्व-योनिम् मानयत्य् एष भावो भाव नियच्छति)। इस संताप को सुनकर मतङ्ग तत्काल नीचे उतर गया और गर्दभी से, जिसे उसने "नितान्त बुद्धिमती" कहकर सम्बोधित किया" यह बताने की प्रार्थना की कि किस प्रकार उसने उसे चण्डाल समझ लिया था और उसकी माता किस प्रकार चरित्र-भ्रष्ट हुई थी। गर्दभी उसे बताती है कि उसकी माता ने मत्त होकर एक नीच जन्म वाले नापित का आलिङ्गन किया और वह उसी संयोग से उत्पन्न हुआ था अतएव वह ब्राह्मण नहीं था (२७, १७ ब्राह्मण्यां वृषलेन त्वम् मत्तायां नापितेन ह। जातस् त्वम् असि चण्डालो ब्राह्मण्य तेन तेऽनशत्)। इस अप्रिय रहस्योद्घाटन के उपरान्त मतङ्ग घर लौटा। यशस्वी पिता द्वारा उसके शीघ्र लौट आने का कारण पूछे जाने पर उसने जो कुछ सुना था वह बता दिया और तपश्चर्या का मार्ग अपनाने का निश्चय व्यक्त किया। वह इतनी उग्र तपस्या करता है कि देवता भी भयभीत हो जाते हैं और इन्द्र उसे वर माँगने को कहते हैं। वह ब्राह्मण का पद माँगता है, किन्तु इन्द्र बताते हैं कि यदि वह यही याचना करता रहेगा तो वह मृत्यु प्राप्त करेगा, क्योंकि जो

उच्चपद वह प्राप्त करना चाहता है वह चण्डाल को नहीं प्राप्त हो सकता (श्लोक ३०)। मतङ्ग अपनी तपस्या एक सौ वर्ष तक चलाता रहता है, इन्द्र अपना पहले का निश्चय दुहराते है तथा उसका समर्थन तर्कों द्वारा करते है। बताते है कि (२८, ६ आदि) एक चण्डाल एक सहस्र जन्मों में केवल एक शूद्र बन सकता है; उसके तीस गुने लम्बे समय में एक शूद्र वैश्य बन सकता है, उस अवधि की सात गुनी लम्बी अवधि में एक वैश्य राजन्य हो सकता है और उससे भी साठ गुने लम्बे समय में एक राजन्य ब्राह्मण हो सकता है और इसी प्रकार एक ब्राह्मण केवल काण्ड पृष्ठ हो सकता है, काण्डपृष्ठ केवल जप हो सकता है और जप दीर्घकाल के उपरान्त श्रोत्रिय हो सकता है। अतएव इन्द्र मतङ्ग को कोई दूसरा वर माँगने के लिये कहते हैं। किन्तु तपस्वी अब भी उस देवता के निश्चय से असन्तुष्ट है और पुनः एक सहस्र वर्ष तक तपस्या करता है। उस समय के बाद भी उसे वही उत्तर और परामर्श प्राप्त होता है। खिन्न होते हुए भी वह हतोत्साहित नही होता, किन्तु अपने अँगूठे पर खड़ा होकर तपस्या करता है, यद्यपि उसमें अस्थिपञ्जर और चर्म मात्र शेष था तथापि बिना गिरे हुए एक सौ वर्ष तक तपस्या करता रहता है। अन्त में जब वह गिरने ही वाला था तभी इन्द्र ने दौड़कर उसे सँभाल लिया। किन्तु उसकी प्रार्थना अस्वीकार करते रहे। और प्रार्थना करने पर उन्होंने उसे केवल एक पक्षी के समान इतस्ततः भ्रमण करने, इच्छानुकूल रूपपरिवर्तन करने एव सम्मानित तथा यशस्वी होने की शक्ति दी (२९, २२ आदि)।

यहाँ जो क्षत्रिय के ब्राह्मण बनने को अनेक जन्मों को प्राप्त किये बिना असम्भव बताया गया है वह विश्वामित्र, वीतहव्य और अन्य व्यक्तियों की कथाओं के नितान्त विपरीत है।

पहले पृ० ४६२ पर उद्धृत किये गये एक अंश मे मतङ्ग (या एक मतङ्ग) को एक राजर्षि बताया गया है, जिसने विश्वामित्र के परिवार का पोषण किया और जिसके लिए उन्होंने यज्ञ किया था। सभापर्व ८, २९ में भी उसके यम की सभा मे अगस्त्य, काल और मृत्यु आदि के साथ आसीन होने का उल्लेख है। वन पर्व ८४, १०१ में उसे महर्षि कहा गया है, तथा शान्तिपर्व २९६, १५ में उन ऋषियों मे एक बताया गया है, जिन्होंने तपस्या द्वारा अपना पद प्राप्त किया है। (दे० ऊपर पृ० १५०)। उसके शिष्यों, उसका तथा उसके वन का वर्णन रामायण ३. १३, २२, २९, ३० मे किया गया है।

खं० १८—क्षत्रियों के विध्वंसक ब्राह्मण, परशुराम, का आख्यान।

यतः परशुराम भृगुवंशी थे, अतः उस वंश का कुछ वर्णन दे देना उचित होगा।

अपने लेक्सिकन में इस शब्द के अन्तर्गत प्रोफेसर रॉथ ने बताया है कि भृगु पुराकथाशास्त्रीय रचना थे, जो निरुक्त ११. १९ के अनुसार मध्यलोक या अन्तरिक्ष के देवता थे ("माध्यमिको देव-गणः" इति नैरुक्ताः)। उन्होंने अग्नि का अन्वेषण किया था और उसे मनुष्यों में ले आये थे (ऋग्वेद १०. ४६, २ इत्यादि)।[233] उनका कहना है कि इस जाति का इतिहास से भी सम्बन्ध है, क्योंकि एक प्रमुख ब्राह्मण-कुल का यही नाम है और ऋग्वेद के सूक्तों में भी इस तथ्य का उल्लेख किया गया है (७ १८, ६, ८ ३, ९. १६, ८. ६, १८, ८. ९१, ४)। जैसा कि प्रोफेसर रॉथ ने बताया है, भृगु एक वंश के प्रतिनिधि एक ऋषि का भी नाम है, जिनके सृञ्जयों के हाथों (देखिए ऊपर पृ० ३२५) पीड़ित होने का उल्लेख अथर्ववेद ५. १९, १ में किया गया है। जहाँ तक उनके जन्म का सम्बन्ध है ऐतरेय ब्राह्मण ३. ३४ में कहा गया है कि प्रजापति से[234] स्खलित वीर्य से पहले सूर्य उत्पन्न हुए थे, तब भृगु, और भृगु को वरुण ने दत्तकपुत्र बनाया था जिस कारण उन्हें वारुणि कहते हैं (तस्य यद् रेतः प्रथमम् उददीप्यत तद् असाव् आदित्योऽभवत्। यद् द्वितीयम् आसीत् तद् भृगुर् अभवत्। तं वरुणो न्यगृह्णीत। तस्मात् स भृगुर् वारुणिः)। शतपथ ब्राह्मण ११. ६, १, १ में भी उन्हें इसी नाम से अभिहित किया गया है, जिसमें उनके अपने पिता से अधिक ज्ञान का अभिमान रखने का वर्णन किया गया है (भृगुर् ह वै वारुणिर् वरुणम् पितरम् विद्ययाऽतिमेने); तैत्तिरीय उपनिषद् में भी उन्हें यही नाम दिया गया है (विब्ल० इण्ड० पृ० १२३. भृगुर् वै वारुणिर् वरुण पितरम् उपससार)।[235] महाभारत के अनुशा-

[233] देखिए मेरा लेख "मनु, द प्रोजेनिटर आफ दि आर्यन इण्डियन्स" ज रा ए सो १८६३ पृ० ४१५ आदि, तथा ऊपर पृ० १९० तथा १९२।

[234] इस कथा का, जिसके मध्य से यह अंश लिया गया है, आरम्भिक अंश ऊपर पृ० १२२ आदि पर दिया गया है।

[235] देखिए इण्ड० स्टू २ २३१, तथा जर्नल आफ द जर्मन ओ० सो० ९ २४०।

सनपर्व ८५, ८७ आदि में ऊपर आई हुई भृगु-जन्म की कथा को विकसित और परिवर्त्तित कर दिया गया है · वशिष्ठ उवाच। अपि चेदम् पुरा राम श्रुतम् मे ब्रह्म-दर्शनम्। पितामहस्य यद् वृत्तम् ब्रह्मणः परमात्मन'। देवस्य महतस् तात् वारुणीम् बिभ्रतस् तनुम्। ऐश्वर्य्ये वारुणे राम रुद्रस्येशस्य वै प्रभोः। 'वसिष्ठ ने कहा, ८७ : हे राम (अर्थात् परशुराम)! मैंने ब्रह्मा के इस दर्शन के विषय में भी सुना है जो पितामह ब्रह्मा, परमात्मा महादेव, रुद्र, ईश, ने वरुण का शरीर धारण किया और वरुग के राज्य से संयुक्त हुए।" महादेव का ब्रह्मा, ब्रह्म, परमात्मा, और वरुण के साथ तादात्म्य प्रदर्शित कर वक्ता ने आगे कहा है कि मुनि, अग्नि इत्यादि देवता, यज्ञ के मूर्तिमान अंश और वेद इत्यादि उक्त अवसर पर एकत्र हुए, और तब वह कहता है· ८५, ९५ : एष ब्रह्मा शिवो रुद्रो वरुणोऽग्निः प्रजापतिः। कीर्त्यते भगवान् देवः सर्व-भूत-पतिः शिवः। तस्य यज्ञः पशुपतेस् तपः क्रतव एव च। दीक्षा दीप्त-व्रता देवी दिशाश् च सदिगीश्वराः। देव-पत्न्यश् च कन्याश् च देवानां चैव मातरः। आजग्मुः सहितास् तत्र तदा भृगु-कुलोद्वह। ९८ यज्ञम् पशुपतेः प्रीताः वरुणस्य महात्मनः। स्वयम्भुवस् तु ताः दृष्ट्वा रेतः समपतद् भुवि। तस्य शुक्रस्य विस्यन्दात् पाशून् सङ्गृह्य भूमित·। प्रास्यत् पूपा कराभ्यां वै तस्मिन्न् एव हुताशने। ततस् तस्मिन् सम्प्रवृत्ते सत्रे ज्वलित-पावके। ब्रह्मणो जुह्वतस् तत्र प्रादुर्भावो बभूव ह। स्कन्न-मात्रं च तच् छुक्रम् श्रुवेण परिगृह्य सः। आज्य-वद् मन्त्रतश् चापि सोऽजुहोद् भृगु-नन्दन। ततस् तु जनयामास भूत-ग्रामं च वीर्य्यवान्।· ·१०४. शुक्रे हुतेऽग्नौ तस्मिंस् तु प्रादुरासस् त्रयः प्रभो। पुरुषाः वपुषा युक्ताः स्वैः स्वैः प्रसवजैर्-गुणैः। "भृग्" इत्य् एव भृगुः पूर्वम् अङ्गारेभ्योऽङ्गिराऽभवत्। अङ्गार-संश्रयाच् चैवो कविर् इत्य् अपरोऽभवत्। सह ज्वालाभिर् उत्पन्नो भृगुस् तस्माद् भृगुः स्मृतः। ··१२३. "वरुणश् चेश्वरो देवो लभता कामम् ईप्सितम्।" निसर्गाद् ब्रह्मणश् चापि वरुणो यादसाम्पति'। जग्राह वै भृगुम् पूर्वम् अपत्यं सूर्य-वर्चसम्। ईश्वरोऽङ्गिरसं चाग्नेर् अपत्यार्थम् अकल्पयत्। पितामहस् त्व् अपत्य वै कवि जग्राह तत्त्ववित्। तदा स वारुणः ख्यातो भृगुः प्रसेव-कर्म-कृत्। आग्नेयस् त्व अङ्गिराः श्रीमान् कविर् ब्राह्मो महायशाः। भार्गवाङ्गिरसौ लोके लोक-सन्तान-लक्षणौ। एते हि प्रसवाः सर्वे प्रजानाम् पतयस् त्रयः। सर्वम् सन्तानम् एतेषाम् इदम् इत्य् उपधारय। भृगोस् तु पुत्राः सप्तासन् सर्वे

तुल्याः भृगोर् गुणैः। च्यवनो वज्रशीर्षश् च शुचिर् और्वस् तथैव च। शुक्रो वरेण्यश् च विभुः सवनश् चेति सप्त ते। भार्गवाः वारुणाः सर्वे येषां वंशो भवन् अपि।

"१३. ८५, ९५ इस सभी भूतों के स्वामी, श्रेष्ठ, और कल्याणकारी देवता को ब्रह्मा, शिव, रुद्र, वरुण, अग्नि, प्रजापति कहते हैं। इस पशुपति ने एक यज्ञ किया।[२३६] हवि, दीक्षा, दीप्त-व्रत वाली देवी, दिशायें, उनके स्वामी, देवताओं की पत्नियाँ, पुत्रियाँ और मातायें, सभी आनन्दित होकर एक साथ महान वरुण पशुपति के यज्ञ में उपस्थित हुईं। जब स्वयम्भू ब्रह्मा ने इन देवियों को देखा तो उनका वीर्य स्खलित होकर पृथ्वी पर गिर गया। तब इस प्रकार भीगे हुए धूलिकणों को पूषन ने उठाकर अग्नि में डाल दिया। जब अग्नि की शिखायें दीप्त हो गईं और यज्ञ प्रारम्भ हुआ तो ब्रह्मा हवि प्रदान करते हुए प्रकट हुए। गिरी हुई हवि को स्रुवा से उठाकर उन्होंने घृत के समान मन्त्र पाठ करते हुए अग्नि में डाल दिया; और उससे उस महान् देवता ने सभी प्राणियों की सृष्टि की .....।

"८५, १०४. जब वीर्य अग्नि में डाल दिया गया तो उससे तीन पुरुष सशरीर प्रकट हुए, जो अपने वंश के गुणों से युक्त थे। भृगु, भृक् (अग्नि की ज्वाला) से उत्पन्न हुए, अङ्गिरस अङ्गार से उत्पन्न हुये और कवि[२३७] अङ्गारों के समूह से उत्पन्न हुये। 'भृगु' यह नाम इसलिए पड़ा कि वे भृक् के साथ उत्पन्न हुए। महादेव, वरुण तथा पवन नाम के देवताओं ने इन तीनों व्यक्तियों को अपना, तथा अपने-अपने यज्ञ से उत्पन्न, बताया (८५, ११७ आदि)। अग्नि और ब्रह्मा ने भी उन्हें अपना बताया (८५, ११७ आदि)। अन्य देवताओं ने ब्रह्मा से अग्नि और वरुण के वचन मान लेने की प्रार्थना की। ८५, १२२ देवता वरुण भी अपनी इच्छित वस्तु प्राप्त करें। ब्रह्मा के दान से समुद्र के दानवों के स्वामी वरुण ने पहले भृगु को पुत्र रूप में प्राप्त किया, जो सूर्य के समान प्रकाशमान थे। ईश्वर (महादेव) ने अङ्गिरस् को अग्नि का पुत्र बनाया। वस्तुओं के यथार्थ्य को जाननेवाले पितामह ने कवि को अपना पुत्र बनाया। प्राणियों के जन्मदाता भृगु वरुण के पुत्र हुए, अङ्गिरस् अग्नि के, और तेजस्वी कवि ब्रह्मा के पुत्र कहलाए। भार्गवों और अङ्गिरसों को मनुष्य जाति के जनक

[२३६] इस पंक्ति की रचना ऐसी ही प्रतीत होती है।

[२३७] महाभारत १ ६६, ४२ मे कवि को भृगु का पुत्र कहा गया है (भृगो पुत्र. कविर् विद्वान् शुक्र)। इसके विपरीत उन्हे या उसी नाम के दूसरे व्यक्ति को अनुशासनपर्व ८५, ३२ ३३ मे कवि के साथ ही कवि का पुत्र कहा गया है।

के रूप में लोक में ख्यात बताया गया है। ये सभी प्रजापति प्रजाओं की उत्पत्ति करनेवाले थे। इस सम्पूर्ण विश्व को उन्हीं की सन्तान समझो। भृगु के सात पुत्र थे, जो सभी सद्गुणों में अपने पिता के समान ही थे। इनके नाम च्यवन, वज्रशीर्ष, शुचि, और्व, शुक्र, वरेण्य, विभु तथा सवन हैं। ये सभी भार्गव और वरुण थे जिस वंश के आप (परशुराम) भी हैं।"

महाभारत के एक दूसरे अंश, आदि पर्व ५, ७ में भी इसी प्रकार कहा गया है : भृगुव महर्षिर भगवान् ब्राह्मणा वै स्वयभ्भुवा। वरुणस्य क्रतौ जातः पावकाद् इति नः श्रुतम्। "हमने सुना है कि महर्षि भगवान् भृगु को ब्रह्मा ने वरुण के यज्ञ में अग्नि से उत्पन्न किया।"

निरुक्त ३. १७ मे भृगु की इस प्रकार व्युत्पत्ति दी गई है ' अर्चिषि भृगुः सम्बभूव। भृगुर भृज्यमानो न देहे : "भृगु अग्निशिखाओं में उत्पन्न हुए; अग्नि में जलाये जाने पर भी वे जल न सके।"

तैत्ति० ब्रा० १. ८, २, ५ में भिन्न प्रकार का वर्णन मिलता है : इन्द्रस्य सुषुवाणस्य त्रेधा इन्द्रयं वीर्य्यम् परापतत्। भृगुस् तृतीयम् अभवत्। "जब भृगु सोम का सवन कर रहे थे तो उनका वीर्य तीन भागों में स्खलित हुआ। तीसरा भृगु हुआ।"

विष्णु पुराण (देखिए ऊपर पृ० ७६) में भृगु को नौ ब्रह्माओं या ब्रह्मा के मानस पुत्रों में एक बताया गया है। भाग० पु० ३. १२, २३ में कहा गया है कि भृगु स्रष्टा की त्वचा से उत्पन्न हुए (भृगुस् त्वचि)। इसके विपरीत महाभारत १. ६६, ४१ का कथन है ' ब्रह्मणो हृदयम् भित्वा निस्सृतो भगवान भृगु'। "भगवान् भृगु ब्रह्मा के हृदय को भेदकर निकले" (वेबर इण्ड० स्टू० २ २३१)। इसी प्रकार वायु पु० १.२, १०० : भृगुस् तु हृदयाज् जज्ञे ऋषिः सलिलजन्मनः। 'भृगु जल से उत्पन्न (ब्रह्मा) के हृदय से निकले थे।' और आगे कहा गया है—श्लोक १०३ . इत्य् एते मानसाः पुत्राः विज्ञेया ब्रह्मणः सुता.। भृग्व्-आदयस् तु ये सृष्टाः नवैते ब्रह्म-वादिनः। १०४ गृहमेधिनः पुराणस् धर्मस् तैः प्राक् प्रवर्त्तितः। "ब्रह्मा के ये नौ मानस पुत्र थे। भृगु इत्यादि जिन नौ व्यक्तियों की सृष्टि हुई वे सभी वेद के वक्ता और प्राचीन ग्रहस्थ थे, उन्होंने प्राचीन काल मे धर्म का प्रवर्त्तन किया।" मनु ने (१. ३५. देखिए ऊपर, पृ० ४२) भृगु को अपने ही दस पुत्रों में एक बताया है। उन्होंने यह भी उल्लेख किया है। (१ ५९, ६०, ऊपर पृ० ४५) कि स्वयं उन्होंने भृगु को स्मृति की रचना करने का आदेश दिया था। किन्तु ५. २ मे इस ऋषि को अग्नि से उत्पन्न कहा गया है

(इदम् ऊचुर् महात्मानम् अनल-प्रभवम् भृगुम)। यतः पहले उन्हें मनु के दस पुत्रों में एक बताया गया है, (अध्याय ५ के तीसरे श्लोक में भी उन्हें ऐसा ही कहा गया है और अध्याय ७ के दूसरे श्लोक में उन्हें 'मानवो भृगु' कहा गया है), अतएव कुल्लूक अग्नि से उत्पन्न होने के वर्णन की व्याख्या यह कह कर करते हैं कि किसी अतीत कल्प में वे ऋषि अग्नि में उत्पन्न हुए होंगे : यद्यपि प्रथमाध्याये दश-प्रजापति-मध्ये "भृगु नारदम् एव च" इति भृगु-सृष्टिर् अपि मनुत एव उक्ता तथापि कल्प-भेदेन अग्नि प्रभवत्वम् उच्यते। तथा च श्रुतिः "तस्य यद् रेतसः प्रथमं देदीप्यते तद् असाव आदित्योऽभवत्। यद् द्वितीयम् आसीद् भृगुर्" इति। अत एव भ्रष्टाद् रेतसः उत्पन्नत्वाद भृगु। "यद्यपि प्रथम अध्याय के ३५ वें श्लोक में दस भृगुओं की उत्पत्ति मनु से हुई बताई गई है, तथापि यहाँ उन्हें अग्नि से उत्पन्न कहा गया है। इसका कारण उनके विभिन्न कल्पों में सृष्टि का भेद है। इसी प्रकार वेद में भी कहा गया है कि वे गिरे हुए (भ्रष्टात्) वीर्य से उत्पन्न हुए थे)।"[२३८]

प्रोफेसर रॉथ (लिट्० एण्ड हिस्ट्री आफ द, वेद पृ० १३५) कहते हैं :- "भृगु नितान्त वैदिक वंशों में से एक है जिससे जमदग्नि, च्यवन, और्व, अप्नवान और अन्य ऋषि सबद्ध हैं। परवर्ती आख्यानों में इन विभिन्न भृगुओं ने जो भाग लिये हैं उनके सम्बन्ध में अनेक अनुमान किये जा सकते हैं, किन्तु जब तक इनके बीच की श्रृंखला हमें उपलब्ध नहीं होती या जब तक हम स्वयं वैदिक सूक्तों से अधिक स्पष्ट रूप में इन कुलों के पारस्परिक सम्बन्धों का ज्ञान नहीं प्राप्त कर लेते तब तक कोई निष्कर्ष निकालना अयुक्त प्रतीत होता है। इन सबके होते हुए भी मैं यही कहूँगा कि विश्वामित्र के दत्तकपुत्र शुनश्शेप पुराणों के अनुसार एक भृगु हैं और इस प्रकार भृगुओं का वसिष्ठ के शत्रुओं के साथ मित्रता का सम्बन्ध प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त सगर, जिसका पालन पोषण भृगु और्व ने किया था, वसिष्ठ द्वारा शकों और अन्य असभ्य जातियों के विपरीत युद्ध में रोक लिये गये थे।

[२३८] देखिए प्रो० विलसन की टिप्पणी, विष्णुपुराण भाग १. पृ० १०० आदि, जिसमें वे कहते हैं : "वायु उनकी (प्रजापतियों की) उत्पत्ति का दूसरा वर्णन भी देता है और उन्हें ब्रह्मा द्वारा किये गये एक यज्ञ से उत्पन्न बताता है। उसकी—कुछ सीमा तक वास्तविक व्यक्ति मानकर—उत्पत्ति बताने की प्रतीकात्मक शैली यह है कि वे ब्राह्मणीय यज्ञक्रिया से उत्पन्न हुए हैं, जिसका अनुष्ठान उन्होंने सर्वप्रथम किया था।"

जब उनके शत्रुओं पर कठिनाई पड़ी तो वे वसिष्ठ के पास मध्यस्थता के लिए पहुँचे।" (देखिए ऊपर पृ० ३८० तथा विलसन का विष्णु पुराण, भाग ३, पृ० २९१)।

परशुराम और क्षत्रियों की कथा संक्षेप में महाभारत के आदिपर्व (२, ३-११) में कही गई है, जिसमें इन घटनाओं को त्रेता और द्वापर युगों के सन्धि-काल मे घटित कहा गया है (त्रेता-द्वापरयोः सन्धौ रामः शस्त्र-भृतां वरः। असकृत पार्थिवं क्षत्रं जघानामर्ष-चोदितः। स सर्वं क्षत्रम् उत्साद्य स्व-वीर्य्येणानलद्युतिः)। महाभारत के अन्य भागों में यह कथा और विस्तृत रूप में कही गई है। आदिपर्व के १७८ वें—१८० वें खण्ड में एक आख्यान है जिसमें परशुराम या क्षत्रियों के विध्वंसक का कोई उल्लेख नहीं है, किन्तु उससे निम्नलिखित विवरण मिलता है . पराशर शक्तृ के पुत्र और वसिष्ठ के पौत्र थे जैसा कि हमने ऊपर पृ० ४६८ पर देखा है। जब उन्होंने अपने पिता की मृत्यु की कथा सुनी तो उन्होंने सभी प्राणियों का संहार कर देने का निश्चय किया,[२३९] किन्तु उनके पितामह ने उन्हें भृगुओं और क्षत्रियों की कथा सुनाकर शान्त किया। शेष कथा इस प्रकार है . कृतवीर्य नाम के एक राजा थे, जिनकी दानशीलता के फलस्वरूप वेदों के ज्ञानी भृगु, जो उनके पुरोहित थे, अन्न और धन से समृद्ध हो गये थे (श्लोक १७८, १२ याज्यो वेद-विदां लोके भृगूणाम् पार्थिवर्षभः। स तान् अग्र-भुजस् तात धान्येन च धनेन च। सोमान्ते तर्पयामास विपुलेन विशाम्पते)। जब वे स्वर्ग चले गये तो उनके वंशजों में धन का अभाव हो गया। वे भृगुओं के निकट, जिनकी समृद्धि से वे परिचित थे, धन की याचना करने आये। भृगुओं में से कुछ ने अपना धन छिपा लिया, कुछ ने क्षत्रियों से डर कर ब्राह्मणों को दे दिया, जब कि कुछ ने इन्हे इच्छित वस्तु प्रदान की। ऐसा हुआ कि एक क्षत्रिय ने पृथ्वी खोदते हुए एक भृगु के घर में धन पाया। क्षत्रिय एकत्र हुए, उन्होंने इस भण्डार को देखा और क्रुद्ध होकर उन्होंने सभी भृगुओं का वध कर डाला, यहाँ तक कि गर्भस्थ बालकों को भी नहीं छोड़ा (१९. अवमन्य ततः क्रोधाद् भृगूस् तान् शरणागतान्। निजघ्नुः परमेष्वासाः सर्वास् तान् निशितैः शरैः। आ-गर्भाद् अवकृन्तन्तश् चेरुः सर्वां वसुन्धराम्)। विधवाएँ हिमालय पर्वत को भाग गईं।

[२३९] विष्णुपुराण के आरम्भ मे इन्ही स्थितियो का निर्देश किया गया है। (विलसन का विष्णु पु० भाग १, पृ० ७ और आगे)। पराशर विष्णुपुराण की कथा कहते हैं (वही पृ० ११)।

उनमें से एक ने अपने गर्भस्थ बालक को अपनी जाँघ में छिपा लिया। क्षत्रियों ने एक ब्राह्मणी दूती से इस बात को जान कर उसे मारने का प्रयत्न किया, किन्तु वह बालक अपनी माता की जाँघ से प्रकाश के साथ निकला जिससे उन हत्यारों की आँखें अन्धी हो गईं। कुछ समय तक पर्वतों में भटकने पर उन लोगों ने उस बालक की माता से नेत्रों की ज्योति लौटा देने की प्रार्थना की, किन्तु उसने उन्हें अपने उसी अद्भुत पुत्र और्व के निकट जाने को कहा जिसमें छः वेदाङ्गों सहित वेदों ने प्रवेश किया था (१७९, ४ षड्-अङ्गश्चाखिलो वेदः इम गर्भस्थम् एव ह। विवेश भृगु-वंशस्य भूयः प्रिय-चिकीर्षया)। उसी ने (अपने सम्बन्धियों के वध की प्रतिक्रिया रूप में) उनके नेत्रों की ज्योति समाप्त की थी और वही उसे प्रदान कर सकता था। वे उसके निकट पहुँचे और उनकी नेत्र-ज्योति उन्हें प्राप्त हो गई। और्व ने भृगुओं के वध के प्रतिकार में सभी प्राणियों की हत्या का विचार किया और इतना उग्र तप आरम्भ कर दिया कि देवता, असुर और मनुष्य व्याकुल हो गये, किन्तु स्वयं उनके पूर्वज (पितर) प्रकट हुए और उनसे यह कर कि स्वयं उन्हें क्षत्रियों से प्रतिशोध लेने की इच्छा नहीं, उन्हे विरत करने का प्रयत्न किया. नानीशैर् हि तदा तात भृगुभिर् भावितात्मभिः। वधो ह्य् उपेक्षितः सर्वं क्षत्रियाणां विहिंसताम्। आयुषा विप्रकृष्टेन यदा नः खेद आविशत्। तदाऽस्माभिर् वधस् तात क्षत्रियैर् ईप्सितः स्वयम्। निखातं यच् च वै वित्तं केनचिद् भृगु-वेश्मनि। वैरायैव तदा न्यस्तं क्षत्रियान् कोपयिष्णुभिः। किं हि वित्तेन नः कार्यं स्वर्गेप्सूनां द्विजोत्तम। १७९, २२ मा वधीः क्षत्रियांस् तात न लोकान् सप्तपुत्रक। दूषयन्तं तपस्-तेजः क्रोधम् उत्पतितं जहि। "१७९, १५ विनाशकारी क्षत्रियों द्वारा किये गये वध की उपेक्षा भृगुओं ने दुर्बलता के कारण की हो ऐसी बात नहीं। जब हम वृद्धावस्था से खिन्न हो गये थे तो हम स्वयं ही उनके द्वारा मारे जाने की इच्छा करने लगे। भृगु के घर में किसी व्यक्ति ने जो धन खोद कर गाड़ दिया वह क्षत्रियों को उत्तेजित करनेवाले व्यक्तियों ने द्रोह उत्पन्न करने के लिए रखा था। स्वर्ग की कामना करनेवाले हम लोगों को धन की क्या आवश्यकता थी?" उन्होंने बताया कि यह योजना उन्हीं लोगों ने बनाई थी क्योंकि वे आत्महत्या के अपराधी नहीं होना चाहते थे। इस प्रकार और्व को क्रोध शान्त करने, तथा जिस पाप का उन्होंने निश्चय किया था उससे विरत होने को कह कर, उन्होंने अपना वचन समाप्त किया। १७९, २२. "पुत्र! क्षत्रियों का नाश न करो, सात लोकों का संहार न करो। तपस्या के प्रभाव को नष्ट करने वाले इस प्रज्वलित क्रोध को शान्त

करो।" और्व उत्तर देते है कि वे अपनी घोषणा को कार्य रूप में परिणत किए बिना विश्राम नहीं ले सकते। वे कहते है कि यदि उनका क्रोध किसी दूसरे पर निकल नहीं जाता तो उन्हीं को भस्म कर डालेगा। वे पूर्वजों द्वारा उपदिष्ट शान्ति के विपरीत, न्याय, कर्मण्यता, एवं धर्म के आधार पर तर्क उपस्थित करते है। उनके पितर लोग उनसे क्रोध को समुद्र में डालने का आग्रह करते हैं जिसमें वह जल के तत्वों पर आघात करेगा और इस प्रकार उनकी प्रतिज्ञा पूरी हो जायगी। 'यही क्रोध हयशिरस् बन गया, जिसे वेद के ज्ञाता जानते है और जो अग्नि उगलता तथा जल पीता है।' (महद् हय-शिरो भूत्वा यत् तद् वेदविदो विदुः। तम् अग्निम् उद्गिरद् वक्त्राद् पिबन्य् आपो महोदधौ)। यह उल्लेखनीय है कि एक आख्यान मे, जिसका एक लक्ष्य क्षत्रियों द्वारा ब्राह्मणों को पीडित किये जाने को गर्हित बताना है, हम दूसरे लोक से आने वालों के द्वारा अत्याचारी के व्यवहार का शमन होता पाते हैं। किन्तु यहाँ विश्व की शून्यता का सिद्धान्त उभर आता है तथा ब्राह्मणों की अन्तिम श्रेष्ठता की प्रशंसा करते हुए उनकी उदारता का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

इस आख्यान का दूसरा पाठ, जो मै यहाँ उद्धृत करूँगा, वनपर्व के खण्ड ११५–११७ में आया है। उसमें कहा गया है कि कृतवीर्य्य के पुत्र एवं हैहयों के राजा अर्जुन की सौ भुजायें थी। दत्तात्रेय से उसने सोने का एक दिव्य विमान प्राप्त किया था, जिसकी गति अप्रतिहत थी। इस प्रकार वह देवों, यक्षों और ऋषियों के ऊपर चलता और सभी प्राणियों को सताता था (३, ११५, १२ अव्याहत-गतिश् चैव रथस् तस्य महात्मन्। रथेन तेन तु तदा वर-दानेन वीर्य्यवान्। ममर्द देवान् यक्षांश् च ऋषींश चैव समन्ततः। भूताश् चैव स सर्वांस् तु पीडयामास सर्वतः)। देवताओं और ऋषियों ने विष्णु से प्रार्थना की। विष्णु और इन्द्र ने, जिसे अर्जुन ने अपमानित किया था, उसके वध के लिए योजना बनाई। यहाँ यह कथा शुरू होती है कि गाधि नाम के कान्यकुब्जों के राजा थे, जिनकी पुत्री सत्यवती थी। इसके उपरान्त इस राजकुमारी का ऋषि ऋचीक के साथ विवाह तथा जमदग्नि के जन्म की कथायें प्राय: उसी प्रकार कही गई है जैसा कि ऊपर पृ० ३९५ पर वर्णित है। जमदग्नि और सत्यवती के पाँच पुत्र हुए जिनमे कनिष्ठ परशुराम थे। अपने पिता की आज्ञा से वे अपनी माता का वध करते है (जो अपवित्र विचार के वशीभूत होकर अपने पातिव्रत से च्युत हो गई थी) जबकि उनके चारों बडे भाई माता का वध करना अस्वीकार कर देते है और फलस्वरूप पिता के शाप के कारण विवेकहीन हो जाते हैं। परशुराम की इच्छा से उनके

पिता मृत माता को पुनः जीवित कर देते हैं तथा भाइयों को विवेक प्रदान करते हैं। इस प्रकार वे हत्या के पाप से मुक्त हो जाते हैं। वे अपने पिता से अजेयता और दीर्घ जीवन प्राप्त करते हैं। यहाँ से उनकी कथा का सम्बन्ध राजा अर्जुन (या कार्त्तवीर्य) की कथा के साथ जुड़ जाता है। कार्त्तवीर्य जमदग्नि के आश्रम में आया और वहाँ उन जमदग्नि की पत्नी ने उसका आदरपूर्वक स्वागत किया। किन्तु इस सम्मान को प्राप्त कर भी उसने ऋषि की यज्ञधेनु को बलात् खोल लिया, तथा उनके बड़े-बड़े वृक्षों को गिरा दिया। इस संहार का समाचार सुनकर परशुराम क्रुद्ध हो गये। उन्होंने अर्जुन पर आक्रमण किया, और उसकी सौ भुजाओं को काट कर उसे मार डाला। इसके प्रतिकार स्वरूप अर्जुन के पुत्र ने परशुराम की अनुपस्थिति में ऋषि जमदग्नि का वध कर डाला। इसके आगे कथा इस प्रकार है:

३. ११७, ६ ददाह पितरं चाग्नौ रामः पर-पुरञ्जय'। प्रतिजज्ञे वधं चापि सर्व-क्षत्रस्य भारत। स क्रुद्धोऽतिबलः सङ्ख्ये शस्त्रं आदाय वीर्य्यवान्। जघ्निवान् कार्त्तवीर्य्यस्य सुतान् एकोऽन्तकोपमः। तेषां चानुगताः ये च क्षत्रिया' क्षत्रियर्षभ। तांश्च सर्वान् अवामृथ्नाद् रामः प्रहरतां वरः। त्रिस्सप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियाम् प्रभुः। समन्त-पञ्चके पञ्च चकार रौधिरान् ह्रदान्। १०. स तेषु तर्पयामास भृगून् भृगुकुलोद्वहः। साक्षाद् ददर्श चर्चीकं स च रामं न्यवेदयत्। ततो यज्ञेन महता जामदग्न्यः प्रतापवान्। तर्पयामास देवेन्द्रम् ऋत्विग्भ्य' प्रददौ महीम्। वेदीं चाप्य् अददाद् हैमीं कश्यपाय महात्मने। दश-व्यामायतां कृत्वा नवोत्सेधां विशाम्पते। तां कश्यपस्यानुमतेर् ब्राह्मणाः खण्डशस् तदा। व्यभजम् त तदा राजन् प्रख्याताः खाण्डवायनाः। स प्रदाय महीं तस्मै कश्यपाय महात्मने। अस्मिन् महेन्द्रे शैलेन्द्रे वसत्य् अमित-विक्रमः। एवं वैरम् अभूत् तस्य क्षत्रियैर् लोक-वासिभिः। पृथिवी चापि विजिता रामेणामित-तेजसा।

"लौटने पर अपने पिता का अन्त्येष्टि कर्म करके राम ने सम्पूर्ण क्षत्रिय जाति का नाश करने की प्रतिज्ञा की, और सर्वप्रथम अर्जुन के पुत्रों और उनके परिजनों को मारकर उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की। उन्होंने पृथ्वी पर इक्कीस बार क्षत्रियों का संहार किया। समन्तपञ्चक में उन्होंने रक्त के पाँच कुण्ड बनाये (११७, १०) जिसमें भृगुओं की आत्माओं का तर्पण और अपने पितामह ऋचीक का दर्शन किया जो राम के सम्मुख प्रकट हुए। राम ने भव्य यज्ञ करके इन्द्र को प्रसन्न किया और ऋत्विजों को पृथ्वी दक्षिणा में

दी। उन्होंने कश्यप को एक सोने की वेदी दी जो दस मनुष्यों के बराबर लम्बी और नौ मनुष्यों के बराबर ऊँची थी। उनकी आज्ञा से ब्राह्मणों ने इसका विभाजन किया जिससे उनका नाम खाण्डवायन पड़ा। कश्यप को पृथ्वी प्रदान कर परशुराम स्वयं महेन्द्र पर्वत पर निवास करते हैं। इस प्रकार उनमें और क्षत्रियों में शत्रुता उत्पन्न हुई और इस प्रकार महान् प्रतापी राम ने पृथ्वी को जीता।"

क्षत्रिय जाति जिस प्रकार पुनः अस्तित्व में आई उसका वर्णन महाभारत १. ६४, ४ आदि के निम्नलिखित अंश मे किया गया है :

त्रिस्सप्त-कृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियाम् पुरा। जामदग्न्यस् तपस् तेपे महेन्द्रे पर्वतोत्तमे। ५. तदा निःक्षत्रिये लोके भार्गवेण कृते सति। ब्राह्मणान् क्षत्रिया. राजन् सुतार्थिन्योऽभिचक्रमुः। ताभि. सह समापेतुर ब्राह्मणाः शसित-व्रताः। ऋताव् ऋतौ नरव्याघ्र न कामाद् नानृतौ तथा। तेभ्यश च लेभिरे गर्भं क्षत्रियास् तः सहस्रशः। ततः सुषुविरे राजन् क्षत्रियान् वीर्य्यवत्तरान्। कुमारंश् च कुमारीश् च पुनः क्षत्राभिवृद्ध्यये। एवं तद् ब्राह्मणैः क्षत्रम् क्षत्रियासु तपस्विभि। जातं वृद्ध च धर्मेण सुदीर्घनायुषान्वितम्। चत्वारोऽपि ततो वर्णाः बभूवुर् ब्राह्मणोत्तराः।

"१ ६४, ४. इक्कीस बार पृथ्वी को क्षत्रियों से शून्य करके जमदग्नि के पुत्र ने श्रेष्ठ महेन्द्र पर्वत पर तपस्या प्रारम्भ की। ५. जब उन्होंने संसार से क्षत्रियों का समूल नाश कर दिया तो उनकी विधवाएँ ब्राह्मणों के निकट सतान के लिए पहुँची। धर्मात्मा ब्राह्मणों ने, काम के वशीभूत हुए बिना इन स्त्रियों के साथ उचित समय में सभोग किया जिसके फलस्वरूप वे गर्भवती हुईं और उन्होंने वीर क्षत्रिय पुत्रों और पुत्रियों को जन्म दिया जिससे क्षत्रियों की जाति चली। इस प्रकार, क्षत्रिय जाति वस्तुत ब्राह्मणों द्वारा क्षत्रिय स्त्रियों से उत्पन्न की गई, उसकी वृद्धि हुई तथा वह दीर्घ-काल तक चलती रही। उनसे ब्राह्मणों से निम्न कोटि के चार वर्ण उत्पन्न हुए।"

क्षत्रियों के अस्तित्व और राज्य की पृथ्वी पर पुन. प्रतिष्ठा हो जाने के उपरान्त धर्म, सुख और समृद्धि का युग आया। उस समय प्रचलित धार्मिक पूर्णता के प्रमाणस्वरूप यह कहा जाता है कि "ब्राह्मण अपनी पवित्र विद्य का विक्रय नहीं करते थे और न शूद्रों के निकट वेद मन्त्रों का पाठ करते थे"। (२० न च विक्रीणते ब्रह्म ब्राह्मणाश् च तदा नृप। न च शूद्र-समाभ्यासे वेदान् उच्चारयन्त्य् उत)।

इस आख्यान का दूसरा पाठ शान्तिपर्व के खण्ड ४९ में दिया गया है। जमदग्नि के ऋचीक और सत्यवती के पुत्र रूप में जन्म की कथा प्रायः उसी रूप में कही गई है, जैसी विष्णु पुराण में (देखिए पृ० ३९४ आदि); किन्तु ऋचीक अपनी पत्नी से कहते हैं कि उसके पिता का सम्पूर्ण वंश ब्राह्मणत्व से युक्त होगा (१२. ४९, २९. ब्रह्म भूतं हि सकलम् पितुस् तव कुलम् भवेत्) और गाधि के पुत्र, विश्वामित्र, के विषय में कहा गया है कि वे "ब्राह्मण के स्वभाववाले तथा ब्राह्मणत्व के गुणों से युक्त थे" (३०. विश्वामित्रं च दायादं गाधिः कुशिक-नन्दनः। यम् प्राप ब्रह्म-समितं विश्वैर् ब्रह्म-गुणैर् युतम्)। जमदग्नि भयंकर परशुराम के पिता थे "जो विद्या में पारङ्गत, युद्धविद्या में पूर्ण प्रवीण, क्षत्रियों के विध्वंसक तथा स्वयं अग्नि के समान प्रतापी थे। महादेव को प्रसन्न कर उन्होंने अन्य अस्त्रों के साथ भीषण परशु प्राप्त किया" (३२. सर्व-विद्यान्त-गं श्रेष्ठं धनुर्-वेदस्य पारगम्। रामं क्षत्रियहन्तारम् प्रदीप्तम् इव पावकम्। तोषयित्वा महादेवम् पर्वते गन्धमादने। अस्त्राणि वरयामास परशुम् चातितेजसम्) जिससे उनका यह नाम पडा। हैहयों के राजा कृतवीर्य के पुत्र अर्जुन को भी यहाँ सहस्र बाहुओं के साथ उपस्थित किया गया है, किन्तु पिछले वर्णन के विपरीत उसे एक "धर्मपरायण तथा कर्त्तव्यनिष्ठ राजा बताया गया है, जिसने ब्राह्मणों को अपनी बाहुओं और अस्त्रों से जीती हुई सात द्वीपों और पर्वतोंसहित सम्पूर्ण पृथ्वी दान में दे दी थी" (३९ : चक्रवर्त्ती महातेजा विप्राणाम् अश्वमेधिके। ददौ स पृथिवीं सर्वं सप्त-द्वीपां स-पर्वताम्। स्वभाव-अस्त्र-बलेनाजौ जित्वा परम-धर्म-वित्)। अग्नि की प्रार्थना पर उन्होंने उस सर्वभक्षी देवता को नगरों, ग्रामों, वनों इत्यादि को भस्म कर देने की आज्ञा दे दी, और जब उस अग्निदाह में आपव (वसिष्ठ) का आश्रम नष्ट हो गया तो ऋषि ने अर्जुन को शाप दिया कि उसकी भुजाएँ परशुराम काट डालेंगे। कथा आगे इस प्रकार है :

१२. ४९. ४४ अर्जुनस् तु महातेजा बली नित्य शमात्मकः। ब्रह्मण्यश् च शरण्यश् दाता शूरश् च भारत। ४५. नाचिन्तयत् तदा शाप तेन दत्तम् महात्मना। तस्य पुत्रास् तु बलिनः शापेनासुर् पितुर् वधे। निमित्ताद् अवलिप्ता वै नृशसाश् चैव सर्वदा। जमदग्निधेनवश् ते वत्सम् आनिन्युर् भरतर्षभ। अज्ञात कार्त्तवीर्येण हैहयेन्द्रेण धीमता। तन्निमित्तम् अभूद् युद्ध जामदग्नेर् महात्मनः। ततोऽर्जुनस्य बाहुस् तान् छित्वा रामो रुषाऽन्वितः।·· ५१ ततः पितृ-वधामर्षाद् रामः परम-मन्युमान्। निःक्षत्रियाम प्रतिश्रुत्य मही शस्त्रम् अगृ-

हृत। ततः स भृगुशार्दूलः कार्त्तवीर्यस्य वीर्यवान्। विक्रम्य विजघा-
नाशु पुत्रान् पौत्रांश् च सर्वशः। स हैहय-सहस्राणि हत्वा परम-मन्यु-
मान्। चकार भार्गवो राजन् मही शोणितकर्दमाम्। स तथाऽऽशु
महातेजाः कृत्वा निःक्षत्रियाम् महीम्। ५५. कृपया परयाऽऽविष्टो
वनम् एव जगाम ह। ततो वर्षसहस्रेषु समतीतेषु केषुचित्। कोपम्
सम्प्राप्तवांस तत्र प्रकृत्या कोपनः प्रभुः। विश्वामित्रस्य पौत्रस् तु रैभ्य-
पुत्रो महातपाः। परावसुर् महाराज क्षिप्ताह (क्षिप्त्वाऽऽह ?) जन-
संसदि। "ये ते ययातिपतने यज्ञे सन्तः समागताः। प्रतर्दन-प्रभृतयो
राम किं क्षत्रियाः न ते। मिथ्या प्रतिज्ञो राम त्वं कथसे जन-संसदि।
भयात् क्षत्रिय-वीराणाम् पर्वतं समुपाश्रितः। सा पुनः क्षत्रिय-शतैः
पृथिवी सर्वतस् तृता।" ६०. परावसोर् वचः श्रुत्वा शस्त्रं जग्राह
भार्गवः। ततो ये क्षत्रियाः राजन् शतशस् तेन वर्जिताः। ते विवृद्धाः
महावीर्याः पृथिवीपतयोऽभवन्। स पुनस् तान् जघानाशु बालान्
अपि नराधिप। गर्भस्थैस् तु मही व्याप्ता पुनर् एवाभवत् तदा।
जातं जातं स गर्भं तु पुनर् एव जघान ह। अरक्षंस् तु सुतान् कांश्चित्
तदा क्षत्रिययोषितः। त्रिस्सप्त-कृत्वः पृथिवीम् कृत्वा निःक्षत्रियाम् प्रभुः।
दक्षिणाम् अश्वमेधान्ते कश्यपायाददात् तदा। स क्षत्रियाणां शेषार्थं
करेणोद्दिश्य कश्यपः। ६५. स्रुक-प्रग्रहवता राजस् ततो वाक्यम् अथा-
ब्रवीत्। "गच्छ तीरं समुद्रस्य दक्षिणस्य महामुने। न ते मद्-विषये
राम वस्तव्यम् इह कर्हिचित्।" ततः शूर्पारक देशं सागरस् तस्य
निर्ममे। सहसा जामदग्न्यस्य सोऽपरान्त-महीतलम्। कश्यपस् ताम्
महाराज प्रतिगृह्य वसुन्धराम्। कृत्वा ब्राह्मण-संस्थां वै प्रविष्टः सुमहा-
वनम्। ततः शूद्राश् च वैश्याश च यथा-स्वैर-प्रचारिणः। अवर्तन्त
द्विजाग्र्याणां, दारेषु भरतर्षभ। अराजके जीव-लोके दुर्बलाः बलवत्तरैः।
७०. पीड्यन्ते न हि वित्तेषु प्रभुत्वं कस्यचित् तदा। ततः कालेन
पृथिवी पीड्यमाना दुरात्मभिः। विपर्ययेण तेनाशु प्रविवेश रसातलम्।
अरक्ष्यमाणा विधिवत् क्षत्रियैर् धर्म-रक्षिभिः। तां दृष्ट्वा द्रवतीं तत्र
सन्त्रासात् स महामनाः। ऊरुणा धारयामास कश्यपः पृथिवीं ततः।
धृता तेनोरुणा येन तेनोर्वीति मही स्मृता। रक्षणार्थं समुद्दिश्य ययाचे
पृथिवी तदा। प्रसाद्य कश्यप देवी वरयामास भूमिपम्। पृथिव्य्
उवाच। ७५. "सन्ति ब्रह्मन् मया गुप्ताः स्त्रीषु क्षत्रिय-पुङ्गवाः।
हैहयानाम् कुले जातास् ते संरक्षन्तु माम् मुने। अस्ति पौरव-दायादो
विदूरथ-सुतः प्रभो। ऋक्षैः संवर्द्धितो विप्र ऋक्षवत्य् अथ पर्वते। तथाऽ-

नुकम्पमानेन यज्वनाऽप्य् अमितौजसा । पराशरेण दायादः सौदास-स्याभिरक्षितः । सर्व-कर्माणि कुरुते शूद्र-वत् तस्य स द्विजः । सर्व-कर्मेत्य् अभिख्यातः स माम् रक्षतु पार्थिवः । "८४. एते क्षत्रिय-दाया-दास् तत्र परिश्रिताः । मयूकार-हेम-कारादि-जातिं नित्यं समाश्रिता । ८५. यदि माम् अभिरक्षन्ति तदा स्थास्यामि निश्चला । एतेषाम् पितरश् चैव तथैव च पितामहा । मद्-अर्थं निहता युद्धे रामेणाक्लिष्ट-कर्मणा । तेषाम् अपचितिश् चैव मया कार्या महामुने । न ह्य् अह कामये नित्यम् अतिक्रान्तेन रक्षणम् । वर्त्तमानेन वर्त्तयं तद् क्षिप्र संवि-धीयताम् ।" ततः पृथिव्या निर्दिष्टास् तान् समानीय कश्यपः । अभ्यषि-ञ्चद् महीपालान् क्षत्रियान् वीर्यसम्मतान् ।

"विनीत, धर्मात्मा, दयालु और शान्तचित्तवाले वीर अर्जुन ने शाप का विचार नहीं किया, किन्तु उनके पुत्र, जो उद्धत और असुर स्वभाववाले थे, उनकी मृत्यु का कारण बने । पिता के अज्ञान में वे जमदग्नि का गोवत्स लेकर चल पड़े । फलतः परशुराम ने अर्जुन पर आक्रमण किया और उसकी बाहुओं को काट डाला ।" उसके पुत्रों ने जमदग्नि की हत्या करके बदला चुकाया । ५१. अपने पिता की हत्या पर क्रुद्ध होकर तथा क्षत्रियों का पृथ्वी पर समूल नाश कर देने की प्रतिज्ञा करके परशुराम ने शस्त्र उठाया और अर्जुन के सभी पुत्रों तथा पौत्रों की हत्या करके पृथ्वी को रक्त के कीचड़ से युक्त कर दिया । ५५. इस प्रकार पृथ्वी को क्षत्रियों से शून्य करके वे दया से द्रवीभूत हो उठे और वन में चले गये । जब कुछ सहस्र वर्ष बीत गये तो स्वभाव से क्रोधी उस वीर पर रैभ्य के पुत्र तथा विश्वा-मित्र के पौत्र परावसु ने एक सामूहिक सभा में इन शब्दों में व्यंग्य किया : 'क्या प्रतर्दन इत्यादि व्यक्ति, जो यज्ञ के अवसर पर ययाति के नगर में आए हैं, क्षत्रिय नहीं हैं ? तुम अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करने में असमर्थ रहे हो और इस सभा में व्यर्थ ही दम्भ दिखा रहे हो । तुम वीर क्षत्रियों के भय से पर्वत पर भाग गये हो, जब कि सभी ओर पृथ्वी पर क्षत्रियों के सैकड़ों वंश फैले हुए हैं ।' ये शब्द सुनकर राम ने शस्त्र ग्रहण किया । जिन सौ क्षत्रियों को उन्होंने पूर्वकाल में छोड़ दिया था वे इस समय शक्तिशाली राजा बन गये थे । उन्हें परशुराम ने बालकों सहित मार डाला और उस समय गर्भस्थ बालकों को भी उत्पन्न होते ही मौत के घाट उत्तार दिया । कुछ अपनी माताओं द्वारा बचा लिये गये । पृथ्वी को इक्कीस बार क्षत्रियों से शून्य बना कर राम ने अश्वमेध यज्ञ के अन्त में उसे कश्यप को दक्षिणा के रूप में प्रदान कर दिया । ६५. शेष क्षत्रियों के बचे रहने के लिए स्रुवा ग्रहण

किये गये हाथ से संकेत करते हुए उन्होंने परशुराम से कहा : 'हे महा-मुनि ! दक्षिण समुद्र के तट पर चले जाओ। तुम मेरी भूमि पर निवास मत करो।' सागर (समुद्र) ने उनके लिए पृथ्वी के छोर पर एक देश का निर्माण किया जो शूर्पारक कहलाया। पृथ्वी का राज्य प्राप्त कर कश्यप ने इसे ब्राह्मणों का निवास-स्थान बनाया और स्वयं वन को चले गये। तब शूद्र और वैश्य ब्राह्मणों की स्त्रियों के प्रति अनैतिक व्यवहार करने लगे, किसी प्रकार की राजसत्ता न होने से बलशाली व्यक्ति दुर्बलों को सताने लगे (७०) और कोई अपनी सम्पति का स्वामी नहीं रह गया। दुष्टों से पीड़ित होकर, इस अव्यवस्था के कारण तथा न्याय करने वाले क्षत्रियों के शासन से अरक्षित पृथ्वी पाताल को जाने लगी। भय से उसे इधर-उधर भटकते देखकर कश्यप ने जाँघ (ऊरु) पर रोका और इस कारण उसका 'उर्वी' नाम है।[२४०] पृथ्वी देवी ने तब कश्यप को प्रसन्न किया, उनसे रक्षा करने की प्रार्थना की और एक राजा माँगा। उसने कहा' 'मैंने अनेक स्त्रियों में क्षत्रियों को सुरक्षित रखा है, जो हैहय वंश मे उत्पन्न हुए है, वे मेरे रक्षक बनें। पौरवों का उत्तराधिकारी विदूरथ है जिसका पालन ऋक्षवत् पर्वत पर रीछों ने किया है। वह मेरी रक्षा करे। कोमल हृदय एवं तपस्वी पराशर ने सौदास के उत्तराधिकारी की भी रक्षा की है; और उन्होंने ब्राह्मण होते हुए भी एक शूद्र के समान उसके सभी कर्म किए, जिससे उनका नाम सर्व-कर्मन् है।' अन्य बचे हुए राजाओं को गिनाकर पृथ्वी आगे कहती है : 'ये सभी क्षत्रियों के वशज विभिन्न स्थानों पर धोकारों और स्वर्णकारों के घरों में सुरक्षित है। यदि वे मेरी रक्षा करते हैं तो मैं स्थिर बनी रहूँगी। मेरे कारण तेजस्वी राम ने उनके पिताओं और पितामहों की हत्या की थी। मेरा कर्त्तव्य है कि उनका हित करूँ। मै सदैव [कश्यप जैसे] असाधारण व्यक्ति से रक्षित होना नहीं चाहती अपितु मैं एक साधारण शासक से ही सन्तुष्ट रहूँगी। यह प्रार्थना शीघ्र पूरी करें।' कश्यप ने पृथ्वी द्वारा निर्दिष्ट इन क्षत्रियों को बुलवाया और उन्हें राजा बनाया।"

कश्यप को पृथ्वी का दान दिये जाने का यह उल्लेख एक अधिक पुरानी कथा में आता है, जो ऐतरेय और शतपथ दोनों ही ब्राह्मणों में पायी जाती है। ऐ० ब्रा० ८. २१ मे उक्त अंश इस प्रकार है. एतेन ह वै ऐन्द्रेण महाभिषेकेण कश्यपो विश्वकर्माणम् भौवनम् अभिषिषेच। तस्माद्

---

[२४०] "उर्वी" का अर्थ है "लम्बी चौडी" जो "पृथिवी" का पर्यायवाची शब्द है।

उ विश्वाकर्मा भौवनः समन्तं सर्वतः पृथिवीं जयन् परीयाय अश्वेन च मेध्येन ईजे। भूमिर् ह जगाव् इत्य् उदाहरन्ति "न मा मर्त्यः कश्चन दातुम् अर्हति विश्वकर्मन् भौवन मां दिदासिथ। निमङ्क्ष्येऽहं सलिलस्य मध्ये मोघस् ते एष कश्यपायास सङ्गरः" इति। "इस ऐन्द्र महाभिषेक से कश्यप ने विश्वकर्मन् भौवन का अभिषेक किया, जो पृथ्वी के चारों ओर विजय करता चला गया तथा जिसने अश्वमेध यज्ञ किया। कहते हैं कि तब पृथ्वी ने इस गाथा का गान किया :

"कोई मनुष्य मेरा दान न करे, किन्तु, हे राजा! तुम ऐसा करना चाहते हो। मैं पाताल लोक को चली जाऊँगी, तुम्हारा कश्यप को दान देना व्यर्थ है।"

शतपथ ब्राह्मण १३. ७, १, १५ में कहा गया है : तं ह कश्यपो याजयाञ्चकार। तद् अपि भूमिः श्लोक जगौ "न मा मर्त्यः कश्चन दातुम् अर्हति विश्वकर्मन् भौवन मन्दः आसिथ। उपमङ्क्ष्यति स्या सलिलस्य मध्ये मृषैष ते सङ्गरः कश्यपाय" इति। "कश्यप ने इस यज्ञ में ऋत्विज् का कार्य किया। इस कारण पृथ्वी ने यह श्लोक गाया. 'मुझे कोई मनुष्य दान में न दे; भौवन के पुत्र विश्वकर्मन् तुमने ऐसा करके मूर्खता की है। वह जल में डूब जायगी। कश्यप को देने की तुम्हारी प्रतिज्ञा व्यर्थ है।' "[२४३]

यह कथा भागवत पुराण में भी इसी प्रकार कही गई है। मैं यहा मुख्य बातों एवं पाठ भेदों को प्रस्तुत करता हूँ। जब गाधि की पुत्री को ऋषि ऋचीक ने पत्नी रूप में माँगा तो राजा ने सोचा कि वे उनके जैसे उच्चकुल की पुत्री के लिये योग्य पति नहीं है। उन्होंने कहा 'हमें चन्द्रमा जैसे श्वेत तथा कृष्ण वर्ण के एक कान वाले एक सहस्र अश्व कन्या के लिए विवाह धन रूप में दें, क्योंकि हम कुशिक हैं" (९. १५, ५ वरं विसदृशम् मत्वा गाधिर् भार्गवम् अब्रवीत्। ६. एकतः श्याम-कर्णानां हयानां चन्द्र-वर्चसाम्। सहस्र दीयतां शुल्कं कन्यायाः कुशिकाः वयम्)। उनके संयोग से कनिष्ठ पुत्र

[२४३] यह द्रष्टव्य है कि इन दोनो ब्राह्मणो मे दिये गये इस श्लोक मे कुछ पाठान्तर भी है। शत० ब्रा० का 'मन्द आशिथ' ऐतरेय के 'माम् दिदासिथ' का भ्रष्ट रूप प्रतीत होता है। आश्वमेधिक पर्व मे अर्जुन, परशुराम और क्षत्रियो की कथाएँ पुनः सक्षेप मे कही गई हैं किन्तु उनमे कोई रोचक बात नही है।

परशुराम हुये, जिन्हें वासुदेव (कृष्णावतार में विष्णु)[२४२] का अंश कहा गया है और जिन्होंने हैदय वंश का नाश किया। उन्होंने पृथ्वी से इक्कीस वार पतित, अधर्मी, रजोगुण और तमोगुण से युक्त क्षत्रियों को, जो पृथ्वी पर बोझ बने हुए थे, नष्ट किया। यद्यपि उन्होंने जो अपराध किया था वह अल्प था, तथापि उन्होंने उनका नाश कर दिया (५-१४. यम् आहुर् वासुदेवांशं हैहयानं कुलान्तकम्। त्रिस्सप्तकृत्वो यः इमां चक्रे निःक्षत्रियाम् महीम्। दुष्टं क्षत्रम् भुवो भारम् अब्रह्मण्यम् अनीनशत्। रजस्-तमोवृतम् अहन् फल्गुन्य् अपि कृतेऽहंसि)। अद्‌भुत शक्ति वाले राजा अर्जुन ने रावण को वन्दी बनाया और फिर उसे छोड़ दिया। बाद में उसने जमदग्नि की गाय और गोवत्स को बलपूर्वक खोल लिया. परशुराम ने प्रतिशोध लेने के लिए भयंकर युद्ध करके तथा अर्जुन की सेना को पराजित कर उसकी भुजाओं और सिर को काट दिया तथा गौ और गोवत्स पुन. प्राप्त किया। जब उनके पिता को राजा के मृत्यु की सूचना मिली तो उन्होंने परशुराम से कहा "राम-राम, तुमने पाप कर दिया, क्योंकि तुमने अकारण ही मनुष्यों के स्वामी राजा का वध कर दिया है जो सभी देवताओं का अंश होता है।[२४३] दीर्घकाल तक कष्ट उठाने के उपरान्त ही हम ब्राह्मणों ने सम्मान प्राप्त किया है, उसी मार्ग से हमने यह सम्मान प्राप्त किया है जिससे सभी लोकों के गुरु भगवान् ने देवताओं मे श्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया है। धैर्य के कारण ही ब्रह्मा की श्री सूर्य के तेज के समान प्रकाशित होती है। भगवान् हरि धैर्यवान् व्यक्तियों से शीघ्र प्रसन्न होते है। पहले अभिषिक्त राजा का वध ब्राह्मण के वध से भी अधिक पापपूर्ण होता है। जाओ और अच्युत (विष्णु) का ध्यान करते हुए तीर्थों में भ्रमण करो।" (९. १५, ३८. राम राम महाभाग भवान् पापम् अकारषीत्।[२४४]अबधीद् नर-देवं यत् सर्व-देवमयं वृथा। वयं हि ब्राह्मणास् तात क्षमयाऽर्हणतां गताः। यया लोक-गुरुर् देवः पारमेष्ठ्यम् अयात् पदम्। क्षमया रोचते लक्ष्मीर् ब्राह्मी सौरी यथा प्रभा। क्षमिणाम् आशु भगवास् तुष्यते हरिर् ईश्वरः। राज्ञो मूर्धाभिषिक्तस्य वधो ब्रह्मवधाद्

---

[२४२] देखिए ऊपर पृ० ३९५ तथा टिप्पणी १४६। महाभारत से जिन अशो को मैंने उद्धृत किया है उनमे कोई भी परशुराम के विष्णु का अवतार होने का उल्लेख नहीं करता।

[२४३] ऊपर पृ० ३३९ मे विष्णुपुराण और मनु से उद्धृत अशो के साथ तुलना कीजिए।

[२४४] देखिए वम्बई संस्करण। वरनफ के पाठ मे सामान्य रूप 'अकार्षीत' है।

गुरुः। तीर्थ-संसेवया चांहो जह्य् अङ्गाच्युत-चेतन.)। इस तीर्थयात्रा से लौटने पर राम को उनके पिता ने माता का वध करने को कहा (जिसका कारण ऊपर पृ० ५०४ पर महाभारत से उद्धृत कथा के अनुसार ही है) तथा भाइयों का भी वध करने को कहा। उन्होंने आज्ञा का पालन किया, किन्तु उनकी प्रार्थना से उन सबको पुन जीवन प्राप्त हुआ। जब वे वन में थे तो उनके पिता जमदग्नि को अर्जुन के पुत्रों ने अपने पिता के नाश के प्रतीकार स्वरूप मार डाला और उनका सिर काट डाला यद्यपि उनकी पत्नी ने बहुत अनुनय की। माता का रुदन सुनकर परशुराम शीघ्र ही आश्रम में लौटे और परशु लेकर इस नाश का प्रतिशोध लेने चल पड़े. ९. १६, १७. गत्वा माहिष्मतीं रामो ब्रह्म-घ्न-विहत-श्रियम्। तेषां स शीर्षभिः राजन् मध्ये चक्रे महागिरिम्। १८. तद्-रक्तेन नदीं घोराम् अब्रह्मण्य-भयावहाम्। हेतुं कृत्वा पितृ-वधं क्षत्रेऽमङ्गल-कारिणि। ·· ··२०. पितुः कायेन सन्धाय शिर आदाय बर्हिषि। सर्व-देवमयं देवम् आत्मानम् अयजन् मखैः। २१. ददौ प्राचीं दिशं होत्रे ब्रह्मणे दक्षिणां दिशम्। अध्वर्यवे प्रतीचीं वै उद्गात्रे उत्तरां दिशम्। २२. अन्येभ्योऽवान्तर-दिशः कश्यपाय च मध्यतः। आर्यावर्त्तम् उपद्रष्ट्रे सदस्येभ्यस् ततः परम्। २३. ततश् चावभृथ-स्नान-विधूताशेष-किल्बिषः। सरस्वत्यम् ब्रह्मनद्यां रेजे व्यभ्र इवांशुमान्। ···२६. आस्तेऽद्यापि महेन्द्राद्रौ न्यस्त-दण्डः प्रशान्तधीः। उपगीयमान चरितः सिद्ध-गन्धर्व-चारणैः। २७. एवम् भृगुषु विश्वात्मा भगवान् हरिर् ईश्वरः। अवतीर्य परम् भारम् भुवोऽहन् बहुशो नृपान्।" १७ वे महिष्मती नगर में पहुँचे जो उन ब्रह्महत्या करने वालों द्वारा श्रीहीन कर दिया गया और जिसके बीच उन्होंने उनके सिरों का विशाल पर्वत बना दिया। उनके रुधिर से उन्होंने भयकर नदी बहा दी जिससे पापियों में भय उत्पन्न हो गया। अपने पिता के वध के कारण उन्होंने अत्याचारी क्षत्रियों के प्रति इस कर्म को उचित समझा ..२० तब उन्होंने अपने पिता के शीश को शरीर से जोड़ा। उसे बर्हि घास पर रखकर सर्व देवमय आत्मा का यज्ञ किया। इस अवसर पर उन्होंने पूर्व दिशा होतृ ऋत्विज को, दक्षिण ब्रह्मन् को, पश्चिम अध्वर्यु को और उत्तर दिशा उद्गातृ को दिया। दूसरों को मध्यवर्ती दिशाएँ (दक्षिण-पूर्व, दक्षिणपश्चिम, इत्यादि) प्रदान कीं। कश्यप को मध्य का भाग दिया; उपद्रष्टृ को आर्यावर्त्त तथा साध्यों को उसके बाहर का भाग प्रदान किया। तब ब्रह्मा की नदी सरस्वती से अवभृथ स्नान कर वे सभी पापों से शुद्ध हो गये और मेघ से अनावृत्त सूर्य के समान चमकने लगे।...२६: अपने अस्त्रों

का परित्याग करके वे आज भी महेन्द्र पर्वत पर शान्त चित्त होकर बैठे हुए हैं, और सिद्ध, गन्धर्व तथा चारण उनके कर्मों का गान करते हैं। इस प्रकार विश्वात्मा, भगवान् हरि भृगुओं में अवतरित हुए और उन असंख्य राजाओं का नाश किया, जो पृथ्वी के लिए भार बने हुए थे।" यह विचित्र बात है कि इस कथा में परशुराम पर ऐसे पाप का दोषारोपण किया गया है, जिसके लिये प्रायश्चित्त की आवश्यकता है, जब कि उसी स्थल पर उन्हें परमात्मा विष्णु का अंश बताया गया है।

महाभारत के द्रोणपर्व ७०, १ आदि में इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए कि अत्यन्त धर्मात्मा और श्रेष्ठ व्यक्तियों को भी मृत्यु कभी-न-कभी वश में कर लेती है, अनेक राजाओं और योद्धाओं की कथा कहने के उपरान्त परशुराम की कथा कही गई है। पहले की घटनाएँ संक्षेप में वर्णित हैं; किन्तु क्षत्रियों के वध जैसी छोटी बात को अन्य कथाओं की अपेक्षा अधिक विस्तार से वर्णित किया गया है। नायक के क्रोध-भाजनों में कुछ को "ब्राह्मण-द्रोही" ('ब्रह्म-द्विषाम्' ७०, ५) कहा गया है। जिन क्षत्रियों का वध हुआ था उन्हें विभिन्न प्रदेशों का बताया गया है, यथा—काश्मीर, दरद, कुन्ति, क्षुद्रक, मालव, अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, विदेह, ताम्रलिप्तक, रक्षोवाह, वीतिहोत्र, त्रिगर्त, मार्तिकावत, शिवि, तथा अन्य राजन्य ('शिवीन् अन्यांश् च राजन्यान्' ७०, १३)। ७०, १९ से कथा इस प्रकार चलती है: निर्दस्युम् पृथिवीं कृत्वा शिष्टेष्ट-जन-सङ्कुलाम्। कश्यपाय ददौ रामो हय-मेधे महामखे। त्रिसप्त-वारान पृथिवीम् कृत्वा निःक्षत्रियाम् प्रभुः। इष्ट्वा क्रतु-शतैर वीरो ब्राह्मणेभ्यो ह्य् अमन्यत। सप्त-द्वीपां वसुमतीम् मारीचोऽगृह्णत द्विजः। रामम् प्रोवाच "निर्गच्छ वसुधातो ममाज्ञया। स कश्यपस्य वचनात् प्रोत्सार्य सरिताम्पतिम्। इषुपातैर् युधां श्रेष्ठः कुर्वन् ब्राह्मण-शासनम्। अध्यावसद् गिरि-श्रेष्ठम् महेन्द्रम् पर्वतोत्तमम्। "७. ७०, १९. 'दस्युओं से पृथ्वी को मुक्त करके और उसे शिष्ट तथा सभ्य जनों से पूर्ण बनाकर उन्होंने अश्वमेध के अवसर पर उसे कश्यप को दान में दिया। इक्कीस बार पृथ्वी को क्षत्रियों से शून्य बनाकर तथा सैकड़ों यज्ञ करके उन्होंने पृथ्वी ब्राह्मणों के शासन में कर दी। मरीचि के पुत्र ब्राह्मण ने (अर्थात् कश्यप) ने पृथ्वी का दान लिया और राम से कहा, 'मेरी आज्ञा से पृथ्वी छोड़कर चले जाओ।' अपने बाणों से समुद्र को हटाकर तथा ब्राह्मणों का राज्य स्थापित करके राम ने महेन्द्र पर्वत पर निवास किया।"

उसी काव्य के अनुशासनपर्व में परशुराम के विषय में दूसरी प्राचीन

कथा है, जो भागवत पुराण से पहले उद्धृत किये गये अंश के समान ही इस योद्धा के रक्तपात से उत्पन्न पाप का वर्णन करती है। यह इस प्रकार प्रारम्भ होती है: जामदग्न्येन रामेण तीव्र-रोषान्वितेन वै। त्रिस्सप्त-कृत्वः पृथिवी कृता निःक्षत्रिया पुरा। ततो जित्वा महीं कृत्स्नां रामो राजीव-लोचनः। आजहार क्रतुवीरो ब्रह्म-क्षत्रेण पूजितम्। वाजि-मेधम् महाराजा सर्व-काम-समन्वितम्। पावनं सर्व-भूताना तेजो-द्युति-विवर्द्धनम्। विपाप्मा स च तेजस्वी तेन क्रतु-फलेन च। नैवात्मनोऽथ लघुतां जामदग्न्योऽभ्यगच्छत। स तु क्रतु-वरेणेष्ट्वा महात्मा दक्षिणावता। ३५. पप्रच्छागम सम्पन्नान् ऋषीन् देवांश् च भार्गवः। "पावनं यत् परम् नृणाम् उग्रे कर्मणि वर्त्तताम्। तद् उच्यताम् महाभागा." इति जात-घृणोऽब्रवीत्। इत्य् उक्ता. वेदशास्त्र-ज्ञास् तम् ऊचुस् ते महर्षयः। 'राम विप्राः सत्क्रियन्तां वेद-प्रामाण्य-दर्शनात्। भूयश्च विप्रर्षि-गणाः प्रष्टव्याः पावनम् प्रति। ते यद् ब्रूयुर् महाप्राज्ञास् तच् चैव समुदाचर।"१३. ८४, ३०: जमदग्नि के पुत्र राम ने इक्कीस बार पृथिवी से क्षत्रियों को समाप्त करके तथा सम्पूर्ण लोक को जीत कर अश्वमेध यज्ञ किया, जिसकी प्रशंसा ब्राह्मण और क्षत्रिय करते हैं, जो सभी कामनाएँ पूर्ण करता है, सभी प्राणियों की शुद्धि करता है, और शक्ति तथा तेज की वृद्धि करता है, और उसके द्वारा वे निष्पाप और तेजवान् हो गये। उन्होंने फिर भी चित्त में शान्ति का अनुभव नहीं किया, किन्तु श्रेष्ठ यज्ञ करके जिसमें उन्होंने दक्षिणा प्रदान की, उन्होंने (३५) शास्त्रों में पारङ्गत ऋषियों तथा देवताओं से प्रश्न किया कि वह कौन सा कर्म है जो हिंसा कर्म करने वालों को पूर्णतः शुद्ध करता है; क्योंकि उन्हें अपने कर्म पर सन्ताप हो रहा था। वेद और शास्त्रों में पारङ्गत ऋषियों ने उत्तर दिये, 'ब्राह्मणों को दान दीजिए जैसा कि वेद में आज्ञा दी गई है, प्रायश्चित्त के उपायों के विषय में ब्रह्मर्षियों से परामर्श लो और ये विद्वान् व्यक्ति जैसा कहते हैं वैसा ही आचरण करो।' परशुराम ने वसिष्ठ, अगस्त्य और कश्यप से परामर्श लिया। उन्होंने उत्तर दिया कि एक पापी, गौ, भूमि तथा अन्य वस्तुओं के दान से पाप मुक्त हो सकता है और विशेषत स्वर्णदान से, जिसकी पाप-शुद्धि की शक्ति महान् हैं, पाप दूर होते हैं। "जो इसका दान करते हैं वे देवों का दान करते हैं"। इस कथन को इस प्रकार संक्षेप में सिद्ध किया गया है: "इसका कारण यह है कि अग्नि के अन्तर्गत सभी देवता निहित हैं, और स्वर्ण अग्नि का तत्व है।" (१३. ८४, ५६. देवतास् ते प्रयच्छन्ति ये सुवर्णं ददत्य् अथ। अग्निर् हि देवताः सर्वा. सुवर्णं च तदात्मकम्)। इस बहुमूल्य धातु की उत्पत्ति के विषय में वसिष्ठ एक लम्बी

कहानी कहते हैं जिसे उन्होंने प्रजापति से सुनी थी। कथा में बताया गया है कि किस प्रकार इसे अग्नि ने गङ्गा से उत्पन्न किया, जिसने अग्नि से गर्भ धारण किया था, और इस प्रकार स्वर्ण उस देवता का पुत्र है। "इस प्रकार स्वर्ण जातवेदस् (अग्नि) का पुत्र है। जो जम्बूनद में उत्पन्न होता है वह श्रेष्ठ स्वर्ण होता है और देवताओं के भी आभूषण के योग्य होता है। इसे रत्नों और आभूषणों में प्रमुख कहा जाता है। यह सभी शुद्ध वस्तुओं में शुद्ध तथा सभी शुभसूचक वस्तुओं में श्रेष्ठ होता है। यह भगवान् प्रजापति अग्नि का ही रूप है।" (१३. ८५, ८३ एवं सुवर्णम् उत्पन्नम् अपत्यं जातवेदसः। तत्र जाम्बूनदं श्रेष्ठं देवानाम् अपि भूषणम्। ८४. रत्नानाम् उत्तम रत्नम् भूषणानां तथोत्तमम्। पवित्र च पवित्राणाम् मङ्गलानां च मङ्गलम्। यत् सुवर्णं स भगवान अग्निर् ईशः प्रजापतिः। उन लोगों के लिये जो ब्राह्मणों को दान देते है, यह ज्ञान प्राप्त करना नितान्त सन्तोषदायक सिद्ध होगा कि जिस स्वर्ण का वे दान करते हैं उसका इतना रहस्यमय मूल्य है और मुद्रा-विनिमय का मूल्य तो है ही। कथा के अन्त में कहा गया है "वसिष्ठ के इन वचनों को सुनकर परशुराम ने ब्राह्मणों को स्वर्ण दिया और पाप से मुक्त हुए" (१३. ८५, ६६. इत्य् उक्तः स वशिष्ठेन जामदग्न्य. प्रतापवान्। ददौ सुवर्णं विप्रेभ्यो व्यमुच्यत च किल्विपात्।)

यह उल्लेखनीय है कि किस प्रकार भारतीय धर्म और भावना के विभिन्न विशिष्ट तत्त्व एक-एक कर सम्मुख आते हैं और इस प्रकार कभी-कभी परस्पर विरोधाभास उपस्थित करते है, जैसे परशुराम की कथा में। निःसन्देह इस कथा का मौलिक ध्येय उस प्रत्युपकार का उदाहरण प्रस्तुत करना है, जो ब्राह्मणीय महत्ता तथा उसके रक्षक रूप में आचरण करनेवालों के पुण्य चरित्र पर आघात करनेवालों को अनिवार्यतः भोगना पड़ता है। ज्योंही यह ध्येय पूरा हो जाता है, और पृथ्वी से ब्राह्मणों के विधर्मी शत्रु समाप्त हो जाते हैं, त्योंही भावना में वैराग्य उत्पन्न होता है, जीवन की पवित्रता तथा दया की कल्याण-कारिता के उच्च सिद्धान्त सम्मुख आते है और मान्य हो जाते हैं, रक्तपात के पाप का गम्भीर सन्ताप प्रायश्चित से टूटने लगता है। जैसा कि हम देख चुके हैं, भागवत में जमदग्नि ब्राह्मणों के वध का बदला लेने वाले को इस बात का अपराधी बताते है कि उसने एक राजा का वध किया है, और वे यह भी घोषणा करते है कि ऐसा करके उसने ब्राह्मण-हत्या से भी बड़ा पाप किया है।

महाभारत के उसी पर्व (१३. १५१, २ आदि) में ब्राह्मणों की महत्ता तथा शक्तियों का एक अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन दिया गया है; और श्लोक १५१, १९ में

पुनः अर्जुन को उनकी श्रेष्ठता का विरोध करते हुए दिखाया गया है परन्तु अन्त में वह उनकी दुर्लभ महत्ता स्वीकार कर लेता है। "सहस्र भुजाओं वाला प्रतापी और वीर कार्त्तवीर्य (अर्जुन) सम्पूर्ण लोक का स्वामी था और माहिष्मती में निवास करता था। यह अद्वितीय शक्ति वाला हैहय समुद्र से घिरी हुई, तथा समुद्रों और द्वीपों सहित सम्पूर्ण पृथ्वी पर शासन करता था" (१३. १५२, ३ सहस्र-भुज-भृत श्रीमान् कार्त्तवीर्योऽभवत् प्रभु। अस्य लोकस्य सर्वस्य माहिष्मत्याम् महाबलः। स तु रत्नाकरवती सद्वीपां सागराम्बराम्। शशास पृथिवीं सर्वां हैहयः सत्य-विक्रमः)। उसने मुनि दत्तात्रेय से यह वर प्राप्त किया कि जब कभी युद्ध करने निकलेगा उसकी सहस्र भुजायें हो जायँगी, सम्पूर्ण पृथ्वी को जीतने की शक्ति हो जायगी। साथ ही उसे वचन मिला कि वह जब कभी अनुचित मार्ग पर जायगा तो धर्मात्मा पुरुषों का निर्देश उसे प्राप्त होता रहेगा। (१५२,१२ ततः स रथम् आस्थाय ज्वलनार्क समद्युतिम्। अब्रवीद् वीर्य्यसम्मोहात् "कोन्व् अस्ति सदृशो मम। धैर्य्ये वीर्य्ये यशः-शौर्य्ये विक्रमेणौजसाऽपि वा"। तद्-वाक्यान्तेऽन्तरीक्षे वै वाग् उवाचाशरीरिणी। "न त्वम् मूढ विजानीषे ब्राह्मणं क्षत्रियाद् वरम्। सहितो ब्राह्मणेनेह क्षत्रियः शास्ति वै प्रजाः।" अर्जुन उवाच। कुर्याम् भूतानि तुष्टोऽहं क्रुद्धो नाशं तथा नये। कर्मणा मनसा वाचा न मत्तोऽस्ति वरो द्विजः। १६. पूर्वो ब्रह्मोत्तरो वादो द्वितीयः क्षत्रियोत्तरः। त्वयोक्तौ हेतु-युक्तौ तौ विशेषस् तत्र दृश्यते। ब्राह्मणाः संश्रिताः क्षत्रं न क्षत्रम् ब्राह्मणाश्रितम्। श्रिता ब्रह्मोपधाः विप्राः खादन्ति क्षत्रियान् भुवि। क्षत्रियेष्व् आश्रितो धर्मः प्रजानाम् परिपालनम्। क्षत्राद् वृत्तिर् ब्राह्मणानां तैः कथम् ब्राह्मणो वरः। सर्व-भूप्रधानांस् तान् भैक्ष-वृत्तीन् अहं सदा। आत्म-सम्भावितान् विप्रान् स्थापयाम्य् आत्मनो वशे। कथितं ह्य् अनया सत्यम् गायत्र्या कन्यया दिवि। विजेष्याम्य् अवशान् सर्वान् ब्राह्मणाश् चर्म-वाससः। २१. न च मा च्यावयेद् राष्ट्रात् त्रिषु लोकेषु कश्चन। देवो वा मानुषो वाऽपि तस्माज् ज्येष्ठो द्विजाद् अहम्। अथ ब्रह्मोत्तरं लोकं करिष्ये क्षत्रियोत्तरम्। न हि मे संयुगे कश्चित् सोढुम् उत्सहते बलम्। अर्जुनस्य वचः श्रुत्वा वित्रस्ताऽभूद् निशाचरी। अथैनम् अन्तरिक्षस्थस् ततो वायुर् अभाषत। "त्यजैनं कलुषम् भावम् ब्राह्मणेभ्यो नमस्कुरु। एतेषां कुर्वतः पापं राष्ट्र-क्षोभो भविष्यति। अथ वा त्वाम् महीपाल शमयिष्यन्ति वै द्विजाः। निरसिष्यन्ति ते राष्ट्राद् हतोत्साहम् महाबलाः"। २६. तं राजा "कस् त्वम्" इत्य् आह ततस् तम् प्राह मारुतः। "वायुर् वै देव-दूतोऽस्मि हितं त्वाम् प्रब्रवीम्य् अहम्"।

अर्जुनः उवाच। "अहो त्वयाऽद्य विप्रेषु भक्तिरागः प्रदर्शितः। यादृशम् पृथिवी-भूतं तादृशम् ब्रूहि वै द्विजम्। वायोर् वा सदृशम् किञ्चिद् ब्रूहि त्वम् ब्राह्मणोत्तमम्। अपां वै सदृशो वह्निः सूर्य्यस्य नभसोऽपि वा। "तव सूर्य के समान चमकने वाले अपने रथ पर चढ़कर अपने बल के अभिमान में मत्त होकर उसने कहा, 'धैर्य, साहस, यश, वीरता, तेज और शक्ति में मेरे समान कौन है ?' इस वचन के अन्त में आकाश से 'यह वाणी सुनाई पड़ी 'मूर्ख ! तू नहीं जानता कि एक ब्राह्मण क्षत्रिय से श्रेष्ठ होता है। ब्राह्मण की सहायता से ही क्षत्रिय अपनी प्रजा पर राज्य करता है।' अर्जुन ने उत्तर दिया 'यदि मै चाहूँ तो जीवों की सृष्टि करूँ यदि अप्रसन्न होऊँ तो उनका नाश कर दूँ, कोई भी ब्राह्मण कर्म, विचार और वाणी में मुझसे बढ़कर नहीं है। प्रथम पक्ष यह है कि ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं, दूसरा पक्ष यह है कि क्षत्रिय श्रेष्ठ है, इन दोनों को तुमने तर्क के साथ उपस्थित किया है, किन्तु उनमें (बल की दृष्टि से) अन्तर है। ब्राह्मण क्षत्रियों पर निर्भर रहते हैं किन्तु क्षत्रिय ब्राह्मण पर निर्भर नहीं होते; ब्राह्मण क्षत्रियों का अन्न खाते हैं और उनकी सेवा करते हैं और वेदों को तो केवल खाने कमाने का बहाना बनाये रहते है। धर्म और जनरक्षा क्षत्रियों में निहित होते है। ब्राह्मण उन्हीं से अपनी जीविका प्राप्त करते है; ब्राह्मण श्रेष्ठ कैसे हो सकते है ? मै सदैव सभी जीवों में प्रमुख ब्राह्मणों को वश में रखता हूँ जो भिक्षाटन पर जीवन व्यतीत करते है और स्वयं को महान् समझते है। आकाश में रहने वाली गायत्री ने सत्य वचन कहा है। मै उन सभी छद्मवेशी ब्राह्मणों को कुचल दूँगा। १६. तीनों लोकों मे देवता या मनुष्य कोई भी मुझे राजपद से च्युत नही कर सकता; अतएव मै किसी भी ब्राह्मण से श्रेष्ठ हूँ। मै उस लोक को जिसमें ब्राह्मण श्रेष्ठ बने हुए है, ऐसे लोक में बदल दूँगा जिसमें क्षत्रियों का प्राधान्य रहेगा; क्योंकि कोई भी व्यक्ति युद्ध में मेरे बल के सामने नहीं टिक सकता।' अर्जुन के इस वचन को सुनकर रात्रि में विचरण करने वाली निशाचर भयभीत हो गये। तब वायु ने अर्जुन से कहा : 'यह पापपूर्ण विचार त्याग दो और ब्राह्मणों की पूजा करो। यदि उन पर अत्याचार करते हो तो तुम्हारा राज्य नष्ट हो जायगा। वे तुम्हें परास्त कर देंगे : वे शक्तिशाली पुरुष तुम्हें दरिद्र बनाकर देश से बहिष्कृत करेंगे।' राजा उनसे पूछता है, "तुम कौन हो ?' वायु उत्तर देते है : 'मै देवताओं का दूत वायु हूँ, तुमसे तुम्हारे हित की बात कह रहा हूँ।' अर्जुन कहता है 'अरे ! आज तुम ब्राह्मणों के प्रति महान् भक्ति का प्रदर्शन कर रहे हो ! कहो कि पृथिवी के समान क्षमाशील भी कोई ब्राह्मण है या यह बताओ कि अग्नि, जल, सूर्य, वायु

या आकाश के समान ही कोई श्रेष्ठ ब्राह्मण है'।[२४५] वायु कुछ कुपित होकर ऐसे उदाहरणों को उद्धृत करते हुए उत्तर देते हैं जिनमें ब्राह्मण की श्रेष्ठता या उग्र शक्ति का उल्लेख है। १३. १५३, २ त्यक्त्वा महीत्वम् भूमिस् तु स्पर्धयाऽङ्ग-नृपस्य ह। नाशं जगाम तां विप्रो व्यष्टम्भयत काश्यपः। "राजा अङ्ग के अत्याचार से पृथ्वी ने अपना रूप त्याग दिया और नष्ट हो गई थी; किन्तु ब्राह्मण कश्यप ने उसकी रक्षा की।" इसका विस्तार के साथ आगे वर्णन किया गया है। १३ १५४, १ : इमाम् भूमि द्विजातिभ्यो दित्सुर् वै दक्षिणाम् पुरा। अङ्गो नाम नृपो राजंस् ततश् चिन्ताम् मही ययौ। "धारणी सर्व-भूतानाम् अयम् प्राप्य वरो नृपः। कथम् इच्छति मां दातुं द्विजेभ्यो ब्रह्मणः सुताम्। साऽहं त्यक्त्वा गमिष्यामि भूमित्वम् ब्रह्मणः पदम्। अयं स-राष्ट्रो नृपतिर्मा भूद्" इति ततोऽगमत्। ४. ततस् ताम् कश्यपो दृष्ट्वा व्रजन्तीम् पृथिवीं तदा। प्रविवेश महीं सद्यो मुक्त्वाऽऽत्मानं समाहितः। ऋद्धा सा सर्वतो जज्ञे तृणौषधि-समन्विता।......७. अथागम्य महाराज नमस्कृत्य – कश्यपम्। पृथिवी काश्यपी जज्ञे सुता तस्य महात्मनः। एष राजन् ईदृशो वै ब्राह्मणः कश्यपोऽभवत्। अन्यम् प्रब्रूहि वा त्वं च कश्यपात् क्षत्रियं वरम्। "राजा अङ्ग ने इस पृथिवी को ब्राह्मण को यज्ञ की दक्षिणा-रूप में देने का विचार किया। तब पृथ्वी ने विचार किया 'मुझ ब्रह्मा की पुत्री तथा सम्पूर्ण जीवों को धारण करनेवाली को प्राप्त कर यह राजा ब्राह्मणों को क्यों देना चाहता है? मैं अपना भौतिक स्वरूप त्याग दूँगी और ब्रह्मा के लोक को चली जाऊँगी। यह राजा बिना किसी राज्य के रहे।' यह कहकर वह चली गई। ४. उसे जाते हुए देखकर कश्यप विचार में डूब गये, उन्होंने उसमें प्रवेश किया और अपना शरीर त्याग दिया। वह सभी ओर समृद्ध और तृणों एवं ओषधियों से युक्त हो गई।......७. वह लौट आई और उसने कश्यप को प्रणाम किया तथा उनकी पुत्री बन गई। इस प्रकार के ब्राह्मण कश्यप थे, तुम किसी ऐसे क्षत्रिय को बताओ जो उनसे बढ़कर हुआ हो।"

ब्राह्मणों की उग्र शक्ति के अन्य उदाहरण इस प्रकार हैं :—

१३.१५३,४. अपिबत् तेजसा ह्य् आपः स्वयम् एवाङ्गिरा. पुरा। स ताः पिबन् क्षीरम् इव नातृप्यत महामनाः। अपूरयद् महौघेन महीं सर्वां च पार्थिव। तस्मिन्न् अहं च क्रुद्धे वै जगत् त्यक्त्वा ततो गतः। व्यतिष्ठम्

---

[२४५] अन्तिम पंक्ति का भाव अधिक स्पष्ट नहीं है, जब तक कि इसे आगे आने वाली पंक्ति २२५ का पहले ही दिया गया उत्तर न मान लिया जाय।

अग्निहोत्रे च चिरम् अङ्गिरसो भयात्। अथ शप्तश् च भगवान् गौतमेन पुरन्दरः। अहल्यां कामयानो वै धर्मार्थं च न हिंसितः। यथा समुद्रो नृपते पूर्णो मृष्टश् च वारिणा। ब्राह्मणैर् अभिशप्तः सन् बभूव लवणोदकः।···११. दण्डकानाम् महद् राज्यम् ब्राह्मणेन विनाशितम्। तालजङ्घम् महाक्षत्रम् और्वेणैकेन नाशितम्।·····१३. अग्नि त्व यजसे नित्य कस्माद् ब्राह्मणम् अर्जुन। स हि सर्वस्य लोकस्य हव्यवाट् किं न वेत्सि तम्। १५४, १०. भद्रा सोमस्य दुहिता रूपेण परमा मता। यस्यास् तुल्यम् पति सोमः उतथ्य समपश्यत्। सा च तीव्र तपस् तेपे महाभागा यशस्विनी। उतथ्यार्थे नु चार्वाङ्गी पर नियमम् आस्थिता। ततः आहूय सोतथ्य ददाव् अत्रिर् यशस्विनीम्। भार्य्यार्थे स तु जग्राह विधिवद् भूरि-दक्षिणः। ता त्व् अकामयत श्रीमान् वरुणः पूर्वम् एव ह। स चागम्य वनप्रस्थ यमुनाया जहार ताम्। १४. जलेश्वरस् तु हृत्वा ताम् अनयत् स्वपुरम् प्रति। परमाद्भुतसङ्काशम् पट्-सहस्र-शत ह्रदम्। न हि रम्यन्तरं किञ्चित् तस्माद् अन्यत् पुरोत्तमम्। प्रासादैर् अप्सरोभिश् च दिव्यैः कामैश् च शोभितम्। तत्र देवस् तया सार्द्धं रेमे राजन् जलेश्वरः। अथाख्यातम् उतथ्याय तत. पत्न्य-अवमर्दनम्। तच् छ्रुत्वा नारदात् सर्वम् उतथ्यो नारद तदा। प्रोवाच "गच्छ ब्रूहि त्वं वरुणम् परुष वचः। मद्वाक्याद् मुञ्च मे भार्य्याम् कस्मात् तां हृतवान् असि। लोकपालोऽसि लोकाना न लोकस्य विलुम्पकः। सोमेन दत्ता मे भार्य्या त्वया चापहृताऽद्य वै।"···२०. इति श्रुत्वा वचस् तस्य ततस् त वरुणोऽब्रवीत्। "ममैपा सुप्रिया भीरुर् नैनाम् उत्स्रष्टुम् उत्सहे।" इत्य् उक्तो वरुणेनाथ नारदः प्राप्य वै मुनिम्। उतथ्यम् अब्रवीद् वाक्यं नातिहृष्ट-मनाः इव। "गले गृहीत्वा क्षिप्तोऽस्मि वरुणेन महामुने। न प्रयच्छति ते भार्य्यां यत् ते कार्यं कुरुष्व इति।" नारदस्य वचः श्रुत्वा क्रुद्धः प्राज्वलद् अङ्गिरा.। २३. अपिबत् तेजसा वारि विष्टभ्य स महातपाः। पीयमाने तु सर्वस्मिस् तोये वै सलिलेश्वर.। सुहृद्भि' क्षोभ्यमाणो वै नैवामुञ्चत ता तदा। ततः क्रुद्धोऽब्रवीद् भूमिम् उतथ्या ब्राह्मणोतमाः। दर्शयस्व छलम् भद्रे षट्-सहस्र-शत ह्रदम्। ततस् तद् ईरिण जात समुद्रश् चावसर्पितः। तस्माद् देशान् नदीं चैव प्रवाचासो द्विजोत्तमः। "अदृश्या गच्छ भीरुत्वं सरस्वति मरून् प्रति। अपुण्यः एष भवतु देशस् त्यक्तस् त्वया शुभे।" तस्मिन् संशोषिते देशे भद्राम् आदाय वारिप'। २८. अददात् शरणं गत्वा भार्य्याम् आङ्गिरसाय वै। प्रतिगृह्य तु ताम् भार्य्याम् उतथ्यः सुमनाऽभवत्। मुमोच च जगद् दुःखाद् वरुणं चैव

हैहय।...३१. ममैषा तपसा प्राप्ता कोशतस् ते जलाधिप। ३२....एष राजन् ईदृशो वै उतथ्यो ब्राह्मणोत्तमः। ब्रवीम्य् अहम् ब्रूहि वा त्वम् उतथ्यात् क्षत्रियम् वरम्।

"पूर्वकाल में अङ्गिरस् ने अपनी शक्ति से जल पिया। दूध के समान जल पीकर भी वे सन्तुष्ट नहीं हुए, और उन्होंने सम्पूर्ण पृथ्वी को आप्लावित कर दिया। जब वे इस प्रकार क्रुद्ध थे तो मैंने पृथ्वी छोड़ दी और चल पड़ी और दीर्घकाल तक अग्निहोत्र में निवास किया। भगवान् पुरन्दर (इन्द्र) को, जो अहल्या पर अनुरक्त थे (उसके पति) गौतम ने शाप दे दिया, किन्तु धर्म के कारण उन्हें आघात नहीं पहुंचा।[२८६] समुद्र, जो जल से पूर्ण और शुद्ध है, ब्राह्मणों के शाप से लवण युक्त हो गया। ११. दण्डकों का विशाल राज्य ब्राह्मणों ने नष्ट कर दिया। तालजङ्घों के विशाल क्षत्रिय-कुल का नाश अकेले और्व ने कर दिया। १२. हे अर्जुन! तुम अग्नि की पूजा क्यों करते हो जो ब्राह्मण है? क्या तुम नहीं जानते कि सम्पूर्ण लोक का हवि वहन करता है?" इसके उपरान्त अङ्गिरस वंश के उतथ्य की कथा कही गई है: "भद्रा सोम की पुत्री थी और अत्यन्त सुन्दरी मानी जाती थी। सोम ने उतथ्य को उसके

---

[२८६] देखिए ऊपर पृ० १३७ तथा पृ० ३५० तथा पृ० १२८–१२९। उसी अनुशासनपर्व ४०, १४ में इन्द्र के देवशर्मन ऋषि की पत्नी रुचि के प्रति अनुरक्त होने की कथा (जो कामवासना की दुर्बलता का उदाहरण देने के लिए कही गई है) तथा यह बताया गया है किस उपाय से ऋषि के शिष्य विपुल ने (जिसकी देखरेख में ऋषि अपनी पत्नी को सौंप कर कहीं गये थे) अपनी गुरु पत्नी के चरित्र को उस व्यभिचारी देवता से, जो अपनी पाप पूर्ण योजना को पूर्ण करने के लिए नाना रूप धारण करता था, सुरक्षित रखने तथा उस गुरु पत्नी को "यज्ञ के समय छोड़े गये घृत को चाटने वाले दुष्ट कुत्ते के समान उस देवराज द्वारा भ्रष्ट किये जाने से बचा लिया।" (यथा रुचिं नावलिहेद् देवेन्द्रो भृगु-सत्तम। क्रतौ उपहितं न्यस्तं हविः श्वेव दुरात्मवान्)। भारतीयों के देवताओं में प्रमुख देवता की कुत्ते की उपमा निःसन्देह बड़ी सम्मान पूर्ण उपमा है। विपुल ने अपनी गुरु पत्नी की चरित्र रक्षा के लिए उसकी इच्छा के विपरीत जो योजना अपनायी वह यह थी कि उसने अपनी आत्मा उसके शरीर में प्रविष्ट कर और योग द्वारा उसकी गति को अवरुद्ध कर उसे अपनी इच्छा के विपरीत वचन कहने को प्रेरित किया। कथा के अन्त में वह अपने शरीर में प्रवेश करता है, इन्द्र की गर्हित कर्म के लिये भर्त्सना करता है और उसे लज्जित होकर लौट जाने को बाध्य करता है।

योग्य पति माना। उन्हें प्राप्त करने के लिए उसने कठोर तप किये। अत्रि ने (विष्णु पुराण, विलसन प्रथम सं० पृ० ३९२ के अनुसार सोम के पिता) उतथ्य को आमन्त्रित किया और उसे उन्हें प्रदान कर दिया। उचित रूप में उन्होंने उसका विवाह किया और प्रचुर दान दिए। १४५, १४. वरुण देवता ने, जो पहले उस पर अनुरक्त थे, आकर ऋषि के आश्रम से गंगा के तट पर निवास करने वाले ऋषि के आश्रम से उसका अपहरण कर लिया और अपने नगर को ले गये, जो छः योजन का एक अद्भुत सरोवर था। उस नगर के समान कोई मनोहर नगर नहीं था, वह महलों और अप्सराओं से युक्त और स्वर्गीय सुख के उपकरणों से पूर्ण था। वहाँ उस देवता ने उसके सहवास का सुख प्राप्त किया। नारद के द्वारा अपनी पत्नी का अपमान जानकर उतथ्य ने वरुण के पास कठोर आदेश भेजा : 'मैं तुझे आज्ञा देता हूँ कि मेरी पत्नी को चले आने दो, सोम ने उसे मुझे प्रदान किया है; तुमने उसका अपहरण क्यों किया है? तुम लोक के रक्षक हो, लुटेरे नहीं'...२०. वरुण ने उत्तर दिया 'वह मेरी प्रियतमा है, मैं उसे जाने नहीं दे सकता।' सोम ने गम्भीरता के साथ यह उत्तर उतथ्य को बता दिया और कहा 'वरुण ने मेरा गला पकड़ कर मुझे निकाल दिया। वह आपकी पत्नी को नहीं देगा; आप जो उचित समझें वह करें।' उतथ्य अत्यन्त क्रुद्ध हुए...२३. और उन्होंने समुद्र को रोक कर उसे पी लिया। इतने पर भी, और मित्रों के कहने पर भी, वरुण उनकी पत्नी को नहीं लौटाना चाहता था। तब उतथ्य ने पृथ्वी से कुछ और मार्ग अपनाने को कहा; और उपरोक्त सरोवर लवण का क्षेत्र बन गया और समुद्र बह गया। तब ऋषि ने उन देशों और नदियों से कहा : 'सरस्वति मरुस्थल में लुप्त हो जाओ, इस देश को छोड़ दो; इसे अपवित्र हो जाने दो।' देश में सूखा पड़ जाने पर वरुण उतथ्य के सम्मुख विनत होकर उपस्थित हुए और भद्रा को लौटा दिया। ऋषि अपनी पत्नी को प्राप्त कर प्रसन्न हुए और वरुण तथा लोक को कष्टों से मुक्त कर दिया।...उन्होंने वरुण से कहा (३१) 'तुम्हारे विरोध के होते हुए भी इस पत्नी को मैंने तपस्याओं द्वारा प्राप्त किया है' ३२... 'हे राजा! मैं तुमसे बताता हूँ कि इस प्रकार के ब्राह्मण उतथ्य थे, उनसे श्रेष्ठ किसी क्षत्रिय के विषय में बताओ।"

इसके आगे (१५५, १ आदि) असुरों और दानवों द्वारा पराजित होने, हवियों के छीन लिये जाने, उसके गौरव के नष्ट हो जाने तथा पृथ्वी पर आने की कथा है। पृथ्वी पर वे अगस्त्यऋषि से मिले और उनसे रक्षा करने की प्रार्थना की। उन्होंने जो सहायता माँगी वह इस ऋषि ने प्रदान किया, दानवों को जला डाला, उन्हें स्वर्ग और पृथ्वी से निकाल बाहर कर

दिया और दक्षिण की ओर भगा दिया। इस प्रकार देवताओं को अपना राज्य पुनः प्राप्त हुआ।

१३. १५५, १५ में वसिष्ठ की निम्नलिखित कथा कही गई है। आदित्य वसिष्ठ का ध्यान करते हुए एक यज्ञ कर रहे थे। उसी समय खलिन् नाम के दानवों ने उन पर आक्रमण किया, जो दस सहस्र संख्या में उनका वध करने आये थे।

१३. १५५, २० : ततस् तैर् अर्दिताः देवाः शरणं वासवं ययुः। स च तैर् व्यथितः शक्रो वशिष्ठं शरणं ययौ। ततोऽभयं ददौ तेभ्यो वशिष्ठो भगवान् ऋषिः। तदा तान् दुःखितान् ज्ञात्वा आनृशंस्यपरो मुनिः। अयत्नेनादहत् सर्वान् खलिनः स्वेन तेजसा। २५. एवं सेन्द्राः वशिष्ठेन रक्षितास् त्रिदिवौकसः। ब्रह्मदत्त-वराश चैव हताः दैत्याः महात्मना। एतत् कर्म वशिष्ठस्य कथितं हि मयाऽनघ। ब्रवीम्य् अहम् ब्रूहि वा त्वम् वशिष्ठात् क्षत्रियं वरम्।

"उनसे व्याकुल होकर देवता इन्द्र के निकट पहुँचे, और वह भी उनसे पीड़ित होने पर सहायता के लिए वसिष्ठ के पास पहुँचा। इस पूज्य और दयावान् ऋषि ने उन सबकी रक्षा की, उनके कष्टों को जानकर अनायास ही सभी दानवों को भस्म कर दिया "२५. इस प्रकार इन्द्र सहित सभी देवताओं की वसिष्ठ ने रक्षा की और यद्यपि दैत्यों ने ब्रह्मा से वरदान प्राप्त किया था, तथापि वे मार डाले गये। इस प्रकार का कर्म वसिष्ठ ने किया है; क्या तुम किसी क्षत्रिय को बता सकते हो जो उनसे श्रेष्ठ हो?"

ऋषि अत्रि की शक्ति की एक और कथा कही गई है, जिन्होंने देवताओं को मुक्ति और नक्षत्रों को ज्योति दिलवायी।

१३. १५६, २ : घोरे तमस्य् अयुध्यन्त सहिताः देव-दानवाः। अविध्यत शरैस् तत्र स्वर्भानुः सोम-भास्करौ। अथ ते तमसा ग्रस्ताः विहन्यन्ते स्म दानवैः। देवाः नृपति-शार्दूल सहैव बलिभिस् तदा। असुरैर् वध्यमानास् ते क्षीण-प्राणाः दिवौकसः। अपश्यन्त तपस्यन्तम् अत्रिं विप्रं तपोधनम्।.. ७. तेऽब्रुवंश् "चन्द्रमाः भव। तिमिर-घ्नश् च सविता दस्यु-हन्ता च नो भव।" एवम् उक्तस् तदाऽत्रिर् वै तमोनुद् अभवत् शशी। अपश्यत् सौम्य-भावाच् च सोम-प्रिय-दर्शनः। दृष्ट्वा नातिप्रभं सोमं तथा सूर्यं च पार्थिव। प्रकाशम् अकरोद् अत्रिस् तपसा स्वेन संयुगे। १०. जगद् वितिमिरं चापि प्रकाशम् अकरोत् तदा। व्यजयत् शत्रु-सङ्घांश् च देवानां स्वेन तेजसा।...१३.

द्विजेनाग्नि-द्वितीयेन जपता चर्मवाससा। फल-भक्षेण राजर्षे पश्य कर्मात्रिणा कृतम्। ··१४ ··ब्रूहि वा त्वम् अत्रितः क्षत्रियं वरम्।

"देवताओं और दानवों ने घोर अन्धकार में युद्ध किया। स्वर्भानु ने सूर्य तथा चन्द्रमा को बाणों से विद्ध कर दिया। अन्धकार में घिरे हुए उनका बलिसहित दानवों ने वध कर दिया। इस प्रकार मारे जाने पर और पराजित होकर वे तपस्या में लीन ब्राह्मण अत्रि के निकट पहुँचे और विपत्ति में रक्षा करने की प्रार्थना की। उन्होंने पूछा 'मैं क्या करूँ?' उन्होंने उत्तर दिया, श्लोक ७: 'आप चन्द्रमा तथा दस्यु का नाश करने वाले एवं अन्धकार को दूर करने वाले सूर्य बनें।' तब अत्रि ने अन्धकार दूर करने वाले चन्द्रमा का रूप धारण किया और इस रूप में वह सोम के समान सुन्दर लगते थे। सूर्य और चन्द्रमा को निस्तेज देखकर अत्रि ने युद्ध में अपना प्रकाश फैलाया, (१०) अपनी कठोर तपस्या के प्रभाव से संसार को अन्धकार से मुक्त कर दिया और देवताओं के शत्रुओं को जीत लिया।' १३. ब्राह्मण अत्रि द्वारा किया गया कर्म देखो, जिनके सहायक अग्नि हैं, जो मन्त्रों का उच्चारण करने वाले, धर्म धारण करने वाले और फलों पर जीविका निर्वाह करने वाले थे...१४. किसी ऐसे क्षत्रिय के विषय में बताओ जो अत्रि से श्रेष्ठ हो।"

यह कथा ऋग्वेद ५. ४०, ५ के कुछ मन्त्रों पर आधृत है :—

यत् त्वा सूर्य्य स्वर्भानुस् तमसाऽविध्यद् आसुरः। अक्षेत्र-विद् यथा मुग्धो भुवनानि अदीधयुः। ६. स्वर्भानोर अध यद् इन्द्र मायाः अवो दिवो वर्त्तमानाः अवाहन्। गूळ्हं सूर्य्यं तमसाऽपव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणाऽविन्दद् अत्रिः। ८. ग्राव्णो ब्रह्मा युयुजानः सपर्य्यन् कीरिणा देवान् नमसोपशिक्षन्। अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुर् आधात् स्वर्भानुर् अप मायाः अघुक्षत्। ९. य वै सूर्य्य स्वर्भानुस् तमसाऽविध्यद् आसुरः। अत्रयस् तम् अन्व् अविन्दन् नहि अन्ये अशक्नुवन्।

"हे सूर्य जब असुर वंश के स्वर्भानु ने तुम्हे अन्धकार से विद्ध किया तो सम्पूर्ण विश्व एक ऐसे व्यक्ति के समान हो गया, जो अज्ञात स्थान में भटक गया हो। ६. हे इन्द्र! जब तुमने स्वर्भानु की माया को छिन्न-भिन्न कर दिया, जो आकाश के नीचे व्याप्त था, तब अत्रि ने चौथे मन्त्र से सूर्य को पुन. ढूंढ निकाला जो घोर अन्धकार में छिपा हुआ था। ८ (सोम को पीसने वाले) प्रस्तरखण्डों को लगाकर, यज्ञ करते हुए, देवताओं की विनय और प्रशस्ति के साथ सेवा करते हुए, अत्रि ने सूर्य का नेत्र आकाश में स्थापित किया, और स्वर्भानु की माया को दूर कर दिया। ९. अत्रि ने उस

सूर्य को ढूंढ निकाला, जिसे स्वर्भानु ने अन्धकार से विद्ध कर दिया था। कोई दूसरा ऐसा नहीं कर सका।"

उसके उपरान्त भृगुवंश के च्यवन ऋषि के विषय में एक विलक्षण आख्यान है :—

१३.१५६,१६ : अश्विनोः प्रतिसंश्रुत्य च्यवनः पाकशासनम्। प्रोवाच सहितो देवैः "सोमपाव् अश्विनौ कुरु"। इन्द्रः उवाच। "अस्माभिर् निन्दिताव् एतौ भवेतां सोमपौ कथम्। देवैर् न सम्मिताव् एतौ तस्माद् मैव वदस्व नः। अश्विभ्यां सह नेच्छामः सोमम् पातुन् महाव्रत। यद् अन्यद् वक्ष्यसे विप्र तत् करिष्याम ते वचः।" च्यवनः उवाच। "पिबेताम् अश्विनौ सोमम् भवद्भिः सहिताव् उभौ। उभाव् एताव् अपि सुरौ सूर्य्य-पुत्रौ सुरेश्वर। २०. क्रियताम् मद्वचो देवाः यथा वै समुदाहृतम्। एतद् वः कुर्वतां श्रेयो भवेद् नैतद् अकुर्वताम्।" इन्द्रः उवाच। 'अश्विभ्यां सह सोम वै न पास्यामि द्विजोत्तम। पिबन्त्व् अन्ये यथाकामं नाहं पातुम् इहोत्सहे।" च्यवनः उवाच। "न चेत् करिष्यसि वचो मयोक्तम् बल-सूदन। मया प्रमथितः सद्यः सोमम् पास्यसि वै मखे।" ततः कर्म समारब्धं हिताय सहसाऽश्विनोः। च्यवनेन ततो मन्त्रैर् अभिभूताः सुराऽभवन्। तत् तु कर्म समारब्धं दृष्ट्वेन्द्रः क्रोध-मूर्च्छितः। उद्यम्य विपुलं शैलं च्यवनं समुपाद्रवत्। २५. तथा वज्रेण भगवान् अमर्षाकुल-लोचनः। तम् आपतन्तं दृष्ट्वैव च्यवनस् तपसाऽन्वितः। अद्भिः सिक्त्वाऽस्तम्भयत त स-वज्रं सह-पर्वतम्। अथेन्द्रस्य महाघोर सोऽसृजन् शत्रुम् एव हि। मद नामाहुतिमयं व्यादितास्यम् महामुनिः।"'२६. जिह्वा-मूलस्थितास् तस्य सर्वे देवाः स-वासवाः। तिमिर् आस्यम् अनुप्राप्ताः यथा मत्स्याः महार्णवे। ते सम्मन्त्र्य ततो, देव मदस्यास्य समीपगाः। अब्रुवन् सहिताः शक्रम् प्रणमास्मै द्विजातये। अश्विभ्यां सह सोमं च पिबाम विगत-ज्वराः। ततः स प्रणतः शक्रम् चकार च्यवनस्य तत्। च्यवनः कृतवान् एताव् अश्विनौ सोमपयिनौ। ततः प्रत्याहरत् कर्म मद च व्यभजद् मुनिः।

"अश्विनों को वचन देकर च्यवन ने अन्य देवताओं के साथ इन्द्र से अश्विनों को भी सोम में अंश प्रदान करने की प्रार्थना की। इन्द्र ने उत्तर दिया, 'वे सोम का पान कैसे कर सकते हैं, जब कि हमने उनकी निन्दा की है और वे देवताओं के समान पद वाले नहीं है? हम उनके साथ सोम पान नहीं करेंगे; किन्तु हम तुम्हारी कोई और इच्छा स्वीकार कर लेंगे।' च्यवन अपनी प्रार्थना दुहराते हैं। २०. वे कहते है कि देवताओं के लिये

यह हितकारी होगा यदि वे इस प्रार्थना को स्वीकार कर लेते हैं अन्यथा उनका अहित होगा। इन्द्र कहता है : 'अन्य देवता यदि चाहें तो अश्विनों के साथ सोम पान करें किन्तु मैं नहीं कर सकता।' च्यवन उत्तर देते हैं कि यदि वह ऐसा नही करता तो उसे ऋषि उचित दण्ड देंगे और यज्ञ में उनके साथ उसे सोमपान करायेंगे। तत्काल ही च्यवन ने अश्विनों के हित के लिए एक यज्ञ प्रारम्भ कर दिया; और देवता मन्त्रों द्वारा पराजित हो गये। इस यज्ञ को प्रारम्भ होते देख इन्द्र अत्यन्त क्रुद्ध हुआ। उसने एक विशाल पर्वत उठाया (२५) और अपने वज्र से क्रुद्ध नेत्र करके च्यवन पर फेंका। ऋषि ने जल छिड़क कर उसे पर्वत और वज्र सहित स्तब्ध कर दिया। तब च्यवन ने हवि के अंश से मद नाम के एक दानव की सृष्टि की, जिसका मुख खुला हुआ था। जिसके दाँतों और जिह्वा के बहुत लम्बे-लम्बे होने का वर्णन किया गया है। उसके जबड़ों में से एक पृथ्वी को घेरे था और दूसरा आकाश को। इन्द्र सहित सभी देवता (२९) उसकी जिह्वामूल में पहुँच चुके थे [उसके द्वारा खा लिये जाने वाले थे] जैसे समुद्र-दानव के मुख में मछलियाँ हों। अपने को उसके मुख में पहुँचा हुआ पाकर देवताओं ने विचार किया और इन्द्र से कहा 'च्यवन को प्रणाम करो और हम सभी अश्विनों के साथ सोम पान करें तथा इस प्रकार इस विपत्ति से छुटकारा प्राप्त करें।' तब इन्द्र ने प्रणाम करके च्यवन की माँग पूरी की, जो अश्विनों के सोमपायी होने के कारण बने। उन्होंने तब यज्ञ किया और मद को छिन्न-भिन्न कर दिया।"

क्या इसका यह तात्पर्य हो सकता है कि भृगुवंश के इस ऋषि ने सर्वप्रथम अश्विनों का एरियन पूजा के अन्तर्गत प्रवेश कराया?

शतपथ ब्राह्मण ४.१,५,१ आदि, तथा महाभारत के वनपर्व श्लोक १०३-१६ आदि से तुलना कीजिए, जो १८६६ के ज रा ए सो पृ० ११ आदि में "कन्ट्रीब्यूशन्स टु ए नालिज आफ द वेदिक थिऑगनी एण्ड माइथॉलॉजी" लेख में उद्धृत है; इण्ड० स्टू० १. १८८ में उद्धृत तथा उसमें उल्लिखित महाभारत के आश्वमेधिकपर्वन्, श्लोक २४९ आदि से तुलना कीजिए। अश्विनों का ऋग्वेद के विभिन्न मन्त्रों तथा ३. ५८, ७. ९; ८. ८, ५; ८. ३५, ७-१० में सोमपान के लिए आह्वान किया गया है।

ब्राह्मणों की अप्रतिहत शक्ति के विषय में वायु अर्जुन को एक कथा और सुनाते हैं :—

१३. १५७, २. मदस्यास्यम् अनुप्राप्ताः यदा सेन्द्राः दिवौकसः। तदैव च्यवनेनेह हृता तेषां वसुन्धरा। उभौ लोकौ कृतौ मत्वा ते देवाः दुःखिताः

भृशम्। शोकार्त्ताश् च महात्मानो ब्राह्मण शरणं ययुः। देवाः ऊचुः। मदास्य-व्यतिसिक्तानाम् अस्माकं लोक-पूजित। च्यवनेन हृता भूमिः कपैश् चैव दिवम् प्रभो। ब्रह्मा उवाच। ५. गच्छध्वं शरणं विप्रान् आशु सेन्द्रा दिवौकसः। प्रसाद्य तान् उभौ लोकाव् अवाप्स्यथ यथा पुरा। ते ययुः शरणं विप्रान् ऊचुस् ते "कान् जयामहे।" इत्य् उक्तास् ते द्विजान् प्राहुर् "जयतेह कपान्" इति। "भूगतान् हि विजेतारो वयम्" इत्य् अब्रुवन् "द्विजाः"। ततः कर्म समारब्धम् ब्राह्मणैः कप-नाशनम्। तत् श्रुत्वा प्रेषितो दूतो ब्राह्मणेभ्यो धनी कपैः। भू-गतान् ब्राह्मणान् आह धनी कप-वचो यथा। "भवद्भिः सदृशाः सर्वे कपाः किम् इह वर्त्तते। सर्वे वेद-विदः प्राज्ञाः सर्वे च क्रतु-याजिनः। १०. सर्वे सत्यव्रताश् चैव सर्वे तुल्या महर्षिभिः। श्रीश् चैव रमते तेषु धारयन्ति श्रियं च ते।... १४. एतैश् चान्यैश् च बहुभिर् गुणैर् युक्तान् कथं कपान्। १५. विजेष्यथ निवर्त्तध्वं निवृत्तानां शुभं हि वः।" ब्राह्मणाः ऊचुः। कपान् वयं विजेष्यामो ये देवास् ते वयं स्मृताः। तस्माद् वध्याः कपाऽस्माकम् धनिन् याहि यथागतम्। धनी गत्वा कपान् आह "न नो विप्राः प्रियङ्कराः। गृहीत्वाऽस्त्राण्य् अथो विप्रान् कपाः सर्वे समाद्रवन्। समुदग्र-ध्वजान् दृष्ट्वा कपान् सर्वे द्विजातयः। व्यसृजन् ज्वलितान् अग्नीन् कपानाम् प्राण-नाशनान्। ब्रह्म-सृष्टाः हव्यभुजः कपान् हत्वा सनातनाः। नभसीव यथाऽभ्राणि व्यराजन्त नराधिप। हत्वा वै दानवान् देवाः सर्वे सम्भूय संयुगे। तेनाभ्यजानन् हि तदा ब्राह्मणैर् निहतान् कपान्। अथागम्य महातेजाः नारदोऽकथयद् विभो। यथा हताः महाभागैस् तेजसा ब्राह्मणैः कपाः। नारदस्य वचः श्रुत्वा प्रीताः सर्वे दिवौकसः। प्रशशंसुः द्विजाश् चापि ब्राह्मणाश् च यशस्विनः।

"जब इन्द्र इत्यादि देवता मद के मुख में बन्द हो गए तो च्यवन ने उनसे पृथ्वी ले ली। देवताओं ने यह सोचकर कि वे दोनों लोकों को खो बैठे हैं, दुःखित होकर ब्रह्मा के निकट जाकर कहा 'हम मद के मुख में निगल लिए गये हैं इसमें च्यवन ने पृथ्वी पर और कपों ने स्वर्ग पर अधिकार कर लिया है।' ब्रह्मा ने कहा, 'देवताओ! इन्द्र को साथ लेकर ब्राह्मणों के निकट सहायता के लिये जाओ। उन्हें प्रसन्न कर तुम दोनों लोकों को प्राप्त करोगे। उन्होंने ऐसा ही किया, और यह ज्ञात कर कि स्वयं देवता ही पृथ्वी पर स्थिति अपने शत्रुओं से सघर्ष करेंगे कपों के वध के लिए यज्ञ प्रारम्भ कर दिया। इस पर कपों ने ब्राह्मणों के निकट यह सन्देश भेजा और कहलाया कि वे सब भी उन्हीं के समान वेद में पारङ्गत, विद्वान्, यज्ञ करने वाले पवित्र कर्म करने वाले

और सभी महर्षियों के तुल्य थे, आदि, आदि। तब ब्राह्मण उन्हें जीतने में कैसे समर्थ होंगे? अतएव इस प्रयत्न से विरत होना उनके लिए अधिक हितकर होगा। ब्राह्मणों ने नहीं माना और जब कपों ने उनपर आक्रमण किया तो उन्होंने अग्नि फेंका जिससे कपों का नाश हो गया। देवताओं ने स्वयं दानवों को जीत लिया और नारद से तेजस्वी ब्राह्मणों का कार्य जानकर उन्होंने उनकी स्तुति की"।[२४७]

ब्राह्मणों की उग्र शक्ति के इन प्रमाणों को सुनकर अन्त में अर्जुन विनत हो जाता है और कहता है:

१३.१५७,२४. जीवाम्य् अहम् ब्राह्मणार्थं सर्वथा सततम् प्रभो। ब्रह्मण्यो ब्राह्मणेभ्यश् च प्रणमामि च नित्यशः। दत्तात्रेय-प्रसादाच् च मया प्राप्तम् इदम् बलम्। लोके च परमा कीर्तिर् धर्मश् च चरितो महान्। अहो ब्राह्मणकर्माणि मया मारुत तत्त्वत। त्वया प्रोक्तानि कार्त्स्न्येन श्रुतानि प्रयतेन च। वायुर् उवाच। ब्राह्मणान् क्षात्र-धर्मेण पालयस्वेन्द्रियाणि च। भृगुभ्यस् ते भयं घोरं तत् तु कालाद् भविष्यति।

"मैं सदैव और सब प्रकार से ब्राह्मणों के हितार्थ ही जीवन धारण करता हूँ। मैं ब्राह्मणों का भक्त हूँ और उन्हें नित्य प्रणाम करता हूँ। दत्तात्रेय (ब्राह्मण) की कृपा से ही मैंने यह शक्ति और उच्चकीर्ति प्राप्त की है और धर्म का पालन किया है। आपने ठीक ही मुझे ब्राह्मणों के कर्म बताये हैं और मैंने उन्हें चाव से सुना है। तब वायु ने उससे कहा "क्षत्रिय का धर्म रखते हुए ब्राह्मणों की रक्षा करो; तथा अपनी इन्द्रियों को वश में रखो। तुम पर भृगुओं की ओर से महान् विपत्ति आनेवाली है किन्तु वह कुछ समय के उपरान्त ही प्रभाव दिखायेगी।" अन्तिम वाक्य इस कथा का अर्जुन और क्षत्रियों के नाश की कथा के साथ सामञ्जस्य बनाने के लिये जोड़ा गया होगा।

जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ अभी उद्धृत कथा के पूर्व भीष्म द्वारा उक्त ब्राह्मणों की एक लम्बी प्रशस्ति दी गई है जिसके कुछ अंश ये हैं:

१३. १५१, २ ब्राह्मणानाम् परिभवः सादयेद् अपि देवता.। ३. ते हि लोकान् इमाम् सर्वान् धारयन्ति मनीषिणः। १४. चन्दने मल-पङ्के च भोजनेऽभोजने समाः। वासो येषा दुकूलं च शान-क्षौमाजिनानि च। १६. अदैवं दैवतं कुर्युर् दैवतं वाऽप्य अदैवतम्। लोकान् अन्यान् सृजेयुस् ते लोकपालाश् च कोपिताः। १८. देवानाम् अपि ये देवाः

---

[२४७] यह अनुवाद पर्याप्त रूप मे सक्षिप्त कर दिया गया है।

कारणं कारणस्य च। २०. अविद्वान् ब्राह्मणो देवः ''। विद्वान् भूयस् ततो देवः पूर्ण-सागर-सन्निभः।

"ब्राह्मणों की शक्ति देवताओं का भी नाश कर सकती है। ३. वे मनीषी इन लोकों को धारण करते हैं। उनके लिये चन्दन से सुवासित होना या मल से दूषित होना समान है, चाहे वे व्रत रखें या भोजन करें, चाहे वे रेशमी वस्त्र धारण करें या मृगचर्म अथवा वल्कल, सब उनके लिए समान हैं। १६. अदेव वस्तु को वे देव बना सकते हैं और देव को अदेव, और अपने क्रोध में वे दूसरे लोकों तथा लोकपालों की सृष्टि कर सकते हैं। १८. वे देवों के भी देव हैं; और कारण के भी कारण हैं। २०. एक अज्ञानी ब्राह्मण देवता होता है और विद्वान् ब्राह्मण तो पूर्ण समुद्र के समान और भी बड़ा देवता होता है।" (ऊपर पृ० १४७-१४८ पर दी गई इसी प्रकार की प्रशस्तियों से तुलना कीजिए)।

अनुशासनपर्व (५२, ३ आदि) में विश्वामित्र की कथा के साथ ही साथ परशुराम की कथा एक बार और कही गई है। युधिष्ठिर कहते हैं कि वे इन दोनों महापुरुषों के विषय में जानने के लिए उत्सुक हैं।

१३.५२,३. कथम् एष समुत्पन्नो रामः सत्य-पराक्रमः। कथम् ब्रह्मर्षि-वंशोऽयं क्षत्र-धर्मा व्यजायत। तद् अस्य सम्भव राजन् निखिलेनानुकीर्त्तय। कौशिकाच् च् कथ वशात् क्षत्राद् वै ब्राह्मणोऽभवत्। अहो प्रभावः सुमहान् आसीद् वै सुमहात्मनः। रामस्य च नरव्याघ्र विश्वामित्रस्य चैव हि। कथम् पुत्रान् अतिक्रम्य तेषा नप्तृष्व् अथाभवत्। एष दोष. सुतान् हित्वा तत् त्व व्याख्यातुम् अर्हसि।

"ब्रह्मर्षियों के वंश में उत्पन्न हुए वीर परशुराम में क्षत्रिय के गुण कैसे आ गये? मुझे सम्पूर्ण कथा सुनाइए: और कुशिक के क्षत्रिय वंश में ब्राह्मण का जन्म कैसे हुआ? राम और विश्वामित्र महावीर थे। किस प्रकार [ऋचीक और कुशिक के] पुत्रों को छोड़कर यह दोष उनके पौत्रों में प्रकट हुआ?"

इसके उपरान्त भीष्म कुशिक और ऋषि च्यवन में हुए संलाप का वर्णन करते हैं। च्यवन यह जानकर कि [कुशिकों के साथ सम्बन्ध बनाने से] उनके कुल का अपमान होने वाला था, और हित-अहित का तथा शक्ति और दुर्बलता का विचार कर, उस कुल को जला डालने के विचार से कुशिक के निकट आये (८. एत दोषम् पुरा दृष्ट्वा भार्गवश् च्यवनस तदा। आगामिनम् महाबुद्धिः स्व-वंशे मुनि-सत्तमः। निश्चित्य मनसा सर्व गुण-दोषम् बलाबलम्। दग्धु-कामः कुलं सर्वं कुशिकानां तपो-

धनः।)। च्यवन का स्वागत और भलीभाँति आतिथ्य होता है। वे कुशिक से सम्पूर्ण राज्य का दान प्राप्त करते हैं। ऋषि इस सम्मान का प्रत्युत्तर दया और सहानुभूति के साथ नहीं देते अपितु राजा और उनकी पत्नी से अनेक निम्नकोटि के कार्य करवाते है : पैर दबवाते है, सोते समय सेवा कराते हैं, भोजन मँगाते हैं और उनकी पीठों पर कोड़ा मारते हुए रथ खिंचवाते हैं। वे इन सबको इतने धैर्य के साथ सहन करते है कि ऋषि प्रसन्न होते है, उनसे दयापूर्ण वचन कहते हैं और उनके घावों को अपने देवतुल्य हाथों से स्पर्श का अनुभव प्रदान करने के लिये (१३. ५४, २ आदि) सभी सुखों से युक्त एक सोने का माया-रचित प्रासाद बनाते हैं (१३. ५५, २६ आदि) और राजा से कोई वर माँगने को तथा किसी भी शङ्का को दूर कर लेने को कहते हैं। कुशिक ऋषि के इस अनोखे व्यवहार का कारण पूछते है। च्यवन बताते है कि उन्होंने ब्रह्मा से सुना था कि "ब्राह्मणों और क्षत्रियों की शत्रुता से वंशों में अस्त-व्यस्तता आ जायगी और कुशिक का पौत्र महान् प्रतापी और वीर उत्पन्न होगा।" (१३. ५५, १२ ब्रह्म-क्षत्र-विरोधेन भविता कुल-सङ्कर'। पौत्रस ते भविता राजंस् तेजो-वीर्य्य-समन्वितः), अतएव उन्होंने कुशिकों के वंश को जला देने का विचार किया था। किन्तु कठिन परीक्षाओं में राजा इस प्रकार सफल हुआ कि ऋषि अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने कुशिक को वर प्रदान करने के लिए कहा :—

१३. ५५, ३१. भविष्यत्य् एप ते कामस् कौशिकात् कौशिको द्विजः। तृतीयम् पुरुषं तुभ्यम् ब्राह्मणत्वं गमिष्यति। वंशस् ते पार्थिव-श्रेष्ठ भृगूणाम् एव तेजसा। पौत्रस् ते भविता विप्रस् तपस्वी पावनद्युतिः। यः स-देव-मनुष्याणाम् भयम् उत्पादयिष्यति।

"तुम्हारी यह इच्छा पूरी होगी, एवं कौशिक से एक कौशिक ब्राह्मण उत्पन्न होगा : तीसरी पीढ़ी में तुम्हारा वंश भृगुओं की कृपा से ब्राह्मणत्व प्राप्त करेगा। तुम्हारे पुत्र का पुत्र एक ब्राह्मण होगा, तपस्वी, और अग्नि के समान प्रतापी होगा और देवताओं तथा मनुष्यों को आतंकित किये रखेगा।" कुशिक यह जानने के लिए उत्सुकता प्रकट करते है कि यह सब कैसे होगा तब च्यवन उन्हें बताते है :—

१३. ५६, २ : भृगूणा क्षत्रियाः याज्या' नित्यम् एतज् जनाधिप। ते च भेद गमिष्यन्ति दैव-युक्तेन हेतुना। क्षत्रियाश् च भृगून् सर्वान् वधिष्यन्ति नराधिप। आगर्भाद् अनुकृन्तन्तो दैव-दण्ड निपीडिताः। ततः उत्पत्स्यतेऽस्माकं कुलो-गोत्र-विवर्धनः। ऊर्वो नाम महातेजा ज्वलनार्क-समद्युतिः। स त्रैलोक्य-विनाशाय कोपाग्नि जनयिष्यति। मही

स-पर्वत-वनां यः करिष्यति भस्मसात्। कञ्चित कालं तु वह्निं च स एव शमयिष्यति। समुद्रे वडवा-वक्त्रे प्रक्षिप्य मुनि सत्तम.। ७. पुत्रं तस्य महाराज ऋचीकम् भृगु-नन्दनम्। साक्षात् कृत्स्नो धनुर्-वेदः समुपस्थास्यतेऽनघ। क्षत्रियाणाम् अभावाय दैव-युक्तेन हेतुना। स तु तम् प्रतिगृह्यैव पुत्रं सङ्क्रामयिष्यति। जमदग्नौ महाभागे तपसा भावितात्मनि। स चापि भृगु-शार्दूलम् तं वेदं धारयिष्यति। कुलात् तु तव धर्मात्मान् कन्या सोऽधिगमिष्यति। उद्भावनार्थम् भवतो वंशस्य भरतर्षभ। गाधेर दुहितरम् प्राप्य पौत्री तव महातपाः। ब्राह्मण क्षत्र-धर्माणम् पुत्रम् उत्पादयिष्यति। १०. क्षत्रियं विप्र-कर्माणम् बृहस्पतिम् इवौजसा। विश्वामित्र तव कुले गाधेः पुत्र सुधार्मिकम्। तपसा महता युक्तम् प्रदास्यति महाद्युते। स्त्रियौ तु कारणं तत्र परिवर्त्ते भविष्यतः। पितामह-नियोगाद् वै नान्यथैतद् भविष्यति। तृतीये पुरुषे तुभ्यम् ब्राह्मणत्वम् उपैष्यति। भविता त्वं च सम्बन्धी भृगूणाम् भावितात्मनाम्।... २०. एतत् ते कथितं सर्वम् अशेषेण मया नृप। भृगूणां कुशिकानां च अभिसम्बन्ध कारणम्। यथोक्तम् ऋषिणा चापि तदा तद् अभवद् नृप। जन्म रामस्य च मुनेर् विश्वामित्रस्य चैव हि।

"भृगु सदैव क्षत्रियों के पुरोहित रहे हैं, किन्तु ये भाग्यवश एक दूसरे के शत्रु बन जायेंगे। क्षत्रिय दैवदण्ड से पीडित होकर सभी भृगुओं का, यहाँ तक कि उनके गर्भस्थ बालकों का भी वध कर डालेंगे। तब सूर्य के समान तेजस्वी, प्रतापी ऊर्व,[२४८] उत्पन्न होगा जो हमारे वंश की कीर्त्ति का विस्तार

---

[२४८] यहाँ ऊर्व को च्यवन के वंश का बताया गया है (१३ ५६, ४) किन्तु यह नहीं बताया गया है कि वे उनके निकट वंशज थे या उनमें पर्याप्त अन्तर था। श्लोक १३ ५६, ७ में ऋचीक को ऊर्व का पुत्र कहा गया है। आदिपर्व, ६६, ४६ में यह घटना कुछ भिन्न रूप में वर्णित है आरुषी तु मनोः कन्या तस्य पत्नी यशस्विनी। ओर्वस् तस्या समभवद् ऊरुम् भित्त्वा महायशा। महातेजा महावीर्य्यो बाल. एव गुणैर युत। ऋचीकस् तस्य पुत्रस् तु जमदग्निस् ततोऽभवत्। "मनु की पुत्री आरुषी ऋषि च्यवन की पत्नी थी। उससे तेजस्वी और्व उत्पन्न हुआ, जो अपनी मा की जाघ को फोडकर उत्पन्न हुआ था। वह प्रताप और शक्ति में महान् और बाल्यावस्था से ही श्रेष्ठ गुणों से युक्त था। ऋचीक उनके पुत्र हुए और ऋचीक के जमदग्नि हुए।" यहाँ और्व का नाम माता की जाँघ (उरु) को फाड़ने के कारण पडा हुआ बताया गया है। यहाँ ऊर्व का कोई उल्लेख नहीं है, यद्यपि तात्पर्य उसी व्यक्ति से प्रतीत होता है।

करेगा। वह तीनों लोकों को भस्म करने के लिए क्रोध की अग्नि प्रज्वलित करेगा, जो पर्वतों और वनों सहित पृथ्वी को भस्म कर देगी। कुछ समय के उपरान्त वह इसे समुद्र में वडवा के मुख में डालकर अग्नि को शान्त करेगा। उसके पुत्र ऋचीक में क्षत्रियों के विनाश के लिए सम्पूर्ण धनुर्वेद (वाण चलाने की विद्या) साक्षात् प्रवेश करेगा। वह इस विद्या को अपने प्रतापी पुत्र जमदग्नि को प्रदान करेगा, जो तपस्या से पवित्र होगा और इस वेद को धारण करेगा। वह (ऋचीक) तुम्हारे वंश की कन्या को वंश-वृद्धि के लिए पत्नी रूप में ग्रहण करेगा (यह महातपस्वी तुम्हारी पौत्री, गाधि की पुत्री, से विवाह कर क्षत्रिय का कर्म करने वाले ब्राह्मण (परशुराम) को उत्पन्न करेगा (१२) और तुम्हारे वंश को एक ऐसा क्षत्रिय प्रदान करेगा, जो ब्राह्मण का कर्म करेगा। उसका नाम विश्वामित्र होगा और वह गाधि का पुत्र तथा बृहस्पति के समान तपस्वी एवं प्रतापी होगा। दो पत्नियाँ इस स्वभाव के विपर्यास का कारण होंगी। यह सब ब्रह्मा की आज्ञा से ही होगा। तुम्हारी तीसरी पीढ़ी में ब्राह्मणत्व से युक्त पुरुष होगा और इस प्रकार तुम धर्मात्मा भृगुओं से सम्बद्ध होओगे।" २०. "इस प्रकार (भीष्म अन्त में कहते है) मैंने तुम्हें भृगुओं और कुशिकों के सम्बन्ध का कारण विस्तारपूर्वक बता दिया। यह सब परशुराम और विश्वामित्र का जन्म होने से सत्य सिद्ध हुआ।"

क्या यह आख्यान वस्तुतः एक तथ्य का कारण बताने के लिए कहा गया है? क्या परशुराम पुरोहितों के वंश के परन्तु कर्म से क्षत्रिय थे जैसा कि उसके विपरीत विश्वामित्र क्षत्रिय वंश के होते हुए भी पुरोहित का कर्म कर्म करते थे?

विष्णुपुराण ४. ११, ३ (विलसन, चार पेजी सं० पृ० ४१६, ४१७) के अनुसार अर्जुन यदुवंशी था। वह हैहय से नवीं पीढ़ी में और उपरोक्त राजा का प्रपौत्र था। उसके विषय में वहाँ निम्नलिखित वर्णन है।

कृतवीर्याद् अर्जुनः सप्त-द्वीपपतिर् बाहु-सहस्री जज्ञे योऽसौ भगवद्-अंशम् अत्रि-कुल-प्रसूतं दत्तात्रेयाख्यम् आराध्य बाहुसहस्रम् अधर्म-सेवा-निवारणं धर्मेण पृथिवीजयं धर्मतश् चानुपालनम् अरातिभ्योऽपराजयम् अखिल-जगत-प्रख्यात्-पुरुषाच च मृत्युम् इत्य् एतान् वरान् अभिलपितवान् लेभे च। तेन इयम् अशेषद्वीपवती पृथ्वी सम्यक् परिपालिता।

अनुशासन पर्व के अंश मे एक ऊर्व का नाम आया है, जो ऋचीक के पिता हैं, और इस प्रकार पैतृक नाम औ‌र्व होगा, जैसा कि वस्तुत यह विष्णु पुराण मे पाया जाता है जो पृ० ३१६ पर उद्धृत है।

दश-यज्ञ-सहस्राण्य् असाव् अयजत्। तस्य च श्लोकोऽत्रापि गीयते "न नूणां कार्त्तवीर्य्यस्य गतिं यास्यन्ति पार्थिवाः। यज्ञैर् दानैर तपोभिर् वा प्रश्रयेण दमेन च।" अनष्टद्रव्यता तस्य राज्ञेऽभवन्। ४. एवम् पञ्चाशीति-सहस्राण्य् अब्दान् अव्याहतारोग्य-श्री-बल-पराक्रमो राज्यम् अकरोत्। माहिष्मत्याम् दिग्-विजयाभ्यागतो नर्मदा-जालावगाहन-क्रीडा-निपान-मदाकुलेन अयत्नेनैव तेन अशेष-देव-दैत्य-गन्धर्वेश-जयोद्भूत-मदावलेपोऽपि रावणः पशुर् इव बद्धः स्वनगरैकान्ते स्थापिता। ५. यः पञ्चाशीतिवर्ष-सहस्रोपलक्षण-कालावसाने भगवन्-नारायणांशेन परशुरामेण उपसंहृतः।

"कृतवीर्य से अर्जुन हुआ जो सातों द्वीपों का [वृत्ताकार और एककेन्द्रीय द्वीप जिनसे पृथ्वी बनी है] स्वामी हुआ और जिसकी एक सहस्र भुजायें थीं। क्षत्रियवंश के दत्तात्रेय नाम के ईश्वर के अंश की पूजा करके उसने ये वर माँगे और प्राप्त किये : 'सहस्र भुजायें, अधर्म को धर्म से रोकने की शक्ति, पृथ्वी की विजय, धर्म के साथ पृथ्वी पर शासन करने की प्रवृत्ति, शत्रु द्वारा अजेयता, और सम्पूर्ण ससार में ख्यात मनुष्य के हाथों मृत्यु।' उसने सभी द्वीपों के साथ पृथ्वी का सम्यक् पालन किया। उसने दस सहस्र यज्ञ किये। उसके विषय में आज भी यह श्लोक प्रचलित है : 'यज्ञ, दानशीलता, तपस्या, विनय तथा दम में कोई भी राजा कार्तवीर्य की समता नहीं कर सकता।' उसके राज्य में कभी धन का नाश नहीं होता था। ४. इस प्रकार निरोग रहकर, समृद्धि, शक्ति तथा प्रताप के साथ उसने पचासी सहस्र वर्ष तक राज्य किया। नर्मदा में विहार करने और सुरा पान से मत्त होने पर उस रावण को भी बाँधने में और राजधानी में एकान्त में बन्दी बनाने में उसे कोई कठिनाई नहीं हुई जो सभी देवों, दैत्यों, गन्धर्वों की विजय के गर्व से उन्मत्त होकर दिग्विजय करता हुआ माहिष्मती में आया था। अपने पचासी सहस्र वर्ष के राज्य के अन्त में अर्जुन परशुराम के हाथों मारा गया जो स्वयं भगवान् नारायण के अवतार थे।"

भागवतपुराण ९. २३, २०-२७ में भी उसकी यही उत्पत्ति बताई और उसकी यही कथा कही गई है। श्लोक २३ में कहा गया है : अर्जुनः कृतवीर्य्यस्य सप्त-द्वीपेश्वरोऽभवत्। दत्तात्रेयाद् हरेर अंशात् प्राप्त-योग-महागुण। "अर्जुन कृतवीर्य का पुत्र और सात द्वीपों का राजा था। उसने दत्तात्रेय से, जो हरि के अंश थे, योग (तपस्या से उत्पन्न अतिमानवीय शक्ति) प्राप्त किया।"

परशुराम की कथा, जैसी कही गई है, वह निश्चय ही काल्पनिक है। इस वीर की चमत्कारपूर्ण शक्तियों की तथा असंख्य वार की गई विनाशलीला की तो बात ही क्या हम इसे भी संभव नहीं मान सकते कि समान्यतः ब्राह्मण शस्त्र द्वारा क्षत्रियों को परास्त करने के लिए पर्याप्त शक्तिशाली और युद्धप्रिय रहे होंगे। किन्तु इस आख्यान का कुछ तात्त्विक आधार अवश्य होगा। इसके पूर्व कि पुरोहित वर्ग तथा योद्धा वर्ग के क्षेत्र स्पष्टतः विभाजित हुए, ऐसे अवसर आये होंगे जब पुरोहित वर्ग के महात्वाकांक्षी पुरुषों ने सफलतापूर्वक राजसत्ता प्राप्त कर ली होगी और इसी प्रकार राजवंश के पुरुषों ने भी पुरोहितों और ऋषियों के रूप में कीर्ति प्राप्त कर ली होगी। किन्तु यह माने बिना भी इस प्रकार के अख्यानों के पाये जाने का कारण ब्राह्मणों द्वारा अन्ततः प्राप्त की गई सामाजिक प्रतिष्ठा ही है। उन क्षत्रियों के मस्तिक में, जिनकी कृपा पर वे आश्रित थे, अपनी श्रेष्ठता बनाये रखने के लिये, तथा सम्मान और धन प्राप्त करने के लिए उन्होंने अपने पूर्वजों द्वारा अत्याचारी राजाओं को दिये गये अस्वाभाविक दण्डों की कथायें रचकर तथा पुरोहित की धर्मव्यवस्था को नम्रतापूर्वक स्वीकार करने वाले राजाओं की समृद्धि का सजीव चित्रण कर अपने समकालीन सम्पन्न व्यक्तियों की अन्धविश्वासपूर्ण भावनाओं से लाभ उठाने का स्वार्थ सिद्ध किया होगा।



अध्याय ५

मनु एवं पुराणों के अनुसार ब्राह्मणीय भारतीयों का प्रतिवेशी जातियों के साथ संबन्ध

अब मैं यह विवेचन करूँगा कि भारतीय लेखकों ने उन जातियों के विषय में क्या वर्णन दिये हैं, जो उनके अपने राज्य के अन्तर्गत नहीं आती थीं, किन्तु जिनके साथ हिन्दुस्तान की सीमाओं के भीतर या समीप में निवास करने के कारण उनके देशवासी प्राचीन काल में निरन्तर सम्पर्क में आते थे।

पूर्ण विकसित हिन्दू धर्म एवं संस्थाओं से सम्बद्ध सभी विषयों पर सर्वोच्च प्रमाण मनु का यह मत प्रतीत होता है कि ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों के चार वर्णों के अतिरिक्त मनुष्य की कोई और मौलिक जाति नहीं थी और सभी जातियाँ इन्हीं लोगों से उत्पन्न हुईं। उनके वाक्य (१०. ४) ये हैं: ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस् त्रयो वर्णाः द्विजातयः। चतुर्थः एकजातिस् तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः।"ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये तीन द्विजातियाँ हैं। चौथे शूद्र एक जाति होते हैं, और कोई पाँचवा वर्ण नहीं है।" इस श्लोक के अन्तिम वाक्य पर कुल्लूक भट्ट इस प्रकार टीका करते हैं : पञ्चमः पुनर् वर्णो नास्ति सङ्कीर्ण-जातीनां त्व् अश्वतर-वद् माता-पितृजाति-व्यतिरिक्त-जात्य् अन्तरत्वाद् न वर्णत्वम्। अयं च जात्य् अन्तरोपदेशः शास्त्रे संव्यवहरणार्थः। "कोई पाँचवा वर्ण नहीं है, क्योंकि संकर जातियों का वर्ण नहीं बताया जा सकता, कारण, अश्वतर के समान उनकी एक और ही जाति होती है जो उनके माता और पिता से भिन्न होती है। शास्त्रों में चार जातियों के अतिरिक्त अन्य जातियों का यह उल्लेख केवल सुविधा एवं सामान्य प्रचलन की दृष्टि से किया गया है।"

परिणामतः नीचे दिये गये निम्न जातियों के उदय के वर्णन में, जो मनु ने उसी अध्याय में दिया है, नितान्त निम्नकोटि की निषाद और चाण्डाल जातियों को भी चार तथा कथित मौलिक जातियों के संकर से ही उत्पन्न बताया गया है। इस प्रकार ८ वें मन्त्र में कहा गया है : ब्राह्मणाद् वैश्य-कन्यायाम् अम्बष्ठो नाम जायते। निषादः शूद्र-कन्यायां यः पराशव उच्यते। "ब्राह्मण पिता और वैश्य माता से अम्बष्ठ सन्तान उत्पन्न होती है, ब्राह्मण पिता और शूद्र माता से निषाद उत्पन्न होते हैं जिन्हें पराशव कहते

हैं।"[1] पुनः श्लोक १२ में : शूद्राद् आयोगव. क्षत्ता चाण्डालश् चाधमो नृणाम् । वैश्य-राजन्य-विप्रासु जायन्ते वर्ण-सङ्कराः । "शूद्र से वैश्य, क्षत्रिय, तथा ब्राह्मण के वर्णों की स्त्रियों से ये संकर वर्ण, अयोगव, क्षत्तृ तथा चण्डाल उत्पन्न हुए जो मनुष्यों में सब से निकृष्ट थे।" पुनः श्लोक २० मे : द्विजातय. सवर्णासु जनयन्त्य् अव्रतांस् तु यान् । तान् सावित्री-परिभ्रष्टान् व्रात्याः इति विनिर्दिशेत् । "जिन व्यक्तियों को द्विजाति अपने वर्ण की स्त्रियों से उत्पन्न करते है किन्तु जो विहित क्रियाओं का अनुष्ठान नही करते और जिन्होंने गायत्री का परित्याग कर दिया है उन्हे व्रात्य कहते है।"[2] आगे के तीन श्लोकों में निम्न वर्णों, जो क्रमश. ब्राह्मण व्रात्य, क्षत्रिय व्रात्य, तथा वैश्य व्रात्य से उत्पन्न हुए, की गणना की गई है।

---

[1] यह ज्ञात नही होता कि पृ० ३४०, तथा ३४२ पर दी गई निपाद जाति की राजा वेण से उत्पत्ति का वर्णन मनु के मत के साथ कैसे मेल खा सकता है जब तक कि इस व्याख्या का सहारा न लिया जाय कि यह कथा स्वायम्भुव मन्वन्तर से सम्बद्ध है। किन्तु मनु का वर्णन् भी उसी काल की ओर सकेत करता है। देखिए ऊपर प० ४५। यदि वैदिक शब्द "पञ्चजना" और "पाच जातियो" का अर्थ रखने वाले अन्य शब्दो का उचित रूप से "चार वर्णो और निपादो" का अर्थ लिया जाय तो हम इससे यह अर्थ लगा सकते हे कि एक समय मे निपादो की भिन्न जाति मानी जाती थी। किन्तु प्राचीन वैदिक व्याख्याकार इस शब्द का विविध रूप मे अर्थ लगाते है जैसा कि ऊपर पृ० २०२ पर दर्शाया गया है।

[2] मनु का कथन है २ ३८ आदि · आ-पोडसाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्त्तते। आ-द्वाविंशत् क्षत्रबन्धोर् आ-चतुर्विंशतेर् विश । अत ऊर्द्ध त्रयोऽप्य् एते यथा-कालम् असंस्कृता । सावित्री पतिता व्रात्या भवन्त्य् आर्यनिर्गर्हिताः।

"ब्राह्मण हो तो सोलह वर्ष के उपरान्त गायत्री मे विलम्ब नही होना चाहिए, और क्षत्रिय का बाइसवे वर्ष तथा वैश्य का चौवीसवें वर्ष के उपरान्त अधिकार नहीं रह जाता। इस समय के उपरान्त इन तीन वर्णों के बालक, जिनका अपनयन नही होता, गायत्री से पतित होकर व्रात्य हो जाते है और आर्यों द्वारा निन्द्य होते है।" महाभारत १३ ४९, ९ के इस श्लोक मे व्रात्यों की एक भिन्न उत्पत्ति वताई गई है चाण्डालो व्रात्य वैद्यौ च ब्राह्मण्या क्षत्रियासु च। वैश्यायां चैव शूद्रस्य लक्ष्यन्तेऽपसदास् त्रय । 'तीन अजातियाँ ह चाण्डाल, व्रात्य और वैद्य जो क्रमश ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जाति की स्त्रियो से शूद्र द्वारा उत्पन्न होते हैं।" अतएव इस वर्णन के अनुसार व्रात्य शूद्र

श्लोक ४३ और ४४ मे कहा गया है : शनकैस तु क्रिया-लोपाद् इमाः क्षत्रिय जातयः। वृषलत्व गताः लोके ब्राह्मणादर्शनेन च। पौण्ड्रकाश् चोड्र-द्रविडाः काम्बोजा. यवनाः शकाः। पारदाः पाह्लवाश् चीनाः किराताः दरदाः खशाः। "क्षत्रियों की निम्नलिखित जातियाँ पवित्र क्रियाओं एवं ब्राह्मणों से सम्पर्क न रखने के कारण क्रमशः वृषलों की अवस्था मे पतित हो गई है : पौण्ड्रक, ओड्र, द्रविड, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद तथा खश।"

महाभारत १३. ३३, २१ में भी यही बात कही गई है : शकाः यवन-काम्बोजास् तास् ता. क्षत्रिय-जातयः। वृषलत्वम् परिगता ब्राह्मणानाम् आदर्शनात्। द्राविडश् च कलिन्दाश् च पुलिन्दाश् चाप्य् उशीनराः। कोलिसर्पाः माहिषकास् तास् ताः क्षत्रिय-जातयः इत्यादि। "क्षत्रियों की ये जातियो अर्थात् शक, यवन, काम्बोज, द्रविड, कलिन्द पुलिन्द, उशीनर, कोलिसर्प और माहिषक, ब्राह्मणों के अदर्शन से वृषल हो गये हैं।" इसकी आवृत्ति १३. ३५, १७ मे भी है जहा निम्नलिखित जातियों का नामोल्लेख किया गया है : मेकल, लाट, कन्वशिरस्, शाण्डीक, दर्व, चौर, शबर, बर्बर, और किरात; और इनके पतन का कारण १३ ३३, २१ के समान ही, ब्राह्मणों से सम्बन्ध-विच्छेद तक सीमित है। (तब ब्राह्मणों की स्तुति वाली पक्तियाँ (१३. ३५, १९ आदि) आती हैं, जो पृ० १४७ पर उद्धृत हैं)।

यवनों को महाभारत, १.८५, मे "तुर्वसु का वंशज, वैभोजों को द्रुह्यु का वंशज, और म्लेच्छों को अनु का वशज" कहा गया है (यदोस् तु यादवाः जातास् तुर्वसोर यवना. स्मृताः। द्रुह्योः सुतास् तु वैभोजाः अनोस् तु म्लेच्छ-जातयः)। क्या इसका यह अर्थ है कि यवनों को म्लेच्छों के अन्तर्गत नहीं रखना चाहिये ? फिर भी, तुर्वसु से इनकी उत्पत्ति का उपरोद्धृत उन अधिकारियों के मत से कोई विरोध नहीं जो इन्हें पतित क्षत्रिय मानते है।

मैं यह निर्णय नहीं करूँगा कि इस अश में वर्णित यवन और अन्य जातियाँ कौन थी।

मनु से पहले उद्धृत श्लोक के बाद आने वाला श्लोक इस प्रकार है
४५. मुख-बाहूरु-पज्-जानाम् या लोके जातयो वहिः। म्लेच्छ-वाचश् चार्य्य-वाच. सर्वे ते दस्यवः स्मृतः। "वे वर्ग जो मुख, बाहु, ऊरु और चरणों से उत्पन्न वर्गों [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र] के बाहर थे, चाहे वे म्लेच्छों की भाषा बोलते हों या आर्यों का, दस्यु कहे जाते है।" इस श्लोक

पुरुष और क्षत्रिय स्त्री से उत्पन्न पुत्र होता है। व्रात्यो के विषय मे देखिए वेबर, इ० स्टू० १ ३३, ५२, १३८, १३९, ४४५, ४४६, इत्यादि।

की दी गई व्याख्या उसी अर्थ पर पहुँचती है जो अर्थ हम "बाहर" (बहिः) को प्रदान करते हैं। क्या इसका यह अर्थ है कि दस्यु एक ऐसी जाति या वर्ग के लोग थे जो चार आद्य वर्णों से मूलतः भिन्न थे और इसीलिए उन जातियों से भिन्न रहे जो इन चारों वर्णों के मिश्रण से उत्पन्न हुई या जो यज्ञ-क्रियाओं की अवहेलना करने के कारण उनके सम्पर्क से दूर हो गई? अथवा इसका केवल यही अर्थ है कि दस्यु अन्ततः चार वर्णों के सम्पर्क से दूर हो गये? यदि दूसरे अर्थ को लिया जाय तो दस्यु एक सामान्य सञ्ज्ञा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जिसके अन्तर्गत श्लोक ४३ और ४४ में वर्णित जातियाँ आती हैं। टीकाकार कुल्लूक इसका दूसरा अर्थ लेते हैं। उनके शब्द हैं: ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्राणां क्रिया-लोपादिना याः जातयो वाह्याः जाताः म्लेच्छ-भाषायुक्ताः आर्य्य-भाषोपेताः वा ते दस्यवः सर्वे स्मृताः। "ये सभी जातियाँ, जो पवित्र क्रियाओं इत्यादि से च्युत होकर चार वर्णों, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों और शूद्रों से पतित हो गई हैं, चाहे वे म्लेच्छों या आर्यों की भाषा ही बोलती हों, दस्यु कहलाती हैं।" ऐतरेय ब्राह्मण में उनके विचार की पुष्टि होती है जो ऊपर (पृ० ४०३) उद्धृत है। इसमें विश्वामित्र अपने पुत्रों से कहते हैं. "तुम्हारे वंशज (देश के) अन्त तक के स्वामी बनें।" और ब्राह्मण के रचयिता का कथन है "अन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द, मूतिब, ये अनेक सीमावर्ती जातियाँ हैं। अधिकांश दस्यु विश्वामित्र से उत्पन्न हुए हैं।" यहाँ इस प्राचीन ब्राह्मण का लेखक कुछ और जातियों को भी गिनाता है जिनका उल्लेख मनु में या महाभारत में पतित क्षत्रियों के रूप में दस्यु नाम से किया गया है, और इस प्रकार यह तात्पर्य निकलता है कि यह सबके लिये प्रयुक्त होने वाला सामान्य नाम था। इस मत का समर्थन महाभारत २ २७, २३, की इन पंक्तियों से भी होता है: दरदान् सह काम्बोजैर् अजयत् पाकशासनिः। प्रागुत्तरां दिशं ये च वसन्त्य् आश्रित्य दस्यव। "इन्द्र के पुत्र ने काम्बोज सहित दरदों को और उत्तर-पूर्व में निवास करने वाले काम्बोजों को जीत लिया।" और उसी महाकाव्य के द्रोणपर्व ७. ११९, ४५ के इन श्लोकों से यह बात और भी पुष्ट होती है: काम्बोजानां सहस्रैश्च शकाना च विशाम्पते। शवराणां किरातानां वर्वराणां तथैव च। अगम्य-रूपाम् पृथिवीम् मांस-शोणित-कर्दमाम्। कृतवास् तत्र शैनेय. क्षपयस् तावकन् बलम्। दस्यूना स-शिरस्त्राणैः शिरोभिर् लून-मूर्द्धजै.। दीर्घ-कूर्चैर मही कीर्णा विवर्हैर् अण्डजैर् इव। "शैनेय ने तुम्हारी सेनाओं का नाश करके सुन्दर पृथ्वी को सहस्रों काम्बोजों, शकों, शबरों, किरातों और वर्वरों के मांस और रुधिर के कीचड में परिवर्तित कर दिया। पृथ्वी कटे

हुए, केशरहित किन्तु लम्बी दाढ़ियों वाले दस्युओं के सिरों से और उनके शिरस्त्राणों से भर गई मानों कटे हुए पंखों वाले पक्षियों से भरी हो।" यहाँ दस्यु शब्द स्पष्टतः अभी उल्लिखित जातियों के लिए एक सामान्य नाम है। इनमें से कुछ जातियों को ७ ११९, १५. २२. ४२ में म्लेच्छ कहा गया है। महाभारत २ ३२, १६ आदि भी देखिये।

शान्ति पर्व के ६५वें अध्याय में एक अंश है, जो उद्धृत करने योग्य है क्योंकि यह प्रदर्शित करता है कि उस युग के ब्राह्मण दस्युओं को ब्राह्मणीय संस्थाओं से संबद्ध मानते थे। राजा मान्धातृ ने विष्णु का दर्शन प्राप्त करने की अभिलाषा मे एक यज्ञ किया था, फलस्वरूप विष्णु उसके सम्मुख इन्द्र के रूप में उपस्थित हुए (१२. ६४, १६)। नीचे उनके वार्तालाप का एक अंश दिया जाता है। मान्धाता कहता है :

२.६५,१३ : यवनाः किराता गान्धाराश चीनाः शवर-वर्वराः। शकास् तुपाराः कंकाश च पह्लवाश चान्ध्र-मद्रकाः। १४. पौण्ड्राः पुलिन्दाः रमठाः काम्बोजाश चैव सर्वशः। ब्रह्म-क्षत्र-प्रसूताश च वैश्याः शूद्राश् च मानवाः। कथं धर्मांश् चरिष्यन्ति सर्वे विषय-वासिनः। मद् विधैश च कथ स्थाप्याः सर्वे वै दस्युजीविनः। एतद् इच्छाम्य अहं श्रोतुम् भगवास तद् ब्रवीहि मे। त्वम् बन्धु-भूतो ह्य अस्माक क्षत्रियाणा सुरेश्वर। इन्द्रः उवाच। मातापित्रोर् हि शुश्रूषा कर्त्तव्या सर्व-दस्युभिः। आचार्यगुरु-शुश्रूषा तथैवाश्रम वासिनाम्। भूमिपानां च शुश्रूषा कर्त्तव्या सर्व-दस्युभिः। वेद-धर्म क्रियाश् चैव तेषा धर्मो विधीयते। १९. पितृ-यज्ञाश् तथा कूपाः प्रपाश् च शयनानि च। दानानि च यथा काल द्विजेभ्यो विसृजेत् सदा। अहिंसा सत्यम् अक्रोधो वृत्ति-दायानुपालनम्। भरणम् पुत्र-दाराणां शौचम् अद्रोह एव च। दक्षिणा सर्व यज्ञाना दातव्या भूतिम् इच्छता। पाकयज्ञाः महार्हाश् च दातव्याः सर्व-दस्युभिः। एतान्य् एवम्प्रकाराणि विहितानि पुराऽनघ। सर्वलोकस्य कर्माणि कर्त्तव्यानीह पार्थिव। मन्धाता उवाच। दृश्यन्ते मानुषे लोके सर्व वर्णेषु दस्यवः। लिङ्गान्तरे वर्त्तमाना आश्रमेषु चतुर्ष्व अपि। इन्द्रः उवाच। २४. विनष्टाया दण्ड-नीत्या राज-धर्मे निराकृते। सम्प्रमुह्यन्ति भूतानि राज-दौरात्म्यतोऽनघ। असङ्ख्याता भविष्यन्ति भिक्षवो लिङ्गिनस् तथा। अश्रमाणा विकल्पश् च निवृत्तेऽस्मिन् कृते युगे। अश्रि-ष्यन्त पुराणाना धर्माणाम् परमाः गती। उत्पथम् प्रतिपत्स्यन्ते काम-मन्यु-समीरिता।

'यवन, किरात, गान्धार, चीन, शवर, वर्वर, शक, तुपार, कङ्क, पह्लव,

आन्ध्र, मद्र, पौण्ड्र, पुलिन्द, रमठ, काम्बोजों, ब्राह्मणों और क्षत्रियों से उत्पन्न हुए मनुष्य, वैश्य और शूद्र जाति के पुरुष—इन विभिन्न देशों के मनुष्य किस प्रकार के धर्म का पालन करेंगे, और मेरे जैसा राजा उनके लिए क्या नियम बना सकता है जो दस्युओं का जीवन व्यतीत करते हैं। मुझे इस विषय की शिक्षा दीजिए क्योंकि आप हमारी क्षत्रिय जाति के मित्र हैं।' इन्द्र उत्तर देते हैं' 'सभी दस्युओं को अपने माता-पिता, अपने अध्यात्म गुरुओं, और चार वर्णाश्रम का पालन करने वाले मनुष्यों तथा राजाओं की आज्ञा का पालन करना चाहिए। यह उनका धर्म है कि वे वेदविहित यज्ञ करें। उन्हें पितृयज्ञ करना चाहिए, कूप बनवाने चाहिए, जल पिलाने के लिए भवन बनाने चाहिए, जल पिलाने के लिए भवन बनाने चाहिए, यात्रियों के लिये विश्रामस्थान बनवाने चाहिए और उचित अवसरों पर ब्राह्मणों को दान देना चाहिए। उन्हें सरलता, सत्यता, नम्रता, पवित्रता और अहिंसा का आचरण करना चाहिए, अपनी पत्नियों एवं परिवारों का भरण-पोषण करना चाहिए, और उनके धन का उचित विभाजन करना चाहिए। समृद्धि की कामना रखनेवाला प्रत्येक अवसर पर दक्षिणा दे। सभी दस्युओं को पाकवलि देनी चाहिए। जिस प्रकार के धर्म प्राचीन काल में कहे गये हैं उनका पालन सभी मनुष्यों को करना चाहिए।' मान्धातृ कहते हैं' 'इस मनुष्यलोक में दस्यु सभी वर्णों में दिखाई पडते हैं जो दूसरे रूप में जीवित हैं; वे चारों आश्रमों के मनुष्यों में भी हैं।' इन्द्र उत्तर देते हैं : 'जब दण्डनीति विनष्ट हो जाती है और राजधर्म तिरस्कृत होता है, तो मानव जाति अपने राजाओं की दुष्टता से मूढ़ हो जाती है। जब इस कृत युग का अन्त हो जायगा तो असंख्य भिक्षुक, धर्म के पाखण्डी उत्पन्न होंगे, और चारों आश्रम अव्यवस्थित हो जायेंगे। प्राचीन धर्म के सुन्दर मार्ग की अवहेलना कर और वासना तथा क्रोध के वशीभूत होकर मनुष्य दुष्ट हो जायेंगे" इत्यादि। इन अन्तिम उक्तियों में यह अप्रत्यक्ष अर्थ है कि कृत (स्वर्ण) युग में वर्णों और आश्रम की ब्राह्मणीय राजनीति पूर्णत' मान्य थी। तथापि यह विचार उन वर्णनों के विपरीत जा ठहरता है जो हम इनमें से यद्यपि सब में नहीं तथापि कुछ अंशों में पाते हैं। ऊपर प्रथम अध्याय में उद्धृत अंशों को देखिए।

विष्णु पुराण में भारतवर्ष की पूर्वी सीमाओं में किरातों के निवास करने और पश्चिमी सीमा पर यवनों के निवास करने का वर्णन किया गया है, जबकि मध्य में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, यज्ञ, युद्ध, व्यापार आदि का विधिनियत व्यवसाय करते हैं (विष्णु पुराण २. ३, ७ : पूर्वे किराता' यस्यान्ते पश्चिमे यवनाः स्थिता'। ब्राह्मणा· क्षत्रिया· वैश्याः मध्ये

शूद्राश् च भागशः। इज्या-युद्ध-वणिज्याद्यैर् वर्त्तयन्तो व्यवस्थिताः)।

यवनों, शकों, काम्बोजों इत्यादि के विषय में मनु का वर्णन नीचे दी गई कथा से मिलता जुलता है, जो विष्णुपुराण के चतुर्थ अंश के खण्ड ३ में मिलती है। बाहु, जो हरिश्चन्द्र की सातवीं पीढ़ी में हुए थे (देखिए ऊपर पृ० ४२७) हैययों और तालजङ्घों[1] से पराजित हुए और अपनी रानी के साथ वन में भागने को विवश हो गये जहाँ उनकी मृत्यु हो गई। उनकी मृत्यु के उपरान्त उनकी एक रानी ने एक पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम सगर पड़ा। जब वह बालक बड़ा हुआ तो उसने अपनी माता से अपने पिता की दुर्दशा का हाल जाना।

अनुच्छेद १८. ततः पितृ-राज्य-हरणामर्षितो हैहय तालजङ्घादि-वधाय प्रतिज्ञाम् अकरोत् प्रायशश्च हैहयान् जघान। शक-यवन-काम्बोज-पारद-पह्लवाः हन्यमानास् तत्कुल-गुरु वशिष्ठम् शरणं ययुः। १९. अथ एतान् वशिष्ठो जीवन्-मृतकान् कृत्वा सगरम् आह "वत्स वत्स अलम् एभिर अति-जीवन्-मृतकैर् अनुसृतैः। २०. एते च मया एव त्वत्-प्रतिज्ञा-परिपालनाय निज-धर्म-द्विज-सङ्ग-परित्यागं कारिताः"। २१. स "तथा" इति तद् गुरु-वचनम् अभिनन्द्य तेषां वेषान्यत्वम् अकारयत्। यवनात् अपमुण्डित शिरसोऽर्धमुण्डान् शकान् प्रलम्ब-केशान पारदान् पह्लवास् श्मश्रु-धरान् निः-स्वाध्याय-वषट्कारान् एतान् अन्यांश् च क्षत्रियान् चकार। ते च निज-धर्म प्रतियागाद् ब्राह्मणैश् परित्यक्ता म्लेच्छतां ययुः।

"अपने पतृक राज्य के नाश पर सन्तप्त होकर उसने हैहयों और अन्य शत्रुओं को, जिन्होंने राज्य को जीत लिया था, मिटा देने की प्रतिज्ञा की। जब शक, यवन, काम्बोज, पारद और पह्लवों के साथ भी यही दुर्दशा होने को थी, तब वे राजा के पुरोहित, वशिष्ठ, के पास पहुँचे जिन्होंने उनकी ओर से मध्यस्थता की और ये शब्द सगर से कहे, जिनमें उन्होंने उन्हें वस्तुतः मृत रूप में वर्णित किया: 'मेरे पुत्र, तुमने इन लोगों को, जो मृतवत् हैं, खदेड़कर बहुत उत्तम कार्य किया है। तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी हो सके इस विचार से मैंने उन्हें स्वधर्म एवं ब्राह्मण संगति का त्याग करने के लिए बाध्य कर दिया है।' अपने धर्मगुरु के प्रस्ताव से सहमत होकर सगर ने इन जातियों को अपना वेष

---

[1] देखिए विल्सन का विष्णुपुराण ४ पेजो स० पृ० ४१६ तथा ४१८ टिप्पणी। पृ० ४१८ की टिप्पणी में आवन्त्यों का उल्लेख, विष्णुपुराण के आधार पर हैहयों की शाखा के रूप में किया गया है। मनु १० २१ में आवन्त्यों को शापग्रस्त व्रात्य से उत्पन्न कहा गया है।

परिवर्तित करने को वाध्य किया। यवनों को अपना सिर मुड़ा लेने के लिए, शकों को आधा सिर मुडाने के लिये, पारदों को लम्बे केश रखने के लिये और पह्लवों को दाढ़ी रखने के लिये वाध्य किया। इन और अन्य क्षत्रियों के लिये उन्होंने वेदाध्ययन और वषट्कार निषिद्ध कर दिया। स्वधर्म के त्याग एव ब्राह्मणों की संगति से पृथक् होने के कारण वे म्लेच्छ हो गये।"

यही कथा हरिवंश में भी गही गई है, जिससे निम्नलिखित अन्तिम अंश को मैं यहाँ उद्धृत करता हूँ :—

७७३. और्वस् तु जातकर्मादि तस्य कृत्वा महात्मनः। अध्याप्य वेदान् अखिलान् ततोऽस्त्रम् प्रत्यपादयत। आग्नेय तु महाबाहुर् अमरैरपि दुस्सहम्। स तेनास्त्र बलेनाजौ बलेन च समन्वित'। हैययान् निजघानाशु क्रुद्धो रुद्र,ः पशून् इव। आजहार च लोकेषु कीर्त्तिं कीर्त्तिमतां वरः। ततः शकान् स-यवनान् काम्बोजान् पारदास् तथा। पह्लवांश् चैव निश्शेषान् कर्त्तुं व्यवसितः किल। ते बध्यमाना. वीरेण सगरेण महात्मना। वशिष्ठं शरणं गत्वा प्रणिपेतुर् मनीषिणम्। वशिष्ठस् त्व् अथ तान् दृष्ट्वा समयेन महाद्युतिः। सगरं वारयामास तेषां दत्त्वाऽभयं तदा। सगरः स्वाम् प्रतिज्ञा च गुरोर् वाक्यं निशम्य च। धर्मं जघान तेषां वै वेशान्यत्वं चकार ह। अर्द्धं शकानां शिरसो मुण्डयित्वा व्यसर्जयत्। यवनानां शिरः सर्वं काम्बोजानां तथैव च। पारदाः मुक्तकेशाश्च पह्लवाः श्मश्रु-धारिणः। निस्स्वाध्याय वषट्काराः कृतास् तेन महात्मना। शकाः यवन-काम्बोजाः पारदाः पह्लवास तथा। कोलिसर्पाः स-महिषाः दार्वस् चोलाः स-केरलाः। सर्वे ते क्षत्रियास् तात तेषां धर्मो निराकृतः। वशिष्ठ-वचनाद् राजन् सगरेण महात्मना।

"और्व ने सगर का जातकर्म इत्यादि करके उसे सभी वेदों की शिक्षा दी और एक घोर अस्त्र भी दिया जिसके समक्ष देवता भी नहीं टिक सकते थे। इस अस्त्र की शक्ति से एवं एक सेना को साथ लेकर क्रोधित सगर ने हैहयों का उसी प्रकार शीघ्र नाश किया जिस प्रकार रुद्र पशुओं का वध करते हैं, और उसने सम्पूर्ण विश्व में महान् कीर्ति प्राप्त कर ली। तब उसने शकों, यवनों, काम्बोजों, पारदों और पह्लवों को मिटाना आरम्भ कर दिया। किन्तु सगर द्वारा विनष्ट होने के पूर्व ही वे ऋषि वसिष्ठ के निकट पहुँचे और उनके सम्मुख गिर पडे। वसिष्ठ ने उन्हे देखकर एक प्रतीक द्वारा सगर का वारण किया और उन्हें अभय प्रदान करते हुए रक्षा करने का आश्वासन दिया। सगर ने अपनी प्रतिज्ञा का विचार कर और अपने गुरु के वचन को सुनकर उनकी जाति (धर्म) को नष्ट कर दिया और उन्हें अपना वेप परि-

वर्तित करने के लिए बाध्य किया। शकों के सिरों को आधा मुँडवा कर उन्होंने उन्हें छोड़ दिया—और यवनों तथा काम्बोजों के सिरों को पूरा मुण्डन कराकर छोड़ दिया। पारदों को लम्बे केश रखने और पह्लवों को दाढ़ी रखने के लिये बाध्य किया। उन सबको वेदाध्ययन और वषट्कार से वहिष्कार कर दिया। शक, यवन, काम्बोज, पारद, पह्लव, कोलिसर्प, महिषर, दार्व, चोल तथा केरल सभी क्षत्रिय थे, किन्तु महाराज सगर ने वसिष्ठ के परामर्श से उन्हें सामाजिक और धार्मिक पद से वञ्चित कर दिया।" आगे की पक्तियों में दूसरी जातियों का भी वर्णन है, जिनकी उसी प्रकार दशा हुई प्रतीत होती है।

इस आख्यान से तथा इसके पहले आनेवाले उद्धरणों से यह प्रतीत होगा कि महाकाव्यों तथा पुराणों के रचयिता चारों ओर निवास करने वाली सभी जातियों को उसी मौलिक जाति-परिवार का मानते थे, जिस परिवार के वे स्वय थे, यद्यपि कभी-कभी वे भ्रमवश यह सोचते थे कि ये जातियाँ ब्राह्मणीय सस्कृति से च्युत हो गई हैं, और इस प्रकार वे अपनी व्यवस्था को एक ऐसी प्राचीनता प्रदान करते थे जिसकी वह वस्तुत अधिकारिणी नहीं थी। इस विषय पर कुछ और विवरण इस कृति के दूसरे भाग में देखने चाहिएँ।

ऊपर रामायण और महाभारत से उद्धृत (पृ० ४४१, ४४२ और ४४४) अंशों में यह कहा गया है कि शकों, यवनों, पह्लवों आदि की रचना वसिष्ठ की अद्भुत कर्म करने वाली गौ ने विश्वामित्र को परास्त करने के लिए की थी। यह प्रतीत नहीं होता कि इस आख्यान का उद्देश्य उन जातियों की अद्भुत उत्पत्ति को प्रस्तुत करना है। यदि कथा कहने वालों का कोई निश्चित अभिप्राय होता तो इससे अधिक नहीं हो सकता था कि इस गौ ने पहले विद्यमान जातियों के वंश की ही बड़ी सेना उत्पन्न की।

यह कहना सरल नहीं है कि पौराणिक लेखक का अभिप्राय भारतवर्ष के निवासियों (अर्थात् जम्बूद्वीप का एक अंश जिसे भारत कहा गया है) को ही चार आदिम भारतीय वर्णों से उत्पन्न बताने का है या किसी अन्य जाति को। कदाचित् स्वयं लेखकों के ही विचार इस विषय में स्पष्ट नहीं हैं। कुछ भी हो, दोनों स्थितियों में जीवन की दशाये भिन्न हैं। इन लेखकों ने जम्बूद्वीप के अन्य भागों या अन्य द्वीपों के, जिनसे वे पृथ्वी को निर्मित मानते थे, तथा वहाँ के निवासियों के जो वर्णन दिये हैं उनका विवेचन अगले अध्याय में किया जायगा।



अध्याय ६

भारत-बाह्य पृथ्वी के भागों के पौराणिक वर्णन

प्रस्तुत अध्याय के वर्णनों से यह स्पष्ट ज्ञात हो जायगा कि पुराणों के लेखक या संग्रहकर्त्ता वस्तुत अपने निकटवर्ती भूभागों के अतिरिक्त संसार के किसी भाग का ज्ञान नहीं रखते थे। जब कभी वे अपने प्रतिवेशी भूभाग के उस पार जाते थे तब वे एक रहस्यमय लोक मे तत्काल स्वयं को भूल जाते थे और अपनी बे सिर-पैर की कल्पनाओं के घोडे दौडाने लगते थे।

नीचे पृथ्वी के भागों एवं उस पर निवास करनेवाली जातियों के विषय में विष्णु पुराण में दिया हुआ वर्णन उद्धृत है। स्वायम्भुव या प्रथम मनु के (देखिए ऊपर पृ० ७५ और ८३), जो वर्तमान काल से बहुत पूर्व हुए थे, (देखिए पृ० ५० आदि तथा ३३७) पुत्र प्रियव्रत ने "सात द्वीपों[1] को जिससे पृथ्वी निर्मित है, अपने सात पुत्रों में विभाजन किया।" (२. १, ७ प्रियव्रतो ददौ तेषां सप्तानाम् मुनि-सत्तम। विभज्य सप्त द्वीपानि मैत्रेय सुमहात्मनाम्)।

भागवत पुराण ५, १. ३० में यह वर्णन मिलता है 'तद् अनभिनन्दन् सम-जवेन रथेन ज्योतिर्मयेन रजनीम् अपि दिनं करिष्यामि इति सप्त-कृत्वस् तरणिम् अनुपर्य्यक्रामद् द्वितीयः इव पतङ्ग'। [एवं कुर्वाणम् प्रियव्रतम् आगत्य चतुराननस् "तवाधिकारोऽयं न भवति" इति निवार-यामास] (कोष्ठक में दिये गये शब्द बम्बई संस्करण में नही है किन्तु बरनफ के सस्करण से लिये गये है) ३१ ये वै उ ह तद्-रथ-चरण-नेमि-कृतपरिखातास् ते सप्त सिन्धवः आसन् यतः एव कृता' सप्त भुवो द्वीपाः।[2]

---

[1] पृथ्वी का सात द्वीपो मे मूलत विभाजन करने का श्रेय ब्रह्मा रूप धारी नारायण को दिया गया है देखिए ऊपर पृ० ५९ तथा ८७।

[2] इस अश मे वै, उ, ह, ये अव्यय एक साथ ही प्रयुक्त हुए है जिस प्रकार ये वैदिक सूक्तो और ब्राह्मणो मे प्रयुक्त होते है। इस स्थिति से यह सकेत मिल सकता है कि संभवत यह अश या इसका मूल वर्णन किसी ब्राह्मण से लिया गया है (जिस ब्राह्मण का, जैसा कि हम पृ० १७६, की टिप्पणी मे देख चुके ह, अपने विषयो के लिये पुराण का सकलनकर्त्ता प्रायः आश्रय लेता था), किन्तु इसके

"प्रियव्रत ने इस बात से असन्तुष्ट होकर कि केवल पृथ्वी का आधा भाग ही एक समय में सूर्य की किरणों से प्रकाशित होता था, अपने प्रकाशयुक्त रथ में, जो सूर्य के समान प्रकाश वाला था, एक दूसरे सूर्यमण्डल के समान सूर्य के पीछे पीछे पृथ्वी की परिक्रमा की और रात्रि का दिन में परिवर्तित कर देने की प्रतिज्ञा की। [ब्रह्मा आये और उन्होंने यह कहकर उसे रोक दिया कि यह उसका कार्य नहीं है]। उसके रथ के पहियों के चलने से जो कीचड़ बना वही सात समुद्र हुआ। इस प्रकार पृथ्वी के सात द्वीप बने।"

इसी दशा का उस ग्रन्थ के १६ वें खण्ड के आरम्भ में वर्णन किया गया है जिसमें राजा ऋषि से कहते हैं . श्लोक २. तत्रापि प्रियव्रत-रथ-चरण-परिखातैः सप्तभि. सप्त सिन्धव. उपक्लृप्ता'। यतः एतस्याः सप्त-द्वीप-

---

अतिरिक्त शैली में कोई प्राचीनता की झलक नहीं दिखाई देती और मुझे यह ज्ञात नहीं कि ब्राह्मणों में भी कहीं द्वीपों का उल्लेख किया गया है। यह भी उल्लेखनीय है कि 'सप्त सिन्धव' शब्द का प्रयोग "सात समुद्रों" के लिए किया गया है। यह शब्द वेद में अनेकश आता है: उदाहरणार्थ वाजसनेयि संहिता (यजुर्वेद) ३८, २६ में हम यह कथन पाते हैं यावती द्यावापृथिवी यावच् च सप्त सिन्धवो वितस्थिरे। "जितनी दूर पृथ्वी और आकाश है और जितनी दूर सात समुद्र फैले हैं।" भाष्यकार महीधर सप्तसिन्धवः का पौराणिक अर्थ, दुग्ध आदि समुद्र, लेते हैं (सप्त सिन्धव सप्त समुद्रा क्षीराद्या')। जिस अर्द्धर्च को मैंने वाज० स० से उद्धृत किया है वह कुछ परिवर्तित रूप में तथा भिन्न सन्दर्भ में, अथर्ववेद ४ ६, २ में आया है। वही शब्द सप्त सिन्धव. ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में भी अनेक स्थलों पर मिलता है। (देखिए बेनफे के सामवेद की ग्लासरी में 'सप्तन्')। ऋग्वेद १ ३२, १२ में इन्द्र से कहा गया है अवासृज सर्त्तवे सप्त सिन्धून्। "तुमने सात नदियों को प्रवाहित होने के लिये छोड़ दिया।" सायण इससे गङ्गा और अन्य नदियों का अर्थ लेते हैं, जो संख्या में सात हैं और ऋग्वेद १० ७५,५ में उल्लिखित हैं इमम् मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या। "हे गङ्गा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्री, परुष्णी आदि के साथ मेरी इस प्रार्थना को स्वीकार करो।" किन्तु यहां कुल मिलाकर दस नदियों का उल्लेख किया गया है। (देखिए विलसन की ऋग्वेद १ ३२, १२ पर टिप्पणी, उनके अनुवाद का भाग १ पृ० ८८)। देखिए सूक्त ३४, ८, ३५, ८; ७१ ७ तथा प्रथम का १०२ २ तथा अष्टम मण्डल का ५८, १२ तथा ८५, १। वेद की "सात नदियाँ" प्रोफेसर मूलर (चिप्स् फ्राम ए जर्मन वर्कशाप भाग १, पृ० ६३) के अनुसार "सिन्धु तथा पंजाब की पाँच नदियाँ और सरस्वती।"

विशेष-विकल्पस् त्वया भगवन् खलु सूचितः। "सात समुद्रों की रचना प्रियव्रत के रथ के सात गड्ढों से हुई, अतएव, जैसा आपने निर्देश किया है, पृथ्वी सात विभिन्न द्वीपों में विभक्त है।"

यह स्पष्ट है कि भागवत पुराण का सात समुद्रों एवं द्वीपों की रचना का यह वर्णन विष्णु पुराण के वर्णन से साम्य रखता है जो ऊपर पृ० ५९ पर उद्धृत है।

इन सात द्वीपों को "जम्बू द्वीप, प्लक्ष द्वीप, शाल्मली द्वीप, कुश द्वीप, क्रौञ्च द्वीप, शाक द्वीप, तथा पुष्कर द्वीप" कहते है। ये सभी अलग-अलग सात महासागरों से घिरे हुए हैं, जो नमक के जल, ईख के रस, सुरा, घृत, दधि, दुग्ध तथा स्वच्छ जल के हैं" (विष्णु पु० २. २, ४. जम्बू प्लक्षाह्वयो द्वीपौ शाल्मलिश चापरो द्विज। कुश' क्रौञ्चस् तथा शाकः पुष्करश् चैव सप्तमः। ५. एते द्वीपाः समुद्रैस् तु सप्त सप्तभिर् आवृता.। लवणेक्षु-सुरा-सर्पिर्-दधि-दुग्धजलैः समम्)। जम्बूद्वीप इन सबके केन्द्र में स्थित है (विलसन, भाग २ पृ० ११०)। प्रियव्रत के पुत्र अग्नीध्र ने इसे पुनः नौ पुत्रों में बाँटा (विलसन २. १०१)। जम्बूद्वीप के मध्य में सोने का मेरु पर्वत है जो ८४,००० योजन ऊँचा है और उसके ऊपर ब्रह्मा की महान् नगरी है (वही, पृ० ११८)। इस द्वीप में छः सीमावर्ती पर्वतों की तिरछी श्रेणियाँ है: वे है हिमवत (= हिमाद्रि या हिमालय), हेमकूट, और निषध जो मेरु के दक्षिण में है, तथा नील, श्वेत, और श्रृङ्गिन् की श्रेणियाँ जो उत्तर में है। इनमें निषध और नील मेरु के अत्यन्त निकट है जब कि हिमवत् और श्रृङ्गिन् दक्षिणी और उत्तरी किनारों पर है। जम्बूद्वीप के नौ वर्ष या विभाजन, जो इन तथा अन्य पर्वतश्रेणियों से विभक्त है, ये है: (१) भारत जो हिमालय पर्वत के दक्षिण है और सब से दक्षिण में स्थित है, तब (२) किम्पुरुष, (३) हरिवर्ष, (४) इलावृत, (५) रम्यक, (६) हिरण्मय, तथा (७) उत्तर कुरु जिनमें से प्रत्येक अन्तिम के उत्तर में हैं जबकि (८) भद्राश्व तथा (९) केतुमाल मध्यदेश, इलावृत, के क्रमशः पूर्व और पश्चिम हैं। भारतवर्ष, उत्तर कुरु तथा भद्राश्व और केतुमाल[3] पर्वतों की श्रेणियों के मध्यभाग में है।

---

[3] महाभारत, ६ ६, ३२-३३ मे केतुमाल के वर्ष के विषय मे कहा गया है. आयुर दश सहस्राणि वर्षाणा तत्र भारत। सुवर्ण-वर्णाश् च नराः स्त्रियाश् चाप्सरसोपमा.। अनामया. वीत-शोका' नित्यम् मुदित-मानसाः। जायन्ते मानवास् तत्र निष्टप्त-कनक प्रभा। "वहा लोग दस सहस्र वर्ष तक जीवित रहते हैं। मनुष्य स्वर्ण वर्ण के होते है और स्त्रियाँ अप्सराओ के समान होती है।

(विल्सन २. पृ० ११४-११६ तथा १२३)। भारतवर्ष के उत्तर में स्थित आठ देशों का इस प्रकार वर्णन किया गया है :

वि० पु० २. १, ११ : यानि किम्पुरुषादीनि वर्षाण्य् अष्टौ महामुने। तेषां स्वाभाविकी सिद्धिः सुख-प्राया ह्य् अयत्नतः। १२ विपर्य्ययो न तत्रास्ति जरा-मृत्यु-भय न च। धर्माधर्मौ न तेष्व् आस्तां नोत्तमाधम-मध्यमाः। न तेष्व् अस्ति युगावस्था क्षेत्रेष्व् अष्टसु सर्वदा।

"किंपुरुष इत्यादि नामों वाले आठ वर्षों में (अर्थात् भारतवर्ष के अतिरिक्त अन्य वर्षों में) रहनेवाले बिना श्रम के प्राप्त स्वाभाविक सिद्धि का भोग करते हैं। न तो दुःख है, न जरा, न मृत्यु, न भय। धर्म और अधर्म का कोई भेद नहीं, उत्तम, अधम और मध्यम शब्दों से व्यक्त होने वाली कोई अवस्था नहीं, और चार युगों के चक्र से कोई परिवर्तन भी नहीं होता।" पुनः

२. २, ३५ : यानि किम्पुरुषाद्यानि वर्षाण्य् अष्टौ महामुने। न तेषु शोको नायासो नोद्वेग-क्षुद्-भयादिकम्। सुस्थाः प्रजाः निरातङ्काः सर्व-दुःख-विवर्जिता। ३६. दश-द्वादश-वर्षाणां सहस्राणि स्थिरायुषः। न तेषु वर्षते देवो भौम्यान्य् अम्भांसि तेषु वै। ३७. कृत-त्रेतादिका नैव तेषु स्थानेषु कल्पना।

"उन आठ वर्षों में न तो दुःख है, न उद्वेग, न चिन्ता, न भूख और न भय। लोग पूर्णतः स्वस्थ जीवन व्यतीत करते है, प्रत्येक दुःखों से दस या बारह सहस्र वर्षों तक मुक्त रहते है। इन्द्र इन वर्षों में वृष्टि नहीं करता क्योंकि वहाँ वसन्त का प्राचुर्य रहता है। उनमें समय का कृत, त्रेता आदि युगों में विभाजन नही होता।"

यह उल्लेखनीय है कि उत्तर कुरु एक वास्तविक जनवर्ग रहा होगा क्योंकि उसका वर्णन ऐतरेय ब्राह्मण ८. १४, ४,[४] में किया गया है।

अथ एवम् उदीच्यां दिशि विश्वे देवाः षड्भिश् चैव पञ्चविंशैर् अहोभिर् अभ्यषिञ्चन्न् एतेन च तृचेन एतेन च यजुषा एताभिश् च

मनुष्य शुद्ध स्वर्ण के रंग वाले उत्पन्न होते हैं। वे रोग, शोक से मुक्त होकर जीवन व्यतीत करते हुए अक्षय सुख का भोग करते हैं।" मेरु के पश्चिम मे स्थित गन्धमादन पर्वत पर रहने वाले मनुष्यो को (६ ६, ३६) श्याम वर्ण का, तथा अधिक शक्ति और बल से युक्त बताया गया है, तथा स्त्रियो को नीले कमल के रंग का और अत्यन्त सुन्दर रूप वाला कहा गया है।" (तत्र कृष्णाः नराः राजस् तेजो-युक्ता महाबलाः। स्त्रियश् चोत्पल-वर्णाभा सर्वाः सुप्रिय-दर्शनाः)।

[४] वेबर द्वारा इण्ड० स्टु० १ २१८ मे उद्धृत।

व्याहृतिभिर् वैराज्याय। तस्माद् एतस्याम् उदीच्यां दिशि ये के च परेण हिमवन्त जनपदाः "उत्तर-कुरवः उत्तर-मद्राः" इति वैराज्याय एवतेऽभिषिच्यन्ते।

"तब उत्तर क्षेत्रों में छः दिनों में जब पञ्चविंश स्तोम का पाठ किया गया, विश्वेदेवों ने उस (इन्द्र) को इन तीन ऋकमन्त्रों, यजुषमन्त्रों तथा इन रहस्यमय एकाक्षरों द्वारा राज्य प्राप्ति के लिये अभिषिक्त किया। इसी कारण इस उत्तरी क्षेत्र से हिमवत् के उस पार निवास करने वाली विभिन्न जातियाँ, उत्तर कुरु और उत्तर मद्र, श्रेष्ठ राज्य (वैराज्य) प्राप्त करती है और लोग उन्हे तेजस्वी (विराज) की संज्ञा देते है।" देखिए कोलब्रुक मिस्स० एसेज १. ३८-४३, डॉ हॉग का ऐत० ब्राह्मग का अनुवाद, तथा इस अनुवाद पर प्रोफेसर वेबर की टिप्पणी, इण्ड० स्टू० ९, पृ० ३४१ आदि।

उसी ग्रन्थ[५] के दूसरे अशों में उत्तर कुरुओं का इस प्रकार वर्णन किया गया है जैसे वे पुराकथाशास्त्रीय हों।—

ऐत० ब्रा० ८. २३. एतं ह वै ऐन्द्रम् महाभिषेकम् वासिष्ठः सात-हव्योऽत्यरातये जानन्तपये प्रोवाच। तस्माद् उ अत्यरातिर् जानन्तपिर् अराजा सन् विद्यया समन्त सर्वतः पृथिवीं जयन् परीयाय। स ह उवाच वासिष्ठः सात्यहव्यः "अजैषीर् वै समन्तं सर्वत पृथिवीम् महद् मा गमय" इति। स ह उवाच अत्यरातिर् जातन्तपिर् "यदा ब्राह्मण उत्तर-कुरून् जयेयं त्वम् उ ह एव पृथिव्यै राजा स्याः सेनापतिर् एव तेऽहं स्याम" इति। स ह उवाच वासिष्ठ सात्यहव्यो "देव-क्षेत्रं वै तद् न वै तद् मर्त्यो जेतुम् अर्हत्य् अद्रुक्षो मे आऽतः इदं ददे" इति। ततो ह अत्यरातिम् जानन्तपिम् आत्त-वीर्य्यम् निश्शुक्रम् अमित्र-तपनः शुष्मिणः शैब्यो राजा जघान। तस्माद् एवं-विदुषे ब्राह्मणाय एवं-चक्रुषे क्षत्रियो न द्रुह्येद् न इद् राष्ट्राद् अवपद्येयद (?) न इद् वाम-प्राणो जहद् इति।

"वसिष्ठ-वंश के सात्यहव्य ने इन्द्र के समान इस महाभिषेक का वर्णन जनन्तप के पुत्र अत्यराति से किया। उसके परिणामस्वरूप राजा न होते हुए भी अत्यराति ने अपने ज्ञान से पृथ्वी का चतुर्दिक भ्रमण किया और उसे वशीभूत किया। सात्यहव्य ने तब उससे कहा 'तुमने पृथ्वी को चतुर्दिक सीमा तक पराभूत कर दिया है, मुझे अब महान् पद प्रदान करो।' अत्यराति ने उत्तर दिया 'हे ब्राह्मण, जब मैं उत्तर कुरुओं को जीतूँगा तब तुम पृथ्वी के

---

[५] देखिए कोलब्रूक के एसेज १ ४८, डॉ० हाग का अनुवाद, तथा इ० स्टू० ९३४६।

अहो सह शरीरेण प्राप्तोऽस्मि परमा गतिम्। उत्तरान् वा कुरून् पुण्यान् अथवाऽप्य् अमरावतीम्।

"मैने इस शरीर के साथ ही परम गति प्राप्त कर ली है, या पवित्र उत्तर कुरुओं को पा लिया है, या (इन्द्र की नगरी) अमरावती को प्राप्त कर लिया है।"

"समुद्र के उत्तर तथा हिमाद्रि के दक्षिण का देश भारतवर्ष है जहाँ भरत के वंशज निवास करते है।" (वि० पु० २ ३, १. उत्तरं यद् समुद्रस्य हिमाद्रेश् चैव दक्षिणम्। वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्तति·।) यह नौ भागों (भेदा·) मे विभक्त है· इन्द्रद्वीप, कशेरुमत्, ताम्रवर्ण, गर्भस्तिमत्, नागद्वीप, सौम्य, गान्धर्व, वारुण, तथा यह "नवॉ द्वीप", जिसका नाम नही है, समुद्र से घिरा हुआ कहा जाता है (अयं तु नवमस् तेषां द्वीप· सागर सवृतः) और उत्तर से दक्षिण एक सहस्र योजन लम्बा है। इसके पूर्वी किनारे पर किरात हैं, पश्चिम में यवन है, तथा केन्द्र मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र निवास करते है जो यज्ञ, शस्त्रचालन, व्यापार आदि कर्मों में रत है (मूल पाठ वि० पु० ३. ३, ७ पहले ही पृ० ५३९ पर उद्धृत किया गया है।

विष्णुपुराण में भारत वर्ष में निवास करने वाली जातियों की एक लघु सूची है (देखिए विलसन, भाग २, पृष्ठ १३२)। मुख्य रूप से, इसमे केवल कुरुओं, पाञ्चालों, कामरूप के लोगों, पौण्ड्रों, कलिङ्गों, मगधों, सौराष्ट्रों, शूरों, भीरों, अर्बुदों, कारूषों, मालवों, सौवीरों, सैन्धवों, हूणों, शाल्वों, शाकलों, मद्रों, रामों, अम्बष्ठों तथा पारशीकों का उल्लेख है।[७] ये जातियाँ भारत और इसके पार्श्ववर्ती भाग तक ही सीमित प्रतीत होती हैं।

भारतवर्ष की प्रशंसा इस प्रकार की गयी है :—

वि० पु० २ ३, ११ चत्वारि भारते वर्षे युगान्य् अत्र महामुने। कृतं त्रेता द्वापरश् च कलिश् चान्यत्र न क्वचित्। १२· तपस् तप्यन्ति यतयो जुह्वते चात्र यज्विन·। दानानि चात्र दीयन्ते परलोकार्थम् आदरात्। पुरुषैर् यज्ञ-पुरुषो जम्बु-द्वीपे सदेज्यते। यज्ञैर् यज्ञमयो विष्णुर् अन्य-द्वीपेषु चान्यथा। १३· अत्रापि भारत श्रेष्ठ जम्बु-द्वीपे महामुने। यतो हि कर्म-भूर् एषा अतोऽन्याः भोग-भूमय। अत्र जन्म-सहस्राणां सहस्रैर् अपि सत्तमम्। कदाचिल् लभते जन्तुर् मानुष्यम् पुण्य सञ्चयम्। गायन्ति देवा· किल गीतकानि "धन्यास् तु ये भारत-भूमि-भागे। स्वर्गापवर्गस्य दहे तु भूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्। १४· कर्माण्य अस-

[७] महाभारत (६ ९, ३७ आदि) मे सूची बडी लम्बी है। देखिए विलसन का वि० पु० भाग २ पृ० १३२ तथा १५६ आदि।

ङ्कल्पित-तत्-फलानि सन्न्यस्य विष्णौ परमात्मा-रूपे। अवाप्य तां कर्म-महीम् अनन्ते तस्मिन् लयं ये त्व् अमलाः प्रयान्ति। १५. जानीम नैतत् क्व वय विलीने स्वर्ग-प्रदे कर्मणि देहबन्धम्। प्राप्स्याम धन्याः खलु ते मनुष्याः ये भारते नेन्द्रिय-विप्रहीणाः।

"भारतवर्ष में ही कृत, त्रेता, द्वापर और कलि ये चार युग होते हैं, अन्यत्र नहीं। १२. यहाँ भक्त तपस्या करते हैं, ऋत्विज यज्ञ करते हैं, यहीं आदर के लिए तथा परलोक प्राप्ति के लिये दान भी दिया जाता है। जम्बूद्वीप में यज्ञपुरुष, विष्णु का, जो यज्ञ के मूल तत्व हैं, मनुष्य यज्ञों द्वारा निरन्तर पूजन करते हैं, दूसरे द्वीपों मे दूसरे प्रकार से उनका पूजन होता है।[८] १३. इस दृष्टि से भारत जम्बूद्वीप का सर्वश्रेष्ठ भाग है, क्योंकि यह कर्मभूमि है जबकि अन्य स्थान भोगभूमि है। कदाचित् सहस्रों सहस्र वर्षों में कोई प्राणी इस भूमि में मनुष्य की योनि प्राप्त करता है जो सद्गुण का आगार है। देवता यह गान करते है. 'वे प्राणी धन्य है जो स्वर्ग में अपने पुण्यों के समाप्त हो जाने पर और देवता होने के उपरान्त पुनः मनुष्य रूप में भारतवर्ष मे जन्म लेते हैं, (१४) और इस कर्मभूमि मे जन्म लेने पर विना फल की इच्छा के अपने सभी कर्मों को परम एव नित्य भगवान् विष्णु को अर्पित कर देते है तथा उनमें विलीन होने के लिए शुचिता प्राप्त करते है। १५ हम यह नहीं जानते कि अपने पुण्य कर्मों के समाप्त हो जाने पर हम किस भूमि में जन्म लेंगे, किन्तु वे व्यक्ति धन्य हैं जो भारतवर्ष में शरीर-विकार से रहित होकर निवास कर रहे है।' "

इसी सम्बन्ध मे भागवत पुराण ५ १७, ११ मे कहा गया है :—

तत्रापि भारतम् एव वर्षं कर्म-क्षेत्रम् अन्यान्य् अष्ट-वर्षाणि स्वर्गिणाम् पुण्य-शेषोपभोग-स्थानानि भौमानि स्वर्ग-पदानि व्यपदिशन्ति। १२. एषु पुरुषाणाम् अयुत-पुरुषायुर्-वर्षाणां देव-कल्पानां नागायुत-प्राणानां वज्र-संहनन-वयो-मोद-प्रमुदित-महासौरत-मिथुन-व्यवायापवर्ग-वर्ष-धृतैक-गर्भ-कलत्राणां त्रेता-युगसमः कालो वर्त्तते।

"इनमे केवल भारतवर्ष ही कर्मभूमि है, अन्य आठ वर्ष ऐसे स्थल है जहा देवतागण अपने कर्म के अवशिष्ट अंश का भोग करते हैं, उन्हें भौम स्वर्ग कहते है। १२. इनमें मनुष्य त्रेतायुग के तुल्य जीवन व्यतीत करते है, दस हजार सामान्य जीवन के बराबर वे जीते है, और देवताओं के तुल्य

[८] "दूसरे प्रकार से" अर्थात् सोम, वायु, सूर्य इत्यादि रूपो मे" (अन्यथा: सोम-वायु-सूर्यादि-रूप)। भाष्यकार

होते है, उनकी शक्ति दस हजार हाथियों के बराबर होती है, उनकी स्त्रियां वज्र के शरीर तथा युवावस्था के आमोद के कारण मैथुन का पूर्ण सुख प्राप्त कर एक वर्ष में सन्तान उत्पन्न करती है।"

श्लोक ११ पर टीकाकर का कथन है : दिव्य-भौम-बिल-भेदात् त्रिविधः स्वर्गः। तत्र भौम-स्वर्गस्य पदानि स्थानानि व्यपदिशन्ति। "स्वर्ग तीन प्रकार के होते है :—आकाश में, पृथ्वी पर तथा बिल में। यहां अन्य वर्षों को भौम स्वर्ग कहा गया है।"

यह विलक्षण बात है की भारतवर्ष की प्रशस्ति मे जम्बूद्वीप के इस विभाग की एक विशिष्टता यह बताई गई है कि इसमें यज्ञ किये जाते हैं, यद्यपि कुछ आगे चलकर यह कहा गया है कि यज्ञ शाल्मलि द्वीप मे भी किये जाते है।

विष्णु पुराण के पिछले (२ ३, ११) अंश से (तथा अन्य दूसरे अंशों से जिन्हें हम आगे पायेंगे) पहली झलक में यह प्रतीत होगा कि लेखक का अभिप्राय भारतवर्ष के निवासियों को अन्य द्वीपों तथा स्वयं जम्बूद्वीप के अन्य वर्षों के निवासियों से नितान्त भिन्न जाति का या कम से कम भिन्न स्थितियों में निवास करने वाली जाति के रूप में चित्रित करना है। 'मानुष्य' शब्द के प्रयोग से, जो यहाँ भारतवर्ष के निवासियों के लिये आया है, सन्दर्भ को ध्यान में रखकर दृष्टिपात करने पर, यह निष्कर्ष स्वाभाविक प्रतीत होगा कि इसके बाहर निवास करने वाले सभी लोग भिन्न जातियों के थे। तथापि कुशद्वीप और पुष्करद्वीप के वर्णनों में (देखिए नीचे) "मनुजा" और "मानवा" अर्थात् "मनु के वंशज" या "मनुष्य" शब्द इन द्वीपों के निवासियों के लिए प्रयुक्त हुए हैं। अपरञ्च जातिमाला के एक अंश में, जिसका कोलब्रूक ने (मिस० ऐसेज भाग २ पृ० १७९) अनुवाद किया है, कहा गया है कि शाकद्वीप से विष्णु के गरुड एक श्रेष्ठ ब्राह्मण को ले आये, और इस प्रकार जम्बूद्वीप में शाक-द्वीप ब्राह्मण प्रसिद्ध हुए। यह भी द्रष्टव्य है कि प्रियव्रत के वंशज सभी द्वीपों तथा जम्बूद्वीप के सभी वर्षों (दे० ऊपर पृ० ५४३, ५४५) के राजा हुए। और ऊपर पृ० ५३२ पर विष्णु पुराण ४, ११, ३ से उद्धृत अंश मे कृतवीर्य के पुत्र अर्जुन के विषय मे कहा गया है कि वह "सात द्वीपों का स्वामी था", "उसने सभी द्वीपों सहित पृथ्वी पर शासन किया"[१]। यदि ये राजा मनुष्य जाति के थे तो वहाँ की जनता के विषय में भी यही निष्कर्ष निकालना स्वाभाविक होगा।

---

[१] पुरुरवस् के समुद्र के तेरह द्वीपो पर अधिकार करने का उल्लेख मिलता है। (देखिए पृ० ३०७)।

किन्तु इस प्रकार के विषय में, जिनमें लेखक केवल कल्पना का ही आश्रय ले रहे थे, यह अनुमान किया जा सकता है कि हमें असंगतियाँ भी मिलेंगी।

जम्बूद्वीप लवण-समुद्र से घिरा हुआ है (विलसन, वि० पु० २, १०९), और उस समुद्र के वाह्य भाग में भी इसके चारों ओर प्लक्ष द्वीप है। (वि० पु० २, ४, १. क्षारोदेन यथा द्वीपो जम्बु-संज्ञोऽभिवेष्टितः। संवेष्ट्य क्षारम् उद्धिम् प्लक्ष द्वीपस् तथा स्थितः।) इस योजना के अनुसार विविध द्वीप एवं समुद्र एक ही केन्द्र के चारों ओर वृत्त बनाते हैं। जम्बूद्वीप इसके केन्द्र में स्थित गोलाकार द्वीप है।

प्लक्षद्वीप जम्बूद्वीप से दूने परिमाण का है। इसके निवासियों का स्वभाव और उनकी अवस्था इस प्रकार वर्णित है

वि० पु० २, ४, ५. न चैवस्ति युगावस्था तेपु-स्थानेपु सप्तसु। ६. त्रेता-युग-सम. काल. सर्वदैव महामते। प्लक्षद्वीपादिपु ब्रह्मन् शाकद्वीपान्तकेपु वै। ७. पञ्च-वर्प-सहस्राणि जनाः जीवन्त्य् अनामयाः। धर्माः पञ्चस्व् अथैतेपु वर्णाश्रमविभाग-जाः। वर्णास् तत्रापि चत्वारस् तान् निवोध गदामि ते। अर्य्यकाः कुरवश् चैव विवाशाः भाविनश् च ये। विप्र-क्षत्रिय-वैश्यास् ते शूद्राश् च मुनि-सत्तम।

"उन सात प्रदेशों में (जिनसे प्लक्ष द्वीप निर्मित है) समय का युगों में विभाजन नहीं रहता। किन्तु जीवन सदैव त्रेता युग के समान रहता है। प्लक्ष से लेकर शाकद्वीप तक पाँच द्वीपों में मनुष्य रोगरहित होकर ५००० वर्षों तक जीवित रहते हैं। इन पाँच द्वीपों में धर्म, वर्णों एव आश्रमों के विभाजन से उत्पन्न होता है। उनमें चार और वर्ण हैं, आर्यक, कुरु, विवास तथा भाविन्, जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हैं और जिनकी पूजा इस प्रकार वर्णित है।

८. इज्यते तत्र भगवान्स् तैर् वर्णैर् अर्यकादिभिः। सोम-रूपी जगत्-स्रष्टा सर्वं सर्वेश्वरो हरि। "हरि, जो सब कुछ हैं और सबके स्वामी तथा विश्व के स्रष्टा हैं, इन आर्य्यक आदि वर्गों द्वारा सोम-रूप में पूजे जाते हैं।"

इस द्वीप के निवासियों को भागवत पुराण में विविध नाम दिये गये हैं। उन्हें (५, २०, ४) "हंस, पतङ्ग, ऊर्ध्वायन, तथा सत्याङ्ग नामक चार वर्णों का बताया गया है, जो इन नदियों के जल का स्पर्श करने से रजस् और तमस् से शुद्ध होकर सहस्र वर्ष तक जीवित रहते हैं और स्वरूप, तथा प्रजनन, में देवताओं के तुल्य होते हैं। वे वेदत्रयी द्वारा आत्मा और सूर्य की पूजा करते हैं जो स्वर्ग का द्वार है, और वेदों के स्वरूप वाले हैं।" (यासा जलोपस्पर्शन विधूत-रजस-तमसो हंस-पतङ्गोर्ध्वायनसत्याङ्ग-संज्ञाश् चत्वारो वर्णाः

सहस्रायुषो विबुधोपम-सन्दर्शन प्रजननाः स्वर्ग-द्वारं त्रय्या विद्यया भगवन्तं त्रयीमय सूर्यम् आत्मान यजन्ते)।

प्लक्ष तथा उसके आगे के अन्य चार द्वीपों के विषय में भागवत पुराण (अनुच्छेद ६) में कहा गया है कि "उनके सभी मनुष्य जीवन की अवधि, इन्द्रियों, वीर्य, शक्ति, वल, बुद्धि तथा साहस में स्वाभाविक सिद्धि से समान रूप में युक्त होते है।" (प्लक्षादिषु पञ्चसु पुरुषाणाम् आयुर् इन्द्रियम् ओजः सहो, वलम् बुद्धिर् विक्रमः इति च सर्वेषाम् औत्पत्तिकी सिद्धिर् अविशेषेण वर्त्तते)।

प्लक्ष द्वीप उसी के समान प्रमाण वाले इक्षुरस के सागर से घिरा हुआ है (२. ४, ९, प्लक्ष-द्वीप-प्रमाणेन प्लक्ष-द्वीपः समावृतः। तथैवेक्षु-रसोदेन परिवेशानुकारिणा)। इस समुद्र के वाह्य भाग पर इसके दूने प्रमाण वाला शाल्मल द्वीप है (श्लोक ११ : शाल्मलेन समुद्रोऽसौ द्वीपनेक्षु-रसोदकः। विस्तर-द्विगुणेनाथ सर्वतः संवृतः स्थित)। यह सात वर्षों या भागों में विभक्त है। इसके निवासियों के विषय में कहा गया है :

वि० पु० २. ४, १२. सप्तैतानि तु वर्षाणि चातुर्वर्ण्य-युतानि च। शाल्मले ये तु वर्णाश् च वसन्ति ते महामुने। कपिलाश् चारुणाः पीताः कृष्णाश् चैव पृथक् पृथक्। ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्या' शूद्राश् चैव यजन्ति ते। भगवन्त समस्तस्य विष्णुम् आत्मानम् अव्ययम्। वायुभूतम् मख-श्रेष्ठैर् यज्विनो यज्ञ-संस्थितम्। १३. देवानाम् अत्र सान्निध्यम् अतीव सुमनोहरम्।

"इन सात वर्षों में वर्ण की व्यवस्था है। इनमें निवास करनेवाले वर्ण, कपिल, अरुण, पीत, तथा कृष्ण (या कपिल वर्ण, लाल, पीले और काले वर्ण के) हैं। ये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र श्रेष्ठ यज्ञों द्वारों सभी वस्तुओं के श्रेष्ठ एवं अव्यय आत्मा, विष्णु का, वायु तथा यज्ञस्थित रूप में पूजन करते हैं। यहाँ देवताओं का सान्निध्य अत्यन्त सुखकर होता है।"

भागवतपुराण इस द्वीप के विषय में कहता है : ५, २०, ११ —तद्-वर्ष-पुरुषाः श्रुतधर-वीर्य्यधर-वसुन्धरेषुन्धर-संज्ञा' भगवन्त वेदमयं सोमम् आत्मानं वेदेन यजन्ते। "इस द्वीप के विभिन्न भागों के मनुष्यों को श्रुतधर, वीर्यधर, वसुन्धर तथा इषुन्धर कहते है। वे वेद द्वारा वेदमय आत्मा, सोम, का पूजन करते है।"

यह द्वीप अपने समान प्रमाण वाले सुरा सागर से घिरा है। (५. १३, एष द्वीपः समुद्रेण सुरोदेन समावृतः। विस्ताराच् छाल्मलस्यैव समेन तु समन्ततः)। इस सागर के वाहरी किनारे के चारों ओर कुश द्वीप है, जो

शाल्मल द्वीप से दूना बड़ा है। (५-१३. सुरोदकः परिवृत्तः कुशद्वीपेन सर्वतः। शाल्मलस्य तु विस्ताराद् द्विगुणेन समन्ततः)। कुश द्वीप के निवासियों का इस प्रकार वर्णन किया गया है। वि० पु० २, ४, १४ :

तस्या वसन्ति मनुजाः सह दैतेय-दानवैः। तथैव देव-गन्धर्व-यक्ष-किंपुरुषादयः। वर्णास् तत्रापि चत्वारो निजानुष्ठान-तत्पराः। दमिनः शुष्मिणः स्नेहा मन्देहाश् च महामुने। ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश् चानुक्रमोदिताः। १५. यथोक्त-कर्म-कर्तृत्वात् स्वाधिकार क्षयाय ते। तत्र ते तु कुश-द्वीपे ब्रह्म-रूप जनार्दनम्। यजन्तः क्षपयन्त्य् उग्रम् अधिकारम् फलप्रदम्।

"इस (कुश द्वीप) के वर्षों में मनुष्य, दस्यों, दानवों, देवों, गन्धर्वों, यक्षों, किंपुरुषों तथा अन्य भूतों के साथ निवास करते हैं। वहाँ भी चार वर्ण हैं जो अपने कर्म करते हैं। वे हैं दमिन, शुष्मिन, स्नेह तथा मन्देह जो क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हैं। उन कर्मों के सम्पादन से उत्पन्न होने वाले उनके [फल प्राप्ति के] अधिकार को नष्ट करने के लिए वे ब्रह्म के रूप में जनार्दन का पूजन करते हैं और इस प्रकार पुण्य का नाश करते हैं जिससे फल की प्राप्ति होती है।"

कुश द्वीप के विषय में महाभारत के भीष्म पर्व में कहा गया है: १२, १४ : एतेषु देव गन्धर्वा प्रजाश्च जगतीश्वर। विहरन्ते रमन्ते च न तेषु म्रियते जनः। न तेषु दस्यवः सन्ति म्लेच्छ-जात्योऽपि वा नृप। गौर-प्रायो जनः सर्वः सुकुमारस् च पार्थिव। "इन (कुश द्वीप के वर्षों) में देवता, गन्धर्व और प्रजाएँ आनन्दोपभोग करती हैं। कोई मरता नहीं। यहाँ दस्यु या मलेच्छ नहीं होते। लोग गौर वर्ण और कोमल शरीर वाले होते हैं।" भागवत पुराण ५. २०, १६ का कथन है इस द्वीप के लोगों को कुशल, कोविद, अभियुक्त और कुलक कहते हैं।" (कुश-द्वीपौकसः. कुशल-कोविदाभियुक्त-कुलक-सञ्ज्ञाः।)

कुश द्वीप घृत के सागर से घिरा हुआ है जो उसके समान ही परिधि का है।

इस सागर के चारों ओर क्रौञ्च द्वीप है जो कुश द्वीप से दुगुना बड़ा है। वि० पु० २. ४, १९ में कहा गया है सर्वेष्व् एतेषु रम्येषु वर्ष-शैल-वरेषु च।' निवसन्ति निरातङ्का सह देव-गणैः प्रजाः। पुष्कराः पुष्कलाः धन्यास् तिष्याश् चात्र महामुने। ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या शूद्राश् चानुक्रमोदिता। "इस द्वीप के इन सभी पर्वतीय विभागों में लोग निर्भय होकर देवताओं के साथ निवास करते हैं। ये हैं 'पुष्कर, पुष्कल, धन्य तथा तिष्य, जो क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हैं।" इस द्वीप के निवासियों को

भागवत पुराण ५. २०, ०२ में "... ..पुरुष, ऋषभ, द्रविण तथा देवक" कहा गया है (पुरुषर्षभ-द्रविण-देवक-संज्ञाः)। यह द्वीप दधि के समुद्र से घिरा है जो इसी के बराबर प्रमाण का है। इस समुद्र के बाहरी तट के चारों ओर शाकद्वीप[10] है जो क्रौञ्चद्वीप से दुगुने प्रमाण का है।

शाकद्वीप के विषय में विष्णुपुराण २, ४, २३ आदि में कहा गया है।

तत्र पुण्याः जनपदाश् चातुर्वर्ण्य-समन्विताः। नद्यश् चात्र महापुण्याः सर्व-पाप-भयापहाः। ताः पिबन्ति मुदा युक्ताः जलदादिषु ये स्थिताः। वर्षेषु ते जनपदाः स्वर्गाद् अभ्येत्य मेदिनीम्। २४. धर्महानिर् न तेष्व् अस्ति न सङ्घर्ष परस्परम्। मर्यादाव्युत्क्रमो नापि तेषु देशेषु सप्तसु। २५ वङ्गाश्च च मागधाश् चैव मानसाः मन्दगास् तथा। मगाः ब्राह्मणभूयिष्ठा मागधाः क्षत्रियास् तु ते। वैश्याम् तु मानसाः ज्ञेया शूद्रास् तेषां तु मन्दगाः। २६. शाकद्वीपे तु तैर् विष्णुः सूर्य-रूपधरो मुने। यथोक्तैर् इज्यते सम्यक् कर्मभिर् नियतात्मभिः।

"वहाँ के पवित्र देश है जिसमे चारों वर्णों के लोग निवास करते है। पवित्र नदियाँ है जो सभी पापों एव भय को दूर करती हैः—जो लोग (शाक द्वीप के) जलद इत्यादि वर्षों में निवास करते है वे स्वर्ग से पृथ्वी पर आने पर भी इन नदियों का जल पीते है। उनमें कोई दोष नहीं होता, न परस्पर प्रतिद्विन्द्विता होती है; और इन सात देशों में कहीं मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं होता। [इसमे] मग, मागध, मानस और मन्दग निवास करते है जिनमें प्रथम मुख्यतः ब्राह्मण, द्वितीय क्षत्रिय, तृतीय वैश्य और चतुर्थ शूद्र है। उनसे वे विष्णु रूप मे सूर्य का पूजन विहित कर्मों द्वारा एवं एकाग्रचित होकर करते है।"

इस द्वीप के विषय में महाभारत के भीष्मपर्व ६ ११, १० में कहा गया है: "वहाँ लोग पुण्यात्मा होते है और कोई मरता नहीं है। (तत्र पुण्या' जनपदाः न तत्र म्रियते नरः)। इस द्वीप के एक पर्वत का नाम श्याम है "जिससे लोगों का श्याम वर्ण होता है" (६. ११, १९. ततः श्यामत्वम् आपन्नाः जनाः जनपदेश्वर)। धृतराष्ट्र तब सञ्जय से कहते हैं कि मुझे इस विषय में शङ्का है कि "किस प्रकार प्राणी श्यामवर्ण के हो जाते है।" सञ्जय इन पक्तियों में इसका रहस्य समझाते है जिसका अर्थ स्पष्ट नहीं है • ६. ११ २१ सर्वेष्व् एव महाराज द्वीपेषु कुरु–नन्दन। गौरः कृष्णश् च पातङ्गो यतो वर्णान्तरे द्विजाः। श्यामो यस्मात् प्रवृत्तो वै तत् ते वक्ष्यामि भारत। किन्तु आगे

[10] महाभारत (६ ११, ८ आदि) मे शाकद्वीप जम्बूद्वीप के बाद आया है।

और कुछ नहीं कहते, इससे हमें इस रोचक शरीरवैज्ञानिक प्रश्न का उत्तर नहीं मिल पाता। भागवतपुराण ५. २०, २८ इस द्वीप के निवासियों के चार वर्गों का नाम ऋतव्रत, सत्यव्रत, दानव्रत तथा अनुव्रत बतलाता है (तद्वर्ष-पुरुषा. ऋतव्रत-सत्यव्रत-दानव्रतानुव्रत-नामान.)।

यह शाकद्वीप भुजवलय के समान दुग्ध के समुद्र द्वारा चारों ओर से घिरा है। इस सागर के बाह्य भाग में पुष्कर द्वीप फैला है जो शाक द्वीप से दुगुना बड़ा है।

पुष्कर द्वीप के विषय में विष्णुपुराण २, ४, २८ में कहा गया है :—

दश वर्ष-सहस्राणि तत्र जीवन्ति मानवा'। निरामया' विशोकाश्च राग-द्वेषादिवर्जिता.। अधमोत्तमौ न तेष्व् आस्ता न वध्य-वधकौ द्विज। नेर्ष्याऽसूया भयं रोषो दोषो लोभादिको न च। ·· 'सत्यानृते न तत्रास्ता द्वीपे पुष्कर-संज्ञिते। ·· ३०. तुल्य-वेशास् तु मनुजाः देवैस् तत्रैक-रूपिणः। ३१. वर्णाश्रमाचारहीनम् धर्माचरणवर्जितम्। त्रयी-वार्त्ता-दण्डनीति-शुश्रूषारहितं च यत्। ३२. वर्ष-द्वय तु मैत्रेय भौम-स्वर्गोऽयम् उत्तम'। सर्वस्य सुखद कालो जरा-रोगादि-वर्जितः।

"इस द्वीप में मनुष्य दस सहस्र वर्षों तक रोग-शोक, राग और द्वेष से मुक्त होकर निवास करते हैं। उनमें उत्तम और अधम, वधक और वध्य का कोई भेद नहीं, ईर्ष्या, असूया, भय, रोष, दोष, लोभ इत्यादि कुछ भी नहीं होते; ·· न सत्य होता है न असत्य। सभी मनुष्य एक रूप वाले और देवताओं के समान होते हैं। इस द्वीप के दो वर्गों में वर्ण और आश्रम का कोई नियम नहीं होता; न धर्म का आचरण होता है। तीनों वेद, पुराण, दण्डनीति और सेवा भी इस द्वीप में नहीं होते। यह द्वीप सर्वश्रेष्ठ भौम स्वर्ग है। समय सबको सुख प्रदान करता है और जरा, रोग आदि से सभी मुक्त रहते हैं।"

सभी द्वीपों के विषय में महाभारत के भीष्मपर्व ६. १२, २७ आदि में इस प्रकार कहा गया है :—

एव द्वीपेषु सर्वेषु प्रजाना कुरु-नन्दन। ब्रह्मचर्य्येण सत्येन प्रजानां हि दमेन च। आरोग्यायु'प्रमाणाभ्यां द्विगुणं द्विगुण ततः। एको जनपदो राजन् द्वीपेष्व् एतेषु भारत। उक्ताः जनपदा. येषु कर्म चैक प्रदृश्यते। ईश्वरो दण्डम् उद्यम्य स्वयम् एव प्रजापति। द्वीपानां तु महाराज रक्षंस् तिष्ठति नित्यदा। स राजा स शिवो राजन् स पिता प्रपितामहैः। गोपायति नरश्रेष्ठ प्रजाः स-जड-पण्डिता'। भोजन चात्र कौरव्य प्रजाः स्वयम् उपस्थितम्। सिद्धम् एव महाबाहो तद् हि भुञ्जन्ति नित्यदा।

"इन सभी द्वीपों में प्रत्येक द्वीप अपने पहले वाले द्वीप के निवासियों से ब्रह्मचर्य, सत्य, दम, स्वास्थ्य, तथा जीवन-अवधि में दूना बढ़कर होता है। इन द्वीपों से मनुष्य एक ही हैं और एक ही प्रकार के कर्म होते हैं। प्रजापति स्वयं ही दण्ड धारण कर इन द्वीपों पर राज्य करते हैं। वे राजा, कल्याणकारी पितामहों से युक्त पितामह, जड और पण्डित सभी प्रकार के प्राणियों की रक्षा करते है।" (फिर भी इन द्वीपों में बुद्धि का अन्तर बना ही रह गया)। "ये सभी मनुष्य बना हुआ भोजन करते है जो स्वयं ही उपलब्ध होता है।"

पुष्कर द्वीप के चारों ओर पवित्र जल का सागर है। इसके बहिर्भाग मे जो कुछ है उसका वर्णन इस प्रकार किया गया है।

वि० पु० २, ४, ३७. स्वादूदकस्य परतो दृश्यते लोक-संस्थितिः। द्विगुणा काञ्चनी भूमि' सर्व-जन्तु-विवर्ज्जिता। ३८. लोकालोकस् ततः शैलो योजनायुत-विस्तृतः। उच्छ्रायेणापि तावन्ति सहस्राण्य् अचलो हि स.। ततस् तम' समावृत्य त शैलं सर्वतः स्थितम्। तमश् चाण्ड-कटाहेन समन्तात् परिस्वेष्टितम्।

"इस समुद्र के उस पार इसके दूने प्रमाण का एक स्वर्ण देश दिखाई पड़ता है परन्तु उसमें कोई निवासी नहीं होते। उसके बाद लोकालोक पर्वत है जो चौड़ाई में दस सहस्र योजन तथा इतना ही ऊँचा है। इसके चारों ओर अन्धकार है। इस अन्धकार के चारों ओर ब्रह्माण्ड का आवरण है।"[१२]

---

[१२] देखिए, मनु १, श्लोक ९ और १२, जो ऊपर पृ० ४१ पर उद्धृत है। तेरहवाँ श्लोक इस प्रकार है: ताभ्या स शकलाभ्या च भूमिं च निर्ममे। मध्ये व्योम दिशश् चाष्टाव् अपा स्थान च शाश्वतम्।" इस ब्रह्माण्ड के दो अर्धभागो

इस ग्रन्थ के आगे के एक अंश (सप्तम) में ब्रह्माण्ड के आवरण को इस अवस्था के सात क्षेत्रों के बहिर्भाग में स्थित बताया गया है।

वि० पु० २. ७, २५ : एते सप्त मया लोका. मैत्रेय कथितास् तव। पातालानि च सप्तैव ब्रह्माण्डस्यैव विस्तर। एतद् अण्ड-कटाहेन तिर्यक् चोर्ध्वम् अधस् तथा। कपित्थस्य यथा बीजं सर्वतो वै समावृतम्।

"मैंने इन सात लोकों का वर्णन कर दिया है, सात पाताल भी हैं, यही ब्रह्माण्ड का परिमाण है। यह सभी ब्रह्माण्ड के आवरण से आवृत्त है जो इनके ऊपर और नीचे सभी ओर है, जिस प्रकार कपित्थ का बीज चारों ओर से घिरा होता है।"

यह सब सम्पूर्ण विश्व का एक लघु अंश प्रतीत होता है। वहीं, श्लोक २७. अण्डानां तु सहस्राणां सहस्राण्य् अयुतानि च। ईदृशानां तथा तत्र कोटि-कोटि शतानि च।

"इस प्रकार के सहस्र सहस्र और अयुत ब्रह्माण्ड ही नहीं अपितु सैकड़ों कोटि कोटि ब्रह्माण्ड हैं।"

गम्भीरता लाने एवं आश्चर्य उत्पन्न करने के प्रयत्न में रत भारतीय पुराणशास्त्र प्रायः बड़ी-बड़ी संख्याओं को गढ़कर व्यर्थ एवं बालिश उदारता का प्रदर्शन करता है। किन्तु अभी उद्धृत किये गये वाक्य में इसका अनुमान अंशतः आधुनिक ज्योतिष के अन्वेषणों से संगति रखता है। अथवा वे एक महत् भाग को स्थूल रूप में अभिव्यक्त करते हैं, कारण अनन्त अन्तरिक्ष की वस्तुओं को किसी गणना द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता।



परिशिष्ट

पृष्ठ ८ पंक्ति २५

अग्नि, ब्रह्म वैवर्त्त, विष्णु तथा वायु पुराणों के प्रोफेसर विलसन के विवेचन मूलतः "ग्लीनिंग्स इन सांइस" में नहीं अपितु जर्नल आफ द एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, भाग १ में प्रकाशित हुए है, और विलसन के 'कलेक्टेड वर्कस्' भाग ३ में पुनर्मुद्रित किए गये है, जो डॉ० आर० रोस्ट द्वारा संपादित है।

पृष्ठ ४३ पंक्ति ७

"देवताओं का निवास-स्थान"। बॉटलिंक एण्ड रॉथ ने अपने संस्कृत लेक्सिकन में 'निकाय' के अन्तर्गत यह प्रदर्शित किया है कि यदि यहाँ नहीं तो अन्य अंशों में "देव निकाय" का अर्थ "देवताओं का वर्ग या सगठन" किया जाना चाहिए।

पृष्ठ ५९ पंक्ति २१

नीचे इसी पृष्ठ पर १३१ पृष्ठ के लिये टिप्पणी मे महाभारत, शान्तिपर्व १६६, १० आदि से उद्धृत अंश की तुलना कीजिए।

पृष्ठ १०३ आदि

कृतयुग के वर्णन सदैव एक समान नही है। द्रोणपर्व, ६५, ६ आदि में राजा अकम्पन की एक कथा कही गई है, जो उस युग मे थे, और जो उस सुखमय युग के लिए बताई गई शान्ति भी प्राप्त न कर सके क्योंकि युद्ध में शत्रुओं से पराजित हुए, उनके पुत्र की मृत्यु हुई और कठोर दु ख भोगते रहे।

पृष्ठ ११२ टि० १९०

द्रोणपर्व ६९, २ में भी इसी प्रकार कहा गया है : क्षताद् नस् त्रायते सर्वान् इत्य् एव क्षत्रियोऽभवत्। "वे (पृथु) हम सबकी आघात से रक्षा करके क्षत्रिय हो गये।" देखिए शान्तिपर्व २९, ३९।

पृष्ठ १३१ पंक्ति १

महाभारत १२. १६६, ११ आदि में सभी वस्तुओं की मूल दशा और ब्रह्म के जन्म का एक ऐसा ही वर्णन दिया गया है। भीष्म वक्ता है : सलिलैकार्णवं तात पुरा सर्वम् अभूद् इदम्। निष्प्रकम्पम् अनाकाशम् अनिर्देश्य-महीतलम्। तमसा वृतम् अस्पर्शम् अपि गम्भीर-दर्शनम्। निश्शब्दं चाऽप्रमेयं च तत्र जज्ञे पितामहः। सोऽसृजद् वातम् अग्निम् च भास्करं

चापि वीर्य्यवान्। आकाशम् असृजच् चोर्द्धवम् अधो भूमिं च नैर्ऋतीम्। नभः स-चन्द्र-तारा च नक्षत्राणि ग्रहांस् तथा। संवत्सरान् ऋतून् मासान् पक्षान् अथ लवान् क्षणान्। ततः शरीरं लोक-स्थं स्थापयित्वा पितामहः। जनयामास भगवान् पुत्रान् उत्तम-तेजसः। १९. मरीचिम् ऋषिम् अत्रिं च पुलस्त्यम् पुलहं क्रतुम्। वशिष्ठाङ्गिरसौ चोभौ रुद्रं च प्रभुम् ईश्वरम्। प्रचेतसस् तथा दक्षः कन्याः षष्टिम् अजीजनत्। ताः वै ब्रह्मर्षयः सर्वाः प्रजार्थम् प्रतिपेदिरे। ताभ्यो विश्वानि भूतानि देवाः पितृ-गणास् तथा। गन्धर्वाप्सरसश् चैव रक्षांसि विविधानि च। .. . २०. जज्ञे तात जगत् सर्वं तथा स्थावर-जंगमम्। २१. भूत-सर्गम् इमं कृत्वा सर्व-लोक-पितामहः। शाश्वतं वेद-पठितं धर्मम् प्रयुयुजे ततः। तस्मिन् धर्मे स्थिता देवाः सहाचार्य्य-पुरोहिताः। आदित्याः वसवो रुद्राः स-साध्याः मरुद्-अश्विनः।

"यह विश्व पहले एक समुद्र था, जो स्थिर, प्रकाशरहित था और उसमें पृथ्वी परिलक्षित नहीं होती थी। सभी कुछ अन्धकार से आच्छन्न था, अस्पर्श्य, गम्भीर दिखाई पड़ने वाला, शान्त और असीमित था। उसमें पितामह (ब्रह्मा) उत्पन्न हुए। उस देवता ने वायु, अग्नि और सूर्य की, ऊपर आकाश[1] की, उसके नीचे निर्ऋति के वशीभूत पृथ्वी की, चन्द्रमा, तारों, नक्षत्रों और ग्रहों से युक्त नभ की, वर्षों, मासों, पक्षों तथा काल के सूक्ष्म विभागों की, रचना की। विश्व के आकार की योजना करके पितामह ने महातेजस्वी पुत्रों, (१९) मरीचि, ऋषि अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वसिष्ठ, अङ्गिरस्, तथा महादेव रुद्र को उत्पन्न किया। प्रचेतस् के पुत्र दक्ष ने साठ पुत्रियों को जन्म दिया जिन सबको सन्तानोत्पत्ति के विचार से ब्रह्मर्षियों[2] ने ले लिया। इन स्त्रियों से सभी भूत, देवता, पितृ, गन्धर्व, अप्सरायें तथा अनेक प्रकार के राक्षस (२०), यह सम्पूर्ण चर-अचर जगत् उत्पन्न हुए। २१. इन प्राणियों की इस सृष्टि की रचना करके सम्पूर्ण विश्व के पिता ने वेदोक्त नित्य धर्म की स्थापना की। इस धर्म का पालन अपने गुरुओं और पुरोहितों सहित देवताओं, आदित्यों, वसुओं, रुद्रों, साध्यों, मरुतों और अश्विनों ने किया।"

सृष्टि का एक दूसरा वर्णन महाभारत के उसी पर्व में २०७, २ आदि में दिया गया है, जिसमें इसका श्रेय गोविन्द या केशव (कृष्ण) के रूप में विष्णु

---

[1] अन्यत्र (अनुशासन पर्व २१६१ जो ऊपर पृ० १३० पर उद्धृत है) कहा गया है कि आकाश की रचना नहीं हो सकती।

[2] यहाँ इस शब्द का अर्थ होना चाहिए ब्रह्मा के पुत्र ऋषि

को दिया गया है, जिनका तादात्म्य परमात्मा या विश्वपुरुष से दर्शाया गया है। जलों पर विश्राम करते हुए (१२. २०७, १०) उन्होंने अपने संकल्प से भूतों में प्रथम सङ्कर्षण को उत्पन्न किया। तब उनके (विष्णु की या संकर्षण की) नाभि से एक कमल निकला जिससे (१३.) ब्रह्मा उत्पन्न हुए। इसके उपरान्त ब्रह्मा ने अपने सात मानस पुत्रों, मरीचि, अत्रि, अङ्गिरस् , पुलस्त्य, पुलह, क्रतु तथा दक्ष को उत्पन्न किया (१७.)।

तुलना भीष्मपर्व ६७, ३ आदि।

पृ० १३९ टि० २२३

शान्तिपर्व १६६, १६से पिछली टिप्पणी में उद्धृत अंशकी तुलना कीजिए।

पृ० १४३ पंक्ति ४

शान्तिपर्व २०७, ३१ आदि में चारों वर्णों की सृष्टि करने वाला कृष्ण को बताया गया है : ततः कृष्णो महाभागः पुनर् एव युधिष्ठिर। ब्राह्मणानाम् शतं श्रेष्ठम् मुखाद् एवासृजत् प्रभुः। बाहुभ्या क्षत्रिय-शत वैश्यानाम् ऊरुत' शत। पद्भ्या शूद्र-शतं चैव केशवो भरतर्षभ। "तब भगवान् कृष्ण ने सर्वश्रेष्ठ वर्णवाले सौ ब्राह्मणों की अपने मुख से सृष्टि की; सौ क्षत्रियों की अपनी बाहुओं से, सौ वैश्यों की अपनी जंघाओं से, और सौ शूद्रों की अपने पैरों से सृष्टि की।"

तुलना भीष्मपर्व श्लोक ६७, १६

दूसरा स्थल भी (अनुशासनपर्व १३५, १२ आदि) पुरोहितों को शूद्रों की कोटि मे रखता है. शूद्र-कर्म तु यः कुर्याद् अवहाय स्व-कर्म च। स विज्ञेयो यथा शूद्रो न च भोज्यः कथञ्चन। चिकित्सकः काण्डपृष्ठः पुराध्यक्ष. पुरोहितः। सावत्सरो वृथाध्यायी सर्वे ते शूद्र-सम्मिताः। "जो अपने स्वधर्म का परित्याग करके शूद्र का कर्म करता है, उसे शूद्र तुल्य मानना चाहिए और भोजन के लिए निमन्त्रित नहीं करना चाहिए।

चिकित्सक, काण्डपृष्ठ (देखिए ऊपर पृ० ४९५) "पुर का अध्यक्ष पुरोहित, व्यर्थ अध्ययन करने वाला,—ये सभी शूद्र के समान ही है।"

पृ० १६४ आदि

देखिए ऊपर पृ० १०४ आदि पर टिप्पणी।

पृष्ठ १५० पंक्ति ४

तुलना द्रोणपर्व ६९, ४

मै प्रोफेसर मैक्स मूलर का भारतीय भाष्यकारों के दो ऐसे अंशों का निर्देश करने के लिए आभारी हूँ, जिनमें मनु को क्षत्रिय बताया गया है। प्रथम भग-

वद्‌गीता ४ १ पर मधुसूदन सरस्वती की टीका में है। मूल पाठ के शब्द ये हैं : श्री भगवान् उवाच। इम विवस्वते योगम् प्रोक्तवान् अहम् अव्ययम्। विवस्वान् मनवे प्राह मनुर् इक्ष्वाकवेऽब्रवीत्। एवम् परम्परा-प्राप्तम् इमं राजर्षयो विदुः। स कालेन महता योगो नष्टः परन्तप। स एवायम् मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः। भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यम् उत्तमम्। "भगवान् (कृष्ण) ने कहा : इस अव्यय योगशास्त्र की शिक्षा मैंने विवस्वत (सूर्य) को दी। विवस्वन ने इसे (अपने पुत्र) मनु को बताया, और मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को इसकी शिक्षा दी। इस प्रकार राजर्षि लोग इसका परम्परया ज्ञान रखते हैं। समय बीतने पर इसका लोप हो गया। अतएव मैंने आज तुमसे इस पुरातन और श्रेष्ठ रहस्य का उपदेश दिया है क्योंकि तुम मेरे भक्त और मित्र हो।"

इस पर मधुसूदन टिप्पणी करते हैं : "विवस्वते" सर्व-क्षत्रिय-वंश-बीज-भूताय आदित्याय प्रोक्तवान्। "मैंने इसका उपदेश विवस्वत को दिया अर्थात् आदित्य को दिया जो सम्पूर्ण क्षत्रिय जाति के स्रोत हैं।"

दूसरा अंश कुमारिल भट्ट की मीमांसा वार्त्तिक पर सोमेश्वर की टीका से है। मुझे पहले मीमांसा वार्त्तिक का एक अंश उद्धृत करना चाहिए जो सोमेश्वर की व्याख्या का विषय है। इस अंश की एक प्रति के लिये, जो अन्यथा रोचक है, मैं प्रोफेसर गोल्डस्टूकर का आभारी हूँ, जिन्होंने मेरे लिए इसकी प्रतिलिपि करने की दया दिखाई है।[१] प्रथम उद्धरण जैमिनी के सूत्र १ ३, ३ को निर्दिष्ट करता है जहाँ विवादग्रस्त विषय यह है कि किन स्थितियों में स्मृति को प्रमाण मानना चाहिए जबकि श्रुति या वेद उस विषय पर मौन हों। कुछ अन्य टिप्पणियों के उपरान्त कुमारिल कहते हैं शाक्यादि-वचनानि तु कतिपय-दम-दानादि वचन-वर्ज्जं सर्वाण्य् एव समस्त-चतुर्दश-विद्यास्थान विरुद्धानि त्रयी-मार्ग-व्युत्थित-विरुद्धाचरणैश् च बुद्धादिभिः प्रणीतानि त्रयी-बाह्येभ्यश् चतुर्थ-वर्ण-निरवसित-प्रायेभ्यो व्यामूढेभ्यः समर्थितानि इति न वेद-मूलत्वेन सम्भाव्यन्ते। स्वधर्मातिक्रमेण च येन क्षत्रियेण सता प्रवक्तृत्व-प्रतिग्रहौ प्रतिपन्नौ स धर्मम् अविप्लुतम् उपदेक्ष्यति इति कः समाश्वासः। उक्तं च "परलोक-विरुद्धानि कुर्वाणं दूरतस् त्यजेत्। आत्मानं यो विसंधत्ते सोऽन्यस्मै स्यात् कथं हितः" इति। बुद्धादेः पुनर्

[१] देखिए प्रोफेसर मूलर का ऐ० सं० लिट् पृ० ७९ आदि जहाँ इस अंश को अंशतः उद्धृत एवं अनूदित किया गया है। उसी लेखक का चिप्स् फ्राम ए जर्मन वर्कशाप, भाग २ पृ० ३३८ आदि देखिए।

अयम् एवातिक्रमोऽलङ्कार-बुद्धौ स्थितो येन एवम् आह "कलि-कलुप-कृतानि यानि लोके मयि निपतन्तु। विमुच्यतां तु लोकः" इति। स किल लोक-हितार्थ-क्षत्रिय-धर्मम् अतिक्रम्य ब्राह्मण-वृत्तिम् प्रवक्तृ त्वम् प्रतिपद्य प्रतिषेधातिक्रमासमर्थैर् ब्राह्मणैर् अननुशिष्टं धर्मम् वाह्यजनान् अनुशासद् धर्म-पीडाम् अप्य् आत्मनोऽङ्गीकृत्य परानुग्रहं कृतवान् इत्य् एवविधैर् एव गुणै स्तूयते। तद्-अनुशिष्टानुसारिणश् च सर्वे एव श्रुति-स्मृति-विहित-धर्माति-क्रमेण व्यवहरन्तो विरुद्धोचारत्वेन ज्ञायन्ते। तेन प्रत्यक्षया श्रुत्या विरोधे ग्रन्थ-कारिणां ग्रहीत्राचरितृणां ग्रन्थ-प्रामाण्य-बाधनम्। न ह्य् एपास् पूर्वोक्तेन न्यायेन श्रुति-प्रतिवद्धानां स्व-मूल-श्रुत्य्-अनुमानसामर्थ्यम् अस्ति। "किन्तु कुछ दम-दान इत्यादि वचनों को छोड़कर शक्य इत्यादि के सभी उपदेश चौदह प्रकार के शास्त्रों के वर्गों के विरोधी हैं और उनकी रचना बुद्ध और दूसरों ने की है, जिनका आचरण वेद के विधान के विपरीत तथा प्रायः चतुर्थ वर्ण के मनुष्यों के लिये था जो वेद से वहिष्कृत, धर्म क्रिया से रहित, और मूढ़ है—अतएव इन उपदेशों को वेद पर आधृत नहीं माना जा सकता। हमें इस वात का क्या विश्वास है कि एक व्यक्ति (बुद्ध) जिसने क्षत्रिय[3] होकर अपने वर्ग के कर्त्तव्यों का उल्लंघन किया और उपदेश देने का कार्य तथा दक्षिणा लेने का अधिकार धारण किया, एक पवित्र धर्म का प्रतिपादन कर सकता है? क्योंकि कहा गया है: 'सभी व्यक्ति उस व्यक्ति से दूर रहें जो भावी सुख का विनाश करने वाला कर्म करता है। जो व्यक्ति स्वयं अपना नाश करता है वह दूसरों का उपकार कैसे कर सकता है?' तथापि बुद्ध और उनके अनुयायियों का यह अतिक्रमण ही उनका गौरव माना जाता है क्योंकि उन्होंने कहा था 'कलियुग से उत्पन्न होने वाले सभी पाप मेरे ऊपर आ गिरें, और संसार उन पापों से मुक्त हो जाय।' इस प्रकार क्षत्रिय के धर्मों का, जो लोक के लिये कल्याणकारी हैं, परित्याग करके, ब्राह्मण मात्र के लिए विहित धर्मोपदेशक का कार्य आरम्भ करके, और वहिष्कृत लोगों को उस धर्म की शिक्षा देते हुए जिसकी शिक्षा उन ब्राह्मणों ने नहीं दी थी जो इसके निषेध नियम का उल्लंघन नहीं कर सके थे, उन्होंने दूसरों का उपकार करना चाहा, जबकि उन्होंने स्वय अपने ही धर्म का उल्लघन किया, इस प्रकार के गुणों के लिये उनकी प्रशंसा की जाती है। वे सभी लोग जो श्रुति और स्मृति के विरुद्ध आचरण करते हुए उनकी शिक्षाओं पर चलते है, अपने भ्रान्त आचरण के लिए कुख्यात हैं। अतएव इन ग्रन्थों के रचयिता तथा इनकी शिक्षा

[3] तुलना. कोलब्रूक मिस्स० एसेज १ ३१२।

प्राप्त करके आचरण करने वालों का वेद के साथ स्पष्ट विरोध होने के कारण इन ग्रन्थों का प्रमाण्य नष्ट हो जाता है,[४] क्योंकि वे उपर्युक्त तर्क के अनुसार वेद विरुद्ध हैं और यह निष्कर्ष कि वे अपने स्वतन्त्र वैदिक प्रमाण्य पर आश्रित है कोई तथ्य नहीं रखता।"

दूसरा अंश जैमिनिसूत्र १. ३७, पर कुमारिल के वार्तिक में है : वेदेनैवाभ्यनुज्ञाता येषाम् एव प्रवक्तृता। नित्यानाम् अभिधेयानाम् मन्यतर-युगादिषु। तेषां विपरिवर्त्तेषु कुर्वता धर्म-संहिता। वचनानि प्रमाणानि नान्येषाम् इति निश्चयः। तथा च मनोर् ऋचः सामिधेन्यो भवन्ति इत्य् अस्य विधेर् वाक्य-शेषे श्रूयते "मनुर् वै यत् किञ्चिद् अवदन् तद् भेषजम् भेषजतायै"[५] इति प्रायश्चित्ताद्युपदेश-वचनम् पाप-व्याधेर् भेषजम्। "यह निश्चित है कि उन्हीं व्यक्तियों के उपदेशों को प्रामाणिक मानना चाहिए, जिनका विभिन्न मन्वन्तरों और युगों में शास्त्रों के नित्य अर्थ का प्रतिपादन करने का अधिकार वेदविहित है जब वे (इन युगों, मन्वन्तरों के) परिवर्तन होने पर धर्मशास्त्रों की रचना करते हैं। इस कारण 'ये मनु के सामधेनि मन्त्र हैं' से आरम्भ होने वाले वैदिक विधिवचन की पूर्ति के लिये कहा गया है कि 'मनु ने जो कुछ कहा वह भेषज है अर्थात् प्रायश्चित आदि विषयों पर उनके उपदेश पाप के रोग को दूर करने के लिये औषधि हैं।"

इन दो अंशों में प्रथम अंश पर सोमेश्वर की टीका में मुझे केवल इस वाक्य को उद्धृत करना अपेक्षित है : एतद् अभियुक्त वचनेन द्रढयति "उक्तं च"। मनोस् तु क्षत्रियस्यापि प्रवक्तृत्वम् "यद् वै किञ्चिद् मनुर् अवदत् तद् भेषजम्" इति वेदानुज्ञातत्वाद अविरुद्धम् इत्य् आशयः। "इसकी पुष्टि वे एक विद्वान के वचन द्वारा करते हैं जिसको वे 'ऐसा कहा गया है' इन शब्दों द्वारा आरम्भ करते हैं। किन्तु यद्यपि मनु एक क्षत्रिय थे तथापि उनका

---

[४] न्याय-माला-विस्तार १ ३ ४ कुमारिल के इस प्रश्न को उद्धृत करता है कि अहिंसा का धर्म, जिसका शाक्य (बुद्ध) ने उपदेश दिया, वेद सगत होने के कारण तथा इसका नकारात्मक उत्तर देने के कारण धर्म था या नहीं क्योंकि गाय का दूध कुत्ते के चमडे मे रखे जाने पर पवित्र नहीं रह जाता (शाक्योक्ताहिंसन धर्मो न वा धर्म श्रुतत्वत । न धर्मो न हि पूत स्याद् गोक्षीर श्व-हतौ धृतम्)।

[५] इन शब्दो को बौटलिक और रॉथ ने 'भेषजता' के अन्तर्गत पञ्चविंश ब्राह्मण २३ १६, ७ से उद्धृत किया है। इसी प्रकार का अंश तैत्ति० स० २ २, १०, मे भी आता है।

प्रवक्ता पद ग्रहण करना वेद के विरुद्ध नहीं था, कारण यह वैदिक वचन 'जो कुछ भी मनु ने कहा वह भेषज है' द्वारा अनुमोदित है। यही इसका आशय है।"

पृ० २८९ पं० १७

'यस् तित्याज सचि-विदम्' इत्यादि यह मन्त्र तैत्तिरीय आरण्यक (पृ० १५९ कलकत्ता सं०) में उद्धृत है, जिसमें 'सचि-विदम्' के स्थान पर 'सखि-विदम्' पाठ है। इस अंश की व्याख्या भाष्यकार ने इसमें दी है।

पृ० ३०१ पं० १४

प्रोफेसर वेबर (इण्ड० स्टू० १. ५२) का विचार है कि "यौधाः और अर्हन्त' राजन्यों और ब्राह्मणों के पूर्वकालीन रूप थे।" ऊपर पृ० ४१२ की टिप्पणी में सम्पूर्ण अनुच्छेद देखिए।

पृ० ३०६ टि० ५१

तु० की० आश्वलायन श्रौतसूत्र १ ३, ३ तथा ४ एवं भाष्य (कलकत्ता सं० पृ० २२)। जैसा कि मैंने बौटलिंक और रॉथ के लेक्सिन में पाया है, पृथी वैन्य का उल्लेख अथर्ववेद ८ १०, २४ में भी किया गया है। वे शब्द ये है '—सा उदक्रामत् सा मनुष्यान् आगच्छत। ताम् मनुष्याः उपाह्वयन्त "इरावत्य् एहि" इति। तस्याः मनुर् वैवस्वतो वत्सः आशीत् पृथिवी पात्रम्। ताम् पृथी वैन्योऽधोक् तां कृषीं च सस्यं च अधोक्। ते कृषीं च सस्य च मनुष्याः उपजीवन्ति इत्यदि। "वह (विराज) उतरी, वह मनुष्यों के पास आई। मनुष्यों ने उसे अपने पास 'इरावती इधर आओ' कहकर बुलाया। मनुवैवस्वत उसके वत्स थे, पृथ्वी पात्र थी। पृथी वैन्य ने उसे दुहा, उन्होंने उससे कृषि और अन्न दुहे। मनुष्य कृषि और अन्न से जीवन निर्वाह करते है।"

देखिए विलसन का विष्णु पुराण भाग १ पृ० १८३ आदि, जिसमें पृथु (यह इस शब्द का पौराणिक रूप है) के राज्य का वर्णन किया गया है। उसमें कहा गया है कि इस राजा ने "मनुस्वायम्भुव को वत्स बनाकर प्रजा के कल्याण के लिये पृथ्वी से अपने ही हाथों सभी प्रकार के अन्न का दोहन किया (विष्णु० १ १३, ५४. स कल्पयित्वा वत्सं तु मनुं स्वायम्भुवम् प्रभुम्। स्वे पाणौ पृथिवी नाथो दुदोह पृथिवीम् पृथु'। ५५. सस्य-जातानि सर्वाणि प्रजानां हित-काम्यया)। भागवत पुराण से, सम्पादक डॉ हाल द्वारा पृ० १८९ आदि पर उद्धृत अंश भी देखें। इन वर्णनों का मूल बीज स्पष्टतः अथर्ववेद से मिलता है, जिससे ऊपर उद्धृत एक छोटा अंश लिया गया है।

पृथु के राज्य का वर्णन द्रोणपर्व ६९, २ आदि तथा शान्तिपर्व २९, १३७ आदि में भी किया गया है।

पृष्ठ ३२५ नीचे से पंक्ति २

भृगुओं का शतपथ ब्राह्मण १२ ९, ३, १ आदि तथा १३ में (देखिए वेबर का इण्डिशे स्टूडियन १ २०७) वर्णन किया गया है। वे दुष्टरीतु पौंसायन के पैतृक राज्य प्राप्ति के लिए किये जाने वाले यज्ञ का असफल विरोध करते हैं।

पृष्ठ ३८९ पंक्ति २७

प्रोफेसर आफरेख़्त ने तैत्तिरीय संहिता ३. १, ७, २ में एक छोटे अंश का संकेत दिया है, जिसमें विश्वामित्र और जमदग्नि का एक साथ वसिष्ठ से संघर्ष करने का वर्णन है : विश्वामित्र जमदग्नी वसिष्ठेन अस्पर्द्धेताम् । स एतज् जमदग्निर् विहव्यम् अपश्यत् । तेन वै स वसिष्ठस्य इन्द्रिय वीर्यम् अवृङ्क्त । यद् विहव्यं शस्यते इन्द्रियम् एव तद् वीर्यं यजमानो भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते । यस्य भूयांसो यज्ञ-क्रतवः इत्य् आहुः स देवता वृङ्क्ते । "विश्वामित्र और जमदग्नि वसिष्ठ के साथ स्पर्द्धा कर रहे थे। जमदग्नि ने इस विहव्य मन्त्र का दर्शन किया और इसके द्वारा उन्होंने वसिष्ठ की शक्ति और तेज को नष्ट कर दिया। जब विहव्य का पाठ होता है तो यज्ञकर्त्ता अपने शत्रु के तेज और शक्ति का नाश करता है। वह व्यक्ति जिसकी हवियाँ एवं अन्य सभी क्रियाएँ श्रेष्ठ होती हैं (अपने शत्रुओं के) देवताओं का नाश कर देता है।"

पृष्ठ ३९२ टिप्पणी १८४

लाट्यायन सूत्र पर एक टिप्पणी में इण्डिशे स्टूडियन १ ५० में प्रोफेसर वेबर का कथन है . "साथ ही साथ मैं यहाँ कह देता हूँ, कि यज्ञक्रियाओं के अवसर पर शूद्रों की उपस्थिति, चाहे वह यज्ञ भूमि के बाहर ही क्यों न हो, विहित थी—यह विषय इस तथ्य से प्रकट होता है कि दीक्षा में उन्हें संबोधित नहीं किया जाता था (३ ३)। यत्र तत्र शूद्र का कर्म भी दिखाई पड़ता है यद्यपि वह अधम कर्म करता है। तुलना ४. ३. ५. अर्यो (अर्थात् वैश्य—भाष्यकार अग्निस्वामिन् के अनुसार) अन्तर्वेदि ··· बहिर्वेदि शूद्र । अर्याभावे यः कश् च आर्य्यो वर्णः ('ब्राह्मणो वा क्षत्रियो वा', अग्निस्वामी)। इस प्रकार निषादों के समान उनका स्थान उतना पतित नहीं था जितना बाद में हो गया। सहिष्णुता की अब भी आवश्यकता थी, वस्तुत' कठोर ब्राह्मणीय सिद्धान्त अब भी निकटवर्ती एरियन जातियों[६] में सामान्यत स्वीकृत नहीं

---

[६] नाना-जातीया' अनियत-वृत्तय उत्सेध-जीविन सङ्घा व्राता । (पतञ्जलि, वेबर द्वारा उद्धृत) "व्रात वे अनेक वर्ग के लोग हैं जिनका नियत व्यवसाय नहीं होता और जो हिंसा द्वारा जीवन चलाते हैं। 'व्रातेन शरीरायासेन जीवति

हुए थे। यह निम्नलिखित तथ्य से प्रदर्शित है। व्रात्य स्तोम का वर्णन प्रारम्भ करने के पूर्व लाट्यायन ८.५ श्येन (वाज) नाम के एक कर्म का वर्णन करते हैं जो पञ्चविंश में तो उपदिष्ट नहीं है किन्तु षड्विंश (४.२) में है। पाणिनि ५.३, ११२ आदि में उक्त जातियों का इस प्रकार वर्णन किया गया है : व्रातीनानां यौधानाम् पुत्रान् अनूचानान् ऋत्विजो वृणीत श्येनस्य। "अर्हताम् एव" इति शाण्डिल्यः।[7] "योद्धाओं के विद्वान पुत्र, जो व्रात्यों की वृत्ति से जीवन निर्वाह करते है, श्येन के लिए पुरोहित चुने जाँय। शाण्डिल्य का कथन है कि केवल अर्हतों के पुत्र (ही चुने जाँय)।" प्रो० वेबर आगे कहते हैं "सूत्र के प्रारम्भ में ऋत्विज् (पुरोहित) के लिए नौ वस्तुओं की आवश्यकता बताई गई है। अर्थात् उसे (१) आर्षेयः (आ दस्मात् पुरुषाद् अव्यवच्छिन्नम् आर्षं यस्य,|'किसी ऋषि के वंश में दस पीढी तक अपना अनवच्छिन्न वंशक्रम बताने का सामर्थ्य), (२) अनूचानः (शिष्ये-भ्यो विद्या-सम्प्रदानं य. कृतवान् "जिसने शिष्यों को विद्या प्रदान किया है"); (३) साधुचरण (षट्सु ब्राह्मण-कर्मस्व् अवस्थितः प्रशस्त-कर्मा 'जो ब्राह्मण के छ' कर्मों का आचरण करता है और जो प्रशस्त आचरण वाला है'), (४) वाग्मी (बोलने में दक्ष), (५) अन्यूनानघ' (शरीर विकार से हीन), (६) अनतिरिक्ताङ्ग. (जिसमें अंग अधिक न हों); (७) द्वेसतः (नाभि से ऊपर तथा नीचे बराबर लम्बाई वाला), (८) अनतिवृष्णः; (९) अनतिश्वेत' (न अतिबालो न अतिवृद्ध' 'न तो बहुत बालक हो और न वृद्ध)। लाट्यायन यहाँ इन अर्हताओं में से केवल एक, अर्थात् द्वितीय (पुरोहित विद्वान् हो) को आवश्यक बताकर स्वय अपने कथन का विरोध करते हैं। अध्यापक के लिए अर्हत् शब्द, जो बाद में एकमेव बौद्धों में ही प्रयुक्त होता था, शतपथ ब्राह्मण (३. ४, ३, ६) तथा तैत्तिरीय आरण्यक[8] में पाया

व्रातीन' (पाणिनि भाष्य ५ २, २१) 'वह जो शारीरिक श्रम से जीवन निर्वाह करता है व्रातीन कहलाता है।' इस शब्द का अर्थ है, वेबर द्वारा उद्धृत अन्य भाष्यकार के अनुसार 'वह जो व्रातो के योग्य श्रम से जीवन निर्वाह करता है।'

[7] अर्हताम् एव वरणम् कर्त्तव्यम् इति शाण्डिल्य'। "शाण्डिलअ का कथन है कि केवल अर्हतो को चुनना चाहिए (वेबर द्वारा उद्धृत, अग्निस्वामी।

[8] यह ऐत० ब्रा० १ १५ मे भी आता है (देखिए बौर्टलिंक और रॉथ)। इस अश के उनके अनुवाद के साथ डॉ० हाग ने यह टिप्पणी जोड दी है "यह शब्द 'अर्हत' है जिससे बौद्ध धर्म के विद्यार्थी भली भाति परिचित है। सायण इसकी व्याख्या महान ब्राह्मण या ब्राह्मण (सामान्य) करते है।" वाक्य के दूसरे

जाता है और गण ब्राह्मण (पाणिनि ५. १, १२४) में भी आता है। यौधाः और अर्हन्त' राजन्यों और ब्राह्मणों के पूर्वगामी हैं। प्रोफेसर वेबर, इण्ड० स्टू० १. २०७ टिप्पणी के अनुसार स्थपति का "अर्थ कात्यायन श्रौतसूत्र २२, ११, ११ के अनुसार वैश्य है या कोई ऐसा व्यक्ति (कात्यायन १, १ १२ के अनुसार वह निषाद भी हो सकता है) जिसने प्रजा द्वारा राज-पद के लिये निर्वाचित होने के उपरान्त गोसव यज्ञ किया है।"

पृ० ४२६ पं० १५

तुलना द्रोणपर्व ५७, १६ . नन्व् एषां निश्चिता निष्ठा निष्ठा सप्तपदी स्मृता।

पृ० ४२१ नीचे से पं० ६

यदि 'ब्रह्मर्षि' के इस अर्थ के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता हो, तो वह 'विप्रर्षि' और 'द्विजर्षि' शब्दों में पाया जा सकता है, जिन्हें इसका पर्यायवाची मानना चाहिए और जिनका अर्थ केवल 'ब्रह्मर्षि' ही हो सकता है।

पृ० ४७५ पंक्ति २ तथा टिप्पणी

उसी श्लोक की आवृति कुछ पाठभेदों के साथ अनुशासनपर्व १३७, १८ में की गई है राजा मित्रसहश् चैव वसिष्ठाय महात्मने। मदयन्तीम् प्रियाम् भार्य्यां दत्त्वा च त्रिदिवं गतः। "राजा मित्रसह ने अपनी प्रिय पत्नी मदयन्ती को महर्षि वसिष्ठ को प्रदान कर स्वर्ग प्राप्त किया।" यहाँ यह द्रष्टव्य है कि मदयन्ती नाम ठीक ही दिया गया है।

पृ० ४७५ पं० ६

इस अंश की आवृत्ति अनुशासनपर्व १३७, ६ में हुई है जिसमें दूसरी पंक्ति में यह पाठ भेद है' अर्घ्यम् प्रदाय विधिवल् लेभे लोकान् अनुत्तमान्।

भाग के संदर्भ में, जिसमें यह शब्द आया है, डॉ० हाग का कथन है कि अत्यन्त पूज्य अतिथि के स्वागत में गाय का वध होता था यह स्मृतियों में उल्लिखित है। किन्तु जैसा सायण का कथन है (जो आजकल के विषयों से बिल्कुल मिलता-जुलता है) यह प्रथा पहले के युगों में प्रचलित थी। उससे 'गोघ्न' शब्द 'गाय मारने वाला' का अर्थ अधिक प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में 'अतिथि' है (देखिये पाणिनि ३ ४, ७३ पर भाष्य)। एक सम्भ्रान्त अतिथि का स्वागत घर में रखी गई गाय की मृत्यु बनता था।"

पृ० ४८९ नीचे से पं० ११

मैंने पाया है कि ब्राह्मणों के राजन्यों से शिक्षा ग्रहण करने के दो उदाहरण प्रोफेसर वेबर की इन्ड० स्टू० १०. ११७ में उल्लिखित हैं : प्रथम शतपथ ब्राह्मण १० ६, १. २ आदि में आया है, जिसमें यह कहा गया है कि छः ब्राह्मण, जो परस्पर वैश्वानर (अग्नि) के सम्बन्ध में विवाद कर रहे थे और जानते थे कि अश्वपति कैकेय इस विषय का ज्ञान रखते थे, उसके पास ज्ञान प्राप्ति के लिए पहुँचे और प्रार्थना की कि वे उन्हें शिष्य बना ले। पहले उसने उनसे पूछा कि यदि वे स्वयं ही वेद का ज्ञान नहीं रखते और न विद्वानों के पुत्र हैं तो वे उसके पास प्रश्न करने क्यों आये' ("यन् नु भगवन्तोऽनूचानाः अनूचान-पुत्राः। किम् इदम्" इति)। वे अपनी प्रार्थना पर अडे रहे। जब उसने उनसे अलग-अलग पूछा कि वे वैश्वानर किसे समझते थे तो उसने उन सबके मत का समर्थन किया कि उनका उत्तर प्रश्न का आंशिक हल था, यद्यपि पुनः सभी के उत्तर भिन्न थे। उन्हें उस विषय में कुछ और अन्तर्दृष्टि प्रदान कर उसने अपना प्रवचन समाप्त किया। दूसरा उदाहरण छान्दोग्य उपनिषद् १ ८-१ से है जो इस प्रकार प्रारम्भ होता है. त्रयो ह उद्गीथे कुशला. बभूवः शिलकः शालावत्यश् चैकितायनो दाल्भ्यः प्रवाहणो जैवलिर् इति। ते ह ऊचुर् "उद्गीथे कथा वदाम" इति। २. "तथा" इति ह समुपविविशुः। स ह प्रवाहणो जैवलिर् उवाच "भगवन्ताव् अग्रे वदताम्। ब्राह्मणयोर् वदतोर् वाचं श्रोष्यामि" इति। "तीन व्यक्ति उद्गीथ में प्रवीण थे, तिलक शालावत्य, चैकितायन दाल्भ्य, तथा प्रवाहण जैवलि। उन्होंने कहा :—'हम उद्गीथ में प्रवीण हैं, आओ इस पर विवाद करें'। यह कह कर 'ऐसा ही हो' वे बैठ गये। प्रवाहण जैवलि ने कहा 'आप लोग पहले बोलें, मैं इस प्रश्न पर ब्राह्मणों के विवाद को पहले सुनूँगा'। तब शिलक शालावत्य ने चैकितायन दाल्भ्य से कई प्रश्न पूछे, किन्तु वे उसके अन्तिम उत्तर से असन्तुष्ट रहे। चैकितायन के प्रश्न पूछने पर शिलक ने उत्तर दिये किन्तु उनके उत्तरों का प्रवाहण जैवलि ने खण्डन किया और अन्ततः उचित उत्तर दिया।"

दो अन्य अंशों में वही उपनिषद्, जो ऊपर पृ० २२२ पर उद्धृत हैं और जिसकी व्याख्या भाष्यकार ने की है, यह स्वीकार करता है कि क्षत्रिय शास्त्रों के ज्ञाता थे और उनकी शिक्षा देते थे। ऊपर पृ० २५० की टिप्पणी तथा पृ० ६६३ देखिए। राजन्यों के सिद्धान्तों को सदैव समान रूप से सम्मान नहीं मिला। शतपथ ब्राह्मण ८. १, ४, १० में प्राण के विषय में एक मत स्वरिजित् नाग्नजित का बताया गया है, जिसकी निन्दा करते हुए लेखक कहता है.

"उसने इसे एक राजन्य के समान कहा है" (यत् स तद् उवाच राजन्य बन्धुर् इव त्व् एव तद् उवाच) और तब वह उसका खण्डन करता है (देखिए वेबर का इण्डिशे स्टूडियन १. २१८)। यह प्रतीत होता है कि स्मृति कुछ स्थितियों में एक ब्राह्मण का राजन्य या वैश्य का शिष्य होना मान्य ठहराती है। मनु २. २४१ का कथन है: अब्राह्मणाद् अध्ययनम् आपत्-काले विधीयते। अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावद् अध्ययन गुरोः। २४२. नाब्राह्मणे गुरौ शिष्यो वासम् आत्यन्तिक वसेत्। ब्राह्मणे चाननूचाने काङ्क्षन् गतिम् अनुत्तमाम्। "२४१ विपत्ति के समय अब्राह्मण से भी शिक्षा ग्रहण करना विहित है, और अध्ययन काल में ऐसे गुरु की सेवा करना तथा अनुगमन करना भी विहित है। २४२. किन्तु जो शिष्य भविष्य में श्रेष्ठ जीवन की कामना करता है वह ऐसे गुरु के निकट दीर्घकाल तक निवास न करे जो ब्राह्मण नहीं है अथवा जो ब्राह्मण होते हुए भी वेद का ज्ञाता नहीं है।" कुल्लूक इसका अर्थ यह लगाते हैं कि जब ब्राह्मण गुरु न मिले तो क्षत्रिय को गुरु बनाया जा सकता है और क्षत्रिय के अभाव में वैश्य गुरु हो सकता है।

पृष्ठ ५१० टि० २४१

जब मैंने यह टिप्पणी लिखी तो मेरा ध्यान 'दिदासिथ' से उत्पन्न होनेवाली कठिनाई की ओर नहीं गया जो सन्नन्त का और लिट् लकार मध्यमपुरुष का रूप है। बौटलिंक और रॉथ ने 'दा' के अन्तर्गत दो समानान्तर वंशों की तुलना करते हुए यह माना है कि ऐतरेय ब्राह्मण का वर्त्तमान पाठ, जहाँ तक इस शब्द का प्रश्न है, भ्रष्ट है। इसे वे 'दिदासिथ' पढ़ते हैं। क्या शुद्ध पाठ 'दास्' धातु से व्युत्पन्न 'ददासिथ' नहीं हो सकता?

पृष्ठ ५१४ पंक्ति ३

तैत्तिरीय ब्राह्मण २ २, ४, ४ आदि में प्रजापति के विषय में कहा गया है: सोऽसुरान् असृजत। तद् अस्य अप्रियम् आसीत्। ५. यद् दुर्वर्णं हिरण्यम् अभवत्। यद् दुर्वर्णस्य हिरण्यस्य जन्म। ... स देवान् असृजत यद् अस्य अस्य प्रियम् आसीत्। तत् सुवर्णस्य हिरण्यस्य जन्म। "उन्होंने असुरों की सृष्टि की। वह उन्हें अप्रिय हुआ। ५. वह बुरे रंग वाली मूल्यवान् धातु (रजत) बनी। . 'उन्होंने देवताओं की सृष्टि की। वह उन्हें प्रिय हुआ। वह शुभवर्ण वाली (स्वर्ण) मूल्यवान् धातु बनी। इस प्रकार स्वर्ण उत्पन्न हुआ।"

प्रमुख नामों और विषयों की अनुक्रमणिका

